मेरी कहानी

[पण्डित जवाहरलाल नेहरू की आत्म-कथा]

हिन्दी-सम्पादक
श्री हरिभाऊ उपाध्याय

प्रकाशक
सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली

अक्तूबर १६३६; पहली बार, ३०००,
नवंबर १६३६; दूसरी बार ३०००
क़ीमत चार रुपये।
पांच

पूज्य मालवीयजी की अपील

"सस्ता साहित्य मण्डल" ने हिन्दी में उच्चकोटि की सस्ती पुस्तकें निकालकर हिन्दी की बड़ी सेवा की है। सर्वसाधारण को इस संस्था की पुस्तकें लेकर इसकी सहायता करनी चाहिए।"

मदनमोहन मालवीय

मुद्रक—
हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस,
पो० ब० नं० ७८, दिल्ली

कमला नेहरू

कमला को

—जिसकी अब याद ही रह गई—

मेरी ओर से

आज, जब कि पूर्व-प्रकाशित सूचना के अनुसार इस पुस्तक को पाठको के हाथो में पहुँचे एक महीना हो जाना चाहिए था, मै अपना यह प्रारम्भिक निवेदन लिखने बैठा हूँ। समझ मे नही आता, इस देरी के लिए किस प्रकार क्षमा माँगूँ। एक तो वैसे ही स्वास्थ्य कुछ बहुत अच्छा नही रहता, फिर दूसरी ओर जिम्मेदारियो का बोझ भी सिर पर था, जो इस अधमरे शरीर को थका देने के लिए काफी था। ऐसी दशा में प० जवाहरलाल जी की 'आत्मकथा' के अनुवाद और सम्पादन के काम की जिम्मेदारी मेरे लिए दु साहस की बात थी। लेकिन पागल भावुकता का क्या इलाज ? पूज्य बापूजी—महात्माजी—की 'आत्मकथा' के अनुवाद का जब सुअवसर मिला तो उसको मैने अपना अहोभाग्य समझा। अब अपने मान्य राष्ट्रपति की जीवन-कथा के अनुवाद का सुसयोग आने पर इस गौरव से अपने को वञ्चित रखने की कल्पना ही कैसे हो सकती थी ? इसलिए जब 'सस्ता साहित्य मण्डल' ने कॉंग्रेस-इतिहास के दोनो सस्करणो के अनुवाद और सपादन के बाद ही यह जिम्मेदारी भी उठाने के लिए मुझसे कहा तो मैने फौरन उसे स्वीकार कर लिया और इस खयाल से कि काम जल्दी और समय पर खत्म हो जाय, अनुवाद मे शक्ति से अधिक मेहनत करने लगा। नतीजा यह हुआ कि आगे चलकर शरीर ने जवाब दे दिया और गाडी अधबीच मे ही रुक गई। लेकिन काम को जल्दी खत्म करने और पुस्तक जल्दी प्रकाशित करने की चिन्ता होना स्वाभाविक ही था। और स्वास्थ्य इतना अधिक गिर गया था, कि मै डर गया। लेकिन मेरे मित्र प्रो० गोकुललालजी असावा तथा भाई शकरलालजी वर्मा (मन्त्री, प्रान्तीय कॉंग्रेस कमेटी, अजमेर) ने तुरन्त ही मुझे इस चिन्ता-भार से बचा लिया। प्रो० गोकुललालजी तो 'कॉंग्रेस-इतिहास' की तरह शुरू से ही इस काम मे भी मेरी मदद कर रहे थे। इसबार इस समय भाई शकरलालजी भी मेरी मदद पर आ गये। यह इन दोनो के सहयोग और सहायता का ही परिणाम है कि पुस्तक का काम जल्दी पूरा हो गया। इसके लिए मैं इनका बहुत आभारी हूँ।

अनुवाद के सिलसिले मे मुझे भाई श्रीकृष्णदत्तजी पालीवाल (असेम्बली सदस्य) भाई गोपीकृष्णजी विजयवर्गीय (प्रधान मत्री, इन्दौर-राज्य-प्रजा-मण्डल) और श्री चन्द्रगुप्तजी वार्ष्णेय (अजमेर) से भी सहायता मिली है, और फ्रेञ्च उद्धरणो का अग्रेजी भाषान्तर स्वय मूल लेखक तथा पूज्य डॉ० हरि रामचन्द्रजी दिवेकर (गवालियर) ने किया है। इसके लिए मै इन सबका अत्यन्त आभारी हूँ।

भाई श्री वियोगी हरिजी ने कविता-क्षेत्र से अलग हट-जाने पर भी, मेरे अनुरोध पर, इस पुस्तक की कविता के हिन्दी-अनुवादो का सशोधन करने की कृपा की है। श्री मुकुटविहारी वर्मा (स० सम्पादक हिन्दुस्तान) ने इस काम को अपना ही काम समझकर प्रूफ-सशोधन और कही-कही भाषा-सबन्धी सशोधन आदि मे शुरू से ही सहायता दी है। अत इन दोनो का भी मै हृदय से कृतज्ञ हूँ।

कुछ शब्द अनुवाद की भाषा के सम्बन्ध मे भी। मै सरल और बोल-चाल की भाषा— जिसे पूज्य बापूजी ने 'हिन्दी-हिन्दुस्तानी' नाम दिया है, और जो असली राष्ट्रभाषा कही जा सकती है—लिखने का पक्षपाती हूँ। इस पुस्तक के ज़रिये मै उसका एक नमूना पेश करना चाहता था। लेकिन अफसोस है कि प्रकाशन की जल्दी और अपनी बीमारी की वजह से मै शुरू से अख़ीर तक उसे निबाह न सका। फिर भी जहाँ तक सम्भव हो सकता था उसके सरल बनाने और भाषान्तर के सही होने का पूरा ख़याल रक्खा गया है। इतना सब कुछ करने पर भी कही-कही गलतियाँ और मतभेद की आशका रहना मुमकिन है। इसलिए कृपालु पाठको से मेरा अनुरोध है कि जो भूलें उनकी निगाह मे आवे उनपर मेरा ध्यान दिलाने की मिहरबानी करे, जिससे दूसरे सस्करण मे उनका सुधार किया जा सके।

अनुवाद की भाषा मे प्रचलित हिन्दी, उर्दू और अँग्रेजी शब्दो का खुलकर प्रयोग हुआ है। सम्भव है, कुछ रूढी-चुस्त लोगो को वह पसन्द न आवे। लेकिन अनुवाद का पहला फ़ार्म खुद पडित जवाहरलालजी ने देख लिया था और उसकी भाषा को उन्होने पसन्द किया था। उससे मुझे काफी उत्साह मिला था। अब यदि सारी पुस्तक पडितजी को पसन्द आ गई तो मुझे बडा सतोष मिलेगा; क्योकि मै, वर्तमान भारत की बहुतेरी आवश्यकताओ को, पडितजी की राय मे बोलता हुआ पाता हूँ।

गांधी-आश्रम, हटूंडी (अजमेर)।
गांधी जयन्ती १९३६

हरिभाऊ उपाध्याय

प्रस्तावना

यह सारी किताब, सिर्फ एकाध आखिरी बात और चन्द मामूली रद्दोबदल के अलावा, जून १९३४ से फरवरी १९३५ के बीच, जेल मे ही लिखी गई है। इसके लिखने का खास मकसद यह था कि मै किसी निश्चित काम मे लग जाऊँ, जो कि जेल-जीवन की तनहाई के पहाड-से दिन काटने के लिए बहुत जरूरी होता है। साथ ही मै पिछले दिनो की हिन्दुस्तान की उन घटनाओ की ऊहापोह भी कर लेना चाहता था, जिनसे मेरा ताल्लुक रहा है ताकि उनके बारे मे मै स्पष्टता के साथ सोच सकूँ। आत्म-जिज्ञासा के भाव से मैने इसे शुरू किया और, बहुत हद तक, यही क्रम बराबर जारी रक्खा है। पढनेवालो का खयाल रखकर ही मैने सब-कुछ लिखा हो, सो बात नही है, लेकिन अगर पढनेवालो का ध्यान आया भी, तो अपने ही देश के लोगो का आया है। विदेशी पाठको का खयाल करके लिखता तो शायद मैने इससे मुख्तलिफ रूप मे इसे लिखा होता, या दूसरी ही बातो पर ज्यादा जोर दिया होता। उस हालत मे, जिन कुछ बातो को इसमे मैने यो ही टाल दिया है, उनपर जोर देता, और दूसरी जिन कुछ बातो को कुछ विस्तार से लिखा है उन्हे महज सरसरी तौर पर लिखता। मुमकिन है कि बाहरवालो को उनमे से ज्यादातर बातो से दिलचस्पी न हो जिन्हे मैने तफसील मे लिखा है, और वे उनके लिए अनावश्यक या इतनी खुली हुई बाते हो जिनके लिए बहस-मुबाहसे के लिए कोई गुजाइश ही नही है; लेकिन मै समझता हूँ कि आज के हिन्दुस्तान मे उनका कुछ-न-कुछ महत्व जरूर है। इसी तरह हमारे देश के राजनैतिक मामलो और व्यक्तियो के बारे मे बारबार जो कुछ लिखा गया है वह भी सम्भवत. बाहरवालो के लिए दिलचस्पी का विषय न हो।

मुझे उम्मीद है कि पाठक, इसे पढते हुए, इस बात का खयाल रक्खेगे कि यह किताब ऐसे समय मे लिखी गई है जो मेरी जिन्दगी का खास तौर पर कष्टपूर्ण समय था। इसमे यह असर साफ़ तौर पर झलकता है। अगर इसकी बजाय और किसी मामूली वक्त मे यह लिखी गई होती तो यह कुछ और ही तरह लिखी जाती और कही-कही शायद ज्यादा सयत होती। मगर मैने यही मुनासिब समझा कि यह जैसी है वैसी ही इसे रहने दूँ, क्योकि दूसरो को शायद वही रूप ज्यादा पसन्द हो, जिससे उन भावो का ठीक-ठीक परिचय मिलता हो जो इस किताब को लिखते वक्त मेरे दिमाग में उठते थे। इसमे, जहाँतक मुमकिन हो सकता था, मैने अपना मानसिक विकास अकित करने का प्रयत्न किया है, हिन्दुस्तान के आधुनिक इतिहास का विवेचन

नही । यह बात कि यह किताब ऊपर से देखने पर उक्त विवेचन-सी मालूम होती है, पाठक को गुमराह कर सकती है, और इसलिए वह इसे उससे कही अधिक महत्त्व दे सकता है, जितने की कि यह मुस्तहक है । इसलिए मै यह चेतावनी दे देना चाहता हूँ कि यह विवरण सर्वथा एकागी—इकतर्फा—है, और निश्चित रूप से, व्यक्तिगत है। अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाओ की बिलकुल उपेक्षा कर दी गई है, और कई प्रतिभाशाली व्यक्तियो का, जिनका कि घटनाओ के निर्माण मे हाथ रहा है, उल्लेख तक नही हो पाया है। किन्ही बीती हुई घटनाओ के असली विवेचन मे ऐसा करना अक्षम्य होता, किन्तु एक व्यक्तिगत विवरण इसके लिए क्षमापात्र हो सकता है। जो लोग हमारे नजदीक भूतकाल की घटनाओ का ठीक-ठीक अध्ययन करना चाहते है, उन्हे इसके लिए किसी दूसरे साधनो का सहारा लेना होगा । लेकिन यह हो सकता है कि यह विवरण और ऐसी दूसरी कथाये उन्हे छूटी हुई कडियो को जोडने और कठोर तथ्य का अध्ययन करने मे सहायक हो सके ।

मैने अपने कुछ साथियो की, जिनके साथ मुझे बरसो काम करने का सौभाग्य रहा है, और जिनके प्रति मेरे हृदय मे सबसे अधिक आदर और प्रेम है, खुली चर्चा की है, साथ ही, कुछ समुदायो और व्यक्तियो की भी शायद और भी कडी आलोचना की है। मेरी यह आलोचना उनमें के अधिकतर के प्रति मेरे आदर को घटा नही सकती । लेकिन मुझे ऐसा लगा, कि जो लोग सार्वजनिक कामो मे पडते है, उन्हे आपस मे एक-दूसरे के और जनता के साथ, जिसकी कि वे सेवा करना चाहते है, स्पष्टवादिता से काम लेना चाहिए । दिखावटी शिष्टाचार और असमञ्जस और कभी-कभी परेशानी मे डालनेवाले प्रश्नो को टाल देने से न तो हम एक दूसरे को अच्छी तरह समझ सकते है, और न अपने सामने की समस्याओ का मर्म ही जान सकते है। आपस के मतभेदो और उन सब बातो के प्रति, जिनमे मतैक्य है, आदर और वस्तु-स्थिति का, चाहे वह कितनी ही कठोर क्यो न हो, मुकाबिला ही हमारे वास्तविक सहयोग का आधार होना चाहिए । लेकिन मेरा विश्वास है कि मैने जो कुछ भी लिखा है, उसमे किसी व्यक्ति के साथ किसी प्रकार के द्वेष या दुर्भाव का लेशमात्र भी नही है।

सरसरी तौर पर या अप्रत्यक्ष रूप से चर्चा करने के सिवा, मैने भारत की मौजूदा समस्याओ के विवेचन को जान-बूझकर टाला है । जेल मे मै न तो इस स्थिति मे था कि इनकी अच्छी तरह विवेचना कर सकू, न मै अपने मन मे यही निश्चय कर सकता था कि क्या किया जाना चाहिए । जेल से छूटने के बाद भी मैने इसमे उस सम्बन्ध में कुछ बढ़ाना ठीक नही समझा । मै जो कुछ लिख चुका था,

उसके यह अनुकूल नही जान पडा । इस तरह मेरी यह 'कहानी' एक व्यक्तिगत, और ऐसे अतीत के, जो वर्त्तमान के नजदीक किन्तु जो उसके सम्पर्क से सतर्कतापूर्वक दूर है, अपूर्ण विवरण का रेखा-चित्रमात्र रह गई है ।

बेडनवीलर,
२ जनवरी, १९३६ ।

विषय-सूची

मेरी कहानी

१

कश्मीरी घराना

"अपने आपके बारे में लिखना है तो अच्छा काम, मगर है मुश्किल। क्योंकि अपनी बुराई या निन्दा लिखना खुद हमें बुरा मालूम होता है, और यदि अपनी तारीफ़ करे, तो पाठकों को उसे सुनना नागवार गुजरता है।"

—अब्राहम कौली

मा-बाप धनी-मानी और बेटा इकलौता हो तो, यो भी उसके खराब हो जाने का अन्देशा रहता है, फिर हिन्दुस्तान मे तो और भी ज्यादा। और जब लडका ऐसा हो जो शुरू के ११ साल तक अपने मा-बाप का अकेला ही बच्चा रहा हो, तो फिर खराबी से उसके बचने की आशा और भी कम रह जाती है। मेरे दो बहने है, जो उम्र मे मुझसे बहुत ही छोटी है और हम हरेक के बीच मे काफी साल का फर्क है। इस तरह अपने बचपन मे मै बहुत-कुछ अकेला ही रहा। मुझे कोई हम-उम्र साथी न मिला—यहाँतक कि मुझे स्कूल का भी कोई साथी नसीब न हुआ; क्योकि मै किसी किडर-गार्टन या बच्चो के मदरसे मे पढने नही भेजा गया। मेरी पढाई की जिम्मेदारी खानगी मास्टरो या अध्यापिकाओ पर थी।

मगर हमारे घर मे किसी तरह अकेलापन न था। हमारा परिवार बडा था, जिसमे चाचा-ताऊ और दूसरे नजदीक के रिश्तेदार बहुत थे, जैसा कि हिन्दू-परिवारो मे आम तौर पर हुआ करता है। मगर मुश्किल यह थी कि मेरे तमाम चचेरे भाई उम्र मे मुझसे बहुत बडे थे और वे सब हाईस्कूल या कॉलेज मे पढ़ते थे। उनकी नजर मे मै उनके कामो या खेलो मे शरीक होने लायक नही हुआ था। इस तरह इतने बडे परिवार मे, मै और भी अकेलापन महसूस करता था और ज्यादातर अपने ही खयालो और खेलो मे ही मुझे अकेले अपना वक्त काटना पडता था।

हम लोग कश्मीरी है। २०० बरस से ज्यादा हुए होगे, १८वी सदी के शुरू मे हमारे पुरखे दौलत और नामवरी हासिल करने के इरादे से कश्मीर की सुन्दर तराइयो से नीचे के उपजाऊ मैदानो मे आये। वे मुगल सल्तनत की गिरावट के दिन थे। औरगजेब मर चुका था और फर्रुखसियर बादशाह था। हमारे जो पुरखा सबसे पहले आये, उनका नाम था राजकौल। कश्मीर के सस्कृत और फारसी के विद्वानो मे उनका बडा नाम था। फर्रुखसियर जब कश्मीर गया, तो उसकी उनपर नजर पड़ी।

और शायद उसीके कहने से उनका परिवार दिल्ली आया, जो कि उस समय मुगलों की राजधानी थी। यह १७१६ के आस-पास की बात है। राजकौल को एक मकान और कुछ जागीर दी गई। मकान नहर के किनारे था, इसीसे उनका नाम नेहरू पड गया। कौल जो उनका खानदानी लकब था वह बदलकर कौल-नेहरू हो गया और, आगे चलकर, वह कौल गायब हो गया और हम महज नेहरू रह गये।

उसके बाद ऐसा डावाडोल जमाना आया कि जिससे हमारे कुटुम्ब के जीवन मे कई उतार-चढ़ाव आये, जिसमे वह जागीर भी तहस-नहस हो गई। मेरे परदादा लक्ष्मीनारायण नेहरू, दिल्ली के नाम-मात्र के बादशाह के दरबार मे कम्पनी-सरकार के पहले वकील हुए। मेरे दादा, गंगाधर नेंहरू, १८५७ के गदर के कुछ पहले तक दिल्ली के कोतवाल थे। १८६१ में ३४ साल की भर-जवानी मे ही वह मर गये थे।

१८५७ के गदर की वजह से दिल्ली से हमारे परिवार का सब सिलसिला टूट गया। हमारे खानदान के तमाम कागज-पत्र और दस्तावेज तहस-नहस होगये। इस तरह अपना सब-कुछ खो चुकने पर हमारा परिवार दिल्ली छोडनेवाले और कई लोगो के साथ वहाँ से चल पडा और आगरे मे जाकर बस गया। उस समय मेरे पिताजी का जन्म नही हुआ था। लेकिन मेरे दो ताऊ जवान थे और कुछ-कुछ अग्रेजी जानते थे। इस अग्रेजी जानने की बदौलत मेरे छोटे ताऊ और परिवार के कुछ दूसरे लोग एक बुरी और अचानक आफ़त से बच गये। हमारे परिवार के कुछ लोगो के साथ वह दिल्ली से कही जा रहे थे। उनके साथ उनकी एक छोटी बहन भी थी, जिसका रूप-रंग गोरा और बहुत अच्छा था, जैसा कि अक्सर कश्मीरी बच्चो का हुआ करता है। इत्तिफाक से कुछ अग्रेज सिपाही उन्हे रास्ते मे मिले। उन्हे शक हुआ कि, हो न हो, यह लड़की किसी अग्रेज की है और ये लोग इसे भगाये लिये जा रहे है। उन दिनो सरसरी तौर पर मुकदमा करके सजा ठोक देना एक मामूली बात थी, इसलिए मेरे ताऊ तथा परिवार के दूसरे लोग किसी नजदीकी पेड पर जरूर फासी पर लटका दिये गये होते। मगर खुश-किस्मती से मेरे ताऊ के अग्रेजी जानने ने मदद की, जिससे इस फैसले मे कुछ देरी हुई। इतने ही में उधर से एक शख्स गुजरा, जो मेरे ताऊ वगैरा को जानता था, उसने उनकी और दूसरो की जान बचाई।

कुछ बरसो तक वे लोग आगरा रहे और वही ६ मई १८६१ को मेरे पिताजी का जन्म हुआ[1]। मगर वह पैदा हुए थे मेरे दादा के मरने के तीन महीने बाद। मेरे दादा की एक छोटी तस्वीर हमारे यहाँ है जिसमे वह मुगलो का दरबारी लिबास

१. एक अजीब और मज़ेदार दैवयोग है कि कवि-सम्राट् रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी इसी दिन, उसी महीने और उसी साल पैदा हुए हैं।

पहने और हाथ मे एक टेढी तलवार लिये हुए हैं। उसमें वह एक मुगल सरदार-से दिखाई देते है, हालाकि उनकी सूरत-शकल कश्मीरियो की-सी ही थी।

तब हमारे परिवार के भरण-पोषण की ज़िम्मेदारी मेरे दो ताउओ पर आ पड़ी, जो कि उम्र मे मेरे पिता से काफी बडे थे। बडे ताऊ बंशीधर नेहरू थोड़े ही दिन बाद ब्रिटिश सरकार के न्याय-विभाग मे नौकर हो गये। जगह-जगह उनका तबादला होता रहा, जिससे वह परिवार के और लोगो से बहुत-कुछ जुदा पड गये। छोटे ताऊ नन्दलाल नेहरू राजपूताना की एक छोटी रियासत खेतड़ी के दीवान हुए और वहाँ दस बरस तक रहे। बाद मे उन्होने कानून का अध्ययन किया और आगरे में वकालत शुरू की। मेरे पिता भी उन्हीके साथ रहे और उन्हीकी छत्र-छाया मे उनका लालन-पालन हुआ। दोनो का आपस मे बड़ा प्रेम था और उसमे बन्धु-प्रेम, पितृ-प्रेम और वात्सल्य का अनोखा मिश्रण था। मेरे पिता सबसे छोटे होने के कारण स्वभावत मेरी दादी के बहुत लाडले थे। वह बूढी थी और बडी दबंग भी। कोई उनकी बात न सुने, यह उन्हे गवारा नही होता था। उनको मरे अब कोई पचास वर्ष हो गये होगें; मगर बूढी कश्मीरी स्त्रियाँ अब भी उनको याद करती है और कहती हैं कि वह बड़ी ज़ोरदार औरत थी। अगर किसीने उनकी मर्ज़ी के ख़िलाफ कोई काम किया, तो वह उसके लिए भयकर साबित होती थी।

मेरे ताऊजी नये हाइकोर्ट में जाया करते थे और जब वह हाइकोर्ट इलाहाबाद चला गया तो हमारे परिवार के लोग भी वही जा बसे। तबसे इलाहाबाद ही हमारा घर बन गया है और वही, बहुत साल के बाद, मेरा जन्म हुआ। ताऊजी की वकालत धीरे-धीरे बढती गई और वह इलाहाबाद-हाइकोर्ट के बडे वकीलो में गिने जाने लगे। इस बीच मेरे पिताजी कानपुर और इलाहाबाद के स्कूल और कॉलेज मे शिक्षा पाते रहे। शुरू-शुरू मे उन्होने महज़ फारसी और अरबी की तालीम पाई थी। उनकी अंग्रेज़ी शिक्षा बारह-तेरह बरस की उम्र के बाद शुरू हुई। मगर उस उम्र मे भी वह फारसी के अच्छे जानकार समझे जाते थे और अरबी मे भी कुछ दखल रखते थे। और इसी कारण उनसे उम्र में बहुत बडे लोग भी उनके साथ इज्ज़त से पेश आते थे। छोटी उम्र मे इतनी लियाकत हो जाने पर भी स्कूल और कॉलेज मे वह ज्यादातर हँसी-खेल और धूमामस्ती के लिए मशहूर थे। उन्हे सजीदा विद्यार्थी किसी तरह नही कह सकते थे। पढ़ने-लिखने की बनिस्बत खेल-कूद और शरारत का शौक बहुत था। कॉलेज में वह सरकश लड़को के अगुआ समझे जाते थे। उनका झुकाव पश्चिमी लिबास की तरफ हो गया था, और सो भी उस वक्त जब कि हिन्दुस्तान मे कलकत्ता और बम्बई जैसे बड़े शहरो को छोड़कर इसका चलन नही हुआ था। वह तेज़-मिज़ाज

और अक्खड थे, तो भी उनके अंग्रेज प्रोफेसर उनको बहुत चाहते थे और अक्सर मुश्किलो से बचा लिया करते थे। वह उनकी स्पिरिट को पसन्द करते थे। उनकी बुद्धि तेज़ थी और कभी-कभी एकाएक ज़ोर लगाकर वह क्लास मे भी अपना काम ठीक चला लेते थे। अर्से बाद अक्सर वह अपने एक प्रोफेसर का जिक्र प्रेम-भरे शब्दो में किया करते थे। वह थे मि० हैरिसन, जो म्योर सेन्ट्रल कॉलेज इलाहाबाद के प्रिन्सिपल थे। उनकी एक चिट्ठी भी उन्होने बडे जतन से सम्हालकर रक्खी थी। वह उन दिनो की है, जब कि वह कॉलेज में पढते थे।

कॉलेज की परिक्षाओ मे वह पास होते चले गये। कोई खास नामवरी उन्होने हासिल नही की। आखिर को बी० ए० के इम्तिहान मे बैठे। मगर उसके लिए उन्होने कुछ मेहनत या तैयारी नही की थी और जो पहला परचा किया तो उससे उन्हे बिलकुल सतोष नही हुआ। उन्होने सोचा, जब पहला ही परचा बिगड़ गया है तो अब पास होने की क्या उम्मीद ? उन्होने बाकी परचे किये ही नही और जाकर ताजमहल की सैर करने लगे। (उन दिनो विश्वविद्यालय की परीक्षाये आगरा मे हुआ करती थी) मगर बाद को उनके प्रोफेसर ने उन्हे बुलाया और बहुत बिगडे। उनका कहना था कि पहला परचा तुमने ठीक-ठीक किया है और बेवकूफी की जो आगे के परचे नही किये। खैर, इस तरह पिताजी की कॉलेज-शिक्षा हमेशा के लिए खतम हो गई और बी० ए० पास करना आखिर रही गया।

अब उन्हे काम-धधा जमाने की फिक्र हुई। सहज ही उनकी निगाह वकालत की ओर गई, क्योकि उस समय वही एक पेशा ऐसा था कि जिसमें बुद्धिमान और होशियार आदमियों के लिए काम की गुन्जाइश थी और जिसकी चल जाती उसके पौ-बारह होते थे। अपने भाई की मिसाल उनके सामने थी ही। बस हाइकोर्ट-वकील के इम्तिहान मे बैठे और उनका नम्बर सबसे पहला रहा। उन्हे एक स्वर्णपदक भी मिला। कानून का विषय उन्हे दिल से पसन्द था और उसमे सफलता पाने का उन्होने निश्चय कर लिया था।

उन्होने कानपुर की जिला-अदालतो मे वकालत शुरू की, और चूकि वह सफलता पाने के लिए बहुत लालायित थे, इसलिए जी तोडकर मेहनत की। फिर क्या था, उनकी वकालत अच्छी चमक उठी। मगर हाँ, हँसी-खेल और मौज-मजा उनका उसी तरह जारी रहा और अबतक भी उनका कुछ वक्त उसमे चला जाता था। उन्हे कुश्ती और दगल का खास शौक था। उन दिनो कानपुर कुश्तियो और दगल के लिए मशहूर था।

तीन साल तक कानपुर मे उम्मीदवार के तौर पर काम करने के बाद पिताजी

इलाहाबाद आये और हाइकोर्ट में काम करने लगे। पण्डित नन्दलाल एकाएक गुजर गये। इससे पिताजी को जबरदस्त धक्का लगा। वह उनके लिए भाई ही नही, पिता के समान थे, और उन दोनो मे बडा प्रेम था। उनके जाने से परिवार का मुखिया, जिसपर सारी आमदनी का दारोमदार था, उठ गया। परिवार की और पिताजी की यह बहुत बडी हानि थी। अब इतने बडे कुनबे के भरण-पोषण का प्राय सारा भार इस नौजवान के कन्धे पर आ पडा।

वह अपने पेशे मे जुट पडे। सफलता पर तो तुले हुए थे ही। इसलिए कई महीनो तक दूसरी सब बातो से जी हटाकर इसीमे लगे रहे। ताऊजी के करीब-करीब सब मुकदमे उन्हे मिल गये और उन्हे उनमे अच्छी कामयाबी भी मिल गई। इससे अपने पेशे मे भी बहुत जल्दी कामयाबी मिली। मुकदमे धडाधड़ आने लगे और रुपया खूब मिलने लगा। छोटी उम्र मे ही उन्होने वकालती सफलता मे नामवरी हासिल करली और इसके लिए उन्होने अपनी निष्ठुर प्रेयसी वकालत मे अधिक-से-अधिक तल्लीन होकर इसकी कीमत भी चुकाई थी। उनके पास न सार्वजनिक और न खानगी कामो के लिए वक्त रहता था—यहाँतक कि छुट्टियो के दिन भी वह वकालत के काम मे ही लगाते थे। कांग्रेस उन दिनो मध्यम श्रेणी के अग्रेजी-दाँ लोगो का ध्यान अपनी तरफ खीचने मे लगी थी। वह उसकी शुरू की कुछ बैठको मे गये भी थे और, जहाँ तक विचारो से सम्बन्ध है, उसके प्रति अपनी रुचि और भक्ति प्रकट भी कर चुके थे। लेकिन उसके कामो मे वह कोई खास दिलचस्पी नही लेते थे। अपने पेशे मे ही इतने डूबे रहते थे कि उसके लिए उन्हे वक्त नही था। हाँ, एक बात और थी। इसके सिवा, उन्हे यह निश्चय न था कि राजनैतिक और सार्वजनिक कार्यो का क्षेत्र उनके लिए उपयुक्त भी होगा या नही, उस समय तक इन विषयो पर उन्होने न तो ज्यादा ध्यान ही दिया था, न कुछ उन्हे इसकी अधिक जानकारी ही थी। वह ऐसे किसी आन्दोलन और सगठन मे शामिल होना नही चाहते थे, जिसमे उन्हे किसी दूसरे के इशारे पर नाचना पडता हो। यो बचपन और जवानी के शुरू की तेजी देखने मे कम हो गई थी, पर दरअसल उसने नया रूप ले लिया था। अधिकार की नई इच्छा उनमे जग गई थी। वकालत की ओर उसे लगा देने से उन्हे कामयाबी मिली, जिससे उनका गर्व और आत्मावलम्बन का भाव बढ़ गया। पर फिर भी विचित्रता यह थी कि एक ओर वह लडाई लडना, दिक्कतो का मुकाबिला करना पसन्द करते थे और दूसरी ओर उन दिनो राजनैतिक क्षेत्र से अपनेको बचाये रखते थे। और बात यह है कि उन दिनो कांग्रेस मे लडाई का मौका ही बहुत कम था। फिर भी, उस क्षेत्र से उनका परिचय नही था और उनका दिमाग़ अपने पेशे की बातो मे और उसके लिए कड़ी मेहनत करने मे लगा

रहता था। उन्होंने सफलता की सीढी को जोर से पकड लिया था और एक-एक कदम ऊपर चढते जाते थे—किसीकी मेहरबानी से नही, जैसा कि उनका विश्वास था, और न किसीकी खिदमत करके, बल्कि खुद अपने संकल्प और बुद्धि के बल पर।

साधारण अर्थ में वह जरूर ही राष्ट्रवादी थे। मगर वह अंग्रेजो और उनके तौर-तरीक़ के कद्रदाँ भी थे। उनका यह खयाल बन गया था कि हमारे देशवासी ही नीचे गिर गये हैं और वे जिस हालत में हैं, बहुत-कुछ, उसीके लायक हैं। जो राजनैतिक लोग बातें-ही-बाते किया करते हैं, करते-धरते कुछ नही, उनसे वह मन-ही-मन कुछ नफरत-सी करते थे, हालाँकि वह यह नही जानते थे कि इससे ज्यादा वे और कर क्या सकते थे। हाँ, एक और खयाल भी उनके दिमाग में था, जोकि उनकी कामयाबी के नशे से पैदा हुआ था। वह यह कि जो राजनीति में पड़े हैं, उनमे ज्यादातर—सब नही—वे लोग हैं, जो अपने जीवन में नाकामयाव हो चुके हैं।

पिताजी की आमदनी दिन-दिन बढती जाती थी, जिससे हमारे रहन-सहन मे बहुत परिवर्तन हो गया था। जहाँ आमदनी बढी नही कि खर्च भी उसके साथ बढा नही। रुपया जमा करना मेरे पिताजी को ऐसा मालूम पडता था मानो जब और जितना चाहे रुपया कमाने की अपनी शक्ति पर तुहमत लगाना है। खिलाडी की स्पिरिट और हर तरह से बढी-चढी रहन-सहन के शौकीन तो वह थे ही, जो-कुछ कमाते थे, सब खर्च कर देते थे। नतीजा यह हुआ कि हमारा चाल-ढाल धीरे-धीरे पश्चिमी साँचे मे ढलता गया।

मेरे बचपन[१] में हमारे घर का यह हाल था।

१. १४ नवम्बर १८८९, मार्गशीर्ष बदी सप्तमी संवत् १९४६, को इलाहाबाद में मेरा जन्म हुआ था।

२

बचपन

मेरा बचपन इस तरह बुजुर्गो की छत्रच्छाया मे बीता। उनमे कोई महत्त्व की घटना नही हुई। मै अपने चचेरे भाइयो की बाते सुनता, मगर हमेशा सबकी सब मेरी समझ मे आ जाती हो सो बात नही। अक्सर ये बाते अग्रेज और यूरेशियन लोगो के ऐठू स्वभाव और हिन्दुस्तानियो के साथ अपमानजनक व्यवहारो के बारे मे हुआ करती थी और इस बात पर भी चर्चा हुआ करती कि प्रत्येक हिन्दुस्तानी का फर्ज होना चाहिए कि वह इस हालत का मुकाबिला करे और इसे हरगिज बरदाश्त न करे। हाकिमो और लोगो मे टक्करे होती रहती थी और उनके समाचार आये दिन सुनाई पडते थे। उनपर खूब बहस भी होती थी। यह एक मशहूर बात थी कि जब किसी अग्रेज ने किसी हिन्दुस्तानी को कत्ल कर दिया तो उसको जूरी, जिनमे उन्हीके देश-वाले रहते थे, बरी कर देते। रेलगाडियो मे यूरोपियनो के लिए डब्बे रिजर्व रहते थे और गाडी मे चाहे कितनी ही भीड हो—और जबरदस्त भीड रहा ही करती थी—कोई हिन्दुस्तानी उनमे सफर नही कर सकता था, चाहे भले ही वे खाली पडे रहे। जो डब्बे रिजर्व नही रहते थे, उनपर भी अग्रेज लोग अपना कब्जा जमा लेते थे और किसी हिन्दुस्तानी को नही घुसने देते थे। सार्वजनिक बगीचो और दूसरी जगहो मे भी बेञ्चे और कुर्सिया रिजर्व रक्खी जाती थी। विदेशी हाकिमो के इस बर्ताव को देखकर मुझे बड़ा रंज होता और जब कभी कोई हिन्दुस्तानी उलटकर वार कर देता तो मुझे बडी खुशी होती। कभी-कभी मेरे चचेरे भाइयो मे से कोई या उनके कोई दोस्त खुद भी ऐसे झगडो मे उलझ जाते, तब हम लोगो मे बडा जोश फैल जाता। हमारे परिवार भर मे मेरे एक चचेरे भाई बडे दबग थे। उन्हे अक्सर अग्रेजो से और ज्यादातर यूरेशियनो से झगडा मोल लेने का बड़ा शौक था। यूरेशियन तो अपनेको शासको की जाति का बताने के लिए अग्रेज अफसरो और व्यापारियो से भी ज्यादा बुरी तरह पेश आते। ऐसे झगडे खासकर रेल के सफर मे हुआ करते थे।

हालाकि देश मे विदेशी शासको का रहना और उनका रग-ढग मुझे नागवार मालूम होने लगा था, तो भी, मुझे जहाँतक याद है, किसी अग्रेज के लिए मेरे दिल मे बुरा भाव नही था। मेरी अध्यापिकाये अग्रेज थी और कभी-कभी मै देखता था कि कुछ अग्रेज भी पिताजी से मिलने के लिए आया करते थे। बल्कि यो कहना चाहिए कि अपने दिल मे तो मै अग्रेजो की इज्जत ही करता था।

शाम को रोज कई मित्र पिताजी से मिलने आया करते थे। पिताजी आराम से पड जाते और दिन-भर की थकान मिटाते। उनकी जबरस्त हँसी से सारा घर भर जाता। इलाहाबाद मे उनकी हँसी एक मशहूर बात हो गई थी। कभी-कभी मैं परदे की ओट से उनकी और उनके दोस्तो की ओर झांकता और यह जानने की कोशिश करता कि देखे ये बड़े लोग इकट्ठे होकर आपस मे क्या-क्या बाते करते है। मगर जब कभी ऐसा करते हुए मैं पकडा जाता तो मैं खीचकर बाहर लाया जाता और मैं, सहमा हुआ, कुछ देर तक पिताजी की गोदी मे बैठाया जाता। एक बार मैंने उन्हे 'क्लेरेट' या कोई दूसरी लाल शराब पीते हुए देखा। 'व्हिस्की' को मै जानता था। अक्सर पिताजी और उनके मित्रो को पीते देखा था। मगर इस नई लाल चीज़ को देखकर मै सहम गया और माँ के पास झपटा गया और कहा कि "माँ, माँ, देखो तो, पिताजी खून पी रहे हैं।"

मै पिताजी की बहुत ही इज्जत करता था। मैं उन्हे बल, साहस और होशियारी की मूर्त्ति समझता था। और दूसरो के मुकाबले मे इन बातो मे बहुत ही ऊँचा और बढा-चढा पाता था। मै भी अपने दिल मे यह आशा लगाये था कि बडा होने पर पिताजी की तरह होऊँगा। लेकिन जहाँ मैं उनकी इज्जत करता था और उन्हे बहुत ही चाहता था, वहाँ मैं उनसे डरता भी था। नौकर-चाकरो पर और दूसरो पर बिगडते हुए मैंने उन्हे देखा था। उस समय वह बडे भयकर मालूम होते थे। और मैं मारे डर के काँपने लगता था। नौकरो के साथ जो यह बर्ताव उनका होता था उसके प्रति मेरे मन मे उनपर कभी-कभी गुस्सा भी आ जाया करता था। उनका स्वभाव दरअसल भयकर था, और उनकी आयु के ढलते दिनो मे भी उनका-सा गुस्सा मुझे किसी दूसरे मे देखने को नही मिला। लेकिन खुशकिस्मती से उनमे हँसी-मजाक का माद्दा बडे जोर का था और वह इरादे के बडे पक्के थे। इससे आम तौर पर अपने-आपपर जब्त रख सकते थे। ज्यो-ज्यो उनकी उम्र बढती गई, उनकी अपने-आप पर काबू पाने की ताकत बढती गई। और फिर शायद ही कभी उनकी इस पुरानी आदत का परिचय मिलता।

उनकी तेज-मिजाजी की एक घटना मुझे याद है। बचपन ही मे मैं उसका शिकार हो गया था। कोई ५–६ वर्ष की मेरी उम्र रही होगी। एक रोज़ मैंने पिताजी की मेज पर दो फाउण्टेन-पेन पडे देखे। मेरा जी ललचाया। मैंने दिल मे कहा—पिताजी एक साथ दो पेनो का क्या करेगे? एक मैंने अपनी जेब मे डाल ली। बाद मे बडे जोरो की तलाश हुई, कि पेन कहाँ चला गया? तब तो मैं घबराया। मगर मैंने बताया नही। आखिर पेन मिल गया और मैं गुनहगार करार

दिया गया। पिताजी बहुत गुस्सा हुए और मेरी खूब जी भर के मरम्मत की। आखिर पिटकर शर्म से अपना-सा मुँह लिये मै माँ की गोद मे दौडा गया। इतना पिटा था कि कई दिन तक मेरे बदन पर क्रीम और मरहम लगाने पडे थे।

लेकिन मुझे याद नही पडता कि इस सजा के कारण पिताजी के प्रति मेरे मन मे कोई बुरा भाव पैदा हुआ हो। मै समझता हूँ, मेरे दिल ने यही कहा होगा कि सजा तो तुझे वाजिब ही मिली है, मगर थी जरूरत से ज्यादा। लेकिन पिताजी के लिए मेरे दिल मे वैसी ही इज्जत और मुहब्बत बनी रही—हाँ, अब एक डर उसमे और शामिल हो गया था। मगर मा के साथ ऐसा न था। उससे मै बिलकुल नही डरता था। क्योकि मै जनता था कि वह मेरे सब कुछ किये-धरे को माफ कर देगी और उसके इस ज्यादा और बेहद प्रेम के कारण मै उसपर थोडा-बहुत हावी होने की भी कोशिश करता था। पिताजी की बनिस्बत मै मा को ज्यादा पहचान सका था और वह मुझे पिताजी से अपने ज्यादा नजदीक मालूम होती थी। मै जितने भरोसे के साथ माताजी से अपनी बात कह सकता था, उतने भरोसे के साथ स्वप्न मे भी पिताजी से कहने का खयाल नही कर सकता था। वह सुडौल, कद मे छोटी और नाटी थी और मै जल्द ही करीब-करीब उनके बराबर ऊँचा हो गया था और अपनेको उनके बराबर समझने लगा था। वह बहुत सुन्दर थी। उनका सुन्दर चेहरा और छोटे-छोटे खूब-सूरत हाथ-पाँव मुझे बहुत भाते थे। मेरी मा के पूर्वज कोई दो पुश्त पहले ही कश्मीर से नीचे मैदान मे आये थे

एक और शख्स जो लडकपन मे मेरे भरोसे के आदमी थे, वह पिताजी के मुशी मुबारकअली थे। वह बदायूँ के रहनेवाले थे और उनके घर के लोग खुशहाल थे। मगर १८५७ के गदर ने उनके कुनबे को बरबाद कर दिया और अग्रेजी फौज ने उसको एक हद तक जड-मूल से उखाड़ फेंका था। इस मुसीबत ने उन्हे हरेक के प्रति, और खासकर बच्चो के प्रति, बहुत नम्र और सहन-शील बना दिया था, और मेरे लिए तो वह, जब कभी मै किसी बात से दु खी होता या तकलीफ महसूस करता तो, सान्त्वना के निश्चित आधार थे। उनके बढिया सफेद दाढी थी और मेरी नौ-जवान आखो को वह बहुत पुराने और प्राचीन जानकारी के खजाने मालूम होते थे। मै उनके पास लेटे-लेटे घण्टो अलिफलैला के और दूसरे किस्से-कहानियाँ या १८५७ और १८५८ की बाते सुना करता। बहुत दिन बाद, मेरे बडे होने पर, मुंशीजी इन्तकाल कर गये। उसकी प्यारी सुखद स्मृति अब भी मेरे मन मे बसी हुई है।

हिन्दू पुराणो और रामायण-महाभारत की कथाये भी मै सुना करता था, जोकि मेरी मा और ताइयाँ सुनाया करती थी। मेरी एक ताई, पण्डित नन्दलालजी की

विधवा पत्नी, पुराने हिन्दू ग्रन्थों की बहुत जानकारी रखती थी। उनके पास इन कहानियो का तो मानों खजाना ही भरा था।

धर्म के मामले में मेरे खयालात बहुत धुंधले थे। मुझे वह स्त्रियो से सम्बन्ध रखनेवाला विषय मालूम होता था। पिताजी और बड़े चचेरे भाई धर्म की बात को हँसी में उडा दिया करते थे और इसपर ज्यादा ध्यान नही देते थे। हाँ, हमारे घर की औरते अलबत्ता पूजा-पाठ और व्रत-त्यौहार किया किया करती थी। हालांकि मैं इस मामले मे घर के बडे-बूढे अदामियों की देखा-देखी उनके तात्कालिक आचरण की कोशिश किया करता था, फिर भी कहना होगा कि मै उनका रस लिया करता था। कभी-कभी मैं अपनी मा या ताई के साथ गंगा नहाने जाया करता, और कभी इलाहाबाद या काशी या दूसरी जगह मन्दिरों मे भी या किसी नामी और बड़े साधू-सन्यासी के दर्शन के लिए भी जाया करता। मगर इन सबका बहुत कम असर मेरे दिल पर हुआ। २८७९

फिर त्यौहार के दिन आते थे—होली जबकि सारे शहर में रंगरेलियो की धूम मच जाती थी और हम लोग एक दूसरे पर रंग की पिचकारिया चलाते थे, दिवाली, रोशनी का त्यौहार होता, जबकि सब घरों पर धीमी रोशनीवाले मिट्टी के हजारों दीये जलाये जाते; जन्माष्टमी, जिसमे कि जेल मे पैदा हुए श्रीकृष्ण की आधीरात को वर्षगांठ मनाई जाती (लेकिन उस समय तक जागते रहना हमारे लिए बड़ा मुश्किल होता था); दशहरा और रामलीला, जिसमे कि स्वाँग और जूलूसो के द्वारा रामचन्द्र और लका-विजय की पुरानी कहानी की नक़ल की जाती थी और जिन्हे देखने के लिए लोगो की बड़ी भारी भीड़ इकट्ठी होती थी। सब बच्चे मुहर्रम का जुलूस भी देखने जाते थे, जिसमें रेशमी अलम होते थे और सुदूर अरब मे हसन और हुसैन के साथ घटित घटनाओ की यादगार मे शोकपूर्ण मरसिये गाये जाते थे। दोनो ईद पर मुशीजी बढिया कपड़े पहनकर बडी मसजिद मे नमाज के लिए जाते और मैं उनके घर जाकर मीठी सेवैया और दूसरी बढिया चीजें खाया करता। इनके सिवा रक्षाबन्धन, भैया-दूज वगैरा छोटे त्यौहार भी हम हम लोग मनाते थे।

कश्मीरियो के कुछ खास त्यौहार भी होते है, जिन्हे उत्तर मे बहुतेरे दूसरे हिन्दू नही मनाते। इनमें सबसे बड़ा नौरोज़ याने वर्ष-प्रतिपदा का त्यौहार है। इस दिन हम लोग नये कपडे पहनकर बन-ठनकर निकलते और घर के बड़े लड़के-लडकियो को हाथ-खर्च के तौर पर कुछ पैसे मिला करते थे।

मगर इन तमाम उत्सवो में मुझे एक सालाना जलसे मे ज्यादा दिलचस्पी रहती थी, जिसका खास मुझीसे ताल्लुक था—याने मेरी वर्ष-गांठ का उत्सव।

इस दिन मैं बडे उत्साह और रग में रहता था। सुबह ही एक बडी तराजू मे मैं गेहूँ और दूसरी चीजो के थैलो से तौला जाता और फिर वे चीजे गरीबो को बॉट दी जाती और बाद को नये-नये कपडो से सजा-धजाकर मुझे भेंट और तोहफे नजर किये जाते। फिर तीसरे पहर दावत दी जाती। उस समय मैं अपनेको मानो उस सारे जलसे का सरदार ही पाता था। मगर मुझे इस बात का बडा दुख था कि वर्ष-गाठ साल मे एक बार ही क्यो आती है? वास्तव मे मैंने इस बात का आन्दोलन खडा करने की कोशिश की कि वर्ष-गॉठ के मौके बरस मे एक बार ही क्यो और अधिक क्यो न आया करे? उस वक्त मुझे क्या पता था कि एक समय ऐसा भी आयगा जब ये वर्ष-गाँठे हमको अपने बुढापे के आने की दुखदायी याद दिलाया करेगी।

कभी-कभी हम सब घर के लोग अपने किसी भाई या किसी रिश्तेदार या किसी दोस्त की शादी मे बरात भी जाया करते। उस सफर मे बड़ी धूम रहती। शादी के उत्सव मे हम बच्चों की तमाम पाबन्दियाँ ढीली हो जाती थी और हम आजादी से आ-जा सकते थे। शादीखाने में कई कुटुम्बो के लोग आकर रहते थे और उनमे बहुतेरे लडके और लडकियाँ भी होती थी। ऐसे मौको पर मुझे अकेलेपन की शिकायत नही रहती थी और जी भरकर खेलने-कूदने और शरारत करने का मौका मिल जाता था। हाँ, कभी-कभी बडे-बूढ़ो की डाँट-फटकार भी जरूर पड़ जाती थी।

हिन्दुस्तान मे क्या गरीब और क्या अमीर सब जिस तरह शादियो मे धूम-धाम और फिजूल-खर्ची करते है उसकी सब तरह बुराई ही की जाती है और वह ठीक भी है। फजूल-खर्ची के अलावा उसमे बडे भद्दे ढग के प्रदर्शन भी होते है, जिनमे न कोई सुन्दरता होती है न कला। (कहना नही होगा कि इसमे अपवाद भी होते है) इन सबके असली गुनहगार है मध्यम वर्ग के लोग। गरीब भी कर्ज लेकर फजूल-खर्ची करते है। मगर यह कहना बिलकुल बेमानी है कि उनकी मुफलिसी उनकी इन सामाजिक कुप्रथाओ के कारण है। अक्सर यह भुला दिया जाता है कि गरीब लोगो की जिन्दगी बड़ी उदास, नीरस और एक ढर्रे की होती है। जब कभी कोई शादी का जलसा होता है, तो उसमे उन्हे अच्छा खाने-पीने और गाने-बजाने का कुछ मौका मिल जाता है, जो कि उनकी मेहनत-मशक्कत के रेगिस्तान मे एक झरने का काम देता है। रोजमर्रा के जी उबा देनेवाले काम-काज और जीवन-क्रम से हटकर कुछ आराम और आनन्द की छटा दीख जाती है, और जिनको हँसने-खेलने के इतने कम मौके मिलते है उनको ऐसा कौन निठुर बेपीर होगा जो इतना भी आनन्द, आराम और

तसल्ली न मिलने देना चाहेगा ? हाँ, फ़ज़ूल-ख़र्ची को आप शौक़ से बन्द कर दीजिए और उनकी शाहख़र्ची भी—कैसे बड़े और बेमानी लफ़्ज़ हैं ये जो उस थोड़े-से प्रदर्शन के लिए इस्तैमाल किये जाते हैं, जिसे गरीब लोग अपनी गरीबी में भी दिखाते हैं—कम कर दीजिए, लेकिन मेहरबानी करके उनके जीवन को ज्यादा उदास और हँसी-ख़ुशी से ख़ाली मत बनाइए।

यही बात मध्यमश्रेणी के लोगों के लिए भी है। फ़ज़ूल-ख़र्ची को छोड़ दें तो ये शादियाँ एक तरह के सामाजिक सम्मेलन ही हैं, जहाँकि दूर के रिश्तेदार और पुराने साथी व दोस्त बहुत दिनों के बाद मिल जाते हैं। हमारा देश बड़ा लम्बा-चौड़ा है, यहाँ अपने संगी-साथियों व दोस्तों से मिलना आसान नहीं है। सबका साथ और एक जगह मिलना तो और भी मुश्किल है। इसीलिए यहाँ शादी के जलसों को लोग इतना चाहते हैं। एक और चीज़ इसके मुक़ाबले की है और कुछ बातों में तो, और सामाजिक सम्मेलन की दृष्टि से भी, वह उससे आगे निकल गई है। वह है राजनैतिक सम्मेलन, अर्थात् प्रान्तीय परिषदें, या कांग्रेस की बैठकें।

और लोगों की बनिस्बत, ख़ासकर उत्तर भारत में, कश्मीरियों को एक ख़ास सुभीता है। उनमें परदे का रिवाज़ या मर्द-औरतों को एक-दूसरे से न मिलने-जुलने देने का रिवाज कभी नहीं रहा है। मैदान में आने पर, वहाँके रिवाज के मुताबिक़, दूसरों से और ग़ैर-कश्मीरियों से जहाँतक ताल्लुक़ है, उन्होंने इस रिवाज को एक हद तक अपना लिया है। उत्तर में जहाँ कि कश्मीरी अधिक बसते हैं, उन दिनों यह सामाजिक उच्चता का एक चिन्ह समझा जाता रहा था। मगर अपने आपस में उन्होंने स्त्री और पुरुषों के सामाजिक जीवन को वैसा ही आज़ाद रक्खा है। कोई भी कश्मीरी किसी भी कश्मीरी के घर में आज़ादी से आ-जा सकता है। कश्मीरियों की दावतों और उत्सवों में स्त्री-पुरुष आपस में एक-दूसरे के साथ मिलते-जुलते और बैठते हैं। हाँ, अक्सर स्त्रियाँ अपना एक झुण्ड बनाकर बैठती हैं, लड़के-लड़कियाँ बहुत-कुछ बराबर की हैसियत से मिलते-जुलते हैं। लेकिन हाँ, यह तो कहना ही पड़ेगा कि आधुनिक पश्चिम की आज़ादी उन्हें नहीं थी।

इस तरह मेरा बचपन गुज़रा। कभी-कभी, जैसा कि बड़े कुटुम्बों में हुआ ही करता है, हमारे कुटुम्ब में भी झगड़े हो जाया करते थे। जब वे बढ़ जाते तो पिताजी के कानों तक पहुँचते। तब वह गुस्सा होते और कहते कि ये सब औरतों की बेवकूफ़ी के नतीजे हैं। मैं यह तो नहीं समझ पाता था कि दरअसल क्या घटना हुई है। मगर मैं इतना जरूर समझता था कि कोई बुरी बात हुई है। क्योंकि लोग एक-दूसरे से बिगड़कर बदमज़गी से बोलते थे और आपस में मिलना टालते थे। ऐसी हालत में

मैं बडा दुःखी हो जाता। पिताजी जब कभी बीच में पडते तो हम लोगो के देवता कूच कर जाते थे।

उन दिनो का एक छोटा वाकया मुझे अभीतक याद है। मैं ६–७ वर्ष का रहा होउँगा। मैं रोज घुड-सवारी के लिए जाया करता था। मेरे साथ घुड-सेना का एक सवार रहता था। एक रोज शाम को मैं घोडे से गिर पडा और मेरा टट्टू—जो अरबी नस्ल का एक अच्छा जानवर था—खाली घर लौट आया। पिताजी टेनिस खेल रहे थे। काफी घबराहट और हलचल मच गई और वहाँ जितने लोग थे सब-के-सब, जो भी सवारी मिली उसे लेकर, मेरी तलाश मे दौड पडे। पिताजी उन सबके आगे थे। वह रास्ते मे मुझे मिले और वे सब मेरे साथ इस तरह पेश आये मानो मैंने कोई बडी बहादुरी का काम किया हो।

३

थियोसॉफ़ी

जबकि मैं दस साल का था, हम लोग एक नये और काफी वडे मकान मे आ गये, जिसका नाम पिताजी ने 'आनन्द-भवन' रक्खा था। इस मकान में एक वडा वाग था और एक तैरने का वडा-सा हौज़। वहाँ ज्यो-ज्यों नई-नई चीजे दिखाई पड़ती त्यों-त्यो मेरी तवीयत लहरा उठती। इमारत मे नये-नये हिस्से जोडे जा रहे थे और वहुतेरा खुदाई और चुनाई का काम हो रहा था। वहाँ मजदूरो को काम करते हुए देखना मुझे अच्छा लगता था।

मैं कह चुका हूँ कि मकान मे तैरने के लिए एक वडा हौज़ था। मैं तैरना जान गया और पानी मे गिरते मुझे जरा भी डर मालूम नही होता था। गर्मी के दिनो में कई वार मौका-वे-मौका में उसमे नहाया करता। शाम को पिताजी के कई दोस्त तैरने आया करते, वह एक नई चीज़ थी और वहाँ तथा मकान मे विजली की वत्तियाँ लगाई गई थी। ये इलाहावाद में उन दिनो नई वाते थी। इन नहानेवालो के झुण्ड मे मुझे वडा आनन्द रहता था और उनमे जो तैरना नही जानते थे उनमें से किसीको आगे धक्का देकर या पीछे खीचकर डराने मे वडा ही लुत्फ आता था। मुझे डाक्टर तेजवहादुर सप्रू का किस्सा याद आता है, जवकि उन्होने इलाहावाद-हाइकोर्ट में नई-नई वकालत शुरू की थी। वह तैरना नही जानते थे और न जानना ही चाहते थे, वह पन्द्रह इन्च पानी मे पहली सीढ़ी पर ही वैठ जाते थे और कसम खाने को एक सीढ़ी नीचे नही उतरते थे, और अगर कोई उन्हे आगे खीचने की कोशिश करता तो जोर से चिल्ला उठते थे। मेरे पिताजी खुद भी तैराक नही थे, मगर वह किसी तरह हाथ-पैर फटफटाकर और जी कडा करके हौज़ के आर-पार चले जाते थे।

उन दिनो वोअर-युद्ध हो रहा था। उसमे मेरी दिलचस्पी होने लगी। वोअरो की तरफ मेरी हमदर्दी थी। इस लडाई की खवरों को पढने के लिए मैं अखवार पढ़ने लगा।

इसी समय एक घरेलू वात मे मेरा चित्त रम गया। वह थी मेरी एक छोटी वहन का पैदा होना। मेरे दिल में एक अर्से से एक रंज छिपा रहता था और वह यह कि मुझे कोई भाई या वहन नही है जवकि और कइयो के है। जव मुझे यह मालूम हुआ कि मेरे भाई या वहन होनेवाली है, तो मेरी खुशी का पार न रहा। पिताजी उन दिनो योरप थे। मुझे याद है कि मैं उस वक्त वरामदे मे वैठा-वैठा कितनी

उत्सुकता से इस बात की राह देख रहा था। इतने मे एक डॉक्टर ने आकर मुझे बहन होने की खबर दी और कहा—शायद मजाक मे—कि तुमको खुश होना चाहिए कि भाई नही हुआ, जो तुम्हारी जायदाद मे हिस्सा बंटा लेता। यह बात मुझे बहुत चुभी और मुझे गुस्सा भी आ गया—इस ख़याल पर कि कोई मुझे ऐसा कमीना ख़याल रखनेवाला समझे।

पिताजी की योरप-यात्रा ने कश्मीरी ब्राह्मणो मे अन्दर-ही-अन्दर एक तूफान खडा कर दिया। योरप से लौटने पर उन्होने किसी किस्म का प्रायश्चित्त करने से इन्कार कर दिया। कुछ साल पहले एक दूसरे कश्मीरी, पण्डित विशननरायण दर, जो बाद मे कॉंग्रेस के सभापति हुए थे, इगलैण्ड गये थे और वहाँ से बैरिस्टर होकर आये थे। लौटने पर बेचारो ने प्रायश्चित्त भी कर लिया, तो भी पुराने ख़याल के लोगो ने उनको जाति से बाहर कर दिया और उनसे किसी किस्म का ताल्लुक नही रक्खा। इससे बिरादरी मे करीब-करीब बराबर के दो टुकडे हो गये थे। बाद को कई कश्मीरी युवक विलायत पढने गये और लौटकर सुधारक-दल मे मिल गये, लेकिन उन सबको विधिवत प्रायश्चित्त तो करना ही पडा। यह प्रायश्चित्त-विधि क्या थी, एक तमाशा होता था, जिसमे किसी तरह की धार्मिकता नही थी। उसके मानी सिर्फ रस्म अदा करना या एक समूह की बात को मान लेना होता था। और दिल्लगी यह कि एक दफा प्रायश्चित्त कर लेने के बाद ये सब लोग हर तरह के नवीन सुधारो के कामो मे शरीक होते—यहाँ तक कि अब्राह्मण और अहिन्दू के यहाँ भी जाते-आते और खाना खाते थे।

पिताजी एक कदम और आगे बढे और उन्होने किसी रस्म या नाममात्र के लिए भी किसी प्रकार के प्रायश्चित्त को करने से इन्कार कर दिया। इससे बडा तहलका मचा, खासकर पिताजी की तेजी और किसी कदर अक्खडपन के कारण। आखिर कितने ही कश्मीरी पिताजी के साथ हो गये और एक तीसरा दल बन गया। थोडे ही साल के अन्दर जैसे-जैसे ख़यालात बदलते गये और पुरानी पाबन्दियॉं हटती गई, ये सब दल एक मे मिल गये। बहुत-से कश्मीरी लडके-लडकियाँ इग्लैण्ड और अमेरिका पढने गये और उनके लौटने पर प्रायश्चित्त का कोई सवाल पैदा नही हुआ। खान-पान का परहेज करीब-करीब सब उठ गया। मुट्ठीभर पुराने लोगो को, खासकर बडी-बूढी स्त्रियो को, छोडकर गैर-कश्मीरियो, मुसलमानो तथा गैर-हिन्दुस्तानियो के साथ बैठकर खाना खाना एक मामूली बात हो गई। दूसरी जाति-वालो के साथ स्त्रियो का परदा उठ गया और उनके मिलने जुलने की रुकावट भी हट गई। १९३० के राजनैतिक आन्दोलन ने इसको एक जोर का आखिरी धक्का दिया। दूसरी बिरादरीवालो के साथ शादी-ब्याह करने का रिवाज अभी बहुत बढा

नही है—हालाँकि दिन-दिन बढती पर है। मेरी दोनो बहनो ने गैर-कश्मीरियो के साथ शादी की है और हमारे कुटुम्ब का एक युवक हाल ही एक हगेरियन लडकी ब्याह लाया है। अन्तर्जातीय विवाह पर ऐतराज धार्मिक दृष्टि से नही, बल्कि ज्यादातर जाति-शुद्धि की दृष्टि से किया जाता है। कश्मीरियो मे यह अभिलाषा पाई जाती है कि वे अपनी जाति की एकता को और आर्यत्व के प्रकट चिन्हो को कायम रक्खे। उन्हे डर है कि यदि वे हिन्दुस्तानी और गैर-हिन्दुस्तानी समाज के समुद्र मे कूदे तो इन दोनो बातो को खो देगे। इस विशाल देश मे हम कश्मीरियो की सख्या दरिया मे खसखस के बराबर है।

सबसे पहले कश्मीरी ब्राह्मण जिन्होने आधुनिक समय मे, कोई सौ बरस पहले, पश्चिमी देशो की यात्रा की, वह थे मिर्ज़ा मोहनलाल 'कश्मीरी' (वह अपनेको ऐसा ही कहा करते थे)। वह बडे खूबसूरत और जहीन थे। दिल्ली के मिशन कॉलेज मे पढते थे। एक ब्रिटिश मिशन काबुल गया तो उसके साथ फारसी के दुभाषिया बनकर वह गये। बाद को तमाम मध्य-एशिया और ईरान की उन्होने सैर की और जहाँ कहीं गये उन्होने अपनी एक-एक शादी की। मगर आम तौर पर ऊँचे दर्जे के लोगो के यहाँ। वह मुसलमान हो गये थे और ईरान मे शाही घराने की एक लडकी से शादी करली थी, इसीलिए उनको मिर्ज़ा की उपाधि मिली थी। वह योरप भी गये थे और तत्कालीन तरुण महारानी विक्टोरिया से भी मिले थे। उन्होने अपनी यात्रा का बडा रोचक वर्णन और सुन्दर सस्मरण लिखे है।

जब मैं कुल ११ वर्ष का था तो मेरे लिए एक नये शिक्षक आये, जिनका नाम था एफ० टी० ब्रुक्स। वह मेरे साथ ही रहते थे। उनके पिता आयरिश थे और मा फरासीसी या बेलजियन थी। वह एक पक्के थियोसॉफिस्ट थे और मिसेज़ बेसेण्ट की सिफारिश से आये थे। कोई ३ साल तक वह मेरे साथ रहे। कई बातो मे मुझपर उनका गहरा असर पडा। उस समय एक और मेरे शिक्षक थे—एक बूढे पण्डितजी, जो मुझे हिन्दी और सस्कृत पढाने के लिए रक्खे गये थे। कई वर्षों की मेहनत के बाद भी पण्डितजी मुझे कुछ कम पढा पाये थे—इतना थोडा, कि मैं अपने नाम-मात्र के सस्कृत-ज्ञान की तुलना अपने लैटिन-ज्ञान के साथ ही कर सकता हूँ, जोकि मैंने हैरो मे पढी थी। कुसूर तो इसमे मेरा ही था, भाषाये पढने मे मेरी गति अच्छी नही थी और व्याकरण मे तो मेरी रुचि बिलकुल ही नही थी।

एफ० टी० ब्रुक्स की सोहबत से मुझे किताबें पढने का चाव लगा और मैंने कई अग्रेजी किताबे पढ डाली—अलबत्ते बिना किसी उद्देश के। बच्चो और लड़को सम्बन्धी अच्छा साहित्य मैंने देख लिया था। लेविस केरोल की किताबे और

'दि जगल बुक्स' और 'किम' मुझे बहुत पसन्द थी। गस्टेव डोरे के चित्र, जो 'डॉन क्विक्सॉट' मे थे, मुझे बहुत लुभावने मालूम हुए और फ्रिड्जॉफ ननसेन की 'फारदेस्ट नार्थ' ने तो मेरे लिए अद्भुतता और साहस की एक नई दुनिया का दरवाजा खोल दिया। स्कॉट, डिकन्स और थैकरे के कई उपन्यास मुझे पढे याद है। एच० जी० वेल्स के रोमान्सेज, मार्क ट्वेन और शर्लाक होम्स की कहानियाँ भी पढी है। 'प्रिजनर्स ऑफ जेन्दा' को पढकर मुझे रोमाञ्च हो उठा था ओर जिरोम के० जिरोम की 'थ्री मेन इन ए बोट' से बढकर हास्य-रस की पुस्तक मैने नही पढी। दूसरी किताबे भी मुझे याद है। वे है डू मॉरियर की 'ट्रिलबी' और 'पीटर इवटसन'। काव्य-साहित्य से भी मुझे दिलचस्पी हो गई थी, जोकि कई परिवर्तनो के हो चुकने के बाद अब भी मुझमें कुछ हद तक कायम है।

ब्रुक्स ने विज्ञान के रहस्यो से भी मेरा परिचय कराया। हमने विज्ञान की एक प्रयोगशाला खडी करली थी और मै प्रारम्भिक वस्तु-विज्ञान और रसायन-शास्त्र के प्रयोग घण्टो किया करता था, जो बडे दिलचस्प मालूम होते थे।

अपनी पढाई के अलावा ब्रुक्स साहब ने एक और बात का असर मुझपर डाला, जो कुछ समय तक बडे जोर के साथ रहा। वह थी थियोसॉफी। हर हफ्ते उनके कमरे मे थियोसॉफिस्टो की सभा हुआ करती। मै भी उसमे जाया करता और धीरे-धीरे थियोसॉफी की भाषा और विचार-शैली मेरे हृदयगम होने लगी। वहाँ आध्यात्मिक विषयो पर तथा 'अवतार', 'कामशरीर' और दूसरे 'अलौकिक शरीरो' और 'तेजोवलय' तथा 'कर्म-तत्त्व' इन विषयो पर चर्चा होती और मेडम ब्लेवेट्स्की तथा दूसरे थियोसॉफिस्टो से लेकर हिन्दू धर्म-ग्रन्थो, बुद्ध-धर्म के धम्मपद, पायथागोरस, तयाना के अपोलोनियस और कई दार्शनिको और ऋषियो के ग्रन्थो का जिक्र आया करता था। वह सब कुछ मेरी समझ मे तो नही आता था। परन्तु वह मुझे बहुत रहस्य-पूर्ण और लुभावना मालूम होता था और मै खयाल करता था कि सारे विश्व के रहस्यो की कुजी यही है। यही से जिन्दगी मे सबसे पहले मै अपनी तरफ से धर्म और परलोक के बारे मे सोचने लगा था। खासतौर से, हिन्दू-धर्म, मेरी नजर मे ऊँचा उठ गया था—उसके कर्म-काण्ड और व्रत-उत्सव नही, बल्कि उसके महान् ग्रन्थ, उपनिषद् और भगवद्गीता। मै उन्हे समझ तो नही पाता था, परन्तु वे मुझे बहुत विलक्षण जरूर मालूम होते थे। मुझे 'कामशरीरो' के सपने आते और मै बडी-बडी दूर तक आकाश मे उडता जाता। बिना किसी साधन के यो ही ऊँचे आकाश मे उडते जाने के सपने मुझे जीवन मे अक्सर आया करते है। कभी-कभी तो वे बहुत साफ और सच्चे मालूम होते है और नीचे विशाल विश्व-पटल मे सारा जन-प्रदेश

मुझे दिखाई पड़ता है। मैं नही जानता कि फ्रूड तथा दूसरे आधुनिक स्वप्न-शास्त्री इस सपने का क्या अर्थ लगाते होगें।

उन दिनो मिसेज बेसेन्ट इलाहाबाद आई थी और थियोसॉफी-सम्बन्धी कई विषयो पर भाषण दिये थे। उनके सुन्दर भाषणो से मेरा दिल हिल उठता था और मैं चकाचौध होकर घर आता था—अपने-आपको भूले जाता था, जैसे कि कोई सपने मे हो। मैं उस समय १३ साल का था, तो भी मैंने थियोसॉफिकल सोसायटी का मेम्बर बनना तय कर लिया। जब मैं पिताजी से इजाजत लेने गया तो उन्होने उसे हँसकर उडा दिया। वह इस मामले को इधर या उधर कोई महत्त्व देना नही चाहते थे। उनकी इस उदासीनता पर मुझे दुख हुआ। यो तो वह मेरी निगाह मे बहुत बातो मे बड़े थे। फिर भी मुझे लगा कि उनमें आध्यात्मिकता की कमी है। यो सच पूछिए तो वह बहुत पुराने थियोसॉफिस्ट थे। वह तबसे थियोसॉफिकल सोसायटी मे शरीक हुए जबकि मैड्म ब्लेवेट्स्की हिन्दुस्तान मे थी। धार्मिक-विश्वास की बनिस्बत कुतूहल के कारण शायद वह उसके मेम्बर बने थे। मगर शीघ्र ही वह उसमें से हट गये। हाँ, उनके कुछ मित्र, जो उनके साथ सोसायटी मे शरीक हुए थे, कायम रहे और सोसायटी के उच्च आध्यात्मिक पदो पर ऊँचे चढते गये।

इस तरह मैं १३ वर्ष की उम्र मे थियोसॉफिकल सोसायटी का मेम्बर बना और खुद मिसेज बेसेन्ट ने मुझे प्रारम्भिक दीक्षा दी, जिसमे कुछ उपदेश दिया और कुछ गूढ़ चिन्हो के बारे मे कहा—जो कि शायद फ्रीमेसनरी ढग के थे। उस समय मैं पुलकित हो उठा था। मै थियोसॉफिकल कन्वेन्शन मे बनारस गया था और कर्नल अलकॉट को देखा था, जिनकी डाढी बड़ी उम्दा थी।

३० बरस पहले अपने बचपन मे कोई कैसा लगता होगा और कैसा क्या अनुभव करता होगा, इसका खयाल करना बहुत मुश्किल है। मगर मुझे यह अच्छी तरह खयाल पड़ता है कि अपने थियोसॉफी के इन दिनो मे मेरा चेहरा स्थिर, गम्भीर और उदास दिखाई पडता था, जेसा कि कभी-कभी पवित्रता का सूचक होता है और थियोसॉफिस्ट स्त्री-पुरुषो का अक्सर दिखाई पडता है। मै अपने मन मे समझता था कि मैं औरो से ऊँची सतह पर हूँ और अवश्य ही मेरा रग-ढग ऐसा था कि जिससे मुझे अपने हम-उम्र लडके-लडकी अपनी सगत के लायक न समझते होगे।

ब्रुक्स साहब के मुझसे अलहदा होते ही थियोसॉफी से भी मेरा सम्पर्क छूट गया और बहुत ही थोडे अर्से मे थियोसॉफी मेरी जिन्दगी से बिलकुल हट गई। इसकी कुछ वजह तो यह थी कि मैं इग्लैण्ड पढने चला गया था। मगर इसमे कोई शक नही कि ब्रुक्स साहब की सगति का मुझपर गहरा असर हुआ है और मैं उनका

और थियोसॉफी का बहुत ऋणी हूँ। लेकिन मुझे कहते दुख होता है कि थियोसॉफिस्ट तबसे मेरी निगाह मे कुछ नीचे उतर गये है और ऊचे व बढे-चढे होने के बजाय मामूली आदमी-से दिखाई देते है, जोकि खतरे की बनिस्बत आराम को ज्यादा पसन्द करते है। शहीदो के रास्ते जाने की बनिस्बत फूलो पर चलना पसन्द करते है। लेकिन, हॉ, मिसेज बेसेन्ट के लिए मेरे दिल में हमेशा बडा आदर रहा है।

एक दूसरी मार्के की घटना, जिसने मेरे जीवन पर उस समय असर डाला, रूस-जापान की लडाई थी। जापानियो की रोज बरोज होनेवाली फतह से मेरा दिल उत्साह से उछलने लगता और रोज मै अखबारो मे ताजी खबरे पढने का मुन्तजिर रहता। मैने जापान-सम्बन्धी कई किताबे मँगाई और उनमे से थोडी-बहुत पढी भी। जापान के इतिहास ने तो मानो मुझे भूलभुलैया मे डाल दिया, लेकिन पुराने जापान की सरदारो की कहानिया मै चाव से पढता और लेफ्केडियो हर्न का गद्य मुझे रुचिकर लगता था।

मेरा दिल राष्ट्रीय भावो से भरा रहता था। मै योरप के पजे से एशिया और हिन्दुस्तान को आजाद करने के भावो मे डूबा रहता, और बहादुरी के बडे-बडे मनसूबे बॉधा करता, कि कैसे हाथ मे तलवार लेकर मे हिन्दुस्तान को आजाद करने के लिए लडूगा।

मै चौदह साल का था। हमारे घर मे रद्दोबदल हो रहे थे। मेरे बडे चचेरे भाई अपने-अपने काम-धधो मे लग गये थे और अलहदा रहने लगे थे। मेरे मन मे नये-नये विचार और गोल-मोल कल्पनाये मडराया करती थी और स्त्रियो के प्रति मेरी दिलचस्पी कुछ बढने लगी थी, लेकिन अब भी मै लडकियो की बनिस्बत लडको के साथ मिलना ज्यादा पसन्द करता था और लडकियो के साथ मिलना-जुलना अपनी शान के खिलाफ समझता था। कभी-कभी कश्मीरी दावतो मे—जहॉ सुन्दर लडकियो का अभाव नही रहता था—या दूसरी जगह, उनपर कही निगाह पड गई या बदन छू गया तो मुझे रोमाञ्च हो उठता था।

मई १९०५ मे, जब मै पन्द्रह साल का था, हम इग्लैण्ड रवाना हुए। पिताजी, मा, मेरी छोटी बहन, और मै चारो एकसाथ गये।

४

हॅरो और केम्ब्रिज

मई के अखीर में हम लोग लन्दन पहुँचे। डोवर से ट्रेन मे जाते हुए रास्ते मे सूशीमा में जापानी जल-सेना की भारी विजय का समाचार पढा। मेरी खुशी का ठिकाना न रहा। दूसरे ही दिन डर्बी की घुडदौड थी। हम लोग उसे देखने गये। मुझे याद है कि लन्दन मे आने के कुछ दिनो बाद ही एम० ए० अन्सारी (डाक्टर अन्सारी) से मेरी भेंट हुई। उन दिनो वह एक चुस्त और होशियार नौजवान थे। उन्होने वहाँ के विद्यालयो मे चमत्कारिक सफलता प्राप्त की थी और उन दिनो लन्दन के एक अस्पताल मे हाउस-सर्जन थे।

हॅरो मे दाखिल होने के लिए मेरी उम्र कुछ बडी थी, क्योकि मै उन दिनो १५ बरस का था। इसलिए यह मेरी खुशकिस्मती ही थी कि मुझे वहाँ जगह मिल गई। मेरे परिवार के लोग पहले तो योरप के दूसरे देशो की यात्रा को चले गये और फिर वहाँ से कुछ महीनो बाद हिन्दुस्तान लौट गये।

इससे पहले मै अजनबी आदमियो मे बिलकुल अकेला कभी नही रहा था। इसलिए मुझे बहुत ही सूना-सूना मालूम पडता था और घर की याद सताती थी। लेकिन यह हालत ज्यादा दिनो तक नही रही। कुछ हद तक मै स्कूल की जिन्दगी मे हिल-मिल गया और काम तथा खेल-कूद मे मशगूल रहने लगा, लेकिन मेरा पूरा मेल कभी नही बैठा। हमेशा मेरे दिल मे यह खयाल बना रहता कि मै इन लोगो मे से नही हूँ और दूसरे लोग भी मेरी बाबत यही खयाल करते होगे। कुछ हद तक मै सबसे अलग, अकेला ही रहा। लेकिन कुल मिलाकर मै खेलो में पूरा-पूरा हिस्सा लेता था। खेलो में मै चमका-चमकाया तो कभी नही, लेकिन मेरा विश्वास है कि लोग यह मानते थे कि मै खेल से पीछे हटनेवाला भी न था।

शुरू मे तो मुझे नीचे के दर्जे मे भर्ती किया गया, क्योकि मुझे लैटिन कम आती थी, लेकिन फौरन ही मुझे तरक्की मिल गई। गालिबन कई बातो मे और खासकर आम बातो की जानकारी मे मै अपनी उम्र के लोगो से आगे था। इसमें शक नही कि मेरी दिलचस्पी के विषय बहुतेरे थे और मै अपने ज्यादातर सहपाठियो से ज्यादा किताबें और अखबार पढता था। मुझे याद है कि मैने अपने पिताजी को लिखा था कि अंग्रेज लडके बडे भद्दे होते है, क्योकि वे खेलो के सिवा और किसी विषय पर बात ही नहीं कर सकते। लेकिन मुझे इसमे अपवाद भी मिले थे, खास कर ऊपर के दर्जो मे।

इग्लैण्ड के आम चुनाव मे मुझे बहुत दिलचस्पी थी। जहाँतक मुझे याद है, यह चुनाव १९०५ के अखीर मे हुआ और उसमे लिबरलो की बडी भारी जीत हुई। १९०६ के शुरू मे हमारे दर्जे के मास्टर ने हमसे नई सरकार की बाबत सवाल पूछे, और मुझे यह देखकर बडा अचरज हुआ कि उस दर्जे मे मैं ही एक ऐसा लडका था जो उस विषय पर बहुत-सी बाते बता सका—यहाँ तक कि मैने कॅम्बॅल-बॅनरमन के मत्रि-मण्डल के सदस्यो की करीब-करीब पूरी फेहरिस्त बता दी।

राजनीति के अलावा जिस दूसरे विषय मे मुझे बहुत दिलचस्पी थी, वह था हवाई जहाजो की शुरुआत। वह जमाना राइट ब्रदर्स और सान्तोस डचूमो का था। इनके बाद ही फौरन फरमन, लैथम और ब्लीरियाट आये। जोश मे आकर मैने हॅरो से पिताजी को लिखा था कि मैं हवाई-जहाज द्वारा उडकर हफ्ते के अखीर मे आपसे हिन्दुस्तान मे मिल सकूँगा।

इन दिनो हॅरो मे चार या पाँच हिन्दुस्तानी लडके थे। दूसरी जगह रहनेवालो से मिलने का तो मुझे बहुत ही कम मौका मिलता था। लेकिन हमारे अपने ही घर मे—हेडमास्टर के यहाँ—महाराजा बडौदा के एक पुत्र हमारे साथ थे। वह मुझसे बहुत आगे थे और क्रिकेट के अच्छे खिलाडी होने की वजह से लोक-प्रिय थे। मेरे जाने के बाद फौरन ही वह वहाँ से चले गये। पीछे महाराजा कपूरथला के बडे लडके परमजीतसिंह आये, जो आजकल टीकासाहब है। वहाँ उनका मेल बिलकुल नही मिला। वह दु खी रहते थे और दूसरे लडको से बिलकुल नही मिलते-जुलते थे। लडके अक्सर उनका तथा उनके तौर-तरीको का मजाक उडाते थे। इससे वह बहुत चिढते थे और कभी-कभी उनको धमकी देते कि जब कभी तुम कपूरथला आओगे तब तुम्हे देख लूँगा। यह कहना बेकार है, कि इस घुडकी का कोई अच्छा असर नही होता था। इससे पहले वह कुछ समय तक फ्रास मे रह चुके थे और फ्रान्सीसी भाषा मे धारा-प्रवाह बोल सकते थे। लेकिन ताज्जुब की बात तो यह थी कि अग्रेजी पब्लिक स्कूलो में विदेशी भाषाओ के सिखाने के तरीके कुछ ऐसे थे, कि फ्रान्सीसी भाषा के दर्जे मे उनका यह ज्ञान उनके कुछ काम नही आता था।

एक दिन एक अजीब घटना हुई। आधी रात को हाउस-मास्टर साहब यकायक हमारे कमरो मे घुस-घुसकर तलाशी लेने लगे। पीछे हमे मालूम हुआ कि परमजीत-सिंह की सोने की मूठ की खूबसूरत छडी खो गई है। तलाशी मे वह नही मिली। इसके दो या तीन दिन बाद लार्ड्स-मैदान मे ईटन और हॅरो का मैच हुआ और उसके बाद फौरन ही वह छडी उनके मकान मे रक्खी मिली। जाहिर है कि किसी साहब ने मैच मे उससे काम लिया और उसके बाद उसे लौटा दिया।

हमारे छात्रावास तथा दूसरे छात्रावासो मे थोडे-से यहूदी भी थे। यो वे मजे मे विला खरखशा रहते थे, लेकिन तह मे उनके खिलाफ भाव जरूर काम करता था कि ये लोग "वदमाश यहूदी" है और कुछ दिन वाद ही, लगभग अनजान मे, मै भी यही सोचने लगा कि इनसे नफरत करना ठीक ही है। लेकिन दरअसल मेरे दिल मे यहूदियो के खिलाफ कभी कोई भाव न था और अपने जीवन मे आगे जाकर यहूदियो मे मुझे कई अच्छे दोस्त मिले।

धीरे-धीरे मै हैरो का आदी हो गया और मुझे वहाँ अच्छा लगने लगा। लेकिन न जाने कैसे मै यह महसूस करने लगा कि अब यहाँ मेरा काम नही चल सकता। विश्वविद्यालय मुझे अपनी तरफ खीच रहा था। १९०६ और १९०७ भर हिन्दुस्तान से जो खवरे आती थी उनसे मै वहुत वेचैन रहता था। अग्रेजी अखवारो मे वहुत ही कम खवरे मिलती थी, लेकिन जितनी मिलती थी उनसे ही यह मालूम हो जाता था कि देश मे—वगाल, पजाव और महाराष्ट्र मे—वडी-वडी वाते हो रही है। लाला लाजपतराय और सरदार अजीतसिंह को देश-निकाला दिया गया था। वगाल मे हाहाकार-सा मचा हुआ मालूम पड़ता था। पूना से तिलक का नाम विजली की तरह चमकता था और स्वदेशी तथा वहिष्कार की आवाज गूँज रही थी। इन सव वातो से मेरे ऊपर भारी असर पडा। लेकिन हैरो में एक भी शख्स ऐसा न था जिससे मै इस वारे मे वाते कर सकता। छुट्टियो में मै अपने कुछ चचेरे भाइयो तथा दूसरे हिन्दुस्तानी दोस्तो से मिला और तभी मुझे अपने जी को हलका करने का मौका मिला।

स्कूल मे अच्छा काम करने के लिए मुझे एक इनाम जो मिला वह जी० एम० ट्रिवेलियन की गैरिवाल्डी-विषयक एक पुस्तक थी। इस पुस्तक मे मेरा मन ऐसा लगा कि मैने फौरन ही इस माला की वाकी दो किताबे भी खरीद ली और उनमें गैरिवाल्डी की पूरी कहानी वडी सावधानी के साथ पढी। हिन्दुस्तान मे भी इसी तरह की घटनाओ की कल्पना मेरे मन मे उठने लगी। मै आजादी की वहादुराना लडाई के सपने देखने लगा और मेरे मन मे इटली और हिन्दुस्तान अजीव तरह-से मिल-जुल गये। इन खयालो के लिए हैरो कुछ छोटी और तग जगह मालूम होने लगी, और मै विश्व-विद्यालय के ज्यादा वडे क्षेत्र मे जाने की इच्छा करने लगा। इसीलिए मैने पिताजी को इस वात के लिए राजी कर लिया और मै हैरो मे सिर्फ दो वरस रहकर वहाँ से चला गया। यह दो वरस का समय वहाँ के निश्चित साधारण समय से वहुत कम था।

यद्यपि मै हैरो से खुद अपनी मरजी से जाना चाहता था, फिर भी मुझे यह अच्छी तरह याद है कि जव अलग होने का समय आया तव मुझे वडा दुख हुआ और मेरी आँखो मे आँसू आ गये। मुझे वह जगह अच्छी लगने लगी थी और वहाँ

से सदा के लिए अलग होने ने मेरे जीवन के एक अध्याय को समाप्त कर दिया। परन्तु फिर भी मुझे कभी-कभी यह खयाल आ जाता है कि हॅरो छोडने पर मेरे मन मे असली दु ख कितना था ? क्या कुछ हदतक यह बात न थी कि मैं इसलिए दु खी था, क्योकि हॅरो की परम्परा और उसके गीत के अनुसार मुझे दु खी होना चाहिए था ? मै भी इन परम्पराओ के प्रभाव से अपनेको बचा नही सकता था, क्योकि उस स्थान के साथ अपना मेल बिठा सकने के खयाल से मैने उनका विरोध कभी नही किया था।

१९०७ के अक्तूबर के शुरू मे मै केम्ब्रिज के ट्रिनिटी कॉलेज मे पहुँच गया। उस वक्त मेरी उम्र १७ या १८ बरस के करीब थी। मुझे इस बात से बेहद खुशी हुई कि अब मै अण्डर-ग्रेजुएट हूँ, स्कूल के मुकाबिले मे यहा मुझे जो चाहूँ सो करने की काफी आजादी मिलेगी। मै लडकपन के बन्धनो से मुक्त हो गया और यह महसूस करने लगा कि आखिर मै भी अब बडा होने का दावा कर सकता हूँ। मै ऐठ के साथ केम्ब्रिज के विशाल भवनो और उसकी तग गलियो में चक्कर काटा करता और अगर कोई जान-पहचानवाला मिल जाता तो बहुत खुश होता।

केम्ब्रिज मे मैं तीन साल रहा। ये तीनो साल शान्ति-पूर्वक बीते; इनमे किसी प्रकार के विघ्न नही पडे। तीनो साल धीरे-धीरे धीमी-धीमी बहनेवाली कॅम नदी की तरह चले। ये साल बड़े आनन्द के थे। इनमे बहुत-से मित्र मिले, कुछ काम किया, कुछ खेले और मानसिक क्षितिज धीरे-धीरे बढता रहा। मैने प्राकृतिक विज्ञान का ट्राइपस कोर्स लिया। मेरे विषय थे रसायन-शास्त्र, भूगर्भ-शास्त्र और वनस्पति-शास्त्र, परन्तु मेरी दिलचस्पी इन्ही विषयो तक महदूद न थी। केम्ब्रिज या छुट्टियो में लन्दन मे अथवा दूसरी जगहो मे मुझे जो लोग मिले, उनमे से बहुत-से ग्रन्थो के बारे मे, साहित्य और इतिहास के बारे मे, राजनीति और अर्थशास्त्र के बारे मे विद्वत्तापूर्वक बात-चीत करते थे। पहले-पहल तो ये बढी-चढी बाते मुझे बडी मुश्किल मालूम हुई, परन्तु जब मैने कुछ किताबे पढी तब सब बाते समझने लगा, जिससे मै कम-से-कम अन्त तक बात करते हुए भी इन साधारण विषयो में से किसीके बारे मे अपना घोर अज्ञान जाहिर नही होने देता था। हम लोग नीत्शे और बर्नार्ड शा की भूमिकाओ तथा लॉवेज डिकिन्सन की नई-से-नई पुस्तको के बारे मे बहस किया करते थे। उन दिनो केम्ब्रिज मे नीत्शे की धूम थी। हम लोग अपनेको बडा चलता-पुर्जा समझते थे और स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध तथा सदाचार आदि विषयो पर बडी शान के साथ बाते करते थे और बातचीत के सिलसिले मे ईवान ब्लॉक, हैवलोक एलिस, क्राफ्ट एबिंग और ओटो वीनिंगर के हवाले देते जाते थे। हम लोग यह महसूस

करते थे कि इन विषयो के सिद्धान्तो के बारे मे, विशेषज्ञो को छोडकर, साधारणत जितना जानने की जरूरत है उतना हम जानते है।

वास्तव मे, हम बाते जरूर बढ-बढकर मारते थे, लेकिन स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध के बारे मे हममें से ज्यादातर डरपोक थे और कम-से-कम मैं तो जरूर डरपोक था। मेरा इस विषय का ज्ञान, केम्ब्रिज छोडने के बाद भी बहुत बरसो तक, केवल सिद्धान्त तक ही सीमित रहा। ऐसा क्यो था, यह कहना कुछ कठिन है। हममे से अधिकाश का स्त्रियो की ओर जोर का आकर्षण था और मुझे इस बात मे सन्देह है कि उनके सहवास मे हममे से कोई किसी प्रकार का पाप समझता था। यह निश्चित है कि मैं उसमें कोई पाप नही समझता था। मेरे मन मे कोई धार्मिक रुकावट नही थी। हम लोग आपस मे कहा करते थे—स्त्री-पुरुषो के सम्बन्धो का न सदाचार से सम्बन्ध है न दुराचार से। वह तो इन आचारो से परे है। यह सब होने पर भी एक प्रकार की झिझक तथा इस सम्बन्ध मे आम तौर पर जिन तरीको से काम लिया जाता था उनके प्रति मेरी अरुचि ने मुझे इससे बचा रक्खा। उन दिनो मैं निश्चित-रूप से एक झेपू लडका था। शायद यह इसलिए हो कि मैं बचपन मे अकेला रहा था।

उन दिनो जीवन के प्रति मेरा आम रुख एक अस्पष्ट प्रकार के भोग-वाद का था, जो कुछ अश तक युवावस्था के लिए स्वाभाविक था और कुछ अश तक ऑस्कर वाइल्ड और वाल्डर पेटर के प्रभाव के कारण था। आनन्दानुभव और आराम की जिन्दगी की ख्वाहिश को भोग-वाद जैसा बडा नाम देना है तो आसान ओर तबीयत को खुश करनेवाली बात, लेकिन मेरे मामले मे इसके अलावा कुछ और बात भी थी, क्योकि मै खास तौर पर आराम की जिन्दगी की तरफ रुजू न था। मेरी प्रकृति धार्मिक नही थी और धर्म के दमनकारी बन्धनो को मैं पसन्द नही करता था। इसलिए मेरे लिए यह स्वाभाविक था कि मैं किसी दूसरे स्टैंडर्ड की खोज करता। उन दिनो मैं सतह पर ही रहना पसन्द करता था, किसी मामले की गहराई तक नही जाता था, इसीलिए जीवन का सौन्दर्य-मय पहलू मुझे अपील करता था। मैं चाहता था कि मैं सुयोग्यता के साथ जीवन-यापन करूँ। गँवारू ढग से उसका उपभोग तो मै नही करना चाहता था, लेकिन मेरा रुझान जीवन का सर्वोत्तम उपभोग करने और उसका पूर्ण तथा विविध आनन्द लेने की ओर था। मैं जीवन का उपभोग करता था और इस बात से इन्कार करता था कि मै उसमे पाप की कोई बात क्यो समझूँ ? साथ ही खतरे और साहस के काम भी मुझे अपनी ओर आकर्षित करते थे। अपने पिताजी की तरह मैं भी हमेशा कुछ हदतक जुआरी था। पहले रुपये का जुआरी, और फिर बड़ी-बड़ी बाजियो का–जीवन की बड़ी-बड़ी समस्याओ का। १९०७

तथा १९०८ मे हिन्दुस्तान की राजनीति मे उथल-पुथल मची हुई थी और मैं उसमे वीरता के साथ भाग लेना चाहता था। ऐसी दशा मे मैं आराम की जिन्दगी तो बसर कर ही नही सकता था। ये सब मिश्रित और कभी-कभी परस्पर-विरोधी इच्छाये मेरे मन मे अजीब खिचडी पकाती, एक भँवर-सी पैदा कर देती। उन दिनो ये सब बाते अस्पष्ट तथा गोल-मोल थी। परन्तु इससे उन दिनो मैं परेशान न था, क्योकि इनका फैसला करने का समय तो अभी बहुत दूर था। तबतक जीवन—शरीरिक और मानसिक दोनो प्रकार का—आनन्दमय था। हमेशा नित-नये क्षितिज दिखाई पडते थे। इतने काम करने थे, इतनी चीजे देखनी थी, इतने नये क्षेत्रो की खोज करनी थी। जाडे की लम्बी रातो में हम लोग अँगीठी के सहारे बैठ जाते और धीरे-धीरे इतमीनान के साथ रात मे आपस मे बाते तथा विचार-विनिमय करते—उस समय तक जबतक अँगीठी की आग बुझकर हमे जाडे से कँपाकर बिछौने पर भेज न देती थी। कभी-कभी वाद-विवाद मे हमारी आवाज मामूली न रहकर तेज हो जाती और हम लोग बहस की गरमा-गरमी से जोश मे आ जाते थे। लेकिन यह सब कहने भर को था। उन दिनो हम लोग जीवन की समस्याओ के साथ गम्भीरता के स्वाँग करके खेलते थे, क्योकि उस वक्त तक वे हमारे लिए वास्तविक समस्याये न हो पाई थी और हम लोग ससार के झमेलो के चक्कर मे नही फँस पाये थे। वे दिन महायुद्ध से पहले के, बीसवी शताब्दी के शुरू के थे। कुछ ही दिनो मे हमारा वह ससार मिटने को था—इसलिए कि इससे ऐसे दूसरे ससार को जगह मिले जो दुनिया के युवको के लिए मृत्यु और विनाश एव पीड़ा तथा दिली रज से भरा हुआ हो। लेकिन उन दिनो यह ससार भविष्य के परदे मे छिपा हुआ था और हमे अपने चारो तरफ एक सुनिश्चित तथा उन्नतिशील व्यवस्था दिखाई देती थी जो उन लोगो के लिए, जो उसमे रह सकते थे, आनन्दप्रद थी।

मैंने भोग-वाद तथा वैसी ही दूसरी और उन अन्य अनेक भावनाओ की चर्चा की है, जिन्होने उन दिनो मेरे ऊपर अपना असर डाला। लेकिन यह सोचना गलत होगा कि मैंने उन दिनो इन विषयो पर भली-भाति साफ तौर पर विचार कर लिया था, या मैंने उनकी बाबत स्पष्टतया निश्चित विचार करने की कोशिश करने की जरूरत भी समझी थी। वे तो कुछ अस्पष्ट तरगे-मात्र थी जो मेरे मन मे उठा करती थी और जिन्होने अपने इसी दौरान मे अपना थोडा या बहुत प्रभाव मेरे ऊपर अकित कर दिया। इन बातो के ध्यान से मैं उन दिनो बिलकुल परेशान नही होता था। उन दिनो तो मेरी जिन्दगी काम और विनोद से भरी हुई थी। सिर्फ एक चीज ऐसी जरूर थी जिससे मैं कभी-कभी विचलित हो जाता था। वह थी हिन्दुस्तान की राज-

नैतिक कशमकश । कैम्ब्रिज में जिन किताबों ने मेरे ऊपर राजनैतिक असर डाला उनमे मेरीडिथ टाउनसेण्ड की 'एशिया और योरप' मुख्य है।

१९०७ से कई साल तक हिन्दुस्तान बेचैनी और कष्टों से मानो उबलता रहा। १८५७ के गदर के बाद पहली मर्तबा हिन्दुस्तान फिर लड़ने पर आमादा हुआ था। वह विदेशी शासन के सामने चुपचाप सिर झुकाने को तैयार न था। तिलक के कार्य-कलाप और कारावास की तथा अरविन्द घोष की खबरों से और बंगाल की जनता जिस ढंग से स्वदेशी और बहिष्कार की प्रतिज्ञायें ले रही थी उनसे इग्लैण्ड मे रहनेवाले तमाम हिन्दुस्तानियों मे खलबली मच जाती थी। हम सब लोग बिना किसी अपवाद के तिलक-दल या गरम दल के थे। हिन्दुस्तान में यह नया दल उन दिनो इन्ही नामों से पुकारा जाता था।

कैम्ब्रिज में जो हिन्दुस्तानी रहते थे उनकी एक सोसायटी थी, जिसका नाम था मजलिस। इस मजलिस में हम लोग अक्सर राजनैतिक मामलो पर बहस करते थे, लेकिन ये बहसे कुछ हद तक बेवजूद थी। इसमें पार्लमेण्ट की अथवा यूनिवर्सिटी-यूनियन की बहस की शैली तथा अदाओ की नकल करने की जितनी कोशिश की जाती थी उतनी विषय को समझने की नहीं। मै अक्सर मजलिस में जाया करता था, लेकिन तीन साल में मै वहाँ शायद ही बोला होऊँ। मै अपनी झिझक और हिचकिचाहट को दूर नहीं कर सका। कालिज मे "मैगपाइ और स्टम्प" नाम की जो वाद-विवाद की सभा थी उसमे भी मुझे इसी कठिनाई का सामना करना पड़ा। इस सभा में यह नियम था कि अगर कोई मेम्बर पूरी मियाद तक न बोले तो उसे जुर्माना देना पड़ेगा, और मुझे अक्सर जुर्माना देना पड़ता था।

मुझे यह याद है कि एडविन मॉण्टेगू, जो पीछे जाकर भारत-मत्री हो गये थे, बहुत बार इस सभा में आया करते थे। वह ट्रिनिटी कालिज के पुराने विद्यार्थी थे और उन दिनों कैम्ब्रिज की ओर से पार्लमेन्ट के मेम्बर थे। पहले-पहल श्रद्धा की अर्वाचीन परिभाषा मैने उन्हींसे सुनी। जिस बात के बारे में तुम्हारी बुद्धि यह कहे कि वह सच नहीं हो सकती, उसमें विश्वास करना ही सच्ची श्रद्धा है; क्योंकि तुम्हारी तर्क-शक्ति ने भी उसे पसन्द कर लिया तो फिर अन्धश्रद्धा का सवाल ही नहीं रहता। विश्वविद्यालय के विज्ञान के अध्ययन का मुझपर बहुत प्रभाव पड़ा और विज्ञान उन दिनो जिस तरह अपने सिद्धान्तो और निश्चयों को ला-कलाम समझता था वैसे ही समझने लगा था, क्योंकि उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के शुरू के विज्ञान को आजकल के विज्ञान के बखिलाफ़ अपने निर्णयों की बाबत और ससार की बाबत बड़ा इतमीनान था।

मजलिस में और निजी बातचीत में हिन्दुस्तान की राजनीति पर बहस करने

हुए हिन्दुस्तानी विद्यार्थी अक्सर बडी गरम तथा उग्र भाषा काम मे लाते थे, यहाँ तक कि बगाल में जो हिंसाकारी कार्य शुरू होने लगे थे उनकी भी तारीफ कर जाते थे। लेकिन पीछे मैंने देखा कि यही लोग कुछ तो इण्डियन सिविल सर्विस के मेम्बर हुए, कुछ हाइकोर्ट के जज हुए, कुछ बडे धीर-गम्भीर वकील तथा ऐसे ही लोग बन गये। इन आराम-गृह के आग-बबूलो मे से बिरलो ने ही पीछे जाकर हिन्दुस्तान के राजनैतिक आन्दोलनो मे कारगर हिस्सा लिया होगा।

हिन्दुस्तान के उन दिनो के कुछ नामी राजनीतिज्ञो ने केम्ब्रिज मे हम लोगो के पास आने की कृपा की थी। हम उनकी इज्जत तो करते थे, लेकिन हम उनसे उस तरह पेश आते थे मानो हम उनसे बडे है। हम लोग महसूस करते थे कि हमारी शिक्षा-दीक्षा उनसे कही बढी-चढी थी और हम चीजो को उनके व्यापक रूप मे देख सकते थे। जो लोग हमारे यहाँ आये उनमे विपिनचन्द्र पाल, लाला लाजपतराय और गोपालकृष्ण गोखले भी थे। विपिनचन्द्र पाल से हम अपने बैठने के एक कमरे मे मिले। वहाँ हम सिर्फ एक दर्जन के करीब थे। लेकिन उन्होने इतने जोर-जोर से बातें की मानो वह दस हजार की सभा मे भाषण दे रहे हो। उनकी आवाज इतनी भारी थी कि मै उनकी बात को बहुत ही कम समझ सका। लालाजी ने हमसे अधिक विवेक-पूर्ण ढग से बातचीत की और उनकी बातो का मुझपर बहुत असर पडा। मैंने पिताजी को लिखा कि विपिनचन्द्र के मुकाबिले मे मुझे लालाजी का भाषण अधिक अच्छा लगा। इससे वह बड़े खुश हुए, क्योंकि उन दिनो उन्हे बगाल के आग-बबूला राजनीतिज्ञ अच्छे नही लगते थे। गोखले ने केम्ब्रिज मे एक सार्वजनिक सभा मे भाषण दिया। उस भाषण की मुझे सिर्फ यही खास बात याद है कि भाषण के बाद अब्दुलमजीद ख्वाजा ने एक सवाल पूछा था। हॉल मे खडे होकर उन्होने जो सवाल पूछना शुरू किया तो पूछते ही चले गये, यहाँ तक कि हममे से बहुतो को यही याद नही रहा कि सवाल शुरू किस तरह हुआ था और वह किस सम्बन्ध मे था।

हिन्दुस्तानियों मे हरदयाल का बडा नाम था। लेकिन वह मेरे केम्ब्रिज मे पहुँचने से कुछ पहले आक्सफोर्ड मे थे। अपने हॅरो के दिनो मे मै उनसे लन्दन मे एक या दो बार मिला था।

केम्ब्रिज मे मेरे समकालीनो मे से कई ऐसे निकले जिन्होने आगे जाकर हिन्दुस्तान की कॉंग्रेस की राजनीति मे प्रमुख भाग लिया। जे० एम० सेनगुप्त मेरे केम्ब्रिज पहुँचने के कुछ दिन बाद ही वहाँ से चले गये। सैफुद्दीन किचलू, सैयद महमूद और तसद्दुकअहमद शेरवानी कम-बढ मेरे समकालीन थे। एस० एम० सुलेमान भी, जो इन दिनो इलाहाबाद-हाइकोर्ट के चीफ जस्टिस है, मेरे समय मे केम्ब्रिज मे थे।

मेरे दूसरे समकालीनो मे से कोई मिनिस्टर बना और कोई इण्डियन सिविल सर्विस का सदस्य ।

लन्दन मे हम श्यामजी कृष्ण वर्मा और उनके इण्डिया-हाउस की बाबत भी सुना करते थे, लेकिन मुझे न तो वह कभी मिले और न मैं कभी उस हाउस में ही गया। कभी-कभी हमे उनका 'इण्डियन सोशलॉजिस्ट' नाम का अखबार देखने को मिल जाता था। बहुत दिनो बाद, सन् १९२६ में, श्यामजी मुझे जिनेवा मे मिले थे। उनकी जेबे 'इण्डियन सोशलॉजिस्ट' की पुरानी कापियो से भरी रहती थी और वह प्राय हरेक हिन्दुस्तानी को, जो उनके पास जाता था, ब्रिटिश-सरकार का भेजा हुआ भेदिया समझते थे।

लन्दन मे इण्डिया-ऑफिस ने विद्यार्थियो के लिए एक केन्द्र खोला था। इसकी बाबत तमाम हिन्दुस्तानी यही समझते थे कि यह हिन्दुस्तानी विद्यार्थियो के भेद जानने का एक जाल है और इसमे बहुत कुछ सचाई भी थी। फिर भी यह बहुतसे हिन्दुस्तानियो को बरदाश्त करना पडता था, चाहे मन से हो या बेमन से, क्योकि उसकी सिफारिश के बिना किसी विश्वविद्यालय मे दाखिल होना गैरमुम्किन हो गया था।

हिन्दुस्तान की राजनैतिक स्थिति ने मेरे पिताजी को अधिक सक्रिय राजनीति की ओर खीच लिया था और मुझे इस बात से खुशी हुई थी, हालाँकि मैं उनकी राजनीति से सहमत नही था। यह स्वाभाविक ही था कि वह माडरेटो मे शामिल हुए, क्योकि उनमे से बहुतो को वह जानते थे और उनमे से बहुत-से वकालत मे उनके साथी थे। उन्होने अपने सूबे की एक कान्फ्रेंस का सभापतित्व भी किया था और बगाल तथा महाराष्ट्र के गरम-दलवालो की तीव्र आलोचना की थी। वह सयुक्त-प्रान्तीय कांग्रेस कमिटी के सभापति भी बन गये थे। १९०७ मे जिस समय सूरत मे कॉग्रेस मे गोलमाल होकर वह भग हुई और अन्त मे सोलहो आना माडरेटो की हो गई, उस समय वह उपस्थित थे।

सूरत के कुछ ही दिनो बाद एच० डबलू० नेविन्सन कुछ समय तक इलाहाबाद मे पिताजी के अतिथि बनकर रहे। उन्होने हिन्दुस्तान पर जो किताब लिखी उसमे पिताजी की बाबत लिखा कि "वह मेहमानो की खातिर-तवाजो को छोडकर और सब बातो मे माडरेट है।" उनका यह अन्दाज कतई गलत था, क्योकि पिताजी अपनी राजनीति को छोडकर और किसी बात मे कभी माडरेट नही रहे और उनकी प्रकृति ने धीरे-धीरे उनको उस बची-खुची नरमी से भी दूर भगा दिया। प्रचण्ड भावो, प्रबल विकारो, घोर अभिमान और महती इच्छा-शक्ति से सम्पन्न वह माडरेटो की

जाति से बहुत ही दूर थे। फिर भी १९०७ और १९०८ मे और कुछ साल वाद तक वह बेशक माडरेटो मे भी माडरेट थे और गरम-दल के सख्त खिलाफ थे, हालाकि मेरा खयाल है कि वह तिलक की तारीफ करते थे।

ऐसा क्यो था ? कानून और विधि-विधान ही उनके बुनियादी पाये थे, सो उनके लिए यह स्वाभाविक ही था कि वह राजनीति को वकील और विधानवादी की दृष्टि से देखते। उनकी स्पष्ट विचारशीलता ने उन्हे यह दिखाया कि कडे और गरम शब्दो से तबतक कुछ होता-जाता नही जबतक कि इन शब्दो के मुताबिक काम न हो और उन्हे किसी कारगर काम की कोई सम्भावना नजदीक मे दिखाई नही देती थी। उनको यह नही मालूम होता था कि स्वदेशी और वहिष्कार के आन्दोलन हमे वहुत दूर तक ले जा सकेगे। इसके अलावा इन आन्दोलनो की पुश्त मे वह धार्मिक राष्ट्रीयता थी जो उनकी प्रकृति के प्रतिकूल थी। वह प्राचीन भारत के पुनरुद्धार की आशा नही लगाते थे। ऐसी वातो को न तो वह कुछ समझते ही थे, न इनसे उन्हे कोई हमदर्दी ही थी। इसके अलावा वहुतसे पुराने सामाजिक रीति-रिवाजो को, जात-पॉत वगैरा को, वह कतई नापसन्द करते थे और उन्हे उन्नति-विरोधी मानते थे। उनकी दृष्टि पश्चिम की ओर थी। पाश्चात्य ढग की उन्नति की ओर उनका वहुत अधिक आकर्षण था और वह समझते थे कि ऐसी उन्नति हमारे देश मे इग्लैण्ड के ससर्ग से ही आ सकती है।

१९०७ मे हिन्दुस्तान की राष्ट्रीयता का जो पुनरुत्थान हुआ वह सामाजिक दृष्टि से जरूर पीछे घसीटनेवाला था। हिन्दुस्तान की नई राष्ट्रीयता, पूर्व के दूसरे देशो की तरह, अवश्य ही धार्मिकता को लिये हुए थी। इस दृष्टि से माडरेटो का सामाजिक दृष्टिकोण अधिक उन्नतिशील था। परन्तु वे तो चोटी के सिर्फ मुट्ठीभर मनुष्य थे जिनका आम जनता से कोई सम्बन्ध न था। वे समस्याओ पर अर्थशास्त्र की दृष्टि से अधिक विचार नही करते थे, महज उस ऊपरी मध्यम वर्ग के लोगो के दृष्टिकोण से विचार करते थे जिसके कि वे आशिक प्रतिनिधि थे और जो अपने विकास के लिए जगह चाहता था। वह जाति के वन्धनो को ढीला करने और उन्नति को रोकनेवाले पुराने सामाजिक रिवाजो को दूर करने के लिए छोटे-छोटे सामाजिक सुधारो की पैरवी करते थे।

माडरेटो के साथ अपना भाग्य जोडकर पिताजी ने आक्रामक ढग अख्त्यार किया। वगाल और पूना के कुछ नेताओ को छोडकर अधिकाश गरम-दलवाले नौजवान थे और पिताजी को इस बात से बहुत चिढ थी कि ये कल के छोकरे अपने मन-माफिक काम करने की हिम्मत करते है। विरोध से वह अधीर हो जाते थे, विरोध को सहन नही कर सकते थे; जिन लोगो को वह बेवकूफ समझते थे उनको तो फूटी आँख भी नही देख सकते थे। और इसलिए वह जव कभी मौका मिलता उनपर टूट पडते थे।

मेरा खयाल है कि केम्ब्रिज छोड देने के बाद मैंने उनका एक लेख पढा था, जो मुझे बहुत बुरा मालूम हुआ था और मैंने उन्हे एक गुस्ताखाना खत लिखा, जिसमे मैंने यह भी झलकाया कि इसमे शक नही कि आपकी राजनैतिक कारंवाइयो से ब्रिटिश सरकार बहुत खुश हुई होगी। यह एक ऐसी बात थी जिसे सुनकर वह आपे से बाहर हो सकते थे, और वह सचमुच बहुत नाराज हुए भी। उन्होने करीब-करीब यहाँ तक सोच लिया था, कि मुझे फौरन इंग्लैण्ड से वापस बुला ले।

जब मै केम्ब्रिज मे रहता था तभी यह सवाल उठ खडा हुआ था कि मुझे कौन-सा 'कॅरियर' चुनना चाहिए। कुछ समय के लिए इण्डियन सिविल सर्विस की बात भी सोची गई। उन दिनो तक उसमे एक खास आकर्षण था। परन्तु चूँकि न तो पिताजी ही उसके लिए बहुत उत्सुक थे न मै ही, इसलिए वह विचार छोड दिया गया। मेरा खयाल है कि इसका मुख्य कारण यह था कि उसके लिए अभी मेरी उम्र कम थी और अगर मै उस इम्तिहान मे बैठना चाहता तो मुझे अपनी डिग्री लेने के बाद भी तीन-चार साल और वहाँ ठहरना पडता। मैंने केम्ब्रिज मे जब अपनी डिग्री ली तब मै २० बरस का था और उन दिनो इण्डियन सिविल सर्विस के उम्र की मियाद २२ बरस से लेकर २४ बरस तक थी। इम्तिहान मे कामयाब होते पर इंग्लैण्ड मे एक साल और बिताना पडता है। मेरे परिवार के लोग मेरे इंग्लैण्ड मे इतने दिनो तक रहने के कारण ऊब गये थे और चाहते थे कि मै जल्द ही घर लौट जाऊँ। मेरे पिताजी पर एक बात का और भी जोर पड़ा, और वह बात यह थी कि अगर मै आई० सी० एम० हो जाता तो मुझे घर से दूर-दूर जगहो मे रहना पडता। पिताजी और मा दोनो ही यह चाहते थे कि इतने दिनो तक अलग रहने के बाद मे उनके पास ही रहूँ। बस, पासा पुश्तैनी पेशे के यानी वकालत के पक्ष मे पडा और म इनर टैम्पिल मे भरती हो गया।

यह अजीब बात है कि राजनीति मे गरम-दल की ओर झुकाव बढता जाने पर भी आई० सी० एस० मे शामिल होने को और इस तरह हिन्दुस्तान मे ब्रिटिश-शासन-मशीन का एक पुरजा बनने के खयाल को मैंने ऐसा बुरा नही समझा। आगे के सालो मे इस तरह का खयाल मुझे बहुत त्याज्य मालूम होता।

१९१० मे अपनी डिग्री लेने के बाद मै केम्ब्रिज से चला आया। ट्राइपस के इम्तिहान मे मुझे मामूली सफलता मिली, दूसरे दर्जे मे सम्मान के साथ पास हुआ। अगले दो साल मै लन्दन के इधर-उधर घूमता रहा। मेरी कानून की पढाई मे बहुत समय नही लगता था और बैरिस्टरी के एक के बाद दूसरे इम्तिहान मे मै पास होता रहा, हाँ, उसमे मुझे न तो सम्मान मिला न अपमान। बाकी वक्त मैंने यो ही

बिताया। कुछ आम किताबे पढी, फैबियन् और समाजवादी विचारो की ओर एक अस्पष्ट आकर्षण हुआ और उन दिनो के राजनैतिक आन्दोलन मे भी दिलचस्पी हुई। आयर्लैण्ड के और स्त्रियो के मताधिकार के आन्दोलन मे मेरी खास दिलचस्पी थी। मुझे यह भी याद है कि १९१० की गरमी मे जब मै आयर्लैण्ड गया तो सिनफिन-आन्दोलन की शुरुआत ने मुझे अपनी तरफ खीचा था।

इन्ही दिनो मुझे हॅरो के पुराने दोस्तो के साथ रहने का मौका मिला और उनके साथ मेरी आदते खर्चीली हो गई। पिताजी मुझे खर्च को काफी रुपया भेजते थे, लेकिन मै अक्सर उससे भी ज्यादा खर्च कर डालता था। इसलिए उन्हे मेरे बारे मे बडी चिन्ता हो गई थी और उन्हे अन्देशा हो गया कि कही मै बुरे रास्ते तो नही पड गया हूँ। परन्तु मै दरहकीकत ऐसी कोई खास बात नही कर रहा था। मै तो सिर्फ, उन खुशहाल परन्तु कुछ हद तक खाली-दिमाग अंग्रेजो की नकल-भर कर रहा था जो 'मैन अबाउट टाउन' कहलाते थे। यह कहना बेकार है कि इस उद्देश-हीन आराम-तलबी की जिन्दगी से मेरी किसी तरह की कोई तरक्की नही हुई। मेरे पहले के हौसले ठडे पडने लगे और खाली एक चीज जो बढ रही थी वह था मेरा घमण्ड।

छुट्टियो मे मैने कभी-कभी योरप के जुदा-जुदा देशो की भी सैर की। १९०९ की गरमी मे जब काउन्ट जैपलिन अपने नये हवाई जहाज मे कौन्सटेन्स झील पर फ्रीडरिश शौफिन से उडकर बर्लिन आये तब मै और पिताजी दोनो वही थे। मेरा खयाल है कि वह उसकी सबसे पहली लम्बी उडान थी। इसलिए उस अवसर पर बडी खुशी मनाई गई और खुद कैसर ने उसका स्वागत किया। बर्लिन के टेम्पिलॉफ फील्ड मे जो भीड इकट्ठी हुई थी वह दस लाख से लेकर बीस लाख तक कूती गई थी। जैपलिन ठीक समय पर आकर बडी वजादारी के साथ हमारे आसपास चक्कर लगाने लगा। ऐडलॉ होटल ने उस दिन अपने सब निवासियो को काउन्ट जैपलिन का एक-एक सुन्दर चित्र भेट किया था। वह चित्र अबतक मेरे पास है।

कोई दो महीने बाद हमने पैरिस मे वह हवाई जहाज देखा जो उस शहर पर पहले-पहल उडा और जिसने एफिल टावर के चक्कर पहले लगाये। मेरा खयाल है कि उडाके का नाम काम्टे डि लैम्बर्ट था। अठारह बरस बाद जब लिडबर्ग अटला-टिक के उस पार से दमकते हुए तीर की तरह उडकर पैरिस आया था तब भी मै वहाँ था।

१९१० मे केम्ब्रिज से अपनी डिग्री लेने के बाद फौरन ही जब मै सैर-सपाटे के लिए नारवे गया हुआ था तब मै बाल-बाल बचा। हम लोग पहाडी प्रदेश मे पैदल घूम रहे थे। बुरी तरह थके हुए एक छोटे-से होटल मे अपने मुकाम पर पहुँचे

और गरमी के मारे नहाने की इच्छा प्रकट की। वहाँ ऐसी बात पहले किसीने न सुनी थी। होटल मे नहाने के लिए कोई इन्तजाम न था। लेकिन हमको यह बता दिया गया कि हम लोग पास की एक नदी मे नहा सकते है। अत मेज के या मुँह पोछने के छोटे-छोटे तौलियो से, जो होटल ने हमे उदारतापूर्वक प्रदान किये थे, सुसज्जित होकर हम मे से दो, एक मै और एक नौजवान अग्रेज, पडोस के हिम सरोवर से निकलती और दहाडती हुई तूफानी धारा मे जा पहुँचे। मै पानी मे घुस गया। वह गहरा तो न था लेकिन ठडा इतना था कि हाथ-पैर जमे जाते थे और उसकी जमीन बडी रपटीली थी। मै फिसल कर गिर गया। बरफ की तरह ठडे पानी से मेरे हाथ-पैर निर्जीव हो गये। मेरा शरीर और सारे अवयव सुन्न पड गये, मेरे पैर जम न सके, तूफानी धारा मुझे तेजी से बहाये ले जा रही थी, परन्तु मेरा अग्रेज साथी किसी तरह बाहर निकलकर मेरे साथ भागने लगा और अन्त मे किसी तरह मेरा पैर पकडने मे कामयाब हुआ और मुझे बाहर खीच लिया। इसके बाद हमे यह मालूम हुआ कि हम कितने बडे खतरे मे थे, क्योकि हमसे दो-तीन सौ गज की दूरी पर यह पहाडी धारा एक विशाल चट्टान के नीचे गिरती थी जिसका जल-प्रपात उस जगह की एक दर्शनीय चीज थी।

१९१२ की गरमी मे मैने बैरिस्टरी पास करली और उसी साल शरद् ऋतु मे मै, कोई सात साल से ज्यादा इगलैड मे रहने के बाद, आखिर को हिन्दुस्तान लौट आया। इस बीच छुट्टी के दिनो मे दो बार मै घर गया था। परन्तु अब मै हमेशा के लिए लौटा और मुझे शक है कि जब मै बम्बई मे उतरा तो कुछ ऐसा अभिमानी-सा था कि मेरे कद्र किये जाने की बहुत कम गुजाइश थी।

५

हिन्दुस्तान की युद्धकालीन राजनीति

१९१२ के आखिर मे राजनैतिक दृष्टि से हिन्दुस्तान वहुत सुस्त था। तिलक जेल मे थे, गरम दलवाले कुचल दिये गये थे। किसी कारगर नेतृत्व के न होने से वे चुपचाप पडे हुए थे। वग-भग दूर होने पर वगाल मे शान्ति हो गई थी और सरकार को कौसिलो की मिन्टो-मॉरले योजना के मातहत माडरेटो को अपनी तरफ खीचने मे पूरी तरह कामयावी मिल गई थी। प्रवासी भारतीयो की समस्या के बारे मे, खास तौर पर दक्षिण अफ्रीका मे रहनेवाले भारतीयो की दशा के वारे मे, कुछ दिलचस्पी जरूर थी। कॉग्रेस माडरेटो के हाथ मे थी। साल भर मे एक बार उसका जलसा होता था और वह कुछ ढीले-ढाले प्रस्ताव पास कर देती थी। उसकी तरफ लोगो का ध्यान बहुत ही कम जाता था।

१९१२ की बडे दिन की छुट्टियो मे मै डेलीगेट की हैसियत से वाकीपुर की कॉग्रेस मे शामिल हुआ। वहुत हद तक वह अग्रेजी जाननेवाले उच्च श्रेणी के लोगो का मजमा था, जिसमे सुबह पहनने के कोट और सुन्दर इस्तरी किये हुए पतलून बहुत दिखाई देते थे। वस्तुत वह एक प्रकार का सामाजिक उत्सव था, जिसमे किसी प्रकार की राजनैतिक उत्तेजना या खीचा-तानी न थी। गोखले, जो हाल ही अफ्रीका से लौटकर आये थे, उसमे शामिल हुए थे। उस अधिवेशन के प्रमुख पुरुष वही थे। उनकी तेजस्विता, उनकी सचाई और उनकी शक्ति से वहाँ आये उन थोडे-से व्यक्तियो मे वही एक ऐसे मालूम होते थे जो राजनीति और सार्वजनिक मामलो पर सजीदगी से विचार करते थे और उनके सम्बन्ध मे गहराई से सोचते थे। मेरे ऊपर उनका अच्छा प्रभाव पडा।

जव गोखले वाकीपुर से लौट रहे थे तब एक खास घटना हो गई। वह उन दिनो पब्लिक सर्विस कमीशन के सदस्य थे। उस हैसियत से उन्हे अपने लिए एक फर्स्ट-क्लास का डब्बा रिजर्व कराने का हक था। उनकी तबीयत ठीक न थी और लोगो की भीड से तथा बेमेल साथियो से उनके आराम मे खलल पडता था। इसलिए वह चाहते थे कि उन्हे एकान्त मे चुपचाप पडा रहने दिया जाय और कॉग्रेस के अधिवेशन के वाद वह उत्सुक थे कि सफर मे उन्हे शान्ति मिले। उन्हे उनका डब्बा मिल गया, लेकिन वाकी गाडी कलकत्ता लौटनेवाले प्रतिनिधियो से ठसाठस भरी हुई थी। कुछ समय के वाद भूपेन्द्रनाथ वसु, जो वाद मे जाकर इडिया कौसिल के मेम्बर

हुए, गोखलेजी के पास गये और यों ही बातचीत में उनसे पूछने लगे कि क्या मैं आपके डब्बे में सफर कर सकता हूँ? यह सुनकर पहले तो गोखले कुछ चौंके, क्योंकि बसु महाशय बड़े बातूनी थे, लेकिन फिर स्वभाव-वश वह राजी हो गये। चन्द मिनट बाद बसु फिर श्री गोखले के पास आये और उनसे कहने लगे कि अगर मेरे एक और दोस्त आपके साथ इसी कम्पार्टमेण्ट में चले चलें तो आपको तकलीफ तो न होगी? गोखले ने फिर चुप-चाप 'हाँ' कर दिया। ट्रेन छूटने से कुछ समय पहले बसु साहब ने फिर उसी ढंग से कहा कि मुझे और मेरे साथी को ऊपर की बर्थों पर सोने में बहुत तकलीफ होगी, इसलिए अगर आपको तकलीफ न हो तो आप ऊपर की बर्थ पर सो जायँ और हम दोनों नीचे की दोनों बर्थों पर सो जायँ। मेरा खयाल है कि अन्त में यही हुआ और बेचारे गोखले को ऊपरी बर्थ पर चढ़कर जैसे-तैसे रात बितानी पड़ी।

मैं हाइकोर्ट में वकालत करने लगा। कुछ हद तक मुझे अपने काम में दिलचस्पी आने लगी। योरप से लौटने के बाद शुरू-शुरू के महीने बड़े आनन्द के थे। मुझे घर आने और वहाँ आकर पुरानी मेल-मुलाकातों को ताजा कर लेने से खुशी हुई। परन्तु धीरे-धीरे, अपनी तरह के अधिकांश लोगों के साथ-साथ, मुझे जिस तरह की जिन्दगी बितानी पड़ती थी, उसकी सब ताजगी गायब होने लगी और मैं यह महसूस करने लगा कि मैं बेकार और उद्देश-हीन जीवन की नीरस खाना-पूरी में ही फँस रहा हूँ। मेरे मन में अपनी परिस्थितियों से जो असन्तोष था उसके लिए मैं समझता हूँ कि मेरी दोगली या कम-से-कम खिचड़ी शिक्षा जिम्मेदार थी। इंग्लैण्ड की अपनी सात बरस की जिन्दगी में मेरी जो आदतें और जो भावनायें बन गई थीं वे जिन चीजों को मैं यहाँ देखता था उनसे मेल नहीं खाती थीं। सौभाग्य से मेरे घर का वायु-मण्डल बहुत अनुकूल था और उससे कुछ शान्ति भी मिलती थी। परन्तु उतना भी काफी न था। उसके बाद तो वही बार-लाइब्रेरी, वही क्लब और दोनों में वही साथी, जो आम तौर पर उन्हीं कानूनी पेशे सम्बन्धी पुराने विषयों पर ही बार-बार बातें करते थे। निस्सन्देह वह वायु-मण्डल ऐसा न था जिससे बुद्धि को कुछ स्फूर्ति मिले और मेरे मन में जीवन के नितान्त नीरसपन या मनहूसी का भाव घर करने लगा। वहाँ विनोद या प्रमोद की बातें कहने को भी न थीं।

ई० एम० फार्स्टर ने हाल ही में लावेज डिकिंसन की जो जीवनी लिखी है, उसमें उन्होंने लिखा है कि डिकिंसन ने एक बार हिन्दुस्तान के बारे में कहा था कि, "ये दोनों जातियाँ (यूरोपियन और हिन्दुस्तानी) एक दूसरे से क्यों नहीं मिल सकतीं? महज इसलिए कि हिन्दुस्तानियों से अँग्रेज ऊब जाते हैं, यही सीधा और कठोर

सत्य है।" यह सम्भव है कि बहुतसे अग्रेज यही महसूस करते हो और इसमे कोई आश्चर्य की बात भी नही है। दूसरी पुस्तक मे फॉर्स्टर ने कहा है, कि हिन्दुस्तान मे हरेक अग्रेज यही महसूस करता है और उसीके मुताबिक बर्ताव करता है कि वह जीते हुए देश पर कब्जा बनाये रखनेवाली सेना का एक सदस्य है और ऐसी हालत मे दोनो जातियो मे परस्पर सहज और सकोचहीन सम्बन्ध स्थापित होना असभव है। हिन्दुस्तानी और अग्रेज दोनो ही एक-दूसरे के सामने बनते हैं और स्वभावत दोनो एक-दूसरे के सामने असुविधा महसूस करते है। दोनो एक-दूसरे से ऊबे रहते है और जब दोनो ही एक-दूसरे से अलग होते है तो उन्हे खुशी होती है और वे आजादी के साथ साँस लेते तथा फिर से स्वभाविक रूप मे चलने-फिरने लगते है।

आम तौर पर अग्रेज उन एक ही किस्म के हिन्दुस्तानियो से मिलते है जिनका हाकिमो की दुनिया से ताल्लुक रहता है। वास्तव मे भले और बढिया लोगो तक उनकी पहुँच ही नही होती और अगर ऐसा कोई शख्स उन्हे मिल भी जाय, तो वे उससे जी खोलकर बात करने को तैयार नही कर पाते। हिन्दुस्तान मे ब्रिटिश शासन ने, सामाजिक मामलो मे भी, हाकिमो की श्रेणी को ही महत्त्व देकर आगे बढाया है। इनमे हिन्दुस्तानी और अग्रेजी दोनो ही तरह के हाकिम आ जाते है। इस वर्ग के लोग खास तौर पर मट्ठे और तग खयाल के होते है। एक सुयोग्य अग्रेज नौजवान भी हिन्दुस्तान मे आने पर शीघ्र ही एक प्रकार की मानसिक और सास्कृतिक तन्द्रा मे ग्रस्त होकर तथा समस्त सजीव विचारो और आन्दोलनो से अलग हो जाता है। दफ्तर मे, दिन-भर हमेशा चक्कर लगाती रहनेवाली अथाह और अनन्त फाइलो मे, सिर खपाने के बाद ये हाकिम थोडा-सा व्यायाम करते हैं। फिर वहाँ से अपने समाज के लोगो से मिलने-जुलने को क्लब मे चले जाते है, वहाँ व्हिस्की पीते है तथा इग्लैंड से आये हुए 'पच' आदि सचित्र साप्ताहिक पत्र पढते है। किताब तो वे शायद ही पढते हो। पढते भी होगे तो अपनी किसी पुरानी मनचाही किताब को ही। इसपर भी अपने इस क्रमश मानसिक ह्रास के लिए वे हिन्दुस्तान पर दोष मढते है, यहाँ की आबोहवा को कोसते है और आम तौर पर आन्दोलन करनेवालो को बददुआ देते है जो उनकी दिक्कते बढाते हैं। लेकिन यह महसूस नही कर पाते कि उनके मानसिक और सास्कृतिक क्षय का कारण वह मजबूत नौकरशाही तथा स्वेच्छाचारी शासन-प्रणाली है जो हिन्दुस्तान मे प्रचलित है और वह खुद जिसका एक छोटा-सा पुर्जा है।

इतनी छुट्टियाँ और फर्लो मिलने पर भी जब अग्रेज हाकिमो की यह हालत है तो हिन्दुस्तानी अफसर जो उनके साथ या उनके मातहत काम करते है वे उनसे बेहतर कैसे

हो सकते है, क्योकि वे तो अग्रेजी नमूने की नकल करने की कोशिश करते है। साम्राज्य की राजधानी नई दिल्ली में ऊँचे हिन्दुस्तानी और अग्रेज हाकिमो के पास बैठकर तरक्की, छुट्टी के कायदो, तबादलो और नौकर तथा नौकरो की रिश्वतखोरी तथा बेईमानियो वगैरा के किस्मो को सुनने से ज्यादा जी घबरानेवाली बात शायद ही कोई हो।

शायद कुछ हद तक कलकत्ता, बम्बई जैसे शहरो को छोडकर बाकी सब जगहो मे इस हाकिमाना और 'सर्विस' के वातावरण ने हिन्दुस्तान की मध्य श्रेणी के लगभग तमाम लोगो की जिन्दगी पर, खास तौर पर अग्रेजी पढे-लिखे लोगो के जीवन पर, चढाई करके उसे अपने रग मे रग दिया है। पेशेवर लोग—जैसे वकील, डाक्टर तथा दूसरे लोग भी—उसके शिकार हो गये, और अर्द्धसरकारी विश्वविद्यालयो के शिक्षा-भवन भी उससे न बच सके। ये सब लोग अपनी एक अलग दुनिया मे रहते है जिसका सर्व-साधारण से तथा मध्यम श्रेणी के नीचे के लोगो से कतई कोई ताल्लुक नही है। उन दिनो राजनीति इसी ऊपर की तह के लोगो तक महदूद थी। बगाल मे १९०६ के राष्ट्रीयता के आन्दोलन ने जरा इस वस्तुस्थिति को झकझोर कर बगाल के मध्यम श्रेणी के नीचे के लोगो मे और कुछ हद तक जनता मे भी नई जान डाल दी। आगे चलकर गाँधीजी[1] के नेतृत्व मे यह सिलसिला और तेजी से बढने को था।

१. मैंने इस पुस्तक में सब जगह महात्मा गांधी के बजाय गाँधीजी लिखा है, क्योंकि वह खुद 'महात्मा गांधी' के बदले 'गांधीजी' कहा जाना पसन्द करते हैं। परन्तु अंग्रेज़ लेखकों के लेखों व पुस्तकों में मैंने इस 'जी' की विचित्र व्याख्यायें देखी हैं। कुछ ने कल्पना कर ली है कि वह प्यार का शब्द है और गांधीजी के मानी हैं, 'नन्हे से प्यारे गांधी'। यह बिलकुल वाहियात है और इससे यही मालूम होता है कि ऐसा लिखनेवालों को भारतीय जीवन के बारे में कितना अज्ञान है। हिन्दुस्तान में 'जी' एक सबसे ज्यादा मामूली शब्द है जो मर्द, औरत, लडके, लडकी, बच्चे सबके नाम के आगे अन्धाधुन्ध लगा दिया जाता है। उसमें सम्मान का भाव ज़रूर रहता है, जैसे कि 'मिस्टर' और 'मिसेज़' में रहता है। दरबारी मुहावरों में और नामों के आगे-पीछे के शब्दों तथा सम्मान्य उपाधियों में हिन्दुस्तानी भाषा बहुत भरपूर है। 'जी' बिलकुल शुद्ध होते हुए भी इन सबसे ज्यादा सरल और घरेलू है, हालांकि अपने बहनोई रणजीत एस० पण्डित से मुझे मालूम हुआ कि 'जी' की वश-परम्परा बहुत पुरानी तथा प्रतिष्ठित है। वह संस्कृत के 'आर्य' शब्द से (नाजियों का आर्यन नहीं) निकला है जिसके मानी हैं सज्जन या कुलीन। प्राकृत में यही आर्य 'अज्ज' हो गया। उससे सरल 'जी' निकला।

परन्तु राष्ट्रीय सग्राम जीवनप्रद होने पर भी वह एक सकीर्ण सिद्धान्त होता है और वह अपनेमे इतनी अधिक शक्ति तथा इतना अधिक ध्यान लगवा लेता है कि दूसरे कामो के लिए कुछ नही बचता।

इसलिए इगलैण्ड से लौटने के बाद उन शुरू के सालो मे, मै जीवन से असन्तोष अनुभव करने लगा। अपने वकालत के पेशे मे मुझे पूरा उत्साह नही था। राजनीति के मानी मेरे मन मे यह थे कि विदेशी शासन के खिलाफ आक्रमणकारी राष्ट्रीय आन्दोलन हो। लेकिन उस समय की राजनीति मे इसके लिए कोई गुजाइश नही थी। मै कॉग्रेस मे शरीक हो गया और उसकी बैठको मे जाता रहता। फिजी मे हिन्दुस्तानी मजदूरो के लिए शर्तबन्दी कुली-प्रथा के खिलाफ या दक्षिण अफ्रीका मे प्रवासी भारतियो के साथ दुर्व्यवहार किये जाने के खिलाफ यानी ऐसे खास मौको पर जब कभी कोई आन्दोलन खडा होता तो मै अपनी पूरी ताकत से उसमे जुटकर खूब मेहनत करता। लेकिन ये काम तो सिर्फ कुछ समय के लिए ही होते थे।

शिकार जैसे दूसरे कामो मे मैने अपना जी वहलाना चाहा, लेकिन उनकी तरफ मेरी खास रगबत या झुकाव न था। बाहर जाना और जगलो मे घूमना तो मुझे अच्छा लगता था, लेकिन इस बात की ओर मै कम ध्यान देता कि कोई जानवर मारू। सच बात तो यह है कि मै जानवरो को मारने के लिए कभी मशहूर नही हुआ, हालाकि एक दिन कश्मीर मे थोड़े-बहुत इत्तिफाक से ही एक रीछ के मारने मे मुझे कामयाबी मिल गई थी। शिकार के लिए मेरे मन मे जो थोडा-बहुत उत्साह था वह भी एक छोटे-से बारहसिगे के साथ जो घटना हुई उससे ठडा पड गया। यह छोटा-सा निर्दोष अहिंसक पशु चोट से मरकर मेरे पैरो पर गिर पडा और अपनी ऑसूभरी बडी-बडी आँखो से मेरी तरफ देखने लगा। तबसे उन आँखो की मुझे अक्सर याद आ जाती है।

उन शुरू के सालो मे श्री गोखले की भारत-सेवक-समिति की ओर भी मेरा आकर्षण हुआ था। मैने उसमे शामिल होने की बात तो कभी नही सोची। कुछ तो इसलिए कि उनकी राजनीति मेरे लिए बहुत ही नरम थी और कुछ इसलिए कि उन दिनो अपना पेशा छोडने का मेरा कोई इरादा न था। परन्तु समिति के मेम्बरो के लिए मेरे दिल मे बडी इज्जत थी, क्योकि उन्होने निर्वाह मात्र पर अपने-को स्वदेश की सेवा मे लगा दिया था। मैने दिल मे कहा कि कम-से-कम यह एक ऐसी समिति है जिसके लोग एकाग्र-चित्त होकर लगातार सीधे काम करते है, फिर चाहे वह काम सोलहो आने ठीक दिशा में भले ही न हो।

मगर एक छोटे-से मामले मे, जिसका राजनीति से कोई सम्बन्ध नही था, श्री

श्रीनिवास शास्त्री ने मेरे दिल को बड़ा धक्का पहुँचाया। वह इलाहाबाद में विद्यार्थियों की एक सभा में भाषण दे रहे थे। उन्होंने विद्यार्थियों से कहा कि अपने शिक्षकों और प्रोफेसरों की इज्जत करो, उनकी आज्ञा मानो और वैध अधिकारियों द्वारा जो कायदे-क़ानून बना दिये जायँ उनका सावधानी के साथ पालन करो। उनकी ये भली-भली बातें मुझे ज़रा भी पसन्द न आईं। ये सब पुरानी और मामूली बातें थीं और सो भी अवाञ्छनीय; क्योंकि उनमें सत्तावाद पर अधिक जोर दिया गया था। मैंने सोचा कि शायद यह इसलिए हो कि हिन्दुस्तान में अर्द्ध सरकारी वातावरण फैला हुआ है। मगर श्री शास्त्री ने आगे बढ़कर विद्यार्थियों को आदेश दिया कि वे एक-दूसरे के अकर्मों और कुकर्मों की रिपोर्ट अधिकारियों को तुरन्त करदें। दूसरे शब्दों में वे एक-दूसरे का भेद लेते रहें और भेद देनेवालों का काम करें। यद्यपि श्री शास्त्री ने इन सख्त शब्दों का व्यवहार नहीं किया था, लेकिन मुझे उनके मानी साफ दिखाई दे रहे थे। मैं एक बड़े नेता की इस दोस्ताना सलाह को सुनकर दंग रह गया। मैं उन दिनों नया-नया ही इंग्लैण्ड से लौटा था, और वहाँ मेरे स्कूल व कॉलेज में मेरी जिस शिक्षा पर सबसे ज्यादा ज़ोर दिया गया था, वह यही थी कि अपने साथी के साथ कभी विश्वासघात मत करो। सौजन्य के नियमों के खिलाफ इससे बड़ा पाप और कोई न था कि आप छिपकर सुनें और भेद देकर अपने साथी को विपत्ति में डालें। इस सिद्धान्त को यकायक इस तरह सोलहों आने उलटा जाता देखकर मुझे बहुत बेचैनी हुई और मैंने यह अनुभव किया कि मुझे जो सदाचार सिखाया गया है उसमें और श्री शास्त्री के सदाचार में ज़मीन-आस्मान का अन्तर है।

विश्व-व्यापी महा-युद्ध में हमारा ध्यान लग गया, हालाँकि वह हमसे बहुत दूर हो रहा था। शुरू में उससे हमारे जीवन पर ऐसा ज्यादा प्रभाव नहीं पड़ा और हिन्दुस्तान ने तो उसकी वीभत्सता का पूरा रूप अनुभव भी नहीं किया। राज-नीति के बरसाती नाले बहते और लोप हो जाते थे। ब्रिटिश डिफेन्स आफ रिएल्म एक्ट की तरह जो भारत-रक्षा नामक कानून बना था, वह देश को ज़ोर से जकड़े हुए था। लड़ाई के दूसरे साल से ही षड्यन्त्रों की और गोलियों से मारे जाने की खबरें आने लगीं। उधर पंजाब में रंगरूटों की जबरन भरती की खबरें सुनाई देती थीं।

यद्यपि लोग ज़ोर-ज़ोर से राजभक्ति का राग अलापते थे तो भी अंग्रेजों के साथ उनकी बहुत ही कम हमदर्दी थी। जर्मनी की जीत की खबरें सुनकर माडरेट और गरम-दलवाले दोनों को ही खुशी होती थी। यह नहीं कि किसीको जर्मनी से कोई प्रेम था, बल्कि यह इच्छा थी कि हमारे प्रभुओं को नीचा देखना पड़े।

असल मे यह ऐसा ही खुशी का भाव था, जैसा कमजोर और असहाय मनुष्यो के मन मे अपनेसे जबरदस्त के दूसरे से पीटे जाने की खबर सुनकर होता है। मेरा खयाल है कि हममे से अधिकाश इस लडाई के बारे मे मिश्रित भाव रखते थे। जितने राष्ट्र लड़ रहे थे, उनमे मेरी हमदर्दी सबसे ज्यादा फ्रान्स के साथ थी। मित्र राष्ट्रो की ओर से बेहयाई के साथ जो प्रचार लगातार किया गया, उसका कुछ असर जरूर पडा, यद्यपि हम लोग उसकी सब बाते सही न मानने की काफी कोशिश करते थे।

धीरे-धीरे फिर राजनैतिक जीवन बढ़ने लगा। लोकमान्य तिलक जेल से बाहर आ गये और उन्होने तथा मिसेज बेसेन्ट ने होमरूल-लीगे कायम की। मै दोनो लीगो मे शामिल हुआ, लेकिन काम मैने खास तौर पर मिसेज बेसेन्ट की लीग के लिए ही किया। हिन्दुस्तान के राजनैतिक मच पर मिसेज़ बेसेन्ट दिन-दिन अधिक भाग लेने लगी। काँग्रेस के वार्षिक अधिवेशनो मे कुछ अधिक जोश भर गया और मुस्लिम लीग काँग्रेस के साथ-साथ चलने लगी। वायु-मण्डल मे बिजली-सी दौड गई और हम-जैसे अधिकाश नवयुवको का दिल फडकने लगा। नजदीक भविष्य मे हम बड़ी-बडी बाते होने की उम्मीद करने लगे। मिसेज बेसेन्ट की नजरबन्दी से पढे-लिखे लोगो मे बहुत उत्तेजना बढी और उसने देश-भर मे होमरूल-आन्दोलन मे जान डाल दी। होमरूल-लीगो मे न सिर्फ वे पुराने गरम-दलवाले ही शामिल हुए जो १९०७ से काँग्रेस से बाहर रक्खे जाते थे, बल्कि मध्यम श्रेणी के लोगो मे से बहुत-से नये कार्यकर्त्ता भी आये। लेकिन आम जनता को इन लीगो ने छुआ तक नही।

मिसेज बेसेन्ट की नजरबन्दी से बुड्ढो मे खलबली मच गई, जिनमे कई माडरेट लीडर भी थे। मुझे याद है कि नजरबन्दी से कुछ दिन पहले तक अखबारो में श्री श्रीनिवास शास्त्री के वक्तृत्वपूर्ण भाषणो को पढकर हम लोगो के दिल कैसे हिल जाते थे। लेकिन नजरबन्दी से ठीक पहले या उसके बाद से श्री शास्त्री चुप हो गये। जब काम का वक्त आया तब वह हमे बिलकुल छोड गये और एक ऐसे वक्त पर, जब सबसे ज्यादा नेतृत्व की जरूरत थी, उनकी चुप्पी पर हममे बहुत मायूसी और नाराजगी फैली। तबसे मेरे दिल मे यह विश्वास घर कर गया है कि श्री शास्त्री कर्मवीर नही है और सकट-काल उनकी प्रतिभा के अनुकूल नही पडता।

लेकिन दूसरे माडरेट लीडर आगे बढते गये। उनमे से कुछ तो बाद को पीछे हट गये, कुछ जहाँ पहुँच चुके थे वही डटे रहे। मुझे याद है कि यूरोपियन डिफेंस फोर्स के ढग पर सरकार हिन्दुस्तान मे मध्यम-वर्ग के लोगो मे से जिस नये इण्डियन डिफेंस फोर्स का सगठन कर रही थी, उनके बारे मे बड़ी बहसे होती थी। कई मामलो

मे इस हिन्दुस्तानी डिफेंस फोर्स के साथ वह व्यवहार नही किया जाता था, जो यूरोपियन डिफेंस फोर्स के साथ किया जाता था, और हममे से वहुतो को यह महसूस हुआ कि जबतक ये सब अपमान-जनक भेद-भाव न मिटा दिया जाय तबतक हमे इस फोर्स से सहयोग न करना चाहिए। लेकिन वहुत वहस के बाद आखिर हम लोगो ने सयुक्त-प्रान्त मे सहयोग करना ही तय किया, क्योकि यह सोचा गया कि इन हालतो से भी हमारे नौजवानो के लिए यह अच्छा है कि वे फौजी शिक्षा ग्रहण करे। मैंने इस फोर्स में दाखिल होने के लिए अपनी अर्जी भेज दी और उस तजवीज को वढाने के लिए हम लोगो नें इलाहावाद मे एक कमिटी भी बना ली। इसी समय मिसेज वेसेन्ट की नजरबन्दी हुई और उस क्षण के जोश में मैंने कमिटी के मेम्वरो को, जिनमे पिताजी, डॉक्टर तेजबहादुर सप्रू, श्री सी० वाई० चिन्तामणि तथा दूसरे माडरेट लीडर शामिल थे, इस वात के लिए राजी कर लिया कि वे अपनी मीटिंग रद कर दे और सरकार की नजरबन्दी वाली हरकत के विरोध-स्वरूप डिफेंस फोर्स के सिलसिले मे दूसरे सब काम भी वन्द करदे। तुरन्त ही इस मतलब का एक आम नोटिस निकाल दिया गया। मेरा खयाल है कि लडाई के वक्त मे ऐसा लडाकू काम करने के लिए इनमे से कुछ लोग पीछे वहुत पछताये।

मिसेज़ वेसेन्ट की नजरबन्दी का नतीजा यह हुआ कि पिताजी तथा दूसरे माडरेट लीडर होमरूल-लीग मे शामिल हो गये। कुछ महीने वाद इन माडरेट नेताओ में से कुछ ने होमरूल-लीग से इस्तीफा दे दिया। मेरे पिताजी उसके मेम्वर वने रहे और उसकी इलाहावाद वाली शाखा के सभापति भी वन गये।

धीरे-धीरे पिताजी कट्टर माडरेटो की स्थिति से अलग हटते जा रहे थे। उनकी प्रकृति, जो सत्ता हमारी उपेक्षा करती थी और हमारे साथ हिकारत का वर्ताव करती थी, उससे ज्यादा दवने और उसीसे अपील करने के खिलाफ वगावत करती थी, परन्तु पुराने गरम-दल के नेता उन्हे आकर्पित नही करते थे। उनकी भापा और उनके ढग उन्हे कर्ण-कटु मालूम होते थे। मिसेज वेसेन्ट की नजरबन्दी की घटनाओ का उनके ऊपर काफी असर पडा, लेकिन आगे कदम रखने से पहले वह अव भी हिचकते थे। अक्सर वह उन दिनो यह कहा करते थे कि माडरेटो के तरीको से कुछ नही हो सकता, लेकिन साथ ही जबतक हिन्दू-मुस्लिम सवाल का हल नही मिलता तवतक दूसरा भी कोई कारगर काम नही किया जा सकता। वह वादा करते थे कि अगर इसका हल मिल जाय तो मैं आपमे से तेज़-से-तेज़ के साथ कदम मिलाकर चलने को तैयार हूँ। हमारे ही घर मे आल-इडिया कॉंग्रेस-कमिटी की मीटिंग मे वह ज्वाइण्ट कॉंग्रेस-लीग-योजना वनी जिसे १९१६ ईस्वी मे कॉंग्रेस ने लखनऊ मे मजूर किया। इस वात से

पिताजी बड़े खुश हुए, क्योंकि इससे सम्मिलित उद्योग का रास्ता खुल गया। उस समय वह माडरेट दल के अपने पुराने साथियो से बिगाडकर भी हमारे साथ चलने को तैयार थे। भारत-मत्री की हैसियत से एडविन मान्टेगु ने हिन्दुस्तान मे जो दौरा किया उसके पहले और दौरे के दर्मियान माडरेट और पिताजी साथ-साथ रहे। लेकिन मान्टेगु-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट के प्रकाशन के बाद तुरन्त ही मत-भेद शुरू हो गया। १९१८ मे लखनऊ मे सूबे की एक विशेष कान्फ्रेस हुई। पिताजी इसके सभापति थे। इसी-मे वह, सदा के लिए, माडरेटो से अलग हो गये। माडरेटो को डर था कि यह कान्फ्रेस मान्टेगु-चेम्सफोर्ड प्रस्तावो के खिलाफ कडा रुख अख्त्यार करेगी। इसलिए उन्होने उसका बायकाट कर दिया। इसके बाद इन प्रस्तावो पर विचार करने के लिए कॉंग्रेस का जो विशेष अधिवेशन हुआ उसका भी उन्होने बायकाट किया। तबसे अबतक वे कॉंग्रेस से बाहर है।

माडरेटो ने जो ढग अख्त्यार किया वह यह था कि वे कॉंग्रेस के अधिवेशनो तथा दूसरे आम जलसो से चुपचाप अलग होकर दूर रहे और बहुमत के खिलाफ होने पर वहाँ जाकर अपना दृष्टि-कोण भी न रक्खे और न उसके लिए लडे। यह ढग बहुत ही भद्दा और अनुचित मालूम हुआ। मेरा खयाल है कि देश मे अधिकाश लोगो का यही आम खयाल था, और मुझे विश्वास है कि हिन्दुस्तान की राजनीति मे माडरेटो का प्रभाव जो प्राय सोलहो आने जाता रहा, वह एक हद तक उनके इस डरपोकपन के कारण भी हुआ। मेरा खयाल है कि अकेले श्री शास्त्री ही एक ऐसे माडरेट नेता थे जो कॉंग्रेस के शुरू के उन कुछ जलसो मे भी शामिल हुए जिनका माडरेट दल ने बायकाट कर दिया था और उन्होने अपने अकेले का दृष्टि-कोण वहाँ रक्खा। इसकी बदौलत पब्लिक की निगाह मे उनकी इज्जत बढ गई।

लडाई के शुरू के सालो मे मेरे अपने राजनैतिक और सार्वजनिक कार्य साधारण ही थे और मै आम सभाओ मे व्याख्यान देने से बचा रहा। अभीतक मुझे पब्लिक मे व्याख्यान देने मे डर व झिझक मालूम होती थी। कुछ हद तक इसकी वजह यह भी थी कि मै यह महसूस करता था कि सार्वजनिक व्याख्यान अग्रेजी मे तो होने नही चाहिएँ और हिन्दुस्तानी मे देर तक बोलने की अपनी योग्यता मे मुझे सन्देह था। मुझे वह छोटी-सी घटना याद है जो उस समय हुई जब मुझे इस बात के लिए मजबूर कर दिया गया कि मै पहले-पहल इलाहाबाद मे सार्वजनिक भाषण दू। सम्भवत यह १९१५ में हुआ। लेकिन तारीख के बारे में मैं ठीक-ठीक नही कह सकता। इसके अलावा पहले क्या हुआ और फिर क्या यह तरतीब भी मुझे साफ-साफ याद नही है। प्रेस का मुँह बन्द करनेवाले एक कानून के विरोध में सभा होनेवाली थी और उसमे

मुझे यह मौका मिला था। मै बहुत थोडा बोला, सो भी अग्रेजी मे। ज्यो ही मीटिंग खत्म हुई मुझे इस बात से बडी सकुचाहट हुई कि डॉक्टर तेजबहादुर सप्रू ने मच पर पब्लिक के सामने मुझे छाती से लगाकर प्यार से चूमा। मैंने जो-कुछ या जिस तरह कहा उसपर वह खुश हुए हो सो बात नही, बल्कि उनकी इस बेहद खुशी का सबब सिर्फ यह था कि मैंने आम सभा मे व्याख्यान दिया और इस तरह सार्वजनिक कार्य के लिए एक नया रगरूट मिल गया। उन दिनो सार्वजनिक काम दर-असल महज व्याख्यान देना ही था।

मुझे याद है कि उन दिनो हमे, इलाहाबाद के बहुतसे नौजवानो को, यह भी आशा थी कि डॉक्टर सप्रू मुमकिन है कि राजनीति में कुछ आगे कदम रक्खे। शहर मे माडरेट दल के जितने लोग थे उन सबमे उन्हीसे इस बात की सबसे ज्यादा सभावना थी, क्योंकि वह भावुक थे और कभी-कभी मौके पर उत्साह की लहर मे बह जाते थे। उनके मुकाबले मे पिताजी बहुत ठडे मालूम होते थे, हालाँकि उनकी इस बाहरी चादर के नीचे काफी आग थी। लेकिन पिताजी की दृढ इच्छा-शक्ति के कारण हमे उनसे बहुत कम उम्मीद रह गई थी, और कुछ वक्त के लिए हमे सचमुच डॉक्टर सप्रू से ज्यादा उम्मीदे थी। इसमे तो कोई शक नही कि अपनी लम्बी सार्वजनिक सेवाओ के कारण पण्डित मदनमोहन मालवीय हमें अपनी तरफ खीचते थे और हम लोग उनसे देर-देर तक बाते करते तथा उनपर यह जोर डालते थे कि वह जोर के साथ मुल्क का नेतृत्व करे।

उस जमाने मे, घर मे राजनैतिक सवाल चर्चा और बहस के लिए शान्तिमय विषय नही था—उसकी चर्चा अक्सर होती थी, लेकिन चर्चा होते ही तनातनी होने लगती थी। गरमदल की तरफ जो मेरा बढता हुआ झुकाव था उसे पिताजी बडे गौर से देख रहे थे, खास तौर पर बातूनी राजनीति के बारे में मेरी नुक्ताचीनियो को और कार्य के लिए की जानेवाली मेरी लगातार माँग को। मुझे भी यह बात साफ-साफ नही दिखाई देती थी कि क्या काम होना चाहिए और पिताजी कभी-कभी खयाल करते थे कि मै सीधे उस हिंसात्मक काम की तरफ जा रहा हूँ जिसको बगाल के नौजवानो ने अख्त्यार किया था। इससे वह बहुत ही चिन्तित रहते थे, जब कि दरअसल मेरा आकर्षण उस तरफ न था। हाँ, यह खयाल मुझे हर वक्त घेरे रहता था कि हमें मौजूदा हालत को चुपचाप नही बरदाश्त करना चाहिए, और कुछ-न-कुछ जरूर करना चाहिए। राष्ट्रीय दृष्टि से किसी काम को सफल करना बहुत आसान नही दिखाई देता था। लेकिन मै यह महसूस करता था कि स्वाभिमान और स्वदेशाभिमान दोनो ही यह चाहते है कि विदेशी हुकूमत के खिलाफ़ अधिक लडाकू और आक्रामक रवैया अख्त्यार

किया जाय। पिताजी खुद माडरेटो की विचार-पद्धति से असन्तुष्ट थे और उनके मन के भीतर द्वन्द्व-युद्ध मच रहा था। वह इतने हठी थे कि जबतक इस बात का पूरा-पूरा विश्वास न हो जाय कि ऐसा करने के अलावा और कोई चारा नही तबतक वह एक स्थिति को छोडकर दूसरी को कभी न अपनाते। आगे रक्खे जानेवाले हरेक कदम के मानी यह थे कि उनके मन में कठिन और कठोर द्वन्द्व हो, लेकिन अपने मन से इस तरह लडने के बाद जब वह कोई कदम आगे रख देते तब फिर पीछे पैर नही हटाते थे। उन्होने आगे जो कदम बढाया वह किसी उत्साह के झोके मे नही बल्कि बौद्धिक विश्वास के फलस्वरूप, और एकबार आगे कदम रख लेने के बाद उनका सारा अभिमान उन्हे पीछे मुडकर देखने से भी रोकता था।

उनकी राजनीति मे बाह्य परिवर्तन मिसेज बेसेण्ट की नजरबन्दी के वक्त से आया और तबसे वह कदम-ब-कदम आगे ही बढते गये और अपने माडरेट दोस्तो को पीछे छोडते गये। अन्त मे १९१९ मे पजाब मे जो दुखान्त काण्ड हुआ उसने उन्हे हमेशा के लिए अपने पुराने जीवन और अपने पेशे से अलग काट फेका और उन्होने गॉधीजी के चलाये नये आन्दोलन के साथ अपने भाग्य की डोर बाँध दी।

लेकिन यह बात तो आगे जाकर होने को थी और १९१५ से १९१७ तक तो वह यह तय ही नही कर पाये कि क्या करना चाहिए। एक तो उनके अपने मन मे तरह-तरह की शकाये उठ रही थी, दूसरे वह मेरी वजह से चिन्तित थे। इसलिए वह उन दिनो के सार्वजनिक प्रश्नो पर शान्ति-पूर्वक बात-चीत नही कर सकते थे। अक्सर यह होता था कि बात-चीत में वह गुस्सा हो जाते और हमे बात जहाँ-की-तहाँ खतम कर देनी पडती।

मै गाँधीजी से पहले-पहल १९१६ मे बडे दिन की छुट्टियो मे लखनऊ-कॉंग्रेस मे मिला। दक्षिण अफ्रीका मे उनकी बहादुराना लडाई के लिए हम सब लोग उनकी तारीफ करते थे, लेकिन हम नौजवानो मे बहुतो को वह बहुत दूर और अलग तथा राजनीति से दूर व्यक्ति मालूम होते थे। उन दिनो उन्होने कॉंग्रेस या राष्ट्रीय राजनीति में भाग लेने से इन्कार कर दिया था और अपनेको प्रवासी भारतीयो के मसले की सीमा तक बॉध रक्खा था। इसके बाद ही चम्पारन मे निलहे गोरो से होने-वाले किसानो के दुख दूर करने मे उन्होने जैसा साहस दिखाया और उस मामले मे उनकी जो जीत हुई, उससे हम लोग उत्साह से भर गये। हम लोगो ने देखा कि वह हिन्दुस्तान मे भी अपने इस तरीके से काम लेने को तैयार है और उससे सफलता की भी आशा होती थी।

लखनऊ-कॉंग्रेस के बाद उन दिनो इलाहाबाद मे सरोजिनी नायडू ने जो कई

वक्तृत्वपूर्ण भाषण दिये, उनसे भी, मुझे याद है, मेरा दिल हिल उठता था। वे भाषण शुरू से आखिर तक राष्ट्रीयता और देश-भक्ति से सराबोर होते थे और उन दिनो मैं विशुद्ध राष्ट्रीयता-वादी था। मेरे कालेज के दिनो के गोलमोल समाजवादी भाव पीछे जा छिपे थे। १९१६ मे रौजर केसमेण्ट ने अपने मुकदमे मे जो आश्चर्यजनक भाषण दिया उसने हमें यह बताया कि गुलाम जातिवालो के भाव कैसे होने चाहिएँ। आयर्लैण्ड मे ईस्टर के दिनो मे जो बगावत हुई उसकी विफलता ने भी हमें अपनी तरफ खीचा, क्योकि क्या वह सच्चा साहस नही था, जो निश्चित विफलता पर हसता हुआ ससार के समाने यह ऐलान करता था कि एक राष्ट्र की अजेय आत्मा को कोई भी शारीरिक शक्ति नही कुचल सकती ?

ये ही उन दिनो मेरे भाव थे। परन्तु नई किताबो के पढने से मेरे दिमाग मे समाजवादी विचारो के अगारे भी फिर जलने लगे थे। उन दिनो वे भाव अस्पष्ट थे। उतने वैज्ञानिक नही थे जितने कि दयापूर्ण और हवाई थे। युद्धकाल मे तथा उसके बाद भी मुझे बर्ट्रेन्ड रसल के लेख तथा ग्रथ बहुत पसन्द आते थे।

इन विचारो और इच्छाओ से मेरे मन का भीतरी सघर्ष तथा अपने वकालत के पेशे के प्रति मेरा असन्तोष और भी बढ गया। यो मैं उसे चलाता रहा; क्योकि उसके सिवा मै करता भी क्या ? लेकिन मैं अधिकाधिक यह महसूस करने लगा कि, एक ओर खास तौर पर आक्रामक ढग का सार्वजनिक कार्य है, जो मुझे पसन्द है, और दूसरी तरफ यह वकालत का पेशा, ये दोनो एकसाथ निभ नही सकते। सवाल सिद्धान्त का न था, लेकिन समय और शक्ति का था। न जाने क्यो कलकत्ता के नामी वकील सर रासविहारी घोप मुझसे बहुत खुश थे। वह मुझे इस विपय में बहुत नेक सलाह दिया करते थे। खास तौर पर उन्होने मुझे यह सलाह दी कि मै अपने पसन्द के किसी कानूनी विपय पर एक किताब लिखूँ। क्योकि उनका कहना था कि जूनियर वकील के लिए अपनेको 'ट्रेन' करने का यही सबसे अच्छा रास्ता है। उन्होने यह भी कहा कि इस किताव के लिखने मे वह मुझे विचारो की भी मदद देंगे और उस किताव का सशोधन भी कर देंगे। लेकिन मेरे वकील के जीवन मे उनकी यह सब दिलचस्पी वेकार थी, क्योकि मेरे लिए इससे ज्यादा अखरनेवाली इससे बढकर और कोई चीज नही हो सकती थी कि मैं कानूनी किताब लिखने मे अपना समय और शक्ति बरबाद करूँ।

बुढापे में सर रासविहारी बहुत ही चिडचिडे हो गये थे। फौरन ही उन्हे गुस्सा आ जाता था, जिससे उनके जूनियरो पर उनका बड़ा आतक-सा रहता था। मुझे वह फिर भी अच्छे लगते थे। उनकी कमियाँ और कमजोरियाँ भी बिलकुल

अनाकर्षक नही मालूम होती थी। एक मर्त्तबा मै और पिताजी शिमला मे उनके मेहमान थे। मेरा ख़याल है कि यह बात १९१८ की है, ठीक उस समय की जब कि माण्टेगु-चेम्सफोर्ड-रिपोर्ट छपकर आई थी। उन्होने एक दिन शाम को कुछ मित्रो को खाने के लिए बुलाया और उनमे खापर्डे साहब भी थे। खाना खाने के बाद सर रासबिहारी और खापर्डे आपस मे जोर-जोर से बाते तथा एक-दूसरे पर हमला करने लगे, क्योकि वे राजनीति मे भिन्न-भिन्न फिर्कों के थे। सर रासबिहारी घुटे हुए माडरेट थे और खापर्डे उन दिनो प्रमुख तिलक-शिष्य माने जाते थे, यद्यपि पीछे जाकर वह कपोत की तरह कोमल और माडरेटो के लिए भी अत्यधिक माडरेट हो गये। खापर्डे ने गोखले की आलोचना शुरू की। कुछ साल पहले ही गोखले का देहान्त हो चुका था। खापर्डे कहने लगे कि गोखले ब्रिटिश सरकार के एजेण्ट थे और उन्होने लन्दन मे मेरे ऊपर भेदिये का काम किया। सर रासबिहारी उसे कैसे बरदाश्त कर सकते थे? वह ज़ोर से बोले कि गोखले पुरुषोत्तम थे और मेरे खास मित्र थे। मै किसी को उनके ख़िलाफ एक भी शब्द नही कहने दूँगा। तब खापर्डे श्रीनिवास शास्त्री की बुराई करने लगे। सर रासबिहारी को यह भी अच्छा तो नही लगा, लेकिन उन्होने कोई नाराजगी नही दिखलाई। जाहिर है कि वह शास्त्रीजी के उतने प्रशसक नही थे जितने गोखले के। यहाँतक कि उन्होने यह कहा कि जबतक गोखले जीवित थे मै रुपये-पैसे से भारत-सेवक-समिति की मदद करता था, लेकिन उनकी मौत के बाद मैने रुपया देना बन्द कर दिया है। इसके बाद खापर्डे उनके मुकाबिले मे तिलक की तारीफ करने लगे। बोले, "तिलक निस्सन्देह महापुरुष, एक आश्चर्यजनक पुरुष, महात्मा है।" "महात्मा!" रासबिहारी बोले—"मै महात्माओ से नफरत करता हूँ। मै उनसे कोई वास्ता नही रखना चाहता।"

६

मेरी शादी और हिमालय की एक घटना

मेरी शादी १९१६ मे, दिल्ली मे, वसन्त-पचमी को हुई थी। उस साल गरमी मे हमने कुछ महीने कश्मीर मे बिताये। मैंने अपने परिवार को तो घाटी मे छोड दिया और अपने एक चचेरे भाई के साथ कई हफ्ते तक पहाडो मे घूमता रहा तथा लदाख रोड तक बढता चला गया।

ससार के उच्च प्रदेश मे उन सकीर्ण और निर्जन घाटियो मे घूमने का यह मेरा पहला अनुभव था, जो कि तिब्बत के मैदान की तरफ ले जाती है। जोजीला-घाटी की चोटी से हमने देखा तो हमारी एक तरफ नीचे की ओर पहाडो की घनी हरियाली थी, और दूसरी तरफ खाली कडी शिला की चट्टान। हम उस घाटी की सँकडी तह के ऊपर चढते चले गये, जिसके दोनो ओर पहाड है। एक तरफ बरफ से ढकी हुई चोटियाँ चमक रही थी और उनमे से छोटे-छोटे ग्लेशर—हिम-सरोवर—हमसे मिलने के लिए, नीचे को रेग रहे थे। हवा ठडी और कटीली थी। लेकिन दिन मे धूप अच्छी पडती थी और हवा इतनी साफ थी कि अक्सर हमे चीजो की दूरी के बारे मे भ्रम हो जाता था। वे दरअसल जितनी दूर होती थी, हम उन्हे उससे बहुत कम दूर समझते थे। धीरे-धीरे सूनापन बढता गया, पेडो और वनस्पतियो तक ने हमारा साथ छोड़ दिया—सिर्फ नगी चट्टान और बरफ और हिम और कभी-कभी कुछ खुशनुमा फूल रह गये। फिर भी प्रकृति के इस जगली और सुनसान निवासो मे मुझे अजीब सन्तोष मिला। मेरे उत्साह और उमग का ठिकाना न था।

इस यात्रा मे मुझे एक बडा स्फूर्त्तिदायी अनुभव हुआ। जोजीला-घाटी से आगे सफर करते हुए एक जगह, जो मेरे खयाल मे मतायन कहलाती थी, हमसे कहा गया कि अमरनाथ की गुफा यहाँ से सिर्फ आठ मील दूर है। यह ठीक था कि बीच मे बुरी तरह हिम व बरफ से ढका हुआ एक बडा पहाड पडता था, जिसे पार करना था। लेकिन उससे क्या? आठ मील होते ही क्या है? तजुर्बे के अभाव मे भी जोश मे आकर हमने तय किया कि हम गुफा तक पहुँचने की कोशिश करेगे। अत हमने अपने डेरे-तम्बू, जो ११ हजार ५०० फीट की ऊँचाई पर थे, छोड़ दिये और एक छोटे-से दल के साथ पहाड पर चढने लगे। रास्ता दिखाने के लिए हमारे साथ वहाँ का एक गडरिया था।

हम लोगो ने रस्सियो के सहारे कई हिम-सरोवरों पर चढकर उन्हे पार किया। हमारी मुश्किले बढती गईं और सास लेने मे भी कठिनाई मालूम होने लगी। हमारे कुछ भारवाहियो के मुँह से खून निकलने लगा, हालाकि उनपर बोझ बहुत नही था। इधर बर्फ पडने लगी और हिम-सरोवर भयानक रूप से रपटीले हो गये। हम लोग बुरी तरह थक गये और एक-एक कदम आगे बढने के लिए खास कोशिश करनी पडती थी। लेकिन फिर भी हम यह मूर्खतापूर्ण उद्योग करते ही गये। हमने अपना खीमा सुबह चार बजे छोडा था और बारह घटे तक लगातार चढते रहने के बाद हमे एक सुविशाल हिम-क्षेत्र देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। यह दृश्य बहुत ही सुन्दर था। उसके चारो ओर हिमाच्छादित पर्वत-चोटिया थी। मानो देवताओ का कोई मुकुट अथवा अर्द्धचन्द्र हो। परन्तु ताजा बरफ और कुहरे ने शीघ्र ही इस दृश्य को हमारी आखो से ओझल कर दिया। पता नही कि हम कितनी ऊँचाई पर थे, लेकिन मेरा खयाल है कि हम लोग कोई १५-१६ हजार फीट की ऊँचाई पर जरूर होगे, क्योकि हम अमरनाथ की गुफा से बहुत ऊँचे थे। अब हमे इस हिम-क्षेत्र को, जो सम्भवत आध मील लम्बा होगा, पार करके दूसरी तरफ नीचे गुफा को जाना था। हम लोगो ने सोचा कि चढाई खत्म होने से हमारी मुश्किले भी खत्म हो गई होगी इसलिए बहुत थके होने पर भी हम लोगो ने हँसते-हँसाते यात्रा की यह मजिल भी तय करना शुरू किया। लेकिन इसमे बडा धोखा था, क्योकि यहाँ दरारे बहुत-सी थी और ताजा गिरनेवाली बरफ खतरनाक दरारो को ढक देती थी। इस नई बरफ ने ही मेरा करीब-करीब खात्मा कर दिया होता। क्योकि मैंने ज्योही उसके ऊपर पैर रक्खा त्योही वह धसक गई और मैं धम से नीचे एक विशाल दरार मे, जो मुँह बाये हुए थी, जा गिरा। यह दरार बहुत बड़ी थी और कोई भी चीज उसमे बिलकुल नीचे पहुँचकर हजारो वर्ष बाद तक भूगर्भशास्त्रियो की खोज के लिए इतमीनान के साथ सुरक्षित रह सकती थी। लेकिन रस्सी नही छूटी और मैं दरार की बाजू को पकड़े रहा और ऊपर खीच लिया गया। इस घटना से हम लोगो के होश तो ढीले हो गये थे। पर फिर भी हम लोग आगे चलते ही गये। लेकिन दरारो की तादाद और उनकी चौडाई आगे जाकर और भी बढ गई। इनमे से कुछको पार करने के कोई साधन भी हमारे पास न थे, इसलिए अन्त मे हम लोग थके-मादे हताश होकर लौट आये और इस प्रकार अमरनाथ की गुफा अनदेखी ही रह गई।

कश्मीर के पहाडो तथा ऊँची-ऊँची घाटियो ने मुझे ऐसा मुग्ध कर लिया कि मैंने एकबार फिर वहाँ जाने का सकल्प किया। मैंने कई योजनाये सोची और कई यात्राओ के मनसूबे बाँधे और उनमे से एकके तो खयाल ही से मेरी खुशी का ठिकाना

न रहा। वह थी तिब्बत की आश्चर्यमयी झील मानसरोवर और उसके पास का हिमाच्छादित कैलाश। यह अठारह बरस पहले की बात है और मैं आज भी कैलाश तथा मानसरोवर से उतना ही दूर हूँ जितना पहले कभी था। मैं फिर कश्मीर न जा सका, हालाँकि वहाँ जाने की मेरी बहुत ख्वाहिश रही। लेकिन मैं राजनीति और सार्वजनिक कामो के जजाल मे अधिकाधिक उलझता गया। पहाडो पर चढने या समुद्रो को पार करने के बदले मेरी सैलानी तबीयत को जेलो मे जाकर ही सतोष करना पडा। लेकिन अब भी मैं वहाँ जाने के मनसूबे गढा करता हूँ, क्योकि वह तो एक ऐसे आनन्द की बात है जिसे कोई जेल मे भी नही रोक सकता। इसके अलावा, जेलो मे ये स्कीमें सोचने के सिवा और कोई करे भी क्या? अत मैं उस दिन का स्वप्न देख रहा हूँ जब मैं हिमालय पर चढकर उसे पार करूगा और उस झील तथा कैलाश के दर्शन करके अपना मनोरथ पूरा करूगा। परन्तु इस बीच मे जीवन की घडियाँ बीतती जा रही है, जवानी अधेडपन मे तबदील हो रही है, और कभी-कभी मैं यह सोचता हूँ कि मैं इतना बुड्ढा हो जाऊँगा कि कैलाश और मानसरोवर जा ही नही सकूँगा; परन्तु यद्यपि यात्रा का अन्त न भी दिखाई दे तब भी यात्रा करने मे हमेशा आनन्द ही आता है।

मेरे अन्तर्पट पर इन गिरि-शृगो की पडती छाया—
साध्य-गुलाबो से रजित है जिनकी भीषण दुर्गमता,
फिर भी मेरे प्राण मुग्ध पलको पर बैठे अकुलाते,
शात शुभ्र हिम के ये प्यासे, है कैसी पागल ममता![1]

१. वाल्टर डि ला मेअर के एक पद्य का भावानुवाद। मूल पद्य इस प्रकार है—

"Yea, in my mind these mountains rise,
Their perils dyed with evening's rose,
And still my ghost sits at my eyes
And thirsts for their untroubled snows"

७

गांधीजी मैदान में : सत्याग्रह और अमृतसर

यूरोपियन महायुद्ध खतम हुआ तबतक हिन्दुस्तान का जोश-खरोश दब चुका था। उद्योगवाद फैल गया था और पूजीवादी वर्ग धन और सत्ता मे बढ गया था। चोटी पर के मुट्ठीभर लोग मालामाल हो गये थे और उनके जी इस बात के लिए ललचा रहे थे कि बचत की इस दौलत को लगाने के लिए मौके और सत्तायें मिले ताकि वे ज्यादा दौलतमद हो जायँ। मगर आम लोग इतने खुशकिस्मत न थे और वे उस बोझे को कम करने की टोह मे थे जिसके तले वे कुचले जा रहे थे। मध्यम-वर्ग के लोगो मे यह आशा फैल रही थी कि अब शासन-सुधार होगे ही, जिनसे स्वराज के कुछ ज्यादा अधिकार मिलेगे और उसके द्वारा उन्हे अपनी बढती के नये रास्ते मिलेगे। राजनैतिक आन्दोलन, जो कि शान्तिमय और बिलकुल वैध था, कामयाब होता हुआ दिखाई देता था और लोग विश्वास के साथ आत्म-निर्णय और स्वशासन व स्वराज की बाते करते थे। इस अशान्ति के कुछ आसार जनता मे भी, और खासकर किसानो में भी, दिखाई पडते थे। पजाब के देहाती इलाको मे जबरदस्ती रगरूट भर्ती करने की दु खदायी बाते लोग अभीतक बुरी तरह याद करते थे और कोमागाटा-मारूवाले तथा दूसरे लोगो पर षडयत्र के मुकदमे चलाकर जो दमन किया गया था उसने उनकी चारो ओर फैली हुई नाराजगी को और भी बढा दिया था। जगह-जगह लडाई के मैदानो से जो सिपाही लौटे थे वे अब पहले जैसे 'जो हुकुम' नही रह गये थे। उनकी जानकारी और अनुभव बढ गया था और उनमें भी बहुत अशान्ति थी।

मुसलमानो मे भी, तुर्किस्तान और खिलाफत के मसले पर जैसा रुख अख्तियार किया गया उसपर, गुस्सा बढ रहा था और आन्दोलन तेज हो रहा था। तुर्किस्तान के साथ सुलहनामे पर अभी दस्तखत नही हो चुके थे, मगर ऐसा मालूम होता था कि कुछ बुरा होनेवाला है, सो जहाँ एक ओर वे आन्दोलन कर रहे थे तहाँ दूसरी ओर इन्तजार भी कर रहे थे।

सारे देशभर मे इन्तजार और आशा की हवा जोरो पर थी। लेकिन उस आशा मे चिन्ता और भय समाये हुए थे। इसके बाद रौलट-बिल का दौर हुआ, जिसमे कानूनी कार्रवाई के बिना भी गिरफ्तार करने और सजा देने की धारायें रक्खी गई थी। सारे हिन्दुस्तान मे चारो ओर उठे हुए क्रोध की लहर ने उसका स्वागत किया था। यहाँतक कि माडरेट लोगो ने भी अपनी पूरी ताकत से उसका विरोध

किया था। और सच तो यह है कि हिन्दुस्तान के सब विचार और दल के लोगो ने एक-स्वर से उसका विरोध किया था। फिर भी सरकारी अफसरो ने उसको तुरत-फुरत कानून बनवा ही डाला। और खास रिआयत, पूछो तो, यह की गई कि उसकी मीयाद महज तीन वर्ष की रखदी गई।

१५ बरस पहले इस बिल पर और इसकी बदौलत जो हलचल मची उस-पर जरा निगाह दौडाना निरुपयोगी न होगा। रौलट-कानून बन तो गया, मगर, जहाँतक मै जानता हूँ, अपनी ३ वर्ष की जिन्दगी मे वह कभी काम मे नही लाया गया, हालांकि वे तीन साल शान्ति के नही बल्कि ऐसे उपद्रव के साल थे, जो १८५७ के गदर के बाद हिन्दुस्तान ने पहले-पहल देखा था। इस तरह ब्रिटिश सरकार ने लोकमत के घोर विरोधी होते हुए एक ऐसा कानून बना डाला जिसका उसने कुछ उपयोग भी नही किया और बदले मे उलटा एक तूफान मोल ले लिया। इससे यह बहुत-कुछ खयाल किया जा सकता है कि इस कानून को बनाने का उद्देश सिर्फ झगड़ा मोल लेना था।

एक और मजेदार बात सुनिए। आज १५ साल के बाद ऐसे कितने ही कानून बन गये है जो रोज-ब-रोज बरते भी जाते है और जो रौलट-बिल से भी ज्यादा सख्त है। इन नये कानूनो और नये आर्डिनेन्सो के मुकाबिले मे, जिनके मातहत हम आज ब्रिटिश हुकूमत की नियामत का आनन्द लूट रहे है, रौलट-बिल तो क़रीब-करीब आजादी का परवाना ही समझा जा सकता है। हॉ, एक फर्क जरूर है। १९१९ से हमे मॉन्टेगु-चैम्सफोर्ड-योजना नामक स्वराज की एक बडी किस्त मिल चुकी है और अब, सुनते है, एक और बडी मिलनेवाली है। हम तरक्की जो कर रहे है।

१९१९ के शुरू मे गाधीजी एक सख्त बीमारी से उठे थे। रोग-शय्या से उठते ही उन्होने वाइसराय से प्रार्थना की थी कि वह इस बिल को कानून न बनने दे। इस अपील की उन्होने, दूसरी अपीलो की तरह, कोई परवा न की और, उस हालत मे, गाधीजी को अपनी तबीयत के ख़िलाफ इस आन्दोलन का अगुआ बनना पडा, जो उनके जीवन मे पहला भारत-व्यापी आन्दोलन था। उन्होने सत्याग्रह-सभा शुरू की, जिसके मेम्बरो से यह प्रतिज्ञा कराई गई थी कि उनपर लागू किये जाने पर वे रौलट-कानून को तथा उन आपत्तिजनक कानूनो को जिनका निर्देश समय-समय किया जायगा, न मानेगे। दूसरे शब्दो मे उन्हे खुल्लम-खुल्ला और जान-बूझ कर जेल जाने की तैयारी करनी थी।

जब मैने अखबारो मे यह खबर पढी तो मुझे बडी तसल्ली हुई। आखिर इस उलझन से एक रास्ता मिला तो। वार करने के लिए एक हथियार तो मिला जो सीधा, खुला और बहुत करके राम-वाण था। मेरे उत्साह का पार न रहा और मै फौरन ही

सत्याग्रह-सभा मे सम्मिलित होना चाहता था। लेकिन मैंने उसके नतीजे पर—कानून तोडना, जेल जाना वगैरा पर—शायद ही गौर किया हो, और अगर मैंने गौर किया भी होता तो मुझे उनकी परवा न होती। मगर एकाएक मेरे सारे उत्साह पर पाला पड गया और मैंने समझ लिया कि मेरा रास्ता आसान नही है। पिताजी इस नये खयाल के घोर विरोधी थे। वह नये-नये प्रस्तावो के बहाव मे बह जानेवाले न थे। कोई नया कदम आगे बढाने के पहले वह उसके नतीजे को बहुत अच्छी तरह सोच लिया करते थे, और जितना ही ज्यादा उन्होने सत्याग्रह के प्रश्न और उसके प्रोग्राम के बारे मे सोचा उतना ही कम वह उन्हे जँचा। थोडे-से लोगो के जेल जाने से क्या फायदा होगा? उससे सरकार पर क्या असर होगा और क्या दवाव पडेगा? इन आम बातो के अलावा असल बात तो थी हमारा जाती सवाल। उन्हे यह बात बहुत बेहूदा दिखाई देती थी कि मै जेल जाऊँ। जेल जाने का सिलसिला अभी पडा नही था और यह खयाल ही उनको बहुत नागवार मालूम होता था। पिताजी अपने बच्चो से बहुत ही मुहब्बत रखते थे। यद्यपि वह प्रेम का दिखावा नही करते थे तो भी उनके अन्दर प्रेम बहुत छिपा रहता था।

बहुत दिनो तक मानसिक सघर्ष चलता रहा और चूँकि हम दोनो जानते थे कि यह बडी-बडी बाजियाँ लगाने का सवाल है, जिनमे हमारे सारे जीवन मे बडी उथल-पुथल होने की सभावना है, दोनो ने इस बात की कोशिश की कि जहाँतक हो सके एक-दूसरे की भावनाओ और बातो पर खयाल रक्खे। मै चाहता था कि जहाँ-तक हो सके कोशिश करूँ कि उनको तकलीफ न भुगतनी पडे। मगर मुझे अपने दिल मे यकीन हो गया था कि मुझे जाना तो सत्याग्रह के ही रास्ते है। हम दोनो के लिए वह मुसीबत का समय था और कई रात मैंने अकेले बडी चिन्ता और बेचैनी मे काटी। मै सोचता रहता कि इसमे से कोई रास्ता निकले। बाद को मुझे मालूम हुआ कि पिताजी रात को सचमुच फर्श पर सोकर खुद यह अनुभव कर लेना चाहते थे कि जेल मे मेरी क्या गत होगी, क्योकि उनके खयाल मे मुझे आगे-पीछे जेल जरूर जाना पडेगा।

पिताजी ने गाधीजी को बुलाया और वह इलाहाबाद आये। दोनो की बडी देर तक बाते होती रही। उस समय मै मौजूद न था। इसका नतीजा यह हुआ कि गाँधीजी ने मुझे सलाह दी कि जल्दी न करो और ऐसा काम न करो जो पिताजी को बहुत नागवार हो। मुझे इससे दु ख ही हुआ, मगर उसी समय देश मे ऐसी घटनाये घट गई जिनसे सारी हालत ही बदल गई और सत्याग्रह सभा ने अपनी कार्रवाई बन्द कर दी।

सत्याग्रह-दिवस याने सारे हिन्दुस्तान मे हडताले और तमाम काम-काज बन्द—दिल्ली और अमृतसर मे पुलिस और फौज का गोली चलाना और बहुतसे आदमियो

का मारा जाना—अमृतसर और अहमदाबाद मे भीड के द्वारा हिसा-काण्ड हो जाना—जालियावाला-बाग का हत्या-काण्ड—पजाब मे फौजी कानून के भीषण अपमानजनक और जी दहलानेवाले कारनामे। पजाब मानो दूसरे प्रान्तो से अलग काट दिया गया हो। उसपर मानो एक गहरा परदा पड गया था जिससे बाहरी दुनिया की आँखे उसतक नही पहुँच पाती थी। वहाँ से मुश्किल से कोई खबर मिलती थी और न कोई वहाँ जा सकता था न कोई वहाँ से आ ही सकता था।

कोई इक्का-दुक्का किसी तरह उस नरक-कुण्ड से बाहर आ पहुँचता, तो वह इतना भयभीत हो जाता था कि साफ-साफ हाल नही बता सकता था। हम लोग जो कि बाहर थे, असहाय और असमर्थ थे, छोटी-बडी खबर का इन्तजार करते रहते थे, और हमारे दिलो मे कटुता भरती जा रही थी। हममें से कुछ लोग फौजी कानून की परवा न करके खुल्लमखुल्ला पजाब के उन हिस्सो मे जाना चाहते थे। लेकिन हमे ऐसा नही करने दिया गया और, इस दर्म्यान, काग्रेस की तरफ से दुखियो और पीडितो को सहायता पहुँचाने तथा जाँच करने के लिए एक बडा सगठन बनाया गया।

ज्योही खास-खास जगहो से फौजी कानून वापस लिया गया और बाहर वालो को जाने की छुट्टी मिली, मुख्य-मुख्य काँग्रेसी और दूसरे लोग पजाब मे जा पहुँचे और सहायता तथा जाँच के काम मे अपनी सेवाये अर्पित की। पीडितो की सहायता का काम मुख्यत पण्डित मदनमोहन मालवीय और स्वामी श्रद्धानन्दजी की देखभाल में होता था और जाँच का काम मुख्यत मेरे पिताजी और देशबन्धु दास की देख-रेख मे। गाधीजी उसमे बहुत दिलचस्पी ले रहे थे और दूसरे लोग अक्सर उनसे सलाह-मशवरा लिया करते थे। देशबन्धु दास ने अमृतसर का हिस्सा खास तौर पर अपनी तरफ लिया और वहाँ मै उनके साथ उनकी सहायता के लिए तैनात किया गया। मुझे उनके साथ और उनके नीचे काम करने का वह पहला मौका था। वह अनुभव मेरे लिए बडा कीमती था और इससे उनके प्रति मेरा आदर बढा। जालियाँवाला-बाग से और उस भयकर गली से जिसमे लोगो को पेट के बल रेंगाया गया था, सम्बन्ध रखनेवाले बयान, जो बाद को काँग्रेस-जाँच-रिपोर्ट में छपे थे, हमारे सामने लिये गये थे। हमने कई बार खुद जाकर उस बाग को देखा था और उसकी हर चीज की जाँच बडे गौर से की थी।

यह कहा गया था, मै समझता हूँ मि० एडवर्ड थामसन के द्वारा, कि जनरल डायर का यह खयाल था कि बाग से निकलने के दूसरे दरवाजे भी थे और यही कारण है जो उसने इतनी देर तक गोलियाँ जारी रक्खी। यदि डायर का यही खयाल था और दरअसल उसमें दरवाजा रहा होता, तो भी इससे उसकी जिम्मेदारी कम नही हो

जाती। मगर यह ताज्जुब की बात मालूम होती है कि उसे ऐसा खयाल रहा। कोई भी शख्स इतनी ऊँची जगह पर खडा होकर, जहाँ कि वह खडा था, उस सारी जगह को अच्छी तरह देख सकता था कि वह किस तरह चारो ओर से बडे ऊँचे-ऊँचे मकानो से घिरी हुई और बन्द है। सिर्फ एक तरफ कोई सौ फीट के करीब कोई मकान न था, सिर्फ ५ फीट ऊँची दीवार थी। गोलियाँ दनादन चल रही थी और लोग चट-पट मर रहे थे। जब उन्हे कोई रास्ता नही सूझ पडा तो हजारो आदमी उस दीवार की ओर झपटे और उसपर चढने की कोशिश करने लगे। तब गोलियाँ उस दीवार की ओर निशाना लगाकर चलाई गई—जैसा कि हमारे बयानो तथा दीवार पर लगे गोलियो के निशानो से मालूम होता है—ताकि कोई उसपर से चढकर भाग न सके। और जब यह सब खतम हो चुका, तो क्या देखा गया कि मुर्दो और घायलो के ढेर दीवार के दोनो ओर पडे हुए थे।

उस साल (१९१९) के अन्त मे मै अमृतसर से देहली रात की गाडी से रवाना हुआ था। जिस डिब्बे मे मै चढा उसकी तमाम जगहे भरी हुई थी, सिर्फ ऊपर की एक 'बर्थ' खाली थी। सब मुसाफिर सो रहे थे। मैंने उस खाली बर्थ को ले लिया। दूसरे दिन सुबह मुझे मालूम हुआ कि वे तमाम मुसाफिर फौजी अफसर थे। वे आपस मे जोर-जोर से बाते कर रहे थे, जो मेरे कानो तक आही पहुँचती थी। उनमे से एक बडी तेजी के साथ, मगर विजय के घमड मे, बोल रहा था और फौरन ही मै समझ गया कि यह वही जलियाँवाला-बाग के 'सूरमा' डायर सा० है। वह अपने अमृतसर के अनुभव सुना रहा था। उसने बताया कि कैसे सारा शहर उसकी दया के भरोसे हो रहा था। उसने सोचा, एक बार इस सारे बागी शहर को खाक मे मिला दूँ। मगर कहा, कि फिर मुझे रहम आ गया और मै रुक गया। हण्टर-कमिटी मे अपना बयान देकर वह लाहौर से वापस आ रहा था। उसकी बातचीत और उसकी सग-दिली को देखकर मेरे दिल को बडा धक्का लगा—वह देहली स्टेशन पर उतरा तो गहरी गुलाबी धारियोवाला पायजामा और ड्रेसिंग-गाउन पहने हुए था।

पजाब-जाँच के जमाने में मुझे गाधीजी को बहुत-कुछ समझने का मौका मिला। बहुत बार उनके प्रस्ताव कमिटी को अजीब मालूम होते थे और कमिटी उन्हे पसद नही करती थी। मगर करीब-करीब हमेशा ही अपनी दलीलो से कमिटी को वह समझा लिया करते थे और कमिटी उन्हे मजूर कर लिया करती थी। और बाद की घटनाओ से मालूम हुआ कि उनकी सलाह मे दूरन्देशी थी। तबसे उनकी राजनैतिक अतर्दृष्टि मे मेरी श्रद्धा बढती गई।

पजाब की दुर्घटनाओ और उनकी जाँच के कार्य का मेरे पिताजी पर ज़बरदस्त

असर हुआ। उनकी तमाम कानूनी और वैधानिक बुनियाद उसके द्वारा हिल गई थी और उनका मन उस परिवर्तन के लिए धीरे-धीरे तैयार हो रहा था जो एक साल बाद आनेवाला था। अपनी पुरानी माडरेट स्थिति से वह पहले ही बहुत-कुछ आगे बढ़ चुके थे। उन दिनो इलाहाबाद से नरम दल का अखबार 'लीडर' निकल रहा था, उससे उनको सतोष नही था और उन्होने १९१९ के शुरू में 'इण्डिपेन्डेन्ट' नाम का दैनिक पत्र इलाहाबाद से निकाला। यो तो इस अखबार को बडी सफलता मिली, लेकिन शुरू से ही उसमे एक बात की बडी कमी रही। उसका प्रबन्ध अच्छा नही था। उससे सम्बन्ध रखनेवाले करीब-करीब सभी लोगो पर—क्या डाइरेक्टर, क्या सम्पादक और क्या प्रबन्ध-विभाग के लोग—इस कमी की जिम्मेदारी आती है। मैं खुद भी एक डाइरेक्टर था, मगर इस काम का मुझे कुछ भी तजुरबा न था और उसके रगडे-झगडो की चिन्ता से मैं दिन-रात परेशान रहता था। मुझे और पिताजी दोनो को पजाब जाना और ठहरना पडा था। हमारी इस लम्बी गैरहाजिरी मे पत्र की हालत बहुत गिर गई और उसकी माली हालत भी बहुत बिगड गई। उस हालत से वह कभी उभर न सका। हालाकि १९२०–२१ मे उसकी हालत बीच-बीच मे कुछ बेहतर हो जाती थी, लेकिन ज्यो ही हम जेल गये त्योही उसकी हालत अबतर होने लगी। आखिर १९२३ के शुरू मे उसकी जिन्दगी खतम हो गई। अखबार के मालिक बनने के इस अनुभव ने मुझे इतना भयभीत कर दिया कि उसके बाद से मैंने किसी अखबार का डाइरेक्टर बनने की जिम्मेदारी नही ली। हा, जेल मे तथा बाहर और-और कामो मे लगे रहने के कारण भी मै ऐसा नही कर सकता था।

१९१९ के बड़े दिनो मे पिताजी अमृतसर-काँग्रेस के सभापति हुए। उन्होने माडरेट नेताओ के नाम एक दिल हिला देनेवाली अपील की, कि वे अमृतसर के अधिवेशन मे शामिल हो। चूकि फौजी-कानून की वजह से एक नई हालत पैदा हो गई थी, उन्होने लिखा—'पजाब का जख्मी और पीडित दिल आपको बुला रहा है। क्या आप उसकी पुकार न सुनेगे?' मगर उन्होने उसका वैसा जवाब नही दिया जैसा कि वह चाहते थे। वे लोग शामिल न हुए। उनकी आँखे उन नये सुधारो की ओर लगी हुई थी जो माण्टेगु-चैम्सफोर्ड सिफारिशो के फल-स्वरूप आनेवाले थे। उनके इन्कार कर देने से पिताजी के दिल को बड़ा सदमा पहुँचा और इससे उनके और माडरेटो के दिल की खाई और चौडी हो गई।

अमृतसर-कॉंग्रेस पहली गाधी-कॉंग्रेस हुई। लोकमान्य तिलक भी आये थे और उन्होने उसकी कार्रवाई मे प्रमुख भाग लिया था। मगर इसमे कुछ शक नही कि प्रतिनिधियो मे अधिकाश, और इससे भी ज्यादा बाहर की भीड, अगुवा बनने के

लिए गाधीजी की ओर देख रहे थे। हिन्दुस्तान के राजनैतिक क्षितिज में 'महात्मा गाधी की जय' की आवाज बुलद होने लगी थी। अली-बन्धु हाल ही नजरबन्दी से छूटे थे और सीधे अमृतसर-काग्रेस मे आये थे । राष्ट्रीय आन्दोलन एक नया रूप धारण कर रहा था और उसकी नीति निर्माण हो रही थी।

शीघ्र ही मौलाना मुहम्मदअली खिलाफत-डेपुटेशन मे योरप चले गये। इधर हिन्दुस्तान मे खिलाफत-कमिटी दिन-पर-दिन गाधीजी के असर मे आने लगी और उनके अहिंसात्मक असहयोग के विचारो से नाता जोडने की फिराक में थी । दिल्ली मे जनवरी १९२० मे खिलाफत के नेताओ और मौलवियो और उलेमा की एक शुरू-शुरू की मीटिंग मुझे याद है । खिलाफत-डेपुटेशन वाइसराय से मिलने जानेवाला था और गाधीजी भी साथ जानेवाले थे । उनके दिल्ली पहुँचने से पहले, जो ऐड्रेस वाइसराय को दिया जानेवाला था, उसका मसविदा उन्हे रिवाज के मुताबिक भेजा जा चुका था। जब गाधीजी पहुँचे और उन्होने उसका मजमून पढा तो उसे बहुत नापसन्द किया और यह भी कहा कि अगर इसमे बहुत-कुछ रद्दोबदल नही किया गया तो मैं डेपुटेशन मे शरीक न हो सकूँगा। उनका एतराज यह था कि इस मजमून मे गोल-मोल बाते कही गई हैं। इसमे शब्द तो बहुत हैं मगर यह साफ तौर पर नही कहा गया कि मुसलमानो की कम-से-कम मागे क्या हैं। उन्होने कहा कि इससे न तो वाइसराय के साथ इन्साफ होता है और न ब्रिटिश-सरकार के साथ, न लोगो के साथ और न अपने साथ। उन्हे ऐसी बढी-चढी मागे पेश न करनी चाहिएँ जिनपर कि वे अडना न चाहते हो। कम-से-कम माग बिलकुल साफ शब्दो मे हो, जिसमे किसी प्रकार शक-शुभा न हो और फिर मरने तक उसपर डँटे रहो। अगर आप लोग सचमुच कुछ किया चाहते हो तो यही सच्चा और सही राज-मार्ग है।

यह दलील हिन्दुस्तान के राजनैतिक और दूसरे हलको मे एक नई चीज थी। हम लोग बढी-चढी और गोल-मोल बाते और लच्छेदार भाषा के आदी थे और दिमाग मे हमेशा सौदा करने की तजवीजे चला करती थी । आखिर गाधीजी की बात कायम रही और उन्होने वाइसराय के प्राइवेट-सेक्रेटरी को पत्र लिखा, जिसमें बताया कि पिछले मजमून मे क्या खामिया है और वह किस तरह गोल-मोल है, और कुछ नया मजमून भी अपनी तरफ से भेजा, जो उसमे जोडा जानेवाला था। इसमे उन्होने कम-से-कम माँग पेश की थी । वाइसराय का जवाब दिलचस्प था । उन्होने नये मजमून का जोडा जाना मजूर नहीं किया और कहा, मेरी राय मे पहला मजमून ही बिलकुल ठीक है। मगर गाधीजी ने सोचा कि इस चिट्ठी-

पत्री से उनकी और खिलाफत कमिटी की स्थिति साफ हो जाती है और वह डेपुटेशन के साथ चले गये।

यह जाहिर था कि सरकार खिलाफत-कमिटी की मागे मजूर नही करेगी और लडाई छिडे बिना न रहेगी। अब मौलवियो और उलेमाओ मे देर-देर तक बाते होती रहती। अहिसात्मक असहयोग पर और खासकर अहिंसा पर चर्चा होती रहती। गाधीजी ने उनसे कह दिया कि मै अगुवा बनने के लिए तैयार हूँ, मगर शर्त यह है कि आप लोग अहिसा को उसके पूरे मानी मे अपना ले। इसके बारे में कोई कमजोरी, लाग-लपट और छिपाव मन मे न होना चाहिए। मौलवियो के लिए इस चीज को मान लेना आसान न था, लेकिन वे रजामन्द हो गये। हाँ, उन्होने यह अलबत्ता साफ कर दिया कि वह इसे धर्म के तौर पर नही बल्कि नीति के तौर पर मानेंगे, क्योकि उनके मजहब मे नेक काम के लिए तलवार उठाना मना नही है।

१९२० मे राजनैतिक और खिलाफत-आन्दोलन दोनो एक ही दिशा मे और एकसाथ चले। और कांग्रेस के द्वारा गाधीजी के अहिसात्मक असहयोग के मजूर कर लिये जाने पर आखिर को दोनो एकसाथ मिल गये। पहले खिलाफत-कमिटी ने उस कार्यक्रम को अपनाया और १ अगस्त लडाई जारी करने का दिन मुकर्रर हुआ।

उस साल के शुरू मे मुसलमानो की एक मीटिंग (मै समझता हूँ कि मुस्लिम-लीग की कौंसिल होगी) इलाहाबाद मे सैयद रजाअली के मकान में इस कार्यक्रम पर विचार करने के लिए हुई। मौलाना मुहम्मदअली तो योरप थे, मगर मौलाना शौकतअली उसमें मौजूद थे। मुझे उस सभा की याद है, क्योकि मै उससे बहुत नाउम्मीद हुआ था। हाँ, शौकतअली अलबत्ता उत्साह मे थे, बाकी सब लोग दुःखी और परेशान थे। उनमे यह हिम्मत न थी कि वे उसको नामजूर करदे, किन्तु फिर भी उनका इरादा किसी खतरे मे पडने का न था। मैंने दिल मे कहा—क्या यही लोग एक क्रान्तिकारी आन्दोलन के अगुआ होगे और ब्रिटिश सल्तनत को चुनौती देंगे? गाधीजी ने एक भाषण दिया, जिसे सुनकर वे, ऐसा मालूम होता था कि, पहले से भी ज्यादा घबरा गये। उन्होने एक डिक्टेटर जैसा भाषण दिया। उसमे नम्रता थी, मगर साथ ही हीरे की तरह कटा-छँटा साफ और सख्ती लिये हुए था। उसकी भाषा सुहावनी और मीठी थी, जिसमे कठोर निश्चय और अजहद सरगर्मी भरी हुई थी। उनकी आँखो मे मृदुलता और शान्ति थी, मगर उनमे से जबरदस्त कार्य-शक्ति और दृढ-निश्चय की लौ निकल रही थी। उन्होने कहा कि यह मुकाबिला बडा जबर-दस्त होगा और सामना भी बडे जबरदस्त से है। अगर आप लडना ही चाहते हैं तो आपको अपना सब-कुछ बर्बाद करने के लिए तैयार हो जाना चाहिए और पूरी कडाई

के साथ अहिंसा और अनुशासन का पालन करना चाहिए। जब लड़ाई का ऐलान कर दिया जाता है तो फौजी कानून का दौर हो जाता है। हमारे अहिंसात्मक युद्ध मे भी, यदि हम चाहते हो, कि हमारी फतह हो तो, हमे अपनी तरफ से डिक्टेटर बनाने होगे और फौजी कानून जारी करने होगे। आपको यह हक है कि आप मुझे ठोकर मारकर निकाल दे, मेरा सिर उतार ले और जब कभी और जैसी चाहे सजा दे दें। लेकिन जबतक आप मुझे अपना अगुआ मानते है तबतक आपको मेरी शर्तो का पाबन्द जरूर रहना होगा। आपको डिक्टेटर की राय पर चलना होगा और फौजी कानून के निजाम मे रहना होगा। लेकिन डिक्टेटर बना रहना बिलकुल आपके सद्भाव, आपकी मजूरी और आपके सहयोग पर अवलम्बित रहेगा। ज्योही आप मुझसे उकता जायँ, त्योही आप मुझे उठाकर फेक दें, पैरो-तले रौद दे, और मै चू तक न करूँगा।

इसी आशय की कुछ बाते उन्होने कही और यह फौजी मिसाल और उनकी जबरदस्त सरगर्मी देखकर वहाँ बहुतसे श्रोताओ-के बदन मे चीटिया रेगने लगी। मगर शौकतअली वहाँ मौजूद थे, जो अधकचरे लोगो मे जोश भरा करते थे। और जब राये लेने का समय आया तो उनमे से बहुतो ने चुपचाप, मगर झेपते हुए, उस प्रस्ताव के, यानी लडाई शुरू करने के, हक मे हाथ ऊँचे कर दिये।

जब हम सभा से लौट रहे थे तो मैंने गाधीजी से पूछा, कि क्या इसी तरीके से आप एक महान् युद्ध को शुरू करेगे ? मैंने तो यहाँ जोश और उत्साह की, गरमागरम भाषा की, आँखो से आग की चिनगारी निकलने की आशा रक्खी थी, लेकिन उसके बजाय मुझे यहाँ पालतू, डरपोक और अधेड लोगो का जमघट दिखाई पडा। और फिर भी इन लोगो ने—आम राय का इतना असर था कि—लडाई के हक में राय दे दी। निश्चय ही मुस्लिम लीग के इन मेम्बरो मे से बहुत कम ने आगे लडाई मे योग दिया था, बहुतो को तो सरकारी कामो मे पनाह मिल गई थी। मुस्लिम लीग उस समय या बाद भी मुसलमानो के किसी भी बडे तबके की प्रतिनिधि नही रह गई थी। हाँ, १९२० की खिलाफत-कमिटी अलबत्ता एक जोरदार और उससे कही ज्यादा प्रातिनिधिक सस्था थी और इसी कमिटी ने जोश और उत्साह के साथ लडाई के लिए कमर कस ली।

१ अगस्त गाधीजी ने असहयोग की शुरुआत का दिन रक्खा था—हालाकि अभी कॉग्रेस ने न तो इसको मजूर ही किया था और न इसपर विचार ही किया था। इसी दिन लोकमान्य तिलक का बम्बई मे देहान्त हो गया। उसी दिन सुबह गाधीजी सिन्ध के दौरे से बम्बई पहुँचे थे। मै उनके साथ था, और हम सब उस जबरदस्त जलूस मे शरीक हुए थे जिसमे सारी बम्बई के लाखो आदमी अपने उस महान् और मान्य नेता को अपनी श्रद्धाञ्जलि देने के लिए दौड पडे थे।

८

मेरा निर्वासन और उसके परिणाम

मेरी राजनीति वही थी जो मेरे वर्ग यानी मध्यम-वर्ग की राजनीति थी। हाँ, उस समय, और बहुत हदतक अब भी, जिस राजनीति का शोर है, वह मध्यम-वर्ग के लोगो की राजनीति थी। क्या नरम और क्या गरम दोनो विचार के लोग मध्यम-वर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे और अपने-अपने ढग से उनकी बेहबूदी चाहते थे। माडरेट लोग खास करके मध्यम वर्ग की ऊपरी श्रेणी के मुट्ठीभर लोगो मे से थे जो कि आम तौर पर ब्रिटिश शासन की बदौलत फले-फूले थे, और एकाएक ऐसे परिवर्तन नही चाहते थे जिससे उनकी मौजूदा स्थिति और स्वार्थों को धक्का लगे। ब्रिटिश सरकार से और बडे जमीदारो से उनके घने सम्बन्ध थे। गरम विचार के लोग भी मध्यम वर्ग के ही थे, परन्तु निचली सतह के। कल-कारखानो के मजदूर, जिनकी सख्या महायुद्ध के कारण बेहद बढ गई थी, कुछ-कुछ जगहो मे ही मुकामी तौर पर सगठित हो पाये थे और उनका प्रभाव नही के बराबर था। किसान अपढ, अज्ञान, मुफलिस, गंवार, दुखी और मुसीबत के मारे थे। भाग्य के भरोसे दिन काटते और सरकार, जमीदार, साहूकार, छोटे-बडे हुक्काम, पुलिस, वकील, पडे-पुरोहित, जो भी होते सब उनपर सवारी गाँठते और उनको चूसते थे।

किसी अखबार का कोई पाठक शायद ही उन दिनो खयाल करता होगा कि हिन्दुस्तान मे करोडो किसान और लाखो मजदूर है, या उनकी कोई वकत है। अग्रेजो के अखबार बडे अफसरो के कारनामो से भरे रहते। उनमे शहरो और पहाडो पर रहनेवाले अग्रेजो के सामाजिक जीवन की, यानी उनकी पार्टियो की, उनके नाच-गान और नाटको की, लम्बी-लम्बी खबरे छपा करती। उनमे हिन्दुस्तानियो के दृष्टिकोण से हिन्दुस्तान की राजनीति की चर्चा प्राय बिलकुल नही की जाती थी, यहातक कि कॉंग्रेस के अधिवेशन के समाचार भी किसी ऐसे-वैसे पन्ने के एक कोने में और सो भी कुछ सतरो मे, दिये जाते थे। कोई खबर तभी किसी काम की समझी जाती जब कोई हिन्दुस्तानी, चाहे वह बडा हो या मामूली, कॉंग्रेस को या उसके दावो को बुरा-भला कह बैठता या नुक्ताचीनी कर बैठता। कभी-कभी किसी हडताल का थोडा जिक्र आ जाता, और देहात को तो महत्त्व तभी दिया जाता जब वहाँ कोई दगा-फसाद हो जाता।

हिन्दुस्तानी अखबार भी अग्रेजो के अखबारो की नकल करने की कोशिश करते।

लेकिन वे राष्ट्रीय आन्दोलन को उनसे कही ज्यादा महत्त्व देते थे। यो तो वे भी हिन्दुस्तानियो को छोटी-बडी नौकरियाँ दिलवाने, उनकी तरक्की और तबदीली में, और जब किसी जानेवाले अफसर की बिदाई मे कोई पार्टी दी जाती थी, 'जिसमें लोगो मे बडा उत्साह होता था, दिलचस्पी लेते थे। जब कभी नया बन्दोबस्त होता तो करीब-करीब हमेशा ही लगान वगैरा बढ जाता, जिससे शोर मच जाता था, क्योकि उसका असर ज़मीदारो की जेब पर भी पडता। बेचारे किसान जो जमीन जोतते थे, उनकी तो कोई बात भी नही पूछता था। ये अखबार जमीदार और कल-कारखानेवालो के होते थे। यह हालत थी उन अखबारो की जो 'राष्ट्रीय' कहे जाते थे।

यही क्यो, खुद कॉंग्रेस का भी शुरू के दिनो मे यह एक मतालबा था कि जहॉं-जहॉं अभी बन्दोबस्त नही हो पाया है वहॉं स्थायी बन्दोबस्त कर दिया जाय, जिससे जमीदारो के हकूक की रक्षा हो सके, और उसमे किसानो का कही जिक्र तक न रहता था।

पिछले बीस वर्षो मे राष्ट्रीय आन्दोलन की बढती के कारण हालत बहुत बदल गई है और अब अग्रेजो के अखबारो को भी हिन्दुस्तान के राजनैतिक प्रश्नो के लिए जगह देनी पडती है। क्योकि ऐसा न करे तो हिन्दुस्तानी पाठको के टूट जाने का अदेशा रहता है। परन्तु यह बात वे अपने खास ढग से ही करते है। हिन्दुस्तानी अखबारो की दृष्टि कुछ विशाल हो गई है। वे किसानो और मजदूरो की भलाई की भी बाते किया करते है, क्योकि एक तो आज-कल यह फैशन हो गया है और दूसरे उनके पाठको मे कल-कारखानो और गॉव-सबन्धी बातो के जानने की तरफ दिलचस्पी बढ रही है। परन्तु दरअसल तो अब भी वे पहले की तरह हिन्दुस्तानी पूँजीपतियो और जमीदा-वर्ग के हितो का ही ध्यान रखते है, जोकि उनके मालिक होते है। कितने ही हिन्दुस्तानी राजा-महाराजा भी अखबारो मे अपना रुपया लगाने लगे है और वे हर तरह कोशिश करते है कि उन्हे अपने रुपयो का मुआवजा मिल जाय। फिर भी इनमे से बहुत से अखबार 'कॉंग्रेसी' कहलाते है, हालॉकि वे जिनके तावे में है उनमे से बहुतेरे कॉंग्रेस के मेम्बर भी न होगे। किन्तु कॉंग्रेस शब्द लोगो को बहुत प्यारा हो गया है और कितने ही लोग और सस्थाये उसे अपने फायदे के लिए इस्तैमाल करते है। जो अखबार जरा आगे बढे विचारो का प्रतिपादन करते है उन्हे या तो बड़े-बडे जुरमानो का, यहा तक कि बड़े सख्त प्रेस-कानूनो के जरिये दबा दिये जाने या सेसर किये जाने का भी, खौफ बना रहता है।

१९२० मे मुझे इस बात का बिलकुल पता न था कि कारखानो मे या खेतो मे काम करनेवाले मज़दूरो की हालत क्या है, और मेरा राजनैतिक दृष्टिकोण

बिलकुल मध्यमवर्ग के जैसा था। फिर भी मै इतना जरूर जानता था कि उनमें गरीबी बहुत है और उनके दुःख भयकर है और मैं सोचता था कि राजनैतिक दृष्टि से हिन्दुस्तान आज़ाद हो जाय तो उसका पहला लक्ष्य यह हो कि इस गरीबी के मसले को हल करे। मगर मुझे सबसे पहली सीढी तो राजनैतिक आज़ादी ही दिखाई दी, जिसमे मध्यमवर्ग की प्रधानता हुए बिना नहीं रह सकती। गाधीजी के चम्पारन (बिहार) और खेडा (गुजरात) के किसान-आन्दोलन के बाद किसानो के प्रश्न पर मैं ज्यादा ध्यान देने लगा। फिर भी मेरा ध्यान तो १९२० मे राजनैतिक बातो मे और असहयोग के आगमन मे लग रहा था, जिसकी चर्चा से राजनैतिक वायुमण्डल भरा हुआ था।

उन्ही दिनो एक नई बात में मेरी दिलचस्पी पैदा हो रही थी, जिसे कि आगे चलकर एक महत्त्व का काम करना था। मैं, अपनी खुद की प्राय कोई इच्छा न रहते हुए, किसानो के सम्पर्क मे फेंक दिया गया, और यह भी एक अजीब तरीके से हुआ।

मेरी मा और कमला (मेरी पत्नी) दोनो की तन्दुरुस्ती खराब थी और मई १९२० के शुरू में मैं उनको मसूरी ले गया। पिताजी उस वक्त एक बडे राज के मामले मे मशगूल थे, जिसमे कि दूसरी ओर के वकील देशबन्धु दास थे। हम सेवाय-होटल मे ठहरे हुए थे। उन दिनो अफगान और ब्रिटिश राज-प्रतिनिधियो के दर्म्यान मसूरी मे सुलह की बाते हो रही थी (यह १९१९ मे हुए छोटे अफगान युद्ध के बाद की बात है, जब कि अमानुल्ला तख़्त पर बैठा था) और अफगान प्रतिनिधि सेवाय-होटल मे ठहरे हुए थे। लेकिन वे एक तरफ ही रहते थे, खाना भी अकेले खाते थे और किसीसे मिलते-जुलते न थे। मुझे उनमे खास दिलचस्पी नही थी और इस महीने-भर मे मैने उस प्रतिनिधि-मंडल के एक भी आदमी को नही देखा और अगर देखा भी हो तो मै किसीको पहचानता न था। लेकिन क्या देखता हूँ, कि एक दिन एकाएक शाम को पुलिस-सुपरिन्टेन्डेंट वहाँ आया और मुझे स्थानीय सरकार का खत दिखाया, जिसमे मुझसे यह वादा चाहा गया था कि मै अफगान-प्रतिनिधि-मण्डल मे कोई सरोकार न रक्खूँ। मुझे एक बडी अजीब बात मालूम हुई, क्योंकि इस महीने-भर मे मैने उन्हे कभी देखा तक नहीं और न मुझे उसका मौका ही मिल सकता था। सुपरिन्टेन्डेंट इस बात को जानता था, क्योकि वह प्रतिनिधि-मण्डल की हलचलो पर गौर से निगाह रखता था और वहाँ दरअसल खुफिया लोगो का एक खासा जमघट लगा रहता था। मगर ऐसा वादा करना मेरे मिजाज के खिलाफ था और मैने उनको ऐसा कह भी दिया। उसने मुझे डिस्ट्रिक्ट-मजिस्ट्रेट से, जो कि

देहरादून का सुपरिन्टेन्डेट था, मिलने के लिए कहा और उससे मै मिला। चूँकि मै बराबर कहता रहा कि मै ऐसा वादा नही कर सकता, मुझे मसूरी से चले जाने का हुक्म मिला, जिसमे कहा गया कि मै २४ घटे के अन्दर देहरादून जिले से बाहर चला जाऊँ। इसके मानी यही थे कि मै कुछ घटो मे ही मसूरी छोड दूँ। मुझे यह अच्छा तो नही लगा कि अपनी बीमार मा और पत्नी दोनो को वहाँ छोड़कर जाऊँ, लेकिन उस वक्त मुझे उस हुक्म की खिलाफवर्जी करना मुनासिब मालूम नही हुआ, क्योकि उस समय सविनय भग तो था नही, इसलिए मै मसूरी से चल दिया।

मेरे पिताजी की सर हारकोर्ट बटलर से, जो कि उस समय युक्तप्रान्त के गवर्नर थे, अच्छी मुलाकात थी। उन्होने दोस्ताना तरीके पर सर हारकोर्ट को पत्र लिखा, कि मुझे यकीन है कि ऐसा वाहियात हुक्म आपने न दिया होगा, यह शिमला के किसी मन-चले आदमी की कार्रवाई मालूम होती है। सर हारकोर्ट ने जवाब दिया, कि हुक्म मे कोई ऐसी खराब बात नही है जिसके मानने से जवाहरलाल की शान मे कोई फर्क आ जाता। इसके जवाब मे पिताजी ने उनसे अपना मतभेद प्रकट किया और लिखा कि जवाहरलाल का जानबूझकर हुक्म तोडने का कोई इरादा नही है, पर अगर उसकी मा या पत्नी की तन्दुरुस्ती के लिए ज़रूरी हुआ तो वह जरूर मसूरी जायगा, चाहे आपका हुक्म रहे या न रहे। और ऐसा ही हुआ भी। मेरी मा की हालत ज्यादा खराब हो गई और पिताजी व मै दोनो तुरन्त मसूरी के लिए रवाना हो गये। उसके ठीक पहले हमे उस हुक्म की मन्सूखी का एक तार मिला।

दूसरे दिन सुबह मसूरी पहुँचने पर सबसे पहले जो शख्स मैने होटल के आगन मे देखा वह अफगान था ओर मेरी छोटी बच्ची को गोद मे लिये हुए था। मुझे मालूम हुआ कि वह वहाँ का एक मिनिस्टर और अफगान प्रतिनिधि-मण्डल का एक सदस्य था। बाद को पता चला कि मसूरी से मेरे निकाले जाने का हुक्म मिलते ही उन अफगानो ने अखबारो मे उसके समाचार पढे और उनकी दिलचस्पी यहाँतक बढी कि प्रतिनिधि-मण्डल के प्रधान हर रोज फूल और फलो की एक डलिया मेरी मा को भेजा करते।

बाद को पिताजी और मै प्रतिनिधि-मडल के एक-दो सदस्य से मिले भी थे, और उन्होने हमे अफगानिस्तान आने का प्रेमपूर्वक निमत्रण दिया था। मगर अफसोस है कि हम उससे कुछ फायदा न उठा पाये, और पता नही वहाँकी नई हुकूमत मे वह निमत्रण अब कायम रहा है या नही।

मसूरी से निकाल दिये जाने के फल-स्वरूप मुझे दो हफ्ते इलाहाबाद रहना पडा और इसी अर्से मे मै किसान-आन्दोलन मे जा फँसा और ज्यो-ज्यो दिन आते गये त्यो-त्यो मै उसमे अधिकाधिक ही फँसता गया, जिसने मेरे विचारो और दृष्टिकोण

पर काफी असर डाला । कभी-कभी मेरे मन मे यह विचार उठा है कि अगर मै न तो मसूरी से निकाला जाता और न इलाहाबाद मे ठहरा होता, या उन्ही दिनो कोई दूसरा काम होता, तो क्या हुआ होता ? बहुत मुमकिन है कि मै किसानो की ओर तो किसी-न-किसी तरह आगे-पीछे खिचा होता, परन्तु मेरा उनके पास जाने का तरीका और इसलिए उसका असर भी कुछ और ही होता ।

जून १९२० के शुरू में, जहाँतक मुझे याद है, कोई दो सौ किसान परतावगढ के देहात से पचास मील पैदल चलकर इलाहाबाद आये—इस इरादे से कि वे अपने दु:खो और मुसीबतो की तरफ वहाँ के खास-खास राजनैतिक पुरुषो का ध्यान आकर्षित करे । रामचन्द्र नामक उनके एक अगुआ थे, जो वहाँ के रहनेवाले न थे । मैंने सुना कि किसानो का यह जत्था जमना के घाट पर डेरा डाले हुए है । मै कुछ मित्रो के साथ उनसे मिलने गया । उन्होने बताया कि किस तरह ताल्लुकेदार ज़ोर-ज़ुल्म से वसूलयाबी करते है, कैसा उनका अमानुप व्यवहार है, और कैसी हालत उनकी हो गई है जिसको कि अब बर्दाश्त नही कर सकते । उन्होने हमसे प्रार्थना की कि हम उनके साथ चले और उनकी हालत की जाँच करे । उनको डर था कि ताल्लुकेदार उनके इलाहाबाद आने पर जरूर बहुत बिगडेगे और उसका बदला लिये बिना न रहेगे, इसलिए वे चाहते थे कि उनकी जान बचाने के लिए हम उनके साथ रहे । वह हमारे इन्कार को मानने के लिए किसी तरह तैयार न थे और सचमुच हमसे बुरी तरह चिपट गये । आखिर को मैने उनसे वादा किया कि मै दो-तीन रोज़ बाद ज़रूर आऊँगा ।

मैं कुछ साथियो को लेकर वहाँ पहुँचा । कोई तीन दिन वहाँ हम लोग गाँव मे रहे। वे रेलवे से और पक्की सडक से बहुत दूर थे । उस दौरे मे मैंने कई नई बाते देखी । हमने देखा कि सारे देहाती इलाके मे उत्साह की लहर फैल रही है और उनमे अजीब जोश उमडा पड़ता है । ज़रा जबानी कहला दिया और बडी-बड़ी सभाओ के लिए लोग इकट्ठे हो जाते । एक गाँव से दूसरे गाँव और दूसरे से तीसरे गाँव इस तरह सब गाँवो मे सदेशा पहुँच जाता और देखते-देखते सारे गाँव खाली हो जाते और खेतो में दूर-दूर तक सभास्थान पर आते हुए मर्द, औरत और बच्चे दिखाई देते । और इससे भी ज्यादा तेजी से 'सीताराम, सीता रा आ आ म' की धुन की आवाज़ आकाश मे गूँज उठती और चारो तरफ दूर-दूर तक फैल जाती और दूसरे गाँव से उसीकी प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती और बस, लोग पानी की धारा की तरह दौडते चले आते । मर्द-औरत फटे-टूटे चिथड़े पहने थे, मगर उनके चेहरो पर जोश और उत्साह था और आँख चमकती हुई दिखाई देती थी—मानो कोई विचित्र बात होने को थी, जिसके द्वारा जादू की तरह आनन-फानन मे उनकी तमाम मुसीबत का खात्मा हो जायगा ।

उन्होने हमपर बहुत प्रेम बरसाया और वे हमें आशा तथा प्रेमभरी आँखो से देखते थे—मानो हम कोई शुभ सन्देश सुनाने आये हो, या उनके रहनुमा हो, जो उन्हे उनके मञ्जिले-मकसूद तक पहुँचा देगे। उनकी मुसीबतो को और उनकी अपार कृतज्ञता को देखकर मै दु ख और शर्म के मारे गड गया। दु ख तो हिन्दुस्तान की जबरदस्त गरीबी और ज़िल्लत पर; और शर्म मेरी अपनी आराम की ज़िदगी पर, और शहरो की न-कुछ राजनीति पर, जिसमे हिन्दुस्तान के इन अधनगे करोड़ों पुत्र-पुत्रियो के लिए कोई जगह न थी। नगे-भूखे, दलित-पीड़ित हिन्दुस्तान का एक नया चित्र मेरी आँखो के सामने खड़ा होता हुआ दिखाई दिया। और हम लोग जो दूर शहर से उन्हे देखने कभी-कभी आ जाते है, उनके प्रति उनकी श्रद्धा को देखकर मै परेशानी में पड गया और उसने मुझमे यह नई जिम्मेदारी का भाव पैदा कर दिया जिसकी कल्पना से मेरा दिल दहल उठा।

मैने उनके दु ख की सकडो कहानियाँ सुनी। कैसे लगान का बोझ दिन-दिन बढता जा रहा है, जिससे वे कुचले जा रहे है। किस तरह खिलाफ-कानून लाग लगाये जाते है और ज़ोरो-जुल्म से वसूली की जाती है, जमीन और कच्चे झोपडो से किस तरह उनको बेदखल किया जाता है, कैसे उनपर मार पडती है, कैसे चारो तरफ ज़मीदारो के एजेण्ट, साहूकारो और पुलिस के गिद्धो से घिरे रहते है, किस तरह कड़ी धूप मे मशक्कत करते है और अन्त मे यह देखते है कि उनकी सारी पैदावार उनकी नही है—दूसरे ही उठा ले जाते है और उसका बदला उन्हे मिलता है ठोकरो, गालियो और भूखे पेट से। जो लोग वहाँ आये थे उनमे से बहुतो के ज़मीन नही थी और जिन्हे ज़मीदारो ने बे-दखल कर दिया था, उन्हे सहारे के लिए न अपनी ज़मीन थी न अपना झोपडा। यो ज़मीन उपजाऊ थी मगर उसपर लगान आदि का बोझ बहुत भारी था। खेत छोटे-छोटे थे और एक-एक खेत पाने के लिए कितने ही लोग मरते थे। उनकी इस तडप से फायदा उठाकर ज़मीदारो ने, जो कि कानून के मुताबिक एक हद से ज्यादा लगान नही बढा सकते थे, कानून को ताक पर रखकर भारी-भारी नज़राना वगैरा बढा दिये थे। बेचारे किसान कोई चारा न देख रुपया उधार लाते और नज़राना वग़ैरा अदा करते और फिर जब कर्ज़ और लगान तक न दे पाते तो बेदख़ल कर दिये जाते, और उनका सब-कुछ छिन जाता था।

यह तरीका पुराना चला आ रहा है और किसानो की दिन-ब-दिन बढनेवाली दरिद्रता का सिलसिला भी एक लम्बे अरसे से चला आ रहा है। तब फिर क्या बात हुई जिससे मामला इस हदतक बढ गया और देहात के लोग इस तरह उमड़ पडे? निश्चय ही इसका कारण उनकी आर्थिक दशा थी। परन्तु यह हालत तो सारे

अवध मे एकसी थी। और यह किसानो का १९२०-२१ का बवन्डर तो सिर्फ परतावगढ, रायबरेली और फैजाबाद जिले मे ही फैला हुआ था। इसका आशिक कारण तो था, रामचन्द्र नामक विलक्षण व्यक्ति का अगुआ हो जाना, जोकि बावा रामचन्द्र कहलाता था।

रामचन्द्र महाराष्ट्रीय था और कुली-प्रथा के अन्दर मजदूर बनकर फिजी चला गया था। वहाँ से लौटने पर धीरे-धीरे वह अवध के जिलो की तरफ आ गया। तुलसीदास की रामायण गाता हुआ और किसानो के कष्टो और दु:खो को सुनता हुआ वह इधर-उधर घूमने लगा। वह पढा-लिखा थोड़ा था और कुछ हद तक उसने किसानो से अपना जाती फायदा भी कर लिया। मगर हाँ, उसने भारी सगठन-शक्ति का परिचय दिया। उसने किसानो को आपस मे समय-समय पर सभा करना और अपनी तकलीफो पर चर्चा करना सिखलाया और हर तरह उनके आपस मे एके का भाव पैदा किया। कभी-कभी बडी भारी-भारी सभाये होती और उससे उन्हे एक वल का अनुभव होता। यो 'सीताराम' एक पुरानी और प्रचलित धुन है, मगर उसने उसे करीब-करीब एक युद्ध-घोष का रूप दे दिया और जरूरत के वक्त लोगो को बुलाने का तथा जुदा-जुदा गाँवो को आपस मे बाँधने का चिन्ह बना दिया। फैजाबाद, परतावगढ और रायबरेली राम और सीता की पुरानी कथाओ से भरे पडे है। इन जिलो का समावेश पुराने अयोध्या-राज मे होता था। तुलसीदास की रामायण वहाँ लोगो के घर-घर गाई जाती है। कितने ही लोगो को इसके हजारो दोहे, चौपाई बर-जवान थे। इस रामायण का गान और अच्छे-अच्छे प्रसगो पर मौजूँ दोहे-चौपाइयो की मिसाल देना बावा रामचन्द्र का एक खास तर्ज था। कुछ हद तक किसानो का सगठन करके उसने उनके सामने वहुतेरे गोल-मोल और ऊट-पटाग वादे भी किये, जिनसे उन्हे बडी-बडी आशाये बँधी। उसके पास किसी-किस्म का कोई कार्यक्रम नही था और जब उनका जोश आखिरी सीमा तक पहुँच गया तो उसने उसकी जिम्मेदारी को दूसरो पर डालने की कोशिशे की। यही कारण है जो वह कितने ही किसानो को इलाहाबाद लाया कि वहाँके लोग उस आन्दोलन मे दिलचस्पी ले।

एक साल तक और रामचन्द्र ने आन्दोलन मे प्रधान रूप से भाग लिया और दो-तीन बार जेल भी गया। मगर बाद मे जाकर वह बडा गैर-जिम्मेदार और अविश्वसनीय साबित हुआ।

किसान-आन्दोलन के लिए अवध खास तौर पर अच्छा क्षेत्र था। वह ताल्लुकेदारो की, जो कि अपनेको 'अवध का राजा' कहते है, भूमि थी और अब भी है। जमीदारी-प्रथा का सबसे बिगडा हुआ रूप वहाँ मिलता है। जमीदारो के लगाये करो

के बोझ असह्य हो रहे थे और बे-जमीन मजदूरो की तादाद बढ रही थी । वहाँ यो सिर्फ एक ही किस्म के किसान थे । और इसीसे वे सब मिलकर एक-साथ कोई कार्रवाई कर सके ।

हिन्दुस्तान को मोटे तौर पर दो भागो में बाँट सकते है । एक जमीदारी इलाका जिसमे बडे-बडे जमीदार है, और दूसरा वह जहाँ किसान जमीन के मालिक है । मगर कही-कही दोनो एक-दूसरे से मिल जाते है । बगाल, बिहार और सयुक्त-प्रात जमीदारी इलाका है । किसानी इलाके के लोगो की हालत इनसे अच्छी है, हालाँकि वहाँ भी उनकी हालत कई बार दयाजनक हो जाती है । पजाब और गुजरात के (जहाँ जमीन के मालिक किसान है) किसानो की हालत जमीदारी इलाके से कही अच्छी है । जमीदारी इलाके के ज्यादातर हिस्से मे कई किस्म के काश्तकार थे, दखीलकार, गैर-दखीलकार और शिकमी वगैरा । इन जुदा-जुदा काश्तकारो के स्वार्थ अक्सर आपस मे टकराते और इस कारण मिलकर एकसाथ कोई जोरदार काम नही किया जा सकता । लेकिन अवध मे १९२० मे न तो दखीलकार काश्तकार थे और न हीनहायत काश्तकार ही थे । वहाँ सिर्फ आरजी काश्तकार थे, जो बे-दखल होते रहते थे और जिनकी जमीने ज्यादा नजराना या लगान देने पर दूसरो को दे दी जाया करती थी । इस तरह चूकि वहाँ खास तौर पर एक ही तरह के काश्तकार थे, वहाँ एकसाथ काम करने के लिए सगठन करना और भी आसान था ।

अवध मे आरजी पट्टे की भी कोई गारटी देने का रिवाज नही था । जमीदार शायद ही कही लगान की रसीद देते थे । और कोई भी जमीदार कह सकता था कि लगान अदा नही किया गया और काश्तकार को बे-दखल कर सकता था । उस बेचारे के लिए यह साबित करना गैर-मुमकिन था कि लगान अदा कर दिया । लगान के अलावा बहुतेरी बेजा लागे लगी हुई थी । मुझे मालूम हुआ कि उस ताल्लुके मे तरह-तरह की कोई पचास ऐसी लागे लगी हुई है । मुमकिन है यह बात बढाकर कही गई हो । मगर ताल्लुकेदार जिस तरह खास-खास मौको पर—जैसे अपने कुटुम्ब मे किसीकी शादी हो तो, लडके विलायत पढने गये हो तो, गवर्नर या दूसरे बडे अफसर को पार्टी दी गई हो तो, एक मोटर या हाथी खरीदा गया हो तो—उनके खर्च का रुपया वसूल करते थे, यह कितनी दुष्टता थी । यहाँतक कि इन लागो के मोटरोना (मोटर-टैक्स), हथियोना (हाथी के खरीदने का खर्च) वगैरा नाम पड गये थे ।

ऐसी हालत में कोई ताज्जुब नही जो अवध मे इतना बडा किसान-आन्दोलन उठ खडा हुआ हो, बल्कि मुझे उस वक्त ताज्जुब तो इस बात पर हुआ कि बिना शहरवालो की मदद के या राजनैतिक पुरुषो अथवा ऐसे ही दूसरे लोगो की प्रेरणा

के कैसे बिलकुल अपने-आप वह इतना बढ गया । यह किसान-आन्दोलन कांग्रेस से बिलकुल अलहदा था । देश मे जो असहयोग-आन्दोलन आरम्भ हो रहा था, उसका इससे कोई ताल्लुक न था । बल्कि यह कहना ज्यादा सही होगा कि इन दोनो विशाल और जोरदार आन्दोलनो का मूल-कारण एक-सा था । हाँ, १९१९ मे गाधीजी ने जो बडी-बडी हडताले कराई थी, उनमें किसानो ने भी हिस्सा लिया था, और उनके बाद से उनका नाम देहातियो मे जादू का काम करता था ।

मुझे सबसे बड़ा आश्चर्य तो इस बात पर हुआ कि हम शहरवालो को इतने बड़े किसान-आन्दोलन का पता तक नही था । किसी अखबार मे उसपर एक सतर भी नही आती थी । उन्हे देहात की बातो मे कोई दिलचस्पी नही थी । मैंने इस बात को और भी ज्यादा महसूस किया कि हम अपने लोगो से किस तरह दूर पडे हुए है, और उनसे अलग अपनी छोटी-सी दुनिया में किस तरह रहते और काम तथा आन्दोलन करते है ।

६

किसानों में भ्रमण

तीन दिन तक मैं गावो मे घूमता रहा। और एक बार इलाहाबाद आकर फिर वापस गया। हम गॉव-गॉव घूमे—किसानो के साथ खाते, उन्हीके साथ उनके कच्चे झोपडो में रहते, घण्टो उनसे बात-चीत करते और कभी-कभी छोटी-बडी सभाओं में व्याख्यान भी देते। शुरू मे हम एक छोटी मोटर में गये थे। किसानो मे इतना उत्साह था कि सैकड़ो ने रात-रात भर काम करके खेतो के रास्ते कच्ची सड़क तैयार की, जिससे मोटर ठेठ दूर-दूर के गाँवो मे जा सके। अक्सर मोटर अड जाती और बीसो आदमी खुशी-खुशी दौड़कर उसे उठाते। आखिर को हमे मोटर छोड़ देनी पड़ी और ज्यादातर सफर पैदल ही करना पडा। जहॉ कही हम गये, हमारे साथ पुलिस के लोग, खुफिया और लखनऊ के डिप्टी कलेक्टर रहते थे। मै समझता हूँ, खेतो मे हमारे साथ दूर-दूर तक पैदल चलते हुए उनपर एक प्रकार की मुसीबत आ गई होगी। वे सब थक गये थे। हमसे और किसानो से बिलकुल उकता उठे थे। डिप्टी कलेक्टर थे लखनऊ के एक नाजुक-मिजाज नौजवान और पम्प-शू पहने हुए थे। कभी-कभी वह हमसे कहते कि जरा धीरे चले। मै समझता हूँ आखिर हमारे साथ चलना उन्हे दुश्वार हो गया और वह रास्ते मे ही कही रह गये।

जून का महीना था, जिसमे सबसे ज्यादा गर्मी पडा करती है। बारिश के पहले की तपिश थी। सूरज की तेजी बदन को झुलसाये देती थी और आँखो को अधा बना देती थी। मुझे धूप में चलने की बिलकुल आदत न थी और इंग्लैंड से लौटने के बाद हर साल गर्मियो मे मै पहाड पर चला जाया करता था। किन्तु इस बार मैं दिन भर खुली धूप मे घूमता था और सिर पर धूप से बचने को हैट भी न था। सिर्फ एक छोटा तौलिया सिर पर लपेट लिया था। दूसरी बातो मे मै इतना मशगूल था कि धूप का कुछ खयाल भी नही रहा, और इलाहाबाद लौटने पर जब कही मैने देखा तो मेरे चेहरे का रंग कितना पक्का हो गया था। और फिर मुझे याद पड़ा कि सफर मे क्या-क्या बीती। लेकिन इस बात पर मै अपने-आपसे खुश हुआ, क्योकि मुझे मालूम हो गया कि बडे-बड़े मजबूत आदमियो के बराबर मैं धूप को बर्दाश्त कर सका और जो मै उससे डरता था उसकी जरूरत नही थी। मैने देख लिया है कि मै कड़ी-से-कड़ी गर्मी और कड़े-से-कडे जाडे को बिना ज्यादा तकलीफ के बर्दाश्त कर सकता हूँ। इससे मुझे अपने काम मे तथा जेल-जीवन बिताने में बड़ी मदद मिली। इसकी वजह

यह थी कि मेरा शरीर आम तौर पर मजबूत और काम करने लायक था और मैं हमेशा कसरत किया करता था। इसका सबक मैंने पिताजी से सीखा था, जो थोड़े-बहुत कसरती थे और करीब-करीब अपने आखिरी दिनो तक जिन्होने रोजाना कसरत जारी रक्खी थी। उनके सिर पर चाँदी-से सफेद बाल हो गये थे, चेहरे पर झुर्रियाँ पड गई थी और वह विचार करते-करते बूढे और थके-से दिखाई देते थे। मगर उनका बाकी शरीर मृत्यु के एक-दो साल पहले तक उनसे बीस बरस कम उम्र के आदमी का-सा जान पडता था।

जून १९२० मे परतापगढ जाने के पहले भी मैं गाँवो से अक्सर गुजरता था। वहाँ ठहरता था और किसानो से बात-चीत भी करता था। बडे-बडे मेलो के अवसर पर गगा-किनारे हजारो देहातियो को मैने देखा था और उनमे होमरूल का प्रचार किया था। लेकिन उस समय मै यह अच्छी तरह न जानता था कि दरअसल वे क्या है, और हिन्दुस्तान के लिए उनका क्या महत्त्व है। हममे से ज्यादातर लोगो की तरह मैं भी उनके बारे मे कोई विचार न करता था। यह बात मुझे इस परतापगढ की यात्रा मे मालूम हुई, और तबसे हिन्दुस्तान का जो चित्र मैंने अपने दिमाग मे बना रक्खा है उसमे हमेशा के लिए इस नगी-भूखी जनता का स्थान बन गया है। सम्भवत उस हवा मे एक किस्म की बिजली थी। शायद मेरा दिमाग उसका असर अपने पर पडने देने के लिए तैयार था। और उस समय जो चित्र मैंने देखे और जो छाप मुझ-पर पड़ी वह मेरे दिल पर हमेशा के लिए अमिट हो गई।

इन किसानो की बदौलत मेरी झेप निकल गई और मै सभाओ में बोलना सीख गया। तबतक मै शायद ही किसी सभा मे बोला होऊँ। अक्सर हमेशा हिन्दुस्तानी मे बोलने की नौबत आती थी और उसके खयाल से मै दहशत खाया करता था। लेकिन मैं किसान सभाओ मे बोलने को कैसे टाल सकता था? और इन सीधे-सादे गरीब लोगो के सामने बोलने मे झेंपने की भी क्या बात थी? मै वक्तृत्व-कला तो जानता न था। इसलिए उनके साथ एक-दिल होकर बोलता और मेरे दिल और दिमाग मे जो-कुछ होता था वह सब उनसे कह देता था। लोग चाहे थोडे हो चाहे हजारो की तादाद मे हो, मै हमेशा बातचीत के या जाती ढग से ही उनके सामने बोलता; और मैंने देखा कि चाहे कुछ कमी भी उसमे रह जाती हो लेकिन मेरा काम चल जाता था। मेरे व्याख्यान मे प्रवाह काफी रहता था। मैं जो-कुछ कहता था शायद उसका बहुत-कुछ हिस्सा उनमे से बहुतेरे समझ नही पाते थे। मेरी भाषा और मेरे विचार इतने सरल न थे कि वे समझ सकते। बहुत लोग तो मेरा भाषण सुन ही नही पाते थे; क्योकि भीड तो भारी होती थी और मेरी आवाज दूर तक नही पहुँच

पाती थी। लेकिन जब कि वे किसी एक शख्स पर भरोसा और श्रद्धा कर लेते हैं, तब इन सब की ज्यादा परवा उन्हे नही रहती।

मैं अपनी मा और पत्नी से मिलने मसूरी गया तो, मगर मेरे दिमाग में किसान-ही-किसान भरे थे और मैं फिर उनमे जाने के लिए उत्सुक था। ज्योही मैं मसूरी से वापस लौटा, गाँवो मे घूमने चला गया, और मैंने देखा कि किसान-आन्दोलन बढता जा रहा था। उन पीडित किसानो के अन्दर अपने-आपपर एक नया विश्वास पैदा हो रहा था। वे छाती तानकर और सिर ऊँचा करके चलने लगे थे। जमीदारो के कारिन्दो और पुलिस का डर उनके दिल मे कम होता चला जाता था। और यदि किसीका खेत बे-दखल होता था तो कोई दूसरा किसान उसे लेने के लिए आगे नही बढता था। जमीदारो के नौकर जो उन्हे मारा-पीटा करते थे और कानून के खिलाफ उनसे बेगार और लाग लिया करते थे, वह कम हो गया था, और जब कभी कोई ज्यादती होती तो फौरन उसकी रिपोर्ट होती और तहकीकात की कोशिश की जाती। इससे जमीदारो के कारिन्दो और पुलिस की ज्यादतियो की कुछ रोक हुई। ताल्लुकेदार घबराये और अपना बचाव करते और प्रान्तीय सरकार ने अवध-काश्तकारी-कानून मे सुधार करने का वादा किया।

ताल्लुकेदार और बडे जमीदार जमीन के मालिक कहलाते हैं। वे अपने को "लोगो के स्वभाविक नेता" कहने में अपना फख्र समझते हैं। वे यो तो ब्रिटिश सरकार के लाडले और बिगडैल बेटे हैं, लेकिन सरकार उनके लिए शिक्षा और लालन-पालन की जो विशेष व्यवस्था की थी या करने की भूल की थी उसके द्वारा उसने उनके सारे वर्ग को बुद्धि और दिमाग मे बिलकुल बोदा और निकम्मा बना दिया। वे अपने किसानो के लिए कुछ भी नही करते थे जैसा कि दूसरे देशो के जमीदार अक्सर थोडा-बहुत किया करते है, और जमीन और लोगो को महज चूस कर अपना पेट भरने वाले रह गये थे। उनके पास सबसे बडा काम यह रह गया था कि वे मुकामी अफसरो की खुशामत-दरामद करते रहे—जिनकी कि मेहरबानी के बिना उनकी हस्ती ज्यादा दिन ठहर नही सकती थी। और वे हमेशा अपने खास स्वार्थो और हको की रक्षा का लगातार मतालबा करते रहते थे।

जमीदार शब्द से जरा धोखा हो जाता है और किसी-किसीको यह खयाल हो सकता है कि तमाम जमीदार बडी-बडी जमीनो के मालिक है। जिन सूबो मे रैयतवारी तरीका है वहाँ जमीदार के मानी है खुद खेती करने वाला जमीन-मालिक। उन प्रान्तो में भी जहाँ जमीदारी-प्रथा है, जमीदारो मे कम जमीन के मालिक, मध्यम दर्जे के हजारो जमीन-मालिक, और वे हजारो लोग भी जो हद दर्जे की गरीबी मे दिन काटते

है और किसी तरह काश्तकारो से अच्छी हालत मे नही है, आ जाते है। संयुक्त-प्रान्त में, जहाँ तक मुझे याद है, पन्द्रह लाख के करीव वे लोग है जिनकी गिनती जमीदार-वर्ग में की जाती है। गालिवन इनमें से ९० फी सदी के ऊपर की हालत गरीब-से-गरीव काश्तकार की हालत से मिलती-जुलती है और दूसरे ९ फी सदी की हालत किसी कदर अच्छी है। वडे समझे जानेवाले जमीन-मालिक सारे सूवे में पाँच हजार से ज्यादा नही है और इसके कोई १/१० दरहकीकत बडे जमीदार और ताल्लुकेदार कहलाने लायक है। वाज-वाज वड़े काश्तकार की हालत तो छोटे गरीव जमीदारो से कही अच्छी है। गरीव जमीन-मालिक और मध्यम दर्जे के जमीदार बुद्धि मे पिछड़े हुए है। मगर है आम तौर पर वहुत अच्छे लोग—स्त्री व पुरुष दोनो। और यदि उनकी शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध अच्छा हो तो वे बढिया नागरिक वन सकते है। उन्होने राष्ट्रीय आन्दोलनो में खास हिस्सा लिया है। मगर ताल्लुकेदारो और बडे जमीदारों ने नही—हाँ, कुछ अच्छे अपवादो को छोडकर। और तो और पर उनमे कुलीन वर्ग की खूबियाँ भी नही पाई जाती। एक वर्ग की हैसियत से शरीर और बुद्धि दोनो मे वे गिर गये है। अव-तक तो उनका खात्मा ही होना चाहिए था। अव वे तभी तक जीवित रह सकेगे कि जवतक ब्रिटिश सरकार ऊपर से उनको सहारा लगाती रहेगी।

पूरे १९२१ भर मैं देहाती इलाको में आता-जाता रहा। लेकिन मेरा कार्य-क्षेत्र वढ़ता गया—यहाँतक कि सारे युक्त-प्रान्त में फैल गया। असहयोग सरगर्मी से शुरू हो गया था और उसका सन्देश दूर-दूर के गाँवो मे पहुँच चुका था। हर जिले मे काँग्रेस-कार्यकर्त्ताओ का एक झुण्ड इस नये सन्देश को लेकर देहात मे जाता, और उनके साथ वे किसानो की शिकायतें दूर करने की वात भी मोटे तौर पर जोड देते थे। स्वराज एक ऐसा व्यापक शब्द था जिसमें सव-कुछ आ जाता था, फिर भी ये दोनो आन्दोलन—असहयोग और किसान—विलकुल अलहदा-अलहदा थे; हालाँकि हमारे प्रान्त में ये दोनो वहुत कुछ एक-दूसरे में मिल-जुल जाते थे और एक-दूसरे पर असर डालते थे। काँग्रेस के इस प्रचार का यह फल हुआ कि मुकदमेवाजी एकवारगी कम हो गई और गाँवो मे पञ्चायतें कायम होकर उनमे मुकदमे फैसल होने लगे। काँग्रेस का असर शान्ति के हक मे खास तौर पर ज्यादा गिरा क्योंकि जहाँ भी कोई काँग्रेस-कार्यकर्त्ता जाता वहाँ इस नये अहिंसा के सिद्धान्त पर खास तौर पर जोर देता। हो सकता है कि लोगो ने न तो इसकी कद्र की हो, न इसे पूरा समझा ही हो; लेकिन इसने किसानो को मार-काट पर पड़ने से रोका जरूर है।

यह कोई कम वात न थी। किसान जव उभडते है तो मार-काट कर वैठते है और उनका उभाड़ किसानो की और मालिको की खासी लड़ाई ही वन जाती है। और

उन दिनो अवध के हिस्से के किसानो के जोश का पारा बहुत ऊँचा चढा हुआ था और वे सब-कुछ कर डालने पर आमादा थे। एक चिनगारी पड़ने की देर थी कि आग धधक उठती। फिर भी उन्होने गजब की शान्ति रक्खी। मुझे सिर्फ एक ही मिसाल याद आती है कि जिसमें एक ताल्लुकेदार पीटा गया। ताल्लुकेदार अपने घर मे बैठा था—उसके यार-दोस्त आसपास बैठे थे। एक किसान उसके पास गया और उसके गाल पर एक थप्पड़ जमा दिया। किसान का कहना था कि वह अपनी पत्नी के साथ अच्छा व्यवहार नही करता था और बदचलन था।

एक और किस्म का हिंसा-कार्य आगे जाकर हुआ, जिससे सरकार के साथ टक्करे हुईं। मगर ये टक्करे तो होकर ही रहती, क्योकि सरकार सगठित किसानो की बढती हुई ताकत को बर्दाश्त नही कर सकती थी। ढेर-के-ढेर किसान विना टिकट रेल में सफर करने लगे—खास तौर पर तब जब कि उन्हे अपनी बडी-बडी सभाओ में समय-समय पर जाना पडता था। कभी-कभी तो उनकी तादाद ६० से ७० हजार तक हो जाती। उन्हे हटाना मुश्किल था। और वे खुल्लमखुल्ला रेलवे की हुकूमत का मुकाबिला करने लगे, जैसा कि पहले कभी न देखा न सुना गया था। वे रेलवे कर्मचारियो से कहते कि–'साहब, अब पुराना जमाना चला गया।' किसके भडकाने से वे बिना टिकट झुण्ड-के-झुण्ड सफर करते थे, मैं नही जानता। हाँ, हमने उन्हे ऐसी कोई बात नही सुझाई थी। हमने तो अचानक सुना कि वे ऐसा कर रहे है। बाद को जाकर जब रेलवेवालो ने कडाई की तब यह सिलसिला बन्द हो गया।

१९२० की शरद् ऋतु मे (जब मै कलकत्ते मे काँग्रेस के विशेष अधिवेशन मे गया हुआ था) कुछ मामूली-सी बात पर कुछ किसान नेता गिरफ्तार कर लिये गये। खास परतावगढ मे उनका मुकदमा चलाया जानेवाला था। लेकिन मुकदमे के दिन किसानो की एक बडी भीड से अदालत का हाता भर गया और वहाँ से जेल तक के रास्ते भर एक लाइन बन गई, जहाँ कि नेता लोग रक्खे गये थे। मजिस्ट्रेट घबरा गया और उसने मुकदमा दूसरे दिन के लिए मुल्तवी कर दिया। लेकिन भीड बढती गई और उसने जेल को करीब-करीब घेर लिया। किसान लोग मुट्ठी-भर चने खाकर कुछ दिन बडे मजे से रह सकते है। आखिर को किसान नेता छोड दिये गये। शायद जेल मे उनका मुकदमा कर दिया गया था। मैं यह तो भूल गया कि यह घटना कैसे हुई, लेकिन किसानो ने उसे अपनी एक बड़ी विजय समझा और वे यह सोचने लगे कि महज अपनी भीड के बल पर ही हम अपना चाहा करा लिया करेगे। मगर सरकार के लिए यह स्थिति असह्य थी। और एक ऐसा ही मौका जल्दी पेश आया, लेकिन उसका अत दूसरी तरह हुआ।

१९२१ की जनवरी के शुरू की बात है। मैं नागपुर-कॉग्रेस से लौटा ही था कि मुझे रायबरेली से तार मिला, कि जल्दी आओ; क्योकि वहाँ उपद्रव की आशका थी। दूसरे दिन मैं गया। मुझे मालूम हुआ कि कुछ दिन पहले कुछ प्रमुख किसान पकडे गये थे और वही जेल मे रक्खे गये थे। किसानों को परताबगढ की सफलता और उस समय जो नीति उन्होने अखत्यार की थी वह याद थी ही। चुनाचे किसानो की एक बड़ी भीड रायबरेली जा पहुँची। मगर इस बार सरकार उन्हे ऐसा नही करने देना चाहती थी और इसलिए उसने जायद पुलिस और फौज का इतजाम कर रक्खा था कि उन्हे आगे न बढने दे। कस्बे के ठीक बाहर एक छोटी नदी के उस पार किसानो का मुख्य भाग रोक दिया गया। लेकिन फिर भी दूसरी तरफ से लोग लगातार चले आ रहे थे। स्टेशन पर आते ही मुझे इस स्थिति की खबर मिली और मैं फौरन नदी की तरफ गया, जहाँ फौज किसानो का सामना करने के लिए रक्खी गई थी। रास्ते में मुझे जिला-मजिस्ट्रेट का जल्दी मे लिखा एक पुर्जा मिला, कि मै वापस लौट जाऊँ। उसीकी पीठ पर मैंने जवाब लिखा और पूछा, कि किस कानून की किस दफा की रू से मुझे वापस जाने के लिए कहा गया है, और जबतक इसका जवाब नही मिलेगा तबतक मै अपना काम जारी रखना चाहता हूँ। जैसे ही मैं नदी तक पहुँचा कि दूसरे किनारे पर से गोलियो की आवाज़ सुनाई दी। मुझे पुल पर ही फौजवालो ने रोक लिया। मै वहाँ इन्तज़ार कर ही रहा था कि एका-एक कितने ही डरे और घबराये हुए किसानो ने मुझे आ घेरा, जोकि नदी के इस किनारे खेतो मे छिप रहे थे। तब मैंने वहाँ उसी जगह कोई दो हजार किसानो की सभा करके उनके डर को दूर और उत्तेजना को कम करने की कोशिश की। कुछ कदम आगे ही एक छोटे नाले के उस पार उनके भाइयो पर गोलियो का बरसना और चारो ओर फौज-ही-फौज दिखाई देना—यह उनके लिए एक असाधारण स्थिति थी। मगर फिर भी सभा बहुत सफलता के साथ हुई, जिससे किसानो का डर कुछ कम हो गया। तब जिला-मजिस्ट्रेट उस जगह से लौटे जहाँ से गोलियाँ चलाई जा रही थी और उनके अनुरोध पर मैं उनके साथ उनके घर गया। वहाँ उन्होने किसी-न-किसी बहाने कोई दो घण्टे तक मुझे रोक रक्खा—जाहिर है कि उनका इरादा मुझे किसानों से और शहर के अपने मित्रों से दूर रखने का था।

बाद को हमे पता चला कि गोली-काण्ड से बहुतेरे आदमी मारे गये। किसानो ने तितर-बितर होने से या पीछे हटने से इन्कार कर दिया था; मगर यो वे बिलकुल शान्त बने रहे थे। मुझे बिलकुल यकीन है कि अगर मैं, या हममे से कोई, जिन-पर वे भरोसा रखते थे, वहाँ होते और उन्होने उनसे कहा होता तो वे जरूर

वहाँ से हट गये होते। जिन लोगो का वे विश्वास नही करते थे उनका हुक्म मानने से उन्होने इन्कार कर दिया। किसीने तो दर-असल मजिस्ट्रेट को सुझाया भी था, कि मेरे आने तक कुछ ठहर जावे, किन्तु उन्होने नही सुना। जहाँ वह खुद नाकामयाब हो चुके थे, वहाँ भला वह किसी आन्दोलनकारी को क्योकर सफल होने दे सकते थे? विदेशी सरकारो का, जिनका कि दारोमदार अपने रौब पर होता है, यह तरीका नही हुआ करता।

रायबरेली जिले में उन्ही दिनो दो बार किसानो पर गोलियाँ चली, और उसके बाद तो हरेक प्रमुख किसान-कार्यकर्त्ता या पञ्चायत के मेम्बर के लिए मानो डर का राज्य ही फैल गया। सरकार ने उस आन्दोलन को कुचल डालने का पक्का इरादा कर लिया था। उन दिनो कांग्रेस की प्रेरणा से किसानो के अन्दर चरखा चलाने की प्रवृत्ति हो रही थी। इसलिए चरखा तो मानो राजद्रोह का प्रतीक हो गया था, और जिसके घर चरखा पाया जाता उसीकी आफत आ जाती। चरखे अक्सर जला भी दिये जाते थे। इस तरह सरकार ने सैकडो लोगो को गिरफ्तार करके तथा दूसरे तरीको से रायबरेली और परतावगढ जिले के देहाती इलाको के किसान और काग्रेस दोनो आन्दोलनो को कुचलने की कोशिश की। ज्यादातर मुख्य-मुख्य कार्यकर्त्ता दोनो आन्दोलनो मे एक ही थे।

कुछ दिन बाद, १९२१ मे, फैजाबाद जिले मे दूर-दूर तक दमन का मजा चखाया गया। वहाँ एक अनोखे ढग से झगडा खडा हुआ। कुछ देहात के किसानो ने जाकर एक ताल्लुकेदार का माल-असबाब लूट लिया। बाद को पता लगा कि उन लोगो को एक दूसरे जमीदार के नौकरो ने भडका दिया था, जिसका ताल्लुकेदार से कुछ झगडा था। उन गरीबो से सचमुच यह कहा गया था कि महात्मा गाधी चाहते है कि वे लूट ले, और उन्होने 'महात्मा गाधी की जय' बोलते हुए इस आदेश का पालन किया।

जब मैने यह सुना तो मै बहुत बिगडा और दुर्घटना के एक या दो ही दिन मे घटना स्थल पर जा पहुँचा, जो अकबरपुर (फैजाबाद जिला) के पास ही था। मैने उसी दिन एक सभा बुलाई और कुछ ही घण्टो मे ५-६ हजार लोग कई गाँवो से, कोई १०-१० मील की दूरी से, वहाँ इकट्ठे हो गये। मैने उन्हे बुरी तरह आड़े हाथो लिया, कि किस तरह उन्होने अपने-आपको तथा हमारे काम को धक्का पहुँचाया, और शर्मिन्दगी दिलाई और कहा कि जिन-जिनने लूट-पाट की है वे सबके सामने अपना गुनाह कबूल करे। (उन दिनो मै गाधीजी के सत्याग्रह की स्पिरिट से, जैसा-कुछ मै उसे समझता था, भरा हुआ था।) मैने उन लोगो से, जो लूट-मार मे शरीक थे, हाथ ऊँचा उठाने

के लिए कहा, और कहते ताज्जुब होता है कि बीसों पुलिस-अफसरों के सामने कोई दो दर्जन हाथ ऊपर उठ गये। इसके मानी थे यकीनन उनपर आफत आना।

जब उनमें से बहुतेरे लोगों से मैंने खानगी में बातचीत की और उन्होंने सीधे-सादे ढंग से सुनाया कि किस तरह उन्हें गुमराह किया गया था, तो मुझे उनकी हालत पर बड़ा दुःख हुआ और इस बात पर अफसोस होने लगा कि मैंने नाहक ही इन सीधे-भोले लोगों को लंबी-लंबी सजायें पाने की हालत में ला रक्खा। लेकिन जिन लोगों को सज़ा भुगतनी पड़ी वे दो या तीन दर्जन नहीं थे। सरकार के लिए इतना अच्छा मौका भला कहीं खोने जैसा था? उस ज़िले के किसान-आन्दोलन को कुचलने के लिए इस अवसर का पूरा-पूरा फायदा उठाया गया। एक हज़ार से ऊपर गिरफ्तारियाँ हुईं और ज़िला-जेल ठसाठस भर गई। कोई एक साल तक मुकदमे चलते रहे। कितने ही मुकदमे के दौरान में जेल ही में मर गये। दूसरे कितनों ही को लम्बी-लम्बी सजायें दी गईं और पिछले दिनों जब मैं जेल गया तो वहाँ उनमें से कुछ से मुलाकात हुई थी। क्या लड़के और क्या जवान, सब अपनी जवानी जेल में काट रहे थे!

हिन्दुस्तान के किसान में टिके रहने की शक्ति बहुत कम है। ज्यादा दिनों तक मुकाबिला करने की ताकत नहीं रहती। अकालों और बीमारियों के दौर में लाखों मर जाते हैं। ऐसी दशा में यह ताज्जुब की बात है कि एक साल भर तक उन्होंने सरकार और जमींदार दोनों के सम्मिलित दबाव का मुकाबिला करने की ताकत का परिचय दिया। लेकिन वे कुछ-कुछ थकने लग गये थे और सरकार उनके आन्दोलन पर दृढ़तापूर्वक हमले करती रहती थी, जिससे अन्त में उनकी हिम्मत उस समय के लिए तो टूट गई। फिर भी उनका आन्दोलन धीमी रफ्तार से चलता रहा—हाँ, पहले जैसे बड़े-बड़े प्रदर्शन नहीं होते थे, लेकिन अधिकांश गाँवों में पुराने कार्यकर्ता बच रहे थे जिनपर डर का कोई असर न हुआ था और जो छोटे रूप में काम करते रहे। यहाँ यह याद रखना चाहिए कि यह सब हुआ था कांग्रेस के १९२१ के जेल जाने के कार्य-क्रम बनने के पहले। किन्तु इसमें भी किसानों ने, पिछले साल के दमन के बावजूद, बहुत-कुछ हाथ बंटाया था।

सरकार किसान-आन्दोलन से डर गई थी और उसने किसानों-सम्बन्धी क़ानून को पास करने की जल्दी की। इसके द्वारा किसानों की हालत सुधरने की आशा हुई थी। किन्तु जब देखा कि आन्दोलन काबू में आ चुका है तो उसको नरम बना दिया गया। इसके द्वारा जो मुख्य परिवर्तन किया गया वह था अवध के किसानों को हीन-हयात जमीन पर अधिकार दे देना। यह दिखाई तो दिया था उनके लिए

लुभावना, लेकिन अन्त मे साबित यह हुआ कि उनकी हालत मे उससे कुछ भी सुधार नही हुआ।

अवध मे किसानो की हलचले जब-तब होती रहती थी, लेकिन छोटे पैमाने पर। मगर, १९२९ मे जो मदी सारे ससार मे आई उससे चीजो के भाव गिर गये और इसलिए फिर एक सकट-काल आ खड़ा हुआ।

१०

असहयोग

अवध के किसानो की उथल-पुथल का यहाँ कुछ व्यौरे के साथ मैने वर्णन किया है, क्योकि उसने भारत की समस्या पर से परदा उठाकर उसका मूल-स्वरूप मेरे सामने खडा कर दिया, जिसकी तरफ कि राष्ट्रीय विचार वालो ने शायद ही कुछ तवज्जो की हो। हिन्दुस्तान के जुदे-जुदे भागो मे किसानो की हलचले बार-बार होती रहती है, जो कि गहरी अशान्ति के लक्षण है। अवध के कुछ हिस्सो मे जो किसान-आन्दोलन १९२०-२१ मे हुआ वह उसी तरह का था—हालांकि वह अपने ढग का निराला था, जिससे कई रहस्य सामने आये। उसकी शुरुआत का सम्बन्ध किसी तरह न तो राजनीति से था, न राजनैतिक पुरुषो से, बल्कि शुरू से आखिर तक बाहरी और राजनैतिक लोगो का उसपर कम-से-कम असर था। सारे हिन्दुस्तान की दृष्टि से वह एक मुकामी मामला था, और इसलिए उसकी तरफ बहुत-कम ध्यान दिया गया था। यहाँ तक कि सयुक्त-प्रान्त के अखबारो ने भी उसकी तरफ बहुत-कुछ लापरवाही ही दिखाई। उनके सम्पादको और उनके अधिकाश शहराती पाठको के लिए अध-नगे किसानो की जमात के उन कामो मे कोई असली राजनैतिक या दूसरे प्रकार की खूबी न थी।

पजाब और खिलाफत-सम्बन्धी अन्यायो की रोज चर्चा होती थी और असहयोग, जिसके बल पर उन अन्यायो को दूर करने की कोशिश की जानेवाली थी, लोगो की जबान पर एक ही विषय था। सब लोगो का ध्यान उसी मे लगा हुआ था। अलबत्ते शुरू मे राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के बड़े प्रश्न, यानी स्वराज, पर ज्यादा जोर नही दिया जाता था। गाधीजी गोल-मोल और बडे-बडे उद्देशो को पसन्द नही करते है—वह हमेशा किसी खास और निश्चित बात पर सारी ताकत लगाना ज्यादा पसन्द करते है। फिर भी स्वराज की बाते वायु-मण्डल में और लोगो के दिमागो मे बहुत-कुछ घूमती रहती थी, और जगह-जगह जो सभा-सम्मेलन होते थे उनमे बार-बार उनका जिक्र आया करता था।

१९२० के सितम्बर मे कलकत्ता मे काग्रेस का विशेष अधिवेशन हुआ—पजाब और खिलाफत के और खासकर असहयोग के प्रश्न पर अपना निर्णय देने के लिए। लाला लाजपतराय उसके सभापति थे, जो लम्बे अरसे तक देश से बाहर रहने के बाद हाल ही अमेरिका से लौटे थे। उन्हे असहयोग की यह नई योजना नापसन्द

थी और उन्होने उसका विरोध किया था। हिन्दुस्तान की राजनीति मे वह आम तौर पर गरम-दल के माने जाते थे, लेकिन उनकी साधारण जीवन-दृष्टि निश्चित रूप से वैध और माडरेट थी। सदी के शुरू के उन दिनो परिस्थिति ने—न कि हार्दिक विश्वास या इच्छाने—उन्हे लोकमान्य तिलक तथा दूसरे गरम-दलवालो का साथी बना दिया था। लेकिन उनका दृष्टि-कोण निश्चय ही सामाजिक तथा आर्थिक था, जो कि उनके अरसे तक विदेशो मे रहने से और भी मजबूत हो गया था, और उसके कारण उनकी दृष्टि अधिकाश हिन्दुस्तानी नेताओ की बनिस्बत ज्यादा व्यापक थी।

विल्फ्रेड स्केवन ब्लण्ट ने अपनी 'डायरियो' मे गोखले और लालाजी के साथ हुई मुलाकातो (१९०९ से लगभग) का हाल लिखा है। दोनो के बारे मे उसने बहुत सख्त लिखा है, क्योकि उसकी राय मे वे बहुत फूक-फूक कर चलते थे और वास्तविकता का सामना करते हुए डरते थे। लेकिन फिर भी लालाजी दूसरे बहुत-से हिन्दुस्तानी नेताओ से कही ज्यादा उनका मुकाबिला करते थे। ब्लण्ट पर जो छाप पडी उससे तो हम यह समझ सकते है कि उस समय हमारी राजनीति की और हमारे नेताओ की नाडी कितनी धीमी चलती थी और उनका असर एक सुयोग्य और अनुभवी विदेशी सज्जन पर क्या पडा। लेकिन पिछले २० वर्षों मे उनकी नब्ज की चाल मे बडा फर्क पड गया है।

इस विरोध मे लाला लाजपतराय अकेले न थे। उनके साथ बडे-बडे और प्रभाव-शाली लोग भी थे। काँग्रेस के करीब-करीब सभी पुराने महारथियो ने गाधीजी के असहयोग-प्रस्ताव का विरोध किया था। देशबन्धु दास उस विरोध के अगुआ थे—इसलिए नही कि वह उसकी स्पिरिट को नापसन्द करते थे—क्योकि वह उस हद तक बल्कि उससे भी आगे जाने को तैयार थे—बल्कि खासकर इसलिए कि नई कौंसिलो के बहिष्कार पर उन्हे ऐतराज था।

पुरानी पीढी के बडे-बडे नेताओ मे एक मेरे पिताजी ही ऐसे थे जिन्होने उस समय गाधीजी का साथ दिया उनके लिए ऐसा करना हँसी-खेल न था। उनके पुराने साथियो ने जो-जो ऐतराज किये थे उनमे से बहुतेरो को वे ठीक समझते थे और उनका उनपर बहुत असर भी हुआ था। उनकी तरह वह भी एक अज्ञात दिशा मे एक अजीब नये तरीके से आगे बढने मे हिचकिचाते थे, जहाँ जाकर किसीके लिए अपने पुराने तौर-तरीके कायम रखना मुश्किल ही था। फिर भी उनके दिल मे एक अनिवार्य कोशिश थी कोई कारगर उपाय करने की ओर—और असहयोग के प्रस्ताव मे ऐसे निश्चित उपाय की योजना थी, अलबत्ते वह ठीक उसी तरह की न थी जैसी कि

पिताजी चाहते थे। पक्का इरादा करने मे उन्हे बहुत वक्त लगा था। बडी देर-देर तक उन्होने गाधीजी और देशबन्धु से बाते की थी। उन्ही दिनो सयोग से वह और दास बाबू दोनो बहुत-कुछ एकसाथ पड गये थे, क्योकि एक बडे मुफस्सिल मुकदमे मे वे दोनो एक-दूसरे के खिलाफ पैरवी के लिए खडे हुए थे। वे दोनो इस मसले को बहुत-कुछ एक-सा नुक्ते-निगाह से देखते थे और उसके अन्त के बारे मे भी उनका बहुत कम मतभेद था। फिर भी, वह थोडा-सा ही मतभेद काफी था उनसे विशेष काँग्रेस के मुख्य प्रस्ताव का परस्पर-विरोधी पक्ष लिवाने के लिए। तीन महीने बाद वे फिर नागपुर-काँग्रेस मे मिले, और तबसे आगे चलकर दोनो एकसाथ चलते रहे और एक-दूसरे के अधिक नजदीक आते चले गये।

उन दिनो, कलकत्ता की विशेष काँग्रेस के पहले, मै उनको बहुत कम समझ पाया था। परन्तु जब कभी मै उनसे मिलता मैने देखा कि वह बराबर इस समस्या का मुकाबिला करने मे लगे रहते थे। इस सवाल के राष्ट्रीय स्वरूप के अलावा इसका जाती पहलू भी था। असहयोग के मानी होते थे उनका वकालत छोड देना, जिसके मानी होते थे उनका अपने पुराने जीवन से बिलकुल नाता तोड लेना और एक बिलकुल नये जीवन मे अपनेको ढालना—यह कोई आसान बात नही थी, खासकर उस समय जब कि कोई अपनी ६० वी वर्षगाँठ मनाने की तैयारी कर रहा हो। पुराने राजनैतिक साथियो से, अपने पेशे से, उस सामाजिक जीवन से जिसके वह अब तक आदी थे, सबसे ताल्लुक तोडना था और कितनी ही खर्चीली आदतो को छोड़ देना था, जो अबतक पडी हुई थी। फिर रुपये और खर्च-वर्च का सवाल भी कम महत्व का न था, और यह जाहिर था कि अगर वकालत की आमदनी चली गई तो उन्हे अपने रहन-सहन का स्टैंडर्ड बहुत कम करना होगा।

लेकिन उनकी बुद्धि, उनका जबरदस्त स्वाभिमान, और उनका गर्व—ये सब मिलाकर उन्हे एक-एक कदम नये आन्दोलन की तरफ ही बढाते गये यहाँतक कि अन्त में वह सोलहो आना उसमे कूद पड़े। उन कई घटनाओ से, जिनका अन्त पञ्जाब-काण्ड मे हुआ, और उसके बाद जो-कुछ हुआ उससे उनके दिल मे जो गुस्सा भरता जा रहा था उसको, जो अन्याय और अत्याचार वहाँ हुए थे उनकी याद को, और जो राष्ट्रीय अपमान हुआ उसकी कटुता को, बाहर निकलने का कोई मार्ग चाहिए था। लेकिन वह महज उत्साह की लहर मे बह जानेवाले न थे। उन्होने आखिरी फैसला तभी किया और गाधीजी के आन्दोलन मे तभी कूदे जब उनके दिमाग ने, और एक मँजे हुए वकील के दिमाग ने, सारा आगा-पीछा अच्छी तरह सोच लिया।

गाधीजी के मानवी गुणो को देखकर वह उनकी तरफ खिचे थे और इसमे कोई

शक नही कि इस बात ने भी उनपर असर डाला था। जिस शख्स को वह नापसन्द करते थे उससे उनका साथ कोई भी ताकत नही करा सकती थी, क्योंकि उनकी रुचि और अरुचि दोनो बडी तेज होती थी। लेकिन यह मिलाप था अनोखा—एक तो साधु, वैरागी, धर्मात्मा, जीवन मे प्राप्त होनेवाले आनन्द-विलास और शारीरिक सुखो को लात मारनेवाला, और दूसरा कुछ भोग-प्रिय, जिसने जीवन के कितने ही आनन्दो का स्वागत और उपभोग किया और इस बात की बहुत कम परवा की कि आगे क्या होगा! मनोविश्लेषण-शास्त्र की भाषा मे कहे तो यह एक अन्तर्मुख का एक बहिर्मुख के साथ मिलाप था। फिर भी उन दोनो के बीच एक प्रेम-बन्धन और एक हित-सम्बन्ध था, जिसने दोनो को एक-दूसरे की तरफ खीचा और बाध रक्खा—यहाँतक कि जब आगे चलकर दोनो की राजनीति मे अन्तर पड गया तब भी दोनो मे गाढी मित्रता रही।

वाल्टर पेटर ने अपनी एक किताब मे बताया है कि कैसे एक साधु और एक दुनियादार, एक धार्मिक प्रकृति का और दूसरा उसके विरुद्ध स्वभाव का, एक-दूसरे के विरोधी स्थानो से शुरू करके, जुदे-जुदे रास्तो मे सफर करते हुए, पर फिर भी दोनो ऐसी जीवन-दृष्टि रखते हुए जो अपने उत्साह और सरगर्मियो में औरो से उच्च और उदार रहती है, अक्सर एक-दूसरे को ज्यादा अच्छी तरह समझते और पहचानते है—बनिस्बत इसके कि उनमे से हरेक दुनिया के किसी साधारण मनुष्य को समझें और पहचाने—और कभी-कभी तो वे दरअसल एक-दूसरे के हृदय को स्पर्श भी करते है।

कलकत्ता के विशेष अधिवेशन ने कॉंग्रेस की राजनीति मे गांधी-युग को शुरू किया, जो तबसे अबतक कायम है—हा, बीच मे एक छोटा-सा जमाना (१९२२ से १९२९ तक) जरूर ऐसा गया जिसमे उन्होंने अपने-आपको पीछे रख लिया था और स्वराज-पार्टी को, जिसके नेता देशबन्धु दास और मेरे पिताजी थे, अपना काम करने दिया था। तबसे कॉंग्रेस की सारी दृष्टि ही बदल गई, विलायती कपडे चले गये और देखते-देखते सिर्फ खादी-ही-खादी दिखाई देने लगी; कॉंग्रेस मे नये किस्म के लोग—प्रतिनिधि—दिखाई देने लगे, जो खास करके मध्यम-वर्ग की निचली श्रेणी के थे। हिन्दुस्तानी और कभी-कभी तो उस प्रान्त की भाषा जहाँ अधिवेशन होता था अधिकाधिक बोली जाने लगी, क्योकि कितने ही डेलीगेट अँग्रेजी नही जानते थे। राष्ट्रीय कामो मे विदेशी भाषा का व्यवहार करने के खिलाफ भी लोगो के भाव तेजी से बढ रहे थे, और कांग्रेस की सभाओ मे साफ तौर पर एक नई जिन्दगी, नया जोश, और एक सरगर्मी दिखाई देती थी।

अधिवेशन खतम होने के बाद गाँधीजी 'अमृत बाजार पत्रिका' के महारथी सम्पादक श्री मोतीलाल घोष से मिलने गये, जोकि मृत्युशय्या पर पडे हुए थे। मैं उनके साथ गया था। मोती बाबू ने गाधीजी के आन्दोलन को आशीर्वाद दिया और साथ मे कहा—"मै, तो अब दूसरी दुनिया मे जा रहा हूँ। मै, और तो क्या कहू, कही भी जाऊँ, मुझे एक बात का बहुत सन्तोष है कि वहाँ ब्रिटिश साम्राज्य न होगा—अब मैं इस साम्राज्य की पहुच के परे हो जाऊँगा।"

कलकत्ता से लौटते समय मैं गाधीजी के साथ रवीन्द्रनाथ ठाकुर और उनके निहायत प्यारे बड़े भाई 'बडो दादा' से मिलने शान्ति-निकेतन गया। वहाँ हम कुछ दिन रहे। मुझे याद है कि सी० एफ० एण्डरूज ने कुछ किताबे मुझे वहाँ दी थी, जो मुझे दिलचस्प मालूम हुई थी और जिनका मुझपर बहुत असर भी पडा था। उनका विषय था आफ्रिका मे साम्राज्यवाद के आर्थिक स्वरूप। इनमे से मॉरेल की लिखी एक किताब—ब्लैक मेन्स बर्डन—ने मेरे दिल को बहुत हिला दिया था।

इन्ही दिनो या इसके कुछ दिन बाद, एण्डरूज साहब ने एक पुस्तका लिखी, जिसमें हिन्दुस्तान के लिए स्वाधीनता की पैरवी की गई थी। मैं समझता हूँ कि उसका नाम था 'इडिपेडेन्स—दि इमीजिएट नीड'। यह एक बहुत ऊँचे दरजे का मजमून था, जो कि सिली के हिन्दुस्तान-विषयक कुछ लेखो और पुस्तको के आधार पर लिखा गया था। और मुझे ऐसा लगा कि स्वाधीनता का प्रतिपादन इतनी अच्छी तरह किया गया है कि उसका कोई जवाब नही हो सकता—यही नही, बल्कि मुझे वह हमारे हार्दिक भावो का चित्र खीचती हुई मालूम हुई। उसकी भाषा बडी सीधी-सादी और सरगर्मी लिये हुई थी। मानो हमारे दिल को हिला देनेवाली गहरी प्रेरणाये और अधखिली अभिलाषाये साफ तौर पर मूर्त बनती हुई दिखाई दी। न तो वह आर्थिक आधार पर लिखी गई थी और न उसमे समाजवाद ही था; उसमे शुद्ध राष्ट्रीयता, हिन्दुस्तान की जिल्लत के प्रति मन मे सहानुभूति और इससे छुटकारा पाने की और हमारे इस बरसो के अध.पतन का खात्मा कर देनें की जबरदस्त ख्वाहिश थी। यह कितनी विचित्र बात है कि एक विदेशी, और सो भी वह जो हमपर हुकूमत करनेवाली जाति का है, हमारे अन्तस्तल की पुकार को इस तरह प्रतिध्वनित करे! असहयोग तो, जैसा कि सिली ने बहुत पहले कह दिया है, "यह भावना है कि हमारे लिए विदेशियो को अपनी हुकूमत हमपर जमाये रखने मे सहायता पहुँचाना शर्मनाक है।" और एण्डरूज ने लिखा है—"आत्मोद्धार का एक ही मार्ग है, कि अपने अन्दर से कोई जबरदस्त हलचल—उभाड़—पैदा हो। ऐसे उभाड के लिए जिस बारूद की जरूरत है वह खुद हिन्दुस्तान की रूह मे ही पैदा होनी चाहिए। वह बाहर से किसीके देने, मागने, मिलने, ऐलान

करने और रिआयतें देने से नही आ सकती। वह अपने अन्दर से ही आनी चाहिए।' '' '''इसलिए जब मैंने देखा कि ऐसे ही आन्तरिक शक्ति, वह बारूद, दरअसल भक् से धडाका कर चुकी है—जब महात्मा गाधी ने भारत के हृदय मे मन्त्र फूंका—'आजाद हो जाओ, गुलाम मत बने रहो' और हिन्दुस्तान की हृतन्त्री उसी स्वर मे झनझना उठी—तो मेरे मन और आत्मा को उस असह्य बोझ से छुटकारा पाने की निहायत खुशी हुई। एक आकस्मिक हलचल के साथ उसकी बेडियाँ ढीली होने लगी और आजादी का रास्ता खुल गया।"

अगले तीन मास मे सारे देश भर मे असहयोग की लहर बढती चली गई। नई कौन्सिलो का बहिष्कार करने की जो अपील की गई थी उसमे आश्चर्यजनक सफलता मिली। यह बात नही कि सभी लोग वहाँ जाने से रुक गये, या रुक सकते थे, और इस तरह तमाम सीटे खाली रक्खी जा सकती थी। बल्कि मुट्ठीभर वोटर भी चुनाव कर सकते थे और अविरोध चुनाव भी हो सकता था। लेकिन, हाँ यह सच है कि अधिकाश वोटर—मतदाता—वोट देने नही गये, और वे सब उम्मीदवार जिन्हे देश की पुकार का खयाल था, कौन्सिलो के लिए खडे नही हुए। चुनाव के दिन सर वेलेन्टाइन शिरोल दैवयोग से इलाहाबाद मे थे और खुद चुनाव के मुकामो पर देखने गये थे। वह बायकाट की पूर्णता को देखकर दग रह गये। एक देहाती चुनाव-स्टेशन पर, जो कि इलाहाबाद शहर से १५ मील दूर था, उन्होने देखा कि एक भी वोटर वोट देने नही गया था। हिन्दुस्तान पर लिखी अपनी एक पुस्तक में उन्होने अपने इस अनुभव का जिक्र किया है।

यद्यपि देशबन्धु दास तथा दूसरे लोगो ने कलकत्ता-अधिवेशन मे बहिष्कार की उपयोगिता पर सन्देह प्रकट किया था, तो भी आखिर को उन्होने काग्रेस के फैसले को माना। चुनाव हो जाने के बाद मतभेद भी दूर हो गया और नागपुर-काग्रेस (१९२०) मे फिर बहुत से पुराने काग्रेसी नेता असहयोग के मञ्च पर आकर मिल गये। उस आन्दोलन की कामयाबी ने बहुतेरे डाँवाडोल और सन्देह रखनेवालो को कायल कर दिया था।

फिर भी, कलकत्ता के बाद, कुछ पुराने नेता काग्रेस से पीछे हट गये, जिनमे एक मशहूर और लोकप्रिय नेता थे श्री जिन्ना। सरोजिनी नायडू ने उन्हे 'हिन्दू-मुस्लिम एकता का राज-दूत' कहा था और पिछले दिनो मे उन्हीकी बदौलत मुस्लिम-लीग का काँग्रेस के नजदीक आना बहुत कुछ मुमकिन हुआ था, मगर काँग्रेस ने बाद मे जो रूप धारण किया—असहयोग को तथा अपने नये विधान को अपनाया, जिससे वह ज्यादातर जनता का सगठन बन गई, वह उन्हे कतई नापसन्द था। उनके मतभेद का

कारण यो तो राजनैतिक बताया गया था, परन्तु वह मुख्यत. राजनैतिक न था। उस समय की कॉग्रेस मे ऐसे बहुत-से लोग थे जो राजनैतिक विचारो मे जिन्ना साहब से पीछे ही थे। पर बात यह है कि कॉंग्रेस के इस नये रग-रूप से उनका स्वभाव मेल नही खाता था। उस खादीधारी भम्भड मे जो हिन्दुस्तानी मे व्याख्यान देने का मतालबा करती थी, वह अपने को बिलकुल बे-मेल पाते थे। बाहर लोगो मे जो जोश था वह उन्हे पागलो की उछल-कूद-सा मालूम होता था। उनमे और भारतीय जनता मे उतना ही फर्क था जितना कि सेवाइल रो और बॉण्ड स्ट्रीट मे और झोपड़ोवाले हिन्दुस्तानी गाँवो में है। एक बार उन्होने खानगी में सुझाया था कि सिर्फ मैट्रिक पास ही काग्रेस मे लिये जावे। मै नही कह सकता कि उन्होने दरअसल सजीदगी के साथ ही यह बढिया बात सुझाई थी। परन्तु यह सच है कि उनके साधारण दृष्टिकोण के वह मुआफिक ही थी। इस तरह वह काग्रेस से दूर चले गये और हिन्दुस्तान की राजनीति में अकेले-से पड़ गये। दु ख की बात है कि आगे जाकर एकता का यह पुराना एलची उन प्रतिगामी लोगो मे मिल गया जो मुसलमानो में बहुत ही सम्प्रदाय-वादी थे।

माडरेटो या यो कहे कि लिबरलो का तो काग्रेस से कोई ताल्लुक ही न रहा था। वे उससे सिर्फ दूर ही नही हट गये, बल्कि सरकार मे घुल-मिल गये, नई योजना के अन्दर मिनिस्टर और बडे-बडे अफसर बने और असहयोग तथा काग्रेस का मुकाबिला करने मे सरकार की मदद की। वे जो-कुछ चाहते थे,करीब-करीब सब उन्हे मिल गया था—यानी कुछ सुधार दे दिये गये थे, और इसलिए अब उन्हे किसी आन्दोलन की जरूरत न थी। सो, एक ओर देश जहाँ जोश-खरोश से उबल रहा था, और अधिकाधिक क्रान्तिकारी बनता जा रहा था, तहाँ वे खुले आम क्रान्ति-विरोधी, खुद सरकार के एक अग बन गये। वे लोगो से कटकर बिलकुल अलग जा पडे और तब से हर मसले को हाकिमो के दृष्टि-बिन्दु से देखने की उनकी आदत पड गई, जो अबतक कायम है। सच्चे अर्थ मे उनकी अब कोई पार्टी नही रह गई है—सिर्फ चन्द लोग रह गये है, सो भी कुछ बड़े शहरो मे। श्री श्रीनिवास शास्त्री शाही राजदूत और ब्रिटिश सरकार की प्रेरणा से भिन्न-भिन्न ब्रिटिश उपनिवेशो मे तथा सयुक्त राज्य अमेरिका मे घूमे और जहाँ-जहाँ गये उन्होने काग्रेस को और खुद अपने ही देश-वासियो को उस सरकार से लडाई लड़ते रहने के लिए बुरा-भला कहा।

फिर भी यह न समझिए कि लिबरल लोग सुखी थे। खुद अपने ही लोगो से कटकर अलहदा पड जाना, जहाँ दुश्मनी नही दिखाई या सुनाई देती हो वहाँ भी दुश्मनी समझना कोई आनन्दायी अनुभव नही कहा जा सकता। जब सारी जनता उमड

उठती है तो वह अपनेसे अलहदा रहनेवालो के प्रति मेहरबान नही रह सकती। हालाकि गाधीजी की वार-वार की चेतावनियो ने असहयोग को मुखालिफो के लिए उससे कही अधिक मृदुल और सौम्य वना दिया था जितना कि दूसरी हालत मे वह हो सकता था,। लेकिन फिर भी महज उस वायुमण्डल ने ही उनका दम वन्द कर दिया था जो उसका विरोध करते थे, जिस तरह कि वह उन लोगो को वल और स्फूर्ति देता था और उनमें जीवन तथा कार्य-शक्ति का सञ्चार करता था जो कि उसके हामी थे। जनता के उभाड़ और सच्चे क्रान्तिकारी आन्दोलनो के हमेशा ऐसे दोहरे असर होते हैं, वे उन लोगो को जो जनता मे से होते है या जो उनकी तरफ हो जाते है, उत्साहित करते है और उनको आगे लाते है, और साथ ही उन लोगो के विचारो को दबाते है और उनको पीछे हटा देते है जो उनसे मतभेद रखते है।

यही कारण है जो कुछ लोगो की यह शिकायत थी कि असहयोग में तो सहन-शीलता का अभाव है और उससे अन्धे की तरह एक-सी राय देने और एक-से काम करने की प्रवृत्ति पैदा होती है। इस शिकायत में सचाई तो थी, लेकिन वह थी इस बात मे कि असहयोग जनता का एक आन्दोलन था और उसका अगुआ था ऐसा दबग शख्स जिसे हिन्दुस्तान के करोडो लोग भक्ति-भाव से देखते थे। मगर इससे भी गहरी सच्चाई तो थी जनता पर हुए उसके असर में। ऐसा अनुभव होता था मानों किसी कैद से या बोझ से वह छुटकारा पा गई हो और आजादी का एक नया भाव आ गया हो! जिस भय से वह अवतक दवी और कुचली जा रही थी वह पीछे हट गया था और उसकी कमर सीधी और सिर ऊँचा हो गया था। यहाँतक कि दूर-दूर के वाजारो मे भी राह चलते लोग कॉंग्रेस और स्वराज (क्योकि नागपुर-कॉंग्रेस ने स्वराज को अपना ध्येय वना लिया था) की, पंजाव की घटनाओ की, तथा खिलाफत की बाते करते थे। लेकिन 'खिलाफत' शब्द के अजीव मानी देहात के लोग समझते थे। लोग समझते थे कि यह 'खिलाफ' से बना है और इसलिए वे इसके मानी करते थे 'सरकार के खिलाफ'! हा, वे अपने खास-खास आर्थिक कष्टो पर भी बातचीत करते थे। वेशुमार सभायें और सम्मेलन होते और उनसे उनमे वहुत-कुछ राजनैतिक शिक्षा फैली।

हममे से वहुत लोग जो कॉंग्रेस-कार्यक्रम को पूरा करने मे लगे हुए थे, १९२१ में मानो एक किस्म के नशे मे मतवाले हो रहे थे। हमारे जोश, आशावाद और उछलते हुए उत्साह का ठिकाना न था। हमे वैसा आनन्द और सुख का स्वाद आता था जैसा किसी शुभ काम के लिए धर्म-युद्ध करनेवाले को होता है। हमारे मन में न शकाओ के लिए जगह थी, न हिचक के लिए; हमे अपना रास्ता अपने

सामने बिलकुल साफ दिखाई देता था, और हम आगे बढते चले जाते थे, दूसरो के उत्साह से उत्साहित होते तथा दूसरो को और आगे धक्का देते थे। हमने जी जान लगाकर काम करने मे कोई बात उठा न रक्खी, इतनी बडी मेहनत हमने कभी न की थी, क्योकि हम जानते थे कि सरकार से मुकाबिला शीघ्र ही होनेवाला है, और इससे पहले कि सरकार हमे उठाकर अलग कर दे, हम ज्यादा-से-ज्यादा काम कर डालना चाहते थे।

इन सब बातो से बढकर हमारे अन्दर आजादी का और आजादी के गर्व का भाव आ गया था। यह पुराना भाव कि हम पीडित है और हमारा कोई काम पूरा नही पड सकता, बिलकुल चला गया था। अब न तो काना-फूँसी होती थी और न गोल-मोल कानूनी भाषा इस्तैमाल की जात थी, कि जिससे अधिकारियो के साथ झगडा मोल लेने से अपनेको बचाया जा सके। हम वही कहते थे जो हम मानते थे और महसूस करते थे, और उसे खुल्लमखुल्ला डके की चोट कहते थे। हमे उसके नतीजे की क्या परवा थी? क्या जेल? उसकी तो हम राह ही देख रहे थे। उससे तो हमारे उद्देश-सिद्धि मे मदद ही पहुँचनेवाली थी। बेशुमार भेदिया और खुफिया पुलिस के लोग जो हमे घेरे रहते थे और हम जहाँ जाते वहाँ साथ रहते थे, उनकी हालत दयाजनक हो गई थी। क्योकि हमारे पास उनके पता लगाने के लिए कोई छिपी बात ही न थी। हमारी सारी बाजी खुली थी।

हमको इस बात का ही सिर्फ सन्तोष न था कि हम एक कारगर राजनैतिक काम कर रहे है, जिससे हमारी आँखो के सामने भारत की तसवीर बदलती जा रही है, और जो जैसा कि हमारा विश्वास था, हिन्दुस्तान की आजादी बहुत नजदीक ला रहा है, बल्कि हमारे अन्दर एक नैतिक उच्चता का भाव भी पैदा हो गया था, कि हमारे साध्य और साधन दोनो हमारे मुखालिफो के मुकाबिले मे अच्छे और ऊँचे है। हमे अपने नेता पर और उसके बताये लासानी तरीके पर फख्र था। और कभी-कभी हम अपनेको सत्पुरुष मानने का दावा करने लगते थे। लडाई के जारी होते हुए भी और हमारे खुद उसमे लिप्त होते हुए और उसे बढावा देते हुए भी एक आन्तरिक शान्ति का अनुभव होता था।

ज्यो-ज्यो हमारा नैतिक तेज, हमारा सत्व, बढता गया, त्यो-त्यो सरकार का घटता गया। उसकी समझ मे नही आता कि यह हो क्या रहा है। ऐसा जान पडता था कि हिन्दुस्तान मे उनकी परिचित पुरानी दुनिया एकाएक ढहे जा रही है। दूर-दूर तक एक नई आक्रामक स्पिरिट और आत्मावलम्बन और निर्भयता के भाव फैल रहे है और भारत मे ब्रिटिश हुकूमत का बहुत बडा सहारा—रौब—सरेदस्त

गिरता जा रहा है। थोड़ा-थोड़ा दमन करने से आन्दोलन उलटा बढ़ता जाता था और सरकार बहुत देर तक बड़े-बड़े नेताओ पर हाथ डालने से हिचकती ही रही। वह नही जानती थी कि इसका नतीजा आखिर क्या होगा। हिन्दुस्तानी फौज पर भरोसा रक्खा जा सकता है या नही ? पुलिस हमारे हुक्मो पर अमल करेगी या नही ? दिसम्बर १९२१ मे लार्ड रीडिंग ने तो कही दिया था कि हम 'हैरान और परेशान हो रहे है।'

१९२१ की गर्मियो मे युक्तप्रान्त की सरकार की ओर से जिला-अफसरो के नाम एक मजेदार गुप्त गश्ती-चिट्ठी भेजी गई थी। वह बाद को एक अखबार मे भी छप गई थी। उसमे दु ख के साथ यह कहा गया था कि इस आन्दोलन मे प्रारम्भिक सूत्र हमेशा दुश्मन यानी कॉंग्रेस के हाथो मे है, और इसे कमबख्ती ही समझना चाहिए। और प्रारम्भिक सूत्र सरकार के हाथो मे आ जाय, इसके लिए उसमे तरह-तरह के उपाय बताये गये थे, जिनमें एक था निकम्मी 'अमन सभाओ' को कायम करना। यह माना जाता था कि असहयोग से लडने का यह तरीका लिबरल मिनिस्टरो का सुझाया हुआ था।

कितने ही ब्रिटिश अफसरो के होश-हवास गुम होने लगे थे। दिमागी परेशानी कम न थी। दिन-दिन प्रबल होनेवाला विरोध और हुकूमत का मुकाबिला करने की स्पिरिट हाकिमो के सिर पर घने मानसूनी बादलो की तरह मँडरा रहे थे, परन्तु फिर भी चूकि उसके साधन शान्तिमय थे, उन्हे उसका मुकाबिला करने, उसपर हावी होने या जोर के साथ धर दबाने का कोई मौका नही मिलता था। औसत दर्जे के अग्रेज इस बात को नही मानते थे, कि हम कॉंग्रेसी सच्चे दिल से अहिसा चाहते है। वे समझते थे कि यह सब धोखा-धडी है—किसी गहरी छिपी साजिश को छिपाने का बहाना-मात्र है, जो किसी-न-किसी दिन एक हिंसात्मक उत्पात के रूप में फूट पडनेवाली है। अंग्रेजो को बचपन से ही यह सिखाया जाता है कि पूर्व एक रहस्यमय देश है, और वहाँ के बाजारो और तग गलियो मे दिन-रात छिपी साजिशे होती रहती है। इसलिए वे इन रहस्यमय समझे जानेवाले देशो के मामलो को सीधा नही देख सकते। वे एक पूर्वी पुरुष को जो स्पष्ट और रहस्य से खाली है, समझने की कभी कोशिश ही नही करते। वे उससे एक दूरी पर ही रहते हे, उसके बारे मे जो कुछ खयाल बनाते है वे भेदियो और खुफिया पुलिस के द्वारा पेटभर के मिली खबरो के आधार पर, और फिर उसके सम्बन्ध मे अपनी कल्पना की उडान को खुला छोड देते है। अप्रैल १९१९ के शुरू मे पजाब मे ऐसा ही हुआ। अधिकारियो मे और आम तौर पर अग्रेज लोगो में एकाएक दहशत फैल गई। उन्हे हर जगह खतरा-ही-खतरा, एक बगावत, एक दूसरा गदर जिसमे भयानक मारकाट

होगी, दिखाई देने लगा और हर सूरत से आँखे मुदकर आत्म-रक्षा की सहज वृत्ति ने उनसे वे-वे भयकर काण्ड करा डाले जिनके अमृतसर का जालियावाला बाग और रेगनेवाली गली ये प्रतीक और दूसरे नाम हो गये।

१९२१ का साल बड़ी तनातनी का साल था, और उसमे बहुत-सी ऐसी बाते हुईं जिनसे हाकिमो को चिढ़ने, बिगडने और घबराने या डर जाने की गुजाइश थी। जो कुछ दर-असल हो रहा था वह तो बुरा था ही, परन्तु जो-कुछ खयाल कर लिया गया वह उससे भी बुरा था। मुझे एक घटना याद है, जिससे इस कल्पना की घुडदौड का नमूना मिल जायगा। मेरी बहन सरूप की शादी इलाहाबाद में १० मई १९२१ को होनेवाली थी। देशी तिथि के हिसाब से पचाग मे शुभ-दिन देखकर यह तारीख़ मुकर्रर की गई थी, गाधीजी तथा दूसरे कॉंग्रेसियो को, जिनमें अली बन्धु भी थे, निमंत्रण दिया गया था, और उनकी सुविधा का खयाल करके उसी समय के आस-पास कार्य-समिति की बैठक भी इलाहाबाद मे रख ली गई थी। स्थानीय काग्रेसी चाहते थे कि बाहर से आये हुए नामी-गिरामी नेताओ की मौजूदगी से फायदा उठाया जाय और इसलिए उन्होने बडे पैमाने पर एक ज़िला-कान्फरेन्स का आयोजन किया। उन्हे उम्मीद थी कि आस-पास के देहात से किसान लोग बहुत बडी तादाद में आ जायँगे।

इन राजनैतिक सभाओ की बदौलत इलाहाबाद में खूब चहल-पहल और जोश छाया हुआ था। इससे लोगो के दिलो में अजीब घबडाहट छा गई। एक रोज़ एक बैरिस्टर-दोस्त से मैने सुना कि इस आयोजन से कितने ही अग्रेज़ो के होश ठिकाने न रहे और उन्हे डर हो गया कि शहर में एकाएक कोई बवडर खड़ा हो जानेवाला है। हिन्दुस्तानी नौकरो पर से उनका विश्वास हट गया और वे अपनी जेब में पिस्तौल रखने लगे। खानगी में यहाँ तक कहा गया कि इलाहाबाद का किला इस बात के लिए तैयार रक्खा गया था कि जरूरत पडने पर तमाम अग्रेजो को पनाह के लिए वहाँ भेज दिया जाय। मुझे यह सुनकर बडा ताज्जुब हुआ और इस बात को समझ न सका कि कोई क्यो इलाहाबाद जैसे सोये हुए और शान्ति-मय शहर मे ऐसे किसी बवडर का अन्देशा रक्खे, खासकर उसी समय जब कि खुद अहिंसा का दूत ही वहाँ आ रहा हो। ओफ! यहाँ तक कहा गया कि १० मई, और यही तारीख इत्तिफाक से मेरी बहन की शादी की नियत हुई थी, १८५७ को मेरठ मे गदर शुरू हुआ था और उसका सालाना जलसा करने की ये तैयारियाँ हो रही है।

१९२१ में खिलाफत-आन्दोलन को बहुत प्रधानता दी गई थी, इससे कितने ही मौलवी और मुसलमानो के मजहबी नेताओ ने इस राजनैतिक लडाई में बड़ा हाथ

बँटाया था। उन्होने इस हलचल पर एक निश्चित मजहबी रग चढा दिया था और मुसलमान लोग आम तौर पर उससे बहुत प्रभावित हुए थे। बहुत-से पश्चिमी रग मे रगे हुए मुसलमान भी, जिनकी कोई खास रगबत मजहब की तरफ नही थी, डाढी रखने तथा शरीयत के दूसरे फरमानो की पाबन्दी करने लगे थे। बढते हुए पश्चिमी असर के और नये खयालात के सबब से मौलवियो का जो असर और रौब घटता जा रहा था वह फिर बढने और मुसलमानो पर अपनी धाक जमाने लगा। अली-भाइयो ने भी, जो खुद भी मजहबी तबीयत के आदमी थे, इस सिलसिले को और ताकत दी, और इसी तरह गाधीजी ने भी, जो मौलवियो और मौलानाओ को बहुत ही इज्जत दिया करते थे।

इसमे कोई शक नही कि गाधीजी बराबर आन्दोलन के धार्मिक और आध्यात्मिक पहलू पर जोर दिया करते थे। उनका धर्म शास्त्राज्ञा से जकडा हुआ न था, परन्तु उसकी यह मशा जरूर थी कि जीवन को देखने की दृष्टि धार्मिक हो। इसलिए सारे आन्दोलन पर उसका बहुत प्रभाव पडा था और, जहाँ तक जनता से ताल्लुक है, उसने एक धर्मोद्धार का रूप धारण कर लिया था। कांग्रेस के बहुसख्यक कार्यकर्त्ता स्वभावत अपने नेता का अनुकरण करने लगे और कितने ही तो उनकी तरह भाषा भी बोलने लगे। और फिर भी कार्य-समिति मे गाधीजी के मुख्य-मुख्य साथी थे—मेरे पिताजी, देशबन्धु दास, लाला लाजपतराय, और दूसरे लोग—जो साधारण अर्थ मे धार्मिक पुरुष न थे, और जो राजनैतिक मसलो का राजनैतिक जमीन पर बैठकर ही विचार करते थे। अपने व्याख्यानो और बयानो मे वे धर्म को नही लाया करते थे। मगर वह जो कुछ कहते थे उससे उनके प्रत्यक्ष उदाहरण का ज्यादा असर होता था—क्या उन्होने वह सब बहुत कुछ नहीं छोड दिया था, जिसको दुनिया कीमती समझती है, और पहले से ज्यादा सादी रहन-सहन नही अख्त्यार कर ली थी? यह बात खुद ही धर्म का एक चिन्ह समझ ली गई, और इसने भी धर्मोद्धार के वायुमण्डल को फैलाने मे मदद की।

राजनीति में, क्या हिन्दू और क्या मुसलमान दोनो तरफ धार्मिकता की इस बढती से कभी-कभी मुझे परेशानी होती थी। मुझे वह बिलकुल पसन्द न थी। मौलवी, मौलाना और स्वामी तथा ऐसे ही दूसरे लोग जो-कुछ अपने भाषणो मे कहते थे उसका बहुताश मुझे बहुत कुफल पैदा करनेवाला मालूम होता था। उनका सारा इतिहास, सारा समाज-शास्त्र और अर्थ-शास्त्र मुझे गलत दिखाई देता था और हर चीज को जो मजहबी मरोड़ दी जाती, उससे स्पष्ट विचार करना रुक जाता था। कुछ-कुछ तो गाधीजी के भी शब्द-प्रयोग मेरे कानो को खटकते थे—जैसे 'राम-

राज्य', जिसे वह फिर लाना चाहते है। लेकिन उस समय मुझमे दखल देने की शक्ति न थी, और मै इसी खयाल से तसल्ली कर लिया करता था कि गांधीजी ने उनका प्रयोग इसलिए किया है कि इन शब्दो को सब जानते है और जनता इन्हें समझ लेती है। उनमे जनता के हृदय तक पहुँच जाने की विलक्षण स्वभाव-सिद्ध शक्ति थी।

लेकिन मै इन बातों की झञ्झट मे ज्यादा नही पड़ता था। मेरे पास काम इतना ज्यादा था और हमारे आन्दोलन की प्रगति इस तेजी से हो रही थी कि ऐसी छोटी-छोटी बातो की परवा करने की जरूरत न थी, क्योंकि उस समय मै उन्हे वैसा ही न-कुछ समझता था। किसी बड़े आन्दोलन मे हर क़िस्म के लोग रहते है, और जब तक हमारी असली दिशा सही है, कुछ भँवरों और चक्करो से कुछ बिगड़ नही सकता। और खुद गांधीजी को ले तो वह ऐसे शख्स थे जिन्हे समझना बहुत मुश्किल था, कभी-कभी तो उनकी भाषा औसत दर्जे के आधुनिक आदमी की समझ मे प्राय नही आती थी। लेकिन हम यह मानते थे कि हम उन्हे इतना जरूर अच्छी तरह समझ गये है कि वह एक महान् और अद्वितीय पुरुष और शानदार नेता है और जब कि हमने उनपर कम-से-कम उस समय तो श्रद्धा रक्खी थी; तो मानो हमने कोरे कागज पर ही दस्तखत करके उनके हवाले कर दिया था। अक्सर हम आपस मे उनके इन खब्तों और विचित्रताओ की चर्चा किया करते थे और कुछ-कुछ दिल्लगी में कहा करते कि जब स्वराज आ जायगा तब इन खब्तो को इस तरह आगे न चलने देंगे।

इतना होने पर भी हममे से बहुत-से लोग राजनैतिक तथा दूसरे मामलों मे उनके इतने प्रभाव मे थे कि धर्म के क्षेत्र में भी बिलकुल आजाद बने रहना असभव था। जहाँ सीधे हमले से कामयाबी की उम्मीद न थी वहाँ जरा चक्कर खाकर जाने से बहुत हद तक उस प्रवृत्ति की ताकत कम हो जाती थी। धर्म के बाहरी आचार कभी मेरे दिल मे जगह न कर पाये, और सबसे बडी बात तो यह कि मुझे इन धार्मिक कहलानेवाले लोगों के द्वारा जनता का चूसा जाना बहुत नापसन्द था, मगर फिर भी मैने धर्म के प्रति नरमी अख्त्यार करली थी। अपने ठेठ बचपन से लेकर किसी भी समय की बनिस्बत १९२१ मे मेरा मानसिक झुकाव धार्मिकता की तरफ ज्यादा हुआ था। लेकिन तब भी मै उसके बहुत नजदीक नही पहुँचा था।

जिस बात का मै आदर करता था वह थी उस आन्दोलन का नैतिक और सदाचार-सम्बन्धी पहलू और सत्याग्रह। मैने अहिंसा के सिद्धान्त को सोलहो आने नही माना था, या हमेशा के लिए नहीं अपना लिया था; लेकिन हाँ, वह मुझे अपनी तरफ अधिकाधिक खीचता चला जाता था और यह विश्वास मेरे दिल मे पक्का बैठता जाता था कि हिन्दुस्तान की जैसी परिस्थिति बन गई है, हमारी जैसी परम्परा और

जैसे सस्कार है उन्हे देखते हुए यही हमारे लिए सही नीति है। राजनीति को आध्यात्मिकता के—तग और मजहबी मानी मे नही—साँचे मे ढालना मुझे एक उम्दा खयाल मालूम हुआ। निस्सन्देह एक उच्च ध्येय को पाने के लिए साधन भी वैसे ही उच्च होने चाहिये—यह एक अच्छा नीति-सिद्धान्त ही नही, बल्कि निर्भ्रम व्यावहारिक राजनीति भी थी, क्योकि जो साधन अच्छे नही होते वे अक्सर हमारे उद्देश्य को ही विफल बना देते है और नई समस्याये और नई दिक्कते पैदा कर देते है; और ऐसी दशा मे, एक व्यक्ति या एक कौम के लिए, ऐसे साधनो के सामने सिर झुकाना—दलदल मे से गुजरना, कितना बुरा, कितना स्वाभिमान को गिरानेवाला मालूम होता था। उससे अपनेको गदा बनाये बिना कोई कैसे बच सकता था ? यदि हम सिर झुकाते है, या पेट के बल रेगते है, तो कैसे हम अपने गौरव को कायम रखते हुए तेजी के साथ आगे बढ सकते है ?

उस समय मेरे विचार ऐसे थे। और असहयोग-आन्दोलन ने मुझे वह चीज दी जो मै चाहता था—कौमी आजादी का ध्येय और (जैसा मैने समझा) निचले दर्जे के लोगो के शोषण का अन्त कर देना, और ऐसे साधन जो मेरे नैतिक भावो के मुआफिक थे और जिन्होने मुझे जाती आजादी का भान कराया। यह जाती तसल्ली मुझे इतनी ज्यादा मिली कि नाकामयाबी के अन्देशे की भी मै ज्यादा गिनती न करता था, क्योकि ऐसी असफलता तो थोडे समय के लिए ही हो सकती थी। भगवद्गीता के आध्यात्मिक भाग को मै न तो समझता था और न उसकी तरफ मेरा खिचाव ही हुआ था, लेकिन हाँ, उन श्लोको को पढना पसन्द करता था, जो शाम को गाधीजी के आश्रम मे प्रार्थना के समय पढे जाते थे, और जिनमे यह बताया गया है कि मनुष्य को कैसा होना चाहिए, शान्त, स्थिर, गभीर, अचल, निष्काम भाव से कर्म करनेवाला और फल के विषय मे अनासक्त। मै खुद बहुत शान्त-स्वभाव या अनासक्त नही हूँ, इसलिए शायद यह आदर्श मुझे अच्छा लगा होगा।

११

मेरी पहली जेल-यात्रा

उन्नीस सौ इक्कीस का साल हमारे लिए एक असाधारण साल था। राष्ट्रीयता और राजनीति और रहस्यवादिता और धर्मान्धता का एक ही अजीब मिश्रण हो गया था। इस सबकी तह मे किसानो की अशान्ति और बडे शहरो का बढता हुआ मजदूर-वर्गीय आन्दोलन था। राष्ट्रीयता और एक अस्पष्ट किन्तु देशव्यापी जबरदस्त आदर्श-वाद ने इन सब भिन्न-भिन्न और कभी-कभी परस्पर-विरोधी असन्तोषो को मिला देने का प्रयत्न किया, और इसमे बड़ी हद तक कामयाबी भी मिली। परन्तु इस राष्ट्रीयता को कई शक्तियो से बल मिला था। उसकी तह मे थी हिन्दू राष्ट्रीयता, मुस्लिम राष्ट्रीयता—जिसका ध्यान कुछ-कुछ हिन्दुस्तान की सीमा के बाहर भी खिचा हुआ था—और हिन्दुस्तानी राष्ट्रीयता, जो जमाने की स्पिरिट के अधिक अनुकूल थी। उस समय ये सब एक-दूसरे मे मिल-जुलकर साथ-साथ चलने लगी थी। हर जगह 'हिन्दू-मुसलमान की जय' थी। यह देखने लायक बात थी कि किस तरह गाधीजी ने सब वर्गो और सब गिरोहो के लोगो पर जादू-सा डाल दिया था, और उन सबको एक ही दिशा मे चलनेवाला पचरगी दल बना दिया था। वास्तव मे वह 'लोगो की अस्पष्ट अभिलाषाओ का एक मूर्त रूप' (जो वाक्य कि एक दूसरे ही नेता के विषय मे कहा गया है) बन गये थे।

इससे भी ज्यादा निराली बात यह थी कि ये सब अभिलाषाये और उमगे उन विदेशी हाकिमो के प्रति घृणा-भाव से कही मुक्त थी, जिनके खिलाफ वे इस्तैमाल हो रही थी। राष्ट्रीयता मूल मे ही एक विरोध-रूपी भाव है, और यह जीता और पनपता है दूसरे राष्ट्रीय समुदायो के—खासकर किसी शासित देश के, विदेशी शासको के खिलाफ घृणा और क्रोध के भावो पर। १९२१ मे हिन्दुस्तान मे ब्रिटिश लोगो के खिलाफ घृणा और क्रोध ज़रूर था, मगर इसी हालतवाले दूसरे मुल्को के मुकाबिले मे यह निहायत ही कम था। इसमे शक नही कि यह बात हुई है गाँधीजी के अहिंसा के तात्पर्यों और फलितार्थों पर ज़ोर देते रहने के कारण ही। इसका यह भी कारण था कि सारे देश मे आन्दोलन चालू होने के साथ ही यह भावना आ गई थी कि हमारे बन्धन टूट रहे है, हमारा बल बढ रहा है, और नजदीक भविष्य मे कामयाब हो जाने का व्यापक विश्वास पैदा हो गया था। जब हमारा काम अच्छी तरह चल रहा हो और जब हम जल्दी ही सफल हो जानेवाले हो तो गुस्सा होने और नफरत करने से फ़ायदा ही क्या है? हमें लगा कि उदार बनने मे हमारा कुछ बिगाड नही।

मगर हमारे अपने ही कुछ देशवासियो के प्रति, जो हमारे खिलाफ हो गये थे और राष्ट्रीय-आन्दोलन का विरोध करते थे, हम अपने दिलो मे इतने उदार नही थे, हालाकि जो-जो काम हम करते थे वे उचित ही थे और खूब आगा-पीछा सोचकर करते थे। उनके प्रति घृणा या क्रोध का तो कोई सवाल ही न था, क्योकि उनकी कोई वकत नही थी, और हम उनकी उपेक्षा कर सकते थे। मगर हमारे दिल की गहराई मे उनकी कमजोरी, मौका-परस्ती तथा उनके द्वारा राष्ट्रीय सम्मान और स्वाभिमान के गिरा दिये जाने के कारण हिकारत भरी हुई थी।

इस तरह हम चलते रहे—अस्पष्टता से किन्तु उत्कटता के साथ, और हम इस आनन्द मे मस्त थे कि हमने अपना हथियार चला दिया है। मगर लक्ष्य के बारे मे तो स्पष्ट विचार का बिलकुल अभाव था। अब तो इस बात पर ताज्जुब ही होता है कि हमने सैद्धान्तिक पहलुओ को, अपने आन्दोलन के बुनियादी उसूलो को, और जिस निश्चित चीज को हमे प्राप्त करना है उसे किस बुरी तरह से भुला दिया था। बेशक, हम स्वराज के बारे मे बहुत बढ-चढकर बाते करते थे, मगर शायद हर व्यक्ति जैसा चाहता वैसा उसका मतलब निकाला करता था। ज्यादातर नवयुवको के लिए तो इसका मतलब था राजनैतिक आजादी या ऐसी ही कोई चीज, और लोकतन्त्री ढग की शासन-प्रणाली, और यही बात हम अपने सार्वजनिक भाषणो मे कहा करते थे। बहुत लोगो ने यह भी सोचा था कि इससे लाजमी तौर पर मजदूरो और किसानो के वे बोझे जिनके तले वे कुचले जा रहे है हलके हो जायँगे। मगर यह जाहिर था कि हमारे ज्यादातर नेताओ के दिमाग मे स्वराज का मतलब आजादी से बहुत छोटी चीज थी। गाधीजी इस विषय पर बडे मजे से अस्पष्ट रहते थे और इस बारे में साफ विचार कर लेनेवालो को वह बढावा नही देते थे। मगर हाँ हमेशा, अस्पष्टता से ही किन्तु निश्चित रूप से, पद-दलित लोगो को लक्ष्य करके बोला करते थे, और इससे हम कइयो को बडी तसल्ली होती थी, हालाकि उसीके साथ वह ऊँची श्रेणीवालो को भी कई प्रकार के आश्वासन दे डालते थे। गाधीजी का जोर किसी सवाल को बुद्धि से समझने पर कभी नही होता था, बल्कि चरित्रबल और पवित्रता पर रहता था; और उन्हे हिन्दुस्तान के लोगो को दृढता और चरित्रबल देने मे आश्चर्यजनक सफलता मिली भी। फिर भी ऐसे बहुत-से लोग थे, जिनमे न अधिक दृढता बढी न चरित्रबल बढा, मगर जो समझ बैठे थे कि ढीला-ढाला शरीर और कुम्हलाया हुआ चेहरा ही पवित्रता की प्रतिमूर्ति है।

जनता की यह असाधारण चुस्ती और मजबूती ही हममे विश्वास भर देती थी। हिम्मत हारे पिछडे और दबे हुए लोगो ने अचानक अपनी कमर सीधी की और

अपना सिर ऊँचा किया, और एक देशव्यापी सुनियन्त्रित और सम्मिलित उपाय में जुट पडे । हमने समझा कि इस उपाय से ही जनता को अदम्य शक्ति मिल जायगी। मगर उपाय के साथ उसके मूलस्थ विचार की आवश्यकता का खयाल हमने छोड दिया। हमने भुला दिया कि एक जाग्रत विचार-विज्ञान और उद्देश्य के बिना, जनता की शक्ति और उत्साह बहुत-कुछ धुंधुआकर रह जायगा। किसी हद तक हमारे आन्दोलन में धर्मोद्धार या पुनरुद्धार-वाद के बल ने हमे आगे बढाया। और वह यह भावना थी कि राजनैतिक या आर्थिक आन्दोलनो के लिए या अन्यायो को दूर करने के लिए अहिंसा का प्रयोग करना एक नया ही सदेश है, जो हमारा राष्ट्र ससार को देगा। सभी जातियो और सभी राष्ट्रो में जो यह विचित्र मिथ्या विश्वास फैल जाता है कि हमारी ही जाति एक विशेष प्रकार से ससार मे सबसे ऊँची है, उसीमे हम फँस गये थे। अहिंसा, युद्ध या सब प्रकार की हिंसात्मक लडाइयो में, शस्त्रास्त्रो के बजाय एक नैतिक शस्त्र का काम दे सकती है। यह सिर्फ नैतिक उपाय ही नही है, बल्कि कारगर भी है। मेरे खयाल से, हममे से शायद ही कोई मशीनरी और वर्तमान सभ्यता विषयक गाधीजी के पुराने विचारो से सहमत था। हम समझते थे कि खुद वह भी अपने विचारो को कल्पना-सृष्टि या मनोराज्य और वर्तमान परिस्थितियो मे ज्यादातर अव्यवहार्य समझते होंगे। निश्चय ही, हममे से ज्यादातर लोग तो आधुनिक सभ्यता की नियामतो को त्यागने को तैयार न थे, हालाकि हमे चाहे यह महसूस हुआ हो कि हिन्दुस्तान की परिस्थिति के मुताबिक उनमे कुछ परिवर्त्तन कर देना ठीक होगा। खुद मैं तो बडी मशीनरी और तेज सफर को हमेशा पसन्द करता रहा हूँ। फिर भी इसमे सन्देह नही हो सकता कि गाधीजी के आदर्श का बहुत लोगो पर असर पडा और वह मशीनो और उनके सब परिणामो को तोलने-जोखने लगे। इस तरह, कुछ लोग तो भविष्यकाल की तरफ देखने लगे और दूसरे कुछ भूतकाल की तरफ निगाह डालने लगे। और कुतूहल की बात यह है कि दोनो ही तरह के लोगो ने सोचा कि हम जिस सम्मिलित उपाय मे लगे हुए है वह मिलकर करने ही योग्य है, और इसी स्पिरिट के बदौलत खुशी-खुशी बलिदान करना और आत्मत्याग के लिए तैयार होना आसान हो गया

मैं आन्दोलन मे दिलोजान से जुट पडा और दूसरे बहुत-से लोगो ने भी ऐसा ही किया। मैने अपने दूसरे कामकाज और सम्बन्ध, पुराने मित्र, पुस्तके और अखबार तक, सिवा उस हद तक कि जितना उनका चालू काम से ताल्लुक था, सब छोड दिये। हाँ, उस समय तक प्रचलित किताबो को कुछ-कुछ पढना कायम रक्खा था और ससार में क्या-क्या घटनाये घटती जाती है इसको जानने की कोशिश करता था। मगर अब

तो इसके लिए वक्त ही नही था। हालाँकि पारिवारिक मोह जबरदस्त था, मगर मैं अपने परिवार, अपनी पत्नी, अपनी लड़की, सबको करीब-करीब भूल ही गया था। बहुत अरसे के बाद मुझे मालूम हुआ कि उन दिनो मै उनकी कितनी कठिनाई और कितने कष्टो का कारण बन गया था। और मेरी पत्नी ने मेरे प्रति कितने विलक्षण धैर्य और सहनशीलता का परिचय दिया था। दफ्तर और कमिटी की मीटिंगे और लोगो की भीड़ ही मानो मेरा घर बन गया। "गाँवो मे जाओ" यही सबकी आवाज थी, और हम कोसो खेतो मे चलकर जाते थे, दूर-दूर के गाँवो मे पहुँचते थे, और किसानो की सभाओ मे भाषण देते थे। मै रोम-रोम मे जनता की सामूहिक भावना का और जनता को प्रभावित करने की शक्ति का अनुभव करता था। मै थोडा-थोडा भीड का मानस, शहर की जनता और किसानो के फर्क को समझने लगा, और मुझे धूल और तकलीफो और बडे-बडे मजमो के धक्कम-धक्को मे मजा आने लगा, हालाँकि उनमे अनुशासन के न होने से मै अक्सर चिढ जाता था। उसके बाद तो कभी-कभी मुझे विरोधी और क्रोधित मजमो के सामने भी जाना पडता है जिनकी तेजी इतनी बढती हुई थी कि एक चिनगारी भी उन्हे भडका सकती थी, और शुरू के तजुर्बे से और उससे उत्पन्न आत्म-विश्वास से मुझे बडी मदद मिली। मै हमेशा सीधा मजमे के सामने जाता और उसका भरोसा करता था, और अभी तक तो उसने मेरे प्रति सद्व्यवहार और गुण-ग्राहकता का ही परिचय दिया है, चाहे हममे मत-भेद ही रहा हो। मगर मजमो का स्वभाव चचल होता है और सम्भव है भविष्य मे मुझे कुछ और ही अनुभव मिले।

मै मजमो को अपना समझता था और मजमे मुझे अपना लेते थे, मगर उनमे मै अपने-आपको भुला नही देता था। मै अपनेको उससे हमेशा अलग ही समझता रहा। मै अपनी अलग मानसिक स्थिति से उन्हे समीक्षक-दृष्टि से देखता था, और मुझे ताज्जुब होता था कि मै, जो कि अपने आसपास जमा होनेवाले इन हजारो आदमियो से हर बात मे भिन्न था, अपनी आदतो मे, इच्छाओ मे, मानसिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण मे बहुत भिन्न था, इन लोगो की सदिच्छा और विश्वास कैसे हासिल कर सका? क्या इसका सबब यह था कि इन लोगो ने मुझे मेरी असलियत से कुछ जुदा समझा? जब वे मुझे ज्यादा पहचानने लगेगे, क्या तब भी वे मुझे चाहेगे? क्या मै लम्बी-चौडी बातें बना-बनाकर उनकी सदिच्छा प्राप्त कर रहा हूँ? मैने उनके सामने सच्ची और खरी बाते कहने की कोशिश की, कभी-कभी मैने उनसे सख्ती से बातचीत की, और उनके कई प्रिय विश्वासों और रीतियो की नुकताचीनी की, फिर भी वे मेरी इन सब बातो को बरदाश्त कर लेते थे। मगर मेरा यह विचार

न हटा कि उनका मुझपर प्रेम, मैं जैसा कुछ हूँ उसके लिए नही, बल्कि मेरी बाबत उन्होने जो-कुछ सुन्दर कल्पना कर ली थी उसके कारण था। यह झूठी कल्पना कितने समय तक टिकी रह सकती थी ? और वह टिकी रहने भी क्यो दी जाय ? जब उनकी वह कल्पना झूठ निकलेगी और उन्हे असलियत मालूम होगी, तब क्या होगा ?

मुझमें तो कई तरह का अभिमान है, मगर मजमो के इन भोले-भाले लोगो मे तो ऐसे किसी अभिमान का कोई सवाल ही नही हो सकता है ? उनमे कोई दिखावा न था, और न कोई अशिष्टता ही थी, जैसा कि मध्यम वर्ग के कई लोगो मे, जो अपने को उनसे अच्छा समझते है, होती है। हाँ, वे कुन्द-जहन बेशक थे और व्यक्तिगत रूप से ऐसे न थे कि उनमे कोई दिलचस्पी ले; मगर समुदाय-रूप मे उनको देखकर तो असीम करुणा का भाव पैदा होता और उनके आनेवाले दु खान्त जीवन का दृश्य आखो के सामने खडा हो जाता था।

मगर हमारी कान्फ्रेन्सो का तो, जहाँ हमारे चुने हुए कार्यकर्त्ता (जिनमे मैं भी शामिल था) व्याख्यान-मच पर अपना करतब दिखाते थे, हाल ही दूसरा था। वहाँ कफी दिखावा होता था, और हमारे धुआँधार भाषणो मे अशिष्टता की कोई कमी न थी। हममे से सभी थोडे-बहुत इस मामले मे कुसूरवार रहे होगे, मगर खिलाफत के कई छोटे नेता तो इसमे सबसे ज्यादा बढे हुए थे जहाँ बहुत लोग जमा हो उनके सामने व्याख्यान-मच पर स्वाभाविक बर्ताव रखना आसान नही है, और इस तरह लोगो के सामने आने का पहले किसीको तजुर्बा भी नही था। इसलिए हमारे खयाल के मुताबिक नेताओ को जैसे रहना चाहिए उसी तरह से हम अपने-आपको विचार-पूर्ण और गम्भीर, चचलता और छिछोरपन से बिलकुल बरी, दिखाते थे। जब हम चलते, या बात करते या हँसते थे, तो हमे यह खयाल रहता था कि हजारो आँखे हमे घूर रही है और उसीको ध्यान मे रखते हुए हम सब-कुछ करते थे। हमारे भाषण अक्सर बडे वक्तृत्वपूर्ण होते थे, मगर अक्सर ही वे ज्यादातर बे-मुद्दा भी होते थे। दूसरे लोग जैसा अपनेको समझे वैसा अपने-आपको समझना मुश्किल ही है। इसलिए जब मै अपने-आपकी नुकता-चीनी न कर सका तो मैने दूसरो के तर्जे-अमल पर गौर करना शुरू किया, और इसी काम मे मुझे खूब मजा आया और फिर मुझे यह भयंकर खयाल भी आता था कि शायद मै भी दूसरो को इतना ही वाहियात दिखाई देता होऊँगा।

१९२१ भर काँग्रेस-कार्यकर्त्ताओ की व्यक्तिगत गिरफ्तारी और सजायबी होती रही, मगर सामूहिक गिरफ्तारियाँ न हुई। अली-बन्धुओ को हिन्दुस्तानी 'फौज मे असन्तोष पैदा करने के लिए लम्बी-लम्बी सजाये दी गई थी। जिन शब्दो के लिए

उन्हे सजा मिली थी, उनको सैकडो व्याख्यान-मचो से हजारो आदमियो ने दोहराया। अपने कुछ भाषणो के कारण राजद्रोह का मुकदमा चलाये जाने की धमकी मुझे गर्मियो मे दी गई थी। मगर उस वक्त ऐसी कोई कार्रवाई नही की गई। साल के अखीर मे मामला अजहद बढ गया। युवराज हिन्दुस्तान आनेवाले थे, और उनकी आमद के मुताल्लिक की जानेवाली तमाम कार्रवाइयो का बहिष्कार करने की घोषणा काग्रेस ने कर दी थी। नवम्बर के अखीर तक बगाल मे काग्रेस के स्वयसेवक गैरकानूनी करार दे दिये गये, और फिर युक्तप्रान्त के लिए भी ऐसी ही घोषणा निकल गई। देशबन्धु दास ने बगाल को एक बडा जोशीला सदेश दिया—"मै महसूस कर रहा हूँ कि मेरे हाथो मे हथकडिया पडी हुई है। और मेरा सारा शरीर लोहे की वजनी जजीरो से जकडा हुआ है। यह है गुलामी की वेदना और यन्त्रणा। अरे, सारा हिन्दुस्तान एक बडा जेलखाना ही है! काग्रेस का काम हर हालत मे जारी रहना चाहिए—इसकी पर्वाह नही कि मै पकड लिया जाऊँ या खुला रहूँ, इसकी पर्वाह नही कि मै मर जाऊँ या जिन्दा रहूँ।" युक्त प्रान्त मे भी हमने सरकार की चुनौती को स्वीकार कर लिया। हमने न सिर्फ यही ऐलान किया कि हमारा स्वयसेवक-सगठन कायम रहेगा, बल्कि दैनिक अखबारो मे अपने स्वयसेवको की नामावलियाँ भी छपवा दी। पहली फेहरिस्त मे सबसे ऊपर मेरे पिताजी का नाम था। वह स्वयसेवक तो नही थे, मगर सिर्फ सरकार की हुक्म-उदूली करने के लिए ही वह शामिल हो गये थे और उन्होने अपना नाम दे दिया था। दिसम्बर के शुरू ही मे, हमारे प्रान्त मे युवराज के आने के कुछ ही दिन पहले, सामूहिक गिरफ्तारियाँ शुरू हुई।

हमने जान लिया कि आखिर अब तो पासा पड चुका है, काग्रेस और सरकार का अनिवार्य सघर्ष अब होने ही वाला था। अभी तक भी जेल एक अपरिचित जगह थी और वहाँ जाना भी एक नई बात थी। एक दिन मै इलाहाबाद के कॉग्रेस-दफ्तर मे जरा देर तक बकाया काम निपटा रहा था। इतने ही मे एक क्लर्क जरा उत्तेजित होता हुआ आया, और उसने कहा कि पुलिस तलाशी का वारण्ट लेकर आई है, और दफ्तर के मकान को घेर रही है। निःसन्देह मै भी थोडा उत्तेजित तो हो गया, क्योकि मेरे लिए भी इस तरह की यह पहली ही बात थी, मगर दृढ दिखाई देने की इच्छा, पूरी तरह शान्त और निश्चिन्त प्रतीत होने तथा पुलिस के आने और जाने से प्रभावित न होने की अभिलाषा प्रबल थी। इस लिए मैने एक क्लर्क से कहा कि जब पुलिस-अफसर दफ्तर के कमरो मे तलाशी ले तो तुम उसके साथ-साथ रहो, और बाकी के कारकुनो से कहा कि सब अपना-अपना काम बिला खरखशा करते रहो और पुलिस की तरफ ध्यान न दो। कुछ देर बाद एक मित्र और एक साथी कार्य-कर्त्ता, जो

दफ्तर के बाहर ही गिरफ्तार कर लिये गये थे, एक पुलिस-मैन के साथ, मेरे पास मुझसे बिदा लेने आये। मुझे इन नई घटनाओ को मामूली घटनाये समझना चाहिए, यह अभिमान मुझमें इतना भर गया था कि मै अपने साथी कार्यकर्त्ता के साथ बिलकुल रुखाई से पेश आया। उनसे और पुलिस-मैन से मैंने कहा कि मै जब-तक अपनी चिट्ठी, जिसे मै लिख रहा था, पूरी न करलूँ, तबतक जरा ठहरे रहे। जल्दी ही शहर मे और भी लोगो के गिरफ्तार होने की खबर आई। आखिरकार मैंने यह तय किया कि मै घर जाऊँ और देखूँ कि वहाँ क्या हो रहा है। मैंने देखा कि पुलिस, जो एक-न-एक दिन आने ही वाली थी, हमारे उस लम्बे-चौडे घर के एक हिस्से की तलाशी ले रही है और मालूम हुआ कि वह, पिताजी और मुझे, दोनो को गिरफ्तार करने आई है।

युवराज के आगमन के बहिष्कार-सम्बन्धी कार्य-क्रम के लिए हमारा और कोई कार्य इतना उपयुक्त न होता। युवराज जहाँ-जहाँ ले जाये गये, वहाँ-वहाँ उन्हे हडताले और सूनी सड़के ही मिली। जब वह इलाहाबाद आये तो वह एक सुनसान शहर मालूम पडा। कुछ दिनो बाद कलकत्ता ने भी कुछ समय के लिए अचानक अपना सारा कारोबार बन्द कर दिया। युवराज के लिए यह सब एक मुसीबत थी। मगर उनका कोई कसूर न था, और न उनके खिलाफ कोई दुर्भावना थी। हाँ, हिन्दुस्तान की सरकार ने अलबत्ते उनके व्यक्तित्व का बेजा फायदा उठाने की कोशिश की थी, इसलिए कि अपनी गिरती हुई प्रतिष्ठा को बनाये रख सके।

इसके बाद तो, खासकर युक्तप्रान्त और बगाल मे, गिरफ्तारियो और सजाओ की धूम मच गई। इन प्रान्तो मे सभी खास-खास कांग्रेसी नेता और काम करनेवाले पकड लिये गये, और मामूली स्वयसेवक तो हजारो की तादाद मे जेल गये। शुरू-शुरू मे तो ज्यादातर शहर के ही लोग थे, और जेल जाने के लिए स्वयसेवको की तादाद मानो खत्म ही न होती थी। युक्तप्रान्तीय काग्रेस-कमिटी के लोग सब-के-सब (५५ व्यक्ति), जब वे कमिटी की एक मीटिंग कर रहे थे, एकसाथ गिरफ्तार कर लिये गये। कई ऐसे लोगो को भी, जिन्होने अभीतक कांग्रेस या राजनैतिक हल-चल मे कोई हिस्सा नही लिया था, जोश चढ आया, और वे गिरफ्तार होने की जिद करने लगे। ऐसी भी मिसाले हुईं कि कुछ सरकारी क्लर्क, जो शाम को दफ्तर से लौट रहे थे, इसी जोश में बह गये, और घर के बजाय जेल मे जा पहुँचे। नवयुवक और बच्चे पुलिस की लारियो के भीतर घुस जाते थे और बाहर निकलने से इन्कार कर देते थे। हम जेल के अन्दर से, शाम-की-शाम, अपने परिचित नारे और आवाजे सुनते थे, जिनसे हमे पता लगता था कि बाहर पुलिस की लारियो-पर-लारियाँ आ रही है। जेले

भर गई थी, और जेल-अफसर इस असाधारण वात मे परेशान हो गये थे। कभी-कभी ऐसा भी होता था कि लारी के साथ जो वारण्ट आता था उसमें सिर्फ लाये जाने वालो की तादाद ही लिखी रहती थी, नाम नही लिखे होते थे या न लिखे जा सकते थे। और वास्तव मे लिखी तादाद से भी ज्यादा व्यक्ति लारी मे से निकलते थे, तब जेल-अधिकारी यह नही समझ पाते थे कि इस अजीब परिस्थिति मे क्या करना चाहिए और 'जेल-मैनुअल मे इसकी बावत कोई हिदायत नही थी।

धीरे-धीरे सरकार ने हर किसीको गिरफ्तार कर लेने की नीति छोड़ दी; सिर्फ खास-खास कार्यकर्ता चुनकर पकडे जाने लगे। धीरे-धीरे लोगो के उत्साह की पहली बाढ भी उतर गई, और सभी भरोसे के कार्यकर्ताओ के जेल चले जाने से अनिश्चय और लाचारी की भावना फैल गई। यह परिवर्तन भी यो ऊपरी ही था। वातावरण मे तो फिर भी तेजी और चारो ओर तनातनी के भाव मौजूद थे और ऐसा जान पडता था कि अन्दर-ही-अन्दर क्रान्ति की तैयारी हो रही है। दिसम्बर १९२१ और जनवरी १९२२ मे, यह अन्दाज किया जाता है कि, कोई ३० हजार आदमियो को असहयोग के सम्बन्ध मे सजाये मिली। मगर हालाकि ज्यादातर प्रमुख व्यक्ति और काम करनेवाले जेल चले गये, इस सारी लडाई के नेता महात्मा गाधी फिर भी वाहर थे, जो रोजाना लोगो को अपने सदेश देते और हिदायतें जारी करते रहते थे, जिनसे लोगो को स्फूर्ति मिलती थी और कई अवाञ्छनीय वाते होने से वच जाती थी। सरकार ने उनपर अभीतक हाथ नही डाला था, क्योकि उसे डर था कि शायद इसका नतीजा खराव होगा और कही हिन्दुस्तानी फौज और पुलिस विगड तो नही जायगी।

अचानक १९२२ की फरवरी के शुरू मे ही सारा दृश्य वदल गया, और जेल में ही हमने वडे आश्चर्य और भय के साथ सुना कि गाधीजी ने हमारी लडाई के आक्रमणात्मक कार्य वन्द करवा दिये है और सत्याग्रह मुल्तवी कर दिया है। हमने पढा कि यह इसलिए किया गया कि चौरीचौरा नामक गाँव के पास लोगो की एक भीड ने वदले मे पुलिस-स्टेशन मे आग लगा दी थी और उसमे करीव आधे दर्जन पुलिसवालो को जला डाला था।

जव हमें मालूम हुआ कि ऐसे वक्त में जव कि हम अपनी स्थिति मजबूत करते जा रहे थे और सभी मोर्चों पर आगे वढ रहे थे, हमारी लड़ाई वन्द कर दी गई है, तो हम वहुत विगडे। मगर जेल मे हमारी मायूसी और नाराजगी से किसीको कुछ भी फायदा नही हो सकता था। सत्याग्रह वन्द हो गया, और उसके साथ ही असहयोग भी जाता रहा। कई महीनो की दिक्कत और परेशानी के वाद सरकार को

आराम की साँस मिली, और पहली बार उसे अपनी तरफ़ से हमला शुरू करने का मौक़ा मिला । कुछ हफ्तो बाद उसने गाधीजी को गिरफ्तार कर लिया और उन्हे एक लम्बी कैद की सजा दे दी ।

१२

अहिंसा और तलवार का उसूल

चौरीचौरा-काण्ड के बाद हमारे आन्दोलन के एकाएक मुल्तवी किये जाने से, मेरा खयाल है, गाधीजी को छोडकर कॉंग्रेस के बाकी तमाम नेताओ मे बहुत ही नाराजगी फैली थी। मेरे पिताजी जो उस वक्त जेल में थे, उसपर बहुत ही बिगडे थे। कुदरतन् नौजवान कॉंग्रेसियों को तो यह बात और भी ज्यादा बुरी लगी थी। हमारी बढती हुई उम्मीदें धूल मे मिल गई। इसलिए उसके खिलाफ इतनी नाराजगी का फैलना स्वाभाविक ही था। आन्दोलन के मुलतवी किये जाने से जो तकलीफ हुई उससे भी ज्यादा तकलीफ मुल्तवी करने के जो कारण बताये गये उनसे तथा उन कारणो से पैदा होनेवाले नतीजो से हुई। हो सकता है कि चौरीचौरा एक खेदजनक घटना हो, वह थी भी खेद-जनक और अहिंसात्मक आन्दोलन के भाव के बिलकुल खिलाफ, लेकिन क्या हमारी आजादी की राष्ट्रीय लडाई कम-से-कम कुछ वक्त के लिए महज इसलिए बन्द हो जाया करेगी कि कही बहुत दूर के किसी कोने में पडे गाँव मे किसानो की उत्तेजित भीड़ ने कोई हिंसात्मक काम कर डाला ? अगर इस तरह अचानक खून-खराबी का यही अटल नतीजा होना है तब तो इस बात में कोई शक नही कि अहिंसात्मक लडाई की विद्या और उसके मूल सिद्धान्त में कुछ कमी है, क्योकि हम लोगो को इसी तरह की किसी-न-किसी अनचाही घटना के न होने की गारन्टी करना गैर-मुमकिन मालूम होता था। क्या हमारे लिए यह लाजिमी है कि आजादी की लडाई मे आगे कदम रखने से पहले हम हिन्दुस्तान के तीस करोड से भी ज्यादा लोगो को अहिंसात्मक लड़ाई का उसूल और उसका अमल सिखा दें और, यही क्यो, हममें से ऐसे कितने है जो यह कह सकते है कि पुलिस से बहुत ज्यादा उत्तेजना मिलने पर भी हम लोग पूरी तरह शान्त रह सकेंगे ? लेकिन अगर हम इसमें कामयाब भी हो जायँ तो जो बहुत-से भडकानेवाले एजेन्ट और चुगलखोर वगैरा हमारे आन्दोलन मे आ घुसते है, और या तो खुद ही कोई मारकाट कर डालते है या दूसरो से करा देते है, उनका क्या होगा ? मगर अहिंसात्मक लडाई के लिए यही शर्त रही कि वह तभी चल सकती है जब कही कोई जरा भी खून-खराबी न करे, तब तो अहिंसात्मक लडाई हमेशा असफल ही रहेगी।

हम लोगो ने अहिंसा के तरीके को इसीलिए मंजूर किया था; और कॉंग्रेस ने भी इसीलिए उसे अपना साधन बना लिया था, कि हमें यह विश्वास था कि वह

तरीका कारगर है। गांधीजी ने उसे मुल्क के सामने महज इसीलिए नहीं रक्खा था कि वह सही तरीक़ा है, बल्कि इसलिए भी कि हमारे मतलब के लिए वह सबसे ज्यादा कारगर था। यद्यपि उसका नाम नकार में है, तो भी वह है बहुत ही बल और प्रभाव रखनेवाला तरीका, और ऐसा तरीका जो जालिम की ख्वाहिश के सामने चुपचाप सिर झुकाने के बिलकुल खिलाफ था। वह तरीक़ा कायरों का तरीका नहीं था जिसमें लड़ाई से मुँह छिपाया जाय, बल्कि बुराई और कौमी गुलामी की मुख़ालिफत करने के लिए बहादुरों का तरीका था। लेकिन अगर किन्हीं भी थोड़े से शख्सों के—मुमकिन है वे दोस्ती का लबादा ओढे हुए हमारे दुश्मन हों—हाथ में यह ताकत हो कि वे ऊटपटांग बेतहाशा कामों से हमारे आन्दोलन को रोक या खत्म कर सकते है, तो बहादुराना-से-बहादुराना और मज़बूत-से-मजबूत तरीक़े से भी आखिर क्या फायदा ?

धारा-प्रवाह बोलने की और लोगों को समझाने की ताकत गांधीजी में कसरत से मौजूद है। अहिंसा का और शांतिमय असहयोग का रास्ता अख्तियार कराने के लिए उन्होंने अपनी ताकत से पूरा-पूरा काम लिया था। उनकी भाषा सीधी-सादी थी, उसमें बनावट बिलकुल न थी। उनकी आवाज़ और उनकी मुख-मुद्रा शान्त और साफ थी। उसमें विकार का नामोनिशान भी न था, लेकिन बरफ की उस बाहरी ओढ़नी के पीछे एक ठोस जोश, उमंग और जलती हुई ज्वाला की गरमी थी। उनके मुख से शब्द उड़-उड़ कर ठेठ हमारे दिलो-दिमाग के भीतरी-से-भीतरी कोने में घर कर गये, और उन्होंने वहाँ एक अजीब खलबली पैदा कर दी। उन्होंने जो रास्ता बताया था वह कड़ा और मुश्किल था, लेकिन था बहादुरी का, और ऐसा मालूम पडता था कि वह आज़ादी से मकसद पर हमें जरूर पहुँचा देगा। १९२० में 'तलवार का उसूल' नाम के एक नामी लेख में उन्होंने लिखा था :—

"मैं यह विश्वास जरूर रखता हूँ कि अगर सिर्फ़ बुज़दिली और हिंसा में से ही चुनाव करना हो तो मैं हिंसा को चुनने की सलाह दूँगा। मैं यह पसन्द करूँगा कि हिन्दुस्तान अपनी इज्ज़त बचाने के लिए हथियारों की मदद ले, बनिस्बत इसके कि वह कायरों की तरह खुद अपनी बेइज्ज़ती का असहाय शिकार हो जाय या बना रहे। लेकिन मेरा विश्वास है कि अहिंसा हिंसा से कहीं ऊँची है, सज़ा की बनिस्बत माफ़ी देना कहीं ज्यादा बहादुरी का काम है। 'क्षमा वीरस्य भूषणम्'। क्षमा से वीर की शोभा बढ़ती है। लेकिन सज़ा न देना उसी हालत में क्षमा होती है जब सज़ा देने की ताकत हो। किसी असहाय जीव का यह कहना कि मैंने अपने से बलवान को क्षमा किया, कोई मानी नहीं रखता। जब एक चूहा बिल्ली को अपने शरीर के टुकड़े-टुकड़े करने देता है तब वह बिल्ली को क्षमा नहीं करता।···लेकिन मैं यह नहीं

समझता कि हिन्दुस्तान असहाय है । न मैं यही समझता हूँ कि मैं बिलकुल असहाय हूँ'''।

"कोई मुझे समझने में गलती न करे । ताकत शारीरिक बल से नहीं आती, वह तो अदम्य इच्छा-शक्ति से ही आती है ।

"कोई यह न समझे कि मैं हवाई और ख्याली आदमी हूँ । मैं तो असली आदर्श-वादी होने का दावा करता हूँ । अहिंसा-धर्म महज ऋषि और महात्माओं के लिए ही नहीं है, वह तो आम लोगो के लिए भी है । जैसे पशुओं के लिए हिंसा प्रकृति का नियम है वैसे ही अहिंसा हम मनुष्यो की प्रकृति का कानून है । पशुओं की आत्मा सोती पडी रहती है और वह शारीरिक बल के अलावा और कानून को जानती ही नही । इन्सान का गौरव चाहता है कि वह ज्यादा ऊँचे कानून की ताकत, आत्मा की ताकत, के सामने सिर झुकावे ।"

"इसीलिए मैंने हिन्दुस्तान के सामने आत्मत्याग का, अपनी कुर्बानी का, पुराना नियम पेश करने की जुर्रत की है । क्योंकि सत्याग्रह और उसकी शाखायें, असहयोग और सविनय प्रतिरोध, कष्ट-सहन के नियम के दूसरे नामो के अलावा और कुछ नहीं है । जिन ऋषियो ने, हिंसा मे से अहिंसा का नियम ढूंढ निकाला, वे न्यूटन से ज्यादा प्रतिभाशाली थे । वे खुद वेलिंगटन से ज्यादा योद्धा थे ; वे हथियार चलाना जानते थे, लेकिन अपने अनुभव से उन्होने उन्हे बेकार पाया और थकी हुई दुनिया को यह सिखाया कि उसका छुटकारा हिंसा के जरिये नहीं होगा बल्कि अहिंसा के जरिये होगा ।

"अपनी सक्रिय दशा में अहिंसा के मानी है जान-बूझकर तकलीफे उठाना । उसके मानी यह नहीं है कि आप बुरा करनेवाले की ख्वाहिश के सामने चुपचाप अपना सिर झुका दे, बल्कि उसके मानी यह है कि हम जालिम की ख्वाहिश के खिलाफ अपनी पूरी आत्मा को भिडा दे । अपनी हस्ती के इस कानून के मुताबिक काम करते हुए, महज एक शख्स के लिए भी यह मुमकिन है कि वह अपनी इज्जत, अपने मजहब और अपनी आत्मा को बचाने के लिए, किसी अन्यायी साम्राज्य की ताकत को ललकार दे और उसके साम्राज्य के पुनरुद्धार या पतन की नीव डाल दे ।

"और इसीलिए मैं हिन्दुस्तान से अहिंसा का रास्ता अख्तियार करने के लिए इसलिए नहीं कहता कि वह कमजोर है । मैं चाहता हूँ कि वह अपनी ताकत और अपने बल-भरोसे को जानते हुए, अहिंसा पर अमल करे'''' मैं चाहता हूँ कि हिन्दुस्तान यह पहचान ले कि उसके एक आत्मा है, जिसका नाश नही हो सकता और जो तमाम शारीरिक कमजोरियो पर फतह पा सकती है और तमाम दुनिया के शारीरिक बलो का मुकाबिला कर सकती है'' ' '

"इस असहयोग को मैं 'सिनफिन'-आन्दोलन से अलग समझता हूँ, क्योंकि इसका जिस तरह से खयाल किया गया है उस तरह से वह हिंसा के साथ-साथ कभी हो ही नही सकता। लेकिन मैं तो हिंसा के सम्प्रदाय को भी दावत देता हूँ कि वे इस शान्तिमय असहयोग की परीक्षा तो करे। वह अपनी अन्दरूनी कमज़ोरी की वजह से नाकामयाब न होगा। हाँ, अगर ज्यादा तादाद मे लोग उसे अख्तियार न करे तो वह नाकामयाब हो सकता है। वही वक्त असली खतरे का वक्त होगा, क्योंकि उस वक्त वे उच्चात्मा जो अधिक समय तक राष्ट्रीय अपमान सहन नही कर सकते, अपना गुस्सा नहीं रोक सकेंगे। वे हिंसा का रास्ता अख्तियार करेगे। जहाँतक मैं जानता हूँ, वे अपना वा गुलामी से मुल्क का छुटकारा किये बिना ही बरबाद हो जायँगे। अगर हिन्दुस्तान तलवार के पक्ष को ग्रहण करले तो मुमकिन है कि शायद वह क्षणिक विजय पा ले। परन्तु उस वक्त हिन्दुस्तान के लिए मेरे हृदय मे गर्व न होगा। मैं तो हिन्दुस्तान से इसलिए बधा हुआ हूँ कि मेरे पास जो-कुछ है वह सब मैंने उसीसे पाया है। मुझे पक्का और पूरा विश्वास है कि दुनिया के लिए हिन्दुस्तान का एक मिशन है।"

इन दलीलो का हमारे ऊपर बहुत असर पडा, लेकिन हम लोगो की राय में और कुल मिलाकर कांग्रेस की राय मे अहिंसा का तरीका न तो मजहब या अकाट्य सिद्धान्त या धर्म का तरीका था, और न हो ही सकता था। हमारे लिए तो वह ज्यादा से-ज्यादा एक ऐसी नीति या एक ऐसा सहल तरीका ही हो सकता था जिससे हम कुछ नतीजो की उम्मीद करते थे, और उन्ही नतीजो से अखीर में हम उसकी बाबत फैसला करते। अपने-अपने लिए लोग उसे भले ही मजहब बना ले या निर्विवाद धर्म मान ले, परन्तु कोई भी राजनैतिक सस्था, जबतक वह राजनैतिक है, ऐसा नही कर सकती।

चौरीचौरा और उसके नतीजे ने हम लोगो को, एक साधन के रूप मे, अहिंसा के इन पहलुओ की जाँच करने को मजबूर कर दिया और हम लोगो ने यह महसूस किया कि अगर आन्दोलन मुल्तवी करने के लिए गाधीजी ने जो कारण बताये है वे सही है तो हमारे मुखालिफो के पास हमेशा वह ताक़त रहेगी, जिससे वे ऐसी हालते पैदा कर दे जिनसे लाजिमी तौर पर हमे अपनी लड़ाई छोड देनी पड़े! आया यह कसूर खुद अहिंसा के तरीके का था या उसकी उस व्याख्या का जो गाधीजी ने की? लेकिन आखिर वही तो उस तरीके के जन्मदाता थे? उनसे ज्यादा इस बात का बेहतर जज और कौन हो सकता था कि वह तरीका क्या है और क्या नही है? और बिना उनके हमारे आन्दोलन का क्या ठिकाना होगा?

लेकिन बहुत बरसो के बाद, १९३० की सत्याग्रह की लडाई शुरू होने से ठीक

पहले, हमें यह देखकर बडा सन्तोष हुआ कि गाधीजी ने इस बात को साफ कर दिया। उन्होने कहा कि कही इक्के-दुक्के हिंसात्मक काण्ड हो जायें तो उसकी वजह से हमें अपनी लडाई छोडने की ज़रूरत नही है। अगर ऐसी घटनाओ की वजह से, जो कही-न-कही हुए बिना नही रह सकती, अहिंसा का तरीका काम नही कर सकता तो ज़ाहिर था कि वह हर मौके के लिए सबसे अच्छा तरीका नही है। और गाधीजी इस बात,को मानने के लिए तयार नही थे। उनकी राय में तो जब वह तरीका सही तरीका है तो वह सब मौको के लिए मौजूं होना चाहिए, और कम-से-कम सकुचित दायरे मे ही सही लेकिन विरोधी आबोहवा मे भी उसे अपना काम करते रहना चाहिए। इस व्याख्या ने अहिंसात्मक लड़ाई का क्षेत्र बढा दिया। लेकिन यह व्याख्या गाधीजी के मन के विकास की गवाही देती है, या क्या, यह मैं नही जानता।

असल बात तो यह है कि फरवरी १९२२ में सत्याग्रह का मुल्तवी किया जाना महज़ चौरीचौरा की वजह से नही हुआ, हलांकि ज्यादातर लोग यही समझते थे। वह तो असल मे एक आखिरी निमित्त हो गया था। गाधीजी अक्सर अपनी अन्त.-प्रेरणा या सहज-बुद्धि से प्रेरित होकर काम करते है। ऐसा मालूम होता है, जैसे कि महान् लोक-प्रिय नेता अक्सर किया करते है, गाधीजी ने बहुत अर्से से जनता के नजदीक रहकर एक नई इन्द्रिय पैदा कर ली है, जो उनको यह बता देती है कि जनता क्या महसूस कर रही है और वह क्या कर सकती है तथा क्या नही कर सकती। वह इस सहज-प्रेरणा को सुनते है और तुरन्त उसीके मुताबिक रूप अपने कार्य को दे देते है और उसके बाद अपने चकित और नाराज़ साथियो के लिए अपने फैसलो को कारणो का जामा पहनाने की कोशिश करते है। यह जामा अक्सर बिलकुल नाकाफी होता है, जैसे कि चौरीचौरा के बाद मालूम होता था। उस वक्त हमारा आन्दोलन, बावजूद उसके ऊपरी दिखाई देनेवाले और लम्बे-चौडे जोश के, अन्दर से तितर-बितर हो रहा था। तमाम सगठन और अनुशासन का लोप हो रहा था। करीब-करीब हमारे सब अच्छे आदमी जेल मे थे, और उस वक्त तक आम लोगो को खुद अपने बल पर लडाई चलाते रहने की बहुत ही कम, नही के बराबर, शिक्षा मिली थी। जो भी अजनबी आदमी चाहता, कांग्रेस-कमिटी का चार्ज ले सकता था, और दरअसल बहुत-से ऐतराज़ के काबिल लोग, जिनमे लोगो को उकसाने तथा भड-कानेवाले सरकारी एजेंट तक शामिल थे, घुस आये थे और कुछ मुकामी कॉंग्रेस और खिलाफत-कमिटियो पर हावी हो गये थे। ऐसे लोगो को रोकने का उस वक्त कोई चारा न था।

इसमे कोई शक नही कि कुछ हद तक इस तरह की बात इस किस्म की लडाई

में बहुत कुछ लाजिमी है। नेताओ के लिए यह लाजिमी है कि वे सबसे पहले खुद जेल जाकर लोगो को रास्ता दिखावे और दूसरो पर यह भरोसा करे कि वे लडाई चलाते रहेगे। ऐसी दशा में जो कुछ किया जा सकता है वह सिर्फ इतना ही कि जनता को कुछ मामूली सीधे-सादे काम करना और उससे भी ज्यादा कुछ किस्म के कामो से बचते रहना सिखा दिया जाय। १९३० मे इस तरह की तालीम देने मे हमने पहले ही कुछ साल लगा दिये थे। इसीसे उस वक्त और १९३२ में सविनय-भग-आन्दोलन बहुत ही ताकत के साथ और सगठित रूप मे चला था। १९२१ और १९२२ मे इस बात की कमी थी। उन दिनो लोगो के जोशोखरोश के पीछे और कुछ न था। इसमे कोई शक नही कि अगर अन्दोलन जारी रहता तो कई जगह भयकर हत्याकाड हो जाते। इन हत्याकाडो को सरकार बदतर हत्याकाण्डो द्वारा कुचलती। डर का राज कायम हो जाता, जिससे लोग बुरी तरह पस्त-हिम्मत हो जाते।

गाधीजी के दिमाग में जिन असरो और सबबो ने काम किया वे सम्भवत यही थे। उनकी मूल बातो को, तथा अहिसा-शास्त्र के मुताबिक काम करना वाञ्छनीय था इस बात को, मान लेने के बाद कहना होगा कि उनका फैसला सही ही था। उनकी ये सब खराबियाँ रोककर नये सिरे से रचना करनी थी। एक दूसरी और बिलकुल जुदा दृष्टि से देखने पर उनका फैसला गलत भी माना जा सकता है, लेकिन उस दृष्टि-कोण का अहिसात्मक तरीके से कोई ताल्लुक न था। आप एक साथ दायें और बाये दोनो रास्तो पर नही चल सकते। इसमें कोई शक नही कि अपने उस आन्दोलन को उस अवस्था में और उस खास इक्की-दुक्की वजह से सरकारी हत्याकाण्डो द्वारा कुचल डालने का निमत्रण देने से भी राष्ट्रीय आन्दोलन खत्म नही हो सकता था। क्योकि ऐसे आन्दोलनो का ऐसा तरीका है कि वे अपनी चिता की भस्म में से ही फिर उठ खडे होते है। अक्सर थोडे वक्त के लिए हार जाने से भी समस्याओ को भली-भाति समझने में और लोगो को पक्का तथा मजबूत करने मे मदद मिलती है। असली बात पीछे हटना या दिखावटी हार नही है, बल्कि सिद्धान्त और आदर्श है। अगर जनता इन उसूलो का तेज कम न होने दे तो नये सिरे से ताकत हासिल करने मे देर नही लगती। लेकिन १९२१ और १९२२ मे हमारे उसूल और हमारा मकसद क्या था? एक धुंधला स्वराज, जिसके पीछे उसका कोई साफ विचार-विज्ञान तो न था, लेकिन था सिर्फ अहिसात्मक लडाई का एक खास शास्त्र। अगर लोग किसी बडे पैमाने पर इक्के-दुक्के हिंसा-काण्ड कर डालते तो अपने आप पिछला यानी अहिसा का तरीका खत्म हो जाता, और जहाँ तक पहली बात, यानी स्वराज, से ताल्लुक है उसमे ऐसी कोई बात न थी जिसके लिए लोग अड़ते। आम तौर पर लोग इतने मजबूत न थे कि

वे ज्यादा अरसे तक लड़ाई चलाये जाते, और विदेशी शासन के खिलाफ करीब-करीब सर्वव्यापी असतोष और काग्रेस के साथ सब लोगो की हमदर्दी के बावजूद लोगो में काफी कुव्वत या सगठन न था। वे टिक नही सकते थे। जो हजारो लोग जेल गये वे भी क्षणिक जोश में आकर और यह उम्मीद करते हुए कि तमाम किस्सा कुछ दिनो मे तय हो जायगा।

इसलिए यह हो सकता है कि १९२२ में सत्याग्रह को मुल्तवी करने का जो फैसला किया गया वह ठीक ही था, हालाँकि उसके मुल्तवी करने का तरीका और भी बेहतर हो सकता था और उसकी वजह से लोगो मे एक प्रकार की पस्त-हिम्मती आ गई।

मगर मुमकिन है कि इस बडे आन्दोलन को इस तरह एकाएक बोतल मे बन्द करने से उन दु खान्त काण्डो के होने मे मदद मिली जो देश मे बाद को जाकर हुए। राजनैतिक सग्राम मे फुटकर और बेकार हिंसाकाण्डों की ओर बहाव तो रुक गया, लेकिन इस तरह दबाई गई हिंसा-वृत्ति अपने निकलने का रास्ता तो ढूँढती ही, और शायद बाद के सालो मे इसी बात ने हिन्दू-मुस्लिम झगडो को बढाया। असहयोग और सविनय-भग या सिविल नाफरमानी की हलचल को आम लोगो की जो भारी मदद मिली उससे तरह-तरह के साम्प्रदायिक नेता, जो ज्यादातर राजनीति मे प्रति-क्रियावादी थे, लोगो की निगाह से गिरकर दबे पडे थे। लेकिन उस हलचल के बन्द होने पर अब वे बाहर निकल आये। बहुत-से दूसरे लोगो ने भी—जैसे खुफिया के एजेण्टो तथा उन लोगो ने जो हिन्दू-मुसलमानो मे फिसाद कराके हाकिमो को खुश करना चाहते थे—हिन्दू-मुस्लिम बैर बढ़ाने में मदद की। मोपलाओ के उत्पात से तथा जिस निहायत बेरहमी से उसे कुचला गया उससे उन लोगो को एक अच्छा हथियार मिला जो फिरकेवाराना झगडे पैदा कराना चाहते थे। रेलवे के बन्द डिब्बो मे मोपला कैदियो का भुनना तो बहुत ही बीभत्स था। यह मुमकिन हो सकता है कि अगर सत्याग्रह बन्द न किया गया होता और उसे सरकार ने ही कुचला होता तो फिरकेवाराना कडवापन इतना न बढता और बाद को जो फिरकेवाराना दगे हुए उनके लिए बहुत ही कम ताकत बाकी रहती।

सत्याग्रह बन्द करने से पहले एक घटना हुई, जिसके नतीजे बिलकुल दूसरे हो सकते थे। सत्याग्रह की पहली लहर से सरकार भौचक रह गई और डर गई। इसी वक्त वाइसराय लार्ड रीडिग ने एक आम स्पीच मे यह कहा कि कि मै हैरान व परेशान हूँ। उन दिनो युवराज हिन्दुस्तान में थे और उनकी मौजूदगी से सरकार की जिम्मेदारी बहुत बढ़ गई थी। दिसम्बर १९२१ के शुरू में जो धडाधड़ गिरफ्तारियाँ हुई थी।

उनके बाद ही फौरन उसी महीने में सरकार ने एक कोशिश की कि कांग्रेस से किसी किस्म का राजीनामा कर लिया जाय। यह बात खास तौर पर कलकत्ते में युवराज की आमद को मद्देनजर रखकर की गई थी। बगाल-सरकार के प्रतिनिधियो मे और देशबन्धुदास मे, जो उन दिनो जेल मे थे, कुछ आपसी बात-चीत हुई। मालूम पड़ता है कि इस तरह की तजवीज की गई कि सरकार और कांग्रेस के प्रतिनिधियो मे एक छोटी-सी गोलमेज-कानफ्रेन्स की जाय । लेकिन यह तजवीज इसलिए गिर गई, गाधीजी ने इस बात पर जोर दिया कि मौलाना मुहम्मदअली को भी, जो उस वक्त कराची की जेल में थे, इस कानफ्रेन्स में मौजूद रहना चाहिए और सरकार इस बात के लिए राज़ी न थी।

इस मामले में गाधीजी का यह रुख दास बाबू को पसन्द नही आया और कुछ वक्त बाद जब वह जेल से छूटकर आये तब उन्होने खुलेआम गांधीजी की आलोचना की और कहा कि उन्होने सख्त गलती की है। हम लोग उन दिनो जेल में थे, इस-लिए हममे से ज्यादातर वे सब बाते नही जान सकते जो इस मामले मे हुई, और तमाम बातो को जाने बिना कोई फैसला करना मुश्किल है। लेकिन यह मालूम होता है कि उस हालत मे उस कानफ्रेन्स से कोई फायदा नही हो सकता था। असल मे सरकार महज यह कोशिश कर रही थी कि किसी तरह कलकत्ते में युवराज की आमद का वक्त बिला खरखशा निकल जाय। इससे तो जो बुनियादी मामले हमारे सामने थे वे ज्यो-के-त्यो बने रहते। नौ बरस बाद, जब राष्ट्र और कांग्रेस पहले से कही ज्यादा ताकतवर थी तब, गोलमेज-कान्फ्रेन्स हुई और उससे कोई नतीजा नही निकला। लेकिन इसके अलावा भी मुझे ऐसा मालूम होता है कि गाधीजी ने मुहम्मदअली की मौजूदगी पर जोर देकर बिलकुल ठीक ही किया। कांग्रेस के लीडर की हैसियत से ही नही, बल्कि खिलाफत की हलचल के लीडर की हैसियत से भी, और उन दिनो कांग्रेस के प्रोग्राम का खिलाफत एक अहम मुद्दा था, उनकी मौजूदगी लाजिमी थी। जिस नीति या चाल मे अपने साथी को छोडना पडे वह कभी सही हो ही नही सकती। सरकार की एक इसी बात से कि वह उन्हे जेल से छोड़ने को तैयार न थी, इस बात का पता चल जाता है कि कानफ्रेन्स से किसी किस्म के नतीजे की उम्मीद करना बेकार था।

मुझे और पिताजी को अलग-अलग जुर्मों मे अलग-अलग अदालतो ने ६-६ महीने की सजाये दी थी। मुकदमे महज एक स्वाँग थे और अपने रिवाज के मुताबिक हम लोगो ने उनमे कोई हिस्सा नही लिया था। इसमे कोई शक नही कि हमारे सब व्याख्यानो में और दूसरी हलचलो में सजा देने के लिए काफी मसाला ढूढ निकालना बहुत आसान था। लेकिन सजा दिलाने के लिए जो मसाला दरअसल पसद किया

गया वह मजेदार था। पिताजी पर एक गैर-कानूनी जमात का मेंबर होने—कॉंग्रेस-स्वयंसेवक होने—के जुर्म में मुकदमा चलाया गया था और इस जुर्म को साबित करने के लिए एक फार्म पेश किया गया जिसमें हिन्दी में उनके दस्तखत दिखाये गये थे। बिला शक दस्तखत उन्हींके थे, लेकिन असल में हुआ यह कि इससे पहले उन्होंने कभी हिन्दी में दस्तखत नहीं किये थे। इसलिए बहुत ही कम लोग उनके हिन्दी के दस्तखत पहचान सकते थे। अदालत में एक फटे-हाल महाशय पेश किये गये, जिन्होंने हलफिया बयान दिया कि दस्तखत मोतीलालजी के ही हैं। वह महाशय बिलकुल अपढ़ थे और जब उन्होंने दस्तखतों को देखा तब वह फार्म को औंधा पकड़े हुए थे। पिताजी अदालत में मेरी लड़की को बराबर अपनी गोद में लिये रहे। इससे उनके मुकदमे में उसे पहली मर्तबा अदालत का तजुर्बा हुआ। उस वक्त उसकी उम्र चार बरस की थी।

मेरा जुर्म यह था कि मैंने हड़ताल कराने के लिए नोटिस बाँटे थे। उन दिनों यह कोई जुर्म न था—यद्यपि मेरा खयाल है कि इस वक्त ऐसा करना जुर्म है, क्योंकि हम बड़ी तेजी के साथ डोमीनियन स्टेटस (औपनिवेशिक स्वराज) की तरफ बढ़ते जा रहे हैं—फिर भी मुझे सजा दे दी गई। तीन महीने बाद जब मैं, पिताजी तथा दूसरे लोगों के साथ, जेल में था तब मुझे इत्तिला मिली कि कोई मुकदमों की जाँच करनेवाले अफसर इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि मुझे जो सजा दी गई वह गलत है और इसलिए मुझे छोड़ा जायगा। मुझे इस बात से बड़ा अचरज हुआ, क्योंकि मेरे मुकदमे की जाँच कराने के लिए मेरी तरफ से किसीने कोई कार्रवाई नहीं की थी। ऐसा मालूम पड़ता है कि सत्याग्रह मुल्तवी हो जाने पर जाँच करनेवाले जजों में मुकदमों को जाँच करने का एकाएक जोश उमड़ आया हो। मुझे पिताजी को जेल में छोड़कर बाहर जाने में बहुत दुःख हुआ।

मैंने तय कर लिया कि करीब-करीब फौरन ही अहमदाबाद जाकर गांधीजी से मिलूँगा। लेकिन मेरे वहाँ पहुँचने से पहले वह गिरफ्तार हो चुके थे। इसलिए उनसे मैं साबरमती-जेल में ही जाकर मिल सका। उनके मुकदमे के वक्त मैं अदालत में मौजूद था। वह एक चिरस्मरणीय प्रसंग था और हममें से जो लोग उस वक्त वहाँ मौजूद थे वे शायद उसे कभी भूल नहीं सकते। जज एक अंग्रेज था। उसने अपने व्यवहार में काफी शराफत और भावना दिखाई। अदालत में गाँधीजी ने जो बयान दिया वह दिलों पर बहुत ही असर डालनेवाला था। हम लोग वहाँ से जब लौटे तब हमारे दिल हिलोरे ले रहे थे और उनके जिन्दा वाक्यों और उनके चमत्कारी भावों और विचारों की छाप हमारे मन पर लगी हुई थी।

मैं इलाहाबाद लौट आया। मुझे एक ऐसे वक्त पर जेल से बाहर रहना बहुत-ही सुनसान और दु खप्रद मालूम हुआ जब मेरे इतने दोस्त और साथी जेल के सीखचो के अन्दर बन्द थे। बाहर जाकर मैंने देखा कि कॉंग्रेस का सगठन ठीक-ठीक काम नही कर रहा है और मैंने उसे ठीक करने की कोशिश की। खास तौर पर मैंने विलायती कपडे के बायकाट मे दिलचस्पी ली। सत्याग्रह के वापस ले लिये जाने पर भी हमारे कार्यक्रम का वह हिस्सा अब भी चालू था। इलाहाबाद के कपडे के करीब-करीब तमाम व्यापारियो ने यह वादा किया था कि वे न तो विलायती कपडा हिन्दुस्तान मे ही किसीसे खरीदेगे न विलायत से ही मगावेगे। इस मतलब के लिए उन्होने एक मण्डल भी कायम कर लिया था। मण्डल के कायदो मे यह लिखा हुआ था कि जो अपना वादा तोडेगा उसे जुर्माने की सजा दी जायगी। मैंने देखा कि कपडे के कई बडे-बडे व्यापारियो ने अपना वादा तोड दिया है और वे विदेशो से विलायती कपडा मँगा रहे है। यह उन लोगो के साथ बहुत बडी नाइसाफी थी जो अपने वादे पर डटे हुए थे। हम लोगो ने कहा-सुनी की, लेकिन कुछ नतीजा न निकला और कपडे के दूकानदारो का मण्डल किसी कारगर काम के लिए बिलकुल बेकार साबित हुआ। इसलिए हम लोगो ने तय किया कि वादा तोडनेवाले दूकानदारो की दूकानो पर धरना दिया जाय। हमारे काम के लिए धरने का इशारा-भर काफी था। बस, जुर्माने दे दिये गये और नये सिरे से फिर वादे कर लिये गये। जुर्मानो से जो रुपया आया वह दूकानदारो के मण्डल के पास गया।

दो-तीन दिन बाद अपने कई साथियो के साथ मुझे गिरफ्तार कर लिया गया। ये साथी वे लोग थे जिन्होने दूकानदारो के साथ बातचीत करने मे हिस्सा लिया था। हमारे ऊपर जबरदस्ती रुपया ऐंठने और लोगो को डराने का जुर्म लगाया गया। मेरे ऊपर, राजद्रोह समेत, कुछ और भी जुर्म लगाये गये। मैंने अपनी कोई सफाई नही दी, अदालत मे सिर्फ एक लम्बा बयान दिया। मुझे कम-से-कम तीन जुर्मों मे सजा दी गई, जिनमे जबरदस्ती रुपया ऐंठना और लोगो को दबाने के जुर्म शामिल थे। लेकिन राजद्रोहवाला मामला नही चलाया गया। क्योंकि शायद यह सोचा गया कि मुझे जितनी सजा मिलनी चाहिए थी वह पहले ही मिल चुकी है। जहाँतक मुझे याद है, मुझे तीन सजाये दी गई, जिनमे दो अठारह-अठारह महीने की थी और एक-साथ चलने को थी। मेरा खयाल है कि कुल मिलकर मुझे एक साल नौ महीने की सजा दी गई थी। यह मेरी दूसरी सजा थी। मैं छ हफ्ते के करीब जेल से बाहर रहकर फिर वही चला गया।

१३

लखनऊ-ज़िला-जेल

१९२१ मे हिन्दुस्तान मे राजनैनिक अपराधो के लिए जेल जाना कोई नई बात न थी। खासकर बग-भग-आन्दोलन के वक्त से तो बराबर ऐसे लोगो का ताता लगा रहा जो जेल जाते थे और जिनको अक्सर बडी लम्बी-लम्बी सजाये भी होती थी। बगैर मुकदमे चलाये नजरबन्दियाँ भी होती थी। लोकमान्य तिलक को, जो अपने समय के हिन्दुस्तान के सबसे बड़े नेता थे, उनको ढलती हुई उम्र मे छ साल कैद की सजा दी गई थी। पिछले महायुद्ध के कारण तो नज़रबन्दियो और जेल भेजने का यह सिलसिला और भी बढ गया, और षड्यन्त्रो के मामले बहुत होने लगे, जिनमे आमतौर पर मौत की या आजीवन कैद की सजाये दी जाती थी। अली-बन्धु और मौ० अबुलकलाम आजाद भी लडाई के जमाने मे नजरबन्द हुए थे। लडाई के बाद ही फौरन पजाब मे फौजी कानून जारी हुआ, जिनमे लोग बडी तादाद मे जेल गये और बहुत लोगो को षड्यन्त्र के या सरसरी मुकदमो मे सजाये दी गई। इस तरह हिन्दुस्तान मे राजनैतिक सजा होना एक काफी आम बात हो गई थी, मगर अभीतक खुद जान बूझ-कर कोई जेल न जाता था। लोग अपना काम करते थे और उस सिलसिले मे उन्हे राजनैतिक सजा अपने-आप मिल जाती थी, या शायद इसलिए मिल जाती थी कि खुफिया पुलिस उनको नापसन्द करती थी। लेकिन, ऐसा होने पर, अदालत मे पैरवी करके उससे बचने की पूरी कोशिश की जाती थी। हाँ, दक्षिण-अफ्रीका मे अलबत्ते सत्याग्रह की लडाई मे गांधीजी और उनके हजारो अनुयायियो ने इससे उलटी ही मिसाल पेश की थी।

मगर फिर भी १९२१ मे जेलखाना करीब-करीब एक अज्ञात जगह थी, और बहुत कम लोग जानते थे कि सजायाफ्ता आदमी को अपने अन्दर हडप जानेवाले डरावने फाटक के भीतर क्या होता है। अन्दाज से हम कुछ-कुछ ऐसा समझते थे कि जेल के अन्दर बडे-बडे खतरनाक जीव होगे, जिनके लिए कुछ भी कर गुजरना तो बाये हाथ का खेल था। हमारे खयाल से जेल एकान्त, बेइज्जती और कष्टो की जगह थी, और सबसे बडी बात यह थी कि उसके साथ अनजान जगह होने का खौफ लगा हुआ था। १९२० से जेल जाने का बार-बार जिक्र सुनते रहते के कारण, और उसमे अपने कई साथियो के चले जाने से, हम इस खयाल के आदी हो गये, और उसके बारे में आशका और अनिच्छा की जो भावना अक्सर अपने-आप पैदा हो जाती थी

उसकी तेजी कम हो गई। परन्तु दिमागी तैयारी पहले से कितनी भी की हो, जब हम लोहे के फाटक मे पहले-पहल दाखिल होते थे तो वह क्षोभ और उद्वेग से नही बचा सकती थी। उस जमाने से, जिसे आज तेरह साल हो गये, आज तक मेरे अन्दाज मे हिन्दुस्तान के कम-से-कम ३ लाख स्त्री-पुरुष उन फाटको मे राजनैतिक अपराधो के लिए दाखिल हो चुके है, हालाकि बहुत करके इलजाम फौजदारी आईन की किसी दूसरी ही दफा की रू से लगाया गया है। इनमे से हजारो तो कई बार अन्दर गये और बाहर आये है। उन्हे यह अच्छी तरह मालूम हो ही जाता है कि अन्दर वे किन बातो की उम्मीद रक्खे, और जहाँतक कोई आदमी विचित्र रूप से असाधारण नीरसता और उदासी के साथ कष्ट-सहन और भयकर एकसापन की जिन्दगी के लायक अपने-आपको बना सकता है, वहाँ तक उन्होने वहाँ की अजीब जिन्दगी के मुआफिक अपने को बनाने की कोशिश की है। हम उसके आदी हो जाते है, क्योकि इन्सान करीब-करीब हर बात का आदी हो जाता है, और फिर भी जब नई बार हम उस फाटक के अन्दर दाखिल होते है तो फिर वही कुछ पुरानी क्षोभ और उद्वेग की भावना आ जाती है और नब्ज उछलने लगती है और आँखे बरबस बाहर की हरियाली और चौड़े मैदानो, चलते-फिरते लोगो और गाडियो और जान-पहचानवालो के चेहरो की तरफ, जिन्हे अब बहुत अर्से तक देखने का मौका नहीं मिलेगा, आखिरी नजर डालने लगती है।

जेल की मेरी पहली मियाद के दिन, जो तीन महीने के बाद ही अचानक-सी खत्म हो गई, मेरे और जेल-कर्मचारियो दोनो ही के लिए क्षोभ और बेचैनी के दिन थे। जेल के अफसर इन नई तरह के अपराधियो की आमद से घबरा-से गये थे। इन नये आनेवालो की महज तादाद ही, जो दिन-ब-दिन बढती ही जाती थी, एक गैर-मामूली थी। उन्हे एक ऐसी बाढ-सी मालूम होती थी कि कही अपनी पुरानी कायम हदो को बहा न ले जाय। इससे भी ज्यादा चिन्ता की बात यह थी कि नये आनेवाले लोग बिलकुल निराले ढग के थे। यो आदमी तो सभी वर्ग के थे, मगर मध्यम-वर्ग के बहुत ज्यादा थे। लेकिन इन सब वर्गो में एक बात-सामान्य थी। वे मामूली सजायाफ्ता लोगो से बिलकुल दूसरी तरह के थे और उनके साथ पुराने तरीके से बर्ताव नही किया जा सकता था। अधिकारियो ने यह बात मानी तो, मगर मौजूदा कायदो की जगह दूसरे कायदे न थे; और न पहले की कोई मिसाले थी, न कोई पहले का तजुर्बा। मामूली कॉंग्रेसी कैदी न तो बहुत दब्बू था और न नरम। और जेल के अन्दर होते हुए भी अपनी तादाद ज्यादा होने से उसमे यह खयाल भी आ गया था कि हममे कुछ ताकत है। बाहर के आन्दोलन से, और जेलखानो के अन्दर के मामलो मे पब्लिक की नई

दिलचस्पी पैदा हो जाने के कारण, यह और भी मज़बूत हो गया था। ऐसे कुछ-कुछ तेज़ रुख के होते हुए भी हमारी आम नीति जेल-अधिकारियो से सहयोग करने की थी। अगर हम लोग उनकी मदद न करते तो अफसरो की तकलीफे बहुत ज्यादा हो गई होती। जेलर अक्सर हमारे पास आया करता था, और कुछ बैरको मे, जिनमे हमारे स्वयसेवक थे, चलकर उन्हे शान्त करने या किसी बात के लिए राज़ी करने को कहता था।

हम अपनी खुशी से जेल आये थे, और कई स्वयसेवक तो प्राय. बिना बुलाये खुद ज़बरदस्ती भीतर घुस आये थे। इस तरह यह सवाल तो था ही नही कि कोई भाग जाने की कोशिश करता। अगर कोई बाहर जाना चाहता तो वह अपनी हरकत के लिए अफसोस जाहिर करने पर या आयन्दा ऐसे काम मे न पडने का इकरार लिखने पर आसानी से बाहर जा सकता था। भागने की कोशिश करने से तो किसी हद तक बदनामी होती थी, और ऐसा काम सत्याग्रह जैसे राजनैतिक कार्य से अलग हो जाने के बराबर था। हमारे लखनऊ जेल के सुपरिन्टेन्डेन्ट ने यह बात अच्छी तरह समझ ली थी, और वह जेलर से (जो कि खानसाहब था) कहा करता था कि अगर आप कुछ कांग्रेस-स्वयसेवको को भाग जाने देने मे कामयाब हो सके, तो मै आपको खानबहादुर बनाने के लिए सरकार से सिफारिश कर दूँगा।

हमारे साथ के ज्यादातर कैदी जेल के भीतरी चक्कर की बडी-बडी बैरको मे रक्खे जाते थे। हममें से अठारह, को जिन्हे मेरे अनुमान से अच्छे बरताव के लिए चुना गया था, एक पुराने वीविंग-शेड मे रक्खा गया था, जिसके साथ एक बडी खुली हुई जगह थी। मेरे पिताजी, मेरे दो चचेरे भाई और मै, इन लोगो के लिए एक अलग सायबान था, जो करीब-करीब २०×१६ फीट था। हमे एक बैरक से दूसरी बैरक मे जाने-आने की काफी आज़ादी थी। बाहर के रिश्तेदारो से मुलाकात बहुत बार करने की इजाजत थी। अखबार आते थे, और नई गिरफ्तारियो और हमारी लडाई की बढती की ताजी घटनाओ की रोजाना खबरो से जोश का वातावरण रहता था। आपसी बातचीत और बहस मे बहुत वक्त जाता था, और मै पढना या दूसरा ठोस काम कुछ नही कर पाता था। मै सुबह का वक्त अपने सायबान को अच्छी तरह साफ करने और धोने मे, पिताजी के और अपने कपडे धोने मे और चर्खा कातने मे गुज़ारा करता था। वे जाडे के दिन थे, जोकि उत्तर-हिन्दुस्तान का सबसे अच्छा मौसम है। शुरू के कुछ हफ्तो मे हमे अपने स्वयसेवको के लिए, या उनमे से जो पढना नही जानते थे उनके लिए हिंदी उर्दू और दूसरे प्रारम्भिक विषय पढाने के लिए क्लास खोलने की इजाज़त मिल गई थी। तीसरे पहर हम वाली-बॉल खेला करते थे।[१]

१. अखबारों में एक वाहियात खबर निकली है, और हालांकि उसका खण्डन

धीरे-धीरे बन्धन बढ़ने लगे। हमें अपने अहाते से बाहर जाने और जेल के उस हिस्से में जहाँ हमारे ज्यादातर स्वयंसेवक रक्खे गये थे, पहुँचने से रोक दिया गया। तब पढ़ाई के क्लास अपने-आप बन्द हो गये। करीब-करीब उसी वक़्त मैं जेल से छोड़ दिया गया।

मैं मार्च के शुरू में बाहर निकला, और छ या सात हफ्ते बाद, अप्रैल में, फिर लौट आया। तब क्या देखता हूँ कि हालतें बहुत बदल गई थीं। पिताजी को बदल-कर नैनीताल-जेल में भेज दिया गया था, और उनके जाने के बाद फौरन ही नये कायदे लागू कर दिये गये थे। बड़े बीविंग शेड के, जहाँ पहले मैं रक्खा गया था, सारे कैदी भीतरी जेल में बदल दिये गये और वहाँ बैरकों में रख दिये गये थे। हरेक बैरक करीब-करीब जेल के अन्दर की जेल ही थी, और एक बैरक वालों को दूसरी बैरक वालों से मिलने-जुलने या बात-चीत करने की इजाजत न थी। मुलाकात और ख़त अब कम किये जाकर महीने भर में एक कर दिये गये। खाना बहुत मामूली कर दिया गया, हालाँकि हमें बाहर से खाने की चीज़ें मगाने की इजाज़त थी।

जिस बैरक में मैं रक्खा गया उसमें करीब पचास आदमी रहते होंगे। हम सबको एक-साथ ठूँस दिया गया, हमारे बिस्तरे एक-दूसरे से तीन-चार फीट के फासले पर थे। खुश-किस्मती से उस बैरक का क़रीब-क़रीब हरेक आदमी मेरा जाना हुआ था। और कई मेरे दोस्त भी थे। मगर दिन-रात एकान्त का बिल्कुल न मिलना तो नागवार होता गया। हमेशा उसी झुण्ड को देखना दिखाना, वही छोटे-छोटे झगड़े-टंटे चलते रहना, और इन सबसे बचकर शान्ति का कोई कोना भी बिलकुल न मिलना। हम सबके सामने नहाते, सबके सामने कपड़े धोते, कसरत के लिए बैरकों के चारों तरफ चक्कर लगाकर दौड़ते, और बहस और बात-चीत इस हद तक करते कि जिससे दिमाग़ थक जाता और सोच-समझकर बात भी करने की ताकत न रह जाती थी। यह कौटुम्बिक जीवन का एक नीरस—सौगुना नीरस दृश्य था, जिसमें उसका आनन्द, शोभा और सुख-सुविधा का अंश बहुत थोड़ा था, और यह सब ऐसे लोगों के साथ कि जो सब तरह के स्वभाव और रुचियों के थे। हम सबके मन

किया जा चुका है फिर भी वह समय-समय पर प्रकाशित होती रहती है। वह यह कि उस वक्त के यू० पी० के गवर्नर सर हारकोर्ट बटलर ने जेल में मेरे पिताजी के पास शैम्पेन शराब भेजी। सच तो यह है कि सर हारकोर्ट ने पिताजी के लिए जेल में कुछ नहीं भेजा। और न किसी दूसरे ने ही शैम्पेन या दूसरी कोई नशीली चीज़ भेजी। वास्तव में, कांग्रेस के असहयोग को अपना लेने के बाद, १९२० से उन्होंने शराब वग़ैरा पीना छोड़ दिया था, और उस वक्त वह कोई ऐसी चीज नहीं पीते थे।

मे इस बात का बडा उद्वेग रहता था, और मै तो अक्सर अकेला रहने के लिए तरसता रहता था। कुछ सालो के बाद तो जेल मे मुझे खूब एकान्त और अकेलापन मिल गया, जबकि महीनो तक लगातार मुझे किसी-किसी जेल-अधिकारी के सिवा और किसी की सूरत दिखाई न देती थी। तब फिर मेरे मन मे उद्वेग रहने लगा—मगर इस बार अच्छे साथियो की जरूरत महसूस करता था। अब मै कभी-कभी १९२२ मे लखनऊ-जिला-जेल मे इकट्ठा रहने की हालत को रश्क के साथ याद करता था। फिर भी मै यह खूब अच्छी तरह जानता था कि दोनो हालतो मे से मुझे अकेलापन ही ज्यादा पसन्द है, बशर्ते कि मुझे पढने लिखने की सुविधा हो।

फिर भी मुझे कहना होगा कि उस वक्त के साथी निहायत अच्छे और खुश-मिजाज थे। और हम सबकी अच्छी बनी। मगर मेरा खयाल है कि हम सभी कभी-कभी एक-दूसरे से तग-से आ जाते थे और अलहदा होकर कुछ एकान्त मे रहना चाहते थे। ज्यादा-से-ज्यादा जो एकान्त मे पा सकता था वह यही था कि मै बैरक छोड़ कर अहाते के खुले हिस्से मे आ बैठता था। इन दिनो बारिश का मौसम था और बादल होने के कारण बाहर बैठा जा सकता था। मै गरमी का, और कभी कभी बूदा-बूदी का भी मुकाबिला कर लेता था, और ज्यादा-से-ज्यादा वक्त बैरक के बाहर बिताया करता था।

खुले हिस्से मे लेटकर मै आकाश और बादलो को निहारा करता था, और जितना पहले कभी नही किया इतना महसूस करने लगा कि ये बादल कितने गजब के सुन्दर-सुन्दर रग बदलते है—

"अहो! मेघमालाओ का यह
पल-पल रूप पलटना,
कितना मधुर स्वप्न है लेटे—
लेटे इन्हे निरखना!"[१]

लेकिन वह समय मेरे लिए सुख और आनन्द-मय न था, वह तो हमारे लिए [illegible]-रूप था। मगर जो वक्त मै इन बरसाती बादलो को, जो हमेशा बदलते रहते थे, देखने मे गुजारता था वह आनन्द से भरा रहता था और मुझे राहत मालूम होती थी। मुझे ऐसा आनन्द होता मानो मैने कोई आविष्कार किया हो, और ऐसी भावना पैदा होती मानो मै कैद से छुटकारा पा गया हूँ। मै नही जानता कि खास उसी बारिश ने मुझ पर इतना बडा असर क्यो डाला, इससे पहले या बाद की किसी साल की भी बारिश

१. अग्रेज़ी में मूल पद्य इस प्रकार है—

"To watch the changing clouds, like clime in clime,
Oh! sweet to lie and bless the luxury of time"

ने इस तरह मुझे प्रभावित नहीं किया। मैंने कई बार पहाड़ों पर और समुद्र पर सूर्योदय और सूर्यास्त के दृश्य देखे थे, उनकी शोभा की तारीफ की थी और उस समय का आनन्द लूटा था एवं उनकी महान् भव्यता और सुन्दरता से उस समय आन्दोलित हो उठता था। मगर मैं उनको देखकर यही खयाल कर लेता कि ये तो रोजाना की बातें है, और दूसरी बातों की तरफ ध्यान देने लगता। मगर जेल में तो सूर्योदय और सूर्यास्त दिखाई ही नहीं देते थे। क्षितिज हम से छिपा हुआ था और सूरज देर से गरम किरणें लेकर हमारी रक्षक दीवारों के ऊपर से निकलता था। उसमें कहीं रंग का नामोनिशान नहीं होता था, और हमारी आँखें सदा उन्हीं मटमैली दीवारों और बैरकों का नजारा देखते-देखते पथरा गई थीं। वे तरह-तरह के प्रकाश, छाया और रंगों को देखने के लिए भूखी थीं ही, और जब बारिश के बादल अठखेलियाँ करते हुए गुजरने लगे, तरह-तरह की शक्लें बनाते हुए भिन्न-भिन्न प्रकार के रंगों के चमत्कार दिखाने लगे, तो मैं ताज्जुब और खुशी से उन्हें निहारने लगा और देखते-देखते मानो आनन्द में पागल हो जाता। कभी-कभी बादलों के बीच में से कुछ हिस्सा अलग हो जाता था और वर्षाऋतु का एक अद्भुत दृश्य दिखाई देता था। उस खाली जगह में से गहरा नीला आस्मान नजर आता था जो कि अनन्त का ही एक हिस्सा मालूम होता था।

हमारे ऊपर रुकावटें धीरे-धीरे बढने लगीं, और ज्यादा-ज्यादा सख्त कायदे लागू किये जाने लगे। सरकार ने हमारे आन्दोलन की नाप कर ली थी, वह हमें यह महसूस करा देना चाहती थी कि उसका मुकाबिला करने की जुर्रत करने के सबब से वह हमपर किस क़दर नाराज है। नये कायदों के चालू करने या उनके अमल में लाने के तरीकों में जेल-अधिकारियों और राजनैतिक कैदियों के बीच झगड़े होने लगे। कई महीनों तक करीब-करीब हम सबने—हम लोग उसी जेल में कई सौ थे—विरोध के तौर पर मुलाकातें करना छोड़ दिया था। जाहिरा यह खयाल किया गया कि हममें से कुछ लोग झगड़ा खड़ा करानेवाले है, इसलिए हममें से सात आदमियों को जेल के एक दूर के हिस्से में बदल दिया गया जो कि खास बैरकों से बिलकुल अलहदा था। इस तरह जिन लोगों को अलग किया गया उनमें, मैं, पुरुषोत्तमदास टण्डन, महादेव देसाई, जार्ज जोसफ, बालकृष्ण शर्मा और देवदास गांधी थे।

हमें एक छोटे अहाते में भेजा गया, और वहाँ रहने में कुछ तकलीफें भी थीं। मगर कुल मिलकर मुझे तो इस तबदीली से खुशी ही हुई। यहाँ भीड़-भाड़ नहीं थी; हम ज्यादा शान्ति और ज्यादा एकान्त से रह सकते थे। पढने या दूसरे काम के लिए वक्त ज्यादा मिलता था। हम जेल के दूसरे हिस्सों के अपने साथी-कैदियों से

अलहदा कर दिये गये और बाहरी दुनिया से भी अलहदा कर दिये गये, क्योंकि अब सब राजनैतिक कैदियो के लिए अखबार भी बन्द कर दिये गये थे।

हमारे पास अखबार नही आते थे, मगर बाहर से कोई-कोई खबर अन्दर टपक आती थी, जैसे कि जेलो मे हमेशा टपका करती है। हमारी महावारी मुलाकातो और खतो से भी हमे बाज-बाज ऐसी-वैसी खबरे मिल जाती थी। हमको पता लगा कि हमारा आन्दोलन बाहर कमजोर हो रहा है। वह चमत्कार युग गुजर गया था और कामयाबी धुधले भविष्य मे दूर जाती हुई मालूम हुई। बाहर, कांग्रेस मे दो दल हो गये थे—परिवर्तनवादी और अ-परिवर्तनवादी। पहला दल, जिनके नेता देशबन्धु दास और मेरे पिताजी थे, चाहता था कि कांग्रेस अगले केन्द्रीय और प्रान्तीय कौसिलो के चुनावो मे हिस्सा ले और हो सके तो इन कौसिलो पर कब्जा कर ले, दूसरा दल, जिसके नेता राजगोपालाचार्य थे, असहयोग के पुराने कार्यक्रम मे कोई भी परिवर्तन किये जाने के विरुद्ध था। उस समय गांधीजी तो जेल मे ही थे। आन्दोलन के जिन सुन्दर आदर्शो ने हमे ज्वार की लहरो की चोटी पर बैठे हुए की तरह आगे बढाया था वे छोटे-छोटे झगड़ो और सत्ता प्राप्त करने की साजिशो के द्वारा दूर उछाले जाने लगे। हमने यह महसूस किया कि जोश गुजर जाने के बाद रोजाना का काम चलाने की बनिस्बत उत्साह और जोश के वक्त मे बड़े-बड़े और हिम्मत के काम कर जाना कितना आसान है। बाहर की खबरो से हमारा जोश ठण्डा होने लगा, और इसके साथ-साथ जेल से दिल पर जो अलग-अलग तरह के असर पैदा होते है उनके कारण हमारा वहाँ रहना और भी दूभर हो गया। मगर, फिर भी, हमारे अन्दर यह एक तसल्ली का खयाल रहा कि हमने अपने स्वाभिमान और गौरव को सुरक्षित रक्खा है, और हमने ठीक काम ही किया है, चाहे उसका नतीजा कुछ भी हो। आगे क्या होगा यह तो साफ दिखाई नही देता था, मगर आगे कुछ भी हो, हमें ऐसा मालूम होता था कि हम कईयो की किस्मतो में तो जिन्दगी का ज्यादा हिस्सा जेलो मे गुजारना ही बदा है। इसी तरह की बाते हम आपस मे किया करते थे, और मुझे खास तौर पर याद है कि मेरी जार्ज जोसफ से एक बार बात-चीत हुई थी जिसमे हम इसी नतीजे पर पहुँचे थे। उन दिनो के बाद जोसफ हमसे दूर-ही-दूर होते चले गये है, और यहाँ तक कि हमारे कार्यों के एक जबरदस्त आलोचक भी बन गये है। क्या पता कि लखनऊ-जिला-जे के सिविल वार्ड मे शरद-ऋतु की एक शाम की हुई उस बात-चीत की याद उनको कभी आती है या नही ?

हम रोजाना कुछ काम और कसरत करने में जुट पडे। कसरत के लिए हम उस छोटे-से अहाते के चारो तरफ दौड़कर चक्कर लगाया करते थे, या दो बैलो की तरह

से दो-दो आदमी मिलकर अपने सहन के कुएँ से एक बडा चमडे का डोल खीचा करते थे। इस तरह हम अपने अहाते के एक छोटे-से शाक-भाजी के बाग मे पानी दे देते थे। हममे से ज्यादातर लोग रोजाना थोडा-थोडा सूत कातते थे। मगर उन जाडे के दिनो और लम्बी रातो मे पढना ही मेरा खास काम था। करीब-करीब हमेशा जब-जब सुपरिन्टेण्डेन्ट आता तो वह मुझे पढता हुआ ही देखता था। यह पढते रहने की आदत शायद उसे खटकी और उसने इसपर एक बार कुछ कहा भी। उसने यह भी कहा कि मैंने तो अपना साधारण पढना बारह साल की उम्र मे ही खत्म कर दिया था! बेशक, पढना छोड देने से उस बहादुर अंग्रेज कर्नल को यह फायदा ही हुआ कि उसे बेचैनी पैदा करनेवाले विचार आये ही नही, और शायद इसीसे बाद मे उसे युक्त-प्रान्त की जेलो के इन्स्पेक्टर-जनरल की जगह पर तरक्की पा जाने में मदद मिली।

जाड़े की लम्बी रातो और हिन्दुस्तान के साफ आस्मान ने हमारा ध्यान तारो की तरफ खीचा और कुछ नक्शो की मदद से हमने कई तारे पहचान लिये। हर रात हम उनके उगने का इन्तजार करते थे और अपने पुराने परिचितो के दर्शन के संतोष से उनका स्वागत करते थे।

इस तरह हम अपना वक्त गुजारते थे। दिन गुजरते-गुजरते हफ्ते हो जाते और हफ्ते महीने हो जाते। हम अपनी रोजमर्रा की रहन-सहन के आदी हो गये। मगर बाहर की दुनिया मे असली बोझ तो हमारे महिला-वर्ग पर—हमारी माताओ, पत्नियो और बहिनो पर पडा। वे इन्तजार करते-करते थक गई, और जब कि उनके प्यारे जेल के सीखचो में बन्द थे उन्हे अपनेको आजाद रखना एक लानत मालूम होती थी।

दिसम्बर १९२१ में, हमारी पहली गिरफ्तारी के बाद ही, इलाहाबाद के हमारे मकान, आनन्द-भवन, में पुलिसवालो ने अक्सर आना-जाना शुरू किया। वे उन जुर्मानो को वसूल करने आते थे, जो पिताजी पर और मुझपर किये गये थे। कांग्रेस की नीति यह थी कि जुर्माना न दिया जाय। इसलिए पुलिस रोज-रोज आती और कुछ-न-कुछ फर्नीचर कुर्क करके उठा ले जाती। मेरी चार साल की छोटी लड़की इन्दिरा इस बार-बार की लगातार लूट पर बहुत नाराज होती थी। उसने पुलिस का विरोध किया और अपनी सख्त नाराजगी जाहिर की। मुझे आशका है कि ये शुरू की बातें आमतौर पर पुलिस-दल के बारे मे भावी विचारो पर असर डाल सकती है।

जेल में पूरी कोशिश की जाती थी कि हमें मामूली गैर-राजनैतिक कैदियो से अलग रखा जाय। मामूली तौर पर राजनैतिक कैदियो के लिए अलग जेले मखसूस कर दी जाती थी। मगर पूरी तरह अलहदा किया जाना तो नामुमकिन था, और हम उन क़ैदियों से अक्सर मिल लेते थे, और उनसे तथा खुद तजुर्बे से हमने जान लिया

कि उन दिनो वास्तव मे जेल की जिन्दगी कैसी होती थी। उसे मार-पीट और जोर की रिश्वतखोरी और भ्रष्टता की एक कहानी ही समझना चाहिए। खाना बिलकुल अजीब तौर पर खराब था, मैंने कई मर्त्तबा उसे खाने की कोशिश की मगर उसे बिलकुल न खाये जाने लायक पाया। कर्मचारी आमतौर पर बिलकुल अयोग्य थे और उन्हे बहुत कम तनख्वाहे मिलती थी। मगर उनके लिए कैदियो या कैदियो के रिश्तेदारो से हर मुमकिन मौके पर रुपया ऐंठकर अपनी आमदनी बढाने का रास्ता पूरी तरह खुला था। जेलर और उसके असिस्टेण्टो और वार्डरो के फर्ज और जिम्मेदारियाँ, जेल-मैनुअल मे लिखे मुताबिक, इतनी ज्यादा और इतनी किस्म की थी कि किसी भी आदमी के लिए उन्हे ईमानदारी या योग्यता के साथ पूरा करना नामुमकिन था। युक्तप्रान्त में (और सम्भवत दूसरे प्रान्तो मे भी) जेल-शासन की सामान्य नीति का कैदी के सुधार या उसे अच्छी आदते या उपयोगी धन्धे सिखाने से कोई ताल्लुक न था। जेल की मशक़्कत का मकसद सजायाफ्ता आदमी को तग करना था[1] और यह कि उसको इतना भयभीत कर दिया जाय और दबाकर पूरी तरह तावे में कर लिया जाय, जिससे जब वह जेल से छूटे तो दिल मे उसका डर और खौफ लेकर जावे और आयन्दा जुर्म करने और फिर जेल लौटने से बाज आवे।

पिछले कुछ वरसो मे कुछ सुधार जरूर हुए है। खाना थोडा सुधरा है, और

१. युक्तप्रान्त के जेल मैनुअल को धारा ९८७ में, जो अब नये सस्करण से हटा दी गई है, लिखा था:—

"जेल में मशक़्क़त करना, सिर्फ काम देने के लिए ही नहीं बल्कि ख़ासकर सजा देने के लिए समझा जाना चाहिए। इसका भी ज्यादा ख़याल न किया जाय कि उससे खूब पैसा पैदा किया जा सकता है। सब से ज्यादा जरूरी बात यह है कि जेल का काम तकलीफ़-देह और मेहनत का होना चाहिए और उससे बदमाशों को खौफ़ पैदा होना चाहिए।"

इसके मुकाबिले में रूस के एम० एफ० एस० आर० की ताजीरात फौजदारी की नीचे लिखी धारा देखने योग्य है :—

धारा ९—"सामाजिक सुरक्षा के उपायों का यह मक़सद नहीं है कि शारीरिक यातनायें दी जायँ, न यह है कि मनुष्य के गौरव को गिराया जाय, और न यह मक़सद है कि बदला लिया जाय या दण्ड दिया जाय।"

धारा २६—"सज़ायें देना चूंकि सुरक्षा का ही एक उपाय है, वह तकलीफें देने के उसूल से बिलकुल बरी होना चाहिए, और उससे अपराधी को गैरज़रूरी या फालतू तकलीफ़ न पहुँचनी चाहिए।"

कपडे वगैरा भी सुधरे है। यह भी ज्यादातर राजनैतिक कैदियो के छूटने के बाद उनके बाहर आन्दोलन करने के कारण हुआ है। असहयोग के कारण वार्डरो की तनख्वाहो मे भी काफी तरक्की हुई है, ताकि वे 'सरकार' के वफादार बने रहे। लड़को और छोटी उम्र के कैदियो को पढ़ना-लिखना सिखाने के लिए भी अब थोड़ी-सी कोशिश की जाती है। मगर अच्छे होते हुए भी, इन सुधारो से असली सवाल कुछ भी हल नही होता है और अब भी ज्यादातर वही पुरानी स्पिरिट चली आ रही है।

ज्यादातर राजनैतिक कैदियो को मामूली कैदियो के साथ किये जाने वाले इस नियमित व्यवहार को ही सहना पडा। उन्हे कोई विशेष अधिकार या व्यवहार नही मिला, मगर दूसरो से ज्यादा तेज़-तर्रार और समझदार होने के कारण उनसे आसानी से कोई बेजा फायदा नही उठा सकता था, न उनसे रुपया ऐंठा जा सका। इस सबब से आपही कर्मचारी उन्हे पसन्द नही करते थे, और जब मौका आता तो उनमे किसी को भी जेल के कायदे टूटने पर सख्त सज़ा दी जाती थी। ऐसे ही कायदे तोडने के लिए एक छोटे लडके को, जिसकी उम्र १५ या १६ साल की थी और जो अपने को 'आज़ाद' कहता था, बेत लगाये जाने की सज़ा दी गई। वह नगा किया गया और बेत की टिकटी से बाँध दिया गया, और जैसे-जैसे बेत उसपर पडते थे और उसकी चमडी फाडकर घुस जाते थे, वह 'महात्मा गाधी की जय' चिल्लाता था, हर बेत के साथ वह लडका यही नारा लगाता रहा, जबतक कि वह बेहोश न हो गया। बाद मे वही लड़का उत्तर भारत के आतककारी कार्यो के दल का एक नेता बना।

१४

फिर बाहर

आदमी को जेल में कई बातो का अभाव मालूम होता है, मगर शायद स्त्रियो के बोलने और बच्चो के हँसने की आवाज का अभाव तो सबसे ज्यादा महसूस होता है। जो आवाज़े वहाँ आम तौर पर सुनाई देती है वे कोई बड़ी खुशगवार नही होती है। वे ज्यादातर कठोर और डराने की होती है। भाषा जगली होती है और उसमें गाली-गलौज भरी रहती है। मुझे याद है कि मुझे एकबार एक नया अभाव मालूम हुआ। मै लखनऊ-जिला जेल मे था और अचानक मुझे महसूस हुआ कि सात या आठ महीने से मैने कुत्ते का भौकना नही सुना है।

जनवरी १९२३ के आखरी दिन, लखनऊ-जेल के हम सब राजनैतिक कैदी छोड दिये गये। उस समय लखनऊ में एकसौ और दोसौ के बीच 'स्पेशल क्लास' के कैदी होगे। दिसम्बर १९२१ या १९२२ के शुरू मे जिन लोगो को एक साल या कम की सजा मिली थी, वे सब तो अपनी सजा पूरी करके चले गये थे, सिर्फ वे, जिनकी लम्बी सजाये थी, या जो दुबारा आ गये थे, रह गये थे। इस अचानक रिहाई से हम सबको बडा ताज्जुब हुआ, क्योकि आम रिहाई की पहले से कोई खबर न थी। प्रान्तीय कौसिल ने राजनैतिक कैदियो की आम रिहाई कर देने के पक्ष मे एक प्रस्ताव भी पास किया था, मगर सरकार की कार्य-कारिणी ऐसी माँगो की सुनवाई बहुत कम करती है। लेकिन इस समय ऐसा हुआ कि सरकार की निगाह मे यह वक्त मौजूँ था। काँग्रेस सरकार के विरुद्ध कुछ नही कर रही थी, और काँग्रेसवाले आपसी झगड़ो मे ही फँसे हुए थे। जेल मे भी नामी-गिरामी काँग्रेसवाले ज्यादा नही थे, इसलिए यह रिहाई कर दी गई।

जेल के फाटक से बाहर निकलने मे हमेशा राहत का भाव और आनन्दपूर्ण उत्साह रहता है। ताजी हवा और खुले मैदान, सडको पर के चलते हुए दृश्य, और पुराने मित्रो से मिलना-जुलना, ये सब दिमाग मे भर आते है और कुछ-कुछ दीवाना बना देते है। बाहर की दुनिया को देखने से पहले-पहल जो असर होता है उसमे प्राय पागलो कासा एक आनन्द छाया रहता है। हमारा दिल उछलने लगा, मगर यह भाव रहा थोडी देर के लिए ही, क्योकि काँग्रेस-राजनीति की दशा काफी निराशाजनक थी। ऊँचे आदर्शों की जगह षड्यत्र होने लगे थे, और कई गुट उन सामान्य तरीको से काँग्रेस-तन्त्र पर कब्जा करने की कोशिश करने लगे थे, जिनसे कुछ भी मृदुल भावना रखनेवाले लोगो की निगाह में राजनीति एक घृणित शब्द बन गया है।

मेरे मन का झुकाव तो कौसिल-प्रवेश के बिलकुल खिलाफ था, क्योंकि इसका जरूरी नतीजा यह मालूम होता था कि समझौता करने की चाले करनी पडेगी और अपना लक्ष्य हमेशा नीचा करना पडेगा। मगर सच पूछो तो देश के सामने कोई दूसरा राजनैतिक प्रोग्राम ही न था। अपरिवर्तनवादी 'रचनात्मक कार्यक्रम' पर जोर देते थे, जो कि दरअसल सामाजिक सुधार का कार्यक्रम था और जिसका मुख्य गुण यह था कि उसमे हमारे कार्यकर्ताओ का जनता से सम्पर्क पैदा हो जाय। मगर इससे उन लोगो को तसल्ली नही हो सकती थी जो राजनैतिक कार्य मे विश्वास करते थे, और यह कुछ अनिवार्य ही था कि सीधे सघर्ष की लहर के बाद, कि जो कामयाब न हुई हो, कौसिल-प्रवेश का कार्यक्रम आगे आवे। यह कार्यक्रम भी देशबन्धु दास और मेरे पिताजी ने, जो कि इस नये आन्दोलन के नेता थे, सहयोग और रचना के लिए नही बल्कि बाधा डालने और मुकाबिला करने की दृष्टि से सोचा था।

देशबन्धु दास कौसिल मे भी राष्ट्रीय सग्राम को जारी रखने के उद्देश से वहाँ जाने के पक्ष मे हमेशा रहे थे। मेरे पिताजी का भी लगभग यही दृष्टिकोण था। १९२० मे जो उन्होने कौसिल का बहिष्कार मजूर किया था, वह कुछ अशो मे अपने दृष्टिकोण को गाधीजी के दृष्टिकोण के अधीन कर देने के रूप मे था। वह लडाई मे पूरी तरह शामिल हो जाना चाहते थे, और उस समय ऐसा करने का एक ही रास्ता था कि गाधीजी के नुस्खे को सोलहो आना आजमाया जाय। कई नौजवानो के दिमाग मे यह भरा हुआ था कि जिस तरह सिनफीन ने पार्लमेण्ट की सीटो पर कब्जा कर लिया और फिर वे कामन्स-सभा मे दाखिल नही हुए, उसी तरह यहाँ भी किया जाय। मुझे याद है कि मैने १९२० की गर्मियो मे गाधीजी पर बहिष्कार के इस तरीके को अख्त्यार करने के लिए जोर दिया था, मगर ऐसे मामलो मे वह झुकने-वाले नही थे। मुहम्मदअली उन दिनो खिलाफत-सम्बन्धी एक डेपुटेशन के साथ योरप में थे। लौटने पर उन्होने भी बहिष्कार के इस तरीके पर अफसोस जाहिर किया था। उन्हे सिनफीन-मार्ग ज्यादा पसन्द था। मगर दूसरे व्यक्ति इस मामले मे क्या विचार रखते है, इस बात की कोई वकत न थी, क्योकि आखिरकार गाधीजी का दृष्टिकोण ही कायम रहने को था, वही आन्दोलन के जन्मदाता थे, इसलिए यह खयाल किया गया कि तफसील के मामले मे उन्हीको पूर्ण स्वतन्त्रता रहनी चाहिए। सिनफीन तरीके के बारे में उनके खास ऐतराज (हिंसा से उसका सम्बन्ध होने के अलावा) यह थे कि जनता यह सीधी बात ज्यादा आसानी से समझ सकती है कि वोट देने के मुकामो का और वोट देने का बहिष्कार कर दिया जाय, मगर सिनफीन तरीके को मुश्किल से समझेगी। चुनाव करवा लेने और फिर कौसिलो मे न जाने से जनता के

दिमाग मे उलझन पैदा हो जायगी। इसके सिवा, अगर एक बार हमारे लोग चुन दिये गये तो वे कौसिलो की तरफ ही खिचेगे और उन्हे उसके बाहर रहना मुश्किल होगा । हमारे आन्दोलन मे इतना अनुशासन और शक्ति नही है कि देर तक उन्हे बाहर रक्खा जा सके, और धीरे-धीरे अपनी स्थितियो से गिरकर लोग कौसिलो के जरिये सरकारी आश्रय का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से फायदा उठाने लगेगे।

इन दलीलो मे सचाई काफी थी, और सचमुच १९२४-२६ मे जब स्वराज-पार्टी कौसिलो मे गई तब बहुत-कुछ ऐसा हुआ भी। फिर भी कभी-कभी विचार आ ही जाता है, कि अगर काँग्रेस १९२० मे कौसिलो पर कब्जा करना चाहती तो क्या हुआ होता ? इसमे शक नही हो सकता कि चूकि उस समय खिलाफत-कमिटी भी साथ थी, वह प्रान्तीय तथा केन्द्रीय दोनो ही कौसिलो की करीब-करीब हर सीट को जीत सकती थी। आज (अगस्त, १९३३ मे) यह फिर चर्चा है कि कांग्रेस असेम्बली के लिए उम्मीदवार खडे करे, और एक पार्लमेण्टरी-बोर्ड भी बन गया है। मगर १९२० के बाद से हमारे सामाजिक और राजनैतिक जीवन मे कई बडी-बडी दरारे पड चुकी है, अत अगले चुनाव मे कांग्रेस को कितनी ही कामयाबी क्यो न मिले वह उतनी नही हो सकती जितनी १९२० मे हो सकती थी।

जेल से छूटने पर कुछ दूसरे लोगो के साथ मैंने भी कोशिश की कि विरोधी दलो में कुछ समझौता हो जाय। किन्तु हमें कुछ भी सफलता न मिली, और मै परिवर्तनवादी और अपरिवर्तनवादी झगडो से ऊब उठा। तब मैं तो युक्तप्रान्तीय कांग्रेस-कमिटी के मन्त्री की हैसियत से कांग्रेस को सगठित करने के काम मे लग गया। पिछले साल के धक्के के बाद करने के लिए काम बहुत था। मैंने बहुत मेहनत की, मगर उसमें मेरा कोई खास उद्देश न था। असल मे मेरे दिमाग के लिए कोई काम न था। मगर जल्दी ही मेरे सामने एक नई तरह का काम आ खडा हुआ। मेरी रिहाई के कुछ हफ्तो के अन्दर ही मै इलाहाबाद-म्युनिसिपैलिटी की सदारत पर बैठा दिया गया। यह चुनाव इतना अचानक हुआ कि घटना के पैंतालीस मिनट पहले तक इस बाबत किसीने भी मेरे नाम का जिक्र नही किया था, बल्कि मेरा खयाल तक नही किया था। मगर अन्तिम घड़ी मे काँग्रेस-पक्ष ने यह अनुभव किया कि मे ही उनके दल में एक ऐसा आदमी हूँ जिसका कामयाब होना निश्चित था।

उस साल ऐसा हुआ कि देशभर मे बड़े-बडे काँग्रेसवाले ही म्युनिसिपैलिटियो के प्रेसिडेन्ट बन गये। देशबन्धु दास कलकत्ता के पहले मेयर बने, विट्ठलभाई पटेल बम्बई-कार्पोरेशन के प्रेसिडेन्ट बने, सरदार वल्लभभाई अहमदाबाद के बने। युक्तप्रान्त मे ज्यादातर बड़ी म्युनिसिपैलिटियो मे काँग्रेसी ही चेयरमैन थे।

अब तो मुझे म्युनिसिपैलिटी के सभी मुख्तलिफ कामो मे दिलचस्पी पैदा होने लगी और मै उसमे ज्यादा-ज्यादा वक्त देने लगा। उसके कई सवालो ने तो मुझे लुभा ही लिया। मैने इस विषय का खूब अध्ययन किया और म्युनिसिपैलिटी का सुधार करने के मैने बहुत बडे-बड़े मनसूबे बाधे। बाद मे मुझे मालूम हुआ कि आजकल हिन्दुस्तानी म्युनिसिपैलिटियो की रचना जिस तरह की गई है उसके रहते हुए उनमे बड़े सुधारो या उन्नति के लिए बहुत कम गुजाइश है। फिर भी काम करने के लिए और म्युनिसिपल-तत्र को साफ-सूफ करने और सुगम बनाने की गुजाइश तो थी ही, और मैने इसी बात के लिए काफी मेहनत की। उन्ही दिनो मेरे पास कॉग्रेस का काम भी बढ रहा था, और प्रान्तीय सेक्रेटरी के अलावा मै अखिल-भारतीय सेक्रेटरी भी बना दिया गया था। इन मुख्तलिफ कामो के सबब अक्सर मुझे रोजाना पन्द्रह-पन्द्रह घटे तक काम करना पडता था, और दिन खत्म होने पर मै अपनेको बिलकुल थका हुआ पाता था।

जेल से घर लौटने पर मेरी ऑखो के सामने जो पहला खत आया वह इलाहाबाद-हाइकोर्ट के तत्कालीन चीफ जस्टिस सर ग्रिमवुड मियर्स का था। यह खत मेरे छूटने से पहले लिखा गया था, मगर जाहिरा यह जानते हुए लिखा गया था कि रिहाई होने वाली है। उनकी सौजन्यपूर्ण भाषा और उनसे अक्सर मिलते रहने के उनके निमन्त्रण से मुझे थोडा ताज्जुब-सा हुआ। मै उन्हे नही जानता था। वह इलाहाबाद मे अभी १९१९ मे ही आये थे, जबकि मै वकालत के पेशे से दूर होता जाता था। मेरा खयाल है कि उनके सामने मैने सिर्फ एक ही मुकदमे की बहस की थी, और हाइकोर्ट मे मेरा वह आखिरी ही मुकदमा था। किसी-न-किसी कारण से, मुझे ज्यादा जाने-बूझे बिना-ही, मेरी तरफ उनका कुछ अधिक झुकाव होने लगा। उनको यह आशा थी, उन्होने मुझे बाद मे बताया, कि मै खूब तरक्की करूगा। और इसलिए मुझे अग्रेजो के दृष्टि-कोण को समझाने मे वह मुझपर अपनी नेक सलाह का असर डालना चाहते थे। वह बड़ी बारीकी से काम कर रहे थे। उनकी राय थी, और अब भी कई अग्रेज ऐसा ही समझते है, कि हिन्दुस्तान के साधारण 'गरम' राजनीतिज्ञ ब्रिटिश-विरोधी इसलिए हो गये है कि सामाजिक दायरे मे अग्रेजो ने उनके साथ बुरा बर्ताव किया है। इसीसे नाराजगी, कड़वापन, और 'गरम-पन' पैदा हो गया है। यह कहा जाता है, और इसे कई जिम्मेदार लोगो ने भी दोहराया है, कि मेरे पिताजी को एक अग्रेज क्लब मे नही चुना गया इसीसे वह ब्रिटिश-विरोधी और 'गरम' विचार के हो गये। यह बात कतई बेबुनियाद है और एक बिलकुल दूसरी तरह की घटना का विकृत रूप है[१]। मगर कई

१. इस घटना का ज्यादा हाल जानने के लिए अध्याय ३८ का फुटनोट देखिए।

अंग्रेजों की ऐसी मिसालें, चाहे वे सही हों या गलत राष्ट्रीय आन्दोलन की उत्पत्ति का सीधा और काफी कारण मालूम होती हैं। दरहकीकत, मेरे पिताजी को और मुझे इस मामले में कोई खास शिकायत थी ही नहीं। व्यक्तिगत रूप से अंग्रेज हमेशा हमसे शिष्टता से पेश आते थे और उनसे हमारी अच्छी बनती है, हालांकि सभी हिन्दुस्तानियों की तरह बेशक हमें अपनी जाति की गुलामी का भान रहा और वह हमें बहुत ज्यादा खटकती रही। मैं मानता हूँ कि आज भी मेरी अंग्रेजों से बहुत अच्छी पटती है, बशर्ते कि वह कोई अधिकारी न हो और मुझे बड़ा बनकर अपनाना न चाहता हो, और इतने पर भी हमारे सम्बन्धों में खुश-मिजाजी की कमी नहीं होती। शायद नरम दलवालों तथा अन्य लोगों की बनिस्बत, जो हिन्दुस्तान में अंग्रेजों से राजनैतिक सहयोग करते हैं, मेरा अंग्रेजों से ज्यादा मेल खाता है।

सर ग्रिमवुड का इरादा था कि दोस्ताना मेल-जोल, स्पष्टवादिता और शिष्टता-पूर्ण बर्ताव के द्वारा कटुता के इस मूल कारण को निकाल डालें। मेरी उनसे कई बार मुलाकात हुई। किसी-न-किसी म्यूनिसिपल टैक्स पर ऐतराज करने के बहाने वह मुझसे मिलने आया करते थे और दूसरी बातों पर बहस किया करते थे। एक मर्तबा उन्होंने हिन्दुस्तान के लिबरलों पर खूब हमला किया। वह उन्हें डरपोक ढीले, मौका-परस्त—जिनमें न चरित्र-बल है, न दमखम—कहने लगे, और उनकी भाषा में कठोरता और घृणा आ गई। उन्होंने कहा—"क्या आप समझते हैं कि हमारे दिल में उनके लिए कोई इज्जत है?" मुझे ताज्जुब होता था कि वह मुझसे इस तरह की बातें क्यों कर रहे हैं, शायद उनका खयाल था कि ऐसी बातों से मैं खुश होऊँगा। इसके बाद बात-चीत फेरकर वह नई कौंसिलों, उनके मन्त्रियों और मन्त्रियों को देश-सेवा करने का कितना बड़ा मौका हासिल है इन बातों की चर्चा करने लगे। देश के सामने सबसे जरूरी सवाल तालीम का है। क्या किसी शिक्षा-मन्त्री को, जिसे अपनी इच्छा के अनुसार काम करने की आजादी हो, लाखों आदमियों की किस्मत सुधारने का मौका नहीं है, क्या यह जिन्दगी का सबसे बड़ा मौका नहीं है? उन्होंने कहा फर्ज कीजिए कि आप जैसा कोई आदमी, जिसमें समझदारी, चरित्र-बल, आदर्श और आदर्शों को अमल में लाने की ताकत हो, प्रान्त की शिक्षा का जिम्मेदार हो, तो क्या आप अद्भुत काम करके नहीं दिखा सकते? और उन्होंने कहा कि मैं हाल में ही गवर्नर से मिला हूँ, और विश्वास रखिए कि आपको अपनी नीति पर चलने की पूरी आजादी रहेगी। फिर, शायद यह अनुभव करके कि वह जरूरत से ज्यादा आगे बढ़ गये हैं, उन्होंने कहा कि वह सरकारी तौर पर किसी की तरफ से कोई वादा तो नहीं कर सकते, मगर जो तजवीज उन्होंने रक्खी है वह उनकी जाती ही है।

सर ग्रिमवुड ने बडी सफाई और टेढे-मेढे तरीके से जो पस्ताव रक्खा उसकी तरफ मेरा ध्यान तो गया। मगर सरकार का मन्त्री बनकर उसका साथ देने का विचार मैं कर भी नही सकता था। वास्तव मे इस खयाल से ही मैं नफरत करता था। मगर, उस समय और उसके बाद भी, कुछ ठोस, निश्चित और रचनात्मक काम करने का मौका पाने की मैंने अक्सर तमन्ना की है। विध्वस, आन्दोलन और असहयोग तो मानव-प्राणी की दैनिक प्रवृत्तियाँ नही हो सकती। फिर भी हमारी किस्मत मे यही लिखा है कि हम सघर्ष और विनाश के रेगिस्तान मे से गुजरने के बाद ही उस देश मे पहुँच सकते है जहाँ हम रचना कर सकते है, और सम्भव है कि हममे से ज्यादातर लोग अपनी शक्तियो और जीवन को उन परिवर्तनशील रेगिस्तानो मे से गुजरने की सख्त जद्दोजहद करते हुए ही बिता देंगे, और रचना का काम हमारे बच्चो या बच्चो के बच्चो के हाथ से होगा।

उन दिनो, कम-से-कम युक्तप्रान्त मे तो, मन्त्रि-पद बहुत सस्ते हो गये। दो नरम-दली मन्त्री, जो असहयोग के जमाने मे काम कर रहे थे, हट गये थे। जब कॉंग्रेस के आन्दोलन ने मौजूदा निजाम को तोडना चाहा, तब सरकार ने कॉंग्रेस से लड़ने के लिए नरम-दली मन्त्रियो से फायदा उठाने की कोशिश की। मन्त्रि-मण्डल के लोग उन दिनो उनको मान देते थे और उनके प्रति आदर प्रदर्शित करते थे, क्योकि उस मुश्किल वक्त मे उन्हे सरकार का हिमायती बनाये रखने के लिए यह जरूरी था। शायद वे समझते थे कि यह मान और इज्जत उन्हे बतौर हक के दिये गये है, मगर वे नही जानते थे कि यह तो कॉंग्रेस से सामूहिक आक्रमण के परिणाम-स्वरूप सरकार की एक चालमात्र थी। जब वह आक्रमण हटा लिया गया, तो सरकार की निगाह मे नरम-दली मन्त्रियो की कीमत बहुत गिर गई, और साथ ही वह मान और इज्जत भी जाती रही। मन्त्रियो को यह अखरा, मगर उनका कुछ बस न चला, और जल्दी ही उन्हे इस्तीफा दे देना पडा। तब नये मन्त्रियो के लिए तलाश होने लगी, और इसमे जल्दी कामयाबी नही हुई। कौसिल मे जो मुट्ठीभर नरम-दली लोग थे वे अपने साथियो की, जो बगैर किसी लिहाज के निकाल बाहर किये गये थे, हमदर्दी के सबब दूर ही रहे। दूसरे लोगो मे से जो ज्यादातर जमीदार थे, शायद ही कुछ ऐसे हो जो मामूली तौर पर भी तालीम-याफ्ता कहे जा सके। कॉंग्रेस द्वारा कौसिलो का बहिष्कार होने से उनमे एक अजीब किस्म का गिरोह दाखिल हो गया था।

एक बात प्रसिद्ध है कि इसी समय, या कुछ वक्त बाद, एक शख्स को मन्त्री बनने के लिए कहा गया। उसने जवाब दिया कि मै बहुत होशियार आदमी होने का फख्र तो नही करता, मगर मे अपने को मामूली समझदार और शायद औसत दर्जे

के लोगो से कुछ ज्यादा ही समझदार समझता हूँ, और मैं समझता हूँ कि मेरी ऐसी शोहरत भी है, क्या सरकार चाहती है कि मैं मन्त्री-पद मजूर करलूँ और दुनिया मे अपने-आपको सख्त बेवकूफ जाहिर करूँ ?

यह विरोध कुछ उचित भी था। नरम-दली मन्त्री सकुचित विचार के थे, राजनीति या सामाजिक मामलो मे उनकी निगाह दूर तक नही जाती थी। मगर यह तो उनके बेकार उसूलो का कुसूर था। परन्तु एक पेशेवर की हैसियत से उनकी लियाकत अच्छी थी, और अपने दफ्तर का रोजमर्रा का काम वे ईमानदारी से करते थे। उनके बाद जो मत्री बने उनमे से कुछ जमीदार-वर्ग मे से आये, और उनकी शिक्षा, जाब्ते के मानी मे भी बहुत ही सीमित थी। मै समझता हूँ कि उन्हे ठीक तौर पर सिर्फ साक्षर कह सकते थे, इससे ज्यादा नही। कभी-कभी ऐसा मालूम पडता था कि गवर्नर ने इन भले आदमियो को हिन्दुस्तानियो को बिलकुल नाकाबिल साबित करने के लिए ही चुना और ऊँची जगह पर मुकर्रर कर दिया था। उनके बारे मे यह कहना बिलकुल मुनासिब होगा कि —

दिया भाग्य ने इसी हेतु तुझको यह ऊँचा उद्भव है,
जिससे दुनिया कहे भाग्य को कुछ भी नही असभव है।[1]

तालीम-याफ्ता हो या नही, मगर इन मन्त्रियो की तरफ जमीदारो के वोट तो थे ही, और वे बडे अफसरो को बढिया गार्डन-पार्टियां भी दे सकते थे। भूख से तडपते हुए किसानो से जो रुपया उनके पास आता था, उसका इससे अच्छा इस्तैमाल और क्या हो सकता था।

१. रिचर्ड गार्नेट के एक पद्य का अनुवाद। मूल पद्य इस प्रकार है—

"Fortune advanced thee that all might aver
That nothing is impossible to her"

१५

सन्देह और संघर्ष

मैं बहुत-से कामो मे लग गया, और इस तरह मैने उन मसलो से बचने की कोशिश की जो मुझे परेशानी मे डाले हुए थे। लेकिन उनसे बचना मुमकिन न था। जो सवाल बार-बार मेरे मन मे उठते थे, और जिनका कोई सतोषजनक जवाब मुझे नही मिलता था, उनसे मै कहाँ भाग सकता था ? बात यह है कि वह १९२०-२१ की तरह मेरी आत्मा का सोलहो आने प्रतिबिम्ब नही था। इन दिनो जो काम मै करता था वह सिर्फ इसलिए कि मै अपने अन्तर्द्वन्द्व से बचना चाहता था। उस वक्त जो आवरण मुझपर पडा हुआ था अब उससे मै निकल आया था, और अपने चारो तरफ हिन्दुस्तान मे और हिन्दुस्तान से बाहर जो कुछ हो रहा था उसपर निगाह डाल रहा था। मैने बहुत-से ऐसे परिवर्त्तन देखे जिनकी तरफ अभीतक मेरा खयाल ही नही गया था। मैने नये-नये विचार देखे, और नये-नये सघर्ष, और मुझे प्रकाश की जगह उलटे बढती हुई अस्पष्टता दिखाई दी। गाधीजी के नेतृत्व में मेरा विश्वास बना रहा, लेकिन उनके प्रोग्राम के कुछ हिस्सो की मै बारीकी से छान बीन करने लगा। पर वह तो थे जेल में। हम लोग जब चाहते तब उनसे मिल नही सकते थे, और न उनकी सलाह ही ले सकते थे। उन दिनो जो दो पार्टियाँ—कौसिल-पार्टी और अपरिवर्तनवादी—काम कर रही थी उनमें से कोई भी मुझे अपनी तरफ नही खीच रही थी। कौसिल-पार्टी जाहिरा तौर पर सुधारवाद और विधानवाद की तरफ झुक रही थी, और मुझे लगा कि यह मार्ग तो हमे एक अन्धी गली में ले जाकर पटक देगा। अपरिवर्त्तनवादी गाधीजी के कट्टर अनुयायी माने जाते थे, लेकिन महान् पुरुषो के दूसरे सब अनुयायियो की तरह वे भी उनके उपदेशो के सार को न मानकर उनके अक्षरो के अनुसार चलते थे। उनमे सजीवता और सचालक-शक्ति नही थी, और अमल मे उनमे से ज्यादातर लोग लडाकू नही थे और सीधे-सादे समाज-सुधारक थे। लेकिन उनमें एक गुण था। आम किसानो से उन्होने अपना सम्बन्ध बनाये रक्खा था, जबकि कौसिलो मे जानेवाले स्वराजी सोलहो आने पार्लमेण्टो की पैतरेबाजियो मे ही लगे रहे।

मेरे जेल से छूटते ही देशबन्धु दास ने मुझे स्वराजियो के मत का बनाने की कोशिश की। यद्यपि मुझे दिखाई नही देता था कि मुझे क्या करना चाहिए, और उन्होने अपनी वकालत खर्च करदी, तो भी मेरा दिल उनके अनुकूल न हुआ। यह बात विचित्र किन्तु ध्यान देने योग्य थी, जिससे कि मेरे पिताजी के स्वभाव का पता भी

लगता था, कि उन्होने मुझपर कभी इस बात के लिए जोर या असर डालने की कोशिश नही की कि मैं स्वराजी हो जाऊँ, यद्यपि वह खुद स्वराज-पार्टी के लिए उन दिनो बहुत उत्सुक थे। साफ जाहिर है कि अगर मैं उनके आन्दोलन मे उनके साथ हो जाता तो उन्हे बडी खुशी होती, लेकिन मेरे लिए उनके दिल मे इतना ज्यादा खयाल था कि जहाँतक इस मामले से ताल्लुक था उन्होने सब कुछ मेरी मर्जी पर ही छोड दिया, मुझसे कभी कुछ नही कहा।

इन्ही दिनो मे मेरे पिताजी और देशबन्धु दास में बहुत गहरी दोस्ती पैदा हो गई। यह दोस्ती राजनैतिक मित्रता से कही ज्यादा गहरी थी। इस दोस्ती मे मैंने जो मुहब्बत की गहराई और अपना-पन देखा उसपर कम अचरज न हुआ, क्योकि बडी उम्र मे तो गहरी दोस्तिया शायद ही कभी पैदा होती हो। पिताजी के मेल-मुलाकातियो की तादाद बहुत वडी थी। उनके साथ हँस-खेलकर जिन्दगी काटने का उनमे विशेष गुण था। लेकिन वह दोस्ती बहुत सोच-विचारकर ही करते थे, और जिन्दगी के पिछले सालो मे तो वह जीवन के मागल्य मे विश्वास खो वैठे थे। लेकिन उनके और देशबन्धु के बीच मे तो कोई बाधा न ठहर सकी, और दोनो एक-दूसरे को तहे-दिल से चाहने लगे। मेरे पिताजी देशबन्धु से नौ वरस वडे थे। फिर भी शारीरिक दृष्टि से वही ज्यादा ताकतवर और तन्दुरुस्त थे। हालाकि दोनो की कानूनी शिक्षा और वकालत की कामयाबी का पिछला इतिहास एक-सा ही था, फिर भी दोनो मे कई बातो मे बडा फर्क था। देशबन्धु दास वकील होने पर भी कवि थे। उनका दृष्टिकोण भावुकता-मय—कवियो का सा—था। मेरा खयाल है कि उन्होने बगाली मे बहुत अच्छी कवितायें भी लिखी हैं। वह बडे अच्छे वक्ता थे, तथा उनकी प्रकृति धार्मिक थी। मेरे पिताजी उनसे अधिक अमली और रूखे-से थे, उनमे सगठन करने की बहुत बडी शक्ति थी, और मजहब का उनमे नामो-निशान भी न था। वह हमेशा लडाके रहे थे, हर वक्त चोट खाने और करने को तैयार। जिन लोगो को वह बेवकूफ समझते थे उनको कतई बरदाश्त नही कर सकते थे। कम-से-कम खुशी से तो नही करते थे। और वह अपने विरोध को भी बरदाश्त नही कर सकते थे। कोई उनका विरोध करता तो उन्हे वह ऐसी चुनौती मालूम पडती जिसका बुरी तरह मुकाबला करना ही चाहिए। मालूम होता था कि मेरे पिताजी और देशबन्धु यद्यपि कई बातो मे एक-दूसरे से भिन्न थे, फिर भी एक-दूसरे के साथ अच्छा मेल खा गये। पार्टी के नेतृत्व के लिए इन दोनो का मेल बहुत ही उम्दा और कारगर साबित हुआ। इनमे हरेक, कुछ हद तक, दूसरे की कमी को पूरा करता था। दोनो को आपस मे एक-दूसरे पर पूरा भरोसा था। यहाँतक कि दोनो ने एक-दूसरे को यह अख्त्यार दे दिया

था कि किसी भी किस्म का बयान या ऐलान निकालते वक्त दूसरे के नाम का इस्तैमाल कर सकते है। इसके लिए पहले से पूछने या सलाह लेने की कोई जरूरत न थी।

स्वराज-पार्टी को मजबूती के साथ कायम करने मे और देश मे उसकी ताकत और धाक जमाने मे इस जाती दोस्ती का बहुत कुछ हाथ था। शुरू से ही इस पार्टी में छिन्न-भिन्न होनेवाली प्रवृत्तिया थी, क्योकि कौसिलो के जरिये अपनी जाती तरक्की की गुजाइश होने की वजह से बहुत-से मौका-परस्त और ओहदो के भूखे लोग उसमे आ घुसे थे। उसमे कुछ असली माडरेट भी थे, जिनका झुकाव सरकार के साथ ज्यादा सहयोग करने की तरफ था। चुनाव के बाद ज्योही ये प्रवृत्तिया सामने आने लगी, त्योही पार्टी के नेताओ ने उनकी निन्दा की। मेरे पिताजी ने ऐलान किया कि मै पार्टी के शरीर से सडे हुए अग को काटने मे न हिचकूँगा, और उन्होने अपने इसी ऐलान के अनुसार काम किया भी।

१९२३ से आगे अपने पारिवारिक जीवन मे मुझे बहुत सुख व सतोष मिलने लगा, हालॉकि मै पारिवारिक जीवन के लिए बिलकुल वक्त न दे सकता था। अपने पारिवारिक सबधो मे मै बडा भाग्यशाली रहा हूँ। ज़बरदस्त कशमकश और मुसीबतो के वक्त मे मुझे अपने परिवार मे शान्ति और सान्त्वना मिली है। मैने महसूस किया कि इस दिशा मे मै खुद कितना अपात्र निकला। यह सोचकर मुझे कुछ शर्म भी मालूम हुई। मैने महसूस किया कि १९२० से लेकर मेरी पत्नी ने जो उत्तम व्यवहार किया उसका मै कितना ऋणी हूँ। स्वाभिमानी और मृदुल स्वभाव की होते हुए भी उसने न सिर्फ मेरी सनको ही को बरदाश्त किया, बल्कि जब-जब मुझे शान्ति और तसल्ली की सबसे ज्यादा जरूरत थी तब-तब वह उसने मुझे दी।

१९२० से हमारे रहन-सहन के ढग मे कुछ फर्क पड गया था। वह बहुत सादा हो गया था, और नौकरो की तादाद भी बहुत कम कर दी थी। फिर भी उससे किसी आवश्यक आराम मे कोई कमी नही हुई थी। किसी हद तक तो गैर-जरूरी चीजो को अलग करने के लिए, और कुछ हद तक चालू खर्च के लिए रुपया इकट्ठा करने के वास्ते, बहुत-सी चीजे, घोडे-गाडिया और घर-गृहस्थी की वे सब चीजे जो हमारे रहन-सहन के नये ढग के लिए मौजूँ नही थी, बेच दी गई थी। हमारे फर्नीचर का कुछ हिस्सा तो पुलिस ने ही लेकर बेच दिया था। इस फर्नीचर की और मालियो की कमी से घर की सफाई और खूबसूरती जाती रही, और बाग जगल-सा हो गया। कोई तीन साल तक घर व बाग की तरफ नही के बराबर ध्यान दिया गया था। बहुत हाथ खोलकर खर्च करने के आदी होने की वजह से पिताजी कई बातो की

किफायतशारी को पसन्द नही करते थे। इसलिए उन्होने तय किया कि वह, घर बैठे-वैठे, लोगो को कानूनी सलाह देकर कुछ पैसे पैदा किया करे।

जो वक्त सार्वजनिक कामो से वचा रहता उसमे वह यह काम करते थे। उनके पास वक्त वहुत कम बचता था, फिर भी वह इस हालत मे भी काफी कमा लेते थे।

खर्च के लिए पिताजी पर अवलम्बित रहने की वजह से मैं वहुत ही दुख और ग्लानि महसूस करता था। जबसे मैंने वकालत छोडी थी, तबसे असल मे मेरी कोई निजी आमदनी नही रही—सिर्फ उस न-कुछ आमदनी को छोडकर, जो शेअरो के मुनाफे—डिवीडेंण्ड—के रूप मे मिलती थी। मेरा और मेरी पत्नी का खर्च ज्यादा न था। सच वात तो यह है कि मुझे यह देखकर काफी अचरज हुआ कि हम लोग इतने कम खर्च मे अपना काम चला लेते है। इसका पता मुझे १९२१ मे लगा, और उससे मुझे वडी तसल्ली हुई। खादी के कपडो और रेल के तीसरे दर्जे के सफर मे ज्यादा खर्च नही पडता। उन दिनो पिताजी के साथ रहने की वजह से मैं पूरी तरह यह महसूस नही कर सका कि इनके अलावा भी घर-गृहस्थी के ऐसे वहुत वे-शुमार खर्च है जिनका जोड वहुत ज्यादा वैठता है। कुछ भी हो, रुपया न रहने के डर ने मुझे कभी नही सताया। मेरा खयाल है कि जरूरत पडने पर मैं काफी कमा सकता हूँ, और हम लोग अपना काम अपेक्षाकृत कम खर्च मे चला सकते है।

पिताजी के ऊपर हमारा कोई वहुत वडा वोझ नही था। इतना ही नही, अगर उनको इस वात का इशारा भी मिल जाता कि हम अपनेको उन-पर एक बोझ समझते है तो उन्हे वडा दुख होता। फिर भी मै जिस हालत मे था उसको पसन्द नही करता था, और अगले तीन साल तक मैं इस मामले पर सोचता रहा, लेकिन मुझे उसका कोई हल नही मिला। मुझे ऐसा काम ढूँढ लेने मे कोई मुश्किल न थी जिससे मैं कमाई कर लेता, लेकिन ऐसा काम कर लेने के मानी थे कि पब्लिक का जो काम मै कर रहा था उसे या तो वन्द कर दूँ या कम कर दूँ। इस वक्त तक मैं जितना समय दे सकता था वह सव मैंने कॉंग्रेस और म्युनि-सिपैलिटी के काम मे लगाया। मुझे यह वात पसन्द नही आई कि मै रुपया कमाने के लिए उस काम को छोड दूँ। इसलिए वडे-वडे औद्योगिक फर्मो ने मुझे रुपये की दृष्टि से बडे-बडे लाभदायक काम सुझाये, मगर उनको मैंने नामजूर कर दिया। शायद वे इतना ज्यादा रुपया महज़ मेरी लियाकत के खयाल से उतना नही देना चाहते थे, जितना कि मेरे नाम का फायदा उठाने की दृष्टि से। मुझे वडे-वड़े उद्योग-धन्धे वालो के साथ इस तरह का सम्वन्ध करने की वात अच्छी नही लगी। मेरे लिए यह वात विलकुल गैर-मुमकिन थी कि मै फिर से वकालत का पेशा अख्त्यार

करता, क्योंकि वकालत के लिए मेरी अरुचि बढ गई थी, और वह बढती ही चली गई।

१९२४ की कॉंग्रेस मे एक बात यह उठी थी कि प्रधान-मन्त्रियो को तनख्वाह दी जानी चाहिए। मै उस वक्त भी कॉंग्रेस का एक प्रधान-मन्त्री था, और मैंने इस विचार का स्वागत किया था। मुझे यह बात बिलकुल गलत मालूम होती थी, कि किसीसे एक तरफ तो यह उम्मीद की जाय कि वह अपना पूरा वक्त देकर काम करे और दूसरी तरफ उसे कम-से-कम पेट भरने भर को भी कुछ न दिया जाय। नही तो हमे ऐसे ही आदमियो के भरोसे सार्वजनिक काम छोडना पडेगा, जिनके पास खर्चे का निजी इन्तज़ाम हो। लेकिन इस तरह की फुरसतवाले लोग राजनैतिक दृष्टि से हमेशा वाञ्छनीय नही होते, और न आप उनको उनके काम के लिए जिम्मेदार ही ठहरा सकते है। मगर कॉंग्रेस ज्यादा नही दे सकती थी, क्योंकि हमारी वेतन की दर बहुत कम थी। लेकिन हिन्दुस्तान मे सार्वजनिक फण्डो से तनख्वाह लेने के खिलाफ एक अजीब और बिलकुल अनुचित धारणा फैली हुई है, हालाकि सरकारी नौकरी के बाबत यह बात नही है, और इसलिए पिताजी ने इस बात पर बहुत ऐतराज किया कि मै कॉंग्रेस से तनख्वाह लूँ। मेरे सहकारी मन्त्री महाशय को रुपयो की सख्त जरूरत थी, लेकिन वह भी काग्रेस से तनख्वाह लेना शान के खिलाफ समझते थे। इसलिए मुझे भी उसके बिना ही रहना पड़ा, हालाकि मै उसमे कोई बेज्इजती की बात नही समझता था और सोलहो आने तनख्वाह लेने को तैयार था।

सिर्फ एक मर्त्तबा मैंने इस मामले मे पिताजी से बातें की, और उनसे कहा कि रुपये के लिए परावलम्बी रहना मुझे कितना नापसन्द है। मैंने यह बात जहॉंतक हो सकता था वहाँतक बड़े सकोच से और घुमा-फिराकर कही, जिससे उन्हे बुरा न लगे। उन्होने मुझे बताया कि "तुम्हारे लिए अपना सारा या ज्यादातर वक्त पब्लिक के काम के बजाय थोड़ा-सा रुपया कमाने मे लगाना बडी बेवकूफी होगी, जबकि मैं (पिताजी) थोडे दिनो की मेहनत से आसानी से उतना रुपया कमा सकता हू जितना तुम्हारे और तुम्हारी पत्नी के लिए सालभर काफी होगा।" दलील जोरदार थी, लेकिन उससे मुझे सन्तोष नही हुआ। फिर भी मै उसके मुताबिक ही काम करता रहा।

इन कौटुम्बिक मामलो मे और रुपये-पैसे की परेशानियो मे १९२३ से लेकर १९२५ तक के साल बीत गये। इस बीच मे राजनैतिक हालत बदल रही थी, और करीब-करीब अपनी मर्जी के खिलाफ मुझे भिन्न-भिन्न समूहो मे अपनेको शामिल करना पडा, और कॉंग्रेस मे भी मुझे जिम्मेदारी का पद लेना पडा। १९२३ मे एक

अजीब हालत थी। देशबन्धु दास पिछले साल गया-कॉंग्रेस के सभापति थे। उस हैसियत से वह १९२३ के लिए अ० भा० कॉंग्रेस कमिटी के पदेन अध्यक्ष थे। लेकिन इस कमिटी में कसरत राय उनके व स्वराजी नीति के खिलाफ थी, यद्यपि यह बहुमत बहुत थोडा-सा था और दोनो दल करीब-करीब बराबर थे। १९२३ की गर्मियो मे बम्बई में अ० भा० कॉंग्रेस कमिटी की बैठक मे मामला यहाँ तक बढ गया कि देशबन्धु दास ने कमिटी की अध्यक्षता से इस्तीफा दे दिया और एक छोटा-सा मध्यवर्ती दल आगे आया और उसीने नई कार्य-समिति बनाई। अ० भा० कॉंग्रेस कमिटी मे इस मध्यवर्ती दल के कोई समर्थक न थे, और यह दो मुख्य पार्टियों मे से किसी-न-किसी की कृपा पर ही जीवित रह सकता था। किसी भी एक दल से मिलकर वह दूसरे को थोडे-से बहुमत से हरा सकता था। डॉक्टर अन्सारी नये अध्यक्ष बने और मैं एक मन्त्री।

फौरन ही हमे दोनो तरफ से मुसीबतो का सामना करना पडा। गुजरात ने जो उन दिनो अपरिवर्तनवादियो का एक मजबूत किला था, केन्द्रीय कार्यालय की कुछ हिदायतो को मानने से इन्कार कर दिया। गर्मियो के अखीर मे उसी साल नागपुर में अ० भा० कॉंग्रेस कमिटी की बैठक की गई। नागपुर मे इन दिनो झण्डा-सत्याग्रह चल रहा था। यही हमारी कार्य-समिति का, जो अभागे मध्यवर्ती दल की प्रतिनिधि थी, थोड़े वक्त तक बदनाम जिन्दगी बिताने के बाद खातमा हो गया। इस समिति को इसलिए हटाना पडा कि असल मे खास तौर पर वह किसीकी भी प्रतिनिधि नही थी; और वह उन्ही लोगो पर हुकूमत चलाना चाहती थी, जिनके हाथ में कॉंग्रेस-सगठन की असली ताकत थी। कार्य-समिति के इस्तीफा देने का कारण यह हुआ कि उसने केन्द्रीय कार्यालय का हुक्म न मानने के लिए गुजरात कमिटी पर लानत का जो प्रस्ताव रक्खा था वह गिर गया। मुझे याद है कि अपना इस्तीफा देते हुए मुझे कितनी खुशी हुई और मैंने कितने संतोष की साँस ली। पार्टी की पैंतरेबाजियो के इस थोड़े से ही अनुभव से मैं बिलकुल उकता गया, और मुझे यह देखकर बडा धक्का लगा कि कुछ मशहूर कॉंग्रेसी भी इस तरह साजिश कर सकते है।

इस मीटिंग मे देशबन्धु दास ने मुझपर यह इल्जाम लगाया कि तुम कठोर-हृदय हो। मैं समझता हूँ कि उनका खयाल सही था। तुलना के लिए जिस पैमाने से काम लिया जाय उसीपर सब कुछ निर्भर रहता है। अपने बहुत-से दोस्तो और साथियो के मुकाबले में मैं कठोर-हृदय हूँ। फिर भी मुझे अपने बाबत हर वक्त यह डर रहता है कि कही मैं भावुकता या क्रोध की लहर मे डूब या बह न जाऊँ। बरसो मैंने इस बात की कोशिश की है कि मैं कठोर-हृदय हो जाऊँ। लेकिन मुझे डर है कि इस मामले में मुझे जो कामयाबी मिली वह सिर्फ ऊपरी रही है।

१६

नाभा का नाटक

स्वराजिस्टों और अपरिवर्तनवादियो की कशमकश चलती रही और स्वराजिस्टो की ताकत धीरे-धीरे बढती गई। १९२३ के सितम्बर मे दिल्ली मे कॉंग्रेस का जो खास अधिवेशन हुआ, उसमे स्वराजिस्टो का जोर और बढ गया। इस कॉंग्रेस के बाद ही मेरे साथ एक ऐसी घटना हुई जो बडी अजीब थी और जिसकी मुझे कोई उम्मीद नही थी।

सिख, और उनमें से खासकर अकाली, पजाब मे बार-बार सरकार के सघर्ष मे आ रहे थे। उनमें एक धार्मिक आन्दोलन उठ खडा हुआ था, और उसने यह काम हाथ मे लिया कि बदचलन महन्तो को निकाल कर उपासना के स्थानो पर और उनकी सम्पत्ति पर कब्जा करके गुरुद्वारो को इस खराबी से छुडाया जाय। सरकार ने इसमे दखल दिया और सघर्ष हो गया। गुरुद्वारा-आन्दोलन कुछ-कुछ असहयोग से उत्पन्न हुई जागृति के सबब से पैदा हुआ था, और अकालियो के तरीके अहिंसात्मक सत्याग्रह के ढंग पर बनाये गये थे। यो सघर्ष कई जगहो पर हुए, मगर सबसे बडी लडाई गुरु-का-बाग की थी, जहाँ बीसियो सिखो ने, जिनमें कई पहले फौज मे काम किये हुए सिपाही भी शामिल थे, हाथ तक उठाये बिना या अपने कर्त्तव्य से पीठ फेरे बिना पुलिस की पाशविक मार का सामना किया। इस साबित-कदमी और हिम्मत के अजीब दृश्य से सारा हिन्दुस्तान चकित हो उठा। सरकार ने गुरुद्वारा-कमिटी को गैरकानूनी करार दे दिया, और यह लडाई कुछ बरसो तक जारी रही, और अन्त मे सिख कामयाब हुए। स्वभावत. कॉंग्रेस की इसमें हमदर्दी थी, और उसने कुछ वक्त तक अमृतसर में अकाली-आन्दोलन से निकट सम्पर्क बनाये रखने के लिए बतौर माध्यम के खास कर्मचारी मुकर्रर किया था।

जिस घटना का मै जिक्र करनेवाला हूँ उसका इस आम सिख-आन्दोलन से कोई ताल्लुक नही था। मगर इसमे शक नही कि वह घटना इस सिख-हलचल के सबब से ही हुई। पजाब की दो सिख रियासतो, पटियाला और नाभा, के नरेशो मे बडा गहरा जाती झगडा था, जिसका नतीजा यह हुआ कि भारत-सरकार ने महाराजा नाभा को गद्दी से उतार दिया। नाभा रियासत की हुकूमत करने को एक अग्रेज एडमिनिस्ट्रेटर मुकर्रर कर दिया गया। सिखो ने महाराजा नाभा के गद्दी से उतारे जाने का विरोध किया, और उसके विरुद्ध नाभा में और बाहर दोनो जगह आन्दोलन उठाया। इस

आन्दोलन के बीच मे, जैतो नामक स्थान पर, एक धार्मिक उत्सव को नये एडमिनिस्ट्रेटर ने रोक दिया। इसका विरोध करने के लिए, और रोके हुए उत्सव को जारी रखने के घोषित उद्देश् से, सिखो ने जैतो को जत्थे भेजने शुरू किये। पुलिस इन जत्थो को रोकती, मारती, गिरफ्तार करती और आम तौर पर जगल की एक बीहड़ जगह मे ले जाकर छोड देती थी। मै समय-समय पर इस मार का हाल पढा करता था जब मुझे दिल्ली मे विशेष कॉंग्रेस के बाद ही मालूम हुआ कि दूसरा जत्था जा रहा है, और मुझे वहाँ चलने और वहाँ क्या होता है यह देखने का आमत्रण मिला, तो मैने खुशी से उसको मजूर कर लिया। इसमे मेरा सिर्फ एक ही दिन खर्च होता था, क्योकि जैतो दिल्ली के पास ही है। कॉंग्रेस के मेरे दो साथी भी—आचार्य गिडवानी और मद्रास के के० सन्तानम्—मेरे साथ गये। ज्यादातर फासला जत्थे ने कायदे से कतार मे चलकर तय किया। यह सोचा गया था कि मै नजदीक के रेलवे स्टेशन तक रेल से जाऊँ और फिर जैतो के पास नाभा की सरहद मे, जिस वक्त वहाँ जत्था पहुँचनेवाला हो, सडक के रास्ते से पहुँच जाऊँ। हम एक बैलगाडी से आये और ठीक वक्त पर पहुँचे, और जत्थे के पीछे-पीछे उससे अलग रहते हुए चले। जैतो पहुँचने पर जत्थे को पुलिस ने रोक दिया, और उसी वक्त मुझे भी एक हुक्म मिला, जिसपर अग्रेज एडमिनिस्ट्रेटर के दस्तखत थे कि मै नाभा के इलाके मे दाखिल न होऊँ, और अगर मै दाखिल हो गया होऊँ तो फौरन वापस चला जाऊँ। गिडवानी और सन्तानम् को भी ऐसे ही हुक्म दिये गये, मगर उनमे उनके नाम नही लिखे हुए थे, क्योकि नाभा के अधिकारियो को उनके नाम ही नही मालूम थे। मेरे साथियो ने और मैने पुलिस-अफसर से कहा कि हम जत्थे मे शामिल नही है, सिर्फ तमाशबीन की तरह है, और नाभा के किसी भी कानून को तोडने का हमारा इरादा नही है। इसके सिवा जब हम नाभा के इलाके मे ही थे तो उसमे दाखिल न होने का सवाल ही नही हो सकता था, और स्पष्टत हम उसे एकदम छोडकर सूक्ष्म हवा मे उड़कर तो नही चले जा सकते। जैतो से दूसरी गाडी शायद कई घण्टे बाद जाती थी। इसलिए, हमने उससे कहा कि अभी तो हम यही रहना चाहते है। बस, हम फौरन गिरफ्तार कर लिये गये और हवालात मे ले जाकर बन्द कर दिये गये। हमको हटाने के बाद, उस जत्थे का वही हाल हुआ जो और जत्थो का होता था।

सारे दिन हम हवालात मे बन्द रक्खे गये और शाम को हमे विधिवत् स्टेशन ले जाया गया। सन्तानम् को और मुझको एक ही हथकडी डाली गई—उनकी बाई कलाई मेरी दाहिनी कलाई से फाँद दी गई थी, और हथकडी की जजीर हमे ले चलनेवाले पुलिसवाले ने पकड़ ली। गिडवानी के भी हथकड़ी डाली गई और वह

हमारे पीछे-पीछे चले। जैतो के बाजारो मे हमारे इस तरह चलने से मुझे बारबार कुत्तो के जजीर पकडकर ले जाये जाने की याद आती थी। चलते वक्त ही पहले तो हम झल्ला उठे, मगर फिर हमे इस घटना की मजेदारी का खयाल आया, और इसका भी हम मजा लेने लगे। उसके बाद की रात हमने अच्छी नही गुजारी। रात को हमारा कुछ वक्त तो धीमी चालवाली रेल के तीसरे दर्जे के डिब्बे मे बीता जो ठसाठस भरा हुआ था। रास्ते मे शायद आधी रात को गाडी भी बदलनी पडी थी। और रात का कुछ हिस्सा नाभा की एक हवालात मे गुज़रा। इस सारे समय और अगले दिन तीसरे पहर तक, जबकि हम अन्त मे नाभा-जेल मे रख दिये गये, वह मुश्तर्का हथकडी और भारी जजीर हमारे साथ ही रही। हम दोनो मे से एक भी दूसरे के सहयोग के बिना हिल-डुल नही सकता था। एक दूसरे आदमी के साथ सारी रात और दूसरे दिन काफी देर तक हथकडी से जुडा रहना एक ऐसा अनुभव है जिसका अब फिर मजा लेना मै पसन्द न करूँगा।

नाभा-जेल मे हम तीनो एक बहुत ही रद्दी और गन्दी कोठरी मे रक्खे गये। वह छोटी-सी और सीलवाली कोठरी थी, जिसकी छत इतनी नीची थी कि उस तक हमारा हाथ करीब-करीब पहुँच जाता था। हम जमीन पर ही सोये और मै बीच-बीच मे एकाएक हडबडाकर जाग उठता था, और तब मालूम होता कि मेरे मुँह पर से कोई चूहा या चुहिया गुज़री थी।

दो-तीन दिन बाद अपने मुकदमे के लिए हमें अदालत मे ले जाया गया, और बहुत ही ऊटपटाँग जाब्ते से वहाँ रोज-रोज कार्रवाई चलने लगी। मजिस्ट्रेट या जज बिलकुल अपढ़ मालूम पडता था। नि सन्देह अग्रेजी तो वह जानता ही न था, मगर मुझे शक है कि वह अपनी अदालत की जबान उर्दू लिखना भी शायद ही जानता हो। हम उसे एक हफ्ते से ज्यादा देखते रहे, और इस अर्से मे उसने एक भी लाइन नही लिखी। अगर उसे कुछ लिखना होता था तो वह सरिश्तेदार से लिखवाता था। हमने कई छोटी-छोटी अर्जियाँ पेश की। वह उस वक्त उनपर कोई हुक्म नही लिखता था। वह उन्हे रख लेता था और दूसरे दिन उन्हे निकालता था। उनपर किसी और के ही लिखे हुए नोट रहते थे। हमने बाकायदा अपनी सफाई नही दी। असहयोग-आन्दोलन मे हमे अपनी पैरवी न करने की इतनी आदत हो गई थी, कि जहाँ पैरवी करने की छुट्टी थी वहाँ भी हमे सफाई देने का खयाल तक प्राय बुरा लगता था। मैने एक लम्बा बयान पेश किया, जिसमे मैने सारे वाकयात लिखे, और खासकर एक अग्रेज की अमलदारी होते हुए भी नाभा-रियासत के तरीके कैसे हैं इसपर अपनी राय भी जाहिर की।

हमारा मुकदमा दिन-ब-दिन बढता ही गया, हालाकि वह एक काफी सीधा

मामला था। अब अचानक एक नई बात और हुई। एक दिन शाम को, उस रोज की अदालत उठ जाने के बाद भी हमे उसी मकान मे बिठा रक्खा। और बहुत देर मे, करीब ७ बजे, हमे एक दूसरे कमरे मे ले गये जहाँ एक शख्स मेज के सामने बैठा था। और वहाँ और भी कई लोग थे। एक आदमी—जो वही पुलिस-अफसर था जिसने हमे जैतो मे गिरफ्तार किया था—खडा हुआ और एक बयान देने लगा। मैंने पूछा कि यह कौन-सी जगह है और यहाँ क्या हो रहा है? मुझे इत्तला दी गई कि यह अदालत है और हमपर षड्यन्त्र करने का मुकदमा चलाया जा रहा है। यह कार्रवाई उससे बिलकुल भिन्न थी जिसको अभीतक हम देखते थे, और जो नाभा मे न दाखिल होने के हुक्म की उदूली के सिलसिले मे चल रही थी। जाहिरा यह सोचा गया कि इस हुक्म-उदूली की ज्यादा-से-ज्यादा सजा तो सिर्फ ६ माह ही है इसलिए यह हमारे लिए काफी न होगी, लिहाजा और कुछ ज्यादा सगीन इल्जाम लगाना जरूरी है। साफ़ है कि सिर्फ तीन आदमी षड्यन्त्र के लिए काफी नही थे, इसलिए एक चौथे आदमी को जिसका हमसे कतई कोई ताल्लुक न था गिरफ्तार किया गया और उसपर भी हमारे साथ ही मुकदमा चलाया गया। इस अभागे आदमी को, जो एक सिख था, हम नही जानते थे, हाँ हमने उसे जैतो जाते वक्त खेत मे सिर्फ देखा भर था।

मेरे बैरिस्टरपन को यह देखकर बड़ा धक्का लगा। किस अचानक ढग से एक षड्यन्त्र का मुकदमा चलाया जा रहा है! मामला तो बिलकुल झूठा था ही, मगर शिष्टता का तकाजा था कि कुछ तो जाब्ते की पाबन्दी होनी चाहिए। मैंने जज से कहा कि हमे इसकी पहले से कुछ भी इत्तला नही दी गई और हम अपनी सफाई का इन्तजाम भी करना चाहेगे। मगर इसकी उसने कुछ भी चिन्ता न की। यह नाभा का निराला तरीका था। अगर हमे सफाई के लिए कोई वकील करना हो तो वह नाभा का ही होना चाहिए। जब मैंने कहा कि मै बाहर का कोई वकील करना चाहूँगा, तो मुझे जवाब मिला कि नाभा के कायदो मे इसकी इजाजत नही है। इससे नाभा के जाब्ते की विचित्रताओ का हमें और भी ज्ञान मिला। हमे एक तरह की नफरत हो गई, और हमने जज से कह दिया कि जो उसके जी मे आवे करे, हम लोग इस कार्रवाई में कोई हिस्सा न लेगे। किन्तु मैं इस निर्णय पर पूरी तरह जमा न रह सका। अपने बारे मे अत्यन्त आश्चर्यजनक झूठी बाते सुनकर चुप रहना मुश्किल था, और इसलिए कभी-कभी हम गवाहो के बारे मे मुख्तसर तौर पर मगर बा-मौका अपनी राय जाहिर करते जाते थे। हमने अदालत को असली वाकयात के बारे मे एक तहरीरी बयान दिया। यह दूसरा जज, जो षड्यन्त्र का मुकदमा चला रहा था, पहले से ज्यादा शिक्षित और समझदार था।

ये दोनों मुकदमे चलते रहे, और हम दोनों अदालतों में जाने का रोजाना इन्त-जार किया करते थे, क्योंकि इनसे जेल की गंदी कोठरी से तबतक के लिए छुटकारा तो हो ही जाता था। इसी दर्मियान एडमिनिस्ट्रेटर की तरफ से जेल का सुपरिन्टेन्डेन्ट हमारे पास आया और उसने हमसे कहा कि अगर हम अफसोस जाहिर करदें और नाभा से चले जाने का इकरार लिख दें, तो हमपर से मुकदमा उठा लिया जा सकता है। हमने कहा कि हम किस बात का अफसोस जाहिर करें? हमने कोई ऐसी बात नहीं की है। बल्कि रियासत को हमसे माफी माँगनी चाहिए। हम किसी किस्म का वादा करने को भी तैयार नहीं थे।

गिरफ्तारी के करीब दो हफ्ते बाद आखिर हमारे मुकदमे खत्म हुए। यह सारा वक्त इस्तगासे में ही लगा, क्योंकि हम तो अपनी पैरवी कर ही नहीं रहे थे। ज्यादा वक्त तो देर-देर तक इन्तजार करने में गया, क्योंकि जहाँ कहीं जरा-सी भी कठिनाई पैदा होती थी वहीं कार्रवाई मुल्तवी करदी जाती थी या उसकी बाबत किसी अन्दरूनी अफसर से, जो शायद अंग्रेज एडमिनिस्ट्रेटर ही था, पूछने की जरूरत होती थी। आखिरी दिन, जबकि इस्तगासे की तरफ से मामला खत्म किया गया, हमने भी अपने तहरीरी बयानात दे दिये। पहले जज ने कार्रवाई खत्म करदी, और यह जानकर हमें बड़ा ताज्जुब हुआ कि वह थोड़ी ही देर में फिर वापस आ गया और उसके साथ उर्दू में लिखा हुआ एक बड़ा भारी फैसला था। यह जाहिर है कि यह भारी फैसला इतने थोड़े से अरसे में ही नहीं लिखा जा सकता था। यह फैसला हमारे बयानात देने के पहले ही तैयार हो गया था। फैसला पढ़कर सुनाया नहीं गया। हमें सिर्फ इतना कह दिया गया कि हमें नाभा इलाके में से चले जाने के हुक्म की उदूली करने के जुर्म में छ माह की सजा, जो इस जुर्म की ज्यादा-से-ज्यादा सजा थी, दी गई है।

उसी रोज षड्यन्त्र के मुकदमे में भी हमें, ठीक-ठीक मैं भूल गया हूँ, या तो अठारह माह की या दो साल की सजा मिली। यह सजा छ माह की सजा के अलावा हुई। इस तरह हमें कुल दो या ढाई साल की सजा दे दी गई।

हमारे मुकदमे के दौरान में बहुत बातें ध्यान देने लायक हुईं, जिनसे हमें देशी-रियासतों की तर्जे-हुकूमत या देशी रियासतों में अंग्रेजों की तर्जे-हुकूमत का कुछ हाल मालूम हुआ। सारी कार्रवाई एक स्वाँग-जैसी थी। इसीसे शायद किसी अखबारवाले या बाहरवाले को अदालत में आने नहीं दिया गया। पुलिस जो चाहती थी करती थी और अक्सर जज या मजिस्ट्रेट की भी पर्वाह नहीं करती थी, और उसकी हिदायतों की सचमुच खिलाफ-वर्जी भी करती थी। बेचारा मजिस्ट्रेट तो यह सब बरदाश्त कर लेता था, मगर हम इसे बरदाश्त क्यों करते? कई मौकों पर मुझे खड़ा होना पड़ा

और जोर देना पडा कि पुलिस को मजिस्ट्रेट के कहने के मुताबिक अमल करना चाहिए और उसका हुक्म मानना चाहिए। कभी-कभी पुलिस भद्दी तरह से कागजो को छीन लेती थी, और चूँकि मजिस्ट्रेट अपनी ही अदालत मे उसपर कोई कार्रवाई करने या व्यवस्था कायम रखने मे असमर्थ था, इसलिए हमे थोडा-थोडा उसका काम करना पडता था। वेचारा मजिस्ट्रेट वडे पशोपेश मे था। वह पुलिस से भी डरता था, और हमसे भी कुछ-कुछ डरा हुआ दिखाई देता था, क्योकि अखवारो मे हमारी गिरफ्तारी की खूब चर्चा हो रही थी। जब हमारे जैसे थोडे-वहुत नामी राजनैतिक लोगो के साथ यह हाल हो सकता था, तो जो लोग कम प्रसिद्ध है उनके साथ तो क्या वर्ताव होता होगा ?

मेरे पिताजी को देशी रियासतो का हाल कुछ-कुछ मालूम था, इसलिए वह नाभा मे मेरी यकायक गिरफ्तारी से वहुत परेशान हुए। उन्हे सिर्फ गिरफ्तारी का वाकया मालूम हुआ, मगर इसके अलावा और कोई खवर वाहर न जा पाई। अपनी परेशानी मे उन्होने मेरे समाचार जानने के लिए वाइसराय को भी तार दे डाला। नाभा मे मुझसे मिलने के बारे मे उनके रास्ते मे वहुत मुश्किले खड़ी कर दी गई। मगर आखिर उन्हे जेल मे मुझसे मुलाकात करने की इजाजत मिल गई। परन्तु वह मेरी कोई मदद नही कर सकते थे, क्योकि मै अपनी सफाई भी पेश नही कर रहा था और मैने उनसे प्रार्थना की कि वह इलाहावाद वापस चले जायँ और कोई चिन्ता न करे। वह लौट गये, लेकिन कपिलदेव मालवीय को, जो हमारे एक युवक साथी वकील है, नाभा मे मुकदमे की कार्रवाई पर ध्यान रखने को छोड गये। नाभा की अदालतो को थोड़े दिन देखकर कपिलदेव की कानून और जाब्ते-सम्बन्धी जानकारी मे काफी इजाफा हुआ होगा। पुलिस ने खुली अदालत मे उनके कुछ कागजात जबर-दस्ती छीन लेने की भी कोशिश की थी।

ज्यादातर देशी-रियासते पिछडी हुई है और उनकी हालत जागीरो की सी हो रही है, यह सब जानते है। वहाँ अकेला राजा सब कुछ कर सकता है। उनमे न तो कावलियत होती है और न लोक-हित का भाव। वहाँ बडी-बडी अजीव बाते हुआ करती है, जो कभी प्रकाश मे भी नही आती। मगर उनकी नाकाबलियत से ही किसी-न-किसी तरह यह बुराई कम हो जाती है, और उनकी बदकिस्मत प्रजा का बोझ कुछ हलका हो जाता है। क्योकि इस कारण से वहाँ के कार्यकारी मण्डल मे भी कमजोरी रहती है, जिससे जुल्म और बेइन्साफी करने मे भी नाकाबलियत से काम लिया जाता है। इससे जुल्म ज्यादा बरदाश्त करने लायक नही हो जाता, बल्कि हाँ इससे वह कम गहरा और व्यापक हो जाता है। मगर देशी-रियासत में जब अंग्रेजी सरकार खुद

हुकूमत अपने हाथ मे ले लेती है, तब उसका एक विचित्र नतीजा यह होता है कि यह हालत नही रहती। जागीर की सी दशा कायम रक्खी जाती है, एकतन्त्री-पन भी ज्यो-का-त्यो रहता है, पुराने सब कानून और जाब्ता ही रायज माना जाता है, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, सगठन और मत-प्रकाशन (और इनमें सब कुछ शामिल है) इनपर सारे बन्धन कायम रहते है, मगर एक तबदीली ऐसी हो जाती है जिससे सारी हालत बदल जाती है। कार्यकारिणी सत्ता ज्यादा मजबूत हो जाती है, और कायदे और उनकी पाबन्दी बढ जाती है। इससे जागीरो मे और एकतन्त्री शासन मे रहनेवाले सब बन्धन सख्त हो जाते है। धीरे-धीरे अग्रेजी हुकूमत पुराने रिवाजो और तरीको मे बेशक कुछ परिवर्त्तन करती है, क्योंकि इनसे अच्छी तरह हुकूमत और व्यापारिक प्रवेश करने में रुकावटे आती है। मगर शुरू-शुरू मे तो वह लोगो पर अपना प्रभुत्व मजबूत करने के लिए उन पुराने रिवाजो और तरीको से पूरा फायदा उठाती है। इधर लोगो को अब जागीर-तन्त्रता और एकतन्त्रता ही नही, बल्कि एक मजबूत कार्यकारिणी द्वारा उनकी सख्त पाबन्दी भी बरदाश्त करनी पडती है।

मैंने नाभा में कुछ ऐसा ही हाल देखा। रियासत का इन्तजाम एक अंग्रेज एडमिनिस्ट्रेटर के हाथ में था, जो इडियन सिविल सर्विस का मेम्बर था, और उसे एकतन्त्री शासक के पूरे अख्त्यारात थे। वह सिर्फ भारत-सरकार के मातहत था, और फिर भी हर मर्त्तबा हमे, अपने अत्यन्त सामान्य हको के छीनने की पुष्टि में, नाभा के कायदे-कानूनो का हवाला दिया जाता था। हमे जागीरतन्त्र और आधुनिक नौकरशाही-तन्त्र के मिश्रण का मुकाबला करना पडा, जिसमे बुराइयाँ दोनो की शामिल थी, लेकिन अच्छाइयाँ एक की भी न थी।

इस तरह हमारा मुकदमा खत्म हुआ और हमे सजा हो गई। फैसले मे क्या लिखा था यह हमें मालूम नही, मगर इस सारभूत बात से कि हमें लबी सजा मिली है हमारी झल्लाहट कुछ कम हुई। हमने फैसले की नकले मागी, मगर हमे जवाब मिला कि इसके लिए बाकायदा अर्जी दो।

उसी शाम को जेल मे सुपरिन्टेन्डेन्ट ने हमे बुलाया, और उसने हमे जाब्ता-फौजदारी की रू से एडमिनिस्ट्रेटर का एक आर्डर दिखाया जिसमे हमारी सजाये मुल्तवी कर दी गई थी। उसमे कोई शर्त नही रक्खी गई थी, और इसका कानूनी नतीजा यह था कि जहाँतक हमारा ताल्लुक था हमारी सजाये खत्म हो गई। फिर सुपरिण्टेण्डेण्ट ने एक दूसरा हुक्म, जिसका नाम एक्जीक्यूटिव आर्डर था, दिखाया। यह भी एडमिनिस्ट्रेटर का जारी किया हुआ था। उसमे यह हिदायत थी कि हम नाभा छोड़कर चले जायँ, और खास इजाजत लिये बिना रियासत मे न लौटें। मैंने

दोनो हुक्मो की नकले मागी, मगर वे हमे नही दी गई। तब हमे रेलवे-स्टेशन भेज दिया गया, ओर हम वहाँ छोड दिये गये। नाभा मे हम किसीको भी नही जानते थे, और रात को शहर के दरवाजे भी वन्द हो गये थे। हमे पता लगा कि अभी अम्बाला को एक गाडी जाने वाली है और हम उसीमे बैठ गये। अम्बाला से मै दिल्ली और वहाँ से इलाहाबाद चला गया।

इलाहाबाद से मैने एडमिनिस्ट्रेटर को पत्र लिखा कि मुझे दोनो हुक्मो की नकले भेज दीजिए, जिससे मुझे मालूम हो सके कि सचमुच वह किस तरह के हुक्म है, और साथ ही दोनो फैसलो की नकले भी। उसने किसी चीज की भी नकल देने से इन्कार कर दिया। मैने बताया कि शायद मुझे अपील करनी पडे, मगर वह इन्कार ही करता रहा। कई बार कोशिश करने पर भी मुझे इन फैसलो को, जिनके द्वारा मुझे और मेरे दो साथियो को दो या ढाई साल की सजा मिली, पढने का मौका नही मिला। क्योकि मुझे जानना चाहिए कि ये सजाये अब भी मेरे नाम पर लिखी हुई होगी, और जब कभी नाभा के अधिकारी या ब्रिटिश सरकार चाहे उसी वक्त मुझपर लागू की जा सकेगी।

हम तीन तो इस तरह 'मौकूफी' की हालत मे छोड दिये गये, मगर मै इस बात का पता नही लगा सका कि षड्यन्त्र के चौथे आदमी, उस सिख का क्या हुआ, जो दूसरे मुकदमे के लिए हमारे साथ जोड दिया गया था। बहुत मुमकिन है कि वह छोडा न गया हो। उसकी मदद में किसी जोरदार दोस्त या पब्लिक की आवाज न थी, और कई दूसरे आदमियो की तरह रियासती जेल मे जाकर वह अधकार मे पड गया होगा। मगर हम उसे नही भूले। हमसे जो कुछ बना वह हम करते रहे, किन्तु उससे कुछ हुआ नही। मेरा खयाल है कि गुरुद्वारा-कमिटी ने भी इस मामले मे दिलचस्पी ली थी। हमे पता लगा कि वह पुराने 'कोमागाटा मारू' दल का एक आदमी था, और वह लम्बे अर्से तक जेल मे रहकर हाल मे ही छूटकर आया था। पुलिस वाले ऐसे आदमियो को बाहर रहने देने का उसूल नही मानते, और इसलिए उन्होने बनावटी इलजाम मे हमारे साथ उसे भी फॉस लिया।

हम तीनो—गिडवानी, सन्तानम् और मै—नाभा-जेल की कोठरी से एक दु खदायी साथी सग मे ले आये। वह था विषमज्वर का कीटाणु, क्योकि हम तीनो पर ही विषमज्वर का हमला हुआ। मेरी बीमारी जोर की थी और शायद खतरनाक भी थी, मगर उसकी मियाद दोनो से कम थी, और मै सिर्फ तीन या चार हफ्ते ही बिस्तर पर रहा। मगर बाकी दोनो तो लम्बे अरसे तक बहुत गभीर हालत मे बीमार पड़े रहे।

इस नाभा की घटना के बाद एक और भी बात हुई। शायद छ या ज्यादा महीने बाद गिडवानी अमृतसर मे सिख-गुरुद्वारा-कमिटी से सम्पर्क रखने के लिए कॉंग्रेस-प्रतिनिधि का काम करते थे। कमिटी ने जैतो को पाच सौ आदमियो का एक खास जत्था भेजा, और गिडवानी ने दर्शक की तरह से नाभा की सरहद तक उसके साथ-साथ जाने का निश्चय किया। नाभा की हद मे दाखिल होने का उनका कोई इरादा न था। सरहद के पास जत्थे पर पुलिस ने गोली चलाई, और मेरे खयाल से बहुत आदमी घायल हुए और मरे। गिडवानी घायलो की मदद करने गये और पुलिस ने झपटकर उनको पकड लिया और ले गई। उनके खिलाफ अदालत मे कोई कार्रवाई न की गई। उन्हे करीब-करीब एक साल तक जेल मे योही पटक रक्खा, और बाद मे बहुत खराब तन्दुरुस्ती की हालत मे वह छोड दिये गये।

गिडवानी की गिरफ्तारी और उनका जेल मे रक्खा जाना मुझे कार्य-कारिणी सत्ता का एक भयकर दुरुपयोग मालूम हुआ। मैने एडमिनिस्ट्रेटर को (जोकि वही अग्रेज आई० सी० एस० था) खत लिखा, और उससे पूछा कि गिडवानी के साथ ऐसा क्यों किया गया ? उसने जवाब मे लिखा कि उन्हे इसलिए गिरफ्तार किया गया था कि उन्होने नाभा के इलाके मे बिला इजाजत न आने के आर्डर की खिलाफवर्ज़ी की थी। मैने चुनौती दी कि कानून के मुताबिक भी यह ठीक न था, और साथ ही लिखा कि घायलो को मदद देते हुए आदमी गिरफ्तार करना मुनासिब न था। और, मैने उस आर्डर की नकल मुझे देने या आमतौर पर शाया कर देने के लिए भी एडमिनिस्ट्रेटर को लिखा। मगर उसने ऐसा करने से इन्कार किया। मेरा इरादा हुआ कि मै खुद भी नाभा जाऊँ और एडमिनिस्ट्रेटर को मेरे साथ भी वही बर्ताव करने दू जैसा गिडवानी के साथ हुआ। अपने साथी के साथ वफादारी का तो यही तकाजा था। मगर मेरे कई दोस्तो ने ऐसी राय न दी और मेरा इरादा बदलवा दिया। सच तो यह है कि मैने अपने दोस्तो की सलाह का बहाना ले लिया, और उसमे अपनी कमजोरी को छिपा लिया। क्योकि, आखिरकार यह मेरी अपनी कमजोरी और नाभा-जेल मे दुबारा जाने की अनिच्छा ही थी जिसने मुझे वहाँ जाने से रोका, और मुझे अपने साथी को इस तरह छोड देने की कुछ-कुछ शर्म हमेशा रहती है। इस तरह, जैसा कि हम सब अकसर करते हैं, अक्लमदी को बहादुरी पर तरजीह मिली।

१७

कोकनाडा और मुहम्मदअली

दिसम्बर १९२३ में कांग्रेस का सालाना अधिवेशन कोकनाडा (दक्षिण) में हुआ। मौलाना मुहम्मदअली उसके सदर थे, और जैसी कि उनकी आदत थी, सभापति की हैसियत से उन्होंने अपनी लम्बी-चौड़ी स्पीच पढ़ी। लेकिन वह थी दिलचस्प। उसमें उन्होंने यह दिखाया कि मुसलमानों में किस तरह राजनैतिक व साम्प्रदायिक भावना की वृद्धि होती गई। उन्होंने बताया कि १९०८ में आगाखां के नेतृत्व में जो डेपूटेशन वाइसराय से मिला था और जिसकी ख्वाहिश से ही सरकार ने पहली बार अलहदा निर्वाचन के हक में फैसला दी थी वह एक ऐसी जबरदस्त चाल थी जिसके मूल में खास सरकार का ही हाथ था।

मुहम्मदअली ने मुझे, मेरी इच्छा के बहुत खिलाफ, अपने सदारत के साल में अखिल-भारतीय कांग्रेस-कमिटी का सेक्रेटरी बनने के लिए राजी किया। भावी नीति के सम्बन्ध में मुझे साफ-साफ पता न था, ऐसी हालत में मैं नहीं चाहता था कि कोई व्यवस्था-सम्बन्धी जिम्मेदारी अपने ऊपर लूं।

लेकिन मैं मुहम्मदअली को इनकार नहीं कर सकता था, क्योंकि हम दोनों ने महसूस किया कि कोई दूसरा सेक्रेटरी शायद नये सदर के साथ उतनी अच्छी तरह से काम न कर सके जितना कि मैं। उनकी रुचि और अरुचि दोनों तेज थी और सौभाग्य से मैं उन लोगों में से था जो उनकी 'रुचि' में आते थे। हम दोनों प्रेम और परस्पर की गुणग्राहकता के धागे से बँधे हुए थे। वह प्रबल धार्मिक—और मेरी समझ से बुद्धि-विरुद्ध धार्मिक—थे और मैं वैसा नहीं था। मगर मैं उनकी सरगर्मी, अनिवार्य कार्य-शक्ति और प्रखर बुद्धि से आकर्षित था। वह बड़े चपल दिल्लगीबाज थे। लेकिन कभी-कभी उनका भयकर व्यग दिल को चोट पहुचा देता था और उससे उनके बहुतेरे दोस्त कम हो गये थे। कोई बढ़िया टिप्पणी मन में आई तो उनके लिए उसे मन में रख लेना असभव था—फिर उसका नतीजा चाहे कुछ हो।

उनके सभापति-काल में हम दोनों की गाड़ी ठीक-ठीक चली—हालाँकि कई छोटी-छोटी बातों में हमारा इख्तलाफ रहता था। हमारे अखिल-भारतीय कांग्रेस-कमिटी के दफ्तर में मैंने एक नया रिवाज डाला था। किसीके भी नाम के आगे-पीछे कोई प्रत्यय या पदवी वगैरा न लिखी जाय। महात्मा, मौलाना, शेख, सैयद,

मुन्शी, मौलवी और आजकल के श्रीयुत और श्री और मिस्टर तथा एस्क्वायर वगैरा जो वहुत-से ऐसे शब्द है और इनका प्रयोग इतना वहुतायत से और अक्सर गैरजरूरी होता है कि मै इसकी एक अच्छी मिसाल पेश करना चाहता था। लेकिन मै ऐसा कर नही पाया। मुहम्मदअली ने वहुत विगडकर मुझे एक तार भेजा, जिसमे सदर की हैसियत से मुझे हिदायत दी थी कि मै पुराने तरीके से ही काम लूँ, और खास तौर पर गाधीजी को हमेशा महात्मा लिखा करूँ।

एक और विषय था जिसमे अक्सर हमारी बहस हुआ करती, और वह था ईश्वर। मुहम्मदअली एक अजीब तरीके से अल्लाह का जिक्र काँग्रेस के प्रस्तावो मे भी ले आया करते थे, या तो शुक्रिया अदा करने की शक्ल मे या किसी किस्म की दुआ की शक्ल मे। मै इसका विरोध किया करता। वह जोर से बिगडते और कहते, तुम बडे नास्तिक हो। मगर फिर भी आश्चर्य है कि वह थोडी देर बाद मुझसे कहते कि एक मजहबी आदमी के जरूरी गुण तुममे है, हालाकि तुम्हारा जाहिरा बर्ताव और दावा इसके खिलाफ है। और मैने कई बार मन मे सोचा है कि उनका कहना कितना सच था। शायद यह इस बात पर हसर रखता है कि कोई मजहब या मजहबी के क्या मानी करता है।

मै उनके साथ हमेशा मजहब के मामले मे वहस करना टालता था। क्योकि मै जानता था, इसका नतीजा यही होता कि हम दोनो एक-दूसरे पर चिढ उठते, और मुमकिन था कि उनका जी दु ख जाता। किसी भी मत के कट्टर माननेवाले से इस किस्म की बहस करना हमेशा मुश्किल होता है। बहुतसे मुसलमानो के लिए तो यह शायद और भी मुश्किल हो, क्योकि उनके यहाँ विचारो की आजादी मजहवी तौर पर नही दी गई है। विचारो की नजर से देखा जाय तो उनका सीधा मगर तग रास्ता है और उसका अनुयायी जरा भी दाहिने-वायें नही जा सकता। हिन्दुओ की हालत इससे कुछ अलग है, सो भी अक्सर नही। व्यवहार मे चाहे वे कट्टर हो, उनके यहाँ वहुत पुराने वुरे और पीछे घसीटनेवाले रस्म-रिवाज माने जाते है, फिर भी वे हमेशा धर्म के विषय मे निहायत क्रान्तिकारी और मौलिक विचारो की चर्चा करने के लिए भी हमेशा तैयार रहते है। मेरा खयाल है कि आधुनिक आर्यसमाजियो की दृष्टि आम तौर पर इतनी विशाल नही होती। मुसलमानो की तरह वे अपने सीधे और तग रास्ते पर ही चलते है। विद्या-वुद्धि मे चढे-बढे हिन्दुओ के यहाँ ऐसी कुछ दार्श-निक परम्परा चली आ रही है जो धार्मिक प्रश्नो मे भिन्न-भिन्न विचार-दृष्टियो को स्थान देती है, हालाकि व्यवहार पर उसका कोई असर नही पडता। मै समझता हूँ कि इसका आशिक कारण यह है कि हिन्दू-जाति मे तरह-तरह के और अक्सर परस्पर-

विरोधी प्रमाण और रिवाज पाये जाते है । इस सम्बन्ध मे यहाँतक कहा जाता है कि हिन्दू-धर्म को साधारण अर्थ मे मजहब नही कह सकते । और फिर भी कितने गजब की दृढता उसमे है ! अपने-आपको जिन्दा रखने की कितनी जबरदस्त ताकत ! भलेही कोई अपनेको नास्तिक कहता हो, जैसाकि चार्वाक था, फिर भी कोई यह नही कह सकता कि वह हिन्दू नही रहा । हिन्दू-धर्म अपने बच्चो को उनके न चाहते हुए भी पकड रखता है । मै एक ब्राह्मण पैदा हुआ था और मालूम होता है कि ब्राह्मण ही रहूँगा, फिर मै धर्म और सामाजिक रस्म-रिवाज के बारे मे कुछ भी कहता और करता रहूँ । हिन्दुस्तानी दुनिया के लिए मै पण्डित ही हूँ, चाहे मै इस उपाधि को नापसन्द ही करूँ । मुझे याद है कि एक बार मै एक तुर्की विद्वान मे स्वीजरलैण्ड मे मिला था । उन्हे मैने पहले से ही एक परिचय-पत्र भेज दिया था, जिसमें मेरे लिए लिखा था—'पण्डित जवाहरलाल नेहरू ।' लेकिन मिलने पर वह हैरान हुए और कुछ मायूस भी । क्योकि उन्होने मुझसे कहा, कि 'पण्डित' शब्द से मै समझा था कि आप कोई बड़े विद्वान् धार्मिक वयोवृद्ध पण्डित होगे ।

हाँ, तो, मुहम्मदअली और मै मजहब पर बहस नही करते थे । लेकिन उनमे खामोश रहने का गुण न था । और कुछ साल बाद (मै समझता हूँ, १९२५ मे या १९२६ के शुरु मे) वह अपनेको ज्यादा न रोक सके । एक रोज जब मै उनके घर, दिल्ली मे, उनसे मिला तो वह भभक उठे और बोले कि मै तुमसे मजहब पर जरूर बहस करना चाहता हूँ । मैने उन्हे समझाने की कोशिश की । कहा—आपके मेरे नुक्ते-निगाह एक-दूसरे से बहुत जुदा है और हम एक-दूसरे पर कोई ज्यादा असर न डाल सकेगे । लेकिन वह कब सुनते ? उन्होने कहा—"नही, हम बाते कर ही ले । मै समझता हूँ, तुम मुझे कठमुल्ला मानते हो । मगर मै तुम्हे बताना चाहता हूँ कि मै ऐसा नहीं हूँ ।" उन्होने कहा कि मैने मजहब पर बहुतसी किताबे पढ़ी है और गहराई से सोचा है । उन्होने आलमारियाँ बताई, जो अलग-अलग मजहबो पर लिखी किताबो से और खासकर इस्लाम और ईसाई धर्म-सम्बन्धी किताबो से भरी हुई थी और जिनमे कुछ आधुनिक किताबे—जैसे एच जी वेल्स की 'गॉड, दि इनविजिबल किंग'—भी थी । महायुद्ध के दिनो मे जब वह लम्बे अर्से तक नजरबन्द रहे थे, उन्होने कुरान के कई पारायण किये और कितने ही भाष्यो को पढा । उन्होने कहा कि इस सारे अध्ययन के फल-स्वरूप मैने देखा कि कुरान मे जो कुछ लिखा गया है उसका ९७ फीसदी युक्ति-सगत है, और कुरान को छोडकर भी उसकी पुष्टि की जा सकती है । ३ फीसदी यो सरेदस्त तो युक्ति-सगत नही दिखाई देता है मगर यह ज्यादा मुमकिन है कि जो कुरान ९७ फीसदी बातो पर साफ तौर पर सही है वह बाकी ३ फीसदी मे भी सही होगा ।

बजाय इसके कि मेरी दुर्बल तर्क-शक्ति सही हो और कुरान गलत, वह इस नतीजे पर पहुँचे कि कुरान के सही होने का पक्ष भारी है और इसलिए उन्होने कुरान को १०० फीसदी सही मान लिया।

इस दलील का तर्क स्पष्ट न था, लेकिन मै बहस करना न चाहता था। किन्तु इसके बाद जो-कुछ हुआ उसे देखकर तो मैं दग रह गया। मुहम्मदअली ने कहा कि कोई भी कुरान को अपने दिमाग का दर्वाजा खोलकर और एक जिज्ञासु की भावना से पढेगा तो जरूर ही वह उसकी सच्चाई का कायल हो जायगा। उन्होने यह भी कहा कि बापू (गाधीजी) ने उसे बड़े गौर से पढा है और वह जरूर इस्लाम की सचाई के कायल हो गये होगे। लेकिन उनके दिल की मगरूरी उन्हे इसको जाहिर करने से मना करती है।

मुहम्मदअली अपने इस साल के सभापति-काल के बाद से धीरे-धीरे कॉंग्रेस से दूर हटने लगे। या, जैसा कि वह कहते, कॉंग्रेस उनसे दूर हटने लगी। मगर यह हुआ बहुत धीरे-धीरे। कई साल आगे तक यो वह कॉंग्रेस मे और अ० भा० कांग्रेस कमिटी मे आते रहे और उनमे जोर-शोर से हिस्सा लेते रहे, लेकिन खाई चौडी होती ही गई और अनबन बढ़ती ही गई। शायद किसी खास व्यक्ति या व्यक्तियो पर इसका दोष नही लगाया जा सकता। मगर देश की वास्तविक परिस्थिति जैसी बन गई थी उसमे ऐसा हुए बिना रह नही सकता था। लेकिन यह हुआ बहुत ही बुरा। और इससे हम बहुतो के जी को बड़ा दु ख हुआ। क्योकि जातिगत मामले मे कैसा ही इख्तलाफ रहा हो, सयासी मामले मे हमारा-उनका कम मतभेद था। भारतीय स्वाधीनता का विचार उन्हे भी बहुत भाता था। और चूकि उनकी-हमारी राजनैतिक दृष्टि एक थी, इसलिए हमेशा इस बात की सम्भावना रहती थी कि जातिगत या यो कहे कि साम्प्रदायिक प्रश्न पर उनके साथ कोई ऐसी तजवीज हो सकती थी जो दोनो के लिए सन्तोषजनक हो। राजनैतिक दृष्टि से उन प्रतिगामी लोगो से जो अपनेको जातिगत स्वार्थो के रक्षक लगाते है, उनकी कोई बात मेल नही खाती थी।

हिन्दुस्तान के लिए यह दुर्भाग्य की बात हुई कि १९२८ की गर्मियो मे वह यहाँ से योरप चले गये। उस वक्त इस जातिगत समस्या को सुलझाने के लिए बडे जोर की कोशिश की गई थी और वह करीब-करीब कामयाबी की हद तक जा पहुँची थी। अगर मुहम्मदअली यहाँ होते तो कयास होता है कि मामला और ही शक्ल अख्त्यार करता। लेकिन जबतक वह वापस लौटे तबतक यहाँ सब टूट-टाट चुका था, और लाजिमी तौर पर उन्होने अपनेको हमारे दूसरी तरफ पाया।

दो साल बाद, १९३० मे, जब सत्याग्रह-आन्दोलन जोर पर था और हमारे

भाई-बहन धडाधड जेल जा रहे थे, मुहम्मदअली ने कांग्रेस के निर्णय की परवा न कर गोलमेज-परिषद् मे जाना पसन्द किया। उनके जाने से मेरे जी को बडा दुःख हुआ। मैं मानता हूँ कि वह भी अपने दिल मे दुखी ही हुए होगे। और लन्दन मे उन्होने जो कुछ किया उससे उसका काफी प्रमाण मिलता है। उन्होने महसूस किया कि उनकी असली जगह हिन्दुस्तान मे और लडाई के मैदान मे है, न कि लन्दन के कान्फ्रेन्स-भवन मे। और अगर वह हिन्दुस्तान वापस आये होते तो मुझे यकीन है कि वह सत्याग्रह मे शरीक हो गये होते। सेहत उनकी बहुत ही बिगड गई थी और बरसों से बीमारी उनपर हावी हो रही थी। लन्दन मे जाकर उन्होने बडी चिन्ता के साथ कुछ-न-कुछ काम की चीज पाने की जो कोशिश की, और खासकर ऐसे समय जबकि उन्हे आराम और इलाज की जरूरत थी, उसने उनके आखिरी दिन और नजदीक आ गये। नैनी-जेल मे मुझे उनके मरने की खबर से बडा धक्का लगा।

दिसम्बर १९२९ मे लाहौर-कांग्रेस के वक्त आखिरी दफा मैं उनसे मिला था। मेरे सभापति-पद से दिये भाषण के कुछ हिस्से से वह नाराज थे और उन्होने बडे जोर से उसकी आलोचना भी की। उन्होने देखा कि कांग्रेस सरपट दौडी जा रही है और राजनैतिक दृष्टि से बहुत तेज होती जा रही है। वह खुद भी कम तेज न थे, और इसलिए खुद पीछे रह जाना और दूसरे का मैदान मे आगे बढ जाना उन्हे पसन्द न था। उन्होने मुझे गम्भीर चेतावनी दी—"जवाहर! मैं तुम्हे चेताये देता हूँ कि तुम्हारे आज के ये सगी-साथी सब तुमको अकेला छोड देगे। जब कोई मुसीबत का और आन-बान का मौका आयेगा उसी वक्त ये तुम्हारा साथ छोड देगे। याद रखना, खुद तुम्हारे कांग्रेसी ही तुम्हे फासी के तख्ते पर भेज देगे।" कैसी मनहूस भविष्यवाणी थी!

कोकनाडा-कांग्रेस (१९२३) मे मेरे लिए एक खास दिलचस्पी की बात थी, क्योकि वही हिन्दुस्तानी-सेवादल की बुनियाद रक्खी गई। स्वयसेवक-दल इससे पहले नही थे सो बात नही। वे इन्तजाम भी करते थे और जेल भी जाते थे। मगर उनमे अनुशासन और आन्तरिक एकता का भाव बहुत कम था। डॉक्टर नारायण सुब्बाराव हार्डीकर को यह बात सूझी कि राष्ट्रीय कार्यो के लिए क्यो न एक अच्छा अनुशासन-बद्ध स्वयसेवक-दल बना लिया जाय, जो कांग्रेस की आम रहनुमाई मे अपना काम करे? उन्होने इसमे सहयोग देने के लिए मुझसे आग्रह किया और मैंने बडी खुशी से उसे मजूर किया, क्योकि यह खयाल मुझे जँच गया था। इसकी शुरुआत कोकनाडा मे हुई। बाद को हमे यह जानकर आश्चर्य हुआ कि बडे-बडे कांग्रेसियो की तरफ से भी सेवादल के सवाल पर कैसा विरोध-भाव प्रकट हुआ था। कुछ लोगो ने कहा कि कांग्रेस के लिए ऐसा करना खतरनाक होगा। यह तो कांग्रेस मे फौजी शक्ति को घुसेड देना

है। और यह फौजी शक्ति मुमकिन है कि काँग्रेस की मुल्की सत्ता को ही धर दबाये! दूसरे कुछ लोगो का यह खयाल दिखाई दिया कि स्वयसेवको के लिए तो सिर्फ इतना ही अनुशासन काफी है कि वे ऊपर से मिले आदेशो का पालन करते रहे। कुछ के खयाल मे उन्हे कदम मिलाकर चलने की भी ऐसी जरूरत नही। कुछ लोगो के दिल मे भीतर-भीतर यह खयाल था कि तालीम और कवायद-याफ्ता स्वयसेवको का रखना एक तरह से काँग्रेस के अहिंसा-सिद्धान्त से मेल नही खाता है। लेकिन हार्डीकर इस काम मे भिड ही गये और बरसो की मेहनत के बाद उन्होने प्रत्यक्ष दिखला दिया कि ये तालीम-याफ्ता स्वयसेवक कितने ज्यादा कार्यकुशल और अहिंसात्मक भी हो सकते है।

कोकनाडा से लौटने के बाद ही, जनवरी १९२४ मे, मुझे इलाहाबाद मे एक नये ढग का तजुर्बा हुआ। मै अपनी याददाश्त से यह लिख रहा हूँ और मुमकिन है कि तारीखो के सम्बन्ध मे कुछ भूल और गडबड हो जाय। मै समझता हूँ, वह कुम्भ या अर्द्धकुम्भ के मेले का साल था। लाखो यात्री सगम यानी त्रिवेणी नहाने आते है। गगा-घाट यो कोई एक मील चौड़ा है, मगर जाडे मे धारा सिकुड जाती है, और दोनो तरफ बालू का बड़ा मैदान छोड देती है जोकि यात्रियो के ठहरने के लिए बड़ा उपयोगी हो जाता है। अपने इस बहाव-क्षेत्र मे गगा अक्सर अपना रास्ता बदलती रहती है। १९२४ मे गगा की धारा इस तरह हो गई थी कि यात्रियो के लिए नहाना अवश्य ही खतरनाक था। कुछ पाबन्दियाँ और अहतियात लगाकर और एक वक्त मे नहानेवालो की सख्या मुकर्रर करके यह खतरा कम किया जा सका था।

मुझे इस मामले मे किसी किस्म की दिलचस्पी न थी, क्योकि ऐसे पर्वो के अवसर पर गगा नहाकर मै पुण्य कमाना तो चाहता ही न था। लेकिन मैने अखबारो मे पढा कि इस मामले मे प० मदनमोहन मालवीय और प्रान्तीय सरकार के बीच एक बहस छिड़ गई है, क्योकि प्रान्तीय सरकार ने एक ऐसा फरमान निकाल दिया था कि कोई सगम पर न नहाने पावे। मालवीयजी ने इसपर ऐतराज किया, क्योकि धार्मिक दृष्टि से तो सगम पर नहाने का ही महत्व था। इधर सरकार का अहतियात रखना भी ठीक ही था कि जिससे जान का खतरा न रहे। लेकिन हस्ब-मामूल उसने निहायत ही बेवकूफी और चिढा देनेवाले ढग से इस सम्बन्ध मे कार्रवाई की थी।

कुम्भ के दिन सुबह ही मै संगम पर मेला देखने गया। मेरा कोई इरादा नहाने का न था। गगा-किनारे पहुँचने पर मैने सुना कि मालवीयजी ने जिला-मजिस्ट्रेट को

एक सौजन्य-पूर्ण आखिरी चेतावनी दे दी है, जिसमें त्रिवेणी में नहाने की इजाजत माँगी गई है। मालवीयजी गरम हो रहे थे और वातावरण मे क्षोभ फैला हुआ था। जिला-मजिस्ट्रेट ने इजाजत नही दी तब मालवीयजी ने सत्याग्रह करने का निश्चय किया, और कोई दो सौ लोगो को साथ लेकर वह सगम की तरफ बढे। इन घटनाओ से मेरी दिलचस्पी थी, और मैं उसी वक्त जोश में आकर सत्याग्रही दल में शामिल हो गया। मैदान के उसपार लकडियो का एक जबरदस्त घेरा बना दिया गया था कि लोग सगम तक पहुँचने से बचे। जब हम इस ऊँचे घेरे तक पहुँचे तो पुलिस ने हमें रोका और एक निसैनी, जो हम साथ लिये हुए थे, छीन ली। हम तो थे अहिंसात्मक सत्याग्रही, इसलिए उस घेरे के पास बालू में शान्ति के साथ बैठ गये। सुबहभर और दोपहर के भी कुछ घण्टे हम उसी तरह बैठे रहे। एक-एक घण्टा बीतने लगा। धूप तेज-तेज होने लगी। बालू गरमाने लगी, और इधर हम सबकी भूख भी बढने लगी। पैदल और घुड़सवार पुलिस हमारे दोनो तरफ खडी थी। मैं समझता हूँ कि बाका-यदा घुड-सेना भी वहाँ मौजूद थी। हम बहुतेरो का धीरज छूटने लगा, और हमने कहा कि अब तो कुछ-न-कुछ करना ही चाहिए। मैं मानता हूँ कि अधिकारी भी उकता उठे थे। और उन्होने कदम आगे बढाने का निश्चय किया। घुड-सेना को कुछ आर्डर दिया। इस समय मुझे लगा (मैं नही कह सकता वह सही था) कि वे हमपर घोडे फेंकेंगे, और यों हमको बुरी तरह खदेड़ेंगे। घुडसवारो से इस तरह पीटे जाने का खयाल मुझे अच्छा न लगा और वहाँ बैठे-बैठे मेरा जी भी उकता उठा था। मैंने झट से अपने नजदीकवाले को सुझाया कि हम इस घेरे को ही क्यो न फाँद जायँ! और मैं उसपर चढ गया। तुरन्त ही बीसो आदमी उसपर चढ गये और कुछ लोगो ने तो उसकी बल्लियाँ भी निकाल डाली, जिससे एक खासा रास्ता बन गया। किसीने मुझे एक राष्ट्रीय झण्डा दे दिया। जिसे मैंने उस घेरे के सिरे पर खोस दिया जहाँ कि मैं बैठा हुआ था मैं अपने पूरे रंग मे था और खूब मगन हो रहा था और लोगो को उसपर चढते और उसके बीच मे घुसते हुए और घुडसवारो को उन्हे हटाने की कोशिश करते देख रहा था। यहाँ मुझे यह जरूर कहना चाहिए कि घुडसवारो ने जितना हो सका इस तरह अपना काम किया कि किसीको चोट नही पहुँची। वे अपने लकडी के डण्डो को हिलाते थे और लोगो को उनसे धक्का देते थे। मगर किसीको चोट न पहुँचाई। उस समय मुझे क्रान्तिकारियो के घेरे जाने के दृश्य का कुछ-कुछ स्मरण हो आया।

आखिर को मैं दूसरी तरफ उतर पडा। इतनी मेहनत के कारण गर्मी बढ गई थी, सो मैंने गगा मे गोता लगा लिया। जब वापस आया तो मुझे यह देखकर अचरज

हुआ कि मालवीयजी और दूसरे अबतक जहाँ-के-तहाँ बैठे हुए है और घुडसवार और पैदल पुलिस सत्याग्रहियो और घेरे के बीच कधे-से-कंधा भिडाकर खड़ी हुई थी। सो मै (जरा टेढे-मेढे रास्ते से निकलकर) फिर मालवीयजी के पास जा बैठा। हम कुछ देर तक बैठे रहे, और मैने देखा कि मालवीयजी मन-ही-मन बहुत भिन्नाये हुए थे और ऐसा मालूम होता था कि वह अपने मन को बहुत मसोस रहे थे। एकाएक बिना किसीको कुछ पता दिये उन पुलिसवालो और घोडो के बीच अद्भुत रीति से निकल कर उन्होने गोता लगा लिया। यो तो किसी भी शख्स के लिए इस तरह गोता लगाना आश्चर्य की बात होती, लेकिन मालवीयजी जैसे बूढे और दुर्बल-शरीर व्यक्ति के लिए तो ऐसा करना बहुत ही स्तम्भित कर देने वाला था। खैर, हम सबने उनका अनुकरण किया। हम सब पानी में कूद पड़े। पुलिस और घुडसेना ने हमें पीछे हटाने की थोड़ी-बहुत कोशिश की, मगर बाद को ठहर गई। थोडी देर बाद वह वहाँ से हटा ली गई।

हमने सोचा था कि सरकार हमारे खिलाफ कोई कार्रवाई करेगी। मगर ऐसा कुछ नही हुआ। शायद सरकार मालवीयजी के खिलाफ कुछ करना नही चाहती थी, और इसलिए बडे के पीछे हम छुटभैया भी अपने-आप बच गये।

१८

पिताजी और गांधीजी

१९२४ के शुरू मे यकायक खबर आई कि गाधीजी जेल मे बहुत ज्यादा बीमार हो गये है जिसकी वजह से वह अस्पताल पहुँचा दिये गये है और वहाँ उनका ऑपरेशन हुआ है। इस खबर को सुनकर चिन्ता के मारे हिन्दुस्तान सन्न हो गया। हम लोग डर से परेशान थे और दम-सा साधे खबरो का इन्तजार करते थे। अखीर मे सकट गुजर गया और देश के तमाम हिस्सो से लोगो की टोलियाँ उन्हे देखने के लिए पूना पहुँचने लगी। इस वक्त तक वह अस्पताल मे ही थे। कैदी होने की वजह से उनके ऊपर गारद रहती थी, लेकिन दोस्तो को महदूद तादाद मे उनसे मिलने की इजाजत थी। मै और पिताजी उनसे अस्पताल मे ही मिले।

अस्पताल से वह वापस जेल नही लेजाये गये। जब उनकी कमजोरी दूर हो रही थी तभी सरकार ने उनकी बाकी सजा रद करके उन्हे छोड दिया। उस वक्त वह जो छ साल की सजा उन्हे मिली थी उसमे से करीब-करीब दो साल की काट चुके थे। अपनी तन्दुरुस्ती ठीक करने के लिए वह बम्बई के नजदीक समुद्र के किनारे जुहू चले गये।

हमारा परिवार भी जुहू जा पहुँचा और वही समुद्र के किनारे एक छोटे-से बगले मे रहने लगा। हम लोगो ने कुछ हफ्ते वही गुजारे और मुझे बहुत अर्से के बाद अपने मन के मुताबिक छुट्टी मिल गई, क्योकि मै वहाँ मजे से तैर सकता था, दौड सकता था और समुद्र-तट की बालू पर घुडदौड कर सकता था। लेकिन हमारे वहाँ रहने का असली मतलब छुट्टियाँ मनाना नही था, बल्कि गाँधीजी के साथ देश की समस्याओ पर चर्चा करना था। पिताजी चाहते थे कि गाँधीजी को यह बता दे कि स्वराजी क्या चाहते है और इस तरह वह गाधीजी की सक्रिय हमदर्दी नही तो कम-से-कम उनका निष्क्रिय सहयोग जरूर हासिल कर ले। मै भी इस बात से चिन्तित था कि जो मसले मुझे परेशान कर रहे है उनपर कुछ रोशनी पड जाय। मै यह जानना चाहता था कि उनका आगे का कार्यक्रम क्या होगा।

जहाँतक स्वराजियो से ताल्लुक है वहाँतक उनको जुहू की बात-चीत से गाधीजी को अपनी तरफ कर लेने मे या किसी हद तक भी उनपर असर डालने मे कोई कामयाबी नही मिली। यद्यपि बात-चीत बड़े दोस्ताना ढग से और बहुत ही शराफत के साथ होती थी, लेकिन यह बात तो रही ही कि आपस मे कोई समझौता नही हो

सका। यह तय रहा कि उनकी राय एक-दूसरे से नही मिलती और इसी मतलब के बयान अखबारो मे छपा दिये गये।

मै भी जुहू से कुछ हद तक मायूस होकर लौटा; क्योकि गाँधीजी ने मेरे एक भी शक को दूर नही किया। अपने मामूली तरीके के मुताबिक उन्होने भविष्य की बात सोचने या बहुत लम्बे अर्से के लिए कोई कार्यक्रम बनाने से साफ इन्कार कर दिया। उनका कहना था कि हमे धीरज के साथ लोगो की सेवा का काम करते रहना चाहिए, कॉंग्रेस के रचनात्मक और समाज-सुधार करने वाले कार्यक्रम को पूरा करना चाहिए और लडाकू काम के वक्त का रास्ता देखना चाहिए। लेकिन हमारी असली मुश्किल तो यह थी कि ऐसा वक्त आने पर कही चौरीचौरा जैसा काण्ड तो नही हो जायगा, जो सारा तख्ता ही उलट दे और हमारी लड़ाई को रोक दे! इस वक्त गाँधीजी ने हमारे इस शक का कोई जवाब नही दिया। न वह हमारे मकसद—ध्येय—के बारे में ही पूरी तरह निश्चित थे। हममें से बहुत से अपने मन मे यह बात साथ-साथ जान लेना चाहते थे कि आखिर हम जा कहाँ रहे है? फिर चाहे कॉंग्रेस इस मामले पर कोई बाज़ाब्ता ऐलान करे या न करे। हम जानना चाहते थे कि क्या हम लोग आजादी के लिए, और कुछ हद तक समाज-रचना मे हेर-फेर के लिए अड़ेगे या हमारे नेता इससे बहुत कम किसी बात पर राज़ीनामा कर लेगे! कुछ ही महीने पहले सयुक्त-प्रान्त की सूबा कान्फ्रेन्स म अपने उस भाषण मे, जो मैने सदर की हैसियत से दिया था, मैने आजादी पर जोर दिया था। यह कान्फ्रेन्स १९२३ के बसन्त मे मेरे नाभा से लौटने से कुछ दिन बाद हुई थी। उन दिनो मै उस बीमारी से ठीक हो ही रहा था जो नाभा ने मेरी भेट की थी, इसलिए मै कान्फ्रेन्स मे शामिल नही हो सका, लेकिन मेरा वह भाषण जो मैने चारपाई पर बुखार मे पडे हुए लिखा था वही पहुँचा दिया गया था।

जबकि हम कुछ लोग कांग्रेस मे आजादी के मसले को साफ करा लेना चाहते थे तब हमारे लिबरल दोस्त हम लोगो से इतनी दूर बह गये थे—या शायद हमी लोगो ने उन्हे दूर बहा दिया था—कि वे सरेआम साम्राज्य की ताकत और उसकी शानोशौकत पर नाज़ करते थे, फिर चाहे वह साम्राज्य हमारे देशभाइयो के साथ पापोश का-सा बर्ताव करे और उसके उपनिवेश या तो हमारे भाइयो को अपना गुलाम बनाकर रक्खे या उनको अपने मुल्क मे घुसने ही न दे। श्री० शास्त्री शाही राजदूत बन गये थे और सर तेजबहादुर सप्रू ने १९२३ मे लदन मे होनेवाली इम्पीरियल कान्फ्रेस मे बड़े फख्र के साथ कहा था, कि "मै अभिमान के साथ कह सकता हूँ कि वह मेरा ही मुल्क है जो साम्राज्य को साम्राज्य बनाये हुए है।"

एक बहुत बडा समुद्र हमे इन लिबरल लीडरो से अलग किये हुए था। हम लोग अलग-अलग दुनिया मे रहते थे, अलग-अलग भाषाओ मे बात करते थे और हमारे ख्वाबो मे, अगर लिबरल कभी ख्वाब देखते हो तो, कोई चीज ऐसी न थी जो एक-सी हो। तब क्या यह जरूरी न था कि हम अपने मकसद की बावत साफ और सही फैसला करले ?

लेकिन उस वक्त ऐसे खयालात थोडे ही लोगो तक महदूद थे। ज्यादातर आदमी बहुत साफ और ठीक-ठीक सोचना पसन्द नही करते थे—खास तौर पर किसी राष्ट्रीय हलचल मे, जोकि अपनी प्रकृति से ही कुछ हद तक अस्पष्ट और रहस्यमय होती है। १९२४ के शुरू के महीनो मे जनता का खयाल ज्यादातर उन स्वराजियो की तरफ था जो सूबे की कौसिलो और असेम्बली मे गये थे। भीतर से विरोध करने और कौसिलो को तोडने की लम्बी-चौडी बाते मारने के बाद यह दल क्या करेगा ? हाँ, कुछ मजेदार बाते तो हुई। असेम्बली ने उस साल का बजट ठुकरा दिया, हिन्दुस्तान की आजादी की शर्ते तय करने के लिए गोलमेज मे बहस करने की माँग करनेवाला प्रस्ताव पास हो गया। देशबन्धु के नेतृत्व मे बगाल-कौसिल ने भी बहादुरी के साथ सरकारी खर्चो की मागो को ठुकरा दिया। लेकिन असेम्बली और सूबे की कौसिलो मे, दोनो मे ही, वाइसराय और गवर्नर ने बजट पर सही करदी, जिससे वे कानून बन गये। कुछ व्याख्यान हुए, कौसिलो मे कुछ उत्तेजना पैदा हुई, स्वराजियो मे थोडी देर के लिए अपनी फतह पर खुशी छा गई, अखबारो मे अच्छे-अच्छे हेडिंग आये, लेकिन इनके अलावा और कुछ नही हुआ। इससे ज्यादा वे कर ही क्या सकते थे ? ज्यादा-से-ज्यादा वे फिर यही काम करते, लेकिन उनका नयापन चला गया था। जोश खत्म हो गया था और लोग बजटो और कानूनो को वाइसराय या गवर्नरो द्वारा सही होते देखने के आदी हो गये थे। इसके बाद का कदम अवश्य ही कौसिलो मे जो स्वराजी मेम्बर थे उनकी पहुँच के बाहर था। वह तो कौसिल-भवन से बाहर का था।

इस साल १९२४ के बीच में किसी महीने मे अहमदावाद मे अखिल-भारतीय काँग्रेस कमिटी की बैठक हुई। इस बैठक मे, आशा से बाहर, स्वराजियो मे और गाधीजी मे बहुत गहरी खटपट हो गई और कुछ अचानक विलक्षण हालात पैदा हो गये। शुरुआत गाधीजी की तरफ से हुई। उन्होने काँग्रेस के विधान में एक खास परिवर्त्तन करना चाहा। वह वोट देने के हक को और मेम्बरी से ताल्लुक रखने वाले नियम को बदल देना चाहते थे। इस वक्त तक जो कोई काँग्रेस-विधान की पहली धारा को, जिसमे यह लिखा हुआ था कि काँग्रेस का उद्देश शान्तिमय उपायो से स्वराज लेना है, मजूर करता और चार आने देता वही मेम्बर हो जाता था। अब गाधीजी

चाहते थे कि सिर्फ वही लोग मेम्बर हो सके जो चार आने के बजाय निश्चित मिकदार मे अपने हाथ का कता हुआ सूत दे। इससे वोट देने का हक बहुत कम हो जाता था और इसमे कोई शक नही कि अ० भा० कॉंग्रेस कमिटी को कोई हक न था कि वह इस हक को इस हद तक कम करती। लेकिन जब विधान के अक्षर गाँधीजी की मर्जी के खिलाफ पडते है तब वह उन हरफो की शायद ही कभी परवा करते हो। मैं इसे विधान के साथ इतनी जबरदस्त ज्यादती समझता था कि उसे देखकर मुझे बडा धक्का लगा और मैंने कार्य-समिति से कहा कि मत्री-पद से मेरा इस्तीफा ले लीजिए। लेकिन इसी बीच मे कुछ नई बाते और हो गईं जिनकी वजह से मैंने इसपर जोर नही दिया। अ० भा० कॉंग्रेस कमिटी की बैठक मे देशबन्धु दास और पिताजी ने जोर-शोर से इस प्रस्ताव का विरोध किया और अखीर मे वे उसके खिलाफ अपनी पूरी नाराजगी जाहिर करने की गरज से वोट होने से कुछ पहले अपने अनुयायियो की काफी तादाद के साथ उठकर चले गये। उसके बाद भी कमिटी मे कुछ लोग ऐसे रह गये जो उस तजवीज के खिलाफ थे। प्रस्ताव कसरत राय से पास हो गया, लेकिन बाद मे वह वापस ले लिया गया, क्योंकि मेरे पिताजी और देशबन्धु के अटल विरोध से और स्वराजियो के उठकर चले जाने से गाधीजी पर बडा भारी असर पडा, उनकी भावुकता जग गई और एक मेम्बर की किसी बात से वह इतने विचलित हो गये कि अपनेको सम्हाल न सके। यह जाहिर था कि उनको बहुत गहरी तकलीफ हुई थी। उन्होने बडी भावुकता के साथ कमिटी के सामने अपने खयालात जाहिर किये, जिन्हे सुनकर बहुत-से मेम्बर रोने लगे। यह एक असाधारण और दिल हिला देने वाला दृश्य था।[1]

१. यह सब हाल जेल में याददाश्त के भरोसे लिखना पड़ा था। अब मुझे मालूम हुआ है कि मेरी याददाश्त गलत निकली और अ० भा० कांग्रेस कमिटी में जिन बातों पर बहस हुई उनमें से एक खास बात को मैं भूल गया और इस तरह वहाँ जो कुछ हुआ उसकी बाबत मैंने गलत धारणा पैदा कर दी। जिस बात से गांधीजी विचलित हुए थे वह तो एक नौजवान बगाली (आतकवादी) गोपीनाथ साहा से ताल्लुक रखनेवाला वह प्रस्ताव था जो मीटिंग में पेश हुआ और अखीर में गिर गया। जहाँ तक मुझे याद है, उस तजवीज में उसके हिंसात्मक काम की तो निन्दा की गई थी लेकिन उसके उद्देश के साथ हमदर्दी जाहिर की गई थी। तजवीज से भी ज्यादा रंज गांधीजी को उन तकरीरों से हुआ जो उस तजवीज के सिलसिले में दी गईं। उनसे गांधीजी को यह खयाल हो गया कि कांग्रेस में भी बहुत-से लोग अहिंसा के मामले में सजीदा नहीं हैं और इसी खयाल से वह दुखी हुए। इसके बाद फौरन ही 'यंग इण्डिया' में इस मीटिंग

मैं यह कभी नही समझ सका कि गाधीजी हाथ-कते सूत पर ही वोट का हक देनेवाली उस अनोखी बात के बारे मे इतनी हठ क्यो करते थे ? क्योकि वह यह तो जरूर ही जानते होगे कि उसकी बुरी तरह मुखालिफत की जावेगी। शायद वह यह चाहते थे कि कॉंग्रेस मे सिर्फ ऐसे शख्स रहे जो उनके खादी वगैरा के रचनात्मक कार्यक्रम मे ऐतबार रखते हो और दूसरो के लिए वह या तो यह चाहते थे कि वे लोग भी उस कार्यक्रम को मान ले नही तो कॉंग्रेस से निकाल दिये जाये। लेकिन अगर्चे कसरत राय उनके साथ थी फिर भी उन्होने अपना सकल्प ढीला कर दिया और दूसरे दल से समझौता करने लगे। मुझे यह देखकर हैरत हुई कि अगले तीन-चार महीनो मे इस मामले मे उन्होने कई बार अपनी राय बदली। ऐसा मालूम पडता था कि खुद उनकी समझ मे कुछ नही आता था कि वह कहाँ है और किधर जाना चाहते है ? उनके बारे मे मै ऐसा खयाल कभी नही करता था कि उनकी भी कभी ऐसी हालत हो सकती है। इसीलिए मुझे अचम्भा हुआ। मेरी राय मे वह मामला खुद को बाबत लिखते हुए उन्होंने कहा—"चारों प्रस्तावों पर मेरे साथ बहुमत ज़रूर था, लेकिन वह इतना कम था कि मुझे तो उस कसरत राय को भी कम राय मानना चाहिए। असल में दोनों दल करीब-करीब बराबर थे। गोपीनाथ साहा वाले प्रस्ताव से मामला सजीदा हो गया। उसपर जो तकरीरे हुई, उसका जो नतीजा हुआ और उसके बाद मैंने जो बातें देखीं उन सबसे मेरी आंखें खुल गई।...... गोपीनाथ साहा वाली तजवीज के बाद शराफत बिदा हो गई। ऐसे मौके पर मुझे अपना अखीरी प्रस्ताव पेश करना पड़ा। ज्यों ज्यों कार्रवाई होती गई त्यों-त्यों मैं और भी सजीदा होता गया। मेरे जी में ऐसी आई कि इस दुःखमय दृश्य से मैं भाग जाऊँ। मुझे जो प्रस्ताव मेरे सुपुर्द था उसे पेश करते हुए डर लगता था......मैं नहीं जानता कि मैंने यह बात साफ करदी थी या नहीं कि किसी वक्ता के प्रति मेरे दिल में मैल या दुश्मनी नहीं थी। लेकिन मेरे दिल में जिस बात का रज था वह कांग्रेस के ध्येय या अहिसा की नीति के प्रति लोगों की उपेक्षा और उनकी वह अनजानें गैर-जिम्मेदारी थी.........ऐसे प्रस्ताव का समर्थन करने को कांग्रेस में सत्तर मेम्बर तैयार थे, यह एक ऐसी बात थी कि जिसे देखकर मैं दंग रह गया।" गांधीजी के भाष्य के साथ यह वाक़या बहुत ही पुरमाने है। उससे उस अत्यन्त महत्व का पता चलता है जो गांधीजी अहिंसा को देते हैं और इस बात का भी पता चलता है कि उसमें गडबड़ करने की, अनजान में, अप्रत्यक्ष रूप से की गई कोशिश का भी उनपर कैसा बुरा असर होता है। इसके बाद उन्होंने जो बहुत-सी बातें कीं वे भी गालिबन तह में इसी तरह के ख़यालात की वजह से कीं। उनके तमाम कामों और उनकी तमाम कार्य-नीति की जड़ असल में अहिंसा ही थी और अहिंसा ही है।

कोई ऐसा बहुत जरूरी नही था। वोट देने का अख्त्यार हासिल करने के लिए कुछ मशक्कत कराने का खयाल बहुत अच्छा था, लेकिन वह जिस संकुचित रूप मे लोगो के सामने आया उससे उसका कुछ मतलब खब्त हो गया।

मैं इस नतीजे पर पहुँचा कि गाधीजी को इन मुश्किलो का सामना इसलिए करना पड़ा कि वह अजनबी हालत मे गुजर रहे थे। सत्याग्रह की सीधी लडाई के खास मैदान मे उनका मुकाबला कोई नही कर सकता था। उस मैदान में उनको सहज-बुद्धि अचूक उन्हे सही कदम रखने के लिए प्रेरित किया करती थी। जनता मे सामाजिक सुधार कराने के लिए चुपचाप खुद काम करने और दूसरो से काम कराने मे भी वह बहुत होशियार थे। वह दिल खोल लडाई या सच्ची शान्ति को समझ सकते थे। इन दोनो के बीच की हालत को वह नही समझ सकते थे।

कौंसिलो के भीतर विरोध करने और लड़ाई लडने के स्वराजी प्रोग्राम से वह बिलकुल उदासीन थे। उनकी राय थी कि अगर कोई साहब कौंसिलो मे जाना चाहते है तो वे वहाँ सरकार की मुखालिफत करने न जायँ, बल्कि बेहतर कानून बनवाने वगैरा के लिए सरकार से सहयोग करने के लिए जायँ। अगर वे ऐसा नही करना चाहते तो बाहर ही रहे। स्वराजियो ने इनमे से एक भी सूरत अख्त्यार नही की। और इसीलिए उनके साथ व्यवहार करने मे मुश्किल पडती थी।

लेकिन आखिर मे गाधीजी ने स्वराजियो से अपना ठीक-ठाक कर लिया। कता हुआ सूत भी, चार आने के साथ-साथ, वोट का हक हासिल करने का एक साधन मान लिया गया। उन्होने कौंसिलो मे स्वराजियो के काम को लगभग अपना आशीर्वाद दे दिया। लेकिन वह खुद उससे बिलकुल अलग रहे। यह कहा जाता था कि वह तो राजनीति से अलहदा हो गये है और ब्रिटिश सरकार और उसके अफसर यह समझते थे कि उनकी लोकप्रियता कम हो रही है और उनकी ताकत खत्म हो चुकी है। यह कहा जाता था कि दास और नेहरू ने गाधीजी को पीछे भगा दिया है, वे ही राजनैतिक मैदान पर काबू किये हुए मालूम होते थे। पिछले पद्रह बरसो मे, इस तरह की बाते समय के अनुसार मौजूँ हेर-फेर के साथ बार-बार दुहराई गई है और उन्होने हर मर्त्तबा यह दिखा दिया है कि हमारे शासक हिन्दुस्तानी लोगो के खयालात के बारे मे कितनी कम जानकारी रखते है। जबसे गाधीजी हिन्दुस्तान के राजनैतिक मैदान मे आये तबसे उनकी लोकप्रियता में कभी कमी नही आई, कम-से-कम जहाँ-तक आम लोगो का ताल्लुक है उनकी लोकप्रियता बराबर बढती चली गई है। और यह सिलसिला अभीतक ज्यो का त्यो जारी है। लोग गाधीजी की इच्छाओ को पूरा भले ही न कर सके, क्योकि आदमी की तबीयत अक्सर कमजोर होती है, लेकिन उनके

दिलो मे गाधीजी के लिए मुहब्बत भरी ही हुई है। जब मुल्क के हालात मुआफिक होते है तब लोग विशाल जन-साधारण के आन्दोलनो के रूप मे उठ खडे होते है, नही तो चुपचाप मुँह छिपाये पडे रहते है। नेता का काम यह नही है कि वह न-कुछ में जादू की-सी लकडी फेरकर जनता की हलचले पैदा करदे। हाँ, जब हालत ऐसी पैदा हो जाय तो वह उनका फायदा उठा सकता है, उन हालात से फायदा उठाने के लिए तैयारी कर सकता है, लेकिन वह उन हालात को पैदा नही कर सकता।

लेकिन यह बात सच है कि पढे-लिखे लोगो मे गाँधीजी की लोकप्रियता घटती-बढती रहती है। जब आगे बढने का जोश आता है तब वे उनके पीछे-पीछे चलते हैं, और जब उसकी लाजिमी प्रतिक्रिया होती है तब वे गाधीजी की नुक्ताचीनी करने लगते है। लेकिन इस हालत मे भी उनकी बहुत ज्यादा तादाद गाधी.जी के सामने सिर झुकाती है। कुछ हद तक तो यह बात इसलिए है कोई दूसरा कारगर प्रोग्राम ही नही है। लिबरलो या उन्हींसे मिलते-जुलते दूसरे उन जैसे प्रतिसहयोगी वगैरा को कोई पूछता नही, और जो लोग आतक-कारी हिंसा मे विश्वास रखते है उनका आजकल की दुनिया मे कोई स्थान नही रहा। उन्हे लोग बेकार तथा पुराने और पिछडे हुए समझते है। इधर समाजवादी कार्यक्रम को लोग अभी बहुत कम जानते हैं, और इससे कॉग्रेस मे ऊँची श्रेणियो के जो लोग है उनको डर मालूम होता है।

१९२४ के बीच मे थोडे वक्त के लिए जो राजनैतिक अनबन हो गई थी उसके बाद मेरे पिताजी और गाधीजी मे पुरानी दोस्ती फिर कायम हो गई और वह और भी ज्यादा बढ गई। एक-दूसरे से उनकी राय चाहे जितनी ही खिलाफ होती, लेकिन दोनो के दिल मे एक-दूसरे के लिए बहुत ज्यादा खयाल और इज्जत थी। दोनो मे आखिर ऐसी क्या बात है, जिसकी दोनो इज्जत करते थे ? 'विचार-प्रवाह' (Thought-currents) नाम की एक पुस्तिका मे गाधीजी के लेखो का सग्रह छापा गया था। इस पुस्तिका की भूमिका पिताजी ने लिखी थी। उस भूमिका मे हमे उनके मन की झलक मिल जाती है। उन्होने लिखा है कि —

"मैने महात्माओ और महान् पुरुषो की बाबत बहुत सुना है, लेकिन उनसे मिलने का आनन्द मुझे कभी नही मिला। और मै यह मजूर करता हूं कि मुझे उनकी असली हस्ती के बारे मे भी कुछ शक है। मै तो मनुष्यो में और मनुष्योचित गुणो तथा कार्यो मे विश्वास करता हूँ। इस पुस्तिका मे जो विचार-प्रवाह सकलित किये गये हैं वे एक ऐसे ही मनुष्य के दिमाग से निकले है और मनुष्योचित है। वे मानव-प्रकृति के दो बडे गुणो के नमूने है—यानी श्रद्धा और बल के·········

"जिस आदमी मे न श्रद्धा है न बल, वह पूछता है, इस सबका नतीजा क्या

होगा ? यह जवाब कि मौत होगी या जीत, उसे अपील नही करता.........इस बीच मे वह विनीत और छोटा-सा व्यक्ति, अजेय शक्ति और अचल श्रद्धा के मजबूत पैतानो पर सीधा खडा हुआ, अपने देश के लोगो को मातृभूमि के लिए अपनी कुर्बानी करने और तकलीफ सहने का अपना सदेश देता चला जा रहा है। लाखो लोगो के हृदयो मे इस सदेश की प्रतिध्वनि आती है।........."

उन्होने स्विनबर्न की नीचे लिखी पक्तिया देकर अपनी भूमिका खत्म की है—

नही हमारे पास रहे क्या मानव ऊचे नामी—
मानव, जोकि परिस्थितियो के हो शासक औ' स्वामी ![1]

जाहिर है कि वह इस बात पर जोर देना चाहते थे कि वह गाधीजी की तारीफ इसलिए नही करते कि वह कोई साधु या महात्मा है, बल्कि इसलिए कि वह मनुष्य है। वह खुद मजबूत तथा कभी न झुकनेवाले थे, इसलिए गाधीजी की आत्म-शक्ति की तारीफ करते थे। क्योकि यह साफ मालूम होता था कि दुबले-पतले शरीरवाले एक छोटे-से आदमी मे इस्पात की-सी मजबूती भी है, कुछ चट्टान जैसी चीज है जो शारीरिक ताकतो के सामने नही झुकती, फिर चाहे ये ताकते, कितनी ही बडी क्यो न हो, और यद्यपि उनकी शक्ल-सूरत, उनका नगा शरीर, उनकी छोटी धोती, ऐसी न थी कि किसीपर बहुत धाक जमे, लेकिन उनमे कुछ शाहीपन और ऐसी बादशाहियत जरूर है जो दूसरो को खुशी-खुशी से उनका हुक्म बजा लाने को मजबूर कर देती है। यद्यपि वह जान-बूझकर नम्र और विनीत रहने की निश्चित कोशिश करते थे, फिर भी शक्ति व अधिकार उनमे लबालब भरे हुए थे और वह इस बात को जानते भी थे, और कभी-कभी तो वह ऐसे शाही हो जाते थे कि जो हुक्म निकालते वह पूरा ही करना पडता। उनकी शान्त लेकिन गहरी आँखे आदमी को जकड लेती और उसके दिल के भीतर तक की बाते खोज लेती। उनकी साफ-सुथरी आवाज मीठी गूज के साथ दिल के अन्दर घुसकर हमारे भावो को जगाकर अपनी तरफ खीच लेती। उनकी बात सुननेवाला चाहे एक शख्स हो या हजार हो, उनका चुम्बक का-सा आकर्षण उन्हे अपनी तरफ खीचे बिना नही रहता और हरेक सुननेवाला बोलनेवाले के साथ एक-सा हो जाने का अनुभव करता है। इस भाव का दिमाग से बहुत कम ताल्लुक होता था। गाधीजी दिमाग को अपील करने की बिलकुल उपेक्षा करते हो सो बात नही, फिर भी इतना निश्चित है कि दिमाग व

१. मूल पद्य इस प्रकार है :—

Have we not men with us Royal,
Men the masters of things ?....

तर्क को दूसरा नम्बर मिलता था। मन्त्र-मुग्ध करने का यह जादू न तो वाग्मिता के बल से होता था और न रेशमी मुलायम वाक्यावली के मोहक प्रभाव से। उनकी भाषा हमेशा सरल होती थी, और साथ ही विषय से ताल्लुक रखनेवाली भी। गैर-जरूरी शब्दो का इस्तैमाल शायद ही कभी होता हो। महज उनकी सोलहो आने पूरी सच्चाई और उनका व्यक्तित्व ही दूसरो को जकड लेता है। उनसे मिलने पर यह खयाल जम जाता है कि उनके भीतर प्रचण्ड शक्ति का भडार भरा हुआ है। शायद यह भी हो कि उनके चारो तरफ उनकी बावत जो धारणाये बन गई है वे भी उचित आबोहवा पैदा करने में मदद देती है। हो सकता है कि कोई अजनबी आदमी, जिसे उन धारणाओ का पता न हो और गाधीजी के आसपास की हालतो से जिसका मेल न खाता हो, वह उनके जादू के असर मे न आवे या इस हद तक न आवे, लेकिन फिर भी गाधीजी के बारे मे सबसे ज्यादा कमाल की बात यही थी और यही है कि वह अपने मुखालिफो को या तो सोलहो आने अपनी तरफ कर लेते है या कम-से-कम उनको नि शस्त्र जरूर कर देते है।

यद्यपि गाधीजी प्राकृतिक सौन्दर्य की बहुत तारीफ करते है, लेकिन मनुष्य की बनाई चीजो मे वह कला या खूबसूरती नही देख सकते। उनके लिए ताजमहल जबर-दस्ती ली हुई बेगार की प्रतिमूर्त्ति के सिवा और कुछ नही। उनमे सू घने की शक्ति भी बहुत कम है। फिर भी उन्होने अपने तरीके से उन्हीमें जीवन-यापन की कला खोज निकाली है और अपनी जिन्दगी को कला-मय बना दिया है। उनका हरेक इशारा सार्थक और खूबी लिए हुए होता है, और खूबी यह है कि बनावट का नामो-निशान नही। उनमे न कही नुकीलापन है, न कटीलापन। उनमे उस गँवारूपन या साधारणपन का निशान तक नही जिसमे, दुर्भाग्य से, हमारे बीच के दर्जे के लोग डूबे रहते है। भीतरी शान्ति हासिल करके वह दूसरो को भी शान्ति देते है और जिन्दगी के कँटीले रास्ते पर मजबूत और निडर कदम रखते हुए चले जाते है।

मगर मेरे पिताजी गाधीजी से कितने भिन्न थे। लेकिन उनमे भी व्यक्तित्व का बल था और बादशाहियत की मात्रा थी। स्विनबर्न की वे पक्तियाँ उनके लिए भी लागू होती है। जिस किसी समाज मे वह जा बैठते उसके केन्द्र और धुरीण वही बन जाते। जैसाकि एक अग्रेज जज ने पीछे कहा था, वह जहाँ-कही भी जाकर बैठते वही मुखिया बन जाते। वह न तो नम्र ही थे न मुलायम ही, और गाधीजी के उलटा, वह उन लोगो की खबर लिये बिना नही रहते थे जिनकी राय उनके खिलाफ होती थी। उन्हे इस बात का भान रहता था कि उनका मिजाज शाही है। वह अपने खिलाफ या तो पूरी भक्ति पैदा करते थे या कडा विरोध। उनसे

कोई शख्स उदासीन या तटस्थ नही रह सकता था। हरेक को या तो उन्हे पसन्द या नापसन्द करना पडता। चौडा ललाट, चुस्त होठ और सुनिश्चित ठोडी। इटली के अजायबघरो मे रोमन शहशाहो की जो अर्द्ध-मूर्त्तियाँ है उनसे उनकी शक्ल बहुत काफी मिलती थी। इटली मे बहुत-से मित्रो ने जो उनकी तस्वीर देखी तो उन्होने भी इस मेल का जिक्र किया था। खास तौर पर उनकी ज़िन्दगी के पिछले सालो मे जबकि उनका सिर सफेद बालो से भर गया था, उनमे एक खास किस्म की शानो-शौकत और भव्यता आ गई थी जो इस दुनिया मे आजकल बहुत ही कम दिखाई देती है। वह मेरी तरह न थे, उनके सिर के बाल अखीर तक बने रहे।

मै समझता हू कि शायद मै उनके साथ पक्षपात कर रहा हूँ, लेकिन इस ओछे-पन और कमजोरी से भरी हुई दुनिया मे उनकी शरीफाना हस्ती की रह-रहकर याद आती है। मै अपने चारो तरफ उनकी सी अजीब ताकत और उनकी-सी शानो-शौकत को खोजता हूँ, लेकिन बेकार।

मुझे याद है कि १९२४ मे मैने गाधीजी को पिताजी का एक फोटो दिया था। इन दिनो गाधीजी की और स्वराजियो की रस्साकशी हो रही थी। इस फोटो मे पिता-जी के मूछे न थी और उस वक्त तक गाधीजीने उन्हे हमेशा सुन्दर मूछो-सहित देखा था। इस फोटो को देखकर गाधीजी चौक गये और बहुत देर तक उसे देखते रहे, क्योकि मूछे न रहने से मुँह व ठोडी की कठोरता और भी प्रकट हो गई थी, और कुछ सूखी-सी हसी हसते हुए उन्होने कहा कि अब मैने यह जान लिया कि मुझे किसका मुकाबिला करना है। उनकी ऑखो ने और निरन्तर हँसी ने चेहरे पर जो रेखाये बना दी थी उन्होने चेहरे की कठोरता को कम कर दिया था फिर भी कभी-कभी आखे चमक उठती थी।

पिताजी असेम्बली के काम मे उसी तरह तैरने लगे जैसे बतक पानी मे। वह उनकी कानूनी और विधान-ज्ञान-सम्बन्धी तालीम के लिए मौजूँ था। सत्याग्रह तथा उसकी शाखाओ के खेल के नियम तो वह नही जानते थे, लेकिन इस खेल के नियम-उपनियमो से पूरी तरह वाकिफ थे। उन्होने अपनी पार्टी मे कठोर अनुशासन रक्खा और दूसरे दलो और व्यक्तियो को भी इस बात के लिए राजी कर लिया कि वे स्वराज-पार्टी की मदद करे। लेकिन जल्दी ही उन्हे अपने ही लोगो से मुसीबत का सामना करना पडा। स्वराज-पार्टी को अपने शुरू के दिनो मे काग्रेस मे ही अ-परि-वर्तनवादियो से लडना पड़ा था, और इसलिए काग्रेस के भीतर पार्टी की ताकत बढाने के लिए बहुतसे ऐसे-वैसे लोग भर्ती कर लिये गये थे। इसके बाद चुनाव हुआ, जिसके लिए रुपये की जरूरत थी। रुपये पैसेवालो से ही आ सकते थे, इसलिए इन

पैसेवालो को खुश रखना पडता था। उनमे से कुछ को तो स्वराजी उम्मीदवार होने के लिए भी कहा गया था। एक अमेरिकन साम्यवादी ने कहा है कि राजनीति वह नाजुक कला है जिसके जरिये गरीबो से वोट और अमीरो मे चुनाव के लिए रुपये यह कहकर लिये जाते है कि हम तुम्हारी एक-दूसरे से रक्षा करेगे।

इन सब बातो से पार्टी शुरू से ही कमजोर हो गई थी। कौंसिल और असेम्बली के काम मे इस बात की रोज ही जरूरत पडती थी कि दूसरो से और ज्यादा माडरेट दलो के साथ समझौते किये जायँ। और कोई भी उसूल या प्रचार की प्रचड आकाक्षा इन समझौतो से सुरक्षित नही रह सकती थी। धीरे-धीरे पार्टी का मिजाज और उसका अनुशासन बिगडने लगा और उसके कमजोर तथा मौके से फायदा उठानेवाले मेम्बर मुश्किले पैदा करने लगे। स्वराज-पार्टी खुल्लम-खुल्ला यह ऐलान करके कौंसिलो मे गई थी कि हम "भीतर जाकर मुखालिफत करेगे"। लेकिन इस खेल को तो दूसरे भी खेल सकते थे और सरकार ने स्वराजी मेम्बरो मे फूट व विरोध पैदा करके इस खेल मे अपना हाथ डालने की ठान ली। पार्टी के कमजोर भाइयो के रास्ते मे तरह-तरह के तरीको से खास रिआयतो और ऊंचे ओहदो के लालच दिये जाने लगे। उन्हे सिर्फ इन चीजो मे से जिसे वे चाहे उसे चुन लेना था। उनकी लियाकत, उनकी मीठी विवेकशीलता तथा उनकी राजनीति-चतुरता आदि गुणो की तारीफे होने लगी। उनके चारो तरफ एक आनन्द-मय तथा सुखप्रद वातावरण पैदा कर दिया गया, जो खेतो व बाजार की धूल और शोरोगुल से बिलकुल जुदा था।

स्वराजिस्टो का आम लहजा नीचे गिर गया। कोई शख्स किसी सूबे मे से तो कोई असेम्बली मे से विरोधी पक्ष की तरफ खिसकने लगे। पिताजी बहुत चिल्लाये और गरजे। उन्होने कहा, मै सडे हुए अग को काट फेकूगा। लेकिन जब सडा हुआ अग खुद ही शरीर छोडकर चले जाने को उत्सुक हो तब इस धमकी का कोई बडा असर नही हो सकता था। कुछ स्वराजिस्ट मिनिस्टर हो गये और कुछ बाद को सूबो मे कार्यकारिणी के मेबर। उनमे से कुछ ने अपना अलग दल बना लिया और अपना नाम रक्खा प्रति-सहयोगी। इस नाम को शुरू मे लोकमान्य तिलक ने बिलकुल दूसरे मानी मे इस्तैमाल किया था। इन दिनो मे तो इसके मानी यही थे कि मौका मिलते ही जो ओहदा मिले उसे हडप लो और उससे जितना फायदा उठा सकते हो उठाओ। इन लोगो के धोखा दे जाने पर भी स्वराज-पार्टी का काम चलता रहा। लेकिन घटना-चक्र ने जो शक्ल अख्त्यार की उससे पिताजी व देशबधु दास को कुछ हद तक नफरत हो गई। कौसिलो और असेम्बली के अन्दर उन्हे अपना काम बेफायदा-सा मालूम होने लगा, जिसकी वजह से वे उससे ऊबने लगे। मानो उनकी

इस ऊब को बढाने के लिए उत्तरी हिन्दुस्तान मे हिन्दू-मुस्लिम झगड़ा बढ़ रहा था, जिसकी वजह से कभी-कभी दंगे भी हो जाते थे।

कुछ काँग्रेसी जो हमारे साथ १९२१ और २२ मे जेल गये थे, अब सूबे की सरकारो मे मिनिस्टर हो गये थे या दूसरे ऊँचे ओहदो पर पहुँच गये थे। १९२१ मे हमें इस बात का फख्र था कि हमें एक ऐसी सरकार ने गैर कानूनी करार दिया है और वही हमे जेल भेज रही है, जिसके कुछ सदस्य लिबरल थे जो पुराने कांग्रेसी भी थे। भविष्य में हमे यह तसल्ली और होने को थी कि कम-से-कम कुछ सूबों मे हमारे अपने पुराने साथी ही हमे गैर-कानूनी करार देकर जेल मे भेजेगे। ये नये मिनिस्टर और कार्यकारिणी के मेम्बर इस काम के लिए लिबरलो से कही ज्यादा कुशल थे। वे हमे जानते थे, हमारी कमजोरियो को जानते थे, और यह भी जानते थे कि उनसे कैसे फायदा उठाया जाय। वे हमारे तरीको से भली-भाँति वाकिफ थे तथा जन-समूहो और उनके मनोभावो का भी उन्हे कुछ तजुर्बा जरूर था। दूसरी तरफ जाने से पहले उन्होने नाजियों की तरह क्रान्तिकारी हलचल के साथ नाता जोड़ा था। और काँगेस के अपने पुराने साथियो का दमन करने मे वे इन तरीको से अनभिज्ञ पुराने हाकिमो या लिबरल मिनिस्टरो से कही ज्यादा क्षमतापूर्वक अपने इस ज्ञान का उपयोग कर सकते थे।

दिसम्बर १९२४ मे कागेस का जलसा बेलगाँव मे हुआ और गाधीजी उसके सभापति थे। उनके लिए कागेस का सभापति होना तो एक भोण्डी-सी बात थी, क्योकि वह तो बहुत अर्से से उसके स्थायी सभापति से भी बढकर थे। उनका सदर की हैसियत से दिया हुआ भाषण मुझे पसन्द नही आया। मुझे उसमे ज़रा भी स्फूर्ति नही मिली। जलसा खत्म होते ही, गाधीजी के कहने पर, मैं फिर अगले साल के लिए अ० भा० काग्रेस कमिटी का कार्यकारी मन्त्री चुन लिया गया। मेरी इच्छाओ के बावजूद धीरे-धीरे मै कागेस का अर्द्ध-स्थायी मन्त्री बनता जा रहा था।

१९२५ की गर्मियो मे पिताजी बीमार थे। उनका दमा बहुत ज्यादा तकलीफ दे रहा था। वह परिवार के साथ हिमालय मे डलहौजी चले गये। बाद को कुछ अर्से के लिए मैं भी उन्हीके पास जा पहुँचा। हम लोगो ने हिमालय के भीतर डलहौजी से चम्बा तक का सफर किया। जब हम लोग चम्बा पहुँचे तब जून का कोई दिन था, और हम लोग पहाड़ी रास्तो पर सफर करके कुछ थक गये थे। इसी समय एक तार आया, उससे मालूम हुआ कि देशबन्धु मर गये। बहुत देर तक पिताजी शोक के भार से झुककर बैठे रहे, उनके मुँह से एक शब्द तक न निकला। यह आघात उनके लिए बहुत ही निर्दयता-पूर्ण था। मैंने उन्हे इतना दु खी होते हुए कभी नही देखा था। वह

एक शख्स जो उनके लिए दूसरे सब लोगों से ज्यादा घनिष्ठ और प्यारा साथी हो गया था यकायक उन्हें छोड कर चला गया और सारा बोझ उनके कन्धों पर छोड गया। वह बोझा वैसे ही बढ रहा था, वह तथा देशबन्धु दोनों ही उससे तथा लोगों की कमजोरियों से ऊब रहे थे। फरीदपुर-कान्फ्रेन्स में देशबन्धु ने जो अखीरी भाषण दिया वह एक थके हुए-से शख्स का भाषण था।

हम दूसरे ही दिन सुबह चम्बा से चल दिये और पहाडों पर चलते-चलाते डलहौजी पहुँचे, वहाँ से कार द्वारा रेलवे स्टेशन पर, फिर इलाहाबाद और वहाँ से कलकत्ता।

१९

साम्प्रदायिकता का दौरदौरा

नाभा-जेल से लौटने पर १९२३ की वसन्त-ऋतु में मैं बीमार पड गया ।,मियादी बुखार से मेरी यह कुश्ती मेरे लिए एक नया तजुर्बा था । मुझे शारीरिक कमजोरी से या बुखार से चारपाई पर पडा रहने या बीमार पडने की आदत न थी । मुझे अपनी तन्दुरुस्ती पर कुछ घमण्ड था और हिन्दुस्तान मे आम तौर पर जो बीमार बने रहने का रिवाज-सा पडा हुआ था उसके मैं खिलाफ था । अपनी जवानी और अच्छे शरीर की वजह से मैंने बीमारी पर पार पा लिया, लेकिन सकट के टल जाने पर मुझे कमजोरी की हालत मे चारपाई पर पडे रहना पडा और अपनी तन्दुरुस्ती भी धीरे-धीरे हासिल करनी पडी । इन दिनो मैं अपने आस-पास की चीजो और अपने रोज-मर्रा के कामो से अजीव विराग-सा महसूस करता था और उन्हे काफी दूरी से देखता रहता था । मुझे ऐसा मालूम पडता था कि जगल मे मैं पेडो की आड मे से बाहर निकल आया हूँ और अव तमाम जगल को अच्छी तरह देख सकता हूँ । मेरा दिमाग जितना साफ और ताकतवर इन दिनो था उतना पहले कभी न था । मैं समझता हूँ कि यह तजुर्बा या इस तरह का कोई दूसरा तजुर्बा उन सव लोगो को हुआ होगा जिन्हे सख्त बीमारी मे होकर गुजरना पडा है । लेकिन मेरे लिए तो वह एक तरह का आध्यात्मिक अनुभव-सा हुआ । मैं आध्यात्मिक शब्द का इस्तैमाल उसके सकीर्ण धर्म के मानी मे नही करता । इस तजुर्बे का मुझपर बहुत काफी असर पडा । मैंने महसूस किया कि मैं अपनी राजनीति के भावुकता-मय वायुमण्डल से ऊपर उठ गया हूँ, और जिन ध्येयो तथा शक्तियो ने मुझे कार्य के लिए प्रेरित किया उन्हे ज्यादा स्पष्टता के साथ देख सकता हूँ । इस स्पष्टता के फल-स्वरूप मेरे दिल मे तरह-तरह के तर्क-वितर्क उठने लगे, जिनका कोई माकूल जवाव नही मिलता था । लेकिन मैं जिन्दगी और राजनीति दोनो मामलो को मजहबी निगाह से देखने के दिन-पर-दिन ज्यादा ही खिलाफ होता गया । मै अपने उस तजुर्वे की वावत ज्यादा नही लिख सकता । वह एक ऐसा खयाल था जिसे मैं आसानी से जाहिर नही कर सकता । यह वात ग्यारह वर्ष पहले हुई थी और अव तो उसकी मेरे मन पर वहुत ही हलकी छाप रह गई है । लेकिन इतनी वात मुझे अच्छी तरह याद है कि मेरे ऊपर और मेरे विचार करने के तरीके पर उसका टिकाऊ असर पडा और अगले दो या तीन साल मैंने अपना काम कुछ हद तक उसी विरक्त भाव से किया ।

हाँ, बेशक कुछ हद तक तो यह वात उन घटनाओ की वजह से हुई जो विलकुल मेरी ताकत के बाहर थी और जिनमे मै फिट नही होता था। कुछ राजनैतिक परिवर्त्तनो का जिक्र मै पहले ही कर चुका हूँ। उससे भी ज्यादा असल वात थी हिन्दू-मुसलमानो के ताल्लुकात मे दिन-पर दिन ज्यादा वढनेवाली खरावी, जो खास तौर पर उत्तरी हिन्दुस्तान मे अपना असर दिखा रही थी। वडे-वडे शहरो मे कई दगे हुए, जिनमे हद दर्जे की पशुता और क्रूरता दिखाई दी थी। शक और गुस्से की आवोहवा ने ऐसे नये-नये झगडे पैदा कर दिये जिनके नाम भी हममे से ज्यादातर लोगो ने पहले कभी नही सुने थे। इससे पहले झगडा पैदा करनेवाली वजह थी गो-कुशी और वह भी खासकर बकरीद के दिन। हिन्दू और मुसलमानो के त्यौहारो के भिड जाने पर भी तनातनी हो जाती थी। मसलन्, जब मुहर्रम उन्ही दिनो आ पडे जिनमे रामलीला होती थी तो झगडे का अन्देशा हो जाता था। मुहर्रम पिछले रज की याद दिलाता था जिससे रज और आँसू पैदा होते थे। रामलीला खुशी का त्यौहार था जिसमे वुराई के ऊपर भलाई की विजय का उत्सव मनाया जाता था। दोनो एक-दूसरे से चस्पा नही हो सकते थे, लेकिन खुश-किस्मती से ये त्यौहार तीस साल मे सिर्फ एक दफ़ा साथ-साथ पड़ते थे। रामलीला तो सौर मास के अनुसार नियत चैत वदी ९ को मनाई जाती है जब कि मुहर्रम चन्द्रमास के मुताविक कभी इस महीने मे और कभी उस महीने मे मनाये जाते हैं।

लेकिन अब तो झगडे का एक सवव ऐसा पैदा हो गया जो हमेशा मौजूद रहता था और हमेशा खडा हो सकता था। यह था मसजिदो के सामने वाजा वजाने का सवाल। नमाज के वक्त वाजा वजाने या जरा भी आवाज आने पर मुसलमान ऐतराज करने लगे—कहते, इससे नमाज़ में खलल पडता है। हर शहर मे वहुत-सी मसजिदे हैं और उनमे हर रोज पाँच मर्तवा नमाज पढी जाती है और शहरो मे जलूसो की, जिनमे शादी वगैरा के जलूस भी शामिल है, तथा दूसरे शोरोगुल की कमी नही। इसलिए झगडा होने का अन्देशा हर वक्त मौजूद रहता था। खास तौर पर जव मसजिदो में शाम को होनेवाली नमाज के वक्त जलूस निकलते और वाजो का शोरगुल होता तब ऐतराज किया जाता था। इत्तिफाक से यही वह वक्त है जवकि हिन्दुओ के मन्दिर मे शाम की पूजा यानी आरती होती है और शख वजाये जाते है तथा मन्दिरो के घटे बजते हैं। इसी आरती-नमाज के झगडे ने वहुत वडा रूप धारण कर लिया।

यह वात अचभे की-सी मालूम होती है कि जो सवाल एक-दूसरे के जजवात का आपस मे थोड़ा-सा खयाल करके और उसके मुताविक थोड़ा-सा इधर-उधर कर

देने से तय हो सकता है, उसकी वजह से इतना कडवापन पैदा हो और दगे हो; लेकिन मजहबी जोश तर्क, विचार या आपसी खयाल से कोई ताल्लुक नही रखता, और जब दोनो को काबू करनेवाली एक तीसरी पार्टी एक को दूसरे के खिलाफ भिडा सकती है तब उस जोश को भडकाना बहुत ही आसान होता है।

उत्तरी हिन्दुस्तान के थोडे-से शहरो मे होनेवाले इन दगो को जरूरत से ज्यादा महत्व दे दिया जाता है, क्योकि हिन्दुस्तान के ज्यादातर शहरो और सूबो में ओर तमाम गाँवो मे हिन्दू-मुसलमान अमन के साथ रहते रहे थे, उनके ऊपर इन दगो का कोई कहने लायक असर नही पडा। लेकिन अखबारो ने स्वभावत ही मामूली-से-मामूली और टुच्चे-से-टुच्चे झगडे को भी बहुत ज्यादा शोहरत दी। हाँ, यह बिलकुल सच है कि शहरो के आम लोगो मे भी फिरकेवाराना तनातनी और कटुता बढती गई। चोटी के फिरकेवाराना लीडरो ने उसे और भी बढाया और वह साम्प्रदायिक राजनैतिक माँगो की कडाई के रूप में जाहिर हुई। हिन्दू-मुसलिम झगडे से मुसलमानो के दकियानूसी लीडर, जो राजनीति मे प्रतिगामी दल के है और जो असहयोग के इतने बरसो में कोनो मे पीछे पडे हुए थे, बाहर निकले और इस प्रक्रिया में सरकार ने उनकी मदद की। उनकी तरफ से रोज-ब-रोज नई-नई और पहले से ज्यादा दूर तक जानेवाली साम्प्रदायिक माँगे पेश होती जो हिन्दुस्तान की आजादी और कौमी एकता की जड को काटती थी। हिन्दुओ की तरफ भी जो लोग राजनीति मे प्रतिगामी थे वे ही हिन्दुओ के साम्प्रदायिक नेता थे और हिन्दुओ के हको की रखवाली करने के बहाने वे निमित्त-रूप से सरकार के हाथो की कठपुतली बन गये। उन्होने जिन बातो पर जोर दिया उन्हे हासिल करने मे उन्हे कोई कामयाबी नही मिली। जिन तरीको से वे काम ले रहे थे उनसे वे लाख कोशिश करने पर भी कामयाब नही हो सकते थे। हाँ, उन्होने मुल्क का फिरकेवाराना मिजाज बिगाडने में जरूर कामयाबी हासिल की।

काँग्रेस बडे असमजस मे पड गई। वह तो कौमी जजबात की प्रतिनिधि-स्वरूप थी, उन्हीका उसे खयाल रहता था, इसलिए इस साम्प्रदायिक मनमुटाव का उसपर असर पडना लाजिमी था। कई काँग्रेसी राष्ट्रीयता की चादर ओढे हुए सम्प्रदायवादी साबित हुए। लेकिन कांग्रेस के नेता मजबूत बने रहे और कुल मिलाकर उन्होने किसी की भी तरफदारी करने से साफ इन्कार कर दिया। हिन्दू-मुसलमानो के मामलो मे ही नही बल्कि और फिरको के मामलो में भी, क्योकि अब तो सिख वगैरा कम तादाद वाली जातिया भी जोर-जोर से अपनी माँगे पेश कर रही थी। लाजिमी तौर पर इस बात का नतीजा यह हुआ कि दोनो तरफ के सिरे के लोग काँग्रेस की बुराई करने लगे।

बहुत दिन पहले असहयोग के शुरू होते ही या उससे भी पहले गाधीजी ने हिन्दू-मुस्लिम मसले को हल करने की तदबीर बताई थी। उनका कहना था कि यह मसला तो तभी हल हो सकता है जब बडी जाति उदारता और सद्भावना से काम ले। इसलिए वह मुसलमानो की हरेक माँग को पूरा करने को राजी थे। वह उनसे सौदा नही करना चाहते बल्कि उन्हे अपनी तरफ पूरी तरह मिला लेना चाहते है। चीजो की कीमतो को ठीक-ठीक कूतकर उन्होने दूरदर्शिता के साथ जो असली काम की बात थी उसे पकड लिया। लेकिन दूसरे लोग, जो समझते थे कि वे हरेक चीज का बाजार-भाव जानते है लेकिन असल मे किसी भी जिस की सही कीमत से वाकिफ न थे, बाजार के सौदा करने के तरीके से चिपके रहे। उन्हे वह खर्च तो साफ-साफ दिखाई दिया जो असली जिंस को खरीदने मे देना पड़ रहा था, और उससे उन्हे दर्द भी होता था, लेकिन जिस जिस को वे शायद खरीद लेते उसकी असली कीमत की वे कुछ भी कद्र नही कर सकते थे।

दूसरो की नुक्ताचीनी करना और उनपर दोष मढ देना आसान है और अपनी तदबीरो की नाकामयाबी के लिए कोई-न-कोई बहाना ढूँढने के लिए तो दूसरो के सिर कसूर थोपने के लालच को रोकना प्राय दुश्वार ही हो जाता है। हम कहते है—कसूर हमारे खयाल का या काम मे किसी किस्म की गलती का थोडे ही था, वह तो दूसरे लोगो ने जान-बूझकर जो रोड़े अटकाये उनका था। हमने सरकार को और फिरकेवाराना लीडरो को दोष दिया। फिरकेवाराना लीडरो ने हमारा कसूर बताया। इसमे कोई शक नही कि हम लोगो के रास्ते मे सरकार तथा उसके साथियो ने अडचने डाली, और जान-बूझकर लगातार रोड़े अटकाये। इसमे कोई शक नही कि ब्रिटिश सरकार ने क्या पहले से और क्या अब अपनी कार्य-नीति का आधार हम लोगो मे फूट पैदा करने पर ही रक्खा है। फूट डालकर राज्य करो, यह हमेशा से साम्राज्यो का तरीका रहा है, और उनकी इस नीति की कामयाबी की मात्रा से, जिन लोगो का वे उससे शोषण करते है उनके ऊपर, शासको की उच्चता की मात्रा साबित होती है। हमे इस बात की कोई शिकायत नही होनी चाहिए। कम-से-कम हमें उसपर कोई अचम्भा नही होना चाहिए। उसकी उपेक्षा करनी या पहले से ही उसका इन्तजाम न कर लेना, खुद हमारे विचारो की ही एक गलती है।

लेकिन हम उसका भी क्या इन्तजाम करे? यह तो तय है कि दूकानदारो की तरह से सौदा करने और आम तौर पर उन्हीकी चालो से काम लेने से कुछ फायदा नही हो सकता, क्योकि हम कितना भी क्यो न दे, हमारी बोली कितनी भी ज्यादा क्यो न हो, एक ऐसा तीसरा दल हमेशा मौजूद है जो हमसे ज्यादा बोली बोल

सकता है और इससे भी ज्यादा यह कि वह जो कुछ कहता है उसे पूरा कर सकता है। अगर हम लोगो मे कोई एक राष्ट्रीय या सामाजिक दृष्टिकोण नही है तो हम अपने समान वैरी पर सव मिलकर एकसाथ चढाई नही कर सकते। अगर हम मौजूदा राजनैतिक और आर्थिक ढाँचे की भाषा मे ही सोचे और तय करे कि उसी मे सिर्फ इतना ही इधर-उधर कुछ हेर-फेर कर लेगे, उसका सुधार या 'भारतीयकरण' कर लेगे, तो फिर सयुक्त प्रहार के लिए असली प्रलोभन का अभाव ही रहेगा। क्योकि उस हालत मे हमारा मकसद जो कुछ पल्ले पड़े उसके बटवारे का रह जाता है, जिसमे तीसरी और हमपर काबू रखने वाली पार्टी या शक्ति का लाजिमी तौर पर बोलबाला रहता है और वही जिसे इनाम देना पसन्द करती है उसको जो इनाम चाहती है देती है। हॉ, लेकिन एक बिलकुल दूसरे ढंग के राजनैतिक ढाँचे की बात सोचने पर और इससे भी ज्यादा बिलकुल दूसरे सामाजिक ढाँचे की बात सोच-कर ही हम सयुक्त उपाय की मजबूत नीव डाल सकते है। हमारी आजादी की मॉग की तह मे जो खयाल काम कर रहा था वह यह था कि हम लोगो को यह महसूस करा दे कि हम मौजूदा व्यवस्था का वह हिन्दुस्तानी सस्करण नही चाहते, जिसमे परदे के पीछे ब्रिटेन का ही नियन्त्रण रहे, और 'डोमिनियन स्टेटस' के मानी यही है। लेकिन हम लोग तो बिलकुल ही दूसरी किस्म के राजनैतिक ढाँचे के लिए लड़ रहे है। इसमे कोई शक नही कि राजनैतिक स्वाधीनता के मानी तो राजनैतिक आजादी ही थे। उसमे आम लोगों के लिए कोई आर्थिक या सामाजिक रद्दोबदल शामिल न थी, लेकिन उसके यह मानी जरूर थे कि रुपये-पैसे-सम्बन्धी आर्थिक जजीरे, जो हमे लन्दन शहर से जकडे हुए है, दूर हो जायँगी और उनके दूर हो जाने पर हमारे लिए सामाजिक ढाँचे को बदलना बहुत आसान हो जायगा। उन दिनो मै ऐसा सोचता था। अब मै इसमे इतना और बढा देना चाहता हूँ कि मेरे खयाल मे राजनैतिक आजादी भी हमे अकेली नही मिलेगी, जब वह हमे हासिल होगी तब वह अपने साथ बहुत-कुछ सामाजिक आजादी को भी लेती आवेगी। लेकिन हमारे करीब-करीब सभी नेता मौजूदा राजनैतिक और, बिलाशक, सामाजिक ढाँचे के फौलादी चौखटे के तग दायरो मे ही सोचते रहे। साम्प्रदायिक या स्वराज्य-सम्बन्धी हरेक मसले का सामना करते समय उनके पीछे यही खयाल होता था। इसीसे वे लाजिमी तौर पर ब्रिटिश सरकार से मात खाते रहे। क्योकि उस ढाँचे पर तो उस सरकार का पूरा-पूरा काबू था। लेकिन वे इसके अलावा और कुछ कर भी नही सकते थे। क्योकि सीधी लडाई का प्रयोग करने के बावजूद अभी भी उनका तमाम दृष्टिकोण क्रान्तिकारी न होकर मुख्यत सुधारवादी था, और वह समय

बहुत पहले चला गया जब हिन्दुस्तान मे कोई भी राजनैतिक या आर्थिक या फिरकेवाराना मसला सुधारवादी तरीको मे सन्तोष-जनक रूप से हजम हो सकता था। हालात की माँग थी कि क्रान्तिकारी दृष्टिकोण से, योजना निर्माण करके, क्रान्तिकारी उपाय किया जाय। लेकिन नेताओ मे ऐसा कोई न था जो इन माँगो को पूरा करता।

इसमे कोई शक नही कि हमारी आजादी की लडाई मे स्पष्ट आदर्शो और ध्येयो की कमी ने साम्प्रदायिक जहर को फैलाने मे मदद दी। जनता को स्वराज्य की लडाई का उनकी रोजमर्रा की तकलीफो से कोई ताल्लुक दिखाई नही दिया। वे कभी-कभी अपनी सहज-बुद्धि से प्रेरित होकर खूब लडे। लेकिन वह हथियार इतना कमजोर था कि उसे आसानी से कुण्ठित किया जा सकता था और दूसरी तरफ दूसरे कामो के लिए भी उसका इस्तेमाल किया जा सकता था। उसके पीछे कोई तर्क तथा विवेक न था और प्रतिक्रिया के समय मे फिरकेवाराना लीडरो को इस काम मे कोई मुश्किल नही पडती थी कि वे इसी जजबे को मजहब के नाम पर उभाडकर उसका इस्तेमाल करे। ताहम यह बात बडी अचम्भे की है कि हिन्दू और मुसलमान दोनो मे बुर्जुआ यानी मध्यम श्रेणी के लोगो को मजहब के नाम पर उन प्रोग्रामो और माँगो के लिए भी जनता की हमदर्दी काफी हद तक मिल गई, जिनका जनता से ही नही, निचली मध्यम श्रेणी के लोगो से भी कोई ताल्लुक न था। हरेक फिरकेवाराना जमात जनता से ही जो भी फिरकेवाराना माँग पेश करती है उसकी जॉच किये जाने पर अखीर मे यही मालूम होता है कि वह माँग नौकरियो की माँग है और ये नौकरियाँ तो मध्यम श्रेणी के मुट्ठी-भर ऊपर के लोगो को ही मिल सकती है। बेशक, यह मॉग भी की जाती है कि कौसिलो मे, जोकि राजनैतिक ताकत का मुकाम है, स्पेशल और ज्यादा जगहे दी जायँ, मगर इस माँग का भी यही मतलब है कि इससे खासकर दूसरो से बडे बनकर उन्हे अपनाने की सत्ता मिलेगी। इन छोटी सियासी माँगो से ज्यादा-से-ज्यादा मध्यम श्रेणी के ऊपरी तह के थोडे-से लोगो को कुछ फायदा पहुँचता था। लेकिन उनसे अक्सर राष्ट्रीय उन्नति और एकता के रास्ते मे नई अड़चने पैदा होती थी। फिर भी बडी चालाकी के साथ इन मॉगो को अपने मजहबी फिरके के आम लोगो की माँग के रूप मे दिखाया जाता था। असल मे उनका नगापन छिपाने के लिए उनपर मजहबी जोश की चादर लपेट दी जाती थी।

इस तरह जो लोग राजनीति मे प्रतिगामी थे वे ही साम्प्रदायिक नेताओ का रूप धरकर राजनैतिक मैदान मे आये और उन्होने जो बहुत-सी कार्रवाइयाँ की वे असल मे जातिगत पक्षपात से प्रेरित होकर उतनी नही की जितनी राजनैतिक तरक्की को रोकने के लिए की। राजनैतिक मामलो में उनसे हमे हमेशा मुखालफत की ही

उम्मीद थी, लेकिन फिर भी उस बुरी हालत का यह खासतौर पर दर्दनाक पहलू था कि लोग स्वराज के विरोध मे इस हद तक जा सकते हैं। मुस्लिम फ़िरक़ेवाराना लीडरो ने तो सबसे ज्यादा विचित्र और आश्चर्यजनक बाते कही और की। ऐसा मालूम होता था कि हिन्दुस्तान की राष्ट्रीयता की, उसकी आजादी की, उन्हे जरा भी परवाह नही है। हिन्दुओ के साम्प्रदायिक नेता यद्यपि जाहिरा तौर पर राष्ट्रीयता के नाम पर बोलते थे लेकिन असल मे उनका उससे कोई ताल्लुक नही था। चूँकि वे कोई असली उपाय नही कर सकते थे, इसलिए उन्होने सरकार की खुशामद करके उसे राजी करने की कोशिश की, लेकिन वह भी बेकार गई। हिन्दू-मुसलमान दोनो के नेता साम्यवाद या ऐसी ही "सत्यानासी" हलचलो की बुराई करते थे। स्थापित स्वार्थो के हको मे खलल डालने वाली हर तजवीज के मामले मे इनकी एक राय देखते बनती थी। मुसलमानो के फिरकेवाराना नेताओ ने ऐसी बहुत-सी बाते कही और बहुत-सी हरकते की जिनसे राजनैतिक और आर्थिक स्वाधीनता को नुकसान पहुँचता था। लेकिन व्यक्तिगत और सामूहिक दोनो रूप मे उनका व्यवहार पब्लिक और सरकार के सामने कुछ थोडी-बहुत गौरव लिये हुए होता था। लेकिन हिन्दू साम्प्रदायिक नेताओ की बाबत यह बात नही कही जा सकती।

कॉंग्रेस मे बहुत-से मुसलमान थे। उनकी तादाद बहुत बडी थी, जिनमें बहुत-से काबिल शख्स भी थे। इतना ही नही, हिन्दुस्तान के सबसे ज्यादा मशहूर और सबसे ज्यादा लोकप्रिय मुसलमान नेता कॉंग्रेस में शामिल थे। उनमे से बहुत-से कॉंग्रेसी मुसलमानो ने नेशनलिस्ट मुस्लिम पार्टी नाम का एक दल बनाया और उन्होने फिरकेवाराना मुसलमान नेताओ का मुकाबिला किया। शुरू मे तो उन्हे इस काम मे कामयाबी भी मिली, और ऐसा मालूम पडता था कि पढे-लिखे मुसलमानो का बहुत बडा हिस्सा उनके साथ था, लेकिन ये सब-के-सब मध्यम वर्ग की ऊपरी श्रेणी के लोगो मे से थे और उनमें कोई ऐसा प्रचण्ड व्यक्तित्व न था। वे अपने-अपने काम-धन्धो मे लग गये और आम लोगो से उनका सम्बन्ध टूट गया। बल्कि सच तो यह है कि वे लोग अपनी कौम के आम लोगो के पास कभी गये ही नही। उनका तरीक़ा अच्छे-अच्छे कमरो मे बैठकर मीटिंगे करके आपसमे राजीनामा कर लेने और पैक्ट करने का तरीका था और इस खेल में उसके रकीब यानी फिरकेवाराना नेता उनसे कही ज्यादा होशियार थे। इन फिरकेवाराना नेताओ ने नैशनलिस्ट मुसलमानो को धीरे-धीरे एक स्थिति से हटाकर दूसरी स्थिति पर लगाया और इसी तरह एक-के-बाद-एक स्थिति से वे उन्हे हटाते गये और जिन उसूलो के लिए वे शुरू मे अडे थे उनको वे इन से एक-एक करके छुडवाते गये। नैशनलिस्ट मुसलमान हमेशा, कभी पीछे न ज्यादा

हटना पड़े इस डर से, खुद-ब-खुद कुछ पीछे हटते गये और 'कम बुराई' को चुनने की नीति को अख्त्यार करके अपनी हालत मजबूत करने की कोशिश करते रहे। लेकिन इस नीति का नतीजा हमेशा यही हुआ कि उन्हे हमेशा पीछे हटना पडा और हमेशा 'कम बुराई' के बाद उससे ज्यादा बुरी दूसरी 'कम बुराई' मजूर करनी पडी। फलस्वरूप ऐसा वक्त आ गया कि उनके पास कोई ऐसी चीज नही रह गई जिसे वे अपनी कह सकते। उनके आधारभूत सिद्धान्तो मे भी एक के सिवा और कोई बाकी नही रहा। यह एक उसूल हमेशा से उनकी जमात का लगर रहा है और वह है शामलात चुनाव। लेकिन 'कम बुराई' को चुनने की नीति ने फिर उनके सामने यही घातक चुनाव पेश कर दिया और उस अग्नि-परीक्षा से तो बच आये लेकिन अपना लगर वही छोड गये। इसलिए आज उनकी यह हालत है कि जिन उसूलो या अमल की बुनियाद पर उन्होने अपनी जमात बनाई थी उन सबको वे खो बैठे। इन्ही उसूलो और अमल को उन्होने पहले बडे फख्र के साथ अपने जहाज के मस्तूल पर लगाया था, लेकिन अब उनमे से उनके पास उनके नाम के सिवा और कुछ नही रहा।

शख्सी हैसियत से तो ये लोग, बिला शक, अब भी कॉग्रेस के अहम नेताओ मे से है, लेकिन जमात की हैसियत से नैशनलिस्ट मुसलमानो के गिरने और मिटने की कहानी बहुत ही दयनीय है। इसमे बहुत बरस लगे और उस कहानी का अखीरी अध्याय पिछले साल, १९३४ में, ही लिखा गया है। १९२३ मे और उसके बाद उनकी जमात बहुत मजबूत थी और वे फिरकेवाराना लोगो के मुकाबले मे लडाकू ढग भी अख्त्यार किया करते थे, और सच बात तो यह है कि कई मौको पर गाधीजी तो सम्प्रदायवादी मुसलमानो की कुछ माँगो को सख्त नापसन्द करते हुए भी पूरा करने को तैयार हो जाते थे लेकिन उनके साथी नेशनलिस्ट मुसलमान नेता गाधीजी को ऐसा करने से रोकते और उन माँगो की मुखालफत बडी सख्ती के साथ करते थे।

१९२० से लेकर १९२९ तक के बीच के सालो मे आपस मे बात-चीत और बहस-मुबाहिसा करके हिन्दू-मुस्लिम मसलो को हल करने की कई कोशिशे की गई। ये कोशिशे एकता-सम्मेलनो के नाम से मशहूर है। इन सम्मेलनो मे सबसे ज्यादा मशहूर वह था जो १९२४ मे मौलाना मुहम्मदअली ने कॉंग्रेस के सदर की हैसियत से बुलाया और जो गाधीजी के इक्कीस दिन के अनशन की छाया मे दिल्ली मे हुआ। इन सम्मेलनो मे बहुत-से भले और सच्चे आदमी शरीक हुए थे और उन्होने समझौता करने की बहुत सख्त कोशिश की, कुछ अच्छे व भले प्रस्ताव भी पास किये गये, लेकिन असली मसला हल हुए विना ही रह गया। ये सम्मेलन उस मसले को हल कर ही नही सकते थे, क्योकि समझौता बहुमत से नही हो सकता था। वह तो

वास्तविक एक-राय से ही तय हो सकता है और किसी-न-किसी दल के ऐसे कट्टर लोग हमेशा मौजूद रहते थे जो समझते थे कि समझौता तभी हो सकता है जब सब लोग सोलहो आने हमारी बात मान ले। सचमुच कभी-कभी तो यह शक होने लगता था कि कुछ नामी नामी फिरकेवाराना नेता वाकई निपटारा चाहते भी है या नही ? उनमे से बहुत-से राजनैतिक मामलो मे प्रतिगामी थे और उनमे तथा उन लोगो मे जो राजनीति मे काया-पलट चाहते थे, कोई भी बात सामान्य न थी।

लेकिन असली मुश्किले तो ज्यादा गहरी थी और वे महज शख्सो की खराबी की वजह से ही नही थी। अब तो सिक्ख भी अपने फिरके की माँगे जोर-जोर से माँगने लगे थे, जिसकी वजह से पजाब मे भी एक गैरमामूली और विकट तिकोना खिचाव पैदा हो गया था। सचमुच पजाब ही तमाम मामले की जड बन गया और वहाँ हरेक फिरके मे दूसरे के डर की वजह से जोश और दुर्भाव का वायु-मण्डल बन गया। कुछ सूबो मे किसान और जमीदारो के व बगाल मे हिन्दू-जमीदार और मुसलमान-किसानो के किस्से फिरकेवाराना बुरके मे सामने आये। पजाब और सिंध मे साहूकार और रुपयेवाले लोग आम तौर पर हिन्दू है और कर्ज से दबे हुए लोग मुसलमान खेती-हर। वहाँ कर्ज से दबे हुए लोगो मे उनकी जान के गाहक बोहरो के खिलाफ जो भाव होते है उन तमाम भावो ने साम्प्रदायिक लहर को बढाया। आम तौर पर मुसलमान गरीब थे और मुसलमानो के फिरकेवाराना लीडरो ने गरीबो मे अमीरो के खिलाफ जो बुरे भाव होते है उसका इस्तैमाल अपने साम्प्रदायिक हेतुओ के लिए किया। यद्यपि आश्चर्य की बात तो यह है कि इन हेतुओ से गरीबो की भलाई का कतई कोई ताल्लुक न था, लेकिन इसकी वजह से फिरकेवाराना मुसलमान लीडर कुछ हद तक जरूर आम लोगो के प्रतिनिधि थे और इसकी वजह से उन्हे ताकत भी मिली। आर्थिक दृष्टि से हिन्दुओ के साम्प्रदायिक नेता अमीर साहूकारो और पेशेवर लोगो के प्रतिनिधि थे—इसलिए हिन्दू जन-साधारण मे उनकी पीठ पर कोई न था, यद्यपि कुछ मौको पर जन-साधारण की सहानुभूति उन्हे मिल जाती थी।

इसलिए यह मसला कुछ हद तक आर्थिक फिरकाबन्दी के मसलो मे हिलता-मिलता जा रहा है, हालाँकि रज की बात तो यह है कि लोगो ने अभी इस बात को महसूस नही किया। हो सकता है कि यह बात बढकर स्पष्ट रूप से आर्थिक वर्गो के झगडो की शक्ल अख्त्यार करले, लेकिन अगर वह वक्त आया तो आजकल के फिरकेवाराना लीडर, जो फिरके के अमीरो के प्रतिनिधि है, दौड़कर अपने भेद-भाव को मिटा देगे जिससे कि वे मिलकर अपने वर्ग के वैरी का मुकाबला कर सके। यो तो जुदा हालतो मे भी इन जातिगत झगड़ो को निपटाकर राजनैतिक एकता कर लेना उतना मुश्किल

न होना चाहिए, बशर्ते—लेकिन बहुत बडी शर्त है—कि तीसरी पार्टी न मौजूद हो।

दिल्ली का 'एकता-सम्मेलन' मुश्किल से खत्म हो पाया था कि इलाहाबाद मे हिन्दू-मुसलमानो मे दगा हो गया। यो और दगो को देखते हुए यह दगा कोई बडा दगा न था, क्योकि उसमे हताहतो की तादाद बहुत न थी, लेकिन अपने घर के शहर मे इस तरह के दगे के होने से मुझे रज जरूर होता था। मै दूसरे लोगो के साथ इलाहाबाद दौड पडा। लेकिन यहाँ पहुँचते-पहुँचते मालूम हुआ कि दगा खत्म हो गया। हाँ, उसके फल-स्वरूप जो आपसी बैर-भाव बढा और मुकदमेबाजी चली वह बहुत दिनो तक बनी रही। मै यह भूल गया हूँ कि यह झगडा क्यो हुआ? उस साल या शायद उसके बाद इलाहाबाद मे रामलीला के उत्सव के सिलसिले मे भी कुछ टण्टा हो गया था। रामलीला के उत्सव मे बडे भारी-भारी जुलूस भी निकला करते थे—लेकिन चूँकि मसजिदो के सामने बाजा बजाने मे कुछ बन्धन लगा दिये गये, उसके विरोध-स्वरूप, लोगो ने रामलीला मनाना ही छोड दिया। करीब-करीब आठ वर्ष से इलाहाबाद मे रामलीला नही हुई है। यह त्यौहार इलाहाबाद जिले के लाखो लोगो के लिए साल-भर मे सबसे बडा त्यौहार था। लेकिन अब वहाँ उसकी दुखद याद-भर रह गई है। बचपन मे जब मै रामलीला देखने जाया करता था तबकी याद मुझे अच्छी तरह बनी हुई है। उसको देखकर हम लोगो को कितनी खुशी, कितना जोश होता था और जिले-भर से तथा दूसरे कसबो से लोगो की भारी भीडे उसे देखने को आती थी। त्यौहार हिन्दुओ का था, लेकिन वह खुलेआम मनाया जाता था इसलिए मुसलमान भी उसे देखने के लिए भीड मे शामिल हो जाते थे और चारो तरफ सब लोग खूब खुशियाँ मनाते और मौज करते थे। व्यापार चमक उठता था। इसके बहुत दिनो बाद बडा हो जाने पर जब मै रामलीला देखने गया तो मुझे कोई जोश न आया तथा जुलूस और स्वाँगो से मेरा जी ऊब गया। कला और आमोद-प्रमोद के बारे मे मेरी रुचि का माप-दड ऊँचा हो गया था। लेकिन उस वक्त भी मैने यह देखा कि आदमियो की भारी भीड उसको देख-देखकर बहुत खुश होती थी और उसे पसन्द करती थी। उनके लिए तो वह वक्त मौज करने का वक्त था, और अब आठ या नौ बरसो से इलाहाबाद के बच्चो को—बच्चो को ही क्यो, बडे लोगो को भी—उस उत्सव को देखने का कोई मौका नही मिलता। उनकी जिन्दगी मे रोजमर्रा के नीरस काम से खुशी के जोश का जो एक उज्ज्वल दिन साल मे उन्हे मिल जाया करता था वह भी न रहा, और यह सब बिलकुल नाचीज बेकार के झगडे-टण्टो की वजह से। बेशक मजहब और मजहब की स्पिरिट को ऐसी बहुतसी बातो के लिए जवाबदेह होना पड़ेगा। ओफ, वे कितने आनन्द-नाशक साबित हुए है!

२०

म्युनिसिपैलिटी का काम

दो साल तक मैं इलाहाबाद-म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन की हैसियत से काम करता रहा। लेकिन रोज-ब-रोज इस काम से मेरी तबीयत उचटती-सी जाती थी। मेरी चेयरमैनी की मियाद कायदे से दो-तीन साल की थी, लेकिन दूसरा साल अच्छी तरह शुरू ही हुआ था कि मैंने उस जिम्मेदारी से अपना पिण्ड छुडाने की कोशिश शुरू कर दी। मैं उस काम को पसन्द करता था और उसमें मैंने अपना काफी वक्त और काफी ध्यान लगाया था। कुछ हद तक उसमे मुझे कामयाबी भी मिली और अपने साथियो का भी सद्भाव मैंने प्राप्त किया था। सूबे की सरकार ने भी मेरे म्युनिसिपैलिटी-सम्बन्धी कुछ कामो को इतना पसन्द किया कि उसने मेरे राजनैतिक कामो की वजह से अपनी नाराजगी को भूलकर उनकी तारीफ की। लेकिन फिर भी मैं यह पाता था कि मै चारो तरफ से घिरा हुआ हूँ और कोई वाकई कहने लायक काम करने से मुझे रोका जाता है तथा मेरे रास्ते में अडचने डाली जाती है।

इसके मानी यह नही हैं कि कोई साहब जान-बूझकर मेरे काम मे अडगे लगाते थे, बल्कि सच बात तो यह है कि लोगो ने राजी-खुशी से मुझे जितना सहयोग दिया वह आश्चर्यजनक था। लेकिन एक तरफ सरकारी मशीन थी और दूसरी तरफ म्युनिसिपैलिटी के मेम्बरो और पब्लिक की उदासीनता थी। सरकार ने म्युनिसिपैलिटी के शासन का फौलादी चौखटे मे जैसा ढाँचा बनाया वह आमूल परिवर्तन या नवीन सुधारो को रोकने वाला था। राजस्व-सम्बन्धी नीति ऐसी थी कि म्युनिसिपैलिटी को हमेशा सरकार के भरोसे रहना पडता था। मौजूदा म्युनिसिपल कानूनो के मुताबिक सामाजिक विकास की और टैक्स लगाने सम्बन्धी कायापलट करने वाली योजनाओ की इजाजत न थी। जो योजनायें कानून के मुताबिक की जा सकती थी उनपर अमल करने के लिए भी सरकार की स्वीकृति लेनी पडती थी, और उस स्वीकृति को वही लोग माँग सकते थे तथा वही उसकी राह देख सकते थे जो बडे आशावादी हो और जिनके सामने बहुत बडी जिन्दगी पड़ी हो। मुझे यह देखकर हैरत हुई कि जब कोई सामाजिक पुनस्ससघटन का या राष्ट्र-निर्माण का मामला आ पडता है तब सरकारी मशीन कितनी धीरे-धीरे, मार-मारकर और ढील-पोल के साथ चलती है, लेकिन जब किसी राजनैतिक मुखालिफ को दबाना हो या गिराना हो तब जरा भी ढील और गलती नही रहती। इन दोनो कामो मे सरकार के रुख की दुभाँत देखने लायक होती थी।

स्थानीय स्वराज्य से ताल्लुक रखने वाली सूबे की सरकार के महकमे मिनिस्टर के मातहत होते हैं, लेकिन आम तौर पर ये मिनिस्टर देवता म्युनिसिपैलिटी के मामलो मे ही नही बल्कि पब्लिक मामलो मे भी बिलकुल कोरे थे। सच बात तो यह है कि उनको कोई पूछता ही न था। खुद उनके महकमे के कारकुन ही उनका कोई खयाल नही करते थे। उसे तो इडियन सिविल सर्विस के स्थायी हाकिम चलाते थे और इन हाकिमो पर हिन्दुस्तान के ऊँचे हाकिमो की इस प्रचलित धारणा का बहुत असर था कि सरकार का काम तो खास तौर पर पुलिस का यानी अमन-चैन रखने का काम है। अधिकारी-पन और माँ-बाप-पन के थोडे-से खयाल ने भी इस धारणा पर कुछ हद तक असर डाला था। लेकिन बडे पैमाने पर सामाजिक सेवा के कार्यों की जरूरत को कोई भी महसूस नही करता था।

म्युनिसिपैलिटियाँ हमेशा ही सरकार के कर्ज से दबी रहती हैं और इसलिए पुलिस की निगाह के अलावा सरकार जिस दूसरी निगाह से म्युनिसिपैलिटी को देखती है वह है कर्ज देने वाले बोहरे की निगाह। आया कर्ज की किस्ते वायदे पर अदा हो रही है? आया म्युनिसिपैलिटी कर्ज अदा करने की ताकत भी रखती है? उसके पास काफी रोकड-बाकी है या नही? ये सब सवाल जरूरी और माकूल है, लेकिन अक्सर यह बात भुला दी जाती है कि म्युनिसिपैलिटी को कुछ खास काम भी करने है—जैसे तालीम, सफाई वगैरा, और वह महज एक ऐसी अजुमन नही है जिसका काम रुपये कर्ज लेकर उन्हे तयशुदा मियादो पर अदा करते रहना हो। हिन्दुस्तान की म्युनिसि-पैलिटियाँ शहर की भलाई के लिए जो काम करती है वे वैसे ही बहुत कम है, लेकिन वे थोडे-से काम भी रुपये की तगी होते ही फौरन कम कर दिये जाते है और आम तौर पर सबसे पहले यह बला शिक्षा के ऊपर पडती है। म्युनिसिपैलिटी के मदरसो मे हाकिम लोगो की कोई जाती दिलचस्पी नही, उनके बाल-बच्चे तो उन बिलकुल अप-टू-डेट और खर्चीले प्राइवेट स्कूलो मे पढते है जिन्हे अक्सर सरकार से ग्राण्ट मिलती है।

ज्यादातर हिन्दुस्तानी शहरो को दो हिस्सो मे बाटा जा सकता है। एक तो घना बसा हुआ खास शहर, दूसरा लम्बा-चौडा फैला हुआ बगले-बगलियो का रकबा। इन हरेक बगलो मे काफी बडा अहाता या बाग भी होते है। इस रकबे को अग्रेज आम तौर पर 'सिविल लाइन' कहकर पुकारते है। अग्रेज अफसर और व्यापारी तथा ऊपरी मध्यम श्रेणी के पेशेवर और हाकिमो के दर्जे के हिन्दुस्तानी इन्ही सिविल-लाइनो मे रहते है। म्युनिसिपैलिटी की आमदनी ज्यादातर शहर खास से होती है न कि सिविल-लाइन से। लेकिन म्युनिसिपैलिटियाँ खर्च जितना शहर खास पर करती है उससे कही

ज्यादा सिविल-लाइनो पर करती है, क्योंकि सिविल-लाइनो के कही बड़े रकबे मे ज्यादा सडको की जरूरत होती है। इन सडको की सफाई और उनपर छिडकाव कराना होता है। उनपर रोशनी का इन्तजाम करना होता है तथा उनकी मरम्मत भी करानी पडती है। इसी तरह उनमे नालियो का, पानी पहुँचाने का और सफाई का इन्तजाम भी ज्यादा जगह मे करना होता है। मगर शहर खास की हमेशा बुरी तरह से लापरवाही की जाती है और, बिला शक, शहर के गरीबो की गलियों की तो अक्सर कोई परवाह ही नही की जाती। शहर खास मे अच्छी सडके तो बहुत ही कम होती है और उसकी तग गलियो मे रोशनी का इन्तजाम ज्यादातर बहुत नाकाफी होता है। उसने नालियो और सफाई का भी काफी माकूल इन्तजाम नही होता। शहर खास के लोग बेचारे धीरज के साथ इन सब बातो को बरदाश्त कर लेते है। कभी कोई शिकायत नही करते, और जब वे शिकायत करते है तब भी ऐसा कोई नतीजा नही निकलता, क्योकि करीब-करीब सभी बडे और छोटे-छोटे शोर मचानेवाले लोग तो सिविल-लाइनो मे ही रहते है।

टैक्स के बोझ को कुछ दिन तक गरीबो और अमीरो पर बराबर-बराबर डालने के लिए और कुछ सुधारो के कुछ काम करने के लिए मै जमीनो की कीमत के आधार पर टैक्स लगाना चाहता था। लेकिन ज्योही मैने यह तजवीज पेश की त्योही एक सरकारी अफसर ने उसकी मुखालफत की। मै समझता हूँ कि वह अफसर जिला मजिस्ट्रेट था जिसने यह कहा कि ऐसा करना जमीन के कब्जे के बारे में जो बहुत-सी शर्ते व कानून है उनके खिलाफ पडेगा। जाहिर है कि ऐसा टैक्स सिविल-लाइन के बगलो मे रहनेवालो को ज्यादा देना पडता। लेकिन सरकार उस चुगी को बहुत पसन्द करती है जिससे व्यापार कुचला जाता है, तमाम चीजो की—जिनमे खाने की चीजे भी शामिल है—कीमते बढ जाती है और जिसका बहुत ज्यादा बोझ गरीबो पर आकर पडता है। और सामाजिक दृष्टि से सबसे ज्यादा अनुचित और हानिकारक यह टैक्स हिन्दुस्तान की ज्यादातर म्युनिसिपैलिटीयो की आमदनी की खास बुनियाद है—यद्यपि मै समझता हूँ, वह धीरे-धीरे बडे-बडे शहरो से उठता जाता है।

म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन की हैसियत से मुझे इस तरह एक हृदयहीन सत्तावादी सरकारी मशीन से काम लेना पडता था जो बडी मशक्कत के साथ पुरानी लीक़ पर चर्र-मर्र करती चलती थी और अडियल टट्टू की तरह ज्यादा तेजी से या दूसरी तरफ चलने से इन्कार करती थी। दूसरी तरफ मेरे साथी मेम्बर लोग थे। उनमें से ज्यादातर लीक-लीक ही चलना पसन्द करते थे। उनमे से कुछ तो आदर्शवादी थे। इन लोगो ने अपने काम मे उत्साह दिखाया। लेकिन कुल मिलाकर मेम्बरो मे न तो

कल्पना-शक्ति ही थी, न तवदीली या बेहतरीन करने की धुन। पुराने तरीके काफी अच्छे है, फिर क्या जरूरत है कि ऐसे प्रयोगो से काम लिया जाय जो मुमकिन है कि पूरे न पडे ? आदर्शवादी और जोशीले मेम्बर भी धीरे-धीरे उन नीरस रोजमर्रा की बातो के नशीले असर के शिकार हो गये। लेकिन हाँ, एक वात ऐसी जरूर थी जिस-पर हमेशा यह भरोसा किया जा सकता था कि वह मेम्वरो मे नया जोश पैदा कर देगी, और वह थी नौकरियो तथा ठेके वगैरा देने के मामले। लेकिन इसमे दिलचस्पी रखने से हमेशा ही काम मे अच्छाई नही बढ़ती थी।

हर साल सरकारी प्रस्ताव, हाकिम लोग और कुछ अखवार म्युनिसिपैलिटियो और जिला बोर्डो की नुक्ताचीनी करते है और उनकी बहुत-सी कमियो की तरफ इशारा करते है, और इससे यह नतीजा निकाला जाता है कि लोक-तन्त्री सस्थाये हिन्दुस्तान के लिए मौजू नही है। उनकी कमिया तो जाहिर है, लेकिन उस ढाँचे की तरफ कतई ध्यान नही दिया जाता, जिसके अन्दर उन्हे अपना काम करना पडता है। यह ढाँचा न तो लोक-तन्त्री ही है न एक-तन्त्री। वह तो इन दोनो की दोगली सन्तान है और उसमे दोनो की ही खराबिया मौजूद है। यह वात तो मजूर की जा सकती है कि केन्द्रीय-सरकार को मुकामी या स्थानिक सस्थाओ पर देखभाल तथा नियन्त्रण करने के कुछ अख्त्यार जरूर होने चाहिएँ, लेकिन स्थानीय लोक-सस्थाओ के लिए यह तभी लागू हो सकता है जब केन्द्रीय सरकार खुद लोक-तन्त्री और पब्लिक की जरूरतो का खयाल रखने वाली हो। जहाँ ऐसा न होगा, वहाँ या तो केन्द्रीय सरकार और स्थानीय शासन-सस्था मे रस्साकशी होगी या मुकामी सस्था चुपचाप केन्द्रीय सरकार के हुक्म बजाया करेगी। इस तरह केन्द्रीय सरकार ही असल मे स्थानिक सस्थाओ से जो चाहेगी सो करायगी। लेकिन तारीफ यह है कि वह जो कुछ करेगी उसके लिए जिम्मेदार नही होगी। अख्त्यार तो उसीको होगे, लेकिन जवाबदेही उसकी न होगी। जाहिर है कि यह हालत सन्तोष-जनक नही कही जा सकती, क्योकि उससे पब्लिक के नियन्त्रण की वास्तविकता जाती रहती है। म्युनिसिपल बोर्डो के मेम्बर केन्द्रीय सरकार को खुश रखने की जितनी कोशिश करते है उतनी पब्लिक के अपने चुननेवालो को खुश रखने की नही, और जहाँतक पब्लिक से ताल्लुक है, वह अक्सर बोर्ड के कामो की तरफ से बिलकुल उदासीन रहती है। समाज की भलाई से असली ताल्लुक रखने वाले मामले तो बोर्ड के सामने मुश्किल से ही कभी आते है—खास तौर पर इसलिए, क्योकि वे बोर्ड के काम के दायरे से बाहर है, और बोर्ड का सबसे ज्यादा जाहिर काम है पब्लिक से टैक्स वसूल करना। और यह काम उसे ऐसा ज्यादा लोकप्रिय नही बना सकता।

स्थानिक सस्थाओ के लिए वोट देने का हक भी थोडे ही लोगो तक महदूद है। वोट देने का यह अख्त्यार और भी ज्यादा बढाया जाना चाहिए, जो वोटर होने की योग्यता को घटाकर किया जा सकता है। बम्बई-कार्पोरेशन जैसे बडे-बड़े शहरो के कार्पोरेशन तक के मेम्बरो का चुनाव भी बहुत महदूद वोटरो द्वारा होता है। कुछ समय पहले खुद कार्पोरेशन मे वोट देने का अख्त्यार ज्यादातर लोगो को देने का प्रस्ताव गिर गया था। जाहिर है कि ज्यादातर मेम्बर अपनी हालत से खुश थे और वे उसमे हेर-फेर करने या उसे खतरे मे डालने की कोई जरूरत नही समझते थे।

वजह कुछ भी हो, लेकिन यह बात जरूर है कि हमारी स्थानिक सस्थायें आम तौर पर कामयाबी और क्षमता के चमकते हुए नमूने नही हैं, यद्यपि वे जैसी हैं वैसी हालत मे भी बहुत आगे बढे हुए लोकतन्त्री देशो की कुछ म्युनिसिपैलिटियो से टक्कर ले सकती है। आमतौर पर उनमें भ्रष्टता नही है। महज सुव्यवस्था की कमी है। उनकी खास कमजोरी है पक्षपात, और उनके दृष्टिकोण सब गलत हैं। यह सब स्वाभाविक है, क्योकि लोकतन्त्र तो तभी कामयाब हो सकता है जब उसके पीछे सुविज्ञ लोकमत और जिम्मेदारी का भान हो। उसकी जगह पर हमे हुकूमत का सर्व-व्यापी वायुमण्डल मिलता है और लोकतन्त्र के साथ जिन बातो की जरूरत है वे नही पाई जाती। आम जनता को तालीम देने का कोई इंतजाम नही है, न इस बात की कभी कोशिश की गई है कि जानकारी की बुनियाद पर पब्लिक की राय बनाई जाय। लाजिमी तौर पर ऐसी हालत मे पब्लिक का खयाल शख्सी या फिरकेवाराना या दूसरे टुच्चे-टुच्चे मामलो की तरफ चला जाता है।

म्युनिसिपैलिटी के इतजाम मे सरकार की दिलचस्पी इस बात मे रहती है कि राजनीति उससे बाहर रक्खी जाय। अगर राष्ट्रीय हलचल से हमदर्दी रखनेवाला कोई प्रस्ताव पास किया जाता है तो सरकार की त्यौरियाँ चढ जाती हैं। जिन पाठ्य पुस्तको में राष्ट्रीयता की बू हो उन्हे म्युनिसिपैलिटी के मदरसो मे नही पढाने दिया जाता। इतना ही नही, उनमे राष्ट्रीय नेताओ की तस्वीरे भी नही लगाने दी जाती। म्युनिसिपैलिटियो से राष्ट्रीय झण्डा उतारना पडता है, न उतारे तो म्युनिसिपैलिटी तोड़ दी जाती है। ऐसा मालूम होता है कि हाल ही मे कई सूबों की सरकारो ने इस बात की कोशिश की है कि कार्पोरेशनो और म्युनिसिपैलिटियो मे जितने कॉंग्रेसी नौकर हो उन सबको निकाल बाहर किया जाय। मामूली तौर पर इस मतलब को पूरा कराने के लिए इन सस्थाओ पर सरकारी दबाव काफी होता है, क्योंकि उसके साथ-साथ यह धमकी भी दी जाती है कि उन्हे न निकाला गया तो सरकार म्युनिसिपैलिटियो को तालीम वगैरा के लिए जो इमदाद देती है उसे बन्द कर देगी। लेकिन

कही-कही तो—खास तौर पर कलकत्ता-कार्पोरेशन के लिए तो—कानून ही ऐसा बना दिया है जिससे उन सब लोगो को जो असहयोग या सरकार के खिलाफ किसी और सियासी हलचल मे जेल गये नौकरी न मिलने पावे। इस मामले मे सरकार का मतलब महज राजनैतिक होता है। काम के लिए उस शख्स की लायकी या नालायकी का कोई सवाल नही।

इन थोडी-सी मिसालो से यह जाहिर हो जाता है कि हमारी म्युनिसिपैलिटियो और हमारे जिला-बोर्डो को कितनी आजादी मिली हुई है और उसमे लोकतन्त्रता की कितनी कमी है। यह तो तय ही है कि वे लोग सीधी सरकारी नौकरी नही चाहते। ऐसी हालत मे अपने इन राजनैतिक मुखालिफो को तमाम म्युनिसिपल और जिला-बोर्डो की नौकरी से अलग रखने की जो कोशिश हो रही है उसपर कुछ गौर करने की जरूरत है। यह कूता गया है कि पिछले चौदह वर्षो में करीब तीन लाख लोग जुदा-जुदा मौको पर जेल हो आये है और यदि राजनैतिक दृष्टि से न देखे तो इसमे किसीको शक नही हो सकता कि इन तीन लाख लोगो मे हिन्दुस्तान के सबसे ज्यादा सज्जन और आदर्शवादी, सबसे ज्यादा सेवा-व्रती और स्वार्थ-हीन शख्स शामिल है। इन लोगो मे जोश है, आगे बढने की ताकत है और किसी उद्देश की पूर्ति के लिए सेवा का आदर्श है। इस तरह किसी भी पब्लिक महकमे या सार्वजनिक हित की सस्था के लिए अपने काम के लिए आदमी ढूँढने का सबसे अच्छा सामान इन्हीमे मिल सकता था। फिर भी सरकार ने कानून बनाकर इस बात की पूरी-पूरी कोशिश की है कि वे लोग नौकर न होने पावे, जिससे न सिर्फ उन्हीको सजा मिले बल्कि उन लोगो को भी जो उनसे हमदर्दी रखते है। सरकार खुद ऐसे लोगो को पसन्द करती है और आगे बढाती है जो बिलकुल जी-हुजूर हो, और उसके बाद यह शिकायत करती है कि हिन्दुस्तान की स्थानिक सस्थाये ठीक तरह से काम नही करती, और यद्यपि यह कहा जाता है कि राजनीति स्थानिक सस्थाओ के काम की हद से बाहर है, फिर भी सरकार को इस बात मे कोई ऐतराज नही कि वे सरकार की मदद के लिए राजनीति मे हिस्सा ले। स्थानीय बोर्डो के स्कूलो के मास्टरो को यह डर दिखाकर, कि उन्हे नौकरी से निकाल दिया जायगा, मजबूर किया गया कि गावो मे जाकर सरकार के पक्ष मे प्रचार करे।

पिछले पन्द्रह वर्षो मे कॉंग्रेस-कार्यकर्त्ताओ को कई मुश्किलो का सामना करना पड़ा है। उन्हे बड़ी भारी-भारी जिम्मेदारिया झेलनी पड़ी है और आखिर उन्होने ऐसी सरकार से टक्कर ली जो बड़ी ताकतवर और सुरक्षित है। और यह नही कि उसमे उन्हे कामयाबी भी न मिली हो। लेकिन तालीम के इस कड़े क्रम ने उन्हे

आत्म-निर्भरता, प्रबन्ध-पटुता और डटे रहने की ताकत दी है। जिन गुणो को एक हुकूमत की स्पिरिट से भरी हुई सरकार की लम्बी और नामर्द करने वाली तालीम ने छीन लिया था उन्हीको हमारी हलचलो ने हिन्दुस्तानियो मे फिर से डाल दिया है। हाँ, निस्सन्देह, तमाम सार्वजनिक आन्दोलनो की तरह काँग्रेस की हलचलो मे भी बहुत-से नामाकूल, बेवकूफ, निकम्मे और इससे भी बदतर लोग आये और है। लेकिन इस बात मे भी मुझे कोई शक नही है कि औसतन काँग्रेस-कार्यकर्ता अपनी बराबर योग्यता रखनेवाले किसी दूसरे शख्स के मुकाबले मे ज्यादा होशियार और सजीव साबित होगा।

इस मामले का एक और भी पहलू है, जिसको शायद सरकार और उसके सलाहकारो ने नही समझ पाया है। वह यह है कि असली क्रान्तिकारी तो इस बात का खुशी से स्वागत करते है जो सरकार काँग्रेस-कार्यकर्ताओ को ही कोई नौकरी नही मिलने देती और उनके लिए काम तथा नौकरी के तमाम रास्तो को रोक देती है। औसत काँग्रेसी इस बात के लिए बदनाम है कि वे क्रान्तिकारी नही होते और कुछ वक्त अर्ध-क्रान्तिकारी काम करने के बाद वे अपनी उसी पुराने ढर्रे की जिन्दगी और हालतो को शुरू कर देते है। वे फिर अपने धन्धे या पेशे या मुकामी राजनैतिक मामलो मे फँस जाते है। बडे-बडे मामले उनके दिमाग से ओझल होने लगते है और उनमे जो थोडा-बहुत क्रान्तिकारी जोश था वह ठडा पड़ जाता है। उनके पुट्ठो पर चरबी चढने लगती है और उनकी आत्मा सुरक्षितता चाहती है। मध्यश्रेणी के कार्यकर्ताओ के इस लाज़िमी झुकाव की वजह से ही आगे बढे हुए तथा क्रान्तिकारी ख़यालो के काँग्रेसियो ने हमेशा से इस बात की कोशिश की है कि उनके साथी स्थानिक बोर्डो और कौसिलो के विधानो के जजाल मे पूरे समय के कामो मे न फँसने पावे जो उन्हे काँग्रेस का कारगर काम करने से रोकते हो।

मगर अब खुद सरकार ही कुछ हद तक मदद कर रही है, क्योकि वह काँग्रेसियो के लिए कोई काम पाना मुश्किल बनाये दे रही है, जिससे यह मुमकिन है कि उनके क्रान्तिकारी उत्साह का कुछ हिस्सा जरूर कायम रहेगा या हो सकता है कि बढ भी जाय।

एक साल या उससे कुछ ज्यादा दिनो तक म्युनिसिपैलिटी का काम करने के बाद मै यह महसूस करने लगा कि मै यहाँ अपनी शक्तियो का सबसे अच्छा उपयोग नही कर रहा हूँ। मै ज्यादा-से-ज्यादा जो कुछ कर सकता था वह यह था कि काम जल्दी निबटे और वह पहले से ज्यादा होशियारी के साथ किया जाय। मै कोई कहने लायक तबदीली तो करा नही सकता था। इसलिए मै चेयरमैनी से इस्तीफा देना

चाहता था। लेकिन बोर्ड के तमाम मेम्बरो ने मुझपर जोर दिया कि मैं चेयरमैन बना रहूँ। मेरे इन साथियो ने मेरे साथ हमेशा शराफत व मेहरबानी का बर्ताव किया था। इस कारण मेरे लिए उनकी बात न मानना मुश्किल हो गया। लेकिन अपनी चेयरमैनी के दूसरे साल के अखीर मे मैंने इस्तीफा दे ही दिया।

यह १९२५ की बात है। उस साल वसन्त-ऋतु मे मेरी पत्नी बहुत बीमार पड गईं। कई महीनो तक वह लखनऊ के अस्पताल मे पड़ी रही। उस साल कांग्रेस कानपुर में हुई थी। मुझे मुद्दत तक दु खी दिल के साथ कभी इलाहाबाद, कभी कानपुर और कभी लखनऊ तथा वहाँ से वापस चक्कर लगाने पडे थे। (मैं इन दिनो भी कांग्रेस का प्रधान-मन्त्री था।)

डाक्टरो ने सिफारिश की कि कमला का इलाज स्वीज़रलैण्ड मे कराया जाय। मुझे यह बात पसद आई, क्योकि मैं खुद भी हिन्दुस्तान से बाहर चला जाना चहता था। मेरा दिमाग साफ नही था। कोई साफ रास्ता नही दिखाई देता था। मैंने सोचा कि अगर मैं हिन्दुस्तान से दूर पहुँच जाऊँ तो चीजो को और अच्छी दृष्टि से देख सकूगा और अपने दिमाग के अन्धेरे कोनो मे रोशनी पहुँचा सकूँगा।

मार्च १९२६ के शुरू मे हम लोग जहाज मे बम्बई से वेनिस के लिए रवाना हुए। मैं, मेरी पत्नी और हमारी बेटी। उसी जहाज मे हमारे साथ मेरी बहन और बहनोई रणजीत एस० पण्डित भी गय। उन लोगो ने अपनी योरप-यात्रा का इतजाम हम लोगो के योरप जाने का सवाल पैदा होने से बहुत पहले ही कर रक्खा था।

२१

योरप में

मुझे योरप छोडे तेरह साल से भी ज्यादा हो चुके थे और ये साल लडाई और क्रान्ति तथा भारी परिवर्तन के साल थे। जिस पुरानी दुनिया को मैं जानता था वह लड़ाई के खून और उसकी बीभत्सता में डूब चुकी थी और एक नई दुनिया मेरा रास्ता देख रही थी। मुझे उम्मीद थी कि योरप मे छ या सात महीना या ज्यादा-से-ज्यादा साल के अखीर तक रह पाऊँगा। लेकिन दरअसल हम लोग वहाँ ठहरे एक साल और नौ महीने।

यह वक्त मेरे शरीर और दिमाग दोनो के लिए चैन व आराम का वक्त था। ज्यादातर हमने यह वक्त स्वीजरलैण्ड के जिनेवा मे और मोन्टाना के पहाडी सेनेटोरियम मे बिताया था। मेरी छोटी बहन कृष्णा भी १९२६ की गर्मियो के शुरू में हिन्दुस्तान से हमारे पास आ गई और जबतक हम लोग योरप मे रहे तबतक हमारे साथ रही। मैं अपनी पत्नी को ज्यादा अर्से के लिए नही छोड सकता था, इसलिए दूसरी जगहो मे मैं बहुत थोडे वक्त के लिए ही जा सका। कुछ दिनो बाद जब मेरी पत्नी की तबियत कुछ ठीक हो गई तब हम लोगों ने कुछ दिनो तक फ्रास, इग्लैण्ड और जर्मनी की सैर की। जिस पहाडी की चोटी पर हम लोग ठहरे थे उसके आस-पास चारो ओर बरफ थी। वहाँ मैं यह महसूस करता था कि मैं हिन्दुस्तान तथा यूरोपियन ससार से बिलकुल अलहदा हो गया हूँ। हिन्दुस्तान मे होनेवाली बाते खास तौर पर बहुत दूर मालूम होती थी। मैं महज दूर से देखने वाला एक तमाशबीन बन गया था जो अखबार पढता था, जो बातें होती थी उन्हे समझकर उनपर गौर करता था, नये योरप तथा उसकी राजनीति और उसके अर्थशास्त्र तथा उसके कही ज्यादा आजादाना मानव-सम्बन्धो को देखा करता था। जब मैं जिनेवा मे था तब स्वभावत मुझे राष्ट्र-सघ के कामो मे और अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-दफ्तर मे भी दिलचस्पी रही थी।

लेकिन जाडा आते ही, जाड़े के खेलो मे मेरा मन लग गया। कुछ महीने तक इन खेलो मे ही मेरी खास दिलचस्पी रही और इन्हीमे मैं लगा रहा। बरफ पर एक किस्म के खडाऊँ पहनकर तो मैं पहले भी चलता तथा खिसकता था, लेकिन लकडी के आठ फीट लम्बे और चार इच चौडे जोड़े को पैरो से बाँध कर बरफ पर चलने का तजुर्बा मेरे लिए बिलकुल नया था और मैं उसपर मुग्ध हो गया। बहुत दिनो तक तो

मुझे इस खेल मे काफी तकलीफ मालूम हुई, लेकिन बार-बार गिरने पर भी मैं हिम्मत के साथ जुटा रहा और अखीर मे मुझे खूब मजा आने लगा।

सब मिलाकर इन दिनो हमारी जिन्दगी मे कोई खास घटना नही हुई। दिन बीतते गये और धीरे-धीरे मेरी पत्नी ताकत व तन्दुरुस्ती हासिल करती गई। वहाँ हम लोगो को बहुत कम हिन्दुस्तानियो से मिलने का मौका मिला। सच बात तो यह है कि उस पहाडी बस्ती मे रहनेवाले थोडे-से लोगो को छोडकर और किसीसे हमे मिलने का मौका नही मिला। लेकिन हम लोगो ने योरप मे जो एक और तीन-चौथाई साल बिताया उसमे हमे बहुत-से ऐसे पुराने क्रान्तिकारी और हिन्दुस्तान से निकाले हुए भाई मिले जिनके नामो से मैं वाकिफ था।

उनमे से श्यामजी कृष्ण वर्मा जिनेवा मे एक मकान की सबसे ऊँची मजिल पर अपनी बीमार पत्नी के साथ रहते थे। ये दोनो बुड्ढे मियाँ-बीवी अकेले ही रहते थे। उनके साथ दिन-भर रहकर काम करनेवाले नौकर न थे, इसलिए उनके कमरे गन्दे पडे रहते थे, जिनमे दम-सा घुटता था। हर चीज के ऊपर धूल की मोटी तह जमी हुई थी। श्यामजी के पास काफी रुपया था, लेकिन वह रुपया खर्च करने मे विश्वास नही करते थे। वह ट्राम में बैठकर जाने के बदले कुछ पैसे बचा लेना ज्यादा पसन्द करते थे। जो कोई उनसे मिलने जाता उसको वह शक की निगाह से देखते थे और जबतक इसकी उलटी बात साबित न हो जाय तबतक यही मान बैठते थे कि आनेवाले महाशय या तो ब्रिटिश सरकार के एजेन्ट है या उनके धन के गाहक है। उनकी जेबे उनके 'इण्डियन सोशियॉलोजिस्ट' नाम के अखबारो की पुरानी कापियो से भरी रहती थी। वह उन्हे खीचकर निकालते और वह कुछ जोश के साथ उन लेखो को दिखाते जो उन्होने कोई बारह बरस पहले लिखे थे। वह ज्यादातर पुराने वक्तो की बाते किया करते थे। हैम्स्टीड में इण्डिया-हाउस मे क्या हुआ, ब्रिटिश सरकार ने उनके भेद लेने के लिए कौन-कौन शख्स भेजे और उन्होने किस तरह उन्हे पहचानकर उनको चकमा दिया, आदि। उनके कमरो की दीवारे पुरानी किताबो से भरी अलमारियो से सटी हुई थी। उन किताबो को पढता-पढाता कोई नही था, इसलिए उनपर धूल जमी हुई थी और वे जो कोई वहाँ जा पहुँचता उसकी तरफ दु खभरी निगाहो से देखती-सी मालूम होती थी। किताबे और अखबार फर्श पर भी इधर-उधर पडे रहते थे। ऐसा मालूम पडता था मानो वे कई दिनो और हफ्तो से, मुमकिन है महीनो से, इसी तरह पडे हुए है। उस तमाम जगह मे शोक की छाप-सी, ह्रास की हवा-सी छाई हुई थी। जिन्दगी वहाँ ऐसी मालूम पडती थी जैसे कोई अनचाहा अजनबी घुस आया हो। अँधेरे और सूनसान बरामदो मे चलते हुए ऐसा डर-सा मालूम पड़ता था कि किसी कोने मे कही

मौत की छाया तो नही छिपी हुई है। जानेवाले उस मकान मे से निकलकर आराम की लम्बी साँस लेते और बाहर की हवा से खुश होते थे।

श्यामजी अपनी दौलत की बाबत कुछ इन्तजाम, पब्लिक के कामो के लिए कोई ट्रस्ट, कर देना चाहते थे। शायद वह विदेशो में शिक्षा पाने वाले हिन्दुस्तानियो के लिए कुछ इन्तजाम करना पसन्द करते थे। उन्होने मुझसे कहा कि मैं भी उनके उस ट्रस्ट का एक ट्रस्टी हो जाऊँ। लेकिन मैंने उस जिम्मेदारी को अपने ऊपर लेने की कोई ख्वाहिश नही जाहिर की। मै नही चाहता था कि मै उनके आर्थिक मामलों के चक्कर मे फँसूँ। इसके अलावा मैंने यह भी महसूस किया कि अगर मैंने कही जरूरत से ज्यादा दिलचस्पी जाहिर की तो उन्हे फौरन ही यह शक हो जायगा कि उनकी दौलत पर मेरा दाँत है। यह तो किसीको नही मालूम था कि उनके पास कितनी दौलत है। यह अफवाह भी उडी थी कि जर्मनी मे सिक्के की कीमत गिरने पर उनको बहुत नुकसान हुआ था।

कभी-कभी नामी-गरामी हिन्दुस्तानी जिनेवा मे होकर गुजरते थे। जो लोग राष्ट्र-सघ मे शामिल होने के लिए आते थे, वे तो हाकिमी किस्म के लोग होते थे और यह जाहिर है कि श्यामजी ऐसे लोगो के पास तक नही फटक सकते थे। लेकिन मजदूर-दफ्तर मे कभी-कभी नामी गैर-सरकारी हिन्दुस्तानी आ जाते थे, जिनमें मशहूर काँग्रेसी भी होते थे। श्यामजी इन लोगो से मिलने की कोशिश करते। श्यामजी से मिलकर उन लोगो पर जो असर होता वह बडा ही दिलचस्प होता था। लाजिमी तौर पर श्यामजी से मिलते ही ये लोग घबरा उठते थे और न सिर्फ पब्लिक मे ही उनसे मिलने से बचने की कोशिश करते थे, बल्कि खानगी मे भी उनसे मिलने के लिए किसी-न-किसी बहाने से माफ़ी माँग लेते थे। वे लोग समझते थे कि श्यामजी से ताल्लुक रखने या उनके साथ देखा जाने मे खैर नही है।

इसलिए श्यामजी और उनकी पत्नी को एकाकी जिन्दगी बितानी पडती थी। उनके न तो बाल-बच्चे ही थे, न कोई रिश्तेदार या दोस्त ही; उनका कोई साथी भी नही था। शायद किसी भी मनुष्य-प्राणी से उनका सम्पर्क नही था। वह तो पुराने जमाने की एक यादगार थे। सचमुच उनका जमाना गुजर चुका था। मौजूदा जमाना उनके लिए मौजूँ नही था। इसलिए दुनिया उनकी तरफ से मुह फेरकर मजे से चली जा रही थी। लेकिन फिर भी उनकी आँखो मे पुराना तेज था, और यद्यपि उनमे और मुझमे एक-सी कोई चीज नही फिर भी उनके प्रति मै अपनी हमदर्दी व इज्जत को नही रोक सकता था।

हाल ही मे अखबारो मे खबर छपी कि वह मर गये और उनके कुछ दिन बाद

ही वह भली गुजराती महिला भी, जो दूसरे मुल्कों में देश-निकाले में भी जिन्दगी-भर उनके साथ रही थी, मर गई। अखबारों की खबरों में यह भी कहा गया था कि उन्होंने (उनकी पत्नी ने) विदेशों में हिन्दुस्तान की औरतों की तालीम के लिए बहुत-सा रुपया छोड़ा है।

एक और मशहूर शख्स जिनका नाम मैंने अक्सर सुना था लेकिन जो मुझे पहले-पहल स्वीज़रलैण्ड में मिले, राजा महेन्द्रप्रताप थे। उनकी आशावादिता आनन्ददायिनी थी। मेरा खयाल है कि अब भी वह आशावादी हैं। वह बिल्कुल हवा में रहते हैं और असली हालत से कतई कोई ताल्लुक रखने में इन्कार करते हैं। मैंने जब उन्हें पहले-पहल देखा तो थोड़ा-सा चौंक पड़ा। वह एक अजीब तरह की पोशाक पहने हुए थे, जो तिब्बत के ऊँचे मैदानों के लिए भले ही मौजूं हो या साइबेरिया के मैदानों में भी लेकिन वह उन दिनों की गर्मियों में वहाँ बिलकुल बेमौजूँ थी। वह पोशाक एक किस्म की आधी फौजी पोशाक-सी थी। वह ऊँचे रूसी बूट पहने हुए थे और उनके कोट में बहुत-सी बड़ी-बड़ी जेबें थीं जो फोटो तथा अखबार इत्यादि से भरी हुई थीं। इन चीज़ों में जर्मनी के चान्सलर बेथमैनहॉलवेग का एक खत था। कैसर की एक तस्वीर थी, जिसपर उसके अपने दस्तखत थे। तिब्बत के दलाई लामा का लिखा हुआ भी एक खूबसूरत खर्रा था। इसके अलावा अनगिनत कागज़ात और तस्वीरें थीं। उन जेबों में कितनी चीजें भरी हुई थीं, यह देखकर हैरत होती थी। उन्होंने हमसे कहा कि एक दफा चीन में उनका एक डिस्पैच-बक्स खो गया, जिसमें उनके बड़े कीमती कागजात भरे हुए थे, तबसे उन्होंने इसीमें ज्यादा सुरक्षितता समझी है कि वह हमेशा अपने कागजात को अपनी जेबों में ही रक्खें। इसीसे उन्होंने इतनी ज्यादा जेबें बनवाई थीं।

महेन्द्रप्रतापजी के पास जापान, चीन, तिब्बत और अफ़गानिस्तान की और उन यात्राओं में जो घटनायें हुईं उनकी कहानियों की भरमार थी। उनको अपनी ज़िन्दगी तरह-तरह की हालतों में बितानी पड़ी, जिनका हाल बड़ा दिलचस्प था। उस वक्त उनको सबसे ज्यादा जोश "आनन्द-समाज" (A Happiness Society) के लिए था, जो खुद उन्होंने कायम की थी और जिसका मूल-मन्त्र था—"खुश रहो"। मालूम पड़ता है कि इस संस्था को लटाविया (या लिथुवानिया) में बहुत कामयाबी मिली।

उनका प्रचार का तरीका यह था कि वह वक्तन-फवक्तन जिनेवा या दूसरी जगह होनेवाली कान्फ्रेन्सों के मेम्बरों के पास पोस्टकार्ड पर छपे हुए अपने बहुत-से सन्देश भेज दिया करते थे। इन पोस्टकार्डों पर उनके दस्तखत रहते थे, लेकिन जो

नाम रहता था वह विचित्र, लम्बा और विविध। महेन्द्रप्रताप को तो उन्होंने नं० ५० यहीं रहने दिया था, लेकिन उसके साथ और बहुत-से नाम जोड़ दिये गये थे, जो ज़ाहिरा तौर पर जिन देशों की उन्होंने सैर की थी उनमें से उनके मनचाहे देश के नाम के द्योतक थे। इस तरह वह इस बात पर ज़ोर देते थे कि वह अपनेको जाति, मज़हब और क़ौम के बन्धनों से ऊपर समझते हैं। इस विचित्र नाम के पीछे आख़िरी विशेषता "मनुष्य-जाति का सेवक" बिलकुल मौजूँ था। महेन्द्रप्रताप की बातों को ज़्यादा महत्त्व देना मुश्किल था। वह तो मध्यकालीन उपन्यासों के एक पात्र-से, डॉन क्विक्ज़ोट-से, मालूम होते थे, जो ग़लती से बीसवीं सदी में आ भटके थे। लेकिन वह थे सोलहों आने सच्चे और अपनी धुन के पक्के।

पेरिस में हमने बुढ़िया मैडम कामा को भी देखा। जब हमारे पास आकर उन्होंने हमारे चेहरे की तरफ़ ग़ौर से देखा, और हमारी तरफ़ अँगुली उठाकर एका-एक हमसे यह पूछा कि आप कौन हैं, तब वह कुछ-कुछ खूँखार और डरावनी-सी मालूम हुईं। आपके जवाब से उनके ऊपर कोई असर नहीं पड़ता; शायद उनको इतना ऊँचा सुनाई देता है कि वह आपकी बात सुन ही नहीं पातीं। वह अपनी धारणायें बना लेती हैं, और फिर उन्हींपर अड़ी रहती हैं, चाहे वाक़यात उन धारणाओं के ख़िलाफ़ ही हों।

इनके अलावा मौलवी उबैदुल्ला थे, जो मुझे कुछ वक़्त के लिए इटली में मिले। वह मुझे चालाक जँचे, लेकिन उनकी लियाक़त पुराने ज़माने की राजनैतिक चालबाज़ियों में जो होशियारी होती थी वैसी थी। वह नये विचारों के सम्पर्क में न थे। हिन्दुस्तान की 'संयुक्त राज्यों' या 'हिन्दुस्तान के संयुक्त प्रजातन्त्र' की उन्होंने एक स्कीम बनाई थी, जो हिन्दुस्तान की साम्प्रदायिक समस्या को हल करने की एक काफ़ी अच्छी कोशिश थी। उन्होंने इस्ताम्बूल में, जो उन दिनों तक कुस्तुन्तुनिया ही कहलाता था, अपनी कुछ पुरानी हलचलों की बाबत भी मुझसे कुछ कहा, लेकिन उनको मैंने इतना महत्त्व नहीं दिया, इसीलिए मैं जल्दी ही उन सब बातों को भूल गया। कुछ महीने बाद वह लाला लाजपतराय से मिले और ऐसा मालूम पड़ता है कि उन्हें भी उन्होंने वही बातें कह सुनाईं। लालाजी पर उनका बहुत असर पड़ा, उससे वह बहुत ही चिन्तित हो गये थे। यहाँतक कि उस साल हिन्दुस्तान की कौंसिलों के चुनाव में उन बातों का बड़ा अहम हिस्सा रहा। उनके बिलकुल अनुचित विचित्र नतीजे तथा मतलब निकाले गये। इसके बाद मौलवी उबैदुल्ला हेजाज चले गये और कई पिछले सालों से मुझे उनकी बाबत कोई ख़बर नहीं मिली।

उनसे बिलकुल दूसरी क़िस्म के मौलवी बरकतउल्ला साहब थे। उनसे मैं बर्लिन में

मिला। वह वडे मजेदार और बूढे थे। बडे उत्साही और बहुत ही भले। वह बेचारे कुछ सीधे-सादे थे, बहुत तीव्र-बुद्धि न थे। फिर भी वह नये खयालात को अपनाने और आजकल की दुनिया को समझने की कोशिश करते थे। १९२७ में सैनफ्रान्सिस्को में उनकी मौत हुई। जबकि हम लोग स्वीजरलैंड में थे। उनकी मौत की खबर सुनकर मुझे बहुत रज हुआ।

वर्लिन मे ऐसे बहुत-से लोग थे जिन्होने लडाई के वक्त मे हिन्दुस्तानियों का एक दल बना लिया था। वह दल तो बहुत पहले ही टुकडे-टुकडे हो गया। उन लोगों की आपस मे नही बनी और वे एक-दूसरे से लड पडे, क्योंकि हर शख्स दूसरे पर विश्वास-घात करने का शक करता था। ऐसा मालूम होता है कि सब जगह देश से निकाले हुए राजनैतिक कार्यकर्ताओ का यही हाल होता है। वर्लिन के उन हिन्दुस्तानियो मे से बहुत-से तो मध्यश्रेणी के लोगो के उन बैठे-बिठाये पेशो में लग गये। महायुद्ध के बाद जर्मनी मे इस तरह के पेशे अक्सर नही मिल सकते थे। अब जो उनमे हिल गये उनमे क्रान्तिकारी-पन का कोई चिन्ह नही रहा। यहाँतक कि वे राजनीति से भी दूर रहने लगे।

लडाई के जमाने के इस पुराने दल की कहानी मनोरजक है। इनमे ज्यादातर तो वे लोग थे जो १९१४ की उन मनहूस गर्मियो मे जर्मनी के जुदा-जुदा विश्वविद्यालयो मे पढ रहे थे। ये लोग जर्मनी के विद्यार्थियो के साथ उन्हीकी-सी जिन्दगी बिताते थे, उनके साथ बियर (शराब) पीते थे और उनकी (जर्मनी की) सस्कृति को सहानुभूति तथा सम्मान के साथ देखते थे। लडाई से उनको कुछ मतलब न था, लेकिन उस वक्त जर्मनी के ऊपर राष्ट्रीय उन्माद का जो तूफान आया उससे विचलित हुए बिना नही रह सके। उनकी भावना तो वास्तव मे ब्रिटिश-विरोधी थी, न कि जर्मनो की पक्षपाती। अपने हिन्दुस्तान की राष्ट्रीयता ने उन्हे ब्रिटेन के दुश्मनो की ओर झुका दिया। लडाई शुरू होने के बाद फौरन ही कुछ और थोडे-से हिन्दुस्तानी, जो इनसे कही ज्यादा क्रान्तिकारी थे, स्वीजरलैण्ड से जर्मनी मे जा पहुँचे। इन लोगो ने अपनी एक कमिटी बना ली और हरदयाल को बुला भेजा। वह उन दिनो सयुक्त राज्य अमेरिका के पश्चिमी किनारे पर थे। हरदयाल कुछ महीने पीछे आ गये, लेकिन इस वक्त तक यह कमिटी काफी महत्वपूर्ण हो गई थी। कमिटी पर यह महत्व जर्मन-सरकार ने लाद दिया था। जर्मन-सरकार कुदरतन यह चाहती थी कि वह तमाम ब्रिटिश-विरोधी जज़बात को अपने फायदे के लिए इस्तैमाल करे। उधर हिन्दुस्तानी यह चाहते थे कि वे अपने कौमी मकसदो को पूरा करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति का फायदा उठावे। वे यह नही चाहते थे कि महज जर्मनी के ही फायदे के लिए अपनेको इस्तै-

माल होने दे। इस मामले मे उनकी बहुत चल नही सकती थी, लेकिन वे यह महसूस करते थे कि उनके पास कोई ऐसी चीज जरूर है जिसे लेने के लिए जर्मन-सरकार बहुत उत्सुक है। इस बात से उन्हे जर्मन-सरकार से सौदा करने को एक हथियार मिल गया। उन्होने इस बात पर बहुत जोर दिया कि हिन्दुस्तान की आजादी का जर्मन-सरकार अहद करे और इत्मीनान दिलाये कि उस अहद पर कायम रहेगी। ऐसा मालूम होता है कि जर्मनी के वैदेशिक दफ्तर ने इन लोगो से बाकायदा सुलहनामा किया, जिसमे उन्होने यह वादा किया कि अगर जर्मन लोगो की फतह हुई तो जर्मन-सरकार हिन्दुस्तान की आजादी को मंजूर कर लेगी। इसी अहद और इसी शर्त तथा कई छोटी शर्तों की बुनियाद पर इस हिन्दुस्तानी दल ने यह वादा किया कि हम लडाई में जर्मनी की मदद करेगे। जर्मनी की सरकार हर तरह से इस कमिटी की इज्जत करती थी, और उसके प्रतिनिधियो के साथ करीब-करीब विदेशी राजदूतो की बराबरी का बर्ताव किया जाता था।

खास तौर पर बेतजुर्बा नौजवानो के इस छोटे-से दल को यकायक जो इतना महत्व मिल गया, उससे उनमे से कई का सिर फिर गया। वे यह महसूस करने लगे कि हम कोई बहुत बडा ऐतिहासिक कार्य कर रहे है, वे बहुत ही बडी और युगान्तरकारी कार्रवाइयो मे लगे हुए हैं। उनमें से बहुतो को बडे जोशीले मौको का सामना करना पडा और वे बाल-बाल बचे। लेकिन लडाई के पिछले हिस्से में उनकी अहमियत खुल्लम-खुल्ला कम होने लगी, और उनकी उपेक्षा शुरू हो गई। हरदयाल को, जो अमेरिका से आये थे, बहुत पहले ही सलाम कर लिया गया था। कमिटी से उनकी बिलकुल नही बनी, और कमिटी तथा जर्मन सरकार दोनो ही उनको विश्वास-पात्र नही मानते थे, उन्होने उन्हे चुपचाप खिसका दिया। कई साल बाद जब १९२६ और १९२७ मे मै योरप मे था, तब मुझे यह देखकर अचम्भा हुआ कि योरप मे रहनेवाले ज्यादातर हिन्दुस्तानियो के दिलो मे हरदयाल के खिलाफ कितनी कटुता और कितनी नाराजगी है। उन दिनो वह स्वीडन मे रहते थे। मै उनसे नही मिला।

लडाई खत्म होते ही बर्लिनवाली हिन्दुस्तानी कमिटी का बुरी तरह खात्मा हो गया। उन लोगो की तमाम उम्मीदो पर पानी फिर गया था, जिससे उनके लिए जिन्दगी बिलकुल नीरस हो गई थी। उन्होने बहुत बड़ा जुआ खेला था, और उसमे हार गये थे। लडाई के सालों मे उन्हे जो महत्त्व मिला, और जैसे बडे-बडे वाकयात हुए, उनके बाद तो हर हालत मे जिन्दगी भारभूत मालूम होती। लेकिन उन बेचारो को तो मुँह-माँगे इस तरह की बेफिक्री की जिन्दगी भी नही नसीब हो सकती थी। वे हिन्दुस्तान में लौट नही सकते थे, और लडाई के बाद के हारे हुए जर्मनी मे रहने के

लिए कोई आराम की जगह थी नही। उन बेचारो को वडी मुश्किल का सामना करना पडा। उनमें से कुछेक को ब्रिटिश सरकार ने बाद मे हिन्दुस्तान मे आने की इजाजत दे दी, लेकिन बहुतो को तो जर्मनी मे ही रहना पडा। उनकी हालत बडी नाजुक थी। जाहिर है कि वे किसी भी राज्य के नागरिक न थे। उनके पास वाजिब पासपोर्ट तक नही थे। जर्मनी के बाहर तो सफर करना मुमकिन था ही नही, जर्मनी मे रहने मे भी बहुतसी मुश्किले थी, वे वहाँ की पुलिस की मेहरबानी से ही रह सकते थे। उनकी जिन्दगी बहुत ही चिन्ता और मुसीवत से भरी थी। रोज-ब-रोज उन्हे कोई-न-कोई फिक्र सवार रहती थी। हर वक्त उन्हे इसी बात के लिए परेशान रहना पडता था, कि क्या खायँ और कैसे जिये ?

१९३३ के शुरू से नाजियो के दौर-दौरे ने उनकी बदनसीबी को और भी बढा दिया। अगर वे सोलहो आने नाजियो के मत को मान ले तो दूसरी बात है। जो लोग नॉर्डिक नही है, और खास तौर पर एशियायी है, ऐसे विदेशियो का आजकल जर्मनी मे स्वागत नही होता। उन लोगो को ज्यादा-से-ज्यादा उस वक्त तक वहाँ ठहरने भर दिया जाता है जब तक कि वे ठीक तरह से रहे। हिटलर ने कई बार यह ऐलान किया है कि वह हिन्दुस्तान मे ब्रिटेन के साम्राज्यवादी शासन का तरफदार है। इसमे शक नही कि यह बात वह ब्रिटेन की सद्भावना प्राप्त करने को कहता है, इसीलिए वह ऐसे किसी हिन्दुस्तानी को शह नही देना चाहता जिसने ब्रिटिश सरकार को नाराज कर दिया हो।

बर्लिन मे हमे जो देश-निकाले हुए हिन्दुस्तानी मिले उनमे से एक चम्पकरमन पिल्ले थे। वह पुराने युद्धकालीन दल के एक मशहूर मेम्बर थे। वह कुछ धूमधाम-पसन्द थे, और नौजवान हिन्दुस्तानियो ने उन्हे एक बुरासा खिताब दे रक्खा था। वह सिर्फ राष्ट्रीयता की भाषा मे ही सोच सकते थे। किसी भी सवाल को उसके सामाजिक और आर्थिक पहलू से देखने से वह दूर भागते थे। जर्मनी के राष्ट्रवादी 'स्टील हेल्मेट्स' से उनकी खूब पटती थी। वह जर्मनी मे उन थोडे-से हिन्दुस्तानियो मे से थे, जिनकी नाजियो से खूब छनती थी। कुछ महीने हुए, जेल मे मैने खबर पढी कि बर्लिन मे उनका देहान्त हो गया।

हिन्दुस्तान के एक मशहूर घराने के वीरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय बिलकुल दूसरी किस्म के आदमी थे। आम तौर पर लोग उन्हे चट्टो के नाम से जानते थे। वह बहुत ही काबिल और बडे मजे के आदमी थे। हमेशा मुसीबतो मे रहते। उनके कपडे बिलकुल फटे-पुराने थे, और अक्सर उन्हे अपने खाने का इन्तजाम करना बहुत ही मुश्किल हो जाता था। लेकिन उनके मजाक और उनकी खुशदिली ने उनका साथ कभी नही

छोडा । जब मै इग्लैण्ड मे पढ रहा था, तब वह मुझसे कुछ साल आगे थे । जब मै हैरो मे दाखिल हुआ, तब वह ऑक्सफोर्ड मे थे । तबसे वह कभी हिन्दुस्तान को नही लौटे । कभी-कभी घर की याद उनको सताने लगती और वह हिन्दुस्तान को लौटने के लिए व्याकुल हो उठते । उनके तमाम पारिवारिक बन्धन खत्म हो चुके थे। और यह तय है कि अगर वह कभी हिन्दुस्तान आये तो फौरन ही वह दु खी होने लगेंगे. और यह पावेगे कि यहाँ उनका मेल नही मिलता। लेकिन इतने वर्षो के बीत जाने और लम्बे-लम्बे सफर करने के बावजूद घर का खिचाव तो रहता ही है। देश से निकाला हुआ कोई भी शख्स अपनी इस बीमारी से, जिसे मैजिनी 'आत्मा का तपेदिक' कहता था, नही बच सकता ।

मै यह जरूर कहूँगा कि मुझे दूसरे मुल्को मे जितने देश-निकाले हुए हिन्दुस्तानी मिले, उनमे ज्यादातर लोगो का मेरे ऊपर अच्छा असर नही पडा, यद्यपि मै उनकी कुर्बानियो की तारीफ करता था और जिन वाकई और असली मौजूदा मुसीबतो मे वे फँसे हुए थे और उन्होने जो तकलीफें सही थी और जो सहनी पड़ रही थी, उनसे मेरी पूरी हमदर्दी थी । मै उनमे से ज्यादा लोगो से नही मिला, क्योकि उनकी तादाद बहुत काफी है और वे दुनिया-भर मे फैले हुए है । उनमे से नाम भी तो हमने बहुत कम के सुने है, बाकी तो हिन्दुस्तान की दुनिया से बिलकुल अलग हो गये है और अपने जिन हिन्दुस्तानी भाइयो की खिदमत करने की उन्होने कोशिश की वे उन्हे भूल गये है । उनमे से जिन थोडे-से लोगो से मै मिला उनमे वीरेन्द्र चट्टोपाध्याय और एम० एन० राय के बुद्धि-वैभव का मुझपर अच्छा असर पडा । राय से मै कोई आध घण्टे तक मास्को मे मिला था । उन दिनो वह प्रमुख कम्यूनिस्ट थे, लेकिन कम्यूनिस्ट इटर-नेशनल ब्राड के कट्टर कम्यूनिज्म से बाद के उनके कम्यूनिज्म मे फर्क हो गया था । मै समझता हूँ कि चट्टो बाकायदा कम्यूनिस्ट न थे, सिर्फ उनका झुकाव कम्यूनिज्म की तरफ था । अब तो राय को हिन्दुस्तानी जेलो मे पड़े हुए तीन साल से भी ज्यादा हो गये है ।

इनके अलावा और भी बहुत-से हिन्दुस्तानी थे जो योरप के मुल्को मे घूमते-फिरते थे। ये लोग क्रान्तिकारियो की जुबान मे बात-चीत करते, बडे-बडे जीवट की और अजीब बाते सुझाते, कौतूहल-भरे विचित्र सवाल पूछते । ऐसा मालूम पडता था कि इन लोगो पर ब्रिटिश सीक्रेट सर्विस (खुफिया महकमे) की छाप लगी हुई थी ।

हाँ, हम बहुतसे यूरोपीयनो और अमेरिकनो से भी मिले । जिनेवा से हम कई बार वील न'''व मे रोमा रोला को देखनेके लिए विला ऑल्गा गये । उनके पास पहली मर्त्तबा जाते वक्त हम गाधीजी से परिचय-पत्र लेते गये थे । एक नौजवान जर्मन कवि

और नाटककार की याद भी मै बहुत बहुमूल्य समझता हूँ। इसका नाम था अन्स्र्ट टॉलर। अब नाजियो के शासन में वह जर्मन नही रहा। यही बात न्यूयार्क के नागरिक-स्वाधीनता-सघ के रोजर बाल्डविन के लिए है। जिनेवा मे नामी लेखक धनगोपाल मुकर्जी से भी हमारी दोस्ती हो गई थी। वह अमेरिका मे बस गये है।

योरप जाने से पहले मै हिन्दुस्तान मे फ्रैंक बुशमैन से मिला था। यह आक्सफोर्ड-ग्रूप-मूवमेंट के है। इन्होने अपनी हलचल के सम्बन्ध मे कुछ साहित्य मुझे दिया। उसे पढकर मुझे बडा आश्चर्य हुआ। यकायक मजहब बदल देना या गुनाहो का इकबाल करते फिरना और आम तौर पर धर्म का पुनरुद्धार करना मेरी निगाह मे ऐसी बाते है जिनका बुद्धि-वाद के साथ मेल नही खाता। मै यह नही समझ सका कि जो शख्श जाहिरा तौर पर साफ-साफ बुद्धिमान मालूम होते थे वे ऐसे अजीव मनोभावो के शिकार कैसे हो जाते है और उनपर इन मनोविकारो का इस हद तक असर कैसे पड जाता है? मेरा कौतूहल बढा। जिनेवा मे फ्रैंक बुशमैन मुझे फिर मिले और उन्होने मुझे न्यौता दिया कि रूमानिया मे उनकी जो अन्तर्राष्ट्रीय गृह-पार्टी होनेवाली है उसमे मै शामिल होऊँ। मुझे अफसोस है कि मै वहाँ नही जा सका और नजदीक से इस नई भावपूर्णता को नही देख सका। इस तरह मेरा कौतूहल अभीतक अतृप्त ही है और मै इस आक्सफोर्ड-ग्रूप-मूवमेंट की बढती की जितनी खबरे पढता हूँ उतना ही आश्चर्य करता हूँ।

२२

आपसी मतभेद

हमारे स्वीजरलैण्ड मे पहुँचने के बाद फौरन ही इग्लैण्ड मे आम हड़ताल हो गई थी, जिससे मुझे बहुत उत्तेजना हुई। मेरी हमदर्दी पूरी तरह हडतालियो के साथ थी। कुछ दिनो के बाद जब हडताल बुरी तरह खत्म हुई तब मुझे ऐसा मालूम पडा मानो खुद मुझपर चोट पडी है। कुछ महीने बाद मुझे कुछ दिनो के लिए इग्लैण्ड जाने का मौका मिला। वहाँ कोयले की खानो के मजदूरो की लडाई अभीतक चल रही थी और रात मे लन्दन आधे अन्धेरे-से मे रहता था। एक खान मे भी मै कुछ समय के लिए गया। मेरा खयाल है कि वह जगह डरबीशायर मे होगी। मर्दो, औरतो और बच्चो के पीले और पिचके हुए चेहरे मैने अपनी आँखो से देखे। इससे भी ज्यादा आँखे खोलनेवाली बात यह हुई कि मैने हडताल करनेवाले मजदूरो और उनकी औरतो पर मुकामी या काउण्टी की अदालतो मे मुकदमे चलते हुए देखे। इन अदालतो के मजिस्ट्रेट खुद उन कोयलो की खानो के डाइरेक्टर या मैनेजर थे। उन्ही-की अदालतो मे मजदूरो का मुकदमा हुआ और उन्हे ज़रा-ज़रा-से जुर्मो के लिए कुछ खास तौर पर बनाये गये कानूनो के मुताबिक सजा दे दी जाती थी। एक मुकदमे से मुझे खास तौर पर गुस्सा आया। अदालत के कटघरे मे तीन या चार औरते ऐसी लाई गई जिनकी गोद मे बच्चे थे। उनका जुर्म यह था कि उन्होने हडताल करनेवालो की जगह पर काम करने जानेवाले मज़दूर-द्रोहियो को धिक्कारा था। ये नौजवान माताये और उनके नन्हे-नन्हे बच्चे दु खी है और उन्हे भरपेट भोजन नही मिलता, यह बात साफ-साफ दिखाई देती थी। लम्बी लड़ाई से वे बहुत ही कमजोर हो गई थी। उनकी हालत बहुत बिगड़ गई थी। उनमे उन मजदूर-द्रोहियो के प्रति कटुता आ गई थी जो उनके मुँह का कौर छीनते हुए मालूम होते थे।

अमीर श्रेणी के लोग गरीब दर्जे के लोगो के साथ कैसा इन्साफ करते है, इसकी बाबत अक्सर हम लोग बहुत-सी बाते पढा करते है, और हिन्दुस्तान मे तो इस तरह के इन्साफो के किस्से रोजमर्रा की बाते है। लेकिन, किसी भी वजह से हो, मै यह उम्मीद नही करता था कि इग्लैण्ड मे भी ऐसे 'इन्साफ' का इतना बुरा नमूना मुझे देखने को मिलेगा। इस वजह से उससे मेरे मन मे भारी धक्का लगा। एक और बात जिसे देखकर मुझे कुछ अचरज हुआ यह थी कि हडताल करनेवालो मे डर की आबहवा फैली हुई थी। निश्चित रूप से पुलिस और हाकिमो ने उन्हे बुरी तरह डरा

दिया था जिससे वे बेचारे सब बातो को, मै समझता हूँ कि उनके साथ जो बेइज्जती का बर्ताव किया जाता था उसे भी, चुपचाप सह लेते थे। यह सही है कि एक लम्बी लडाई के बाद वे बुरी तरह थक गये थे। उनकी हिम्मत उनका साथ छोड़ने को ही थी। दूसरे मजदूर-सघो के उनके साथी मजदूरो ने उनका साथ छोड ही दिया था। लेकिन गरीब हिन्दुस्तानी मजदूरो के मुकाबिले मे फ़िर भी दुनिया-भर का फर्क था। ब्रिटिश खानो के मजदूरो का सगठन तो अभीतक बहुत मजबूत था। सचमुच मुल्क-भर के मजदूरो की ही नही, दुनिया-भर के मजदूर-सघो की हमदर्दी उनके साथ थी। उनके विषय मे काफी प्रचार हो रहा था। इसके अलावा भी उनके पास तरह-तरह के साधन थे। हिन्दुस्तानी मजदूरो को इनमे से एक भी बात नसीब नही। लेकिन फिर भी दोनो मुल्को के मजदूरो की उस डर-भरी, भयभीत, निगाह मे एक अजीब एकसापन था।

उस साल हिन्दुस्तान मे असेम्बली और प्रान्तीय कौसिलो का हर तीसरे साल होनेवाला चुनाव था। मुझे उन चुनावो मे कोई दिलचस्पी नही थी, लेकिन वहाँ जो घमासान वाग्युद्ध हुआ उसकी कुछ आवाज़े स्वीजरलैण्ड मे भी पहुँच गई। स्वराज-पार्टी इन दिनो तक कौसिलो मे बाकायदा काग्रेस-पार्टी हो गई थी। इसकी मुख़ालिफत करने के लिए, मुझे मालूम हुआ कि, प० मदनमोहन मालवीय और लाला लाजपतराय ने एक नई पार्टी बनाई थी। इस पार्टी का नाम रक्खा गया था नैशनलिस्ट-पार्टी। मेरी समझ मे यह नही आया और अभीतक मै नही समझ सका कि नई पार्टी और पुरानी पार्टी मे किन बुनियादी उसूलो का फर्क था। सच बात तो यह है कि आजकल कौसिलो की ज्यादातर पार्टियो मे कोई कहने लायक फर्क नही है—उतना ही फर्क है जितना ईसरी और ईसरिया के नामो मे। कोई असली उसूल उन्हे एक-दूसरे से अलग नही करता था। स्वराज-पार्टी ने पहले-पहल कौसिलो मे एक नया और लडाकू रुख अख़्त्यार किया और दूसरो के मुकाबिले मे वह ज्यादा गरम नीति से काम लेने की पक्ष-पाती थी। लेकिन यह फर्क तो मात्रा का फर्क था, किस्म का नही।

नई नैशनलिस्ट-पार्टी अधिक माडरेट यानी नरम दृष्टि-कोण की प्रतिनिधि थी। वह निश्चित रूपसे स्वराज-पार्टी से ज्यादा सरकार की ओर झुकी हुई थी। इसके अलावा वह सोलहो आने हिन्दू-पार्टी भी थी, जो हिन्दू सभा के घनिष्ठ सहयोग के साथ काम करती थी। प० मालवीयजी का इस पार्टी का नेतृत्व करना तो आसानी से समझ मे आ सकता था, क्योकि वह उनके सार्वजनिक रुख को अधिक-से-अधिक प्रदर्शित करती थी। पुराने ताल्लुकात की वजह से वह कांग्रेस मे जरूर बने हुए थे, लेकिन उनका दिमागी दृष्टि-कोण लिबरलो या माडरेटो के दृष्टि-कोण

से ज्यादा भिन्न न था। कॉंग्रेस ने असहयोग और सीधी लडाई के जो नये ढग अख्त्यार किये थे, वे उन्हे पसन्द न थे। कॉंग्रेस की नीति को तय करने में भी उनका कोई खास हाथ न था। यद्यपि लोग उनकी बड़ी इज्जत करते थे और कांग्रेस मे हमेशा उनका स्वागत किया जाता था, लेकिन दरअसल वह नई कॉंग्रेस के नही थे। वह उसकी छोटी कार्य-कारिणी,—कार्य-समिति—के मेम्बर नही थे। और वह कॉंग्रेस के आदेशो पर भी अमल नही करते थे, खासकर उन आदेशों पर जो कौसिलो के बारे में दिये जाते थे। वह हिन्दू-सभा के सबसे ज्यादा लोकप्रिय नेता थे, और हिन्दू-मुसलमानों के मामलो में उनकी नीति कॉंग्रेस की नीति से जुदा थी। कॉंग्रेस के प्रति उनको वैसी भावुकता-पूर्ण आसक्ति थी, जैसी किसी एक सस्था से किसीका करीब-करीब शुरू से ही सम्बन्ध होने पर हो जाती है। कुछ हद तक इसलिए भी उन्हे कॉंग्रेस से प्रेम था, क्योंकि आजादी की लडाई की दिशा मे भी उनकी भावुकता उन्हे खीच ले जाती थी और वह यह देखते थे कि कॉंग्रेस ही एक ऐसी सस्था है जो उसके लिए कोई कारगर काम कर रही है। इन वजूहात से उनका दिल अक्सर कॉंग्रेस के साथ रहता था, खास तौर पर लड़ाई के वक्त मे; लेकिन उनका दिमाग दूसरे कैम्पो मे था। लाजिमी तौर पर इसका नतीजा यह हुआ कि खुद उनके भीतर लगातार एक अन्तर्द्वन्द्व होता रहता था। कभी-कभी वह एक-दूसरे के खिलाफ दिशाओं मे, पूर्व-पश्चिम दोनो तरफ, एकसाथ चलने की कोशिश करते थे। नतीजा यह होता था कि लोगो की बुद्धि गडबड़ी मे पड जाती थी। लेकिन राष्ट्रीयता ऐसी गोलमालो की खिचड़ियों से ही भरी हुई है और मालवीयजी केवल नेशनलिस्ट है, सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनो से उनका कोई वास्ता नही। वह पुराने कट्टर पथ के समर्थक थे और है। सामाजिक, आर्थिक और सॉंस्कृतिक दृष्टि से वह सनातन-धर्म के माननेवाले है। हिन्दुस्तानी राजे, ताल्लुकेदार तथा बडे-बड़े जमीदार ठीक ही उन्हे अपना हितचिन्तक मित्र समझते है। वह सिर्फ एक ही तबदीली चाहते है, पर उसे जरूर तहेदिल से चाहते हैं। वह है हिन्दुस्तान से विदेशी शासन का कतई हट जाना। उन्होने अपनी जवानी मे जो कुछ पढा और जो राजनैतिक तालीम पाई थी उसका अब भी उनके दिमाग पर बहुत असर है और वह लडाई के बाद की, बीसवी सदी की, सजीव और क्रान्तिकारी दुनिया को अर्ध-स्थिर उन्नीसवी सदी के चश्मे से, टी० एच० ग्रीन और जान स्टुअर्ट मिल और ग्लैडस्टन व मॉर्ले की निगाहों से तथा हिन्दू-सस्कृति और समाज-विज्ञान के तीन-चार वर्ष पुराने पृष्ठ-भाग से, देखते हैं। यह एक विचित्र मेल है, जिसमे परस्पर-विरोधी बाते भरी हुई है। लेकिन परस्पर-विरोधी बातो को हल करने की अपनी खुद की शक्ति में उनका विश्वास आश्चर्य-जनक है। उठती जवानी

से ही विविध क्षेत्रो मे उनके द्वारा भारी सार्वजनिक सेवाये होती आई है। काशी-हिन्दू-विश्व-विद्यालय जैसी विशाल सस्था कायम करने मे उन्होने कामयाबी हासिल की है। उनकी सचाई और उनकी लगन विलकुल साफ दिखाई देती है। उनकी भाषण-शक्ति बहुत ही बा-असर है। उनका स्वभाव मीठा है और उनका व्यक्तित्व दिल को अपनी तरफ कर लेनेवाला है। इन सब बातो से हिन्दुस्तान के लोगो को, खास तौर पर हिन्दुओ को, वह बहुत प्यारे है, और यद्यपि बहुत-से लोग राजनीति मे उनसे सहमत नही है, न उनके पीछे ही चलते है, लेकिन वह उनमे प्रेम तथा उनकी इज्जत जरूर करते है। अपनी अवस्था और बहुत लम्बी सार्वजनिक सेवा की वजह मे वह हिन्दुस्तान की राजनीति के नेस्टर या वृद्ध-वशिष्ठ है, लेकिन एसे जो समय से पीछे मालूम देते है और जो आजकल की दुनिया मे विलकुल अलग-से है। उनकी आवाज की तरफ लोगो का ध्यान अब भी जाता है, लेकिन वह जो भाषा बोलते है उसे अब बहुत-से लोग न तो समझते ही है न उसकी परवाह ही करते है।

इन बातो से मालवीयजी के लिए यह स्वाभाविक ही था कि वह स्वराज-पार्टी मे शामिल न होते। वह पार्टी राजनैतिक दृष्टि से उनके लिए बहुत ज्यादा आगे बढी हुई थी, और उसमे काग्रेस की नीति पर डटे रहने का कडा अनुशासन जरूरी था। वह चाहते थे कि कोई ऐसी पार्टी हो जो ज्यादातर उग्र न हो और जिसमे राजनैतिक और फिरकेवाराना दोनो मामलो मे मन-मुताबिक काम करने की ज्यादा छूट मिले। ये दोनो बाते उन्हे उस नई पार्टी मे मिल गई जिसके वह जन्मदाता और नेता थे।

लेकिन यह बात आसानी से समझ मे नही आती कि लाला लाजपत राय क्यो नई पार्टी मे शामिल हुए, यद्यपि उनका झुकाव भी कुछ-कुछ दाहिनी तरफ और ज्यादा फिरकेवाराना नीति की तरफ था। उस साल गर्मियो मे मै जिनेवा मे लालाजी से मिला था और मुझसे उनकी जो बाते वहाँ हुई उनसे तो यह नही मालूम पडता था कि वह काग्रेस-पार्टी के खिलाफ लडाकू रुख अख्त्यार करेगे। यह क्यो हुआ, इस बात का अभीतक मुझे कुछ पता नही। लेकिन चुनाव की लडाई के दौरान मे उन्होने कुछ स्पष्ट इलजाम लगाये, जिनसे यह पता चल जाता है कि उनके मन मे क्या-क्या चल रहा था। उन्होने काग्रेस के नेताओ पर इलजाम लगाया कि वे हिन्दुस्तान से बाहर के लोगो के साथ साजिश कर रहे है। उन्होने एक यह भी इलजाम लगाया कि काबुल मे काग्रेस की शाखा खोलकर इन्होने कुछ साजिश की है। मेरा खयाल है कि उन्होने अपने इन इलजामो की बाबत कोई खास बात कभी नही बताई। बार-बार प्रार्थना करने पर भी वह तफसील मे कोई सबूत न दे सके।

मुझे याद है कि जब मैने स्वीजरलैण्ड मे हिन्दुस्तानी अखबारो मे लालाजी के

इलजामों को पढ़ा तो मैं दग रह गया। काग्रेस के मत्री की हैसियत से मै काग्रेस की बावत सब बाते जानता था। काबुल की काग्रेस-कमिटी का काग्रेस से सम्बन्ध कराने मे मेरा अपना हाथ था। उसकी शुरुआत देशबन्धु दास ने की थी। यद्यपि मुझे उस वक्त यह नही मालूम था,- अब भी नही मालूम है, कि लालाजी के पास उन इलजामो की क्या तफसील थी, फिर भी मै उनके स्वरूप को देखकर यह कह सकता हूँ कि जहाँतक काग्रेस से ताल्लुक है इन इलजामो की कोई बुनियाद नही हो सकती। मै नही जानता कि इस मामले मे लालाजी कैसे गुमराह हो गये। मुमकिन है कि तरह-तरह की अफवाहो का उन्होने ऐतबार कर लिया हो, और मेरा खयाल है कि हालही मे मौलवी उबेदुल्ला के साथ उनकी जो बातचीत हुई थी उससे उनके ऊपर जरूर असर पड़ा होगा। हालाकि उस बातचीत मे मुझे कोई बात ऐसी गैर-मामूली नही मालूम होती थी, लेकिन चुनाव के वक्त मे गैरमामूली हालत पैदा हो जाती है। उनमे एक ऐसी अजीब बात होती है कि लोगो का मिजाज बिगड़ जाता है और वे मामूली पैमानो के मुताबिक काम नही करते। इन चुनावो को मै जितना ही ज्यादा देखता हूँ उतनी ही ज्यादा मेरी हैरत बढती जाती है, और मेरे मन मे उनके खिलाफ एक ऐसी अरुचि पैदा हो रही है जो लोकतत्री भाव के कतई खिलाफ है।

लेकिन, शिकायतो की बात जाने दीजिए, मुल्क के बढ़ते हुए फिरकेवाराना मिजाज को देखकर, नैशनलिस्ट-पार्टी का या ऐसी ही किसी और पार्टी का खडा होना लाजिमी था। एक तरफ मुसलमानो के दिलो मे हिन्दुओ की ज्यादा तादाद का डर था, दूसरी तरफ हिन्दुओ के दिलो मे इस बात पर बहुत नाराजगी थी कि मुसलमान उन-पर धौस जमाते है। बहुत-से हिन्दू यह महसूस करते थे कि मुसलमानो का रुख बहुत-कुछ 'जो-कुछ पास पल्ले है उसे रख दे नही तो ठीक कर दूँगा' जैसा है और वे दूसरी तरफ सरकार की तरफ मिलने की धमकी देकर जबरदस्ती खास रिआयते ले लेने की भी बहुत ज्यादा कोशिश करते थे। इसी वजह से हिन्दू-महासभा को कुछ अहमियत मिल गई, क्योकि वह हिन्दू राष्ट्रीयता की प्रतिनिधि थी। अब हिन्दुओ की हिन्दू-साम्प्रदायिकता मुसलमानो की साम्प्रदायिकता के मुकाबले पर आ डटी थी। महासभा की लड़ाकू हरकतो का यह नतीजा हुआ कि मुसलमानो की यह साम्प्रदायिकता और भी जोर पकड़ गई। इसी तरह घात-प्रतिघात होता रहा और इस प्रक्रिया मे मुल्क का फिरकेवाराना पारा बहुत चढ गया। खास तौर पर यह सवाल देश के अल्पसख्यक दल और बहुसख्यक दल के झगडे का सवाल था। लेकिन अजीब बात तो यह थी कि मुल्क के कुछ हिस्सो मे बात बिलकुल उलटी थी। पजाब और सिन्ध मे हिन्दू और सिक्ख दोनो की तादाद मिलकर भी मुसलमानो से कम थी। और इन सूबो के अल्प-

सख्यक हिन्दू और सिक्खो को भी वैर-भाव रखनेवाली बहुसंख्या से कुचले जाने का उतना ही डर था जितना मुसलमानो को हिन्दुस्तान के दूसरे सूबो में। या अगर बिलकुल ठीक-ठीक बात कही जाय तो यो कहिए कि दोनो दलो के मध्यश्रेणी वाले नौकरी की फिराक मे लगे हुए लोगो को यह डर था कि कही ऐसा न हो जाय कि नौकरियाँ मिलने ही न पावे, और कुछ हद तक स्थापित स्वार्थ रखनेवाले जमींदारो और साहूकारो वगैरा को यह डर था कि कही ऐसे आमूल परिवर्तन न कर दिये जायँ जिसमे हमारे स्वार्थो का सत्यानाश हो जाय।

साम्प्रदायिकता की इस बढ़ती से स्वराज-पार्टी को बहुत नुकसान पहुँचा। उसके कुछ मुसलमान मेम्बर उसे छोडकर चले गये और मुसलमानो की फिरके-वाराना जमातो मे जा मिले, और उसके कुछ हिन्दू मेम्बर खिसककर नैशनलिस्ट-पार्टी मे जा मिले। जहाँतक हिन्दू लीडरो से ताल्लुक था, मालवीयजी और लाला लाजपतराय का मेल बहुत ताकतवर मुकाबिला था और साम्प्रदायिकता के तूफान के केन्द्र पजाब मे उनका बहुत असर था। स्वराज-पार्टी या काग्रेस की तरफ चुनाव लडने का खास बोझ मेरे पिताजी के ऊपर पडा। उस बोझ को उनसे बँटाने के लिए देशबधु दास भी अब नही रहे थे। उन्हे लडाई में मज़ा आता था। किसी भी हालत मे वह लडाई से जी नही चुराते थे, और मुखालिफ की ताकत को बढ़ते हुए देखकर उन्होने चुनाव की लडाई मे अपनी तमाम ताकत लगा दी। उन्होने गहरी चोटे खाई और दी। दोनो पार्टियो मे से किसीने भी किसीका कुछ लिहाज़ नही किया। शिष्टता भी छोड दी। इस चुनाव के पीछे भी उसकी याद बडी कड़वी बनी रही।

नैशनलिस्ट पार्टी को बहुत काफी मात्रा मे कामयाबी मिली। लेकिन इस काम-याबी ने निश्चित रूप से असेम्बली के राजनैतिक लहजे को नीचा कर दिया। आकर्षण-केन्द्र और भी ज्यादा दाहिनी ओर चला गया। स्वराज-पार्टी खुद काग्रेस का दाहिना पक्ष था। अपनी ताकत बढाने के लिए उसने बहुत-से सदिग्ध लोगो को पार्टी मे घुस आने दिया। इस वजह से उसकी श्रेष्ठता मे कमी हो गई। नैशनलिस्ट-पार्टी ने और भी नीचे जाकर उसी नीति से काम लिया। खिताबधारी लोगो, बडे जमींदारो, मिल-मालिको तथा दूसरे लोगो का एक अजीब भानमती का पिटारा उसमे आ इकट्ठा हुआ। इन लोगो का भला राजनीति से क्या ताल्लुक? उस साल १९२६ के अखीर मे हिन्दु-स्तान में एक भारी दु खद घटना से अन्धेरा-सा छा गया। इस घटना से हिन्दुस्तान भर घृणा व रोष से काँप उठा। उससे पता चलता था कि फिरकेवाराना जोश हमारे लोगो को कितना नीचे गिरा सकता था। स्वामी श्रद्धानन्द को, जबकि वह बीमारी से चार पाई पर पडे हुए थे, एक मजहब के अन्धे ने क़त्ल कर दिया। जिस पुरुष ने गोरखो

की सगीनो के सामने अपनी छाती खोल दी थी और उनकी गोलियो का सामना किया था उसकी ऐसी मौत ! करीब-करीब आठ बरस पहले इसी आर्य-समाजी नेता ने दिल्ली की विशाल जामा मसजिद की वेदी पर खडे होकर हिन्दुओ और मुसलमानो की एक बहुत बडी जमात को एके का और हिन्दुस्तान की आजादी का उपदेश दिया था। उस विशाल भीड ने 'हिन्दू-मुसलमानो की जय' के शोर से उनका स्वागत किया था और मसजिद से बाहर गलियो मे उन्होने उस ध्वनि को अपने खून की एक शामिल मुहर लगादी थी। और अब अपने ही देश-भाई द्वारा मारे जाकर उनके प्राण-पखेरू उड़ गये ! हत्यारा यह समझता था कि वह एक ऐसा अच्छा काम कर रहा है जो उसे बहिश्त को ले जायगा।

विशुद्ध शारीरिक साहस का, किसी भी अच्छे काम मे शारीरिक तकलीफ सहने और मौत तक की परवाह न करनेवाली हिम्मत का, मै हमेशा से प्रसशक रहा हूँ। मेरा खयाल है कि हममे से ज्यादातर लोग उस तरह की हिम्मत की तारीफ करते है। स्वामी श्रद्धानन्द मे इस निडरता की मात्रा आश्चर्यजनक थी। लम्बा कद, शाही शक्ल, सन्यासी के वेश मे बहुत उमर हो जाने पर भी बिलकुल सीधी चमकती हुई आँखे और चेहरे पर कभी-कभी दूसरो की कमजोरियो पर आनेवाली चिडचिडाहट या गुस्से की छाया का गुजरना, मै इस सजीव तस्वीर को कैसे भूल सकता हूँ ? अक्सर वह मेरी आँखो के सामने आ जाती है।

२३

ब्रसेल्स में पीड़ितों की सभा

१९२६ के अखीर मे मैं इत्तिफाक से वर्लिन मे था और वही मुझे यह मालूम हुआ कि हाल ही मे ब्रसेल्स शहर मे पददलित कौमो की एक कान्फ्रेंस होनेवाली है। यह खयाल मुझे बहुत पसन्द आया और मैंने घर यानी हिन्दुस्तान को लिखा कि कांग्रेस को ब्रसेल्स-कांग्रेस में अधिकारी-रूप से हिस्सा लेना चाहिए। कांग्रेस ने मेरी यह बात पसन्द की और मुझे ब्रसेल्स-कान्फ्रेंस के लिए हिन्दुस्तान की राष्ट्रीय महासभा का प्रतिनिधि बना दिया गया।

ब्रसेल्स की यह काँग्रेस १९२७ की फरवरी के शुरू मे हुई। मुझे पता नही कि यह खयाल पहलेपहल किसको सूझा ? उन दिनो बर्लिन एक ऐसा केन्द्र था जो देशनिकाले हुए राजनैतिक लोगो और दूसरे मुल्को के उग्र विचार के लोगो को अपनी तरफ खीचता था। इस मामले मे बर्लिन धीरे-धीरे पेरिस के बराबर पहुँच रहा था। वहाँ कम्यूनिस्ट-दल भी काफी मजबूत था। पददलित कौमो मे आपस मे तथा इन कौमो मे और मजदूर उग्र-दलो मे एक-दूसरे के साथ मिलकर सयुक्त रूप से कुछ काम करने का खयाल उन दिनो लोगो मे फैला हुआ था। लोग अधिकाधिक यह महसूस करते जाते थे कि साम्राज्य-वाद नाम की चीज़ के खिलाफ आजादी की लड़ाई सबके लिए एक-सी है, इसलिए यह मुनासिब मालूम होता है कि इस लडाई की बाबत मिलकर गौर किया जाय और जहाँ हो सके वहाँ मिलकर कम करने की कोशिश भी की जाय। इग्लैण्ड, फ्रान्स, इटली वगैरा जिन राष्ट्रो के पास उपनिवेश थे वे कुदरतन इस बात के खिलाफ थे कि ऐसी कोई कोशिश की जाय। लेकिन लडाई के बाद जर्मनी के पास तो उपनिवेश रहे नही थे, इसलिए जर्मनी की सरकार दूसरी ताकतो के उपनिवेशो और आधीन देशो मे आन्दोलन की इस बढती को एक हितैषी की तटस्थता से देखती थी। यह उन कारणो में से एक था जिसने बर्लिन को एक केन्द्र बना दिया था। उन लोगो मे सबसे ज्यादा मशहूर व क्रियाशील वे चीनी थे जो वहाँ की क्यूमिनटेंग-पार्टी के बाये दल (गरमदल) के थे। यह पार्टी उन दिनो चीन मे तूफान की तरह जीतती जा रही थी और उसकी बेरोक गति के आगे पुराने ज़माने की ज़मीदारियाँ वगैरा जमीन मे लुढकती नजर आ रही थी। चीन के इस नये चमत्कार के सामने साम्राज्यवादी ताकतो ने भी अपनी तानाशाही आदतो को और धौस-डपट को छोड दिया था। ऐसा मालूम पडता था कि अब चीन के एके और उसकी आज़ादी के मसले के हल हो जाने मे ज्यादा देर नही

लगेगी। क्यूमिनटेग खुशी से फूलकर कुप्पा हो गई थी। लेकिन उसके सामने जो मुश्किलें आने को थी उन्हे भी वह जानती थी। इसलिए वह अन्तर्राष्ट्रीय प्रचार द्वारा अपनी ताकत बढाना चाहती थी। गालिबन इस पार्टी के बाये दल के लोगो ने ही, जो दूसरे मुल्को के कम्यूनिस्टो या कम्यूनिस्टो से मिलते-जुलते लोगो से मिलकर काम करते थे, इस तरह के प्रचार पर जोर दिया था, जिससे वे दूसरे मुल्को मे चीन की राष्ट्रीय परिस्थिति को और घर पर पार्टी मे अपनी स्थिति को मजबूत कर सके। उस वक्त पार्टी ऐसे दो या तीन परस्पर प्रतिस्पर्धी और कट्टर शत्रु-दलो मे नही बँट गई थी। उस वक्त वह बाहर से देखने वाले सब लोगो को सयुक्त सामना करती हुई मालूम होती थी।

इसलिए क्यूमिनटेग के यूरोपियन प्रतिनिधियो ने पद-दलित कौमो की कान्फ्रेस करने के खयाल का स्वागत किया, शायद उन्होने ही कुछ और लोगो से मिलकर इस खयाल को पहले-पहल जन्म दिया। कुछ कम्युनिस्ट और कम्यूनिस्टो से मिलते-जुलते लोग भी शुरू से इस खयाल के समर्थक थे, लेकिन कुल मिलाकर कम्यूनिस्ट लोग कान्फ्रेस के मामले मे अलग, पीछे ही, रहे। लेटिन अमेरिका से भी क्रियात्मक मदद और सहायता आई, क्योकि उन दिनो वह संयुक्तराज्य के आर्थिक साम्राज्यवाद के मारे कुडमुडा रहा था। मैक्सिको की नीति उग्र थी। उसका सभापति भी उग्र दल का था। वह इस बात के लिए उत्सुक था कि सयुक्तराज्य के खिलाफ लैटिन अमेरिका के गुट्ट की रहनुमाई करे। इसलिए मैक्सिको ने ब्रसेल्स काग्रेस मे बडी दिलचस्पी ली। वहाँ की सरकार एक सरकार की हैसियत से तो कॉंग्रेस में हिस्सा नही ले सकती थी, लेकिन उसने अपने एक प्रमुख राजनीतिज्ञ को भेजा कि वहाँ वह एक हितैषी दर्शक की हैसियत से मौजूद रहे।

ब्रसेल्स मे जावा, इण्डो चाइना, फिलस्तीन, सीरिया, मिश्र, उत्तरी अफरीका के अरब और अफरीका के हब्शी लोगो की कौमी सस्थाओ के प्रतिनिधि भी मौजूद थे। इनके अलावा बहुत-से मजदूरो के उग्रदलो ने भी अपने प्रतिनिधि भेजे थे। बहुत-से ऐसे लोग भी जिन्होने एक युग से मजदूरो की लड़ाइयो में खास हिस्सा लिया था, वहाँ मौदूद थे। कम्यूनिस्ट भी वहा थे। उन्होने कॉंग्रेस की कारवाई में काफी हिस्सा लिया, लेकिन वे वहा कम्यूनिस्टो की हैसियत से न आकर कई मजदूर-सघ या वैसी ही सस्थाओ के प्रतिनिधि होकर आये थे।

जार्ज लेन्सबरी उस कॉंग्रेस के सभापति चुने गये और उन्होने बहुत ही जोरदार भाषण दिया। यह बात इस बात का सबूत थी कि कॉग्रेस कोई ऐसी-वैसी सभा न थी और न उसने अपना भाग्य ही कम्यूनिस्टो के साथ जोड दिया था। लेकिन इस बात मे

कोई शक नही कि वहा एकत्र लोग कम्यूनिस्टो के प्रति मित्र-भाव रखते थे और यद्यपि उनमे और कम्यूनिस्टो मे कई वातो मे समझौता भले ही न हो सकता हो फिर भी काम करने के लिए कई वाते ऐसी भी थी जिनमे मिलकर काम किया जा सकता था ।

वहाँ जो स्थायी सस्था साम्राज्यवाद-विरोधी लीग कायम की गई उसका भी सभापतित्व लेन्सवरी साहव ने स्वीकार कर लिया, लेकिन फौरन ही उन्हे अपनी इस जल्दवाजी पर पछताना पड़ा, या शायद ब्रिटिश मजदूर-दल के उनके साथियो ने उनकी इस वात को पसन्द नही किया । उन दिनो यह मजदूर-दल 'सम्राट का विरोधी दल' था और जल्दी ही वढकर 'सम्राट-सरकार' वनने को था । अव भला मन्त्रि-मण्डल के भावी सदस्य खतरनाक और क्रान्तिकारी राजनीति मे कैसे पैर फँसा सकते थे ? मिस्टर लेन्सबरी ने पहले तो काम मे वहुत मशगूल रहने का वहाना करके लीग की सदारत से इस्तीफा दे दिया, बाद को उन्होने उसकी मेम्वरी भी छोड़ दी । मुझे इस वात से बहुत अफसोस हुआ कि जिस शख्स के व्याख्यान की दो-तीन महीने पहले मैंने इतनी तारीफ की थी उसमे यकायक ऐसी तब्दीली हो गई ।

कुछ भी हो, काफी प्रतिष्ठित व्यक्ति साम्राज्य-विरोधी लीग के सरक्षक है । उनमे एक तो आइन्स्टीन साहव है और दूसरी श्रीमती सनयातसेन, और मेरा खयाल है कि रोमा रोलाँ भी । कई महीने वाद आइन्स्टीन ने इस्तीफा दे दिया, क्योकि फिलस्तीन मे अरवो और यहूदियो के जो झगड़े हो रहे थे उनमे लीग ने अरवो का पक्ष लिया था और यह बात उन्हे नापसन्द थी ।

ब्रसेल्स-कॉग्रेस के बाद लीग की कमिटियो की कई मीटिंगे वक्तन-फवक्तन भिन्न-भिन्न जगहो मे हुई । इन सबसे मुझे अधीनस्थ और औपनिवेशिक प्रदेशो की कुछ समस्याओ को समझने मे बड़ी मदद मिली । उनकी वजह से पश्चिमी ससार मे मजदूरो के जो भीतरी सघर्ष चल रहे है उनकी तह तक पहुँचने में भी मुझे आसानी हुई । उनकी बावत मैंने बहुत-कुछ पढा था, और कुछ तो मै पहले से ही जानता था, लेकिन मेरे उस ज्ञान के पीछे कोई असलियत नही थी, क्योकि उनसे मेरा कोई जाती ताल्लुक नही पडा था । लेकिन अब मै उनके सम्पर्क मे आया और कभी-कभी मुझे उन मसलो का भी सामना करना पड़ा जो इन भीतरी सघर्षो मे प्रकट होते है । दूसरी इटरनेशनल और तीसरी इटरनेशनल नाम की मजदूरो की जो दो दुनिया है उनमे मेरी हमदर्दी तीसरी के साथ थी । लडाई से लेकर अबतक दूसरी इटरनेशनल ने जो कुछ किया उससे मुझे अरुचि हो गई और हमको तो हिन्दुस्तान मे इस इंटरनेशनल के सबसे जबर्दस्त हिमायती ब्रिटिश मजदूर दल के तरीको का जाती तजुर्बा हो चुका

था। इसलिए लाजिमी तौर पर कम्यूनिज्म की बाबत मेरा ख़याल अच्छा हो गया, क्योंकि उसमे कितने भी ऐब क्यो न हों, कम्यूनिस्ट कम-से-कम साम्राज्यवादी और पाखण्डी तो न थे। कम्यूनिज्म से मेरा यह सम्बन्ध उसके सिद्धान्तो की वजह से नही था, क्योंकि मैं कम्यूनिज्म की कई सूक्ष्म बातो की बाबत ज्यादा नही जानता था। उस वक्त उससे मेरी जान-पहचान सिर्फ उसकी मोटी-मोटी बातो तक ही महदूद थी। ये बाते और वे भारी-भारी परिवर्तन जो रूस मे हो रहे थे मुझे आकर्षित कर रहे थे। लेकिन अक्सर कम्यूनिस्टो से मैं उनके डिक्टेटराना ढग तथा उनके नये लडाकू और कुछ हदतक गँवारू तरीके से और जो लोग उनसे सहमत न हो उन सबकी बुराई करने की उनकी आदतो की वजह से चिढ जाता था। उनके कहने के मुताबिक तो मेरा यह मनोभाव मेरी बुर्जुआओ की-सी, अमीराना, तालीम और लालन-पालन की वजह से था।

एक अजीब बात यह भी थी कि साम्राज्य-विरोधी लीग की कमिटियों की बैठको में बहस के छोटे-छोटे मामलो मे मैं मामूली तौर पर एंग्लो-अमेरिकन मेम्बरो की तरफ रहता था। किस तरीके से काम किया जाय, कम-से-कम इस मामले मे तो हम लोगो के दृष्टि-कोण एक-से ही थे। मैं और वे लोग ऐसी सब तजवीजो के खिलाफ थे जो लम्बी-चौडी और आलकारिक हो और जो घोषणापत्रो जैसी मालूम पडती हो। हम लोग तो छोटी-सी और सीधी-सादी-सी चीज चाहते थे। लेकिन यूरोपीय महाद्वीप के देशो की परम्परा इसके खिलाफ थी। अक्सर कम्यूनिस्टो मे और गैर-कम्यूनिस्टो में भी मत-भेद हो जाया करता था। मामूली तौर पर हम लोग समझौते पर राजी हो जाते थे। इसके बाद हममें से कुछ लोग अपने-अपने घर लौट आये और उसके बाद होनेवाली कमिटियो की मीटिंगो मे शामिल नही हो सके।

साम्राज्यवादी शक्तियो के वैदेशिक और औपनिवेशिक दफ्तर ब्रसेल्स-कांग्रेस से कुछ खौफ खाते थे। ब्रिटिश वैदेशिक विभाग के नामी लेखक 'अगुर' ने अपनी एक किताब मे इस कान्फ्रेन्स का कुछ सनसनीदार और कही-कही हास्यास्पद हाल दिया है। गालिबन खुद कांग्रेस मे खुफियाओ की भरमार थी। बहुतसे प्रतिनिधि भी कई खुफियादलो के प्रतिनिधि थे। इसकी हमे एक मज़ेदार मिसाल मिली। मेरे एक अमेरिकन दोस्त उन दिनो पेरिस मे रहते थे। उनसे एक दिन फ्रास की खुफिया पुलिस के एक साहब मिलने के लिए आये। वह महज कुछ मामलो की बाबत दोस्ताना तरीके से कुछ बाते पूछना चाहते थे। जब वह साहब अपनी बाते पूछ चुके तब उन अमेरिकन सज्जन से बोले—आपने मुझे पहचाना या नही, मैं तो आपसे पहले भी मिल चुका हूँ। अमेरिकन ने उन्हे बड़े गौर से देखा; लेकिन उन्हे यह मजूर

करना पड़ा कि मुझे याद नहीं आता कि मैंने आपको कब और कहाँ देखा। तब खुफिया पुलिस के उन साहब ने उन्हें बताया, कि मैं आपसे ब्रसेल्स-कॉंग्रेस मे नीग्रो प्रतिनिधि की हैसियत से मिला था, उस वक़्त मैंने अपना चेहरा और अपने हाथ वगैरा सब बिलकुल काले कर लिये थे।

साम्राज्य-विरोधी-सघ की एक बैठक कोलोन मे हुई और मै भी उसमे शामिल हुआ। जब कमिटी की बैठक खत्म हो गई तब हमसे यह कहा गया कि चलो, नजदीक ही डुसेल्डॉर्फ मे सेक्को-वेन्जेटी के सिलसिले मे जो जलसा हो रहा है उसमे चले। जब हम उस सभा से वापस आ रहे थे तब हमसे कहा गया कि पुलिस को अपने-अपने पासपोर्ट दिखाइए। हममे से ज्यादातर लोगो के पास अपना-अपना पासपोर्ट था, लेकिन मै अपना पासपोर्ट कोलोन के होटल मे छोड़ गया था। क्योकि हम लोग डुसेल्डॉर्फ तो सिर्फ कुछ घण्टो के लिए ही आये थे। इसपर मुझे पुलिस-थाने मे ले जाया गया। मेरी खुशकिस्मती से इस मुसीबत मे मुझे दो साथी भी मिल गये। वे थे एक अंग्रेज और उनकी बीवी। ये दोनो भी अपने पासपोर्ट कोलोन मे छोड़ आये थे। हमे वहाँ कोई एक घण्टा ठहरना पड़ा होगा, इस बीच मे शायद फोन से सब बाते दर्यापत कर ली गई। इसके बाद पुलिसवालो ने बड़ी महरबानी करके हमे जाने की इजाजत दी।

पिछले सालो मे यह साम्राज्य-विरोधी-लीग कम्यूनिज्म की तरफ ज्यादा झुक गई। लेकिन जहाँतक मुझे मालूम है, उसने किसी भी वक्त अपनी अलग हस्ती को नही खोया। मै तो उसके साथ अपना सम्पर्क दूर से पत्रो द्वारा ही रख सकता था। १९३१ मे कॉंग्रेस और सरकार के बीच दिल्ली मे जो समझौता हुआ और उसमे मैंने जो हिस्सा लिया उसकी वजह से यह लीग बहुत ज्यादा नाराज हो गई और उसने मुझे बिलकुल निकाल बाहर किया, या ठीक-ठीक यो कहिए कि उसने मुझे निकालने के लिए एक प्रस्ताव भी पास किया। मै यह मजूर करता हूँ कि मैंने उसे नाराजी का काफी मसाला दिया था, लेकिन फिर भी वह मुझे स्थिति साफ करने का कुछ मौका दे सकती थी।

१९२७ की गर्मियो मे मेरे पिताजी योरप आये। मै उनसे वेनिस मे मिला और उसके बाद के कुछ महीनो तक अक्सर हम लोग साथ-साथ रहे। हम सब लोगो ने—मेरे पिताजी, पत्नी, छोटी बहन और मैंने—नवम्बर मैं थोडे दिनो के लिए मास्को की यात्रा की। उन दिनो सोवियट सरकार की दसवी सालगिरह मनाई जा रही थी। हम लोग मास्को मे बहुत ही थोडे दिनो के लिए, सिर्फ तीन-चार दिन के ही लिए, गये थे, क्योकि हमने यकायक वहाँ जाना तय किया था। लेकिन हमे इस बात की

खुशी है कि हम वहाँ गये; क्योंकि उसकी इतनी झाँकी भी काफी थी। इतनी जल्दी में किया गया वह दौरा हमे नये रूस की बाबत न तो ज्यादा सिखा ही सकता था न उसने सिखाया ही, लेकिन उसने हमे अपने अध्ययन के लिए एक बुनियाद दे दी। पिताजी के लिए ये सब सोवियट और समष्टिवादी विचार बिलकुल नये थे। उनकी तमाम तालीम कानूनी और विधान-सम्बन्धी थी और वे उस ढाचे मे से आसानी से नही निकल सकते थे। लेकिन मास्को मे उन्होने जो कुछ देखा उसका उनके ऊपर निश्चित रूप से असर पड़ा था।

जब पहले-पहल साइमन-कमीशन की बाबत ऐलान हुआ तब हम लोग मास्को में ही थे। हमने उसकी बाबत पहले-पहल मास्को के एक अखबार में पढ़ा। इसके कुछ दिनो बाद पिताजी लन्दन मे—प्रिवी-कौंसिल मे—हिन्दुस्तान के एक मामले की अपील मे सर जान साइमन के साथ-साथ वकील थे। यह एक पुरानी जमीदारी का मुक़दमा था जिसमे शुरू-शुरू मे बहुत साल पहले मैने भी पैरवी की थी। उस मुकदमे मे मुझे कुछ दिलचस्पी नही थी। लेकिन एक मर्तबा मै सर जान साइमन के कहने पर पिताजी के साथ-साथ कुछ सलाह-मशवरे में शामिल होने के लिए साइमन साहब के चेम्बर मे गया था।

१९२७ का साल भी खत्म हो रहा था, और योरप में हम बहुत ज्यादा ठहर चुके थे। अगर पिताजी योरप न आते तो शायद हम पहले ही घर लौट गये होते। हमारा एक इरादा यह भी था कि घर लौटते वक्त कुछ समय दक्षिण-पूर्वी योरप, टर्की और मिश्र मे भी बितावे। लेकिन उस वक्त उसके लिए समय नही रहा था और मै इस बात के लिए उत्सुक था कि कॉग्रेस का जो अगला जलसा मदरास मे बड़े दिन की छुट्टियो मे होने को था उसमे शामिल हो सकूँ। इसलिए मै, मेरी पत्नी, मेरी बहन व मेरी पुत्री दिसम्बर के शुरू मे मारसेलीज से कोलम्बो के लिए रवाना हो गये। पिताजी तीन महीने और योरप मे ही रहे।

२४

हिन्दुस्तान में वापसी और फिर राजनीति में

योरप से मैं बहुत अच्छी शारीरिक और मानसिक हालत लेकर लौट रहा था। मेरी पत्नी अभी पूरी तरह चगी तो नही हुई थीं, लेकिन वह पहले से बहुत बेहतर थी। इसलिए मुझे उनकी तरफ से किसी किस्म की फिक्र नही रही थी। मैं ऐसा महसूस करता था कि मुझमे शक्ति और जीवन लबालब भरा हुआ है, और इससे पेश्तर भीतरी द्वन्द्व और मनसूबो के बिगड जाने का जो खयाल मुझे अक्सर परेशान करता रहता था, वह इस वक्त न रहा था। मेरा दृष्टि-बिन्दु व्यापक हो गया था और बजात खुद राष्ट्रीयता का मकसद मुझे निश्चित रूप से तग और नाकाफी मालूम होता था। इसमे कोई शक नही कि राजनैतिक स्वतन्त्रता, आजादी, लाजिमी थी, लेकिन वह तो सही दिशा मे कदमभर है। जबतक सामाजिक आजादी न होगी और समाज का तथा राज का बनाव समाजवादी न होगा तबतक न तो मुल्क ही ज्यादा तरक्की कर सकता है, न उसमे रहनेवाले लोग ही। मै यह महसूस करने लगा कि मुझे दुनिया के मामलात ज्यादा साफ दिखाई दे रहे है। आजकल की दुनिया को जोकि हर वक्त बदलती रहती है, मैंने अच्छी तरह समझ लिया है। चालू मामलो और राजनीति के बारे मे ही नही, लेकिन सास्कृतिक और वैज्ञानिक तथा और भी ऐसे विषयो पर जिनमे मेरी दिलचस्पी थी, मैंने खूब पढा। योरप और अमेरिका में जो बडे-बड़े राजनैतिक, आर्थिक और सास्कृतिक परिवर्त्तन हो रहे थे, उनके अध्ययन मे मुझे बडा लुत्फ आता था। यद्यपि सोवियट रूस के कई पहलू अच्छे नही मालूम होते थे, फिर भी वह मुझे जोरो से अपनी ओर खीचता था और ऐसा मालूम होता था कि वह दुनिया को आशा का सन्देश दे रहा है। १९२५ के आसपास योरप एक तरीके से एक जगह जमकर बैठने की कोशिश कर रहा था। महान् आर्थिक सकट तो उसके बाद ही आने को था। लेकिन मैं वहाँ से यह विश्वास लेकर लौटा कि जमकर बैठने की यह कोशिश तो ऊपरी है और निकट-भविष्य मे योरप मे और दुनिया मे भारी उथल-पुथल होने वाली है, तथा बड़े-बड़े विस्फोट होनेवाले है।

मुझे फौरन ही सबसे पहले करने का काम यह दिखाई देता था कि हम देश को दुनिया मे होनेवाली इन घटनाओ के लिए शिक्षित व उद्यत करे, उसे उनके लिए जहाँतक हमसे हो सके वहाँतक तैयार रक्खे। यह तैयारी ज्यादातर खयालो की तैयारी थी, जिसमे सबसे पहली बात तो यह थी कि हमारी राजनैतिक आजादी के

मकसद के बारे मे किसीको कुछ शक नही होना चाहिए। यह बात सबको साफ-साफ समझ लेनी चाहिए कि हमारे लिए सम्भवनीय एकमात्र राजनैतिक ध्येय यही हो सकता है और यह औपनिवेशिक-पद के बारे में जो अस्पष्ट और गोलमोल बाते की जाती है उससे बिलकुल जुदा है। इसके अलावा सामाजिक ध्येय भी था। मैंने महसूस किया कि कांग्रेस से यह उम्मीद करना कि अभी इस तरफ वह ज्यादा दूर जा-सकेगी बहुत ज्यादा होगा। कांग्रेस तो महज एक राजनैतिक राष्ट्रीय सस्था है जिसे दूसरे तरीको पर सोचने का अभ्यास न था। लेकिन फिर भी, इस दिशा मे भी शुरु-आत की जा सकती है। कांग्रेस से बाहर मजदूर-मडलो मे और नौजवानो मे ये खयालात कॉंग्रेस से ज्यादा दूर तक फैलाये जा सकते थे। इसके लिए मै अपनेको कांग्रेस के दफ्तर के काम से अलग रखना चाहता था। इसके अलावा मेरे मन मे कुछ-कुछ यह खयाल भी था कि मै कुछ महीने सुदूर भीतर के गॉवो मे रहकर उनकी हालत का अध्ययन करने मे बिताऊँ। लेकिन होनहार ऐसा न था और घटनाओ ने तय कर लिया था कि वे मुझे कॉंग्रेस की राजनीति मे घसीट लेगी।

हम लोगो के मदरास मे पहुँचने के बाद फौरन ही मै कॉंग्रेस के भँवर मे फँस गया। कार्य-समिति के सामने मैंने कई प्रस्ताव पेश किये। आजादी के बारे मे, लडाई के खतरे के बारे में, साम्राज्य-विरोधी-सघ के बारे मे और ऐसे ही कुछ और प्रस्ताव पेश किये। करीब करीब ये सब प्रस्ताव मजूर हुए और वे कार्य-समिति के सरकारी प्रस्ताव बना लिये गये। कॉंग्रेस के खुले अधिवेशन मे भी वे प्रस्ताव मुझे ही पेश करने पड़े और मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वे सब-के-सब करीब-करीब एक राय से पास हो गये। आजादी के प्रस्ताव का तो मिसेज एनी बेसेण्ट तक ने समर्थन किया। इस चारो ओर के समर्थन से मुझे बडी खुशी हुई, लेकिन मेरे दिल मे यह खयाल बेचैनी पैदा करता था कि या तो लोगो ने उन प्रस्तावो को समझा ही नही है कि वे क्या है या उन्होने उनके मानी तोड़-मरोडकर बिलकुल दूसरे लगा लिये है। कॉंग्रेस के बाद फौरन ही आजादी के प्रस्ताव के बारे मे जो बहस उठ खडी हुई उससे यह जाहिर हो गया कि असल मे यही बात थी।

मेरे ये प्रस्ताव कॉंग्रेस के हस्बमालूम प्रस्तावो से कुछ भिन्न थे। वे एक नये दृष्टिकोण को व्यक्त करते थे। इसमे शक नही कि बहुत-से कॉंग्रेसी उन्हे पसन्द करते थे, कुछ लोग कुछ हद तक उन्हे नापसन्द करते थे लेकिन इतना नापसन्द नही करते थे कि उनकी मुखालिफत करे। गालिबन ये पिछले लोग यह समझते थे कि प्रस्ताव महज तात्विक है, उनके पास होने न होने से कोई खास फर्क नही पडता, और उनसे पिण्ड छुडाने का सबसे अच्छा तरीका यही है कि उनको पास कर दिया जाय और और

ज्यादा महत्वपूर्ण काम की तरफ ध्यान दिया जाय। इस तरह उन दिनों आजादी का प्रस्ताव काग्रेस मे उठनेवाली एक सजीव और अदम्य प्रेरणा को व्यक्त नही करता था जैसा कि उसने एक या दो साल बाद किया। उस वक्त तो वह एक बहु-व्यापी और बढते जानेवाले भाव को ही व्यक्त करता था।

गाधीजी मदरास मे ही थे। वह काग्रेस के खुले अधिवेशन में आते थे, लेकिन उन्होंने काग्रेस के नीति-निर्माण मे कोई हिस्सा नही लिया। वह जिस कार्य-समिति के मेम्बर थे उसकी बैठको तक मे भी शामिल न हुए। जबसे काग्रेस में स्वराज-पार्टी का जोर हुआ तबसे काग्रेस के प्रति उनका अपना राजनैतिक रुख यही रहता था। लेकिन हाँ, उनसे समय-समय पर सलाह ली जाती थी और कोई भी महत्वपूर्ण बात उनको बताये बिना नही की जाती थी। मुझे नही मालूम कि मैंने काग्रेस मे जो प्रस्ताव पेश किये उन्हे वह कहाँ तक पसन्द करते थे। मेरा झुकाव तो इस खयाल की तरफ है कि वह उन्हे नापसन्द करते थे—उन प्रस्तावो मे जो कुछ कहा गया था उसकी वजह से उतना नही जितना उनकी आम प्रवृत्ति और दृष्टिकोण की वजह से। लेकिन उन्होंने किसी भी अवसर पर उनकी नुक्ताचीनी नही की। मेरे पिताजी तो उन दिनो योरप ही थे।

आज़ादी के प्रस्ताव की अवास्तविकता तो काग्रेस की उसी बैठक मे उसी वक्त जाहिर हो गई थी जबकि साइमन-कमीशन की निन्दा और उसके बायकाट के लिए अपील करने सम्बन्धी दूसरे प्रस्ताव पर विचार हुआ। इस प्रस्ताव के फलस्वरूप यह तजवीज की गई कि सब दलो की एक कान्फ्रेन्स बुलाई जाय, जो हिन्दुस्तान के लिए एक शासन-विधान बनावे। यह जाहिर था कि जिन माडरेट दलो का सहयोग लेने की कोशिश की गई थी, वे आजादी के लिहाज से कभी बातो को देख ही नही सकते थे। वे तो ज्यादा-से-ज्यादा उपनिवेशो के-से पद के किसी स्वरूप तक जा सकते थे।

मुझे फिर काग्रेस का सेक्रेटरी होना पड़ा। इसके कुछ कारण तो जाती थे। उस साल के प्रेसिडेट डाक्टर अन्सारी मेरे पुराने और प्यारे दोस्त थे। उनकी ख्वाहिश थी कि मै ही सेक्रेटरी बनूं और मुझे भी यह खयाल था कि जब मेरे इतने प्रस्ताव पास हुए हैं तब मेरा फर्ज है कि मै यह देखूँ कि उनके मुताबिक काम हो। यह सच है कि सर्व-दल-सम्मेलन के सम्बन्ध मे जो प्रस्ताव पास हुआ था उसने कुछ हद तक मेरे प्रस्तावो के असर को मार दिया था, फिर भी बहुत कुछ रह गया था। इसके अलावा मेरे मन्त्रि-पद मजूर कर लेने का असली कारण तो यह डर था कि काग्रेस सब दलो की कान्फ्रेस के जरिये या दूसरी वजह से कही माडरेट स्थिति की तरफ, राजीनामे और समझौते की तरफ, न झुक जाय। उन दिनो ऐसा मालूम होता था कि काग्रेस

दुविधा मे पड़ी हुई है, कभी वह उग्रता की तरफ बढ़ती तो कभी नरमी की तरफ हटती। मैं चाहता था कि जहाँतक मुझसे हो सके वहाँतक इस दुविधा मे झूलती हुई कांग्रेस को नरमी की तरफ न झुकने दूँ और उसे आजादी के ध्येय पर डटाये रहूँ।

राष्ट्रीय कांग्रेस के सालाना जलसो के मौको पर बहुत-से दूसरे जलसे भी हमेशा हुआ करते है। मदरास मे इस तरह का एक जलसा 'रिपब्लिकन कान्फ्रेन्स' नाम का हुआ। इसका पहला (व आखरी) जलसा उसी साल वही हुआ। मुझसे कहा गया कि मै उसका सभापति बन जाऊँ। मुझे यह खयाल पसन्द आया, क्योकि मै अपने-को रिपब्लिकन (प्रजातन्त्र-वादी) समझता हूँ। लेकिन मुझे झिझक इस बात की थी कि मुझे यह नही मालूम था कि इस कान्फ्रेन्स को करानेवाले साहब कौन है और मै यो ही बरसाती मेढको की तरह पैदा होनेवाली चीजो से अपना सम्बन्ध नही करना चाहता था। अखीर मे जाकर मै उसका सभापति बना। लेकिन बाद को मुझे इसके लिए पछताना पड़ा; क्योकि ऐसे बहुत-से मामलो की तरह यह रिपब्लिकन कान्फ्रेन्स भी मरी हुई पैदा होनेवाली साबित हुई। कई महीनो तक मैने इस बात की कोशिश की कि उसने जो प्रस्ताव पास किये थे उनकी प्रतियाँ मुझे मिल जायँ। लेकिन मेरी सब कोशिश बेकार गई। यह देखकर हैरत होती है कि हमारे कितने ही लोग नई-नई चीजे कायम करना पसन्द करते है और फिर उनकी तरफ से उदासीन होकर उन्हे उनके भाग्य के भरोसे छोड़ देते है। इस समालोचना मे बहुत-कुछ सचाई है कि हम लोग किसी काम को उठाकर उसे पूरा करना, उसपर डटे रहना, नही जानते।

काँग्रेस के बाद हम लोग मदरास से रवाना नही हो पाये थे कि खबर मिली कि दिल्ली मे हकीम अजमलखाँ की मृत्यु हो गई। काँग्रेस के भूतपूर्व सभापति की हैसियत से वह उसके बुजुर्ग राजनीतिज्ञो मे से थे। लेकिन वह उसके अलावा कुछ और भी थे। काँग्रेस के नेताओ मे उनकी अपनी खास जगह थी। यद्यपि जिस पुराने अनुदार तरीके से उनका लालन-पालन हुआ, उसमें नयेपन का तो कही पता तक न था और मुगलो के जमाने की शाही दिल्ली की संस्कृति मे वह सराबोर थे, फिर भी उनकी शराफत को देखकर, उनकी आहिस्ता-आहिस्ता बाते सुनकर, और उनके रूखे-सूखे मजाको को सुनकर तबीयत खुश हो जाती थी। अपने शिष्टाचार मे वह पुराने जमाने के रईसो के नमूने थे। उनकी नजर और उनके तौर-तरीके शाही थे। उनका चेहरा भी मुगल-सम्राटो की मूर्त्तियो से बहुत-कुछ मिलता-जुलता था। ऐसे शख्स मामूली तौर पर राजनीति की धक्का-मुक्की मे शामिल नही होते और जबसे आन्दोलनकारियो की नई नस्ल ने उन्हे परेशान करना शुरू किया तबसे हिन्दुस्तान मे रहनेवाले अंग्रेज इस पुराने ढर्रे के लोगो की याद कर-करके लम्बी साँसे लेते है। अपनी शुरू की जिन्दगी

मे हकीम अजमलखाँ का भी राजनीति से कोई सम्बन्ध नही था। वह हकीमो के एक नामी परिवार के मुखिया थे, इसलिए वह अपने पेशे मे बहुत मशगूल रहते थे। लेकिन लडाई के पिछले सालो के जमाने की घटनाओ और उनके पुराने दोस्त और साथी डॉक्टर एम० ए० अन्सारी का असर उन्हे कॉंग्रेस की तरफ ढकेल रहा था। उसके बाद की घटनाओ ने, पजाव के मार्शल-लॉ और खिलाफत के सवाल ने, तो उनके ऊपर गहरा असर डाला और वह राजी-खुशी से गाधीजी के असहयोग के नये तरीके के हामी हो गये। कॉंग्रेस मे अपने साथ वह एक निराला गुण तथा कई बहुमूल्य खूबियाँ लाये। वह पुराने ढर्रे के लोगो और नये लोगो के बीच मे दोनो को मिलानेवाली कडी बन गये, और उन्होने राष्ट्रीय आन्दोलन को पुराने ढर्रे के लोगो की मदद दिला दी। इस तरह उन्होने नयो और पुरानो मे एक तरह का मेल मिला दिया और आन्दोलन की आगे बढनेवाली टुकडी को ताकत और मजबूती पहुँचाई। हिन्दू और मुसलमानो को भी उन्होने एक-दूसरे के बहुत नजदीक ला दिया, क्योकि दोनो ही उनकी इज्जत करते थे और दोनो पर ही उनकी मिसाल का असर पडता था। गाधीजी के लिए तो वह एक ऐसे विश्वास-पात्र मित्र हो गये, जिनकी सलाह हिन्दू-मुसलमानो के मामले मे उनके लिए 'ब्रह्म-वाक्य' थी। मेरे पिताजी और हकीमजी कुदरतन् एक-दूसरे के दोस्त हो गये।

पिछले साल हिन्दू-महासभा के कुछ नेताओ ने मुझपर यह इलजाम लगाया था कि अपनी सदोष शिक्षा तथा फारसी सस्कृति के असर के कारण मै हिन्दुओ के भावो से अनभिज्ञ हूँ। मै किस सस्कृति से सम्पन्न हूँ या मेरे पास कोई सस्कृति है भी या नही, यह कहना मेरे लिए कुछ मुश्किल है। बदकिस्मती से फारसी जबान को तो मै जानता भी नही। लेकिन यह सही है कि मेरे पिताजी हिन्दुस्तानी-फारसी सस्कृति की आबोहवा मे बडे हुए थे। यह सस्कृति उत्तरी भारत को दिल्ली के पुराने दरबार से विरासत मे मिली थी और इन बिगडे हुए दिनो मे भी दिल्ली और लखनऊ उसके खास केन्द्र है। कश्मीरी ब्राह्मणो मे समय के अनुकूल हो जाने की अद्भुत शक्ति है। हिन्दुस्तान के मैदान मे आने पर जब उन्होने उन दिनो यह देखा कि ऐसी सस्कृति का बोलबाला है, तो उन्होने उसे अख्त्यार कर लिया और उनमे फारसी और उर्दू के भारी पण्डित पैदा हुए। उसके बाद उन्होने उतनी ही तेजी के साथ बढनेवाली व्यवस्था के अनुसार भी अपनेको बदल लिया। जब अग्रेजी भाषा का जानना और यूरोपियन सस्कृति के अशो को ग्रहण करना जरूरी हो गया तब उन्होने इन्हे भी ग्रहण कर लिया। लेकिन अब भी हिन्दुस्तान मे कश्मीरियो मे फारसी के कई नामी विद्वान है। इनमे से दो के नाम लिये जा सकते है, सर तेजबहादुर सप्रू और राजा नरेन्द्रनाथ।

इस तरह मेरे पिताजी और हकीमजी मे ऐसी बहुत-सी बाते थी जो एक-दूसरे से मिलती-जुलती थी। इतना ही नही, उन्होने पुराने खानदानी रिश्ते भी ढूँढ निकाले। उन दोनो मे गहरी दोस्ती हो गई। वे एक-दूसरे को 'भाई साहब' कहकर पुकारते थे। राजनीति तो उनके बहुत-से प्रेम-बन्धनो मे से सिर्फ एक और सबसे कम बन्धन था। अपनी घर-गृहस्थी की आदतो मे हकीमजी बहुत ही पुराण-पथी थे। वह या उनके परिवार के लोग पुरानी आदतो को नही छोड सकते थे। उनके परिवार मे जैसा विकट परदा किया जाता था वैसा मैंने कभी कही नही देखा था। फिर भी हकीम-साहब को इस बात का पूर्ण विश्वास था कि जबतक किसी मुल्क की औरते अपनी आजादी हासिल न करले तबतक वह मुल्क हरगिज तरक्की नही कर सकता। मेरे सामने वह इस बात पर बहुत जोर देते थे और कहते थे कि टर्की की आजादी की लडाई मे वहाँ की औरतो ने जो हिस्सा लिया है उसे मै बहुत ही काबिल-तारीफ समझता हूँ। उनका कहना था कि खास तौर पर टर्की की औरतो की बदौलत ही कमालपाशा को कामयाबी मिली।

हकीम अजमलखाँ के शरीरान्त से काँग्रेस को भारी धक्का लगा। उसके मानी थे कि काँग्रेस का एक सबसे ताकतवर मददगार जाता रहा। तबसे लेकर अबतक हम सब लोगो को दिल्ली जाने पर वहाँ किसी चीज की कमी मालूम होती है, क्योकि हमारी दिल्ली का हकीम साहब से और बिल्लीमारान मे उनके मकान से बहुत गहरा सम्बन्ध था।

राजनैतिक दृष्टि से १९२८ का साल एक भरा-पूरा साल था। देशभर मे तरह-तरह की हलचलो की भरमार थी। ऐसा मालूम पडता था कि एक नई प्रेरणा, एक नया जीवन, जो तरह-तरह के सभी समूहो मे एक-सा मौजूद था, लोगो को आगे की तरफ बढा रहा है। जिन दिनो मै देश से बाहर था शायद उन दिनो धीरे-धीरे यह तबदीली हो रही थी और मेरे लौटने पर मुझे वह बहुत बडी तबदीली मालूम हुई। १९२६ के शुरू मे हिन्दुस्तान जैसा-का-तैसा शान्त और निष्कर्म बना हुआ था। शायद उस वक्त तक उसकी १९२१–२२ की मेहनत की थकान दूर नही हुई थी। १९२८ मे वह तरोताजा, क्रियाशील और रुकी हुई शक्ति से पूर्ण है, इस बात का सबूत हर जगह मिलता था। कारखानो के मजदूरो मे भी और किसानो मे भी। मध्यमवर्ग के नौजवानो मे भी और आमतौर पर पढे-लिखे लोगो मे भी।

मजदूर-सघो की हलचल बहुत ज्यादा बढ गई थी। सात-आठ साल पहले जो आल-इडिया ट्रेड-यूनियन काग्रेस कायम हुई थी वह एक मजबूत और प्रातिनिधिक जमात थी। न सिर्फ उसकी तादाद और उसके सगठन मे ही काफी तरक्की हुई थी,

वल्कि उसके विचार भी ज्यादा लडाकू और ज्यादा गरम हो गये थे। हडताले अक्सर होती थी और मजदूरो मे वर्ग-चेतनता का खयाल जोर पकड रहा था। कपडे की मिलो मे और रेलो मे काम करने वाले मजदूर सबसे ज्यादा सगठित थे और इनमे से भी सबसे ज्यादा मजबूत और सबसे ज्यादा सगठित सघ थे बम्बई की गिरनी-कामगार-यूनियन और जी० आई० पी० रेलवे-यूनियन। मजदूरो के सगठन के वढने के साथ-साथ लाज़िमी तौर पर पश्चिम से घरेलू लडाई-झगडो के वीज भी आये। हिन्दुस्तान के मजदूर-सघो की हलचल को कायम हुए देर न हुई कि वे आपस मे होड करने और दुश्मनी रखनेवाले दलो मे वँट गये। कुछ लोग दूसरी इटरनेशनल के हामी थे, कुछ तीसरी इटरनेशनल के कायल। यानी एक दल का दृष्टिकोण नरमी की तरफ, सुधार-वादी, था और दूसरा दल वह था जो खुल्लम-खुल्ला क्रातिकारी था तथा आमूल परिवर्तन चाहता था। इन दोनो के वीच मे कई किस्म की राये थी, जिनमे मात्रा का भेद था, और जैसा कि आम जनता के सगठन मे होता है इसमे मौका-परस्ती भी आ घुसी थी।

किसान भी करवट वदल रहे थे। उनकी यह जागृति सयुक्तप्रान्त मे और खास-तौर पर अवध मे दिखाई देती थी, जहाँ अपने ऊपर होनेवाले अन्यायो का विरोध करने के लिए किसानो की वडी-वडी सभाये आये दिन होने लगी थी। लोग यह महसूस करने लगे थे कि अवध के जोत-सम्वन्धी जिस कानून ने किसानो को हीन-हयाती मौरूसी दी थी और जिससे वहुत ज्यादा उम्मीद की जाती थी उससे किसानो की दुखमय जिन्दगी मे कोई फर्क नही पडा था। गुजरात के किसानो ने तो एक वडे पैमाने पर सघर्ष शुरू कर दिया, क्योकि गवर्नमेन्ट ने यह चाहा कि मालगुज़ारी वढा दी जाय। गुजरात मे किसान खुद अपनी जमीन के मालिक है, जहाँ सरकार सीधे किसानो से ताल्लुक रखती है। यह सघर्ष सरदार वल्लभभाई पटेल के नेतृत्व मे हुआ वारडोली का सत्याग्रह था। इस लडाई मे किसानो की वहादुरी की विजय हुई, जिसे देखकर तमाम हिन्दुस्तान वाह-वाह करने लगा। वारडोली के किसानो को वहुत काफी कामयावी मिली। लेकिन उनकी लडाई की असली कामयावी तो इस वात मे थी कि उसने हिन्दुस्तान-भर के किसानो पर वड़ा अच्छा असर डाला। हिन्दुस्तान के किसानो के लिए वारडोली आशा और शक्ति और विजय का प्रतीक और चिन्ह हो गई।

१९२८ के हिन्दुस्तान की एक और वहुत खास वात थी नौजवानो के आन्दोलन की वढती। हर जगह युवक-सघ कायम हो रहे थे और युवक-कान्फ्रेन्से की जा रही थी। ये सघ और कान्फ्रेन्स तरह-तरह के थे। कोई अर्द्ध-धार्मिक थे तो कोई क्रान्तिकारी विचारो और उनके शास्त्रो पर विचार करनेवाले। लेकिन उनकी

उत्पत्ति कुछ भी हो, और उनका आधिपत्य किसीके हाथ मे हो, युवको की ऐसी सभाये हमेशा अपने-आप आजकल की सजीव सामाजिक और आर्थिक समस्याओ पर विचार करने लगती थी और आम तौर पर उनका झुकाव यही था कि एकदम काया-पलट करदी जाय।

महज़ राजनैतिक विचार से देखा जाय तो यह साल साइमन-कमीशन के वायकाट के लिए और (वायकाट के रचनात्मक पहलू के नाम से पुकारे जाने वाले) सर्व-दल-सम्मेलन के लिए मशहूर है। इस वायकाट मे नरम-दलवालो ने कांग्रेस का साथ दिया और उसमे गजब की कामयाबी हुई। जहाँ-जहाँ कमीशन गया वहाँ-वहाँ विरोधी जन-समूहो ने "साइमन गो वैक" (साइमन लौट जाओ) के नारे लगाकर उसका स्वागत किया और इस तरह हिन्दुस्तान के तमाम लोगो की बहुत बड़ी तादाद न सिर्फ सर जॉन साइमन का नाम ही जान गई वल्कि अग्रेजी के "गो वैक" ये दो शब्द भी उसे मालूम हो गये। वस, अँग्रेजी के इन्ही दो शब्दो मे उनका ज्ञान खतम हो जाता है। ऐसा मालूम पड़ता है कि इन शब्दो से कमीशन के मेम्वरो के कान भडकते थे और अपनी उसी भड़कन की वजह से वे चौक पडते थे। कहते है कि एक मर्त्तवा जव वे नई दिल्ली के वेस्टर्न होस्टल मे ठहरे हुए थे तव उन्हे रात के अँधेरे मे "साइमन गो वैक" का नारा सुनाई देने लगा। इस तरह रात मे भी पीछा किये जाने पर मेम्बर लोग बहुत चिढे, जवकि असल वात यह थी कि वह आवाज उन गीदड़ो की थी जो शाही राजधानी के ऊजड़ प्रदेशो मे रहते है।

विधान के खास-खास उसूलो के तय करने मे सर्व-दल-सम्मेलन को कुछ भी मुश्किल नही हुई। ये उसूल लोकतन्त्रीय पार्लमेन्टरी ढग के थे और कोई भी उनकी रूप-रेखा वना सकता था। असली मुश्किल और एकमात्र कठिनाई तो साम्प्रदायिक या अल्पमत वाली कौमों के सवाल की वजह से पैदा हुई और चूँकि कान्फ्रेन्स मे तमाम कट्टर-से-कट्टर फिरकेवाराना जमात के नुमाइन्दे थे, उनमे किसी तरह का राजीनामा निहायत ही मुश्किल हो गया। असल मे वह पुरानी और वेकार कान्फ्रेन्सो की तरह ही थी। पिताजी जो उस वक्त योरप से लौटे थे, उन्होने इस सम्मेलन मे वड़ी दिलचस्पी ली। अन्त मे आखिरी तरकीव के तौर पर एक छोटी-सी कमिटी मुकर्रर कर दी गई। पिताजी इस कमिटी के सभापति वनाये गये। इस कमिटी का काम था कि वह विधान का मसविदा तैयार करे और साम्प्रदायिक प्रश्न पर पूरी रिपोर्ट दे। इस कमिटी को लोग 'नेहरू-कमिटी' कहने लगे और कमिटी की रिपोर्ट 'नेहरू-रिपोर्ट' के नाम से पुकारी जाने लगी। सर तेजवहादुर सप्रू भी इस कमिटी के मेम्वर थे, और वह उसकी रिपोर्ट के एक हिस्से के लिए जिम्मेदार भी थे।

मै इस कमिटी का मेम्बर नही था, लेकिन कांग्रेस के मत्री की हैसियत से मुझे इसके लिए वहुत काम करना पडा। मै वडे असमजस मे था, क्योकि मै समझता था कि जव असली सवाल सत्ता को जीतने का हो तव तफ़सीलवार कागज़ी विधान तैयार करना विलकुल वेकार वात है। मेरी दूसरी मुश्किल यह थी कि इस खिचडी कमिटी ने हमारा ध्येय लाज़िमी तौर पर 'डोमीनियन स्टेटस' तक ही महदूद कर दिया था, और दरअसल तो वह ध्येय इससे भी कम था। मेरी नजर मे तो कमिटी की असली अहमियत इस वात मे थी कि वह साम्प्रदायिक उलझन मे से निकलने का कोई रास्ता ढूंढ निकाले। मुझे यह उम्मीद नही थी कि किसी पैक्ट या समझौते द्वारा यह सवाल हमेशा के लिए हल हो जायगा। यह सवाल हल तो तभी हो सकेगा जव कि लोगो का ध्यान इधर से हटकर सामाजिक और आर्थिक मसलो की तरफ लग जाय। लेकिन इस वात की सम्भावना थी कि अगर दोनो तरफ के लोगो की काफी तादाद थोडे वक्त के लिए भी कोई पैक्ट करले तो हालत कुछ सुधर जाती और लोगो का ध्यान दूसरे ममलो की तरफ लग जाता। इसलिए मैने कमिटी के काम मे रोडे अटकाने के वजाय उसको जितनी मदद मै दे सकता था उतनी मदद दी।

एक वार तो यह मालूम पडा कि अव कामयावी मिली। सिर्फ दो-तीन वात तय करने को रह गई थी और इनमे असली महत्वपूर्ण सवाल पजाव का था, जहाँ हिन्दू-मुस्लिम और सिक्खो का तिकोना तनाव था। कमिटी ने अपनी रिपोर्ट मे पजाव के सवाल पर विलकुल नये ढग से गौर किया और उसने इस मामले मे जो सिफारिशे की उनकी पुष्टि जन-सख्या के वँटवारे सम्बन्धी कुछ नये अको से की। लेकिन यह सव विलकुल वेकार था। दोनो तरफ डर और शक का राज रहा और दोनो मे जो थोडा-सा फर्क रह गया था उसे पूरा करने लिए दो-एक कदम आगे तक नही वढा गया।

अपनी कमिटी की रिपोर्ट पर विचार करने के लिए सर्व-दल-सम्मेलन लखनऊ मे हुआ। इसमे हम लोग फिर एक दुविधा मे पड गये, क्योकि इधर तो हम यह चाहते थे कि हमारी वजह से फिरकेवाराना सवाल के हल होने मे किसी किस्म की अडचन न पडे, वशर्ते कि वह सवाल हल हो सकता हो और उधर हम इस वात के लिए तैयार न थे कि आजादी के सवाल पर झुक जायँ। हमने अर्ज किया कि सम्मेलन इस सवाल के वारे मे अपने हरेक अग को पूरी आजादी दे दे, जिससे इस मामले मे जिसका जो जी चाहे सो करे। कांग्रेस आजादी पर डटी रहे, और जो लोग उससे अपनी नीति के अनुसार काम लेना चाहते है वे 'डोमीनियन स्टेटस' पर। लेकिन पिताजी रिपोर्ट को पास कराने पर तुले हुए थे। वह ज़रा भी दवने को तैयार न थे। शायद उन परिस्थितियो मे वह झुकना चाहते तो भी नही झुक सकते थे। सम्मेलन

में आजादी चाहनेवालो का एक बडा दल था। इस दल ने मुझसे कहा कि मैं दल की तरफ से सम्मेलन में एक बयान दूँ, जिसमें यह कहूँ कि आजादी के ध्येय को कम करने के लिए जो कुछ भी किया जायगा उस सबसे हमारा कोई सरोकार न रहेगा। लेकिन हमने यह बात भी और साफ कर दी कि हम सम्मेलन के रास्ते मे रोडे न अटकावेगे, क्योकि हम फिरकेवाराना समझौते के रास्ते मे अडचने नही डालना चाहते थे।

ऐसे बडे सवाल पर इस तरह का रुख अख्यार करना बहुत कारगर नही साबित हो सकता था। ज्यादा-से-ज्यादा यह रुख नकारात्मक था। हमने उसी दिन हिन्दुस्तान का आजादी सघ (इडिपेण्डेन्स फार इण्डिया लीग) कायम करके अपने इस रुख को विधेयात्मक स्वरूप भी दे दिया।

प्रस्तावित विधान में जो मौलिक अधिकार कायम किये गये थे, उनमे अवध के ताल्लुकेदारो के कहने पर एक धारा यह भी रख दी गई कि उनके ताल्लुको मे उनके स्थापित अधिकारो की गारण्टी रहेगी कि वे नही छीने जायँगे। सर्व-दल-सम्मेलन की इस बात से मुझे एक और ज्यादा बडा धक्का लगा। इसमें कोई शक ही नहीं कि तमाम विधान व्यक्तिगत सम्पत्ति के खयाल की बुनियाद पर बनाया गया था, लेकिन बडी-बडी अर्द्ध-सामन्ती-सी रियासतो मे उनकी मिलकियत के हकूक को विधान की अटल धारा बना देना मुझे बहुत ही बुरा मालूम हुआ। इससे यह बात साफ हो गई कि काँग्रेस के नेता और उनसे भी ज्यादा गैर-काँग्रेसी अपने ही साथियो मे सामाजिक दृष्टि से जो ज्यादा आगे बढे हुए समूह थे उनके मुकाबिले मे बडे-बडे जमीदारो का साथ पसन्द करते थे। यह साफ था कि हमारे नेताओ के और हमारे बीच मे एक बहुत बड़ी खाई है। और ऐसी हालत मे मुझे अपने लिए यह बात बहुत ही बेहूदा मालूम होती थी कि मै प्रधान-मन्त्री का काम करता रहूँ। मैंने इस बुनियाद पर अपना इस्तीफा दे देना चाहा कि मैं हिन्दुस्तान की आजादी के लिए जो सघ कायम किया गया है उसके सचालको मे से एक हूँ। लेकिन कार्य-समिति इस बात से सहमत न हुई। उसने मुझसे और सुभाष बाबू से, जिन्होने मेरे साथ-साथ उसी बिना पर इस्तीफा दे देना चाहा था, यह कहा कि हम लोग सघ का काम मजे से कर सकते है, उस काम मे और काँग्रेस की नीति मे कोई विरोध नही है। सच बात तो यह है कि काँग्रेस ने तो पहले ही आजादी के ध्येय का ऐलान कर दिया है। इसपर मैं फिर राजी हो गया। यह बात आश्चर्यजनक है कि उन दिनो मुझे अपना इस्तीफा वापस करने के लिए कितनी जल्दी राजी कर लिया जाता था। यह बात कई मर्त्तबा हुई और क्योकि कोई भी पार्टी वास्तव मे एक-दूसरे से अलग हो जाने के खयाल को पसन्द नही करती थी, इसलिए उससे बचने के लिए हमे जो बहाना मिलता उसीका हम आश्रय ले लेते।

गांधीजी ने इन तमाम पार्टियो की कान्फ्रेंसो और कमिटियो की मीटिंगो मे कोई हिस्सा नही लिया था। यहांतक कि वह लखनऊ-कान्फ्रेन्स के वक्त वहां मौजूद भी नही थे।

इस बीच मे साइमन-कमीशन हिन्दुस्तान मे दौरा कर रहा था और काले झडे लिये हुए "गो वैक" के नारे लगानेवाली मुखालिफ भीड हर जगह उसका स्वागत कर रही थी। कभी-कभी भीड और पुलिस में मामूली झगडा भी हो जाता था। लाहौर में बात बहुत बढ गई और यकायक मुल्कभर मे गुस्से की लहर-सी दौड गई। लाहौर मे साइमन-विरोधी जो प्रदर्शन हुआ वह लाला लाजपतराय के नेतृत्व में हुआ। जब वह सडक के किनारे हजारो प्रदर्शन-कारियो की ओर खडे हुए थे तब एक नौजवान अंग्रेज़ पुलिस अफसर ने उनपर हमला किया और उनकी छाती पर डडे लगाये। लालाजी का तो कहना ही क्या, भीड की तरफ से भी किसी किस्म का झगडा खडा करने की कोई कोशिश नही हुई थी। फिर भी जबकि वह एक तरफ शान्ति से खडे हुए थे तब पुलिस ने उनको और उनके कई साथियो को बहुत बुरी तरह मारा। गलियो में अथवा सडको पर होनेवाले आम प्रदर्शनो मे हिस्सा लेनेवाले हर शख्स को यह खतरा रहता है कि पुलिस से मुठभेड़ हो जायगी और यद्यपि हमारे प्रदर्शन करीब-करीब हमेशा ही सोलहो आने शान्त होते थे फिर भी लालाजी इस खतरे को जरूर जानते होगे और उन्होने जान-बूझकर वह खतरा उठाया होगा, लेकिन फिर भी जिस ढग से उनपर हमला किया गया उससे और उस हमले की अनावश्यक पाशविकता से हिन्दुस्तान के करोडो लोगो को धक्का लगा। वे दिन वे थे जब हम पुलिस द्वारा लाठियो की मार खाने के आदी न थे। उस वक्त तक इस प्रकार बार-बार होनेवाली पाशविकता के आदी न होने के कारण हम उससे बहुत बुरा मानते थे। हमारे सबसे बडे नेता, पंजाब के सबसे बडे और सबसे ज्यादा लोकप्रिय व्यक्ति के साथ ऐसे बुरे व्यवहार का होना बिलकुल पैशाचिकता मालूम पड़ी और उस व्यवहार को देखकर हिन्दुस्तान-भर मे, खासकर उत्तरी हिन्दुस्तान में, एक निर्जीव क्रोध फैल गया। हम लोग कितने असहाय और कितने घृणा-योग्य है, कि हम अपने नेताओ की इज्जत की भी रक्षा नही कर सकते।

लालाजी को शारीरिक चोट भी कम भीषण नही लगी, क्योकि उनकी छाती पर लाठियाँ मारी गई थी और वह बहुत दिनो से दिल की बीमारी से पीडित थे। गालिबन अगर ये चोट किसी तन्दुरुस्त नौजवान के लगी होती तो इतनी घातक न साबित होती। लेकिन लालाजी न तो नौजवान थे, न तन्दुरुस्त ही। कुछ हफ्तो बाद लालाजी की जो मौत हुई उसपर इन शारीरिक चोटो का क्या असर पडा, निश्चित रूप से यह बताना

तो मुमकिन नहीं है, हालाँकि उनके डाक्टरो की यह राय थी कि इन चोटो के कारण उनकी मृत्यु जल्दी हो गई। लेकिन मै समझता हूँ कि इस बात मे कोई शक नही है कि शारीरिक चोटो से लालाजी को जो मानसिक आघात पहुँचा उसका उनके ऊपर बहुत ज्यादा असर पडा। वह बहुत ही नाराज और सन्तप्त हो गये—इसलिए नही कि उनका जाती अपमान हुआ था, बल्कि इसलिए कि उनपर किये गये हमले मे राष्ट्रीय अपमान सम्मिलित था।

हिन्दुस्तान के मन मे इसी राष्ट्रीय अपमान का खयाल काम कर रहा था और जब उसके कुछ दिनो बाद ही लालाजी की मृत्यु हुई तब लोगो ने लाजिमी तौर पर उसका ताल्लुक उनपर किये गये हमले से जोडा और इस खयाल से लोगो के दिलो मे जो गुस्सा और रोष आया वह खुद-ब-खुद एक प्रकार के अभिमान के रूप मे बदल गया। इस बात को समझ लेना जरूरी है, क्योकि इस बात को समझ कर ही हम पीछे होने वाली बातो को, भगतसिह की कहानी, उत्तरी भारत मे भगतसिह को यकायक जो आश्चर्यजनक लोकप्रियता मिली, उसको, समझ सकेगे। उन कामो की तह मे जो मूल स्रोत होते है, उनको जो बाते प्रेरित करती है, उनको समझ लेने की कोशिश किये बिना किसी शख्स या किसी काम की निन्दा करना बहुत ही आसान और वाहियात है। इससे पहले भगतसिह को लोग अच्छी तरह नही जानते थे और उन्हे जो लोकप्रियता मिली वह कोई हिसात्मक या आतकवाद का काम करने की वजह से नही मिली। आतकवादी तो हिन्दुस्तान मे करीब-करीब तीस बरस से रह-रह कर अपना काम कर रहे है और बगाल मे आतंकवाद के शुरू के दिनो को छोडकर और कभी किसी भी आतंकवादी को, भगतसिह को जो लोकप्रियता हासिल हुई उसका सौवाँ हिस्सा भी नही मिला। यह एक ऐसी जाहिर बात है जिससे कोई इन्कार नही कर सकता। उसे तो मानना ही पडेगा। इसी तरह साफ और जाहिर बात यह है कि यदि आतंकवाद बीच-बीच मे कभी-कभी जोर पकड़ जाता है फिर भी हिन्दुस्तान के नौजवानो के लिए अब उसमे कोई आकर्षण नही रहा। पन्द्रह बरस तक अहिसा पर जोर दिये जाने से हिन्दुस्तान का सारा वातावरण बदल गया है, जिसके फल-स्वरूप अब जन-साधारण राजनैतिक लडाई के साधन के तौर पर आतंकवाद के खयाल के पहले से कही ज्यादा उदासीन या विरोधी तक हो गये हैं। जिस दर्जे के लोगो मे से आम तौर पर आतकवादी निकलते है उस दर्जे के लोगो पर यानी निचली सतह के मध्यम श्रेणी के लोगो पर और पढे-लिखो पर भी हिसा के साधन के खिलाफ कॉग्रेस ने जो प्रचार किया है उसका भारी असर पड़ा है। उनकी वे क्रियाशील और उतावली शक्तियाँ जो क्रान्तिकारी काम करने की ही बातें सोचा करती हैं, अब

यह पूरी तरह महसूस करने लगी है कि क्रान्ति आतंकवाद के जरिये से नहीं हो सकती और आतंकवाद तो एक ऐसा बेकार और जर्जरित तरीका है जो असली क्रान्तिकारी लड़ाई के रास्ते में रोड़े अटकाता है। हिन्दुस्तान में और दूसरे मुल्कों में भी अब तो आतंकवाद मरा-सा हो रहा है। और वह सरकारी दमन की वजह से नहीं, बल्कि आधारभूत कारणों और संसारव्यापी घटनाओं की वजहों से। सरकारी दमन तो सिर्फ दबाना या बोतल में बन्द कर देनाभर जानता है, वह जड़ से उखाड़कर नहीं फेंक सकता। मामूली तौर पर आतंकवाद किसी देश में होनेवाली क्रान्तिकारी प्रेरणा के बचपन का द्योतक होता है। वह अवस्था गुजर जाती है और उसके साथ-साथ अहम घटना के रूप में आतंकवाद भी गुजर जाता है, मुकामी कारणों या वैयक्तिक ज्यादतियों के कारण कभी-कभी कुछ आतंकवादी कार्य भले ही होते रहें। बिलाशक हिन्दुस्तान की क्रान्ति का बचपन बीत चुका और इसमें कोई शक नहीं कि उसके फलस्वरूप यहाँ कभी-कभी हो जानेवाली आतंकवादी घटनायें भी धीरे-धीरे बन्द हो जायँगी। लेकिन इसके मानी यह नहीं है कि हिन्दुस्तान में सब लोगों ने हिंसात्मक साधन में विश्वास करना छोड़ दिया है। यह ठीक है कि उनमें से ज्यादातर लोग अब वैयक्तिक हिंसा और आतंकवाद में विश्वास नहीं करते, लेकिन इसमें भी कोई शक नहीं कि बहुत-से अब भी यह सोचते हैं कि एक समय ऐसा आ सकता है जब संगठित हिंसात्मक साधनों से काम लेना आजादी हासिल करने के लिए जरूरी हो जाय—ठीक वैसे ही जैसे कि दूसरे मुल्कों में जरूरी हो गया था। आज तो यह सवाल महज एक तात्त्विक विवाद का सवाल है। समय ही उसे कसौटी पर कस सकता है। जो हो, आतंकवादी साधनों से इसका कोई सरोकार नहीं।

इस तरह भगतसिंह ने अपने हिंसात्मक कार्य के लिए लोकप्रियता प्राप्त नहीं की, बल्कि इसलिए प्राप्त की कि कम-से-कम उस समय लोगों को ऐसा मालूम हुआ कि उसने लालाजी की और लालाजी के रूप में कौम की इज्जत रक्खी है। भगतसिंह एक प्रतीक बन गये। उनके काम को लोग भूल गये, केवल प्रतीक उनके मन में रह गया, जिसके फलस्वरूप पंजाब के हरेक गाँव व कस्बे में और उससे कुछ कम बाकी के उत्तरी भारत में उनका नाम घर-घर में गूँजने लगा। उनकी बाबत बेशुमार गीत बने और उन्होंने जो लोकप्रियता पाई वह सचमुच अजीब थी।

साइमन-कमीशन के विरुद्ध प्रदर्शन में होनेवाली मार-पीट के कुछ दिनों बाद लाला लाजपतराय दिल्ली में अखिल भारतवर्षीय कॉंग्रेस कमिटी की एक बैठक में शामिल हुए। उनके शरीर पर चोटों के निशान बने हुए थे और उनसे होनेवाली तकलीफों को वह भुगत रहे थे। यह मीटिंग लखनऊ के सर्व-दल-सम्मेलन के बाद हुई

थी और किसी-न-किसी रूप में उसमे आजादी के सवाल पर बहस उठ खड़ी हुई थी। मुझे यह तो याद नही रहा कि ठीक-ठीक बहस किस बात पर उठ खडी हुई थी, लेकिन मुझे यह याद है कि मै वहाँ देर तक बोला और मैंने यह कहा कि अब समय आ गया है जब कांग्रेस को यह तय कर लेना चाहिए कि आया वह उस क्रान्तिकारी दृष्टिकोण को पसन्द करती है जिसमें हमारे राजनैतिक और सामाजिक भवन मे कायापलट करने की जरूरत है, या सुधारवादियो के ध्येय और साधनो को। इस भाषण मे ऐसी कोई महत्व की बात नही थी। मैं उस भाषण की बात को भूल भी गया होता, लेकिन वह इसलिए याद बनी रही कि लालाजी ने कमिटी मे मेरे उस भाषण का जवाब दिया और उसके कुछ हिस्सो की नुक्ताचीनी की। उन्होने एक चेतावनी इस आशय की दी कि हम लोगो को ब्रिटिश मजदूर-दल से कोई उम्मीद न रखनी चाहिए। जहाँतक मुझसे ताल्लुक है, इस चेतावनी की कोई जरूरत न थी, क्योकि मै ब्रिटिश-मजदूरो के जो अधिकारी नेता है उनका प्रशसक नही हूँ। अगर मैं उन्हे हिन्दुस्तान की आज़ादी की लडाई का समर्थन करते या साम्राज्यवाद-विरोधी कोई ऐसा कारगर काम करते देखता जो समाजवाद की तरफ ले जानेवाला होता तो मुझे तो आश्चर्य होता।

काँग्रेस कमिटी की बैठक मे मैंने जो भाषण दिया था, लाहौर लौटकर लालाजी ने उसकी समालोचना शुरू कर दी। उन्होने अपने हफ्तेवार अखबार 'पीपुल' मे मेरी स्पीच से उठनेवाली बहुत-सी बातो के सम्बन्ध मे एक लेखमाला लिखनी शुरू की। इस लेखमाला का सिर्फ एक ही लेख छपा था, दूसरा लेख दूसरे हफ्ते के अंक मे छपने से पहले ही उनकी मृत्यु हो गई। उनका वह पहला अधूरा लेख, जो शायद छापने के लिए लिखा गया उनका अन्तिम लेख था, मेरे लिए एक शोकपूर्ण दिलचस्पी का विषय था।

२५

लाठी-प्रहारों का अनुभव

लाला लाजपतराय पर हमला और बाद मे उनकी मृत्यु हो जाने से साइमन-कमीशन आगे जहाँ-जहाँ गया वहाँ-वहाँ उसके खिलाफ प्रदर्शनो का जोर और भी बढ गया। वह लखनऊ मे आनेवाला था, और वहाँ भी कांग्रेस-कमिटी ने उसके 'स्वागत' की भारी तैयारिया की थी। कई दिन पहले से ही बडे-बडे जुलूस, सभाये और प्रदर्शन किये गये, जो प्रचार के लिए और असली प्रदर्शन से पहले रिहर्सल के तौर पर थे। मै भी लखनऊ गया और इनमे से कई कार्यो में मौजूद भी रहा। इन प्रारभिक प्रदर्शनो की, जो पूरी तरह से व्यवस्थित और शान्त थे, कामयाबी ने अधिकारियो को झुंझला दिया, और उन्होने खास-खास जगहो मे जुलूसो को रोकना और उनके निकाले जाने के खिलाफ हुक्म देना शुरू किया। इसी सिलसिले मे मुझे नया अनुभव हुआ, और मेरे शरीर पर भी पुलिस के डण्डे और लाठी की मार पडी।

जुलूस, आमद-रफ्त मे रुकावट पडने न देने का सबब जाहिर करके, बन्द किये गये थे। हमने फैसला किया कि इस मामले मे शिकायत का कोई मौका न दिया जाय, और जहाँतक मुझे याद है, सोलह-सोलह आदमियो की छोटी-छोटी टुकडियाँ बनाकर उन्हे अलग-अलग एकान्त रास्तो से सभा की जगह पर भेजने का इन्तजाम किया। कानून की बारीकी से देखा जाय तो बेशक यह हुक्म का तोडना ही था, क्योंकि झण्डा लेकर सोलह आदमियो का निकलना एक जुलूस ही था। सोलह आदमियो के एक झुण्ड के आगे-आगे मै था, और एक बडे फासले के बाद ऐसा ही एक और दल आया, जिसके नेता मेरे साथी गोविन्दवल्लभ पन्त थे। वह सडक सुनसान-सी थी। मेरा दल शायद दोसौ गज ही गया होगा, कि हमने अपने पीछे घोडो के टापो की टपटपाहट सुनी। जब हमने पीछे मुँह किया तो देखा कि घुडसवारो का एक दल, जिसमे शायद दो या तीन दर्जन व्यक्ति थे, हमारे ऊपर तेजी से चढा चला आ रहा है। वे फौरन ठीक हमारे पास आ पहुँचे, और उनके घोडो की जुडी हुई कतार ने सोलह आदमियो के हमारे छोटे-से झुण्ड को तितर-बितर कर दिया। फिर घुडसवारो ने हमारे स्वय-सेवको को बडे डण्डो से मारना शुरू किया, और स्वयसेवक सहसा सडक की बाजू की तरफ भागे, और कुछ तो छोटी दुकानो में भी घुस गये। सवारो ने उनका पीछा किया, और उन्हे पीट-पाटकर गिरा दिया। जब मैने घोडो को ऊपर चढते हुए देखा, तब मेरी भी स्वाभाविक वृत्ति ने मुझे प्रेरित किया कि मै बच जाऊँ। वह हिम्मत

तोडनेवाला दृश्य था। मगर फिर, मेरा खयाल है कि, किसी दूसरी स्वाभाविक वृत्ति ने मुझे अपनी जगह पर ही खड़ा रक्खा, और मैं पहले हमले को बरदाश्त कर गया, जिसे मेरे पीछे के स्वयसेवको ने रोक लिया था। अचानक मैंने देखा कि मैं सडक के बीच मे अकेला हूँ; मुझसे कुछ ही गज की दूरी पर सब तरफ पुलिसवाले थे, जो हमारे स्वयसेवको को पीट गिराते थे। अपने-आप ही मैं, कम नुमायाँ होने के खातिर, सडक की बाजू की तरफ धीरे-धीरे चलने लगा। मगर मैं फिर रुक गया और मैंने अपने दिल मे कुछ विचार किया, और यह फैसला किया कि हट जाना मेरे लिए अच्छा न होगा। यह सब सिर्फ कुछ ही पल मे हो गया, मगर मुझे उस समय के विचार-सघर्ष और निर्णय का अच्छी तरह स्मरण है। यह निर्णय मेरी राय मे मेरे उस स्वाभिमान का परिणाम था जो मुझे कायर की तरह काम करते नही देख सकता था। फिर भी कायरता और हिम्मत के बीच की रेखा बहुत बारीक थी, और मैं कायरता की तरफ भी जा सकता था। मैंने ऐसा निर्णय किया ही था कि मैंने मुडकर देखा कि एक घुडसवार मेरे ऊपर घोड़ा छोड़ता चला आ रहा है और अपना नया लम्बा डण्डा घुमा रहा है। मैंने उससे कहा—'लगाओ', और अपना सिर जरा हटा लिया। यह भी सिर और मुँह को बचाने की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति ही थी। उसने मेरी पीठ पर धमाधम दो प्रहार किये। मुझे चक्कर आने लगा और मेरा सारा शरीर थरथराने लगा, मगर मुझे यह जानकर आश्चर्य और सन्तोष हुआ कि मैं फिर भी खडा ही रहा। फौरन ही पुलिस-दल पीछे हटा लिया गया, और उसे हमारे सामने सड़क रोकने को कहा गया। हमारे स्वयसेवक फिर इकट्ठे हो गये, जिनमें से कई के खून निकल रहा था और कई की खोपड़ियाँ फूटी हुई थी। हमसे पन्त और उनका दल भी आ मिला, वह भी पीटा गया था। अब हम सब पुलिस के सामने बैठ गये। इस तरह लगभग एक घण्टे तक बैठे रहे और अँधेरा हो गया। एक तरफ तो कई बडे-बडे अफसर इकट्ठे हो गये, और दूसरी तरफ जैसे-जैसे खबर फैली वैसे-वैसे लोगो की बड़ी भीड इकट्ठी होने लगी। आखिरकार अधिकारी हमे अपने रास्ते से जाने देने पर राजी हो गये, और उसी रास्ते से हम गये, और हमारे आगे-आगे हमराह की तरह से पुलिस के घुडसवार भी चले, जिन्होने हमपर हमला किया था और हमें मारा था।

इस छोटी-सी घटना का हाल मैंने कुछ तफसील से लिखा है, क्योकि इसका मुझपर खास असर हुआ। मुझे जो शारीरिक कष्ट हुआ वह मेरी इस खुशी के खयाल के आगे याद ही नही रहा कि मै भी लाठी के प्रहारो को बरदाश्त करने और उनके सामने टिके रहने के लायक़ मजबूत हूँ। और जिस बात से मुझे ताज्जुब हुआ वह यह कि इस सारी घटना मे, और जबकि मैं पीटा जा रहा था तब भी मेरा दिमाग ठीक-

ठीक काम करता रहा, और मैं अपने अन्दर की भावनाओ का ज्ञानपूर्वक विश्लेषण करता रहा। इस रिहर्सल ने मुझे दूसरे दिन सवेरे बडी मदद दी, जबकि हमारा और भी सख्त इम्तिहान होनेवाला था। क्योकि दूसरे दिन सवेरे ही साइमन-कमीशन आनेवाला था, और उसी वक्त हमारा बडा प्रदर्शन होनेवाला था।

उस समय मेरे पिताजी इलाहाबाद में थे, और मुझे अदेशा था कि जब वह दूसरे दिन सवेरे अखबारो मे मुझपर होनेवाले हमले का हाल पढेगे तो वह और परिवार के दूसरे लोग भी चिन्तित हो जावेगे। इसलिए मैंने रात को उन्हे टेलीफोन कर दिया कि सब खैरियत है और आप लोग किसी किस्म की फिक्र न करे। मगर उन्हे फिक्र तो हुई। और जब वह चैन से न रह सके तो, आधी रात के करीब, उन्होंने लखनऊ आना तय किया। आखरी ट्रेन छूट चुकी थी, इसलिए वह मोटर से रवाना हुए। रास्ते मे मोटर में कुछ गडबड हो गई, और वह १४६ मील का सफर पूरा करके सवेरे करीब ९ बजे बिलकुल थके-माँदे लखनऊ पहुँचे।

यह करीब-करीब वह वक्त था जबकि हम जुलूस मे स्टेशन जाने की तैयारी कर रहे थे। हमारे कुछ भी करने से जितना लखनऊ उभड न सकता था, उतना कल की घटनाओ से उभड गया, और सूरज उगने से भी पहले बडी तादाद मे लोग स्टेशन पर पहुँच गये। शहर के मुख्तलिफ हिस्सो से बेशुमार छोटे-छोटे जुलूस आये, और काग्रेस-आफिस से बडा जुलूस चार-चार की लाइन मे रवाना हुआ, जिसमे कई हजार आदमी थे। हम बडे जुलूस मे थे। ज्योही हम स्टेशन के पास पहुँचे, हमे पुलिस ने रोक दिया। वहाँ स्टेशन के सामने करीब आध मील लम्बा और इतना ही चौडा बडा भारी खुला मैदान था (यहाँ अब नया स्टेशन बन गया है), और उस मैदान की एक बाजू पर हमे कतार से खडा कर दिया गया। हमारा जुलूस वही खडा रहा, हमने आगे बढने की बिलकुल कोशिश नही की। उस जगह सब दूर पैदल और घुडसवार पुलिस, और फौज भी, आकर भर गई थी। हमदर्दी रखनेवाले तमाशबीनो की भीड भी बढ गई थी, और कई जगह दो-दो तीन-तीन आदमी खुली जगह मे जा खडे हुए थे। अचानक दूर पर हमे एक दल आता हुआ दिखाई दिया। वह घुडसवारो की दो या तीन लम्बी लाइने थी, जो सारे मैदान को घेरे हुए थी और हमारी तरफ दौड रही थी, और मैदान में जो कई लोग जा खडे हुए उन्हे मारती-कुचलती हुई आ रही थी। घोडे को छोडते हुए सवारो का हमला एक बडा अच्छा दृश्य था, बशर्ते कि रास्ते मे खडे हुए बेचारे बेखबर तमाशबीनो के साथ, जो घोडो के पैरो-तले आ गये, दर्दनाक वाकया न हो जाता। इन हमला करनेवाली लाइनो के पीछे वे लोग जमीन पर पडे हुए थे, जिनमे कुछ तो उठ भी नही सकते थे और कुछ दर्द से कराह रहे थे।

उस मैदान का सारा नजारा जग के मैदान का-सा हो गया था। मगर उस नजारे को देखने या कुछ सोच-विचार करने का हमें ज्यादा वक्त नही मिला, घुडसवार फौरन हमारे ऊपर आ गये और उनकी आगे की कतार हमारे जुलूस के आगे खड़े हुए लोगो से एक ही छलाँग मे टकरा गई। हम वही डटे रहे, और चूँकि हम हटते हुए नही दिखाई दिये, उन्हे उसी दम घोडो को रोक देना पड़ा। घोडे पिछले पैरो पर खडे रह गये, उनके अगले पैर हमारे सिरो पर लटकते हुए हिल रहे थे। और फिर हमपर पैदल और घुडसवार दोनो की मार ओर लाठियाँ खटाखट पडने लगी। वह वहुत भयकर मार थी, और पिछले दिन जो मेरे दिमाग की विचार-शक्ति कायम रही थी वह जाती रही। मुझे सिर्फ इतना औसान रहा कि मुझे अपनी जगह पर ही खडा रहना चाहिए, और गिरना या पीछे हटना नही चाहिए। मार से मैं आधा अन्धा-सा हो गया, और कभी-कभी मन-ही-मन गुस्सा और उलटकर मारने का खयाल भी मुझको आया। मैंने सोचा कि अपने सामने के पुलिस-अफसर को गिराकर घोडे पर खुद चढ जाऊँ। यह कितना आसान है। मगर लवे अर्से की तालीम और अनुशासन ने काम दिया, और मैंने, अपने सिर को मार से वचाने के सिवा, हाथ तक नही उठाया। इसके अलावा, मैं अच्छी तरह जानता था कि अगर हमारी तरफ से कुछ भी मुकाविला हुआ तो एक भीषण दुर्घटना-हो जायगी, जिसमे हमारे आदमी वड़ी तादाद में गोलियो से भून दिये जायँगे।

हमे वह समय भयकर रूप से लम्वा मालूम पडा, मगर शायद वह सिर्फ कुछ ही मिनटो का खेल था। उसके वाद धीरे-धीरे एक-एक कदम हमारी लाइन, टूटे वगैर, पीछे हटने लगी। इससे मैं कुछ-कुछ अलग और दोनो तरफ से ज्यादा खुला हुआ रह गया। मुझपर और मार पडी और फिर मैं अचानक पीछे से उठा लिया गया और वहाँ से दूर ले जाया गया, जिससे मुझे वडी झुझलाहट हुई। मेरे कुछ नौजवान साथियो, ने यह कयास करके कि मुझपर घातक हमला किया जा रहा है, मुझे इस तरह एकाएक वचा लेना तय कर लिया था।

हमारे जुलूस के लोग अपनी असली लाइन से करीव एक सौ फीट पीछे फिर कतार से खड़े हो गये। पुलिस भी पीछे हट गई और हमसे पचास फीट के फासले पर एक लाइन में खडी हो गई। इस तरह हम खडे रहे, और साइमन-कमीशन, जो इस सारे झगडे की जड था, हमसे वहुत दूर करीव आधे मील की दूरी पर स्टेशन से चुपचाप निकल गया। इतना करने पर भी वह काले झंडो या प्रदर्शन करनेवालो से वचकर न निकल सका। इसके वाद ही, हम पूरा जुलूस वनाकर कॉंग्रेस-दफ्तर आये, और वहाँ से अलग-अलग चले गये। मै अपने पिताजी के पास गया, जो वडी चिन्ता से मेरा इन्तजार कर रहे थे।

अब जब सामायिक उत्तेजना चली गई थी तो मुझे सारे शरीर मे दर्द और भारी थकान मालूम होने लगी। जिस्म का करीब-करीब हर हिस्सा दर्द करता था, और सब जगह अधी चोटो और मार के निशान हो गये थे। मगर खैर थी कि मेरे किसी नाजुक जगह पर चोट नही आई थी। परन्तु हमारे कई साथी इतने खुशकिस्मत न थे। उन्हे बुरी तरह चोटे आई थी। गोविन्दवल्लभ पन्त पर, जो मेरे पास खडे थे, ज्यादा मार पडी, क्योकि वह छ फीट से भी ज्यादा ऊँचे-पूरे थे, और उस वक्त जो चोटे उनके आई उनके सबब से बहुत अर्से तक उन्हे इतना दर्द और तकलीफ रही कि वह कमर भी सीधी नही कर सकते थे और न कुछ ज्यादा काम-काज ही कर सकते थे। उसके बाद मुझे अपनी जिस्मानी हालत और बरदाश्त की ताकत का कुछ ज्यादा घमण्ड हो गया। मगर मार पड़ने की याद से ज्यादा तो मुझे कई मारनेवाले पुलिस-वालो, खासकर अफसरो, के चेहरो की याद बनी हुई है। ज्यादातर असली ठोक-पीट तो यूरोपियन सारजेण्टो ने की, हिन्दुस्तानी मामूली सिपाही तो हलके-हलके ही काम चला रहे थे। उन चेहरो मे हिकारत और खून की प्यास करीब-करीब पागलपन की हद तक भरी हुई थी, और उनमे हमदर्दी या इन्सानियत का नामोनिशान भी न था। ठीक उसी वक्त, शायद, हमारी तरफ के चेहरे भी देखने मे उतने ही नफरत-भरे होगे, और हमारे ज्यादातर अहिंसात्मक होने से, हमारे विरोधियो के लिए हमारे दिल और दिमाग मे कोई प्रेम भर नही गया होगा, और न हमारे चेहरो की सुन्दरता बढ गई होगी। लेकिन फिर भी एक-दूसरे के खिलाफ हमे कोई शिकायत न थी, हमारा कोई जाती झगड़ा न था, न कोई दुर्भाव था। उस वक्त हम अजीब और जबरदस्त ताकतो के प्रतिनिधि थे, जो हमे अपने अधीन बनाये हुए थी और जो हमे इधर और उधर फेकती जाती थी और जिन्होने हमारे दिलो और दिमागो पर बडी खूबी से कब्जा करके हमारी अभिलाषाओ और भावनाओ को उभाड दिया था और हमे अपना अन्धा हथियार बना लिया था। हम अन्धे की तरह जद्दोजहद करते थे, और यह नही जानते थे कि यह किस लिए करते है या कहाँ चले जा रहे है? कार्य की उत्तेजना ने हमे टिकाये रक्खा था, मगर जब वह चली गई तो फौरन यह सवाल पैदा हुआ कि आखिर यह सब किस लिए किया जा रहा है?—किस मकसद के लिए?

२६

ट्रेड यूनियन कॉंग्रेस

उस साल देश की राजनीति मे ज्यादातर साइमन-कमीशन के बायकाट और सर्वदल-सम्मेलन का ही बोलबाला रहा। लेकिन मेरी अपनी दिलचस्पी ज्यादातर दूसरी तरफ रही और मैंने काम भी ज्यादातर उन्ही दिशाओ मे किया। कॉंग्रेस के कार्यवाहक प्रधान-मत्री की हैसियत से मै उसके सगठन की देखभाल करने और उसे मजबूत बनाने मे लगा रहा। खास तौर पर मेरी दिलचस्पी इस बात मे थी कि मै लोगो का ध्यान सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनो की तरफ खीचूँ। आजादी के सिलसिले मे मदरास मे हम जिस हद तक पहुँच गये थे उस स्थिति को भी पुष्ट रखना था। खास तौर पर इसलिए कि सर्व-दल-सम्मेलन का तमाम झुकाव हम लोगो को पीछे खीचने की तरफ था। इस उद्देश को सामने रखकर मैंने देश मे बहुत सफर किया और कई बड़ी-बडी आम सभाओ मे व्याख्यान दिये। मेरा खयाल है कि १९२८ मे मै चार सूबो की राजनैतिक कान्फ्रेन्सो का सभापति बना। ये सूबे थे दक्षिण मे मलाबार और उत्तर मे पजाब, दिल्ली और सयुक्तप्रान्त। इसके अलावा बम्बई और बगाल में मै युवक-सघो और विद्यार्थियो की कान्फ्रेन्सो का सभापति बना। वक्तन-फवक्तन् मैं सयुक्तप्रान्त के देहात मे भी गया और कभी-कभी कारखानो के मजदूरो की सभाओ मे भी मैंने व्याख्यान दिये। मेरे व्याख्यानो मे सार तो हमेशा ज्यादातर एक ही रहता था, यद्यपि उसका रूप मुकामी हालतो के मुताबिक बदल जाता था, और जिन बातो पर मै जोर देता था वे उस तरह की होती थी कि जिस किस्म के लोग सभाओ मे आते थे। हर जगह मैंने राजनैतिक आजादी और सामाजिक स्वाधीनता पर जोर दिया और यह कहा कि राजनैतिक आजादी सामाजिक स्वाधीनता की सीढी है। यानी, आर्थिक स्वाधीनता हासिल करने के लिए यह जरूरी है कि पहले राजनैतिक आजादी हो। खास तौर से काग्रेस के कार्यकर्ताओ और पढे-लिखे लोगो मे मैं समाजवाद की विचार-धारा फैलाना चाहता था। क्योकि ये लोग ही राष्ट्रीय आन्दोलन की असली रीढ थे और यही ज्यादातर निहायत सकुचित राष्ट्रीयता की बात सोचा करते थे। इनके व्याख्यानो मे प्राचीन काल के गौरव पर बहुत जोर दिया जाता था, और इस बात पर भी कि विदेशी सरकार ने हमे क्या-क्या भौतिक और आध्यात्मिक हानियाँ पहुँचाई है। हमारे लोगो को घोर कष्ट सहने पड रहे है, हमारे ऊपर दूसरो का राज्य रहना बडी बेइज्जती की बात है, इसलिए हमारी कौमी इज्जत यह चाहती है कि हम आजाद हो और हमारे

लिए आवश्यक है कि हम लोग मातृभूमि की वेदी पर अपनी बलि चढावे। ये बाते सुपरिचित थी। हर हिन्दुस्तानी के दिल मे उनकी आवाज गूज उठती थी। मेरे मन मे भी राष्ट्रीयता का यह भाव भडक उठता था और मै उसमे गद्‌गद् हो जाता था—यद्यपि मै हिन्दुस्तान के ही नही, कहीके भी पुराने जमाने का अन्धा प्रशसक कभी नही रहा। लेकिन यद्यपि उनमे सच्चाई जरूर थी, फिर भी बार-बार इस्तैमाल मे आने की वजह से वे वासी ओर लचर होती जाती थी और उनको लगातार बार-बार दुहराते रहने का नतीजा यह होता था कि हम अपनी लडाई के सबसे ज्यादा जरूरी पहलुओ तथा दूसरे मसलो पर गौर नही कर पाते थे। इन बातो मे जोश जरूर आता था, लेकिन उनसे विचारो को प्रोत्साहन नही मिलता था।

हिन्दुस्तान मे मै समाजवाद के मैदान मे सबसे पहले नही आया बल्कि सच बात तो यह है कि मै कुछ पिछडा हुआ रहा। जहाँ और बहुत-से लोग सितारे की तरह चमकते आगे बढ गये वहाँ मै तो बहुत-सी तकलीफ के साथ कदम-कदम आगे बढा। विचार-धारा की दृष्टि से मजदूरो की ट्रेड यूनियनो का आन्दोलन निश्चित रूप से समाजवादी था और ज्यादातर युवक-सघो की भी यही बात थी। जब मै दिसम्बर १९२७ मे योरप से लौटा तब एक किस्म का अस्पष्ट और गोल-मोल समाजवाद हिन्दुस्तान की आबोहवा का एक हिस्सा बन चुका था और व्यक्तिगत समाजवादी तो उससे भी पहले हिन्दुस्तान मे बहुत-से थे। ये लोग ज्यादातर स्वप्नदर्शी थे। लेकिन धीरे-धीरे उनपर मार्क्स के उसूलो का असर बढता जाता था और उनमे से कुछ तो अपनेको सौ फीसदी मार्क्सवादी समझते थे। योरप और अमेरिका की तरह हिन्दुस्तान मे भी, सोवियट यूनियन मे जो कुछ हो रहा था उससे और खासकर पाँच-साला-योजना से, इस प्रवृत्ति को बहुत बल मिला।

एक समाजवादी कार्यकर्त्ता की हैसियत से मेरी अहमियत सिर्फ इस बात मे थी कि मै एक मशहूर कांग्रेसी था और कांग्रेस मे बडे ओहदो पर था। मेरे अलावा और भी बहुत-से कांग्रेसी थे जो मेरी ही तरह सोचने लग गये थे। यह प्रवृत्ति सबसे ज्यादा युक्तप्रान्त की सूबा कांग्रेस कमिटी मे पाई जाती थी, जिसमे हमने १९२६ मे ही एक नरम समाजवादी कार्यक्रम बनाने की कोशिश की थी। हमारे सूबे मे जमीदारी और ताल्लुकेदारी प्रथा है, इसलिए सबसे पहले हमे जिस सवाल का सामना करना पडा वह था जमीन का सवाल। हम लोगो ने ऐलान किया कि मौजूदा जमीदारी-प्रथा रद होनी चाहिए और सरकार और काश्तकार के बीच मे किसी दूसरे की कोई जरूरत नही है। हम लोगो को फूंक-फूंक कर कदम रखना पडा, क्योकि हमे एक ऐसी आबोहवा मे काम करना था जो उस वक्त तक इस तरह के खयालात की आदी नही थी।

इसके बाद, १९२९ मे, युक्तप्रान्त की सूबा काग्रेस कमिटी एक कदम और आगे बढ गई और उसने निश्चित रूप से समाजवाद के ढग पर अ० भा० काग्रेस कमिटी से एक सिफारिश की, जिसके फल-स्वरूप जब १९२९ की गर्मियो मे बम्बई मे अ० भा० काग्रेस-कमिटी की बैठक हुई तब उसमे युक्तप्रान्त की तजवीज का दीबाचा मजूर कर लिया गया और इस तरह उस तजवीज मे समाजवाद का जो उसूल मौजूद था वह भी मजूर कर लिया गया। युक्तप्रान्त की तजवीज मे जो तफसीलवार कार्यक्रम दिया गया था उसपर विचार करने की बात अगली बैठको के लिए मुल्तवी करदी गई। ऐसा मालूम पडता है कि ज्यादातर लोग अ० भा० कॉंग्रेस-कमिटी और सयुक्तप्रान्तीय काग्रेस-कमिटी के इन प्रस्तावो को बिलकुल भूल ही गये और वे यह समझ बैठे है कि पिछले एक-दो सालो से साम्यवाद की चर्चा काग्रेस मे यकायक उठ खडी हुई है। फिर भी इतना तो सही ही है कि अ० भा० काग्रेस-कमिटी ने उस प्रस्ताव पर अच्छी तरह विचार किये बिना ही उसे पास कर दिया था और ज्यादातर मेम्बरो ने शायद यह महसूस नही कर पाया कि वे क्या कर रहे है?

'इण्डिपेण्डेन्स फॉर इण्डिया लीग' (हिन्दुस्तान की आजादी चाहनेवालो का सघ) की सयुक्तप्रान्त वाली शाखा मे सूबे के खास-खास काग्रेसियो के अलावा और कोई न था और यह शाखा निश्चित रूप से समाजवाद को माननेवाली थी, इसलिए वह साम्यवाद की तरफ और काग्रेस-कमिटी से, जिसमे सब तरह के लोग थे, कुछ आगे चली गई। बल्कि सच बात तो यह है कि 'आजादी-सघ' का एक ध्येय यह भी था कि सामाजिक स्वाधीनता होनी चाहिए। हम लोग हिन्दुस्तान-भर मे सघ को मजबूत बनाकर यह चाहते थे कि आजादी और समाजवाद का प्रचार करने मे उस सगठन से काम लिया जाय। किन्तु दुर्भाग्य से कुछ हद तक युक्त-प्रान्त को छोडकर और कही सघ का कार्य ठीक तौर से नही चला और इससे मुझे बहुत मायूसी हुई। इसका सबब यह नही था कि देश मे हमारे मददगारो की कमी थी, बल्कि बात यह थी कि हमारे ज्यादातर कार्यकर्ता काग्रेस मे भी प्रमुख कार्य करनेवाले थे और चूँकि काग्रेस ने कम-से-कम उसूलन् तो आजादी को अपना ध्येय बना लिया था इसलिए वे अपना काम कॉंग्रस के सगठन के जरिये कर सकते थे। दूसरा सबब यह था कि जिन लोगो ने शुरू-शुरू मे आजादी-सघ कायम किया उनमे से कुछ ने गभीरता-पूर्वक यह नही सोचा कि सस्था के रूप मे हमे इस सघ को मजबूत बनाना है, वे तो यह समझते थे कि यह सस्था तो महज इसलिए है कि काग्रेस-कार्य-समिति पर इसका दबाव पडता रहे और कार्य-समिति के चुनाव पर असर डालने के लिए भी इसका इस्तैमाल किया जाय। इसलिए 'आजादी-सघ' मुरझा गया और ज्यो-ज्यो काग्रेस ज्यादा लडाकू होती गई त्यो-त्यो उसने तमाम

जिंदा-दिल लोगों को अपनी ओर खींच लिया और संघ कमजोर होता गया। १९३० में जब सत्याग्रह की लड़ाई आई तब यह संघ कांग्रेस में मिलकर गायब हो गया।

१९२८ के पिछले छ: महीनों में और १९२९ में मेरी गिरफ्तारी की चर्चा अक्सर होती रहती थी। मुझे पता नहीं कि उन सिलसिले में अखबारों में जो कुछ छपता था उसके पीछे, और ऐसे दोस्तों ने जो मालूम पड़ता था कि जिस बात को वे कहते हैं उसके बाबत अच्छी तरह जानते है, मुझे जो निजी चेतावनियां मिला करती थी उनके पीछे, असलियत क्या थी। लेकिन उन चेतावनियों ने मेरे दिल में एक किस्म की अनिश्चितता पैदा कर दी, और मैं यह महसूस करने लगा कि मैं किसी भी वक्त गिरफ्तार किया जा सकता हूँ। मुझे खास तौर पर दूसरी कोई चिन्ता न थी, क्योंकि मैं यह जानता था कि भविष्य में मेरे लिए कुछ भी हो, लेकिन मेरी जिन्दगी रोजमर्रा के कामों की निश्चित जिन्दगी नहीं हो सकती। इसलिए मैं सोचता था कि मैं अनिश्चितता का और एकाएक होनेवाले हेर-फेरों का तथा जेल जाने का जितनी जल्दी आदी हो जाऊं उतना ही अच्छा है। और मेरा खयाल है कि कुल मिलाकर मैं इस खयाल का आदी होने में सफल हुआ। मेरे घरवालों ने भी उस खयाल के आदी होने में कामयाबी हासिल की, हालांकि जितनी कामयाबी मुझे मिली उन्हें उससे बहुत कम मिली। इसीलिए जब-जब मैं गिरफ्तार हुआ, तब-तब मुझे उसमें खास बात मालूम नहीं हुई। हां, अगर मैं एकाएक गिरफ्तार होने के खयाल का आदी न हो जाता तो ऐसा न होता। इस तरह गिरफ्तारी की खबरों में नुकसान-ही-नुकसान न था, फायदा भी था। उन्होंने मेरी रोजमर्रा की जिन्दगी में कुछ जोश और तीखापन पैदा कर दिया। आजादी का हरेक दिन बेशकीमत मालूम होने लगा, मानो वह एक दिन मुनाफे में मिला हो। सच वाकया तो यह है कि १९२८ और १९२९ में मैं जी भरकर काम करता रहा और आखीर में मेरी गिरफ्तारी १९३० के अप्रैल में जाकर हुई। उसके बाद जेल से बाहर जो थोड़े-से दिन मैंने कई बार बिताये उनमें अवास्तविकता की काफी मात्रा थी। मुझे ऐसा मालूम पड़ता था कि मैं अपने ही घर में एक अजनबी हूँ, जो थोड़े दिनों के लिए वहां आया हूं। उसके अलावा मेरे हर काम में अनिश्चितता रहने लगी, क्योंकि कोई यह नहीं कह सकता था कि मेरे लिए कल क्या होनेवाला है। यह आशंका तो हर वक्त बनी रहती थी कि न जाने जेल से वापस जाने का बुलावा कब आ जाय।

ज्यों-ज्यों १९२८ का आखीर आता गया, त्यों-त्यों कलकत्ता-कांग्रेस नजदीक आती गई। उसके सभापति मेरे पिताजी चुने गये थे। उनका दिलो-दिमाग उस वक्त सर्व-दल-सम्मेलन तथा उसके लिए उन्होंने जो रिपोर्ट तैयार की थी उससे सराबोर

था। वह चाहते थे कि उसे कॉंग्रेस से पास करा लिया जाय। वह यह जानते थे कि मैं उनकी इस वात से सहमत न था, क्योकि मैं आजादी के प्रश्न पर कोई समझौता करने को राजी न था। इस वात पर वह नाराज थे। इस मामले पर हम लोगो ने वहुत वहस नही की। लेकिन हम दोनो के मन मे मानसिक सघर्ष का भाव निश्चित-रूप से काम कर रहा था और हम लोग यह जानते थे कि हम एक-दूसरे के खिलाफ जा रहे है। मत-भेद तो हम लोगो मे इससे भी पहले अक्सर हुआ करता था, ऐसा भारी मत-भेद कि जिसके फल-स्वरूप हम अलग-अलग पक्षो मे रहते थे, लेकिन मेरा खयाल है कि इससे पहले या इसके वाद भी और किसी भी मौके पर हम लोगो मे इतनी तनातनी नही हुई जितनी कि इस वक्त थी।

हम दोनो ही इस वात से कुछ हद तक दुखी थे। कलकत्ते मे तो मामला इस हद तक वढ़ गया कि पिताजी ने यह वात साफ-साफ कहदी कि अगर कॉंग्रेस मे उनकी वात नही चली, यानी अगर कॉंग्रेस ने, सर्व-दल-सम्मेलन की रिपोर्ट के पक्ष मे जो तजवीज पेश की जायगी उसे, कसरत राय से मजूर नही किया, तो वह कॉंग्रेस का सभापति रहने से इन्कार कर देगे। यह वात विलकुल वाजिव थी और विधान की दृष्टि से उन्हे यह तरीका अख्त्यार करने का पूरा हक था। फिर भी उनके वहुत-से उन मुखालिफो के लिए वह वहुत-ही परेशानी की वात थी जो यह नही चाहते थे कि इस वात के लिए मामला इस हद तक वढ जाय। मेरा खयाल है कि कॉंग्रेस मे और दूसरी सस्थाओ मे भी अक्सर यह प्रवृत्ति पाई जाती है कि लोग नुक्ताचीनी और वुराई तो करते है, लेकिन खुद जिम्मेदारी लेने से जी चुराते है। हमे हमेशा यह उम्मीद वनी रहती है कि हमारी नुक्ताचीनी की वजह से दूसरी पार्टी हमारे माफिक अपनी नीति वदल देगी और नाव को खेने की जिम्मेदारी हमारे सिर नही पड़ेगी। जहाँ जिम्मेदारी हम लोगो को सौपी ही नही जाती और जहाँ कार्य-कारिणी को न तो हम हटा ही सकते है न उससे जवाव ही तलव कर सकते है, जैसा कि आजकल हिन्दुस्तान की सरकार के मामले मे है, वहाँ विलागक सीधी मार को छोड़कर हमारे पास सिवा नुक्ताचीनी करने के कोई मार्ग नही और वह नुक्ताचीनी लाजिमी तौर पर नकारात्मक होगी, फिर भी अगर हम इस नकारात्मक आलोचना को कारगर वनाना चाहते हैं तो उसके पीछे हमारे मन में यह इरादा होना चाहिए, हमे इस वात के लिए तैयार रहना चाहिए, कि जव-कभी हमे मौका मिलेगा तव सव इन्तजाम और जिम्मेदारी हम अपने हाथ मे ले लेंगे—फिर चाहे वे महकमे मुल्की हो या फौजी, भीतरी हो या वाहरी। महज आशिक अख्त्यार माँगना, जैसा कि लिवरल लोग फौज के मामले मे करते है, इस वात का इकवाल करना है कि हम सरकार का

काम नही चला सकते। इस इकबाल से हमारी नुक्ताचीनी का वजन घट जाता है।

गाधीजी के आलोचको मे यह बात अक्सर पाई जाती है कि वे उनकी नुक्ताचीनी करते है, बुराई करते है, लेकिन जब उनसे उनके फलस्वरूप यह कहा जाता है कि फिर लीजिए इस काम को आप ही चलाइए, तब उनके पैर उखड जाते हैं। काँग्रेस मे ऐसे बहुत-से शख्स रहे हैं जो उनके बहुत-से कामो को नापसद करते है और इसलिए बडे जोरो के साथ उनकी नुक्ताचीनी करते है, लेकिन जो इस बात के लिए तैयार नही हैं कि उन्हे काग्रेस से निकाल दे। यह रुख समझ मे तो आसानी से आ जाता है, लेकिन यह किसी भी पक्ष के साथ इसाफ नही करता।

कलकत्ता-काग्रेस मे भी कुछ-कुछ इसी किस्म की मुश्किल पैदा हुई। दोनो दलो मे समझौते की बात-चीत चली और यह जाहिर किया गया कि समझौते का एक रास्ता निकल आया है, लेकिन अखीर मे वह गिर गया। ये सब बाते बड़े गोल-माल मे डालनेवाली थी और बहुत अच्छी भी नही थी। काँग्रेस के खास प्रस्ताव मे, जैसा कि वह अखीर मे पास हुआ, सर्वदल-सम्मेलन की रिपोर्ट को मजूर कर लिया गया, लेकिन उसमे ब्रिटिश सरकार से भी यह कह दिया गया कि अगर उसने एक साल के अन्दर इस विधान को मजूर नही किया तो काग्रेस फिर अपने आजादी के ध्येय को ग्रहण कर लेगी। असल मे इस प्रस्ताव ने सरकार को एक शाइस्ता चुनौती देकर उसे साल-भर की मियाद दी थी। इसमे कोई शक नही कि यह प्रस्ताव हमे आजादी के ध्येय से नीचे घसीट लाया था, क्योकि सर्वदल-सम्मेलन की रिपोर्ट ने तो पूरे डोमिनियन स्टेटस की भी माँग नही की थी। फिर भी यह प्रस्ताव इस अर्थ मे बुद्धिमत्तापूर्ण था कि उसने एक ऐसे वक्त मे काग्रेस मे फूट नही होने दी जब कि कोई भी फूट के लिए तैयार न था और उसने १९३० मे जो लड़ाई शुरू हुई उसके लिए सब काग्रेसियो को एकसाथ रक्खा। यह बात तो बिलकुल साफ थी कि ब्रिटिश सरकार सालभर के अन्दर सब दलो द्वारा बनाये गये विधान को मजूर नही करेगी। सरकार से लडाई होना लाजिमी था, और उस वक्त मुल्क की जैसी हालत थी उसमे सरकार से किसी किस्म की लडाई उस वक्त तक कारगर नही हो सकती थी जबतक उसे गाधीजी की रहनुमाई न मिले।

मैने काग्रेस के खुले जलसे मे इस प्रस्ताव का विरोध किया था। यद्यपि यह मुखालिफत मैंने कुछ-कुछ बेमन से की थी, ताहम इस बार भी मुझे प्रधानमत्री चुना गया। कुछ भी हो, मै मंत्री-पद पर बना रहा और काग्रेस के क्षेत्र में ऐसा मालूम पड़ता था कि मै वही काम कर रहा हूँ जो ब्रे का नामी 'विकर' करता था। काग्रेस की गद्दी पर कोई भी सभा-पति बैठे, मै हमेशा उस सगठन को सम्हालने के लिए उसका मत्री बनाया जाता था।

झरिया कोयले की खानो के क्षेत्र के बीचो-बीच है। कलकत्ता-काँग्रेस से कुछ दिन पहले यही हिन्दुस्तान-भर की ट्रेड यूनियन काँग्रेस हुई। उसके पहले दो दिन मैंने उसमें हाजिर रहकर उसकी कारँवाई मे भाग लिया और उसके बाद मुझे कलकत्ते चले आना पड़ा। मेरे लिए ट्रेड यूनियन-काँग्रेस मे शामिल होने का यह पहला ही मौका था और मै वस्तुत एक नया आदमी था, यद्यपि किसानो मे मैंने जो काम किया था और हाल ही मे मजदूरो मे जो काम मैंने किये थे उनकी वजह से मैं जनता मे काफी लोक-प्रिय हो गया था। वहाँ जाकर मैंने देखा कि सुधारवादियो मे और उनसे आगे बढे हुए तथा क्रान्तिकारी लोगो मे पुरानी कशमकश जारी है। बहस की खास बातें ये थी कि किसी इन्टरनेशनल से तथा साम्राज्य-विरोधी सघ से और अखिल-विश्व-शान्ति-सघ से अपना ताल्लुक जोडा जाय या न जोड़ा जाय और जिनेवा मे अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर आफिस की जो कान्फ्रेन्स होने जा रही है उसमे अपने प्रतिनिधि भेजना मुनासिब होगा या नही ? इन सवालो से भी कही ज्यादा जरूरी यह बात थी कि काँग्रेस के दोनो हिस्सो के दृष्टिकोण में बहुत भारी फर्क था। एक हिस्सा तो मजदूर-सघ के पुराने लोगो का था, जो राजनीति मे माडरेट था और जो सचमुच इस बात को शक की निगाह से देखता था कि उद्योग-धन्धो के मजदूरो और मिल-मालिको के झगड़ो में राजनीति को मिलाया जाय। उनका विश्वास था कि मजदूरो को अपनी शिकायते दूर करने से आगे नही जाना चाहिए और उसके लिए भी उन्हे फूँक-फूँक-कर कदम रखना चाहिए। इन लोगो का उद्देश्य यह था कि धीरे-धीरे मजदूरो की हालत को सुधारा जाय। इस दल के नेता थे एन० एम० जोशी, जोकि जिनेवा मे अक्सर हिन्दुस्तान के मजदूरो के प्रतिनिधि बनाकर भेजे जा चुके थे। दूसरा दल इनसे कही ज्यादा लडाकू था। राजनैतिक लडाई मे उसका विश्वास था और वह खुल्लमखुल्ला अपने क्रान्तिकारी दृष्टिकोण का ऐलान करता था। कुछ कम्यूनिस्टो का या कम्यूनिस्टो से मिलते-जुलते लोगो का इस दल पर असर था। हाँ, यह दल उनके नियत्रण में नही था। बबई मे कपडो के कारखानो के मजदूर इस दल के हाथ मे थे। और उनकी रहनुमाई मे बम्बई के कपड़े के कारखानो मे मजदूरों की एक बहुत बडी हडताल हुई थी, जो कुछ हद तक कामयाब भी हुई थी। बम्बई में गिरनी कामगार यूनियन नाम की एक नई और जबरदस्त यूनियन कायम हुई थी, जिसका बम्बई के मजदूरो पर प्राधान्य था। आगे बढे हुए दल के असर मे एक और ताकतवर संघ जी० आई० पी० रेलवे के मजदूरो का था।

जबसे ट्रेड यूनियन काँग्रेस कायम हुई है तभीसे उसकी कार्यकारिणी और उसका दफ्तर एन० एम० जोशी और उनके नजदीकी साथियो के हाथ मे रहा है और

मजदूर-सघो के आन्दोलन को पैदा करने का श्रेय उन्हीको है। यद्यपि उग्र दल का मजदूर जनता पर ज्यादा जोर है, पर ऊपर से दल की नीति पर असर डालने का उन्हे कोई मौका नही मिला। । यह हालत सतोषजनक नही कही जा सकती और न उससे सच्चे हालात का पता ही चल सकता है। इनके आपस मे बडा असन्तोष और झगडा था और उग्र दल के लोग चाहते थे कि वे ट्रेड यूनियन-कॉंग्रेस की ताकत को अपने काबू मे करले। इसके साथ ही साथ मामलो को बहुत ज्यादा बढाने की अनिच्छा भी थी, क्योकि लोगो को फूट हो जाने का डर था। ट्रेड यूनियन-आन्दोलन हिन्दुस्तान मे अभी अपनी जवानी की तरफ बढ रहा था। वह कमजोर था और जो लोग उसे चला रहे थे उनमे से ज्यादातर खुद मजदूर नही थे। ऐसी हालतो मे हमेशा बाहरवालो मे यह प्रवृत्ति होती है कि मजदूरो को इस्तैमाल करके अपना मतलब गॉंठे। हिन्दुस्तान की ट्रेड यूनियन कॉंग्रेस मे और मजदूर-सघो मे यह प्रवृत्ति साफ-साफ दिखाई देती थी। ताहम, सालो काम करके एन० एम० जोशी ने यह साबित कर दिया था कि वह मजदूर-सघो के सच्चे और उत्साही हितैषी है और जो लोग राजनैतिक दृष्टि से उन्हे नरम और फिसड्डी समझते थे वे भी यह मानते थे कि हिन्दुस्तान के मजदूरो के आन्दोलन मे उन्होने जो सेवाये की है वे कद्र के लायक है। नरम या आगे बढे हुए दोनो दलो मे से बहुत ही कम आदमियो के लिए यह बात कही जा सकती थी।

झरिया मे मेरी अपनी हमदर्दी आगे बढे हुए दल के साथ थी। लेकिन मैं नया-नया ही वहॉं पहुँचा था इसलिए ट्रेड यूनियन कॉंग्रेस की इस घरेलू लडाई मे मेरा दिमाग चकराता था, अतएव मैने यही तय किया कि मै इन झगड़ो से अलग रहूँ। मेरे झरिया से चले आने के बाद ट्रेड यूनियन कॉंग्रेस के ओहदेदारो का सालाना चुनाव हुआ और कलकत्ते मे मुझे यह मालूम हुआ कि अगले साल के लिए मै उसका सभापति चुना गया हूँ। मेरा नाम नरम दलवालो ने पेश किया था, गालिबन इसलिए कि जिस दूसरे उम्मीदवार का नाम उग्र दल ने पेश किया था उसको हराने का सबसे ज्यादा मौका मेरा नाम पेश करने मे ही था। इन महाशय ने रेलो के कर्मचारियो मे वास्तविक काम किया था, इसलिए अगर मै चुनाव के दिन झरिया मे मौजूद होता तो मुझे विश्वास है कि मै उन कार्यकर्ता उम्मीदवार के मुकाबिले मे अपना नाम वापस लेलेता। मुझे यह बात खास तौर पर बेजा मालूम होती थी कि एक ऐसे शख्स को जिसने कुछ काम नही किया और नया-नया ही आया यकायक सभापति की गद्दी पर पटक दिया जाय। यह बात खुद ही इस बात की सबूत थी कि हिन्दुस्तान मे मजदूर-सघ का आन्दोलन अभी अपने बचपन मे है और कमजोर है।

१९२८ के साल मे मजदूरो के झगडो और हड़तालो की भरमार रही। १९२९ मे

भी यही हाल रहा। बम्बई के कपडो के कारखानो के मजदूर बहुत दु खी और लड़ाकू थे। उन्होने इन हड़तालो की रहनुमाई की। बगाल के सन के कारखानो मे भी एक बहुत बडी हडताल हुई। जमशेदपुर के लोहे के कारखानो में, और मेरा ख़याल है कि रेलो के मजदूरो मे भी, हडताले हुईं। जमशेदपुर के टीन की चद्दरो के कारखानो में तो बहुत दिनो झगड़ा रहा। यह हडताल मज़दूरो ने बहादुरी के साथ कई महीनो तक चलाई। यद्यपि इन मज़दूरो के साथ लोगो की बहुत ज्यादा हमदर्दी थी, फिर भी जो जबरदस्त कम्पनी इन कारखानो की मालिक थी उसने मजदूरो को कुचल दिया। इस कम्पनी का ताल्लुक बर्मा की तेल-कम्पनी से था।

सब मिलाकर ये दोनो साल मज़दूरो मे बेचैनी के साल थे और मज़दूरो की हालत दिन-पर-दिन खराब होती जा रही थी। हिन्दुस्तान में लडाई के बाद के साल यहाँ के धन्धो के लिए मौज के साल थे। इन दिनो उन्होने अनाप-शनाप मुनाफा कमाया। सन या रुई के कारखानो ने पाँच या छ. साल तक अपने हिस्सेदारो को जो मुनाफा बाँटा वह सौ फीसदी सालाना था—अक्सर वह डेढ सौ फीसदी सालाना तक पहुँचा। ये अनाप-शनाप मुनाफे सबके सब कारखानो के मालिको और हिस्सेदारो की जेब में गये। मजदूरो की हालत जैसी-की-तैसी बनी रही। उनकी मजदूरी मे जो थोडी-बहुत तरक्की हुई, वह आम तौर पर चीजों की कीमतें बढ जाने से बराबर हो गई। इन दिनो में जब लोग धड़ाधड़ कमा रहे थे तब भी ज्यादातर मजदूर बहुत ही बुरे घरो मे रहते थे और उनकी औरतो तक को कपड़ा तक पहनने को नही मिलता था। बम्बई के मजदूरो की हालत बहुत बुरी थी, लेकिन सन के कारखानो में काम करनेवाले उन मजदूरो की हालत तो और भी बुरी थी, जिनके पास आप मोटर मे कलकत्ते के महलो से घटेभर के अन्दर पहुँच सकते थे। वहाँ बाल बिखेरे और फटे-पुराने मैले-कुचैले कपडे पहने हुए अधनगी औरतें महज रोटियो पर काम करती थी, इसलिए कि दौलत का एक लम्बा-चौडा दरिया लगातार ग्लासगो और डडी की तरफ बहता रहे और उसमे से कुछ हिस्सा कुछ हिन्दुस्तानियो की जेबो मे भी चला जाय।

तेज़ी के इन सालों मे कारख़ाने मजे से चलते रहे, यद्यपि मजदूरो की हालत पहले-जैसी ही बनी रही और उन्हे कुछ भी फायदा नही हुआ। लेकिन जब धूम का वक्त चला गया और अनाप-शनाप मुनाफा कमाना उतना आसान नही रह गया तब सारा बोझ मजदूरो के सिर पटक दिया गया। कारख़ाने के मालिक पुराने मुनाफे को भूल गये। उसे तो वे खा चुके थे और अब अगर उन्हे काफी मुनाफा नही होता है तो यह रोज़गार किस तरह चले? इसीके फल-स्वरूप मज़दूरो में बेचैनी फैली, झगडे खड़े हुए और बम्बई मे ऐसी भारी-भारी हडताले हुईं कि देखनेवाले दग रह गये और जिनमे

कारखानो के मालिक और सरकार दोनो ही डर गये। मजदूरो के आन्दोलन मे वर्ग-चेतनता आने लगी थी और विचार-धारा तथा सगठन दोनो ही दृष्टियो से वह लड़ाकू और खतरनाक होता जा रहा था। इधर राजनैतिक हालत भी तेजी के साथ बिगड रही थी और यद्यपि मजदूरो का आन्दोलन और राजनैतिक हलचल एक-दूसरे से अलग थे, उनका आपस मे कोई सबन्ध न था, फिर भी वे कुछ हद तक एक-दूसरे के साथ-साथ चलते थे, इसलिए सरकार भविष्य को आशका-रहित नही समझती थी।

मार्च १९२९ मे सरकार ने आगे वढे हुए दल मे से उनके कई सबसे ज्यादा नामी-नामी कार्यकर्त्ताओ को गिरफ्तार करके सगठित मजदूरो पर एकाएक हमला कर दिया। बम्बई की गिरनी कामगार यूनियन के नेता तथा बगाल, युक्तप्रान्त और पजाब के मजदूर-नेता गिरफ्तार कर लिये गये। इनमे से कुछ कम्यूनिस्ट थे, कुछ कम्यूनिस्टो से मिलते-जुलते, और बाकी महज मजदूर-सघोवाले थे। यह उस नामी मेरठ-केस की शुरुआत थी जो साढे चार वर्ष के करीब चला।

मेरठ के मुल्जिमो की मदद के लिए एक सफाई-कमिटी बनी। मेरे पिताजी इस कमिटी के सभापति थे तथा डाक्टर अन्सारी, मै तथा कुछ और लोग उसके मेम्बर थे। हम लोगो का काम मुश्किल था। मुकदमे के लिए रुपया इकट्ठा करना आसान न था। ऐसा मालूम होता था कि पैसेवाले लोगो को कम्यूनिस्टो और समाजवादी आन्दोलन करनेवालो से कोई हमदर्दी नही थी, और वकील लोग पूरा महनताना लिये बिना काम करने को तैयार न थे, जो कि किसीका खून चूसकर ही दिया जा सकता था। हमारी कमिटी मे कई नामी वकील थे, जैसे पिताजी तथा दूसरे लोग। ये हर वक्त हमे सलाह देने और रास्ता दिखाने को तैयार थे। उसमें हमारा कुछ भी खर्च नही पडता था। लेकिन उनके लिए यह मुमकिन न था कि वे महीनो लगातार मेरठ मे ही बने रहे। उनके अलावा जिन वकीलो के पास हम गये वे, मालूम होता है, यह समझते थे कि यह मुकदमा हमारे लिए ज्यादा-से-ज्यादा रुपया कमाने का एक जरिया है।

मेरठ के मुकदमे के अलावा कुछ और डिफेंस कमिटियो से भी मेरा ताल्लुक रहा है—जैसे एम०एन० राय के तथा दूसरे मुकदमो मे। हर मौके पर मुझे अपने पेशे के लोगो के लालचीपन को देखकर हैरत हुई है। इस सिलसिले मे मुझे सबसे पहला बडा धक्का उस वक्त लगा जब १९१९ मे पजाब मे फौजी कानून की रू से मुकदमे चल रहे थे। उन दिनो वकीलो के एक बहुत बडे लीडर ने इस बात पर जिद की कि उन्हे पूरी फीस दी जाय। यह रकम बहुत बडी थी। उन्होने इस बात का कोई खयाल नही किया कि उनके मुवक्किल वे लोग है जो फौजी कानून के शिकार हुए है और उनमे उनका साथी एक वकील भी है। इनमे से बहुत-से लोगो को कर्ज लेकर या अपनी

जायदादें बेच-बेचकर इन वकील साहब की फ़ीस देनी पड़ी। इसके बाद मुझे जो तजुर्बे हुए, वे तो और भी दुःखदायी थे। हम लोगों को गरीब-से-गरीब लोगों से ताबे के पैसे ले-लेकर रुपये इकट्ठे करने पड़ते थे और वे बड़े-बड़े चैकों के रूप में वकीलों को दे देने पड़ते थे। यह बात हमें बहुत ही अखरती थी। और फिर यह सब काम बिलकुल बेकार मालूम पड़ता था; क्योंकि एक राजनैतिक मामले में या मजदूरों के मामले में हम सफ़ाई दें या न दें, नतीजा ग़ालिबन वही होता है। लेकिन मेरठ के मुकदमे जैसे मुकदमे में, बिलाशक, सफ़ाई देना कई दृष्टियों से लाज़िमी था।

मेरठ-षड्यन्त्र-डिफ़ेन्स-कमिटी की मुल्ज़िमों के साथ आसानी से नहीं पटी। इन मुल्ज़िमों में तरह-तरह के लोग थे, जिनकी सफ़ाई भी अलग-अलग किस्म की थी, और कभी-कभी तो उनमें आपसी मेल क़तई ग़ायब रहता था। कुछ महीनों के बाद हमने बाक़ायदा कमिटी को तोड़ दिया और अपनी ज़ाती हैसियत से मदद करते रहे। राज-नैतिक हालात जिस तरह मुल्क में बदलते जा रहे थे उसकी तरफ़ हमारा ध्यान अधिकाधिक खिंचने लगा और १९३० में तो हम सबके सब जेलों में बन्द हो गये।

२७

विक्षोभ का वातावरण

१९२९ की कॉंग्रेस लाहौर मे होनेवाली थी। वह दस साल के बाद फिर पजाब मे आई थी, और लोग दस वर्ष पहले की बाते याद करने लगे—१९१९ की घटनाये, जलियाँवालाबाग, फौजी कानून और उसके साथ होनेवाली बेइज्जतियाँ, अमृतसर का काग्रेस-अधिवेशन, और उसके बाद असहयोग की शुरुआत। इन दस बरसो मे बहुत घटनाये हुई थी और हिन्दुस्तान की सूरत ही बदल गई थी, मगर फिर भी उस समय मे और इस समय मे समानताओ की कमी न थी। राजनैनिक विक्षोभ बढ रहा था, सघर्ष का वातावरण तेजी से बनता जा रहा था। आनेवाले सघर्ष की लम्बी छाया पहले से ही देश पर पड रही थी।

असेम्बली और प्रान्तीय कौसिलो मे बहुत समय से लोगो की दिलचस्पी न रही थी, सिवा उन मुट्ठीभर लोगो के जो उनके पवित्र घेरो मे ही चक्कर काटा करते थे। ये असेम्बली और कौसिले अपनी लकीर पीटा करती थी, जिनसे सरकार को सत्ता-परस्ती और स्वेच्छाचारी स्वरूप को ढकने के लिए एक टूटा-फूटा सहारा मिल जाता था, और लोगो को हिन्दुस्तान की पार्लमेण्ट होने और उसके मेम्बरो को भत्ता मिलने की बात करने का एक बहाना। असेम्बली का आखरी सफल कार्य, जिसकी तरफ लोगो का ध्यान गया, १९२८ मे हुआ था, जबकि उसने साइमन-कमीशन से सहयोग न करने का प्रस्ताव पास किया था।

इसके बाद असेम्बली के प्रेसीडेण्ट और सरकार के बीच मे एक सघर्ष भी हुआ था। विट्ठलभाई पटेल, जो असेम्बली के स्वराजिस्ट प्रेसीडेण्ट थे, अपनी स्वतन्त्र वृत्ति के कारण सरकार के दिल मे काँटे की तरह खटकते थे और उनके पर काट देने की बहुत कोशिशे की गई। ऐसी बातो की तरफ ध्यान तो जाता था, मगर आम तौर पर जनता का ध्यान बाहर की घटनाओ की ही तरफ लगा हुआ था। मेरे पिताजी को अब कौसिलो के बारे मे कोई भ्रम नही रह गया था और वह अक्सर यह राय जाहिर करते थे कि इस अवस्था मे अब कौसिलो से ज्यादा फायदा नही उठाया जा सकता। अगर कोई मुनासिब मौका आ जावे तो वह उनमे से खुद भी बाहर निकल आना चाहते थे। हालांकि उनका दिमाग वैधानिक था और कानूनी तरीको और जाब्तो का आदी था, मगर हालात से मजबूरन उन्हे यही नतीजा निकालना पड़ा कि हिन्दुस्तान मे तो वैधानिक कहे जानेवाले तरीके बेकार और फुजूल है। वह अपने कानूनी दिमाग को

यह कहकर तसल्ली दे देते थे कि हिन्दुस्तान मे विधान ही नही है, और न दरहकीकत यहाँ कानून की हुकूमत ही है, जबकि यहाँ किसी एक व्यक्ति या दल की मर्जी पर ही, जिस तरह जादूगर के पिटारे मे से अचानक कबूतर निकल पडते है उसी तरह, आर्डिनेन्स वगैरा निकल पडते है। तबीयत और आदत से वह क्रान्तिकारी बिलकुल न थे, और अगर मध्यम-वर्गीय प्रजातन्त्रवाद जैसी कोई चीज होती तो वह बिलाशक विधान के बडे भारी स्तम्भ होते। मगर, जैसी कि हालत थी, हिन्दुस्तान मे नकली पार्लमेण्ट का नाटक होने के कारण, यहाँ वैधानिक आन्दोलन करने की चर्चा से वह ज्यादा-ज्यादा चिढने लगे थे।

गाधीजी अब भी राजनीति से अलग ही रह रहे थे, सिवाय इसके कि कलकत्ता-काँग्रेस में उन्होने हिस्सा लिया था। मगर वह सब घटनाओ की जानकारी रखते थे, और काँग्रेस-नेता उनसे अक्सर सलाह-मशवरा किया करते थे। कुछ वर्षो से उनका खास काम खादी-प्रचार हो गया था, और इसके लिए उन्होने सारे हिन्दुस्तान मे लम्बे-चौडे दौरे किये थे। उन्होने बारी-बारी से एक-एक प्रान्त को लिया, और वह उसके हर जिले और करीब-करीब हर महत्वपूर्ण कस्बे मे गये, और दूर के और देहाती हिस्सो मे भी गये। हर जगह उनके लिए लोगो की भारी-भारी भीड जमा होती थी और उनका कार्यक्रम पूरा करने के लिए पहले से बहुत तैयारी करनी पडती थी। इस तरह से उन्होने बार-बार हिन्दुस्तान का दौरा किया है, और उत्तर से दक्षिण तक और पूर्वी पहाडो से पश्चिमी समुद्र तक इस विशाल देश के एक-एक कोने को उन्होने देख लिया है। मैं नही समझता कि और किसी इन्सान ने कभी हिन्दुस्तान मे इतना सफर किया होगा।

प्राचीन काल मे बडे-बडे भ्रमण करनेवाले थे, जो हमेशा घूमते ही रहते थे और सैलानी तबीयत के यात्री थे, मगर उनके यात्रा के साधन बहुत धीमे थे। और इस तरह का जीवन-भर का भ्रमण भी एक साल के रेल और मोटर के सफर का मुकाबिला नही कर सकेगा। गाधीजी रेल और मोटर से जाते थे, मगर वह सिर्फ उन्ही-से बधे हुए नही थे, वह पैदल भी चलते थे। इस तरह उन्होने हिन्दुस्तान और यहाँ के लोगो का अद्भुत ज्ञान प्राप्त किया, और इसी तरीके से करोडो लोगो ने उन्हे देखा और उनके व्यक्तिगत सम्पर्क मे आये।

वह १९२९ मे अपने खादी-सम्बन्धी दौरे मे युक्तप्रान्त मे आये, और उन्होने निहायत गरम मौसम मे इस प्रान्त मे कई हफ्ते बिताये। मैं कभी-कभी उनके साथ कई दिनो तक लगातार रहता, और हालाकि उनके आने पर इससे पहले भी बडी-बडी भीड देख चुका था, मगर फिर भी उनके लिए एकत्र इन भीडो को देखकर ताज्जुब किये बगैर न रहता। यह हाल गोरखपुर जैसे पूर्वी जिलो मे

खास तौर पर देखा जाता था, जहाँ कि आदमियो का मजमा देखकर टिड्डी-दल की याद आ जाती थी । जब हम देहात मे मोटर से गुजरते थे, तो कुछ-कुछ मीलो के फासले पर ही दस हजार से लेकर पच्चीस हजार तक की भीड हमे मिला करती थी, और सभाओ मे तो अक्सर लाख-लाख से भी ज्यादा तादाद हो जाती थी। सिवाय किसी-किसी बडे शहर के, सभाओ मे ब्रॉडकास्टिग का इन्तजाम न था, और जाहिरा सब आदमियो को भाषण सुनाई देना नामुमकिन था । शायद वे कुछ सुनने की उम्मीद भी नही करते थे, वे महात्माजी के दर्शन करके ही सतुष्ट हो जाते थे । गाधीजी अपने पर आवश्यक बोझ न पडने देते हुए, आम तौर पर, छोटा-सा भाषण देते थे । नही तो, इस तरह हर घण्टे और हर रोज काम चलाना बिलकुल असम्भव हो जाता।

मै सारे युक्तप्रान्त के दौरे मे उनके साथ न रहा, क्योकि मेरा उनको कोई खास उपयोग नही हो सकता था, और दौरे के दल मे मेरे एक के और वढ जाने से कोई मतलब न था। यो मजमो से मुझे परहेज न था, मगर गाधीजी के साथ चलनेवालो का आम तौर पर जैसा हाल होता है, यानी धक्के खाना और अपने पैर कुचलवाना, ये मुझे ललचाने को काफी न थे। मेरे पास करने को दूसरा काम काफी था, और सिर्फ खादी के प्रचार मे ही, जो मुझे वढती हुई राजनैतिक हालत मे एक अपेक्षाकृत छोटा ही काम नजर आता था, लग जाने की मेरी इच्छा न थी । किसी हद तक मै गैर-राजनैतिक कामो मे लगे रहने से नाराज था, और मैं उनके विचारो का आधार कभी नही समझ सका । उन दिनो वह खादी-कार्य के लिए धन इकट्ठा कर रहे थे, और वह अक्सर कहते थे कि उन्हे 'दरिद्र-नारायण' अर्थात् 'गरीबो के नारायण' या 'गरीबो मे रहनेवाले नारायण' के लिए धन चाहिए । उनका यही मतलब था कि उससे वह गरीबो की मदद करेगे, उन्हे घरेलू धन्धो द्वारा काम दिलायेगे । मगर इससे अप्रत्यक्ष रूप से दरिद्रता—गरीबी—का गौरव बढता दिखाई देता था, क्योकि नारायण खासकर गरीबो का नारायण है, गरीब उसके प्यारे है । मै समझता हूँ कि सब जगह धार्मिक भावना यही है । मै इस बात को पसन्द नही कर सकता था, क्योकि मुझे तो दरिद्रता एक घृणित चीज मालूम होती थी, जिससे लडकर उसे उखाड़ फेंकना चाहिए, न कि उसे किसी तरह बढावा देना चाहिए । इसके लिए लाजिमी तौर पर उस प्रणाली पर हमला करना चाहिए जो दरिद्रता को बरदाश्त करती और पैदा करती है, और जो लोग ऐसा करने से झिझकते है उन्हे मजबूरन दरिद्रता को किसी-न-किसी तरह उचित ठहराना ही पडता था । वे यही विचार कर सकते थे कि दुनिया मे सदा चीजो की कमी ही रहेगी, और ऐसी दुनिया की कल्पना नही कर सकते थे कि जिसमे सबको

जीवन की आवश्यक चीजे भरपूर मिल सके। शायद उनके विचारानुसार हमारे समाज मे गरीब और अमीर तो हमेशा ही बने रहेगे।

जब कभी मुझे इस बारे में गाधीजी से बहस करने का मौका मिला तभी वह इस बात पर जोर देते थे कि अमीर लोगो को अपनी दौलत जनता की धरोहर की तरह समझनी चाहिए। यह दृष्टिकोण काफी पुराना है और यह हिन्दुस्तान मे, और मध्यकालीन योरप मे भी, अक्सर पाया जाता है। किन्तु मै तो बिलकुल इस बात को नही समझ सका हूँ कि कोई भी शख्स ऐसा हो जाने की कैसे उम्मीद कर सकता है, या यह कैसे कल्पना कर लेता है, कि इसीसे समाज की समस्या हल हो जायगी?

असेम्बली, जैसा कि मैने ऊपर कहा है, सुस्त और सोती रहनेवाली हो गई थी और उसकी बेलुत्फ कार्रवाइयो मे शायद ही कोई दिलचस्पी लेता हो। जब भगतसिह और बी० के० दत्त ने दर्शको की गैलरी से उस सभा-भवन के फर्श पर दो बम फेक दिये, तब एक दिन एक झटके की तरह एकाएक उसकी नीद खुली। किसी-को सख्त चोट नही आई, और शायद बम इसी इरादे से फेके गये थे, जैसा कि मुल्जिम ने बाद मे बयान किया था, कि शोर और खलबली पैदा की जाय, न कि किसीको चोट पहुँचाई जाय।

उनसे सचमुच असेम्बली मे और बाहर खलबली मच गई। आतककारियो के दूसरे काम इतने निरापद न थे। एक नौजवान अग्रेज पुलिस अफसर को, जिसके बारे मे कहा गया है कि उसने लाला लाजपतराय को पीटा था, लाहौर मे गोली से मार दिया गया। बगाल और दूसरी जगहो पर ऐसा मालूम होने लगा कि आतककारियो की हलचले फिर से शुरू हो गई। षड्यन्त्र के बहुत-से मुकदमे चलाये गये, और नजरबन्दो की—यानी बगैर मुकदमा चलाये और सजा सुनाये जेल मे रक्खे जानेवाले या दूसरी तरह से रोके हुए लोगो की—तादाद जल्दी बढ गई।

लाहौर-षड्यन्त्र के मुकदमे में अदालत मे पुलिस ने कई आसाधारण काम किये, और इस कारण भी इस मुकदमे की तरफ लोगो का ध्यान बहुत गया। अदालत और जेल मे मुल्जिमो के साथ जो बर्ताव किया जा रहा था, उसके विरोध-स्वरूप ज्यादातर कैदियो ने भूख-हडताल करदी। वह ठीक किन कारणो से शुरू हुई, यह तो मै भूल गया हूँ, मगर अन्त मे यह बडा सवाल बन गया कि कैदियो, खासकर राजनैतिक कैदियो, के साथ आम तौर पर कैसा बर्ताव होना चाहिए। यह हडताल हफ्तो तक बढती गई, और इससे सारे देश मे खलबली मच गई। मुल्जिमो की शारीरिक कमजोरी के सबब से उन्हे अदालत मे न ले जाया जा सकता था, और बार-बार कार्रवाई मुल्तवी करनी पड़ी। इसपर भारत-सरकार ने ऐसा कानून बनाने का सूत्रपात किया, जिससे

मुल्जिम या उनके पैरोकारो की गैर-मौजूदगी मे भी अदालत अपनी कार्रवाई जारी रख सके। उन्हे जेल के बर्ताव के प्रश्न पर भी गौर करना पडा।

जब हडताल एक महीने तक चल चुकी थी, उस वक्त मैं इत्तफाक से लाहौर पहुँचा। मुझे कुछ कैदियो से जेल मे मिलने की इजाजत दे दी गई, और मैंने इसका फायदा उठाया। भगतसिह से यह मेरी पहली मुलाकात थी। मै जतीन्द्रनाथ दास वगैरा से भी मिला। भगतसिह का चेहरा आकर्षक था और उससे बुद्धिमत्ता टपकती थी। वह निहायत गम्भीर और शान्त था। उसमे गुस्सा नही दिखाई देता था। उसकी दृष्टि और बात-चीत मे बडी मृदुला थी। मगर मेरा खयाल है कि कोई भी शख्स जो एक महीने तक उपवास करेगा, आध्यात्मिक और मृदुल दिखाई देने लगेगा। जतीन्द्र दास तो और भी मृदुल, एक कन्या की तरह कोमल और मुलायम, मालूम पडा। जब मैं उससे मिला, उसे काफी दर्द हो रहा था। बाद मे वह, उपवास से ही, भूख-हडताल के ६१वे रोज, मर गया।

भगतसिह की खास हसरत, अपने चाचा सरदार अजीतसिह से, जो १९०७ मे लाला लाजपतराय के साथ जिला-वतन कर दिये गये थे, मिलना या कम-से-कम उनकी खबर पाना मालूम हुई। वह कई बरसो तक विदेशो मे जिला-वतन रहे। कुछ-कुछ यह भी सुना गया था कि वह दक्षिण अमेरिका मे बस गये है, मगर मुझे खयाल नही है कि उनके बारे मे कोई भी निश्चित खबर हो। मुझे यह भी पता नही कि वह मर गये हैं या जीते हैं।

जतीन्द्र दास की मृत्यु से सारे देश मे सनसनी पैदा हो गई। इससे राजनैतिक कैदियो के बर्ताव का सवाल आगे आ गया, और इसपर सरकार ने एक कमिटी मुकर्रर करदी। इस कमिटी के विचारो के फलस्वरूप नये कायदे जारी किये गये, जिनसे कैदियो के तीन दर्जे कर दिये गये। इन कायदो से कुछ सुधार होने की सूरत नजर आई, मगर असल मे कुछ भी फर्क नही पडा, और हालत अत्यन्त असन्तोषजनक रही, और अब भी है।

धीरे-धीरे गरमी और बरसात की ऋतु बीतकर ज्योही शरद-ऋतु आई, प्रान्तीय कॉग्रेस कमिटियाँ कॉग्रेस के लाहौर-अधिवेशन के लिए अध्यक्ष चुनने के काम मे लग गई। इस चुनाव की एक लम्बी कार्रवाई होती है, जो अगस्त से अक्तूबर तक चलती रहती है। १९२९ मे गाधीजी को अध्यक्ष बनाने के पक्ष मे करीब-करीब एकमत था। उन्हे दूसरी बार सभापति बनाने की इस इच्छा से, वास्तव मे, कॉग्रेस के नेताओ मे उनका पद और ऊँचा नही हो जाता था, क्योकि वह तो कई बरसो से एक तरह के सभापतियो के दादा बने हुए थे। उस वक्त सबको यही लगा कि चूँकि लड़ाई

अनकरीब है और उसकी सारी बागडोर यो भी उन्हीके हाथो मे रहनेवाली है, तो फिर कांग्रेस के 'विधियुक्त' नेता भी उस वक्त के लिए उन्हींको क्यो न बनाया जाय ? इसके सिवा, इतना बडा और कोई आदमी सामने न था जो उस समय सभापति बनाया जाता।

इसलिए प्रान्तीय कमिटियो ने सभापति-पद के लिए गाधीजी की सिफारिश की। मगर उन्होने मजूर न किया। हालाँकि उन्होने जोर के साथ इन्कार किया था, मगर उसमे दलील करने की गुजाइश रही हुई मालूम हुई और यह उम्मीद की गई कि वह उसपर दुबारा गौर कर लेगे। लखनऊ मे इसका आखिरी फैसला करने के लिए अखिल-भारतीय कॉग्रेस-कमिटी की मीटिंग की गई, और आखिरी घड़ी तक करीब-करीब हम सभीका यह खयाल था कि वह राजी हो जायँगे। मगर ऐसा न हुआ और आखिरी घडी मे उन्होने मेरा नाम पेश किया और उसपर ज़ोर दिया। उनके आखिरी इन्कार से अखिल-भारतीय कॉग्रेस-कमिटी के लोग तो कुछ-कुछ भौचक्के रह गये, और इस विषम स्थिति मे डाले जाने से कुछ-कुछ नाराज भी हुए। किसी दूसरे शख्स के उपलब्ध न होने की दशा मे, लाचारी के भाव से, उन्होने आखिर मुझको चुन लिया।

मुझे तबतक कभी इतनी झुझलाहट और जिल्लत महसूस न हुई जितनी इस चुनाव पर। यह बात नही थी कि मुझे इस इज्जत बख्शे जाने का—क्योकि यह एक बड़ी भारी इज्जत की बात है—अहसास न हो, और अगर मै मामूली तरीके से चुना जाता तो मुझे खुशी भी हुई होती। मगर मुझे यह इज्जत तो सीधे रास्ते या बगल के रास्ते से भी नही मिली, मै तो गोया किसी पोशीदा रास्ते से आ खडा हुआ और अचानक लोगो को मुझे मजूर कर लेना पडा। उन्होने किसी तरह इसे बरदाश्त किया, और दवा की गोली की तरह मुझे निगल लिया। इससे मेरे स्वाभिमान को चोट पहुँची, और मुझे करीब-करीब यह महसूस हुआ कि मै इस इज्जत को लौटा दूँ। मगर खुश-किस्मती से मैंने अपने भावो को प्रकट करने से अपने-आपको रोक लिया, और भारी कलेजा लिये हुए वहाँ से चुपचाप चला आया।

इस फैसले पर जिसको सबसे ज्यादा खुशी हुई वह शायद मेरे पिताजी थे। वह मेरी राजनीति को पसन्द नही करते थे, मगर वह मुझे तो काफी ज्यादा चाहते थे, और मेरे लिए कुछ भी अच्छी बात होने से उन्हे खुशी होती थी। अक्सर वह मेरी नुक्ताचीनी करते थे और मुझसे कुछ रुखाई से बोला करते थे, मगर कोई भी आदमी, जो उनकी सदिच्छा बनाये रखने की परवा करता हो, उनके सामने मेरे खिलाफ कुछ कह नही सकता था।

मेरा चुनाव मेरे लिए एक बडी इज्जत और जिम्मेदारी की बात थी, और

यह चुनाव खुसूसियत इसलिए रखता था कि अध्यक्ष-पद पर बाप के बाद फौरन ही बेटा आ रहा था। यह अक्सर कहा गया कि मैं कॉंग्रेस का सबसे कम-उम्र सभापति था—उस वक्त मेरी उम्र ठीक चालीस की थी। मगर यह गलत है। मेरा खयाल है कि गोखले की भी करीब-करीब यही उम्र थी, और मौलाना अबुलकलाम आजाद (हालाँकि वह मुझसे कुछ बडे हैं) की उम्र तो शायद चालीस से भी कम थी जबकि वह सभापति बने थे। मगर गोखले, जबकि वह ३५–४० के अन्दर ही थे, तब भी योग्यता के लिहाज से बड़े राजनीतिज्ञो मे माने जाते थे, और अबुलकलाम आजाद की सूरत-शक्ल ऐसी बन गई थी जो उनकी विद्वत्ता के अनुकूल आदरणीय थी। अब चूँकि मुझमे राजनीतिज्ञता का गुण शायद ही कभी माना गया हो, और मुझपर कभी बडा विद्वान् होने का इलजाम भी किसीने नही लगाया, इसलिए मैं बडी उम्र के होने के इलजाम से बच गया हूँ—भले ही मेरे बाल पक गये है और मेरा चेहरा भी उसकी चुगली खा देता है।

लाहौर-काँग्रेस नजदीक आती जाती थी। इस बीच घटनाये एक-एक करके ऐसी घटती जाती थी, जिनसे मालूम होता था कि वे खुद अपनी ही किसी ताकत से आगे बढती जा रही है। व्यक्ति कितने ही बड़े क्यो न थे, मगर उनका बहुत ही थोडा भाग था। व्यक्ति को यही मालूम होता था कि वह किसी बड़ी मशीन के अन्दर, जो बेरोक आगे बढती हुई चली जा रही थी, सिर्फ एक पुर्जे की तरह ही है।

भाग्य की इस प्रगति को, शायद, रोकने की आशा से ब्रिटिश सरकार एक कदम आगे बढी, और वाइसराय लार्ड अर्विन ने एक गोल-मेज-कान्फ्रेन्स करने की बाबत ऐलान किया। उस ऐलान के शब्द बड़ी चालाकी-भरे थे, जिनका मतलब 'बहुत कुछ' भी और 'कुछ नही' भी हो सकता था, और हम कईको तो यह साफ मालूम होता था कि 'कुछ नही' ही निकलेगा। और अगर उसमें ज्यादा मतलब भी होता, तो भी हम जो कुछ चाहते थे उसके करीब तक भी वह नही पहुँच सकता था। वाइसराय के इस ऐलान के निकलते ही फौरन, और बडी जल्दी से, दिल्ली मे 'लीडरो की कान्फ्रेन्स' बुलाई गई, और कई दलो के लोग उसमे बुलाये गये। उसमें गाँधीजी, मेरे पिताजी और विट्ठलभाई पटेल भी (जो उस समय तक असेम्बली के प्रेसीडेण्ट ही थे) मौजूद थे, और तेजबहादुर सप्रू वगैरा नरम दल के नेता भी थे। सबकी सहमति से एक सयुक्त प्रस्ताव या वक्तव्य तैयार किया गया, जिसमे वाइसराय का ऐलान कुछ शर्तों के साथ, जिनके बारे मे लिख दिया गया कि ये जरूरी है और पूरी की जानी चाहिएँ, मजूर किया गया। अगर इन शर्तों को सरकार मजूर कर लेती तो सहयोग

दिया जाता। ये शर्तें[१] काफी वजनदार थीं, और उनसे कुछ तो फर्क होता ही।

नरम और प्रगतिशील सभी दलो के द्वारा ऐसा प्रस्ताव मजूर किया जाना एक बड़ी विजय ही थी। मगर कांग्रेस के लिए तो यह नीचे गिरना था। हाँ, सबके बीच में एक सर्वसम्मत बात के रूप मे वह ऊँची चीज थी। मगर उसमें एक घातक पकड भी थी। उन शर्तो को देखने के कम-से-कम दो भिन्न-भिन्न दृष्टि-कोण थे। कांग्रेस के लोग तो उन्हे सारभूत अनिवार्य मानते थे, जिनके पूरा हुए बिना कोई सहयोग नही हो सकता था। उनकी निगाह से वे कम-से-कम शर्तें थी। यह बात कांग्रेस-कार्य-समिति की एक बाद की बैठक मे साफ कर दी गई और उसमे यह भी कह दिया गया कि यह तजवीज सिर्फ अगली कांग्रेस तक के ही लिए है। मगर नरमदलो के लिए ये ज्यादा-से-ज्यादा मॉगे थीं, जिनका बयान किया जाना अच्छा था मगर जिनपर इतना जोर नही दिया जा सकता था कि सहयोग तक से इन्कार कर दिया जाय। उनकी दृष्टि मे वे शर्तें, महत्वपूर्ण कहलाते हुए भी, वास्तव मे कोई शर्तें नही थी। और बाद मे हुआ यह कि, जब कि इनमे से एक भी शर्त पूरी नही की गई और हममे से ज्यादातर लोग बीसियो हजार दूसरे आदमियो के साथ जेल मे पडे हुए थे, उस वक्त हमारे नरमदली और सहयोगी मित्र, जिन्होने उस वक्तव्य पर हमारे साथ दस्तखत किये थे, हमे जेल मे डालनेवालो को सहयोग दे रहे थे।

हममें से ज्यादातर लोगो को अन्देशा तो था कि ऐसी बात होगी—मगर यह उम्मीद नही थी कि इस हद तक होगी। लेकिन हमे कुछ-कुछ यह भी उम्मीद थी कि इस सयुक्त कार्य से, जिसमे कांग्रेस के लोगो ने अपने-आपको इतना दबाया है, यह भी नतीजा होगा कि लिबरल और दूसरे लोग ब्रिटिश सरकार को मनमाना और एक-सा सहयोग देने की आदत से बाज आवेगे। हम कई लोगो की निगाह में तो, जो इस समझौताकारी प्रस्ताव को दिल से नापसन्द करते थे, इसका ज्यादा जबरदस्त कारण यह था कि इससे हमारे कांग्रेस के लोगों को आपस मे एक बनाये रक्खा जाय। एक बडी लड़ाई की शुरुआत में हम कांग्रेस मे फूट होना बरदाश्त नही कर सकते थे।

१. शर्तें ये थीं :—

१—प्रस्तावित कान्फ्रेन्स में सारी बातचीत हिन्दुस्तान के लिए पूर्ण औपनिवेशिक-पद के आधार पर होनी चाहिए।

२—कान्फ्रेन्स में कांग्रेस के लोगों का सबसे ज्यादा प्रतिनिधित्व होना चाहिए।

३—राजनैतिक कैदियों की आम रिहाई हो।

४—अभी से आगे हिन्दुस्तान की शासन, मौजूदा हालात में जहाँतक मुमकिन है, उपनिवेश-शासन की लाइन पर चलना चाहिए।

यह तो अच्छी तरह मालूम था कि हमारी पेश हुई शर्तो को सरकार नही मान सकेगी, और इस तरह हमारी स्थिति और भी मजबूत हो जायगी, और हम अपने बहुमत को भी अपने साथ आसानी से ले चल सकेगे। यह सिर्फ कुछ ही हफ्तो का सवाल था। दिसम्बर आया, कि लाहौर-कॉंग्रेस नजदीक आई।

फिर भी वह सयुक्त वक्तव्य हममे से कुछ लोगो के लिए एक कडवी घूट थी। स्वाधीनता की माँग को छोड देना, चाहे सिर्फ कल्पना मे ही और सिर्फ थोडी देर के लिए क्यो न हो, एक गलत और खतरनाक बात थी। इसका मतलब यह था कि स्वाधीनता की बात सिर्फ एक चाल थी, जिसकी बिना पर कुछ सौदा किया जा सके, वह कोई सारभूत चीज न थी, जिसके बगैर हमे कभी तसल्ली ही न हो सके। इसलिए मैं दुविधा मे पड़ गया और मैंने वक्तव्य पर दस्तखत नही किये (सुभाष बोस ने तो निश्चित-रूप से दस्तखत करने से इन्कार कर दिया), मगर, जैसा कि मुझसे अक्सर होता है, बहुत कहने-सुनने पर मैं नरम पड़ गया और मैंने दस्तखत कर दिये। मगर फिर भी मैं बडी बेचैनी लेकर आया, और दूसरे ही दिन मैंने काग्रेस के सभापति-पद से अलग हो जाने का विचार किया और अपना यह इरादा गाधीजी को लिख भेजा। मैं नही समझता कि मैंने यह गम्भीरता से लिखा था, हालाकि मैं विक्षुब्ध तो काफी हो गया था। फिर गाधीजी का एक सान्त्वनाप्रद पत्र आने और तीन दिन तक सोचते रहने से अन्त को मैं शान्त हो गया।

लाहौर-कॉंग्रेस से कुछ ही समय पहले, कॉंग्रेस और सरकार के बीच मे समझौते का कोई आधार ढूँढने की एक आखिरी कोशिश की गई। वाइसराय लार्ड अर्विन के साथ एक मुलाकात का इन्तजाम किया गया। मुझे नही मालूम कि इस मुलाकात के इन्तजाम मे पहला कदम किसने उठाया, मगर मेरा अन्दाज है कि विट्ठलभाई पटेल ने ही यह खास तौर पर किया होगा। इस मुलाकात मे गॉंधीजी और मेरे पिताजी कॉंग्रेस का दृष्टिकोण प्रकट करने के लिए मौजूद थे, और मेरे खयाल से जिन्ना साहब, सर तेजबहादुर सप्रू और प्रेसीडेन्ट पटेल भी थे। इस मुलाकात का कुछ नतीजा न निकला। सहमत होने का कोई सामान्य आधार हाथ न आया, और यह पाया गया कि दो खास पार्टिया, सरकार और काग्रेस, एक-दूसरे से बहुत फासले पर थी। इसलिए अब इसके सिवा कुछ बाकी न रहा कि कॉंग्रेस अपना कदम आगे बढावे। कलकत्ते मे दी हुई एक साल की मियाद खतम हो रही थी, अब काग्रेस का आदर्श हमेशा के लिए स्वाधीनता घोषित होने को था, और उसे प्राप्त करने के लिए आवश्यक कार्रवाइयाँ करने को थी।

लाहौर-काग्रेस से पहले के इन आखिरी हफ्तो मे मुझे एक दूसरे क्षेत्र मे भी जरूरी

काम करना था। ट्रेड यूनियन कॉंग्रेस नागपुर मे होनेवाली थी, और इस साल उसका प्रेसीडेन्ट होने के कारण मुझे उसका सभापतित्व करना था। यह बहुत ही गैरमामूली बात थी कि एक ही आदमी राष्ट्रीय काग्रेस और ट्रेड यूनियन कॉग्रेस दोनो का ही, कुछ हफ्तो के अन्तर पर, सभापतित्व करे। परन्तु मैने यह उम्मीद की थी कि मै दोनो कॉग्रेसो को जोडनेवाली कडी बन जाऊँगा, और दोनो को ज्यादा नजदीक ले आऊँगा, जिससे राष्ट्रीय काग्रेस तो ज्यादा समाजवादी और ज्यादा श्रमिक-पक्षीय हो जावे और सगठित मजदूर-पक्ष राष्ट्रीय सग्राम मे साथ दे।

मगर शायद यह उम्मीद झूठी थी, क्योकि राष्ट्रीयता समाजवादी और श्रमिकपक्षीय दिशा मे दूर तक तभी जा सकती है जब वह राष्ट्रीयता न रहे। फिर मुझे लगा कि हालाँकि कॉंग्रेस का दृष्टिकोण मध्यमवर्गीय है, फिर भी देश मे वही एक कारगर क्रान्तिकारी ताकत है। इस हालत मे मजदूर-वर्ग को उसकी मदद करनी चाहिए, उसके साथ सहयोग करना चाहिए, और उसको अपने असर मे लाना चाहिए, मगर साथ ही उसको अपनी हस्ती और अपनी विचार-धारा अलग कायम रखनी चाहिए। मुझे उम्मीद थी कि जैसे-जैसे घटनाये घटती जायँगी और कॉंग्रेस सीधे सघर्ष मे पडती जायगी, वैसे-वैसे वह अपने-आप लाजिमी तौर पर ज्यादा उग्र आदर्श या दृष्टिकोण पर आती जायगी और सामाजिक और आर्थिक प्रश्नो को अपने हाथ मे लेती जायगी। पिछले बरसो मे कॉंग्रेस का काम किसानो और गाँवो की तरफ बढा है। अगर इसी तरफ इसका कदम बढता रहा तो किसी दिन यह किसानो का एक बडा सगठन बन जायगी, वर्ना ऐसा सगठन तो हो ही जायगा जिसमे किसान-वर्ग प्रधान हो। युक्त-प्रान्त की कई जिला-कमिटियो मे इस वक्त भी किसानो की तादाद बहुत थी, हालाँकि नेतृत्व मध्यमवर्ग के पढे-लिखे लोगो ने अपने हाथ मे ले रक्खा था।

इस तरह से देहात और शहरो के निरन्तर सघर्ष का राष्ट्रीय कॉग्रेस के और ट्रेड यूनियन कॉग्रेस (टी० यू० सी०) के सम्बन्ध पर असर होने की सम्भावना थी। मगर यह सम्भावना दूर थी, क्योकि मौजूदा राष्ट्रीय कॉंग्रेस मध्यमवर्गीय लोगो के हाथो में है और उसपर शहरवालो का कब्जा है, और जबतक राष्ट्रीय स्वाधीनता का सवाल हल नही हो जाता है तबतक उसकी राष्ट्रीयता ही मैदान मे प्रधान रहेगी और वही देश की सबसे जबरदस्त भावना रहेगी। फिर भी मुझे यही दिखाई दिया कि कॉग्रेस को संगठित मजदूर-वर्ग के नजदीक लाना स्पष्ट तौर पर अच्छा है, और युक्त-प्रान्त मे तो हमने अपनी प्रान्तीय कॉग्रेस कमिटी मे ट्रे० यू० का० की प्रान्तीय शाखा से प्रतिनिधि बुलाये थे। कॉग्रेस के कई लोगो ने भी मजदूरो की हलचलो मे बड़ा हिस्सा लिया था।

मगर मजदूरो के कुछ आगे बढे हुए दल राष्ट्रीय कॉंग्रेस से झिझकते थे। वे इसके नेताओ पर अविश्वास करते थे और इसके आदर्शो को मध्यमवर्गीय और प्रतिगामी समझते थे, और मजदूर दृष्टिकोण से सचमुच ऐसा था भी। जैसाकि इसके नाम से जाहिर होता है, कॉंग्रेस तो एक राष्ट्रीय सगठन था।

१९२९ ईस्वी भर हिन्दुस्तान के मजदूर-सघ एक नये सवाल पर, यानी हिन्दुस्तानी मजदूरो के विषय मे नियुक्त रायल कमीशन पर, जिसका नाम व्हिटले-कमीशन था, बहुत विक्षुब्ध रहे थे। बायाँ-पक्ष (left wing) कमीशन का बहिष्कार करने की राय रखता था, और दाहिना पक्ष (Right wing) सहयोग देने की तरफ था, और चूँकि दाहिने पक्ष के कुछ नेताओ को कमीशन मे मेम्बर बना दिया गया था, इसलिए यह कुछ व्यक्तिगत मामला भी बन गया था। और कई बातो की तरह इस बात मे भी मेरी हमदर्दी बाये-पक्ष की तरफ थी, और खासकर इसलिए कि यही राष्ट्रीय काग्रेस की भी नीति थी। जबकि हम सीधे हमले की लडाई चला रहे है या चलानेवाले है उस वक्त सरकारी कमीशनो से सहयोग करना निरर्थक बात मालूम हुई।

नागपुर ट्रे० यू० काग्रेस मे व्हिटले-कमीशन के बहिष्कार का यह सवाल एक बडा सवाल बन गया, और इसपर और दूसरे भी कई बहस-तलब सवालात पर बाये-पक्ष को कामयाबी मिली। इस कॉंग्रेस मे मैंने बहुत ही कम नुमायाँ हिस्सा लिया। मै मजदूर-क्षेत्र मे बिलकुल नया था। अभी मै रास्ता ही ढूढता रहा था, इसलिए मै थोडा झिझकता रहा। आम तौर पर मै अपनी राय ज्यादा आगे बढे हुए दलो की तरफ जाहिर करता था, मगर मैंने किसी भी जमात के साथ हो जाने से अपनेको बचाया। मैंने सचालन करनेवाले अध्यक्ष की बनिस्बत एक निष्पक्ष 'स्पीकर' की तरह से ज्यादा काम किया। इस तरह ट्रे० यू० का० के टुकडे हो जाने और एक नये नरम सगठन के कायम हो जाने मे मै प्राय एक खामोश तमाशबीन बना रहा। ज़ाती तौर पर मुझे यह महसूस हुआ कि दाहिने पक्ष के दलो का अलग हो जाना मुनासिब न था, मगर बाये पक्ष के कुछ नेताओ ने ही इस काम को जल्दी करवा दिया और उन्हे अलग हो जाने का पूरा-पूरा बहाना दे दिया। दाहिने और बाये पक्षो के झगडो मे बीच के बड़े भारी दल को कुछ-कुछ बेबसी मालूम हुई। अगर इस दल का पथ-प्रदर्शन ठीक तरह किया गया होता तो शायद इसने उन दोनो दलो को सयम मे रक्खा होता-और ट्रे० यू० का० मे फूट पडने से बचा ली होती, और अगर अलग-अलग टुकडे भी होते तो उसके इतने खराब नतीजे न होते जितने कि हुए।

उस समय जो कुछ हुआ उससे मजदूर-सगठन के आन्दोलन को एक जबरदस्त धक्का लगा, जिससे वह अभीतक सम्हल नही सका है। सरकार ने मजदूर-आन्दोलन

के आगे बढ़े हुए दलो पर पहले ही से हमला शुरू कर दिया था, और उसका पहला फल हुआ मेरठ वाला मुकदमा। सरकार का हमला जारी रहा। मालिको ने भी देखा कि अपने लाभ की पूर्त्ति के लिए यही ठीक मौका है। १९२९-३० के जाड़े मे संसार-व्यापी मन्दी शुरू हो ही गई थी। आर्थिक मन्दी के धक्के से, सब तरफ से हमला किये जाने से, और अपने ट्रेड-यूनियन-सगठन की हालत उस समय बहुत ही कमज़ोर होने के कारण, हिन्दुस्तान के मजदूर-वर्ग के लिए बड़ी कठिनाई का जमाना आ गया। वे लाचार होकर देख रहे थे कि उनकी हालत दिन-ब-दिन गिरती जा रही है। इसके बाद ही पहले या दूसरे साल एक और टुकड़ा—कम्यूनिस्ट हिस्सा—ट्रेडयूनियन-कांग्रेस से अलहदा हो गया। इस तरह उसूलन हिन्दुस्तान मे मजदूर-संघो के तीन सगठन बन गये—एक नरम दल, एक मुख्य टी०यू० सी० दल, और एक कम्यूनिस्ट दल। अमली शकल मे ये सभी कमज़ोर और बेकार हो गये, और उनके आपसी झगड़ो से आम कारीगर ऊब उठे थे। १९३० के बाद से मै इन सबसे अलग था, क्योकि मै तो ज्यादातर जेल मे रहा, जब कभी बीच-बीच मे मै जेल से बाहर आता था तो मुझे मालूम होता था कि सबमे एकता होने की कोशिशे की जा रही है। मगर वे कामयाब न हुई[1]। नरम दल के यूनियनो के साथ रेलवे कारीगरो के रहने से उनकी ताकत बढ गई। दूसरे दलो के मुकाबिले मे उनको एक फायदा यह था कि सरकार उनको तसलीम करती थी, और जिनेवा की मजदूर-कान्फ्रेन्सो के लिए उनकी सिफारिशो को मजूर कर लेती थी। जिनेवा जाने के लालच से भी कुछ मजदूर-नेता उनकी तरफ खिच गये, और वे अपने साथ अपनी यूनियनो को भी उधर खीच ले गये।

१. इसके बाद ट्रेड यूनियनों में एकता पैदा करने की कोशिश ज्यादा कामयाब हुई है, और मुख्तलिफ दल अब आपस में एक तरह के सहयोग से काम कर रहे हैं।

२८

स्वाधीनता और उसके बाद

मेरी स्मृति मे लाहौर-काग्रेस की तस्वीर आज भी साफ खिची हुई है। यह कुदरती भी है, क्योकि मैने उसमे सबसे बडा हिस्सा लिया था, और थोडी देर के लिए तो मै रग-मच के केन्द्र मे ही था, और उन भीड-भम्भड के दिनो मे मेरे दिल मे जो-जो भावनाये पैदा हुईं उनपर खयाल करना कभी-कभी मुझे अच्छा लगता है। लाहौर के लोगो ने मेरा जैसा शानदार स्वागत किया, जो लोगो की तादाद और दिल की गहराई दोनो मे बहुत बढा-चढा था, उसे मै कभी नही भूल सकता। मै अच्छी तरह जानता था कि यह अथाह उत्साह मेरे लिए व्यक्तिगत नही था, वल्कि एक प्रतीक के लिए, एक आदर्श के लिए था। मगर किसी आदमी के लिए यह भी कोई कम बात नही है कि वह, थोडे समय के लिए ही सही, वहुत लोगो की आँखो मे और दिलो मे वैसा प्रतीक बन जाय और मै अपनेको वडा आनदित और उठा हुआ अनुभव कर रहा था। मगर मुझपर क्या असर हुआ, इसकी कोई अहमियत नही है। क्योकि वहाँ तो बडे-बडे सवालात सामने थे। सारा वातावरण जोश से भरा हुआ था और अवसर की गम्भीरता का खयाल सब ओर छाया हुआ था। हमे सिर्फ नुक्ताचीनी या विरोध या राय के इजहार के ही ठहराव नही करने थे, मगर हमे ऐसी लडाई का आवाहन करना था जिससे सारा देश हिल जानेवाला था और जिसका असर लाखो की जिन्दगी पर पडनेवाला था।

दूर भविष्य मे हमारे और हमारे देश के लिए क्या होनेवाला है, यह तो कोई भी नही कह सकता था, मगर निकट-भविष्य मे क्या होगा, यह तो साफ दिखाई देता था। हमारे लिए और हमारे प्रिय व्यक्तियो के लिए लडाई और तकलीफे सामने नजर आती थी। इस खयाल ने हमारे उत्साह मे गभीरता ला दी थी, और हमें अपनी जिम्मेदारी से बहुत आगाह कर दिया था। हमने जो हरेक वोट दिया वह अपने आराम और सुख और पारिवारिक आनन्द और मित्रो के मिलने-जुलने को बिदाई का पैगाम था, और थी एकान्त के दिनो और रातो और शारीरिक और मानसिक कष्टो को दावत।

स्वाधीनता और स्वाधीनता की लडाई चलाने के लिए किये जानेवाले काम के मुताल्लिक खास ठहराव तो करीब-करीब एकमत से पास हो गया, कई हजारो मे से मुश्किल से बीस आदमियो ने उसके खिलाफ़ वोट दिया था, मगर असली वोटिंग एक

छोटे मामले पर हुआ, जो एक तरमीम की शकल मे आया था। यह तरमीम गिर गई और दोनो तरफ की रायो की तादाद ज़ाहिर कर दी गई। खास ठहराव इत्तफाक से ३१ दिसंबर की आधीरात के घटे की चोट के साथ, जबकि पिछला साल गुज़रकर उसकी जगह नया साल आ रहा था, मजूर हुआ। इस तरह ज्योही कलकत्ता-काग्रेस की दी हुई एक साल की मोहलत खत्म हुई त्योही नया फैसला किया गया और लड़ाई की तैयारियाँ शुरू की गईं। चक्र तो चल गया, मगर फिर भी हम यह नही जानते थे कि हमे कैसे और कब शुरुआत करनी चाहिए। अ० भा० काग्रेस कमिटी को हमारी लड़ाई की योजना बनाने और उसको चलाने का अख्त्यार दिया गया, मगर सब जानते थे कि असली फैसला तो गाँधीजी के हाथ है।

लाहौर-काग्रेस में नज़दीक के ही सीमाप्रान्त से बहुत लोग आये थे। इस प्रान्त से व्यक्तिगत प्रतिनिधि तो काग्रेस की बैठको में हमेशा आया ही करते थे। पिछले कुछ बरसो से खान अब्दुलगफ्फारखा हमारे अधिवेशनो में आया और हिस्सा लिया करते थे। मगर लाहौर मे पहली बार सीमा-प्रान्त से सच्चे नौजवानो का एक बड़ा दल आकर अखिल-भारतीय राजनैतिक लहर के सम्पर्क मे आया। उनके ताज़ा दिमागो पर बड़ा असर पड़ा, और वे यह खयाल और जोश लेकर गये कि वे आज़ादी की लड़ाई मे सारे हिन्दुस्तान के साथ है। वे सीधे-सादे मगर बड़ा काम करनेवाले लोग थे। उन्हे हिन्दुस्तान के दूसरे प्रान्तो के लोगो की तरह महज़ बात-चीत करने और बाल की खाल खींचने की आदत कम थी। उन्होने अपने लोगो को सगठित करना और उनमे नये खयालात फैलाना शुरू किया। उन्हे कामयाबी भी मिली, और सीमा-प्रान्त के स्त्री-पुरुष, जोकि हिन्दुस्तान की लड़ाई मे सबसे पीछे शामिल हुए थे, १९३० मे नुमायाँ और बड़ा हिस्सा लेने लगे।

लाहौर-कॉंग्रेस के बाद ही, और उसकी हिदायत के मुताबिक, मेरे पिताजी ने असेम्बली के कॉंग्रेसी मेम्बरो को अपनी-अपनी जगह से इस्तीफा दे देने को कहा। करीब-करीब सभी एक-साथ बाहर आ गये। कुछ इने-गिने लोगो ने ही बाहर आने से इन्कार किया, हालांकि इससे उनके चुनाव के इकरारो की खिलाफवर्ज़ी होती थी।

फिर भी आगे के बारे में हमे कुछ साफ सूझता न था। हालाकि कॉंग्रेस-अधिवेशन मे बड़ा जोश दिखाई देता था, मगर किसीको मालूम न था कि देश लड़ाई के कार्यक्रम का कहाँतक साथ देगा। हम इतने आगे बढ़ गये थे कि अब पीछे नही जा सकते थे। मगर देश का रुख क्या होगा, इसका करीब-करीब बिलकुल पता न था। अपनी लड़ाई को शुरु करने के लिए और देश की नब्ज़ भी पहचानने की दृष्टि से २६ जनवरी को आज़ादी-दिवस मनाना तय हुआ। इस दिन देशभर मे आज़ादी की प्रतिज्ञा ली जानेवाली थी।

इस तरह अपने कार्यक्रम के बाबत शकाशील मगर कुछ-न-कुछ कारगर काम करने की इच्छा और उत्साह से हम घटनाओ के इन्तजार मे रहे। जनवरी के शुरू मे मैं इलाहाबाद में था, मेरे पिताजी ज्यादातर बाहर थे। यह एक बडे भारी सालाना मेले, माघ मेले, का वक्त था। शायद वह खास कुभ का साल था, और लाखो स्त्री-पुरुष लगातार इलाहाबाद मे, या यात्रियो की भाषा मे प्रयागराज मे, आ रहे थे। वे सब तरह के लोग थे। खासकर किसान थे, और मजदूर, दूकानदार, कारीगर, व्यापारी, औद्योगिक और ऊँचे पेशेवाले लोग भी थे। वास्तव में हिन्दुओ मे से सभी तरह के लोग आये थे। जब मैं इस बडी भीड को और नदी पर जाते और आते हुए लोगो की अटूट धारा को देखता, तो मैं सोचा करता कि ये लोग सत्याग्रह और शान्तिपूर्ण सीधे हमले की पुकार का कितना साथ देगे? इनमे से कितने लोग लाहौर के ठहरावो को जानते हैं या उनकी परवा करते है? उनका वह विश्वास कितना आश्चर्य-जनक और मजबूत था कि जिससे वे और उनके बुजुर्ग हजारो बरसो से हिन्दुस्तान के हर हिस्से से पवित्र गगा में स्नान करने के लिए चले आते थे। क्या वे इस बेहद ताकत को अपनी ही जिन्दगी सुधारने के लिए राजनैतिक और आर्थिक कार्य मे नही लगा सकते? या क्या उनके दिमागो में अपने धर्म का ताना-बाना और परम्परा इतनी भर चुकी है कि उसमे दूसरे खयालात की गुजाइश ही नही रही? मैं तो यह जानता ही था कि ये दूसरे खयालात उनमे पहुँच चुके है, जिनसे सदियो की शान्त निश्चिन्तता मे खलबली पैदा हो गई है। इन अस्पष्ट विचारो और आकाक्षाओ की हलचल के जनता में फैलने से ही पिछले बारह बरसो में बडे-बडे उतार-चढाव आये थे, जिनसे हिन्दुस्तान की सूरत ही बदल गई है। इन विचारो के अस्तित्व के विषय मे और उनकी बडी भारी ताकत के बारे मे तो कोई शक ही नही था। मगर फिर भी शक पैदा होता, और सवालात उठते थे, जिनका तत्काल कोई जवाब न था। ये खयालात कितने फैल चुके हैं? उनके पीछे कितनी ताकत है, सगठित काम करने की कितनी काबलियत है, लम्बे धैर्य की कितनी शक्ति है?

हमारे घर को देखकर यात्रियो के झुण्ड आ जाते थे। वह एक तीर्थ-स्थान, भारद्वाज-आश्रम, के पास ही पडता था, जहाँ पुराने जमाने मे एक विश्वविद्यालय था। मेले के दिनो मे सुबह से शाम तक बेशुमार लोग हमसे मिलने को आते रहते थे। मेरे खयाल से ज्यादातर लोग तो कौतूहल से, और जिन बडे आदमियो का नाम उन्होने सुन रक्खा है उन्हे, खासकर मेरे पिताजी को, देखने की इच्छा से आते थे। मगर आनेवालो में ऐसे भी बहुत-से-लोग थे जिनका झुकाव राजनीति की तरफ था, और वे कांग्रेस के बारे मे, उसमे क्या तय हुआ, और आगे क्या होने वाला है, ये

सवालात पूछते थे। वे अपनी आर्थिक कठिनाइयाँ सुनाते थे और पूछते थे कि उनकी बाबत उन्हे क्या करना चाहिए ? हमारे राजनैतिक नारे उन्हे खूब याद थे, और सारे दिन मकान उन्हीसे गूँजता रहता था। उस दिन मैंने पहले तो, जैसे-जैसे बीस, पचास या सौ आदमियो का झुण्ड एक के बाद एक आता था, हरेक से थोड़े शब्द कहना शुरू किया। मगर जल्दी ही यह काम असम्भव हो गया, और फिर वे जब आते थे तो मैं चुपचाप नमस्कार कर लेता था। मगर इसकी भी हद थी। फिर तो मैंने छिप जाने की कोशिश की। मगर यह सब फिजूल था। नारे ज्यादा-ज्यादा तेज लगने लगे, मकान के बरामदे इन मिलनेवाले लोगो से भर गये और हरेक दरवाजे और खिड़की में से बहुत-से लोग हमे झाँकने लगे। कुछ काम करना या बातचीत करना या भोजन करना भी मुश्किल हो गया। इससे सिर्फ परेशानी ही नही होती थी बल्कि झुंझलाहट और चिढ़ भी होती थी। मगर फिर भी वे लोग तो आते ही थे। वे अपनी प्रेम-भरी चमकती आँखो से देख रहे थे, जिनमे पीढ़ियों की गरीबी और मुसीबतें झलक रही थी, और हमारे ऊपर अपनी श्रद्धा और प्रेम बरसा रहे थे, और उसके बदले में सिवा भ्रातृ-भाव और सहानुभूति के कुछ नही माँगते थे। इस प्रेम और श्रद्धा की प्रचुरता मे नम्र और भयभीत हुए बिना रहना असम्भव था।

एक महिला, जो हमारी प्रिय मित्र थी, उस वक्त हमारे यहा ठहरी हुई थी। अक्सर उनसे बातचीत करना भी कठिन हो गया था, क्योकि चार-चार पाँच-पाँच मिनट से मुझे आये हुए झुंड को कुछ-न-कुछ कहने के लिए बाहर जाना पडता था, और बीच-बीच में हमे बाहर के नारे और शोरगुल सुनाई देता था। मेरी परेशानी में उन्हे कुछ हँसी-सी आई, और साथ ही, मेरा खयाल है यह समझकर कि मैं जनता मे बहुत लोक-प्रिय हूँ, वह प्रभावित भी हुई। (सच बात तो यह थी कि लोग खास-कर मेरे पिताजी को देखने के लिए आते थे, मगर चूँकि वह बाहर गये हुए थे, मुझे ही लोगों के सामने जाना पड़ता था।) उन्होंने अचानक मेरी तरफ़ मुड़कर मुझसे पूछा, कि मैं इस वीर-पूजा को कैसा पसन्द करता हूँ और क्या इसका मुझे फख्र नही होता ? जवाब देने से पहले मैं थोड़ा झिझका और इससे उन्होने समझा कि शायद इस बिलकुल ज़ाती सवाल से उन्होंने मुझे परेशानी मे डाल दिया है। उन्होने इसके लिए माफी चाही। उनके सवाल से मुझे परेशानी बिलकुल नही हुई, मगर मुझे सवाल का जवाब ढूँढना बड़ा मुश्किल मालूम हुआ। मेरा दिमाग बहुत बातें सोचने लगा और मैं अपनी भावनाओं और विचारों का विश्लेषण करने लगा। वे अनेक प्रकार के थे। यह सच था कि, प्राय. इत्तफ़ाक़ से ही, मैं जनता मे बड़ा लोकप्रिय हो गया था। पढ़े-लिखे लोगो में मेरी कदर होती थी। नौजवान स्त्री-पुरुषो का तो एक प्रकार मे

मैं वीर—सूरमा—बन गया था और उनकी निगाह मे मेरे आसपास कुछ अद्भुतता दिखाई पडती थी। मेरे बारे मे गाने तैयार हो गये थे और ऐसी-ऐसी अनहोनी कहानियाँ घड ली गई थी जिन्हे सुनकर हँसी आती थी। मेरे विरोधी भी अक्सर मेरे लिए अच्छी राय जाहिर करते थे, और बुजुर्गाना ढग से कहते थे कि मुझमे काबलियत या ईमानदारी की कमी नही है।

शायद किसी महात्मा या बडे भारी हैवान पर ही इन सब बातो का असर नही हो सकेगा। मगर मैं तो अपनेको दोनो मे से एक भी नही मानता। बस, ये बाते मेरे दिमाग मे बैठ गईं। उन्होने मुझपर थोड़ा नशा चढा दिया और मुझको हिम्मत और ताकत दी। मेरा यह अन्दाज है, (क्योकि बाहर से अपने-आपको समझ लेना मुश्किल काम है,) कि मैं अपने काम-काज मे थोडा एक-तन्त्री और कुछ हाकिमाना बन गया। मगर फिर भी, मेरा खयाल है कि, मेरा गरूर कुछ ज्यादा नही बढ़ा। मुझे खयाल हुआ कि मुझमे भी काफी बातो की लियाकत है और उनके सम्बन्ध मे मैं ऐसा नाचीज नही हूँ। मगर मैं यह भी खूब जानता था कि यह कोई विलक्षण बात नही है, और मुझे अपनी कमजोरियो का भी बहुत खयाल था। आत्म-निरीक्षण की आदत ने ही शायद मुझे ठिकाने रखने मे मदद दी और इसीसे मैं अपने सम्बन्ध की कई घटनाओ पर अनासक्त दृष्टि से गौर कर सकता था। सार्वजनिक जीवन के तजुर्बे ने मुझे बता दिया कि लोकप्रियता तो अक्सर अवाञ्छनीय व्यक्तियो के पास रहती है, वह यकीनन भलाई या अक्लमन्दी का ही आवश्यक चिन्ह नही होती। तो क्या मै अपनी कमजोरियो के सबब से लोकप्रिय था, या अपने गुणो के सबब से ? मै लोकप्रिय हुआ ही क्यो ?

इसका सबब मुझमे दिमागी काबलियत का होना नही था। क्योकि मुझमे दिमागी काबलियत कोई गैरमामूली नही थी और कम-से-कम इसीसे ही लोकप्रियता नही मिलती, और 'कुर्बानी' कहे जानेवाले कामो से भी मेरी लोकप्रियता नही थी, क्योकि यह सभी जानते हैं कि हमारे ही समय मे हिन्दुस्तान मे सैकडो और हजारो आदमियो ने मुझसे बेहद ज्यादा तकलीफे उठाई है और आखिरी कुर्बानी तक की है। मैं बडा वीर या सूरमा हूँ, यह शोहरत बिलकुल झूठी है। मैं अपने-आपको वीरोचित बिलकुल नही समझता और जीवन मे वीरो का-सा ढग या उसकी नकल और दिखावा करना मुझे बिलकुल वाहियात बात मालूम होती है। अद्भुतता के बारे मे तो मुझे कहना पड़ेगा कि मैं सबसे कम अद्भुत व्यक्ति हूँ। यह सही है कि मुझमे कुछ शारीरिक और दिमागी हिम्मत है, मगर उसकी बुनियाद तो है शायद गरूर—अपना, अपने समूह का और अपने राष्ट्र का गरूर, और किसीके दबाव से कुछ करने की अनिच्छा।

मुझे अपने सवाल का सन्तोषजनक जवाब नही मिला। तब मै दूसरे ही तरह उसकी खोज में लग गया। मुझे पता लगा कि मेरे पिताजी और मेरे बारे में एक बहुत प्रचलित कहावत यह है कि हम हर हफ्ते अपने कपडे पैरिस की किसी लॉण्ड्री में धुलने को भेजते थे। हमने इसकी कई बार तरदीद की है, फिर भी यह बात प्रचलित ही है। इससे ज्यादा अजीब और वाहियात बात की कल्पना भी मै नही कर सकता। अगर कोई इतना मूर्ख हो कि वह ऐसे झूठे बडप्पन के लिए इस तरह की फिजूलखर्ची करे, तो मै समझता हूँ कि वह अव्वल दर्जे का उल्लू ही समझा जायगा।

इसी तरह से एक दूसरी दन्तकथा, जो कि तरदीद करने पर भी प्रचलित है, यह है कि मै प्रिंस ऑफ वेल्स के साथ स्कूल मे पढता था। यह भी कहा जाता है कि जब १९२१ में वह हिन्दुस्तान आये तब उन्होने मुझे बुलाया था, पर उस वक्त मै जेल मे था। सच बात तो यह है कि मै न तो स्कूल मे ही उनके साथ पढा हूँ, न मुझे उनसे मिलने या बात करने का ही मौका हुआ है।

मेरे कहने का मतलब यह नही कि मेरी शोहरत या लोक-प्रियता इन या ऐसी कहानियो के बदौलत ही है। उसकी ज्यादा मजबूत बुनियाद भी हो सकती है। मगर इसमें शक नही कि इसमें बडप्पन की बात बहुत शामिल है, जैसा कि इन कहानियो से जाहिर है। कुछ भी हो। भावना यह है कि पहले मै बडे-बड़े लोगो से मिलता-जुलता था, और बड़े ऐश-आराम की जिन्दगी गुजारता था, और फिर मैने वह सब त्याग दिया। हिन्दुस्तानी दिमाग त्याग को बहुत अच्छा समझता है। मगर इस कारण से मेरी शोहरत हो, यह मुझे बिलकुल अच्छा नही लगता। मुझे निष्क्रिय गुणो की बनिस्बत सक्रिय गुण ज्यादा पसन्द है, और केवल त्याग और बलिदान को मै अच्छा नही समझता। मै उनकी दूसरे ही दृष्टिकोण से कदर करता हूँ—यानी मानसिक और आध्यात्मिक तालीम के तौर पर, जैसे कि कसरती आदमी को अच्छी तन्दुरुस्ती रखने के लिए सादा और नियमित जीवन रखना जरूरी है। और जो लोग महान् कार्यो मे पडना चाहते है उनमें सख्त आघातो के होने पर भी सहन और धैर्य की क्षमता होना जरूरी है। मगर जीवन के त्यागमय दृष्टिकोण, जीवन के निषेध, उसके आनन्दो और अनुभूतियो से भयपूर्वक दूर रहने की तरफ मुझे रुचि या आकर्षण नही है। मैने किसी भी चीज को, जिसका मैने वास्तव मे महत्व समझा, जानबूझकर नही छोडा है, मगर, हाँ, चीजो का मूल्य अलबत्ते बदलता रहता है।

उन महिला-मित्र ने मुझसे जो सवाल पूछा था उसका जवाब फिर भी नही मिला। क्या मै भीड़ की इस वीर-पूजा से गर्व अनुभव नही करता ? मै तो इसे नापसन्द करता था, और इससे दूर भाग जाना चाहता था। मगर फिर भी मै इसका आदी हो गया था।

और जब यह बिलकुल न होती थी तो इसका अभाव भी मालूम होता था। दोनो ही तरह से मुझे तसल्ली नही थी। मगर कुल मिलाकर, भीड ने मेरी एक अन्दरूनी जरूरत पूरी कर दी। मैं उनपर असर डाल सकता हूँ और उनसे काम करवा सकता हूँ, इस खयाल से मुझमे उनके दिल और दिमाग पर अधिकार होने की एक भावना आ गई थी। इससे किसी हद तक मेरी सत्ता की इच्छा पूरी होती थी। और वे लोग तो अपनी तरफ से मुझपर एक अजीब तरह का जुल्म करते थे, क्योंकि उनके विश्वास और प्रेम से मेरा अन्तस्तल हिल जाता था, और उसके जवाब मे मेरे दिल मे भी भावुकता का सचार हो जाता था। हालाकि मै व्यक्तिवादी हूँ, मगर कभी-कभी मेरे व्यक्तिवाद की दीवारे भी टूट-सी जाती थी, और मुझे ऐसा लगता था कि इन दुखिया लोगो के साथ-साथ मुसीबतो मे रहना, अलग रहकर बचे रहने की वनिस्वत, अच्छा है। मगर वे दीवारे हटनेवाली न थी, और मैं उन्हीके ऊपर से आश्चर्य-भरी आँखो से इस दृश्य की तरफ देखा करता था, जिसे मैं समझ न सकता था।

अभिमान की तह आदमी पर, चर्बी की तरह, धीरे-धीरे अनजाने चढती है। यह जिस आदमी पर चढती है उसे पता नही पड़ता कि रोजाना कितनी चढती जाती है। मगर खुशकिस्मती से इस पागल दुनिया की सख्त चोटो से वह कम भी हो जाती है या बिलकुल उतर भी जाती है। हिन्दुस्तान मे तो पिछले वरसो मे हमपर इन सख्त चोटो की कोई कमी नही रही है। जिन्दगी का स्कूल हमारे लिए बहुत सख्त रहा है, और कष्ट-सहन दरअसल बडा सख्त काम लेनेवाला मास्टर है।

एक दूसरी बात मे भी मैं खुशकिस्मत रहा हूँ। मेरे परिवार के लोग, दोस्त और साथी ऐसे रहे है, जिन्होने मुझे ठीक निगाह रखने मे और अपना दिमाग बिगडने न देने मे मदद दी है। सार्वजनिक उत्सवो, म्युनिसिपैलिटियो, स्थानिक बोर्डो और दूसरी सार्वजनिक सस्थाओ की तरफ से अभिनन्दनों और जुलूसो वगैरा से मेरे दिमाग, मेरी विनोद-प्रियता और वास्तविकता की भावना पर बडा बोझ पडता था, इन मौको पर बहुत लम्बी-चौड़ी और शानदार भाषा इस्तैमाल होती थी, और हरेक आदमी इतना गभीर और पुण्यात्मा बनता था कि इस सबको देखकर मेरी यह जबरदस्त ख्वाहिश होती थी कि मैं हँस पडूँ या अपनी जबान बाहर निकाल दूँ या सिर के बल उलटा खडा हो जाऊँ, सिर्फ इसलिए कि उस गभीर सम्मेलन मे लोगो के चेहरो पर इसका कैसा धक्का लगता और क्या असर होता है यह मैं देखू और इसका मजा लूँ। मगर खुशकिस्मती से अपनी शोहरत के सबब से, और इसलिए कि हिन्दुस्तान के सार्वजनिक जीवन में गभीरता ही आदरणीय समझी जाती है, मैं अपनी इस अनियन्त्रित इच्छा को रोक लेता था, और आम तौर पर ठीक औचित्य से ही बर्ताव करता था। मगर, हमेशा नही। किसी-किसी भारी

मीटिंग मे, या ज्यादातर अक्सर जुलूसो मे, जिनसे मै बहुत परेशान हो जाता हूँ, मैने कभी-कभी कोई प्रदर्शन कर दिया है। कभी-कभी हमारे सम्मान मे निकाले जानेवाले जुलूसो को मै अचानक छोड देता था और भीड मे अनजाने शामिल हो जाता था। मै अपनी पत्नी को या और किसीको जुलूस की गाडी मे ही बैठा छोड देता था।

अपनी भावनाओ को हमेशा दबाये रखने की इस कोशिश और लोगो के सामने किसी खास ढग से वर्ताव करने के कारण दिमाग पर बडा जोर पडता है, और नतीजा यह होता है कि सार्वजनिक मौको पर आदमी गभीर चेहरा बनाये रहता है। शायद इसी लिए एक हिन्दी मासिक-पत्रिका के लेख मे एक दफा लिखा गया था कि मै हिन्दू-विधवा की तरह हूँ। हाला कि मै पुराने ढग की हिन्दू विधवा की बडी इज्जत करता हूँ, फिर भी मुझे इस वर्णन से धक्का लगा। लेखक का जाहिरा मतलब यह था कि उसके खयाल से मुझमे अपने-आपको नम्रता-पूर्वक समर्पित कर देने, त्याग, और बिना कभी हसी-मजाक किये हमेशा काम मे लगे रहने के कुछ गुण थे, जिनकी वह तारीफ करता था। मेरा तो खयाल था कि, मुझमें अधिक क्रियाशीलता और तेजी है, और मजाक करने और हँसने की योग्यता भी है। और नि.सदेह मै चाहता हूँ कि ये गुण हिन्दू-विधवाओ मे भी होने चाहिएँ। गाधीजी ने एक बार एक मिलनेवाले से कहा था, कि अगर मुझमे विनोद का माद्दा न होता तो शायद खुदकुशी या ऐसा ही कुछ कर गुजरता। मै इतनी हद तक तो जाना नही चाहता, मगर जिन्दा रहना मेरे लिए तो प्राय असह्य हो जाता, अगर मेरी जिन्दगी मे कुछ लोग हँसी-मजाक की कुछ मात्रा न डालते रहते।

मेरी लोकप्रियता पर और वडे-वडे मान-पत्रो पर, जो मुझे मिला करते थे, जिनमे (जैसा कि वास्तव में हिन्दुस्तान के सभी मान-पत्रो मे होता है) वडी चुनी हुई और लच्छेदार भाषा और लम्बी-चौड़ी तारीफ भरी रहती थी, मेरे परिवार के और मित्र-मण्डली के लोग वडा मजाक उडाया करते थे। राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रमुख आदमियो के लिए जैसे ऊचे और शानदार लफ्ज और अलकाव अक्सर इस्तैमाल होते है, वैसे शब्दो को मेरी पत्नी और वहने और दूसरे लोग पकड लेते थे और उनका मौके-बेमौके मेरा किसी तरह लिहाज किये बिना प्रयोग करते रहते थे। वे मुझे 'भारत-भूषण' और 'त्याग-मूर्ति' आदि कहा करते थे, और इस विनोद-पूर्ण प्रयोग से मुझे भी तसल्ली मिलती थी, और उन गभीर सार्वजनिक सभाओ की, जहाँ मुझे बहुत शिष्टता का वर्ताव कर दिखाना पड़ता था, थकावट धीरे-धीरे दूर हो जाती थी। इस मजाक मे मेरी छोटी-सी लडकी भी शामिल हो जाती थी। सिर्फ मेरी माताजी ही इस बात पर ज़ोर दिया करती थी कि मुझसे गभीरता का व्यवहार किया जाय। अपने प्यारे पुत्र के साथ ज्यादा मजाक या दिल्लगी होने का वह कभी पूरा समर्थन

नही करती थी । इससे मेरे पिताजी का भी कुछ मनोरजन हो जाता था । वह अपने विचारो और भावो को चुपचाप प्रदर्शित करने का एक खास तरीका रखते थे ।

मगर इन नारे लगानेवाले मजमो, बेलुत्फ और थकानेवाले सार्वजनिक उत्सवो और अनन्त बहसो और राजनीति के धूम-धक्को का मुझपर सिर्फ ऊपरी असर होता था, हालाकि यह असर भी कभी-कभी तेज और गहरा होता था । मगर मेरा असली सघर्ष मेरे अन्दर चल रहा था । मेरे विचारो और इच्छाओ और निष्ठाओ मे सघर्ष चल रहा था । मेरे मस्तिष्क की अन्तर्भावनाये बाहरी परिस्थितियो से झगड रही थी । मेरी आन्तरिक भूख बुझी न थी । मै एक लडाई का मैदान बन गया था, जहाँ तरह-तरह की ताकते एक-दूसरे को जीत लेने की कोशिश कर रही थी । मै इससे छुटकारा चाहता था । मैने सामञ्जस्य और चित्त की समता ढूँढने की कोशिश की, और इसी प्रयत्न मे लडाई मे कूद पडा । इससे मुझे शान्ति मिली । बाहरी सघर्ष ने भीतरी सघर्ष की तेजी को कम कर दिया ।

मै जेल मे बैठा हुआ यह सब क्यो लिख रहा हूँ ? मै चाहे जेल मे होऊँ या जेल के बाहर, लेकिन मेरी तलाश फिर भी वही है, और मै अपने पिछले विचार और अनुभव इस आशा से लिख रहा हूँ कि इससे मुझे शान्ति और मानसिक सतोष मिल सके ।

२९

सविनय भंग शुरू

स्वाधीनता-दिवस, २६ जनवरी १९३०, आया और बिजली की चमक की तरह से उसने हमे बता दिया कि देश मे सरगर्मी और उत्साह है। उस दिन हर जगह बडी-बडी सभाये हुई जिनमे बगैर भाषणो या विवेचनो के, शान्ति और गभीरता से, लोगो ने आजादी की प्रतिज्ञा[1] ली। सभायें और जुलूस बडे प्रभावशाली थे। गाँधीजी को इस दिवस से आवश्यक बल मिल गया, और जनता की नब्ज की ठीक पहचान रखने के कारण उन्होने समझ लिया कि लडाई छेड़ने का यह ठीक वक्त है। इसके बाद तो घटनाये एक के बाद एक जल्दी-जल्दी घटित होने लगी, जैसाकि किसी नाटक मे रस की पराकाष्ठा होते समय होता है।

जैसे-जैसे सविनय भग नजदीक आता गया और लोगो मे जोश बढता गया, वैसे-वैसे हमारे खयालात इस बात की तरफ गये कि किस तरह १९२१-२२ का आन्दोलन चला था और चौरीचौरा के बाद वह यकायक मुल्तवी कर दिया गया था। तबसे अब देश मे अनुशासन ज्यादा था और अब लोग ज्यादा साफ तौर पर समझ गये थे कि यह लडाई किस किस्म की है। उसका तरीका तो किसी हद तक समझ ही लिया गया था। मगर हर आदमी ने यह भी पूरी तरह महसूस कर लिया कि गाँधीजी अहिंसा पर भयकर रूप से जोर देते है, और यह बात गाँधीजी के दृष्टिकोण से ज्यादा जरूरी थी। दस साल पहले कुछ लोगो के दिमागो मे शायद इस बाबत शक रहा हो, मगर अब तो वैसा शक नहीं हो सकता था। फिर भी, हमे इसका पक्का विश्वास कैसे हो सकता था कि किसी स्थान पर अपने-आप या किसी साजिश से हिंसा का कोई काण्ड न हो जायगा? और अगर ऐसी कोई घटना हुई, तो उसका हमारे सविनय भग-आन्दोलन पर क्या असर होगा? क्या वह पहले की ही तरह अचानक बन्द कर दिया जायगा? यही सम्भावना सबसे ज्यादा बेचैन कर रही थी।

गाँधीजी ने भी शायद इस सवाल पर अपने खास ढग से विचार किया, हालाँकि जिस समस्या की उन्हे चिन्ता मालूम होती थी, जहाँतक मै कभी-कभी बातचीत करके समझ सका, वह दूसरे ही ढग से उनके सामने उपस्थित थी।

सुधार करने के लिए अहिसात्मक ढग की लडाई करना ही उनकी निगाह मे सच्चा तरीका था, और अगर ठीक तरह से उसपर अमल किया जाय तो वही अचूक

१—यह प्रतिज्ञा परिशिष्ट न० १ में दी हुई है।

भी है। तो क्या यह कहा जाना चाहिए कि इस तरीके को अमल मे लाने और कामयाब बनाने के लिए खास तौर पर कोई वहुत अनुकूल वातावरण चाहिए, और अगर बाहरी हालते इसके माफिक न हो तो इसको काम मे नही लाना चाहिए ? इससे तो यह नतीजा निकलता है कि अहिंसात्मक तरीका हर हालत के लिए ठीक नही है, और इस तरह यह न तो सार्वभौम तरीका रह जाता है, न अचूक। मगर यह नतीजा गाँधीजी के लिए असह्य था, क्योकि उनका पक्का विश्वास था कि यह तरीका सार्वभौम भी है और अव्यर्थ भी। इसलिए बाहरी हालत के नामाफिक होने पर भी, और झगडो और हिंसा के होते रहते भी, यह तरीका अवश्य काम मे आ सकता है। बदलती हुई हालतो मे उसके अमल का ढग भी बदलता रह सकता है, मगर उसका बन्द किया जाना तो खुद उस तरीके की विफलता को मान लेना होगा।

शायद वह इस प्रकार से सोचते होगे, मगर मै उनके विचारो को निश्चय से नही कह सकता। उन्होने हमे यह तो कुछ-कुछ बता ही दिया कि अब उनकी विचार-पद्धति मे थोडा फर्क हो गया है, और जब सविनय भग आवेगा तो किसी एकाध हिंसात्मक काण्ड से उसका बन्द किया जाना जरूरी नही है। मगर यदि हिंसा किसी आन्दोलन का ही हिस्सा बन जायगी, तो वह शान्तिपूर्ण सविनय-भग-आन्दोलन न रहेगा और उसकी हलचलो को बन्द करना या बदलना पडेगा। इस आश्वासन से हम बहुतेरो को बहुत हद तक सतोष हुआ। अब सबके सामने बडा सवाल यह था, कि यह किया कैसे जाय ? शुरुआत किस तरह हो ? किस प्रकार का सविनय-भग हम चलावे, जो कारगर हो, परिस्थिति के अनुकूल हो और जनता मे लोकप्रिय हो ? लेकिन गाधीजी ने ही इसकी तरकीब बताई।

नमक अचानक एक रहस्यपूर्ण शब्द, एक बलपूर्ण शब्द, बन गया। नमक-कर पर हमला करना चाहिए। नमक-कानून को तोडना चाहिए। हम हैरत मे पड गये। नमक का राष्ट्रीय सग्राम हमे कुछ अटपटा मालूम हुआ। दूसरी आश्चर्य मे डालनेवाली बात हुई गाँधीजी का अपने ११ मुद्दो का प्रकाशित करना। कुछ राजनैतिक और सामाजिक सुधारो की, चाहे वे अच्छे ही क्यो न हो, फेहरिस्त उस समय पेश करना जब कि हम आजादी की दृष्टि से बात कर रहे थे, क्या मतलब रखता था ? गाधीजी जब 'आजादी' शब्द कहते थे तो क्या उनका वही अर्थ था जो हमारा था, या क्या हम लोग अलग-अलग भाषाओ का प्रयोग कर रहे थे ? मगर हमे बहस करने का मौका न था, क्योकि घटनायें तो आगे जा रही थी। वे हिन्दुस्तान में तो हमारी निगाहो के सामने राजनैतिक रूप मे दिन-ब-दिन आगे बढ ही रही थी, मगर, शायद, हम नही जानते थे कि वे दुनिया मे भी तेजी से बढ रही थी और दुनिया को एक भयकर मन्दी

में जकड़े हुए थी। चीज़ों के भाव गिर रहे थे, और शहर के रहनेवालों ने समझा कि अब सम्पन्नता का ज़माना आ रहा है। मगर किसानों ने तो इसमें ख़तरा ही देखा।

इसके बाद गांधीजी का वाइसराय से पत्र-व्यवहार हुआ, और साबरमती-आश्रम से दाण्डी की नमक-यात्रा शुरू हुई। दिन-ब-दिन इस यात्रा-दल के बढ़ने का हाल जैसे-जैसे लोग पढ़ते थे, देश में जोश का पारा बढ़ता जाता था। अहमदाबाद में अ० भा० कांग्रेस कमिटी की बैठक इस लड़ाई की बाबत, जो प्रायः हमारे सिर पर आ चुकी थी, आख़िरी व्यवस्था करने के लिए हुई। इस बैठक में हमारे संग्राम का नेता मौजूद नहीं था, क्योंकि वह तो अपने यात्रा-दल के साथ समुद्र की ओर जा रहा था, और उसने वहाँ से लौटने से इन्कार कर दिया। अ० भा० कां० कमिटी ने योजना बनाई कि अगर गिरफ़्तारियाँ हों तो क्या-क्या किया जाना चाहिए, और यदि यह कमिटी फिर बैठक न कर सके तो उसकी तरफ़ से कार्य-समिति के गिरफ़्तार-शुदा लोगों की जगह खुद नये मेम्बर नियुक्त कर देने और अपने स्थान पर ऐसे ही अख़्त्यारात रखनेवाले दूसरे शख़्स को नामज़द कर देने के बड़े-बड़े अधिकार सभापति को दिये गये। प्रान्तीय और स्थानीय कांग्रेस कमिटियों ने भी अपने-अपने सभापतियों को ऐसे ही अख़्त्यारात दे दिये।

इस तरह से वह ज़माना शुरू हुआ जब कि 'डिक्टेटर' कहे जानेवाले लोग कायम हो गये और उन्होंने कांग्रेस की तरफ़ से संग्राम का संचालन किया। इसपर भारत-मंत्री और वाइसराय और गवर्नरों ने बड़ी नफ़रत ज़ाहिर की और वे चीख़-चीख़-कर कहने लगे कि कांग्रेस कितनी ख़राब और पतित हो गई है कि वह डिक्टेटरों को मानने लगी है, जबकि वे ख़ुद तो मानों प्रजातन्त्र-वाद के पक्के माननेवाले ही थे! कभी-कभी हिन्दुस्तान के नरम-दली अख़बारों ने भी हमें प्रजातन्त्र के लाभों का उपदेश दिया। हम यह सब ख़ामोशी से (क्योंकि हम तो जेल में थे) और हैरत में होकर सुनते थे। बेशरमी और मक्कारी इससे ज़्यादा क्या हो सकती थी? इधर तो हिन्दुस्तान पर एकतन्त्री डिक्टेटर द्वारा बलपूर्वक शासन हो रहा था, जिसमें आर्डिनेन्स कानून बन रहे थे और हर तरह की नागरिक स्वतन्त्रता दबाई जा रही थी, और उधर हमारे शासक नफ़रत दिखाकर प्रजातन्त्रवाद की बातें कर रहे थे! और क्या, मामूली हालत में भी, हिन्दुस्तान में प्रजातन्त्र की छाया भी कहीं थी? अंग्रेज़ी हुकूमत अपनी ताक़त और हिन्दुस्तान में स्थापित स्वार्थों की हिफ़ाज़त करे और उसकी सत्ता को हटानेवालों का दमन करे, यह तो बेशक उसके लिए कुदरती बात थी। मगर उसका यह कहना कि यह सब प्रजातन्त्री तरीक़ा था, ऐसी बात है जो अगली पीढ़ियों के ग़ौर करने और तारीफ़ करने के लिए लिखकर रख ली जाय!

कांग्रेस ऐसी हालत में आनेवाली थी कि जब उसका मामूली ढंग पर काम करना

गैर-मुमकिन हो जायगा, जब वह गैर-कानूनी करार देदी जायगी, और गुप्त रूप के सिवा और किसी ढग से उसकी कमिटियाँ किसी परामर्श या किसी काम के लिए इकट्ठा न हो सकेगी। हमने पोशीदगी को बढावा नही दिया, क्योकि हम अपनी लडाई को बिलकुल खुली रखना चाहते थे, जिससे कि हमारा तर्ज ऊँचा रहे और हम जनता पर असर डाल सके। मगर पोशीदगी से भी ज्यादा काम नही चल सकता। केन्द्र मे, प्रान्तो मे और स्थानीय हल्को मे हमारे सब बडे-बडे स्त्री-पुरुष तो गिरफ्तार होनेवाले ही थे। फिर कौन आगे काम चलाता ? इस सूरत मे हमारे सामने एक ही रास्ता था, जिस तरह जग करती हुई फौज मे होता है, कि पुराने सेना-नायको के हटते ही नये सेना-नायक बनाने की व्यवस्था करना। लड़ाई के मैदान मे बैठकर कमिटियो की बैठके करना हमारे लिए नामुमकिन था। वास्तव मे, कभी-कभी हमने ऐसा किया भी था, मगर इसका उद्देश्य और अनिवार्य नतीजा यह होता था कि सारी कमिटी एक-साथ गिरफ्तार हो जाती। हमे यह भी सुभीता नही था कि लडनेवाली लाइनो के पीछे जनरल स्टाफ सुरक्षित बैठा रहता, या कही दूसरी जगह और भी ज्यादा हिफाजत से मुल्की मत्रि-मडल बैठा रहता। यह लडाई ही इस तरह की थी कि हमारे कर्मचारियो और मत्रि-मण्डलो को अपने-आपको सबसे आगे और खुली जगहो मे रखना पडता था, और वे तो सब शुरू मे ही गिरफ्तार कर लिये गये। और हमने अपने 'डिक्टेटरो' को भी क्या सत्ता देदी थी ? राष्ट्रीय सग्राम चलाने को दृढ निश्चय के सकेत-रूप मे उन्हे यह सम्मान दिया जाता था। मगर असल मे तो उन्हे ज्यादातर खुद जेल मे चले जाने की ही सत्ता मिली थी। वे तभी काम करते थे जबकि किसी बडी और अबाध सत्ता के कारण उनकी कमिटी, जिसके वह प्रतिनिधि थे, मीटिंग नही कर सकती थी; और जब या जहाँ उस कमिटी की बैठक हो सकती, तो डिक्टेटर को जो कुछ भी सत्ता थी वह अपने-आप नही रहती थी। डिक्टेटर किसी बुनियादी सवाल या उसूल के बारे मे कुछ फैसला नही कर सकता था, वह तो आन्दोलन की छोटी-छोटी और ऊपरी बातो के विषय मे ही कुछ कर सकता था। कॉंग्रेस की 'डिक्टेटरशिप' तो वास्तव मे जेल पहुँचने की सीढी थी। और रोज-ब-रोज वही बात होती रही। पुराने लोग हटते जाते थे और उनकी जगह नये लोग आते जाते थे।

इस तरह, अपनी आखिरी तैयारियाँ करके, अहमदाबाद मे हमने अ० भा० कॉंग्रेस कमिटी के अपने साथियो से बिदा माँगी, क्योकि यह किसीको मालूम न था कि आगे हम कब और कैसे इकट्ठे हो सकेगे, या इकट्ठे हो भी सकेगे या नही। हम अपनी-अपनी जगहो पर जाकर अ० भा० कॉं० कमिटी की हिदायतो के मुताबिक अपने-अपने मुकामी इन्तजाम को आखिरी तौर पर ठीक-ठीक करने और, जैसा कि

सरोजिनी नायडू ने कहा, जेल-यात्रा के लिए बिस्तर बाँधने को जल्दी-जल्दी चल दिये।

लौटते वक्त पिताजी और मै गाधीजी से मिलने गये। वह अपने यात्री-दल के साथ जम्बूसर में थे। वहाँ हम उनके साथ कुछ घण्टे रहे, और फिर वह अपने दल के साथ समुद्र-यात्रा के दूसरे पडाव के लिए पैदल चल पडे। वह हाथ मे डण्डा लिये हुए, अपने अनुयायियो के आगे-आगे, जा रहे थे। उनके कदम मजबूत थे और उनका चेहरा शान्तिपूर्ण किन्तु निर्भयता लिये हुए था। इस तरह उस समय मैने उनके आखिरी दर्शन किये। वह एक दिल हिला देनेवाला दृश्य था।

जम्बूसर मे मेरे पिताजी ने गाधीजी से सलाह करके यह तय किया था कि वह इलाहाबाद का अपना पुराना मकान राष्ट्र को दान कर देगे, और उसका नाम बदलकर स्वराज-भवन रख देगे। इलाहाबाद लौटकर उन्होने इसकी घोषणा कर दी, और कांग्रेसवालो को उसका कब्जा भी दे दिया। उस बड़े मकान का एक हिस्सा अस्पताल बना दिया गया। उस वक्त तो वह उसकी कानूनी कार्रवाई पूरी न कर सके, पर डेढ साल बाद मैने उनकी इच्छा के मुताबिक उस मकान का एक ट्रस्ट बना दिया।

अप्रैल आया। गाधीजी समुद्र-तट पर पहुँच गये और हम नमक-कानून को तोडकर सविनय भग करने की उनकी हिदायत का इन्तजार करने लगे। कई महीनो से हम अपने स्वयसेवको को कवायद की तालीम दे रहे थे, और कमला और कृष्णा (मेरी पत्नी और बहन) भी उनमे शामिल हो गई थी और उन्होने इस काम के लिए मर्दाना ड्रेस पहन लिया था। स्वयसेवको के पास कोई भी हथियार, लाठियाँ तक, न था। उनको तालीम देने का मकसद यह था कि वे अपने काम में ज्यादा योग्य और कुशल हो जायँ और बडी-बडी भीडो को नियत्रण मे रख सके। राष्ट्रीय सप्ताह, १९१९ के सत्याग्रह-दिवस से लेकर जलियाँवाला बाग तक की घटनाओ की यादगार मे, हर साल मनाया जाता है, और ६ अप्रैल इसी सप्ताह का पहला दिन था। इसी दिन गाधीजी ने दाडी मे समुद्र के किनारे नमक-कानून को तोडा, और तीन-चार दिन बाद सारे कॉंग्रेस-सगठनो को इजाजत दे दी गई कि वे भी नमक-कानून तोडे और अपने-अपने क्षेत्र मे सविनय भग शुरू करे।

ऐसा मालूम हुआ कि कोई बटन अचानक दबा दिया गया, और सारे देश मे, शहरो मे और गाँवो मे, जिधर देखो रोज नमक बनाने की ही चर्चा थी। नमक बनाने के लिए कई अजीब-अजीब तरकीबे निकाली गईं। इस बारे में हमारी जानकारी बहुत ही थोड़ी थी, इसलिए जहाँ इस बारे मे कुछ भी लिखा मिला वह हमने पढ डाला, और इस बाबत हिदायते देने के लिए कई पत्रिकाये प्रकाशित की, और बर्तन और कढाइयाँ इकट्ठी की और अन्त मे एक भट्टी-सी चीज बना ही डाली, जिसे हम

बडी बहादुरी से उठाकर दिखाते थे और अक्सर बहुत ऊँची कीमत पर नीलाम भी करते थे। वह चीज अच्छी है या बुरी, इसका तो सचमुच कोई महत्त्व न था; क्योंकि खास चीज तो उस बेहूदे नमक-कानून को तोडना था। इसमे हम जरूर कामयाब हुए, चाहे हमारा बनाया हुआ नमक कितना भी खराब क्यो न हो। जब हमने देखा कि लोगो मे उत्साह उमड रहा है, और नमक बनाना जगली आग की तरह चारो तरफ फैल रहा है, तो हमे कुछ शर्म मालूम हुई, क्योंकि जब गाधीजी ने इस तरीके की तजवीज पहले-पहल रक्खी थी तब हमने उसकी कामयाबी के बाबत शक किया था। हमे ताज्जुब होता था कि इस व्यक्ति मे लोगो पर असर डालने और उनमे सगठित रूप मे काम करवाने की कितनी अद्भुत सूझ है!

मै १४ अप्रैल को गिरफ्तार हो गया, जबकि मै रायपुर (मध्यप्रान्त) की एक कान्फ्रेन्स मे शामिल होने के लिए रेलगाडी मे सवार हो रहा था। उसी दिन जेल मे मेरा मुकदमा भी हो गया, और मुझे नमक-कानून के मातहत छ महीने की सजा दी गई। अपनी गिरफ्तारी की सभावना से मैने (अ० भा० कॉंग्रेस कमिटी द्वारा दी गई नई सत्ता के अनुसार) पहले ही मेरी गैरहाजिरी मे कॉंग्रेस के सभापति की जगह के लिए गाधीजी को नामजद कर दिया था, मगर, अगर वह मजूर न करे तो, मेरी दूसरी नामजदगी पिताजी के लिए थी। जैसा कि मेरा ख्याल था, गाधीजी राजी न हुए, और इसलिए पिताजी ही काग्रेस के स्थानापन्न सभापति बने। उनकी तन्दुरुस्ती ठीक नही थी, फिर भी वह बडे जोर-शोर से लडाई मे कूद पड़े। उन शुरू के महीनो मे उनके जबरदस्त सचालन और अनुशासन से आन्दोलन को बहुत लाभ हुआ। आन्दोलन को तो बहुत लाभ हुआ, मगर इससे उनकी रही-सही तन्दुरुस्ती और शक्ति बिलकुल चली गई।

उन दिनो बडी सनसनी पैदा करनेवाले समाचार आया करते थे—जुलूसो का निकलना, लाठी-प्रहारो का होना और गोलियाँ चलना, नामी-नामी आदमियो की गिरफ्तारियो पर अक्सर हडताले होना, पेशावर-दिवस, गढवाली-दिवस आदि का खास तौर पर मनाया जाना वगैरा। उस वक्त तो विदेशी कपडे और तमाम अंग्रेजी माल का बहिष्कार पूरा-पूरा हो गया था। जब मैंने सुना कि मेरी बूढी माताजी और बहने भी गरमी की तेज धूप मे विदेशी कपड़े की दूकानो के सामने धरना देने के लिए खडी रहती हैं, तो इसका मेरे दिल पर बडा गहरा असर हुआ। कमला ने भी यह काम किया। मगर उसने कुछ और ज्यादा भी किया। मेरा खयाल था कि कितने बरसो से मै उसे बहुत अच्छी तरह जानता हूँ, मगर उसने इस आन्दोलन के लिए इलाहाबाद शहर और जिले मे इतनी शक्ति और निश्चय से काम किया कि मै भी

दग रह गया । उसने अपने गिरते हुए स्वास्थ्य की बिलकुल परवा नही की । वह सारे दिन धूप मे घूमा करती थी और उसने सगठन की वडी योग्यता का परिचय दिया। मैंने इसका कुछ-कुछ हाल जेल में सुना था । वाद मे जव पिताजी भी वहाँ मेरे पास आ गये तव उन्होने मुझे बताया कि वह कमला के काम की, खासकर उसकी सगठन-शक्ति की, कितनी ज्यादा कदर करते थे । पिताजी मेरी माताजी का या लडकियो का तेज धूप में इधर-उधर जाना पसन्द नही करते थे, मगर सिवा सिर्फ कभी-कभी जबानी मना करने के उन्होने उन्हे रोका नही ।

उन शुरू के दिनो मे जो खवरे हमारे पास आया करती थी, उनमें से सबसे वड़ी खवर २३ अप्रैल की पेशावर की घटना और वाद मे सारे सीमा-प्रान्त मे होनेवाली घटनाये थी । हिन्दुस्तान मे कही भी मशीन-गनो की गोलियो के सामने इस प्रकार अनुशासन-पूर्ण और शान्तिपूर्ण हिम्मत बताई जाती, तो उससे सारा देश थर्रा उठता। मगर सीमा-प्रान्त के लिए तो यह घटना और भी ज्यादा महत्व रखती थी, क्योकि पठान लोग हिम्मत के लिए तो मशहूर थे मगर शान्तिपूर्ण स्वभाव के लिए मशहूर नही थे । इन्ही पठानो ने वह मिसाल कायम कर दी जो हिन्दुस्तान मे अद्वितीय थी । सीमा-प्रान्त मे ही वह मशहूर घटना हुई जिसमे गढवाली सिपाहियो ने नि शस्त्र जनता पर गोली चलाने से इन्कार कर दिया । उन्होने इसलिए इन्कार कर दिया कि सिपाहियो को निहत्थी भीड़ पर गोली चलाना नापसन्द होता है, और इसलिए भी कि लोगो से उन्हे हमदर्दी थी । मगर सिर्फ हमदर्दी ही आम तौर पर सिपाही को अपने अफसर की हुकुम-उदूली जैसी खतरनाक कार्रवाई के लिए प्रेरित नही कर सकती । क्योकि इसका वुरा नतीजा उसे मालूम रहता है । गढवालियो ने यह वात शायद इसलिए की कि उन्हें (और दूसरी भी कुछ रेजीमेण्टो को, जिनकी हुकुम-उदूली की खवर फैल नही पाई) यह गलत खयाल हो गया था कि अग्रेजो की हुकूमत तो अव जाने ही वाली है । जव सिपाहियो में ऐसा खयाल पैदा हो जाता है तभी वे अपनी सहानुभूति और इच्छा के अनुसार काम करने की हिम्मत दिखाते है । शायद कुछ दिनो या हफ्तो तक आम हलचल और सविनय-भग से लोगो मे यह खयाल पैदा हो गया था कि अग्रेजी हुकूमत के आखिरी दिन आ गये है, और इसका असर कुछ फौज पर भी पडा, मगर जल्दी ही यह भी जाहिर हो गया कि निकट-भविष्य मे ऐसा होने की सूरत नहीं है, और फिर फौज मे हुकुम-उदूली नही हुई । फिर तो इस वात का भी खयाल रक्खा गया कि सिपाहियो को ऐसी दुविधा मे डाला ही न जाय ।

उन दिनो वड़ी-वडी आश्चर्यजनक वातें हुई, मगर सवसे ज्यादा ताज्जुव की वात थी स्त्रियो का राष्ट्रीय सग्राम में हिस्सा लेना । स्त्रियाँ वडी तादाद में अपने घर के

घेरो से बाहर निकल आई, और हालांकि उन्हे सार्वजनिक कार्यों का अभ्यास न था फिर भी वे लडाई मे पूरी तरह कूद पडी। विदेशी कपडे और शराब की दुकानो पर धरना देने का काम तो उन्होने बिलकुल अपना ही कर लिया। सभी शहरो में सिर्फ स्त्रियो के ही भारी-भारी जुलूस निकाले गये, और आम तौर पर स्त्रियाँ पुरुषो की बनिस्बत ज्यादा मजबूत साबित हुई। अक्सर प्रान्तो मे या स्थानीय क्षेत्रो मे वे कांग्रेस-'डिक्टेटर' भी बनती थी।

अकेला नमक-कानून ही नही तोडा गया बल्कि दूसरी दिशाओ मे भी सविनय-भग होने लगा। वाइसराय-द्वारा कई आर्डिनेन्सो के, जिनमे कई कामो की मुमानियत की गई थी, निकाले जाने से भी इस काम में मदद मिली। जैसे-जैसे ये आर्डिनेन्स और मुमानियते बढती गई, वैसे-वैसे उन्हे तोडने के मौके भी बढते गये। और सविनय भग की यह शक्ल हो गई कि आर्डिनेन्स मे जिस काम की मुमानियत की जाती थी वही काम किया जाता था। प्रारम्भिक सूत्रपात करना निश्चित रूप से कांग्रेस ओर लोगो के हाथ मे रहा था, और जब एक आर्डिनेन्स मे गवर्नमेण्ट की निगाह मे परिस्थिति न सम्हली तब वाइसराय ने और नये-नये आर्डिनेन्स निकाले। कांग्रेस-कार्य-समिति के कई मेम्बर गिरफ्तार कर लिये गये थे, मगर उनकी जगह नये मेम्बर नियुक्त कर लिये गये, और इस तरह वह काम करती ही रही। हर सरकारी आर्डिनेन्स के मुकाबिले मे कार्य-समिति अपना प्रस्ताव पास करती थी, और उस आर्डिनेन्स के लिए क्या करना चाहिए, ऐसी हिदायते जारी करती थी। इन हिदायतो पर देश मे आश्चर्यजनक समानता से अमल होता था। हाँ, अलबत्ता, अखबारो के प्रकाशन-सम्बन्धी हिदायत पर पूरा अमल नही हुआ।

जब प्रेस को ज्यादा नियन्त्रित करने और अखबारो से जमानत माँगने के बारे मे आर्डिनेन्स निकला, तब कार्य-समिति ने राष्ट्रीय अखबारो से यह कहा कि वे जमानत देने से इनकार कर दे और यदि आवश्यक हो तो प्रकाशन ही बन्द कर दे। अखबारवालो के लिए तो यह एक कडवी घूँट थी, क्योकि उसी समय तो लोगो मे खबरो की बहुत ज्यादा माँग थी। फिर भी कुछ नरम-दल के अखबारो को छोडकर ज्यादातर अखबारो ने अपना प्रकाशन बन्द कर दिया, और नतीजा यह हुआ कि तरह-तरह की अफवाहे फैलने लगी। मगर वे ज्यादा वक्त तक न टिक सके, प्रलोभन बहुत भारी था, और अपना धन्धा नरम-दल के अखबार छीने लिये जा रहे है यह देखकर उन्हे बुरा भी मालूम हुआ। इसलिए उनमे से ज्यादातर फिर अपना प्रकाशन करने लगे।

गाधीजी ५ मई को गिरफ्तार कर लिये गये थे। उनकी गिरफ्तारी के बाद

३०

नैनी-जेल में

मैं करीब सात साल के बाद फिर जेल गया था, और जेल-जीवन की स्मृतियाँ कुछ-कुछ धुधली हो गई थी। मै नैनी सेण्ट्रल जेल मे रक्खा गया था, जोकि प्रान्त का एक बडा जेलखाना है। वहाँ मुझे अकेले रहने का नया अनुभव मिला। मेरा अहाता बडे अहाते से, जिसमें कि २२०० या २३०० कैदी थे, अलग था। वह एक छोटा-सा गोल घेरा था, जिसका व्यास लगभग एकसौ फीट था और जिसके चारो तरफ करीब पद्रह फीट ऊँची गोल दीवार थी। उसके बीचोबीच एक मटमैली और भद्दी-सी इमारत थी, जिसमे चार कोठरिया थी। मुझे इनमे से दो कोठरिया, जो एक-दूसरे से मिली हुई थी, दी गई। एक मे नहाने-धोने वगैरा की जगह थी। दूसरी कोठरियाँ कुछ वक्त तक खाली रही।

मेरे बाहर के विक्षोभ और सक्रिय जीवन के बाद, यहाँ मुझे कुछ अकेलापन और उदासी मालूम हुई। मै इतना थक गया था कि दो-तीन दिन तक तो मै बहुत सोता रहा। गरमी का मौसम शुरू हो गया था, और मुझे रात को अपनी कोठरी के बाहर, अन्दर की इमारत और अहाते की दीवार के बीच की तग जगह मे, खुले मे सोने की इजाजत मिल गई थी। मेरा पलग भारी-भारी जजीरो से कस दिया गया था, ताकि मै कही उसे लेकर भाग न जाऊँ, या शायद इसलिए कि पलग कही अहाते की दीवार पर चढने की सीढी न बना लिया जाय। रातभर अजीब तरह की आवाजे आया करती थी। खास दीवार की निगरानी रखनेवाले कनविक्ट ओवरसियर अक्सर एक-दूसरे को तरह-तरह की आवाजे लगाया करते थे। कभी-कभी वे ऐसी लबी आवाजे लगाते थे जो अन्त में दूर पर चलती हुई तेज़ हवा के कहराने की-सी आवाज मालूम होती थी। बैरको के अन्दर से चौकीदार बराबर ज़ोर-ज़ोर से अपने कैदियो को गिनते थे और कहते थे कि सब ठीक है। रात मे कई बार कोई-न-कोई जेल-अफसर अपना राउण्ड लगाता हुआ हमारे अहाते मे भी आ जाता था, और जो वार्डर ड्यूटी पर होता था उससे यहाँ का हाल पूछता था। चूँकि मेरा अहाता दूसरे अहातो से कुछ दूर था, ये आवाजे ज्यादातर साफ सुनाई न देती थी, और पहले-पहल मै समझ न सका कि ये क्या है। पहले-पहल तो मुझे ऐसा लगा कि मै किसी जगल के पास हूँ और किसान लोग अपने खेतो से जगली जानवरो को भगाने के लिए चिल्ला रहे है, और कभी-कभी ऐसा मालूम होता था कि मानो रात को जगल और रात के जानवर सब एक-साथ गला फाड-फाडकर अलाप रहे है।

मैं सोचता हूँ कि आया यह मेरा महज खयाल ही है, या यह सचाई है, कि चौकोनी दीवार की बनिस्बत गोलाईदार दीवार में आदमी को अपने कैद होने का ज्यादा भान होता है ? कोनो और मोडो के न होने से यह भाव हमारे मन मे और भी बढ जाता है, कि हम यहाँ दबाये जा रहे हैं। दिन के वक्त वह दीवार आस्मान को भी ढक लेती थी और उसके एक छोटे हिस्से को ही देखने देती थी। मैं—

उस नन्हे नीले वितान पर
जिसे कहे बदी आकाश—
उडते हुए मेघ-खडो पर
जिनमे रजत-ऊर्मि-आभास; [१]

अपनी उदास और चिन्तित निगाह डाला करता था। रात को वह दीवार मुझे और भी ज्यादा घेर लेती थी, और मुझे ऐसा लगता था कि मैं किसी कुएँ के तले मे हूँ। कभी-कभी तारो से भरा हुआ आस्मान का जितना हिस्सा मुझे दिखाई देता था वह मुझे असली नही मालूम होता था। वह नमूने के, बनावटी, तारामण्डल का एक हिस्सा लगता था।

मेरी बैरक और अहाता, आम तौर पर, सारे जेल मे कुत्ताघर कहलाता था। यह एक पुराना नाम था और इसका मुझसे कोई ताल्लुक नही था। यह छोटी बैरक, सबसे अलग, इसलिए बनाई गई थी कि इसमे खास तौर पर खतरनाक अपराधी, जिन्हे अलग रखने की जरूरत हो, रक्खे जायँ। बाद मे वह राजनैतिक कैदियो, नजर-बन्दो वगैरा को रखने के काम मे लिया जाने लगा, जोकि यहाँ सारे जेल से अलग रक्खे जा सकते थे। अहाते के सामने कुछ दूरी पर एक ऐसी चीज थी जिसे पहले-पहल अपनी बैरक से देखकर मुझे बडा धक्का-सा लगा। वह एक बडा भारी पिंजरा-सा था, जिसके अन्दर आदमी गोल-गोल चक्कर काट रहे थे। बाद मे मुझे पता लगा कि यह पानी खीचने का पम्प था, जिसे आदमी चलाते थे और जिसमे एकसाथ सोलह आदमी लगते थे। देखते-देखते आदमी के लिए हर चीज मामूली हो जाती है। इसीलिए मैं भी उसके देखने का आदी हो गया। मगर हमेशा वह मुझे मनुष्य-शक्ति के उपयोग का बिलकुल मूर्खता-पूर्ण और जगली तरीका मालूम हुआ है, और जब कभी मैं उसके पास से गुजरता तो मुझे किसी पशु-प्रदर्शिनी की याद आ जाती।

१. मूल अंग्रेज़ी पद्य इस प्रकार है :—

"Upon that little tent of blue
Which prisoners call the sky,
And at every drifting cloud that went
With sails of silver by."

कुछ दिनो तक तो मुझे कसरत या दूसरे किसी मतलब से अपने अहाते के बाहर जाने की इजाजत न मिली। बाद मे मुझे बडे सवेरे, जबकि प्राय अँधेरा ही रहता था, आधा घटा बाहर निकलने और मुख्य दीवार के सहारे-सहारे अन्दर घूमने या दौड लगाने की इजाजत मिल गई। यह बडी सुबह का वक्त मेरे लिए इसलिए तजवीज किया गया था कि मै दूसरे कैदियो के सम्पर्क मे न आ सकूँ, या वे मुझे देख न ले। मुझे उस समय बडी तरो-ताजगी आ जाती थी। मुझे मिले हुए इस थोडे-से वक्त से ज्यादा-से-ज्यादा खुला व्यायाम करने की गरज से मै दौड लगाया करता था। दौड के अभ्यास को मैंने धीरे-धीरे बढा लिया था, और मै रोज दो मील से ज्यादा दौड लिया करता था।

मै सवेरे बहुत जल्दी, करीब चार या साढे तीन बजे ही जबकि बिलकुल अधेरा रहता था, उठ जाया करता था। कुछ तो जल्दी सोने से भी जल्दी उठना हो जाता था, क्योकि मुझे जो रोशनी मिली थी वह ज्यादा पढने के लिए ठीक नही थी। मुझे तारो को देखते रहना अच्छा लगता था, और कुछ प्रसिद्ध तारा-गण की स्थिति देखकर मुझे समय का अन्दाज हो जाता था। जहाँ मै लेटता था वहाँ से मुझे ध्रुवतारा दीवार के ऊपर झाँकता हुआ दिखाई देता था, और उससे असाधारण शान्ति मिलती थी। उसके चारो तरफ का आस्मान गोल चक्कर काटता था, मगर वह वही कायम था। वह मुझे प्रसन्नता-पूर्ण अचलता और दृढता का प्रतीक मालूम होता था।

एक महीने तक मेरे पास कोई साथी न था, मगर फिर भी मै अकेला नही था, क्योकि मेरे अहाते मे वार्डर और कनविक्ट ओवरसियर व रसोई और सफाई करने-वाला एक कैदी था। कभी-कभी किसी काम के लिए दूसरे कैदी, ज्यादातर कनविक्ट ओवरसियर—सी० ओ०—लोग भी, जो लम्बी सजाये भुगत रहे थे, आ जाते थे। इनमें जन्म-कैदी, आजीवन सजा पाये हुए कैदी, ज्यादा थे। आम तौर पर समझा जाता था कि जन्म-कैद बीस साल या कम मे खत्म हो जाती है, मगर जेल मे ऐसे बहुत कैदी थे जिन्हे बीस साल से भी ज्यादा हो गये थे। नैनी मे मैने एक बडी अजीब मिसाल देखी। कैदियो के कन्धो पर कपडो मे लगी हुई लकडी की एक पट्टी रहती है, जिनमें उनकी सजाओ का हाल और रिहाई की तारीख लिखी रहती है। एक कैदी की पट्टी पर मैने पढा कि उसकी रिहाई १९९६ मे होगी। १९३० मे ही उसको कई साल हो चुके थे, और उस समय वह अधेड था। शायद उसे कई सजाये दी गई थी और वह सब एक के बाद एक जोड दी गई थी। शायद कुल मिलाकर उसे पचहत्तर साल की सजा थी।

बरसो बीत जाते है और कई जन्म-कैदी तो किसी बच्चे या स्त्री या जानवरो को भी नही देख पाते। उनका बाहरी दुनिया से सम्बन्ध बिलकुल टूट जाता है, और

कोई मानवी सम्पर्क नहीं रहता। वे मन-ही-मन हमेशा कुछ घुटघुटाया करते हैं, और उनका दिमाग भय, बदले और नफरत के रोषपूर्ण विचारों से भर जाता है। वे दुनिया की भलाई, दयालुता और आनन्द को भूल जाते हैं, और सिर्फ बुराई में ही जीवन बिताते हैं। फिर धीरे-धीरे उनमें से नफरत की तेजी चली जाती है, और जीवन एक जड़ यन्त्रवत् बन जाता है। अपने-आप चलनेवाले यन्त्रों की तरह वे अपने दिन गुजारते हैं, जोकि सब बिलकुल एक-से ही गुजरते हैं। उन्हें एक भय के सिवा और कोई भावना भी नहीं होती। वक्तन-फवक्तन कैदियों की तुलाई और नाप होता है। मगर मस्तिष्क और हृदय की भावना को भी, जो अत्याचार के इस भयंकर वातावरण में मुरझाकर सूख जाती है, कोई तौलता है? लोग मौत की सज़ा के खिलाफ दलीलें देते हैं और वे मुझे बहुत जँचती हैं। मगर जब मैं जेल का लम्बा यातना-पूर्ण जीवन देखता हूँ, तो सोचता हूँ कि आदमी को घुला-घुलाकर मारने के बजाय तो मौत की सजा ही अच्छी है। एक दफा एक जन्म-कैदी मेरे पास आकर मुझसे पूछने लगा—"हम जन्म-कैदियों का क्या होगा? क्या स्वराज हमें इस नरक में से निकाल देगा?"

और ये जन्म-कैदी कौन होते हैं? इनमें से बहुतेरे तो मजमूई मुकदमों में आते हैं, जिनमें कि बहुत लोगों को, कभी-कभी पचास-पचास या सौ-सौ आदमियों को, एक-साथ सजायें होती हैं। इनमें कई तो शायद कुसूरवार होते हैं, मगर ज्यादातर लोग सचमुच कुसूरवार होते हैं इसमें मुझे सन्देह है। ऐसे मुकदमों में लोगों को फँसा देना बड़ा आसान है। किसी मुखबिर की शहादत और थोड़ी शनाख्त हो जानी चाहिए, बस इतना ही जरूरी है। आजकल डकैतियाँ बढ़ रही हैं, और जेल की आबादी हर साल ज्यादा हो जाती है। जबकि लोग भूखों मर रहे हैं, तो वे क्या करें? जज और मजिस्ट्रेट लोग अपराधों की बढ़ती पर कहते नहीं थकते। मगर उनकी निगाह जाहिरा आर्थिक कारणों पर नहीं जाती।

इनके अलावा काश्तकार लोग आते हैं। किसी जमीन के टुकड़े की बाबत गाँव में झगड़ा हो जाता है, लाठियाँ चल जाती हैं, और कोई मर जाता है—नतीजा यह होता है कि जन्मभर या लंबी मियादों के लिए कई आदमी जेल भेज दिये जाते हैं। अक्सर किसी घर के सारे पुरुष कैद कर दिये जाते हैं और पीछे स्त्रियाँ रह जाती हैं, जो जैसे-तैसे करके पेट पालती हैं। इनमें एक भी व्यक्ति जरायम-पेशा नहीं होता। साधारणत. ये लोग शारीरिक और मानसिक दोनों दृष्टियों से अच्छे युवक, औसत देहाती से कहीं ऊपर उठे हुए, होते हैं। यदि इन्हें थोड़ी तालीम मिले, और दूसरी बातों और कामों की तरफ इनकी रुचि थोड़ी बदल दी जाय, तो यही लोग देश के क़ीमती बन बन सकते हैं।

बेशक हिन्दुस्तान की जेलो मे पक्के मुजरिम भी है, जिनमे सामाजिकता के भाव नही होते है और जो समाज के लिए बहुत ख़तरनाक है। मगर मुझे जेल मे ऐसे लडके और आदमी बहुत मिले है जो अच्छे नमूने के थे, और जिनपर मै बिला झिझक विश्वास कर सकता हूँ। मुझे यह नही मालूम कि असली जरायमपेशा और गैर-जरायमपेशा कैदी कितने-कितने अनुपात मे है, और शायद इस तरह विभाजन करने का खयाल तक जेल-महकमे मे किसीको नही आया होगा। न्यूयार्क के सिंगसिंग-जेल के वार्डन लीविस ई० लावेज ने इस विषय के कुछ दिलचस्प आँकडे दिये है। वह अपने जेल के कैदियो के बारे मे कहता है कि मेरी राय मे ५० फीसदी तो बिलकुल जरायम-मनोवृत्ति के नही है, २५ फीसदी परिस्थितियो और मजबूरियो के कारण अपराधी बने है, और बाकी २५ फीसदी मे से शायद आधे, यानी १२½ फीसदी, ही समाज मे न रहने लायक है। यह तो सभी जानते है कि असली अपराधी-वृत्ति बडे शहरो और आधुनिक सभ्यता के केन्द्रो मे ज्यादा होती है, और पिछडे हुए इलाको मे कम होती है। अमेरिका की जरायमपेशा टोलियाँ तो मशहूर है, और सिंगसिंग-जेल भी ख़ास तौर पर मशहूर है, जहाँ कुछ भयकर-से-भयकर मुजरिम भेजे जाते है। मगर, उसके वार्डन की राय के मुताबिक, उसके सिर्फ १२½ फीसदी कैदी ही सचमुच बुरे है। मेरे खयाल से यह बडी अच्छी तरह कहा जा सकता है कि हिन्दुस्तान की जेलो मे तो यह अनुपात इससे भी बहुत कम होगा। आर्थिक नीति थोडी और अच्छी हो जाय, लोगो को रोजगार कुछ ज्यादा मिलने लगे, और शिक्षा कुछ बढ जाय, तो हमारी जेले ख़ाली की जा सकती है। मगर इसको कामयाब बनाने के लिए एक बिलकुल मौलिक योजना की, जिससे हमारी सारी सामाजिक रचना बदल जाय, जरूरत है। इसके सिवा दूसरा असली उपाय वही है जो ब्रिटिश-सरकार कर रही है— हिन्दुस्तान मे पुलिस की तादाद और जेलो का बढाना। हिन्दुस्तान मे कितनी तादाद मे लोग जेल भेजे जाते है, यह देखकर सिर ठनकने लगता है। अखिल-भारतीय कैदी-सहायक समिति के मन्त्री की एक हाल की रिपोर्ट मे कहा गया है कि १९३३ मे सिर्फ बम्बई प्रान्त मे ही १,२८,००० लोग जेल भेजे गये, और उसी साल बगाल की सख्या १,२४,००० थी।[१] मुझे सब प्रान्तो के आँकडे तो मालूम नही, किन्तु यदि दो प्रान्तो का जोड ढाई लाख है, तो बहुत सम्भव है कि सारे हिन्दुस्तान का जोड़ करीब दस लाख तो होगा। मगर इसे वास्तव मे जेल मे हमेशा रहनेवालो की तादाद नही कह सकते, क्योकि बहुत लोगो को तो थोडी-थोडी सजाये मिलती है। स्थायी रहनेवालो की तादाद इससे बहुत कम होगी, मगर फिर भी वह एक बड़ी

१. 'स्टेट्समैन', ११ दिसम्बर, सन् १९३४।

भारी सख्या होगी । हिन्दुस्तान के कुछ वडे प्रान्तो की जेल-व्यवस्था संसार की सबसे वडी जेल-व्यवस्था समझी जाती है । युक्तप्रान्त भी ऐसे प्रान्तों में माना जाता है, जिसे यह गौरव—यदि इसे गौरव कहा जाय—प्राप्त है । और, बहुत सभवत', यहाँ ससार का सबसे पिछडा हुआ और प्रतिगामी प्रवन्ध है या था । क़ैदी को एक व्यक्ति, एक मानव-प्राणी, समझने और उसके मस्तिष्क को सुधारने या उसकी चिन्ता रखने की कुछ भी कोशिश नही की जाती है । युक्तप्रान्त का जेल-प्रवन्ध जिस बात मे सबसे वढ़ा-चढा है वह है, अपने कैदियो को सुरक्षित रखना । वहाँ भागने की कोशिश बहुत ही कम होती है और दस हजार मे से शायद ही एकाध कोई भागने मे सफल होता होगा ।

जेलखानो की एक निहायत दु ख-जनक बात है, वहाँ १५ साल या इससे ज्यादा उम्र के लडको का वडी तादाद मे होना । इनमे से ज्यादातर तो तेज और होशियार दिखनेवाले लड़के होते है, कि जो अगर मौका मिले तो वडी आसानी से अच्छे बन सकते है । कुछ अर्से से इन्हे मामूली पढना-लिखना सिखाने की कुछ शुरुआत की गई है, मगर, जैसा कि हमेशा होता है, वह विलकुल ही नाकाफ़ी और बेकार है । खेल-कूद या दिल-बहलाव का वहुत-कम मौका आता होगा, किसी किस्म के भी अखबार की इजाजत नही है, और न किताबे पढने का प्रोत्साहन दिया जाता है । वारह घण्टे या इससे भी ज्यादा देर तक सब कैदियो को उनकी बैरको या कोठरियो मे ताले मे बन्द रक्खा जाता है, और लम्बी-लम्बी शाम का वक़्त काटने के लिए उनके पास कोई काम नही रहता ।

मुलाकातें तीन महीने मे एक दफा हो सकती है, और यही खतो का भी हाल है । यह मियाद अमानुषिक रूप से लम्बी है । इसपर भी, कई कैदी तो इससे भी लाभ नही उठा सकते । अगर वे बे-पढे होते है, जैसाकि ज्यादातर होते ही है, तो वे किसी जेल-अफसर से ही चिट्ठी लिखवाते है, और ये लोग चूँकि अपना काम और बढाना नही चाहते इसलिए चिट्ठी लिखना अक्सर टालते रहते है, अगर चिट्ठी लिखी भी गई तो पता ठीक-ठीक नही दिया जाता, और वह ठिकाने पर नही पहुँचती । मुलाकात करना तो और भी मुश्किल है । करीब-करीब, अनिवार्य रूप से, किसी-न-किसी-जेल कर्मचारी को कुछ नजराना-शुक्रियाना देने से ही मुलाकात हो सकती है । अक्सर कैदी दूसरे-दूसरे जेलो मे बदल दिये जाते है, और उनके घर के लोगो को उनका पता नही लगता । मुझे कई ऐसे कैदी मिले है, जिनका ताल्लुक अपने परिवार से बरसो से छूट चुका था, और उन्हे मालूम नही था कि उनका क्या हुआ । तीन या अधिक महीनो के बाद जब मुलाकात होती भी है तो वे अजीब तरह से होती है । जगले के

दोनो तरफ आमने-सामने वहुत-से कैदी और उनके मुलाकाती खडे कर दिये जाते है, और वे सब एक-साथ वात-चीत करने की कोशिश करते है। एक-दूसरे से वहुत जोर से चिल्ला-चिल्लाकर बोलना पडता है, और मुलाकात मे जो थोडा-वहुत मानवी-सम्पर्क हो सकता है वह भी नही रहता।

हजार मे से किसी एकाध कैदी को (यूरोपियनो को छोडकर) अच्छा खाना मिलने या जल्दी-जल्दी मुलाकात करने या खत लिखने की खास सुविधा भी मिल जाती है। राजनैतिक आन्दोलनो मे, जवकि लाखो राजनैतिक कैदी जेल जाते है, इन विशेष दर्जे के कैदियो की तादाद कुछ थोडी-सी बढ जाती है, मगर फिर भी वह वहुत थोडी ही रहती है। इन राजनैतिक स्त्री और पुरुष कैदियो मे से ९५ फीसदी कैदियो के साथ मामूली ढग का ही वर्ताव किया जाता है और उन्हे ऐसी सुविधाये भी नही मिलती।

कई व्यक्ति, जिन्हे क्रान्तिकारी हलचलो के कारण आजन्म या लम्वी सजाये दी जाती है, लम्बे अर्से तक तनहाई कोठरियो मे रक्खे जाते है। मेरा खयाल है कि यू० पी० मे तो ऐसे सब व्यक्ति आम तौर पर सीधे तनहाई कोठरियो मे वन्द रक्खे जाते है। यो तो तनहाई जेल के किसी कुसूर के लिए सजा के तौर पर ही दी जाती है, मगर इन लोगो को तो, जो आम तौर पर नवयुवक होते है, शुरू से तनहाई मे ही रक्खा जाता है, चाहे उनका वर्ताव जेल मे वहुत अच्छा ही क्यो न हो। इस तरह अदालत की सजा के अलावा, जेल महकमा उसमे वगैर किसी सबव के एक और भयकर सजा बढा देता है। यह वडी असाधारण वात है, और कानून की किसी दफा के अनुसार नही है। थोडे वक्त के लिए भी तनहाई मे बन्द रक्खा जाना एक वडी दर्दनाक वात है, फिर जब यह बरसो तक रहे तब तो कितनी खतरनाक हो जाती है! इससे मस्तिष्क की शक्ति धीरे-धीरे लगातार घटती जाती है, जो अन्त मे पागलपन की हद तक पहुँच जाती है, और कैदी का चेहरा विचार-शून्य या भयभीत पशु जैसा दिखने लगता है। यह मनुष्य की स्पिरिट को धीमे-धीमे खत्म करना या उसकी आत्मा को धीरे-धीरे हलाल करना है। अगर आदमी जिन्दा वचता भी है तो वह एक विलक्षण जीव और दुनिया के लिए बे-मौजू बन जाता है। और यह सवाल तो हमेशा उठता ही रहता है कि क्या वह व्यक्ति वास्तव मे किसी कार्य या अपराध का गुनहगार भी था? हिन्दुस्तान मे पुलिस के तरीके अर्से से सन्देह की दृष्टि से देखे जाते है, और राज-नैतिक मामलो मे तो वे वहुत ही ज्यादा सन्देहास्पद है।

यूरोपियन या यूरेशियन कैदियो को, चाहे उन्होने कोई भी अपराध किया हो या उनकी कैसी भी हैसियत हो, अपने-आप ऊँचे दर्जे मे रख दिया जाता है, और उन्हे

ज्यादा अच्छा भोजन, हलका काम और जल्दी-जल्दी खत और मुलाकात की सुविधाये दी जाती है। हर हफ्ते पादरी के आने से वे बाहर की बातो के सम्पर्क मे बने रहते है। पादरी उनके लिए सचित्र और हँसी-मजाक के विदेशी अखबार ले आता है, और जब जरूरत होती है तब उनके घरवालो से खतो-कितावत करता रहता है।

यूरोपियन कैदियो को ये सुविधाये क्यो मिली है इसकी किसीको शिकायत नही है, क्योकि उनकी तादाद थोडी ही है, मगर दूसरे—स्त्री और पुरुष—कैदियो के प्रति व्यवहार मे मनुष्यता का बिलकुल अभाव देखकर जरूर रज होता है। कैदी को एक व्यक्ति, एक मानव प्राणी, नही समझा जाता, और इसलिए उसके साथ वैसा वर्ताव भी नही किया जाता। जेल को तो सरकारी तन्त्र द्वारा बुरे-से-बुरे दमन का अमानुषिक पहलू समझना चाहिए। यह एक ऐसा यन्त्र है जो बेरहमी से, बिना सोचे, काम करता रहता है, और उसकी पकड मे जो कोई आ जाता है उसे कुचल डालता है। जेल के कायदे इसी यन्त्र को दिखाने के लिए खास तौर पर बनाये गये है। जब भावना-शील स्त्री या पुरुष यहाँ आते है, तो यह हृदय-हीन शासन उनके मन को एक यातना और पीडा प्रतीत होता है। मैने देखा है कि कभी-कभी लम्बी मियाद के कैदी जेल की उदासी से ऊबकर फूट-फूटकर बच्चे की तरह रोने लगते है, और सहानुभूति और प्रोत्साहन के थोडे-से शब्दो से, जोकि इस वातावरण मे बहुत दुर्लभ होते है, उनके चेहरे खुशी और अहसानमन्दी से चमक उठते है।

इतना होने पर भी, कैदियो मे एक-दूसरे के प्रति उदारता और अच्छी मित्रता के कई हृदय-स्पर्शी उदाहरण भी दिखाई देते थे। एक बार एक अन्धा दुबारा कैदी तेरह साल के बाद रिहा हुआ। इस लम्बे अर्से के बाद वह बाहर जा रहा था, जहाँ न उसके पास कोई साधन थे, न दोस्त। उसके साथी कैदी उसकी इमदाद करना चाहते थे, लेकिन वे ज्यादा नही कर सकते थे। एक ने जेल-दफ्तर मे जमा की हुई अपनी कमीज दी, दूसरे ने कोई और कपडा दिया। एक तीसरे को उसी दिन सवेरे चप्पल की जोड़ी मिली थी, जिसे उसने कुछ अभिमान से मुझे दिखाया था। जेल मे यह चीज मिलना बडी भारी बात है। मगर जब उसने देखा कि उसका कई साल का साथी यह अन्धा नगे-पैर बाहर जा रहा है तो उसने खुशी से उसे अपने नये चप्पल दे दिये। उस समय मैने सोचा कि शायद जेल के अन्दर बाहर से ज्यादा दानशीलता है।

१९३० का वह साल आश्चर्यजनक परिस्थितियो और स्फूर्तिदायक घटनाओ से भरा हुआ था। गाधीजी की सारे राष्ट्र मे स्फूर्ति और उत्साह भर देने की अद्भुत शक्ति से मुझे सबसे ज्यादा आश्चर्य हुआ। उनकी शक्ति मे एक मोहनी-सी मालूम होती थी, और उनके बारे मे जो बात गोखले ने कही थी वह हमे याद आई—उनमे मिट्टी से

सूरमा बना लेने की ताकत है। शान्ति-पूर्ण सविनय भग महान् राष्ट्रीय उद्देशो को पूर्ण करने के लिए, लडाई के शस्त्र और शास्त्र दोनो तरह से, काम मे आ सकता है, यह बात सच मालूम हुई। और देश मे, मित्रो और विरोधियो दोनो को, बिलकुल भरोसा-सा होने लगा कि हम कामयाबी की तरफ जा रहे है। आन्दोलन मे क्रियात्मक रूप से काम करनेवालो मे एक अजीब उत्साह भर गया, और थोडा-थोडा जेल के भीतर भी आ पहुँचा। मामूली कैदी भी कहते थे कि "स्वराज आ रहा है।" और इस उम्मीद से कि उससे उन्हे भी कुछ फायदा हो जायगा, वे आतुरता से उसका इन्तजार करते थे। बाजार की बात-चीत सुन-सुनकर वार्डर लोग भी उम्मीद करते थे कि स्वराज नजदीक ही है। इससे जेल के छोटे-छोटे अफसर कुछ और घबराहट मे पड गये।

जेल मे हमें दैनिक अखबार नही मिलता था, मगर एक हिन्दी साप्ताहिक अखबार से हमे कुछ खबरे मिल जाया करती थी, और ये खबरे ही अक्सर हमारी कल्पनाओ को तेज कर दिया करती थी। रोजाना लाठी-प्रहार होना, किसी-किसी दिन गोली चलना, शोलापुर मे फौजी कानून जारी होना, जिसमें राष्ट्रीय झण्डा ले जाने के लिए ही दस साल की सजा दी गई थी, ऐसी खबरे आती थी। सारे देश मे हमे अपने लोगो, खासकर स्त्रियो, पर बडा अभिमान होने लगा। मुझे तो मेरी माताजी, पत्नी और बहनो तथा दूसरी चचेरी बहनो और महिला-मित्रो के कार्यो के कारण विशेष सन्तोष हुआ। और हालाँकि मै उनसे दूर था, और जेल मे था, फिर भी मुझे ऐसा लगा कि हम सब एक ही महान् कार्य मे साथ-साथ कार्य करने के नये नाते से एक-दूसरे के बहुत नजदीक आ गये है। परिवार तो उससे भी बडे समुदाय मे ऐसा मालूम होने लगा मानो लुप्त हो गया है। मगर फिर भी उसमे पुरानी मधुरता और निकटता बनी रही। कमला ने तो मुझे आश्चर्य मे ही डाल दिया, क्योकि उसकी क्रिया-शीलता और उत्साह ने उसकी बीमारी को दबा दिया, और कम-से-कम कुछ समय के लिए तो वह बहुत ज्यादा काम-काज करते रहने पर भी चगी बनी रही।

जिस वक्त बाहर दूसरे लोग खतरे का मुकाबिला कर रहे है, और कष्ट उठा रहे है, उस वक्त मै जेल मे आराम से समय बिता रहा हूँ, यह खयाल मुझे दिक करने लगा। मै बाहर जाने की इच्छा करता था, किन्तु नही जा सकता था। इसलिए मैने अपना जेल-जीवन बडा सख्त, कार्यमय, बना लिया। मै अपने चर्खे पर रोजाना करीब तीन घटे सूत कातता था। इसके अलावा दो या तीन घटे मै निवाड बुनता, जो मैने जेल-अधिकारियो से खास तौर पर माँग ली थी। मै इन कामो को पसन्द करता था। इनमे न ज्यादा जोर पडता था न थकावट होती थी, और मेरा समय काम मे लग जाता था। इससे मेरे दिमाग का बुखार भी शान्त हो जाता था। मै बहुत पढता रहता

था, या सफाई करने या कपड़े धोने वगैरा मे लगा रहता था । मैं मशक़्क़त अपनी खुशी से ही करता था, क्योकि मुझे 'सादी' सजा मिली थी ।

इस तरह, वाहर की घटनाओ और अपने जेल-कार्यक्रम का विचार करते-करते, मैं नैनी-जेल मे अपने दिन गुजारने लगा । हिन्दुस्तान के इस जेल की कार्य-प्रणाली देखकर मुझे यह प्रतीत हुआ कि वह हिन्दुस्तान मे अग्रेजी सरकार की प्रणाली से भिन्न नही है । सरकार का शासन-तन्त्र वहुत सुव्यवस्थित है, जिसके फलस्वरूप देश पर सरकार का कब्ज़ा मज़बूत होता है मगर जिसमे देश की मानव-सामग्री की चिन्ता वहुत थोडी, या विलकुल नही, की जाती है । ऊपर से तो यही दिखना चाहिए कि जेल का प्रवन्ध सुचारु रूप से हो रहा है और यह किसी हद तक ठीक भी है । मगर शायद कोई भी यह खयाल नही करता कि जेल का खास लक्ष्य होना चाहिए, उसमे आनेवाले अभागे लोगो को सुधारना और उनकी सहायता करना । यहाँ तो वस यह खयाल है कि उनको कुचल डालो, ताकि जवतक वे वाहर निकले तवतक उनमे ज़रा-सी भी हिम्मत वाकी न रहे । और जेल का प्रवन्ध-सञ्चालन किस तरह होता है, कैदियो को कैसे कावू मे रक्खा जाता है, और कैसे दण्ड दिया जाता है ? यह सव ज्यादातर कैदियो की सहायता से ही होता है । कैदियो मे से ही कुछ लोग कनविक्ट-वार्डर (सी० डवल्यू०) या कनविक्ट-ओवरसियर (सी० ओ०) वना दिये जाते है, और वे खौफ से या इनामो या छूट के प्रलोभन से अधिकारियो के साथ सहयोग करने लगते है । तनख़्वाहदार गैर-कनविक्ट-वार्डर वैसे थोडे ही होते है । जेल के अन्दर की ज्यादातर हिफ़ाज़त और चौकीदारी कनविक्ट-वार्डर और सी० ओ० ही करते है । जेल में मुखविरी का भी खूव ज़ोर रहता है । कैदियो को एक-दूसरे की चुगली और मुखविरी करने को उत्साहित किया जाता है, और कैदियो को एका करने या कोई भी संयुक्त कार्य करने की तो इजाज़त ही नही रहती है । यह सव आसानी से समझ मे आ सकता है, क्योकि उनमे फूट रखने से ही वे कावू मे रक्खे जा सकते है ।

जेल से वाहर, हमारे देश के शासन में भी, यही प्रणाली एक व्यापक लेकिन कम जाहिर रूप मे दिखाई देती है । मगर यहाँ सी० डव्ल्यू० और सी० ओ० लोगो का नाम वदल गया है । उनके वडे-वडे शानदार नाम है, और उनकी वर्दियाँ ज्यादा तड़क-भडकदार है । और अपने तर्ज की पावन्दी के लिए, जेल की ही तरह, उनके पीछे हथियारवन्द सशस्त्र दल रहता है ।

आधुनिक राज्यो के लिए जेलखाना कितना जरूरी और लाजिमी है ? कम-से-कम कैदी तो यही सोचने लगता है । सरकार के प्रवन्ध आदि विपयक विविध कार्य तो जेल, पुलिस और फौज के मौलिक कार्यो के मुकाविले मे थोथे मालूम होने लगते

है। जेल मे आदमी मार्क्स के इस सिद्धान्त की कदर करने लगता है, कि राज्य तो वास्तव मे उस दल की, कि जिसके हाथ मे शासन है, इच्छा को कार्यान्वित करने का एक बल-प्रयोजक साधन है।

एक महीने तक तो मैं अपनी बैरक मे अकेला ही रहा। फिर एक साथी—नर्मदाप्रसादसिंह—आ गये, और उनके मिलने से बडी राहत मिली। इसके ढाई महीने बाद, जून १९३० की आखिरी तारीख़ को, हमारे अहाते मे असाधारण खलबली मच गई। अचानक बडे सवेरे मेरे पिताजी और डॉ० सैयदमहमूद वहाँ लाये गये। वे दोनो आनन्द-भवन मे, जबकि अपने बिस्तरो मे सोये हुए थे, गिरफ्तार किये गये थे।

३१

यरवडा में संधि-चर्चा

पिताजी की गिरफ्तारी के साथ ही, या उसके फौरन बाद ही, कार्य-समिति गैर-कानूनी करार दे दी गई। इससे एक नई स्थिति पैदा हो गई—यदि कमिटी अपनी मीटिंग करे तो सब-के सब मेम्बर एकसाथ गिरफ्तार हो सकते थे। इसलिए कार्यवाहक सभापतियो को जो अख्त्यार दे दिया गया था उसके मुताबिक स्थानापन्न मेम्बर उसमे और जोडे गये और इस सिलसिले मे कई स्त्रियाँ भी मेम्बर बनी। कमला भी उनमे थी।

पिताजी जब जेल आये तो उनकी तन्दुरुस्ती निहायत खराब थी और वह जिन हालात मे वहाँ रक्खे गये थे उनमे उन्हे बडी तकलीफ थी। सरकार ने जान-बूझकर यह स्थिति पैदा नही की थी, क्योकि वह अपनी तरफ से तो उनकी तकलीफ कम करने की भरसक कोशिश करने को तैयार थी, परन्तु नैनी-जेल मे वह अधिक कुछ नही कर सकी। मेरी बैरक की ४ छोटी-छोटी कोठरियो मे हम चार आदमियो को एक-साथ रख दिया गया। जेल के सुपरिन्टेन्डेन्ट ने सुझाया भी कि पिताजी को किसी दूसरी जगह रख दे, जहाँ उन्हें कुछ ज्यादा जगह मिल जाय, लेकिन हम लोगो ने एक-साथ रहना ही बेहतर समझा, क्योकि इससे हम कोई-न-कोई उनकी सम्हाल रख सकते थे।

बारिश शुरू ही हुई थी पर कोठरी के अन्दर की जमीन मुश्किल से सूखी रहती थी, क्योकि छतसे पानी जगह-जगह टपकता रहता था। रात के वक्त रोज यह सवाल उठता कि पिताजी का बिछौना हमारी कोठरी से सटे उस छोटे-से बरामदे मे, जो १० फीट लम्बा और ५ फीट चौडा था, कहाँ लगाया जाय, जिससे पानी से बचाव हो सके? कभी-कभी उन्हे बुखार आ जाता था। आखिर जेल-अधिकारियो ने हमारी कोठरी से लगा हुआ एक और अच्छा बडा बरामदा बनवाना तय किया। बरामदा बन तो गया और उससे ज्यादा आराम भी मिलता, मगर पिताजी को उसका कुछ फायदा न मिला, क्योकि उसके तैयार होने के बाद शीघ्र ही उन्हे रिहा कर दिया गया। तब हममे से जो लोग वहाँ पीछे रह गये थे और रहे उन्होने उससे पूरा फायदा उठाया।

जुलाई के अखीर-अखीर मे यह चर्चा बहुत सुनाई दी कि सर तेजबहादुर सप्रू और जयकर साहब इस बात की कोशिश कर रहे है कि कॉंग्रेस और सरकार के दर्म्यान

सुलह हो जाय। हमने यह ख़बर एक दैनिक अखबार मे पढी जो पिताजी को खास तौर पर बतौर रिआयत के दिया जाता था। उसमे हमने वह सारी खतो-किताबत पढी जो वाइसराय लार्ड अर्विन और सर सप्रू तथा जयकर साहब के बीच हुई थी। और बाद मे हमे यह भी मालूम हुआ कि हमारे ये 'शान्तिदूत' गाधीजी से भी मिले थे। हमारी समझ मे यह नही आता था कि आखिर इनको सुलह की इतनी क्यो पडी है, या ये इससे क्या नतीजा निकालना चाहते है ? बाद को हमे उनसे मालूम हुआ कि उन्हे इस बात का उत्साह मिला है पिताजी के एक छोटे-से बयान से, जो उन्होने बम्बई मे अपनी गिरफ्तारी से कुछ पहले दिया था। वक्तव्य का खर्रा मि० स्लोकॉम्ब का (लन्दन के 'डेली हेरल्ड' के सवाददाता, जो उन दिनो हिन्दुस्तान मे थे) बनाया हुआ था, जो पिताजी से बातचीत करके तैयार किया गया था और जिसे उन्होने पसन्द भी कर लिया था। इस वक्तव्य [1] मे यह बताया गया था कि अगर सरकार कुछ शर्ते मान ले तो सम्भव है कि कॉंग्रेस सत्याग्रह को वापस ले ले।

यह एक गोल-मोल और कच्ची बात थी और उसमे भी यह साफ कह दिया गया था कि उन अस्पष्ट शर्तो पर भी तबतक विचार नही किया जा सकेगा, जबतक पिताजी गाधीजी और मुझसे मशवरा न करले। मुझसे जरूरत इसलिए पडती

१. यह वक्तव्य २५ जून १९३० को दिया गया था—"यदि किन्हीं हालतों में ब्रिटिश-सरकार और भारत-सरकार, हालाँकि इसका पहले से अन्दाज नहीं किया जा सकता कि गोल-मेज़-कान्फ्रेन्स अपनी खुशी से क्या सिफ़ारिशे करेगी या ब्रिटिश पार्लमेण्ट का उन सिफ़ारिशों के बारे में क्या रुख़ रहेगा, खानगी तौर पर यह आश्वासन दें या किसी तीसरे जिम्मेदार शख्स के मार्फत यह इशारा मिले कि ऐसा आश्वासन मिल जायगा कि हम भारत के लिए पूर्ण उत्तरदायी शासन की माँग का समर्थन करेंगे, बशर्तेकि दोनों में आपसी घटा-बढ़ी से काम लिया जाय और सत्ता को हस्तान्तर करने की शर्तें वे हों जो हिन्दुस्तान की ख़ास ज़रूरतों और अवस्थाओं के लिए और ग्रेटब्रिटेन के साथ उसका पुराना सम्बन्ध होने के कारण ज़रूरी हों और जिनका निर्णय गोलमेज-कान्फ्रेन्स करे, तो पण्डित मोतीलाल नेहरू यह जिम्मेदारी अपने ऊपर ले लेते हैं कि वह खुद इस तरह का आश्वासन गाँधीजी या प० जवाहरलाल नेहरू तक ले जावेंगे। यदि ऐसा आश्वासन मिला और मंजूर कर लिया गया तो इससे सुलह का रास्ता खुल जायगा, जिसके मानी यह होंगे कि इधर सविनय-भंग-आन्दोलन बन्द किया जायगा और साथ ही उधर सरकार की मौजूदा दमन-नीति भी ख़त्म हो जायगी, राजनैतिक कैदियों की आम रिहाई होगी और इसके बाद कॉंग्रेस उन शर्तों पर, जो आपस में तय हो जायेंगी, गोलमेज-कान्फ्रेन्स में शरीक होगी।"

हर्ज ही क्या है ? हमने उन्हे यह बात पहले ही कह दी थी कि यदि हमारा जाना यरवडा हुआ तो हमारे साथी डा० सैयदमहमूद भी, जो हमारे साथ नैनी मे ही थे, बहैसियत काग्रेस-सेक्रेटरी हमारे साथ चलेगे ।

दो दिन बाद, १० अगस्त को, हम तीनो—पिताजी, महमूद और मै—एक स्पेशल ट्रेन मे नैनी से पूना भेजे गये । हमारी गाडी बडे-बडे स्टेशनो पर नही ठहरी, हम उन्हे झपाटे से पार करते हुए चले गये, कही-कही छोटे और किनारे के स्टेशनो पर ट्रेन ठहराई गई । फिर भी हमारे जाने की खबरे हमसे आगे दौड गई और लोगो की बडी भीड़ स्टेशनो पर—जहाँ हम ठहरे वहाँ भी और जहाँ नही ठहरे वहाँ भी—इकट्ठी हो गई । हम ११ की बडी रात को पूना के नजदीक खिडकी स्टेशन पर पहुँचे ।

हमने उम्मीद तो यह की थी कि हम गाँधीजी की ही बैरक मे ठहराये जायँगे, या कम-से-कम उनसे जल्दी ही मुलाकात हो जायगी । यरवडा के सुपरिंटेडेंट ने तो यही तजवीज कर रक्खी थी, लेकिन ऐन वक्त पर उन्हे अपना प्रबन्ध बदल देना पडा । जो पुलिस अफसर हमारे साथ नैनी से आया था उसके द्वारा यरवडावालो को ऐसी ही कुछ हिदायत मिली थी । सुपरिंटेडेट कर्नल मार्टिन ने तो हमे इस रहस्य का पता न दिया, परन्तु पिताजी ने कुछ ऐसे मार्मिक प्रश्न किये जिनसे यह मालूम हो गया कि हमे गाधीजी से (कम-से-कम पहली बार तो) सप्रू और जयकर साहब के रोबरू ही मिलने दिया जायगा । यह अन्देशा किया गया था कि अगर हम पहले मिल लेगे तो हमारा रुख कडा हो जायगा और हम सब और भी मजबूत हो जायेगे। लिहाजा वह सारी रात और दूसरे दिनभर तथा रातभर हम दूसरी बैरक मे रक्खे गये । इसपर पिताजी को बहुत बुरा मालूम हुआ । वहाँ लेजाकर गाँधीजी से न मिलने देना, जिनसे मिलने के लिए हम इतनी दूर नैनी से लाये गये, गोया हमे तरसाना और तडपाना था । आखिर १३ को दोपहर के पहले हमे खबर की गई कि सर सप्रू और जयकर साहब तशरीफ ले आये है और गाधीजी भी जेल के दफ्तर मे उनके साथ मौजूद है और आप सबको वही बुलाया है । पिताजी ने जाने से इन्कार कर दिया और जब जेलवालो की तरफ से बहुतेरी सफाइयाँ दी गई और माफियाँ माँगी गई और यह तय पाया कि हम पहले अकेले गाधीजी से ही मिलाये जायँगे तब वह वहाँ जाने को राजी हुए । आगे चलकर हम सबके सम्मिलित अनुरोध पर सरदार पटेल और जयरामदास दौलतराम, जो दोनों यरवडा ले आये गये थे, और सरोजिनी नायडू भी, जो हमारे सामने ही स्त्री-बैरक मे रक्खी गई थी, हमारे साथ बातचीत मे शरीक किये गये । उसी रात पिताजी, महमूद और मै तीनो गाधीजी के अहाते में ले जाये गये और यरवडा से चलने तक हम वही

रहे। वल्लभभाई और जयरामदास भी वहाँ लाये गये और वे भी वहीं रक्खे गये, जिससे हमारे आपस में सलाह-मशवरा किया जा सके।

१३,१४ और १५ अगस्त तक सप्रू और जयकर साहब से हमारा मशवरा जेल के दफ्तर में होता रहा और हमने आपस में चिट्ठी-पत्री के द्वारा अपने-अपने विचार भी प्रदर्शित कर दिये, जिनमें हमारी तरफ से वे कम-से-कम शर्तें बता दी गईं जिनके पूरा होने पर सविनय-भंग वापस लिया जा सकता था और सरकार के साथ सहयोग किया जा सकता था। बाद को ये चिट्ठियां अखबारों में भी छाप दी गईं थीं।[१]

इन बातचीतों का पिताजी के शरीर पर बुरा असर हुआ और १६ ता० को एकाएक उन्हें जोर का बुखार आ गया। इससे हमारा जाना रुक गया और हम १९ की रात को रवाना हो पाये—फिर उसी तरह स्पेशल ट्रेन से। बंबई-सरकार ने सफ़र में हर तरह से पिताजी के आराम का खयाल रक्खा और यरवडा-जेल ने भी उनके आराम का पूरा-पूरा प्रबन्ध किया गया था। जिस रात हम यरवडा पहुँचे उस दिन एक मजेदार घटना हुई, जो मुझे अबतक याद है। सुपरिंटेंडेंट कर्नल मार्टिन ने पिताजी से पूछा, कि आप किस तरह का खाना पसन्द करेंगे? पिताजी ने कहा कि मैं बहुत सादा और हलका खाना खाता हूँ, और उन्होंने सुबह की चाय से लेकर रात के खाने तक की सब जरूरी चीज़ें गिना दीं। (नैनी में रोज हम लोगों के घर से खाना आता था) पिताजी ने सरल भाव से जो-जो चीजें लिखाईं वे थीं तो सब सादी और हलकी ही, मगर उन्हें देखकर कर्नल मार्टिन दंग रह गये। बहुत मुमकिन था कि रिज और सेवॉय होटल में वे चीजें सादा और हलकी समझी जाती हों, जैसा कि खुद पिताजी भी समझते थे; लेकिन यरवडा-जेल में ये अजीब और बेतुकी दिखाई दीं। महमूद और मैं बड़ी रंगत के साथ उस समय कर्नल मार्टिन के चेहरे के उतार-चढ़ाव देखते रहे, जबकि पिताजी भोजन की उन कई तरह की और खर्चीली चीजों के नाम सुनाते जा रहे थे। क्योंकि कई दिनों से उनके यहाँ भारत का सबसे बड़ा और बहुत नामी नेता रक्खा गया था और उसकी भोजन-सामग्री थी सिर्फ बकरी का दूध, खजूर और शायद कभी-कभी नारंगियाँ। मगर जो यह नया नेता उनके सामने आया उसका ढंग कुछ और ही था।

पूना से नैनी लौटते समय भी हम बड़े-बड़े स्टेशन छलांगते गये और ऐसी-वैसी मामूली जगह गाड़ी ठहरती रही। मगर भीड़ अबकी और ज्यादा थी, प्लेटफार्म भरे हुए थे और कहीं-कहीं तो रेलवे लाइन पर भी भीड़ जम गई थी—खासकर हरदा, इटारसी और सोहागपुर में। यहाँतक कि दुर्घटनायें होते-होते बचीं।

१. जिन चिट्ठियों में ये शर्तें दी गईं थीं वे परिशिष्ट नं० २ में दी गई हैं।

पिताजी की हालत तेजी से गिरने लगी। कितने ही डाक्टर उन्हे देखने गये—खुद उनके डाक्टर भी और प्रान्तीय सरकार की तरफ से भेजे हुए डाक्टर भी। जाहिर था कि जेल उनके लिए सबसे खराब जगह थी और वहाँ किसी तरह माकूल इलाज नही हो सकता था। मगर फिर भी जब किसी मित्र ने अखबार मे लिखा कि बीमारी के सबब से उन्हे रिहा कर देना चाहिए, तो पिताजी बहुत बिगडे और उन्होने कहा कि लोग समझेगे कि मेरी तरफ से यह इशारा कराया गया है। यहाँतक कि उन्होने लार्ड अर्विन को तार दिया कि मैं खास मेहरबानी कराके नही छूटना चाहता। लेकिन उनकी हालत दिन-ब-दिन खराब ही होती गई। वजन तेजी से गिरता जा रहा था, और उनका शरीर एक छाया या ढाचा मात्र रह गया था। आखिर ८ सितम्बर को, ठीक १० सप्ताह बाद, वह रिहा कर दिये गये।

उनके चले जाने से हमारी बैरक से मानो जीवन और आनन्द चला गया। जब वह हमारे पास थे तो उनके लिए न जाने क्या-क्या करना पडता था, उनके आराम के लिए छोटी-छोटी बातो का भी ध्यान रखना पडता था। और हम सब—महमूद, नर्मदाप्रसाद और मैं—बडी खुशी-खुशी उनकी सेवा मे दिन बिताते थे। मैंने निवाड़ बुनना छोड दिया था, कातना भी बहुत कम कर दिया था, और न किताबे पढने का ही वक्त मिलता था। जब वह चले गये तो हमें फिर उन्ही कामो को शुरू करना पडा, मगर दिल पर भार बना रहता था और वह आनन्द नही रहा था। उनके रिहा होने पर तो दैनिक अखबार भी मिलना बद हो गया था। ४-५ दिन बाद मेरे बहनोई रणजीत पडित गिरफ्तार हुए और हमारी बैरक में ही रक्खे गये।

१ महीने बाद, ११ अक्तूबर को, मेरी छ. महीने की सजा पूरी हो जानें पर, मैं छोड दिया गया। मैं जानता था कि मैं थोडे ही दिन आजाद रह सकूगा, क्योंकि लडाई बहुत जमती और तेज होती जा रही थी। 'शान्ति-दूतो'—सप्रू और जयकर साहबान—की कोशिशे बेकार हो चुकी थी। उसी दिन, जिस दिन मै छूटा, दो और आर्डिनेन्स जारी किये गये थे। ऐसे वक्त पर छूटने से मुझे खुशी हुई और मैं इस बात के लिए उत्सुक था कि जितने दिन आज़ाद रहूँ कुछ अच्छा और जोरदार काम कर जाऊँ।

उन दिनो कमला इलाहाबाद थी और वह कांग्रेसके काम मे जुट पड़ी थी। पिताजी मसूरी मे इलाज करा रहे थे और माँ तथा बहने उनके साथ थी। कमला को साथ लेकर मसूरी जाने से पहले कोई डेढ दिन तक मै इलाहाबाद मे ही मशगूल रहा। उन दिनो हमारे सामने जो बडा सवाल था वह यह कि आया देहात मे करबन्दी-आन्दोलन शुरू किया जाय या नही? लगान-वसूली का वक्त नजदीक आ रहा था और यो भी

लगान वसूल होने मे दिक्कत आनेवाली थी; क्योकि नाज के भाव बुरी तरह गिर गये थे। ससारव्यापी मदी का प्रभाव हिन्दुस्तान-भर मे दिखाई दे रहा था।

लगानबन्दी-आन्दोलन के लिए इससे बढकर उपयुक्त अवसर नही दिखाई देता था—दोनो तरह से, सविनय भग-आन्दोलन के सिलसिले मे भी और यो स्वतत्र रूप से भी। यह जाहिरा तौर पर असम्भव था कि जमीदार और काश्तकार उस साल की पैदावार से पूरा-पूरा लगान चुका दे। उन्हे या तो पिछले साल की बचत, अगर कुछ हो तो उसका, या कर्ज का सहारा लिये बिना चारा न था। जमीदार के पास तो यो भी कुछ-न-कुछ सहारा रहता ही है, और उसे कर्ज भी आसानी से मिल सकता है, मगर एक औसत किसान का तो, जो अमूमन भूखा-नगा और कगाल होता है, कोई सहारा नही होता। किसी भी प्रजातत्री देश मे, या उस जगह जहाँ किसानो का अच्छा सगठन और प्रभाव है, इन परिस्थितियो मे, किसानो से ज्यादा वसूल करना असभव होता। लेकिन भारत में उनका प्रभाव नाममात्र का है—सिवा इसके कि कही-कही कॉंग्रेस उनकी हिमायत करती है और उनका साथ देती है। हाँ, एक बात और भी है। सरकार को यह डर जरूर लगा रहता है कि जब किसानो के लिए हालत असहनीय हो जायगी तो वे उठ खडे होगे और बुरी तरह उभड़ पडेगे। लेकिन, उन्हे तो युगो से यह तालीम मिलती चली आ रही है कि जो कुछ विपत आवे उसे बिना चूँ तक किये करम पर हाथ रखकर बरदाश्त करते चले जाओ।

गुजरात तथा दूसरे प्रान्तो में उस समय करबन्दी-आन्दोलन चल रहे थे, लेकिन वे प्राय. सब राजनैतिक स्वरूप के थे और सविनय भग-आन्दोलन से जुडे हुए थे। ये वे प्रान्त थें जहाँ रैयतवारी तरीका था और किसानो का ताल्लुक सीधा सरकार से था। उनके लगान न देने का असर तुरत सीधा सरकार पर पडता था। मगर युक्त-प्रान्त की हालत उनसे भिन्न थी। क्योकि हमारा इलाका जमीदारी और ताल्लुकेदारी है और काश्तकार तथा सरकार के बीच एक तीसरी जमात भी है। अगर काश्तकार लगान देना बन्द करदे तो उसका सीधा असर जमीदार पर होता है; इससे वह एक वर्ग का प्रश्न बन जाता है। इधर कॉंग्रेस कुल मिलाकर एक राष्ट्रीय सस्था है और उसमें कितने छोटे-मोटे तथा कुछ बडे जमीदार भी शामिल थे। उसके नेता इस बात से बुरी तरह भय खाते थे कि कही कोई वर्ग का प्रश्न न बन जाय, या जमीदार लोग न बिगड बैठे। इस कारण सविनय भग शुरू होने से ठेठ छ: महीने तक वे देहात मे करबन्दी-आन्दोलन शुरू करने से बचते रहे, हालाकि मेरी राय में उसके लिए बहुत ही अनुकूल अवसर था। मै इस वर्गवाद के सवाल से तो इस तरह या और किसी तरह कतई नही घबराता था, लेकिन मैं इतना जरूर महसूस करता था कि कॉंग्रेस

अपनी मौजूदा हालत में वर्ग-सघर्ष को नही अपना सकती । हाँ, वह दोनो से—काश्त-कार और जमींदार दोनो से—कह सकती थी कि लगान मत दो । फिर भी औसत जमीदार बहुत करके मालगुजारी दे देते; लेकिन उस दशा मे कुसूर उनका होता ।

अक्तूबर मे जब मै जेल से छूटा तो क्या राजनैतिक और क्या आर्थिक दोनो दशाये मुझे ऐसी मालूम हुई मानो वे देहात मे करबन्दी-आन्दोलन छोड देने के लिए पुकार-पुकार के कह रही हो । किसानो की आर्थिक कठिनाइयाँ तो जाहिर ही थीं । राजनैतिक क्षेत्र मे, हमारा सविनय भंग-आन्दोलन यद्यपि सब जगह फल-फूल रहा था, तो भी कुछ-कुछ धीमा पड गया था । हालाकि लोग थोडे-थोडे करके और कही-कही बडे दल बनाकर भी जेल जाते थे, तो भी वातावरण मे वह तेजी और गर्मी नही दिखाई देती थी । शहर और मध्यम श्रेणी के लोग हडतालो और जुलूसो से कुछ थक-से गये थे । सरेदस्त यह दिखाई देता था कि कुछ जिदगी डालने की, नया खून लाने की, जरूरत है । किसान-समुदाय के अलावा यह और कहाँ से आ सकता था ? और यह खजाना तो अभी अखूट भरा पडा है । यह फिर जनता का एक आन्दोलन हो जायगा, जिससे जनता के गहरे हितो का सम्बन्ध होगा, और मुझे जो सबसे मार्के की बात मालूम होती थी वह तो यह कि इसके बदौलत समाज-व्यवस्था-सबधी प्रश्न उठ खडे होगे ।

उस थोडे समय मे जब मै इलाहाबाद रहा, हमारे साथियो ने और मैने इन विषयो पर खूब गौर किया । जल्द ही हमने प्रान्तीय कॉंग्रेस की कार्यकारिणी की मीटिंग बुलाई और बहुत बहस-मुबाहसे के बाद करबन्दी-आन्दोलन की मजूरी देदी और हर जिले को उसे शुरू करने का अधिकार दे दिया । हमने खुद सूबे के किसी हिस्से मे उसे शुरू नही किया, और कार्यकारिणी ने उसे जमीदार और काश्तकार दोनो पर लागू किया, जिससे उसके वर्गवाद-सबधी प्रश्न बन जाने की सम्भावना न रह जाय । हाँ, यह तो हम जानते ही थे कि इसमे मुख्य सहयोग किसानो की ही तरफ से मिलेगा ।

जब इस तरह आगे कदम बढाने की छुट्टी मिल गई, तो हमारे इलाहाबाद जिले ने पहला कदम उठाना चाहा । हमने एक सप्ताह बाद जिले के किसानो का एक सम्मेलन करके इस नये आन्दोलन को आगे ठेलने का निश्चय किया । मेरे मन को इस बात से तसल्ली हुई कि जेल से छूटते ही पहले दिन मैने ठीक-ठीक काम कर लिया । सम्मेलन के साथ ही मैने इलाहाबाद मे एक बडी आम सभा का भी आयोजन किया । इसमे मैने एक लम्बी तकरीर की । इसी तकरीर पर बाद को मुझे फिर सजा दी गई थी ।

इसके बाद १३ अक्तूबर को कमला और मैं तीन दिन के लिए पिताजी से मिलने मसूरी गये। वह कुछ-कुछ अच्छे हो रहे थे और मुझे यह देखकर तसल्ली हुई कि अब उन्होने करवट बदली हैं और चगे हो रहे है। वे तीन दिन बडी शान्ति और बड़े आनन्द मे बीते। मुझे अबतक याद आते है। फिर से अपने परिवार के साथ आकर रहना कितना अच्छा लगता था ! मेरी लडकी इदिरा और मेरी तीन नन्ही-नन्ही भानजियाँ भी वही थी। मै इन बच्चो के साथ खेलता, कभी-कभी हम एक शाही जुलूस बनाकर घर के आस-पास बडी शान से घूमते। सबसे छोटी लडकी जो शायद ३–४ साल की थी, हाथ मे राष्ट्रीय झण्डा लिये 'झण्डा ऊँचा रहे हमारा' यह झण्डा गान गाती हुई सबके आगे-आगे चलती। पिताजी के साथ मेरे ये तीन दिन बस आखिरी दिन थे, क्योकि इसके बाद उनकी बीमारी असाध्य हो गई और उन्हे हमसे छीनकर ले ही गई।

पिताजी ने एकाएक इलाहाबाद आने का निश्चय कर लिया—शायद इस अन्देशे से कि शीघ्र ही मेरी गिरफ्तारी हो जायगी, या इसलिए कि वह मेरी परिस्थिति को और अच्छी तरह देख सके। १९ को इलाहाबाद में किसान-सम्मेलन होनेवाला था, इसलिए कमला और मैं १७ को मसूरी से चलनेवाले थे। पिताजी ने हमारे जाने के दूसरे दिन, १८ को, और लोगो के साथ रवाना होने की तजवीज की।

कमला और मेरे दोनो के लिए यह यात्रा जरा उत्तेजना-पूर्ण रही। देहरादून मे, ज्योही मै रवाना होने लगा, जाब्ता फौददारी की १४४ दफा के मुताबिक मुझपर एक नोटिस तामील किया गया। लखनऊ मे हम कुछ ही घण्टो के लिए ठहरे थे, कि मालूम हुआ कि वहाँ भी १४४ दफा का एक नोटिस हमारी राह देख रहा है। लेकिन वह तामील न हो सका, क्योकि भीड के कारण पुलिस अफसर मुझतक पहुँच नही पाया। म्युनिसिपैलिटी की तरफ से मुझे एक मानपत्र दिया गया और फिर हम मोटर से इलाहाबाद चले गये। रास्ते मे जगह-जगह ठहरकर किसानो की सभाओ मे व्याख्यान भी देते जाते थे। इस तरह करते-करते १८ की रात को हम इलाहाबाद पहुँचे।

१९ को सुबह होते ही १४४ दफा का एक और नोटिस मुझे मिला। सरकार मेरे पीछे पड़ी थी, और मैं कुछ घण्टों का ही मेहमान था। मै उत्सुक था कि गिरफ्तारी के पहले किसान-सम्मेलन में हो आऊँ। इस सम्मेलन को हम खानगी कहते थे और इसमे सिर्फ प्रतिनिधियो को ही बुलाया गया था। और ऐसा ही यह था भी। किसी बाहरी आदमी के आने की इजाजत इसमे न थी। इलाहाबाद जिले के बहुत प्रतिनिधि इसमें आये थे, और जहाँतक मुझे याद है उनकी सख्या १६०० के लगभग थी।

सम्मेलन ने बडे उत्साह के साथ अपने जिलो मे करबन्दी शुरू करने का फैसला किया। हाँ, कुछ मुख्य कार्यकर्ताओ को जरूर हिचकिचाहट थी। इस बात मे उन्हे कुछ शक था कि कामयाबी होगी या नही, क्योकि किसानो को डराने-दबाने के साधन जमीदारो के पास बहुत थे और सरकार उनकी पीठ पर थी। उन्हे यह भी अन्देशा था कि किसान इन सब कठिनाइयो मे कहाँतक टिक सकेगे। लेकिन उन भिन्न-भिन्न श्रेणी के १६०० प्रतिनिधियो के दिलो मे, जो वहाँ मौजूद थे, ऐसी कोई हिचक या सन्देह न था, कम-से-कम वहाँ तो दिखाई नही देता था। सम्मेलन मे मैने भी एक भाषण किया था। लेकिन मै नही कह सकता कि मैने १४४ दफा का उल्लघन किया या नही, जो कि मुझपर सार्वजनिक सभा मे न बोलने के लिए लगाई गई थी।

वहाँ से मै, पिताजी और घर के दूसरे लोगो को लिवाने के लिए, स्टेशन गया। गाडी लेट थी और उनके उतरते ही मै उन्हे वही छोडकर एक सभा के लिए रवाना हो गया। इसमे शहर और आसपास के देहात के लोग भी आनेवाले थे। ८ बजे के बाद रात को मै और कमला थके-माँदे सभा से घर लौट रहे थे। मै पिताजी से बाते करने के लिए उत्सुक हो रहा था, और मै जानता था कि वह भी मेरी राह देख रहे होगे, क्योकि उनके आने के बाद हमे शायद ही बातचीत करने का मौका मिला हो। पर रास्ते मे हमारी मोटर रोक ली गई—वहाँ से हमारा घर दिखाई दे रहा था, और मै गिरफ्तार करके जमना-पार नैनी की अपनी पुरानी बैरक मे पहुँचा दिया गया। कमला अकेली आनन्द-भवन गई और उसने पिताजी तथा घर के दूसरे लोगो को इस नई घटना की खबर सुनाई और उधर नौ का घण्टा बजते-बजते मैने फिर उसी नैनी-जेल के फाटक मे प्रवेश किया।

३२

युक्तप्रान्त में कर-बन्दी

आठ दिन की ग़ैरहाजिरी के बाद मैं फिर नैनी आ गया और सैयदमहमूद, नर्मदाप्रसाद और रणजीत पण्डित के साथ उसी पुरानी बैरक में आ मिला। कुछ दिनो के बाद जेल में ही मेरा मुकदमा चला। मुझपर कई दफाये लगाई गई थी, जिनका आधार था मेरा वह भाषण जो मैंने अपने छूटने के बाद इलाहाबाद मे दिया था। उसीके अलग-अलग हिस्सो को लेकर जुदा-जुदा इलजाम लगाये गये थे। हस्ब-मामूल मैंने कोई सफाई पेश नही की, सिर्फ थोड़े मे अपना एक लिखित बयान अदालत मे पेश किया। दफा १२४ की रू से राजद्रोह के अपराध मे मुझे १८ मास की सख्त कैद और ५००) जुरमाना, १८८२ के नमक-कानून के मुताबिक ६ महीने की क़ैद और १००) जुरमाना तथा १९३० के आर्डिनेन्स ६ के मातहत (मैं भूल गया हूँ कि यह आर्डिनेन्स किस विषय का था) ६ मास क़ैद और १००) जुरमाना की सजाये दी गई। पिछली दोनो सजाये एक-साथ चलनेवाली थी, इसलिए कुल मिलाकर मुझे २ साल की कैद हुई और जुरमाना न देने की हालत मे ५ महीने और। यह मेरी ५ वी बार जेल-यात्रा थी।

मेरी फिर से गिरफ्तारी और सजायाबी का सविनय-भंग-आन्दोलन की गति पर कुछ समय के लिए अच्छा ही असर हुआ। उससे उसमे एक नया जीवन और अधिक बल आ गया। इसका अधिकांश श्रेय पिताजी को है। जब कमला से उनको मेरी गिरफ्तारी की खबर मिली तो उन्हे एक बुरा-सा धक्का लगा, मगर फौरन ही उन्होंने अपनी शक्तियो को बटोरा और सामने पड़ी हुई मेज को ठोक कर कहा—अब मैंने निश्चय कर लिया है कि इस तरह बीमार बनकर पडा नही रहूँगा; अब अच्छा होकर एक जवाँमर्द की तरह काम करूँगा और बीमारी को मुफ्त मे अपने पर हावी न होने दूँगा। यह निश्चय तो जवाँ मर्दों का-सा ही था। मगर अफ़सोस है कि उनका यह सारा सकल्प-बल भी उस गहरी बीमारी को, जो उनके शरीर को कुतर-कुतरकर खा रही थी, न दबा पाया। फिर भी, कुछ दिनों तक तो उनके स्वास्थ्य मे साफ-साफ तबदीली दिखाई देने लगी—इतनी कि जिसको देखकर लोगों को आश्चर्य होता था। कुछ महीने पहले से, जबसे वह यरवडा गये थे, उनके बलगम मे खून आने लगा था। उनके इस निश्चय के बाद ही वह यकायक बन्द हो गया और कुछ दिन तक बिल्कुल नही दिखाई दिया। इससे उन्हें खुशी हुई थी, और जब वह मुझसे जेल मे मिलने आये

तो उन्होने मुझसे इस बात का जिक्र कुछ फख्र के साथ किया। लेकिन बदकिस्मती से यह तसल्ली थोडे ही दिन रही और आगे चलकर बीमारी फिर बढ गई और खून ज्यादा मिकदार मे आने लगा। इस अवधि मे उन्होने अपने पुराने ही जोश-खरोश से काम किया और देशभर मे सविनय-भग-आन्दोलन को एक जोर का सहारा दिया। जगह-जगह के लोगो से वह बातचीत करते और उन्हे ब्यौरेवार हिदायते भेजते। उन्होने एक दिन मुकर्रर किया (यह नवम्बर मे मेरा जन्मदिन था) जो सारे हिन्दुस्तान मे उत्सव के रूप मे मनाया जाय और उस दिन मेरे भाषण के वे अंग सभाओ मे पढे जायँ जिनपर मुझे सजा दी गई थी। उस दिन कई जगह लाठी-चार्ज हुए, जुलूस और सभाये बलपूर्वक तितर-बितर की गई और यह अन्दाज किया गया था कि उस एक दिन सारे देशभर मे कोई पाँच हजार गिरफ्तारियाँ हुई। वह अपने ढग का एक अनोखा जन्मोत्सव था।

बीमार तो वह थे ही, तिसपर यह जिम्मेदारी और उसमे इतनी ज्यादा ताकत का सर्फ होना उनकी तन्दुरुस्ती के लिए बहुत मुजिर हुआ और मैंने उनसे आग्रह किया कि वह बिलकुल आराम ही करे। मैंने सोचा कि हिन्दुस्तान मे तो उनको ऐसा विश्राम मिलेगा नही, क्योकि यहाँ उनका दिमाग लडाई के उतार-चढ़ाव मे लगा रहेगा और लोग उनके पास सलाह-मशवरा लेने के लिए आये बिना न रहेगे, इसलिए मैंने उन्हे सुझाया कि वह रगून, सिंगापुर, और डच-इंडीज की तरफ छोटी-सी समुद्र-यात्रा कर आवे और उन्हे यह विचार पसन्द भी आया था। यह भी तजवीज की गई थी कि कोई डाक्टर मित्र यात्रा मे साथ रहे। इस गरज से वह कलकत्ता गये भी, मगर वहाँ उनकी तबीयत और भी खराब होती गई और वह आगे न बढ़ सके। कलकत्ते से बाहर एक स्थान मे सात हफ्ते तक रहे। कमला को छोड़कर हमारे घर के सब लोग उनके साथ थे। कमला इलाहाबाद मे बहुत अर्से तक काँग्रेस का काम करती रही।

मेरी गिरफ्तारी इतनी जल्दी शायद इसलिए हुई कि मै करबन्दी-आन्दोलन के सिलसिले मे काम कर रहा था, मगर सच पूछिए तो मेरी गिरफ्तारी से बढकर उस आन्दोलन को बढानेवाली और कोई घटना नही हो सकती थी—खासकर उस दिन गिरफ्तारी से जबकि किसान-सम्मेलन खतम ही हुआ था और उसके प्रतिनिधि इलाहाबाद मे ही मौजूद थे। इससे उनका उत्साह बहुत बढ गया और वे जिले के करीब-करीब हर गाँव मे सम्मेलन का फैसला अपने साथ लेते गये। दो-एक दिन मे ही जिले-भर मे खबर फैल गई कि करबन्दी-आन्दोलन शुरू हो गया है और हर जगह लोग खुशी-खुशी उसमे शरीक होने लगे।

उन दिनो हमारी सबसे बडी मुश्किल खबर पहुँचाने की थी—लोगो

को यह बतलाने की कि हम क्या कर रहे हैं और उनसे क्या कराना चाहते है। अखबार हमारी खबरो को छापने के लिए तैयार नही थे, इस डर से कि सरकार उनको सजा देगी और दबा देगी; छापाखाने हमारे इश्तिहार और पत्रिकाये छापने को तैयार नहीं थे, पत्रो और तारो को काट-छाँट दिया जाता था और अक्सर रोक भी लिया जाता था। खबरे पहुँचाने का काबिल-इत्मीनान तरीका जो हमारे पास बाकी था वह यह था कि हम हरकारो के मार्फत अपनी खबरे भेजें। इसमे भी हमारे हरकारो को कभी-कभी गिरफ्तार कर लिया जाता था। यह तरीका खर्चीला था, और इसमे बडे सगठन की भी जरूरत थी। लेकिन इसमे कुछ सफलता मिली। प्रान्तीय कार्यालय प्रधान कार्यालय के निरन्तर सम्पर्क मे रहते थे और अपने खास-खास जिला-केन्द्रो के सम्पर्क मे भी। शहरो मे कोई खबर फैलाना मुश्किल नही था। कई शहरो में गैर-कानूनी खबरे रोजाना या हफ्तेवार साइक्लोस्टाइल के जरिये प्रकाशित होती रहती थी और ऐसी खबरो की माँग बहुत रहती थी। आम लोगो मे इत्तिला करने के लिए शहर मे डोडी पिटवाने का भी एक तरीका था। इसमे अक्सर इत्तिला करनेवाले की गिरफ्तारी हो जाती थी। मगर इसकी कुछ परवा नही थी, क्योकि लोग गिरफ्तारी को तो पसन्द ही करते थे, उससे बचना नही चाहते थे। ये सब तरीके शहरो मे अनुकूल पडते थे, परन्तु गाँवो मे आसानी के साथ काम मे नही लाये जा सकते थे। हरकारो और साइक्लोस्टाइल से छापे हुए इश्तिहारो के जरिये से खास-खास गाँवो के केन्द्रो से किसी-न-किसी तरह का ताल्लुक तो रक्खा ही जाता था, परन्तु यह सन्तोषजनक नही था; क्योकि दूर के गाँवो मे हमारी सूचनाओ को पहुँचाने मे काफी समय लग जाया करता था।

इलाहाबाद के किसान-सम्मेलन से यह कठिनाई दूर हो गई। जिले के प्राय हर खास-खास गाँव से डेलीगेट आये थे और जब वे वापस गये तब अपने साथ किसानो से सम्बन्ध रखनेवाले ताजा फैसलो और उनके कारण हुई मेरी गिरफ्तारी की खबर को जिले के हरेक हिस्से मे ले गये। वे लोग, जिनकी कि तादाद सोलह सौ थी, करबन्दी-आन्दोलन के प्रभावशाली और जोशीले प्रचारक बन गये। इस प्रकार आन्दोलन की प्रारम्भिक सफलता का विश्वास हो गया, और इसमे कोई शक नही था कि शुरू मे उस प्रदेश के आम किसान लगान देना बन्द कर देगे, और उस वक्त तक बिलकुल नही देगे जबतक कि उनको देने के लिए और दबाया-डराया नही जायगा। निस्सन्देह कोई नही कह सकता था कि जमीदारो और अहलकारो की हिंसावृत्ति और भय के बमुकाबिले उनकी सहन-शक्ति कितनी टिक सकेगी।

करबन्दी करने की अपील हमने जमीदारो और किसानो दोनो से की थी।

सिद्धान्त की दृष्टि से वह अपील किसी एक वर्ग के लिए नही थी। मगर अमली रूप मे कई जमीदारो ने अपना कर दे दिया और राष्ट्रीय सग्राम के प्रति जिनकी सहानुभूति थी ऐसे भी कई लोगो ने कर दे दिया। उनपर दवाव बहुत भारी था और उनके बहुत नुक्सान उठाने की सम्भावना थी। जहाँतक किसानो का सवाल है, वे तो मजवूत रहे। उन्होने लगान नही दिया और इस प्रकार हमारा आन्दोलन एक करवन्दी-आन्दोलन ही हो गया। इलाहावाद ज़िले से वह सयुक्तप्रान्त के कुछ दूसरे जिलो मे भी फैल गया। कई ज़िलो में उसको वाजाब्ता अख्त्यार नही किया गया न उसका ऐलान किया गया, परन्तु वास्तव मे किसानो ने कर देना रोक लिया और कई जगह तो भाव के गिर जाने के कारण वे दे ही नही सके। इसपर कई महीनो तक न तो सरकार ने और न वड़े जमीदारो ने उन सरकश किसानो को भयभीत करने के लिए कोई वडी कार्रवाई की। उन्हे अपनी कामयावी पर भरोसा नही था; क्योकि एक तरफ तो सविनय भग-आन्दोलन के सहित राजनैतिक सग्राम था और दूसरी तरफ आर्थिक मन्दी का प्रश्न था, जिससे कि किसान दु.खी थे। इन दोनो कठिनाइयो का समावेश एक-दूसरे में हो गया और सरकार को वरावर यह डर रहा कि कही किसानो मे कोई तूफान न उठ खडा हो। उधर लदन मे गोलमेज-कान्फ्रेन्स हो रही थी। इसलिए इधर भारतवर्ष मे सरकार अपनी तकलीफे नही वढ़ाना चाहती थी, और न "जोरदार" हुकूमत का प्रभावशाली प्रदर्शन ही करना चाहती थी।

जहाँतक इस प्रान्त का सम्वन्ध है, करवन्दी-आन्दोलन का एक खास नतीजा दिखाई दिया। इससे हमारे सग्राम का आकर्षण-केन्द्र शहरी प्रदेश से हटकर देहाती प्रदेशो मे चला गया, जिससे कि आन्दोलन मे नवजीवन आ गया और जिसने उसकी बुनियाद को अधिक व्यापक और मजबूत वना दिया। यद्यपि हमारे शहरी लोग इससे हैरान हो गये और थक गये और हमारे मध्यम-श्रेणी के लोग किसी हदतक हतोत्साह हो गये, परन्तु सयुक्तप्रान्त मे आन्दोलन मजवूत था और पहले किसी भी समय किये गये आन्दोलन से मजवूत रहा। शहर से देहात की तरफ परिवर्त्तन और राजनैतिक से आर्थिक समस्याओ की तरफ परिवर्त्तन दूसरे प्रान्तो मे इतनी हदतक नही हुआ और फलत उनमे शहरो की प्रधानता वनी रही और वे मध्यम-वर्ग के लोगो की थकावट से ज्यादा-से-ज्यादा नुकसान उठाते रहे। वम्बई शहर मे भी, जो कि शुरू से अखीर तक आन्दोलन मे खूब भाग लेता रहा, कुछ-कुछ निरुत्साह फैलने लगा। वम्वई मे और दूसरी जगह भी हुकूमत की अवहेलना और गिरफ्तारियाँ भी जारी रहीं, परन्तु यह सब किसी कदर वनावटी दिखाई देता था। उसका सजीव तत्त्व जाता रहा था। यह स्वाभाविक भी था, क्योकि जन-समूह को लम्बे समय तक

किसी क्रान्ति की स्थिति मे रखना असम्भव है। आम तौर पर तो ऐसी स्थिति कुछ दिनो तक ही टिका करती है, परन्तु सविनय भग की यह अद्भुत शक्ति है कि जिससे यह कई महीनो तक जारी रहे और उसके पश्चात् भी मन्दगति से अमर्यादित समय तक चलता रह सकता है।

सरकारी दमन बढा। स्थानिक काँग्रेस कमिटियाँ, यूथ-लीग आदि, जोकि अभी-तक आश्चर्य के साथ चलती रही थी, गैर-क़ानूनी करार दे दी गई और दबा दी गई। जेलो मे राजनैतिक कैदियो के साथ ज्यादा बुरा बर्त्ताव होने लगा। सरकार खास करके इससे चिढ गई, कि लोग जेल से छूट जाने के बाद तुरन्त ही फिर जेल मे चले जाते थे। सजा के बावजूद भी सत्याग्रहियो को झुकाने मे असफल होने के कारण शासकों का हौसला ढीला हो गया। जाहिरा तौर पर जेल-शासन-सम्बन्धी अपराधो के कारण सयुक्तप्रान्त मे नवम्बर या दिसम्बर १९३० के शुरू मे कुछ राजनैतिक कैदियो को बेत की सजा दी गई थी। इसकी खबर हमको नैनी-जेल मे पहुँची। उससे हम क्षुब्ध हो उठे—तबसे हम हिन्दुस्तान मे इसके तथा इससे भी खराब दृश्यो और घटनाओं के आदी हो गये है—क्योकि बेत लगाना बुरे-से-बुरे और जेल-जीवन के आदी कैदियो के लिए भी मुझे एक अवाञ्छनीय यातना मालूम हुई, और नौजवान कोमल-हृदय बच्चो के लिए और सो भी नाममात्र के नियम-भग के कुसूर मे तो बेत की सजा को बिलकुल जगली ही कहना चाहिए। हमारी बैरक के हम चारो ने सरकार को इसकी बाबत लिखा, और जब दो हफ्ते तक उसका कोई जवाब न आया तो हमने इस बेत लगाने के विरोध मे और इस बर्बरता के शिकार होनेवालो के प्रति हमदर्दी मे कोई निश्चित कार्रवाई करना तय किया। हमने तीन दिन—७२ घटे—का पूरा उपवास किया। उपवास के लिहाज से यह कोई बडी बात न थी, मगर हमें उपवास का अभ्यास नही था और न यही जानते थे कि हम उसमे कितने टिक सकेगे। इससे पहले २४ घटे से ज्यादा का उपवास मैने शायद ही कभी किया हो।

हमे उपवास के दिनो मे कोई ज्यादा तकलीफ नही हुई, और मुझे यह जानकर खुशी हुई कि उसमे वैसी सख्त तकलीफ की कोई बात नही थी जैसा कि डर था। मगर एक बेवकूफी मैंने की। उपवास भर मैंने अपनी कडी कसरत भी जारी रक्खी थी; जैसे दौडना और हाथ-पॉव को झटके देने की कसरत वगैरा। मै नही समझता कि उससे मुझे कोई ज्यादा फायदा हुआ। खासकर उस हालत मे जबकि मेरी तबीयत पहले से ही कुछ अलील थी। इन तीन दिनो मे हम सब का वजन ७ से ८ पौण्ड तक घटा। इससे पहले महीने मे कोई १५ से २६ पौण्ड तक वजन हम हरेक का घट चुका था सो अलग।

हमारे उपवास के अलावा, वाहर भी, वेत लगाने के खिलाफ खासा आन्दोलन हो रहा था, और मैं समझता हूँ कि युक्तप्रान्तीय सरकार ने महकमा जेल को ऐसी हिदायते भेजी थी कि आयन्दा वेत न लगाये जायँ। मगर ये आज्ञाये ज्यादा दिन कायम नही रहने को थी और कोई १ साल के वाद युक्तप्रान्त की और दूसरे प्रान्तो की जेलो मे वेतो की सजा फिर दी जाने लगी।

बीच-बीच मे यदि ऐसी उत्तेजक घटनाओ से खलल न पडा होता तो हमारा जेल-जीवन शान्तिपूर्ण रहता। मौसम अच्छा था और जाडा तो इलाहावाद मे वहुत ही मजेदार होता है। रणजीत पण्डित क्या आये, हमारी वैरक को अलभ्य लाभ मिल गया, क्योकि वह वागवानी वहुत कुछ जानते थे और शीघ्र ही वह हमारा वीरान अहाता फूलो और तरह-तरह के रगो से गुलजार हो गया। उन्होने तो उस तग और थोडी जगह मे छोटे पैमाने पर गोल्फ खेलने की सुविधा भी कर दी थी।

नैनी-जेल मे हमारे सिर पर से हवाई-जहाज उडकर जाया करते थे और यह हमारे लिए एक आनन्द और मनोरजन का विषय हो गया था। पूर्व और पश्चिम को आने-जानेवाले बडे-वडे हवाई-जहाजो के लिए इलाहावाद एक खास स्टेशन है और आस्ट्रेलिया, जावा और फ्रेच इन्डोचायना को जानेवाले वडे-वडे जहाज सीधे हमारे सिर पर से गुजरा करते थे। उनमे सवसे वडे और शाही थे डच जहाज, जो वटेविया आते-जाते थे। कभी-कभी इत्तिफाक से और हमारी खुशकिस्मती से जाडे मे अलस्सुवह, जबकि कुछ-कुछ अधेरा रहता था और तारे चमकते दिखाई देते थे, कोई जहाज ऊपर से गुजरता था। उसमे खूव रोशनी की जगमगाहट रहती थी और उसके दोनो सिरो पर लाल रोशनी होती थी। प्रात काल के स्वच्छ नीलाकाश मे जव वह जहाज ऊपर उडता तो उसका दृश्य वडा ही सुन्दर मालूम होता था।

पडित मदनमोहन मालवीय भी, किसी दूसरी जेल से, नैनी भेज दिये गये थे। वह हमसे अलग दूसरी बैरक मे रक्खे गये थे, लेकिन हम रोज उनसे मिलते थे और शायद बाहर की वनिस्वत वहाँ मैं उनका अधिक परिचय कर पाया। वह बड़े खुश-मिजाज साथी थे। जीवनी-शक्ति से भरे-पूरे और हर बात मे एक युवक की तरह दिलचस्पी लेनेवाले। रणजीत की सहायता से उन्होने जर्मन पढना शुरू किया और उस सिलसिले मे उन्होने अपनी विलक्षण स्मरण-शक्ति का परिचय दिया। जव यह बेते लगाने की खबर मिली तव वह नैनी मे ही थे और यह खवर सुनकर बहुत बिगड़े थे और उन्होने हमारे सूबे के कार्यवाहक गवर्नर को इसके विषय मे लिखा भी था। इसके वाद ही वह बीमार हो गये। जेल की सर्दी उन्हे वरदाश्त न हुई। उनकी बीमारी चिन्ताजनक होती गई और वह शहर के अस्पताल मे भेज दिये गये और कुछ दिन बाद

मीयाद से पहले ही वहाँ से रिहा कर दिये गये। खुशी की बात है कि अस्पताल जाकर वह चंगे हो गये।

१ जनवरी १९३१ को, अंग्रेजी साल के नये दिन, कमला की गिरफ्तारी की खबर हमें मिली। मुझे इससे खुशी हुई, क्योंकि वह बहुत दिनों से अपने दूसरे साथियों की तरह जेल जाने को बहुत उत्सुक थी। यों तो अगर वह मर्द होती तो वह और मेरी बहन दोनों तथा और भी दूसरी स्त्रियाँ बहुत पहले ही गिरफ्तार हो गई होतीं, मगर उस वक्त सरकार जहाँतक हो सकता था स्त्रियों को गिरफ्तार करना टालती थी और इसीसे वह इतने अर्से तक बच रही और अब जाकर उसके मन की मुराद बर आई। मैंने सोचा, सचमुच उसे कितनी खुशी हुई होगी! मगर साथ ही मुझे एक खौफ़ भी हुआ, क्योंकि उसकी तन्दुरुस्ती हमेशा ख़राब रहती थी और मुझे अंदेशा था कि जेल में कहीं उसे बहुत ज्यादा तकलीफ न हो।

गिरफ्तारी के वक्त एक पत्र-प्रतिनिधि वहाँ मौजूद था और उसने उससे एक संदेश माँगा। उसी क्षण झट से उसने एक छोटा-सा संदेश दिया, जो उसके स्वभाव के अनुकूल ही था—"आज मुझे बेहद खुशी है और मुझे फख्र है कि मैं अपने पति के पद-चिन्हों पर चल सकी हूँ। मुझे उम्मीद है कि आप लोग इस ऊँचे उठाये झंडे को नीचे न झुकने देंगे।" मुमकिन था कि अगर वह कुछ सोच पाती तो ऐसा संदेश न देती; क्योंकि वह अपनेको पुरुषों के जुल्मों से स्त्रियों के अधिकारों की रक्षा करने का अगुआ-मुखानी समझती थी। लेकिन उस समय हिन्दू स्त्रीत्व के संस्कार उसमें प्रबल हो उठे और उनके प्रवाह में मर्दों के जुल्म न जाने कहाँ बह गये।

पिताजी कलकत्ता थे और उनकी हालत सन्तोषजनक न थी। लेकिन कमला की गिरफ्तारी और सज़ा के समाचार सुनकर वह बहुत उद्विग्न हो गये और उन्होंने इलाहाबाद लौटना तय किया। फौरन ही मेरी बहन कृष्णा को उन्होंने इलाहाबाद रवाना किया और खुद घर के और लोगों के साथ कुछ दिन बाद चले। १२ जनवरी को वह मुझसे मिलने नैनी आये। मैंने उन्हें कोई दो मास बाद देखा था, और उन्हें देखकर मेरे दिल को जो धक्का लगा उसे मैं मुश्किल से छिपा सका। उनके चेहरे को देखकर मेरे दिल में जो दहशत बैठ गई उससे वह अनजान मालूम हुए; क्योंकि उन्होंने मुझसे कहा कि कलकत्ते की बनिस्बत अब तो मैं बहुत अच्छा हूँ। उनके चेहरे पर वरम आ गया था और वह शायद यह समझते थे कि यह तो यों ही आ गया है।

उनके उस चेहरे का मुझे रह-रहकर खयाल हो आता था। वह किसी तरह उनके चेहरे जैसा न रहा था। अब पहली मर्तबा मेरे दिल में यह डर पैदा हुआ कि उनके लिए ख़तरा सामने खड़ा है। मैंने हमेशा उनकी कल्पना बल और स्वास्थ्य के

साथ ही की थी और उनके सम्बन्ध मे मौत का खयाल कभी मन मे नही आता था। मौत के खयाल पर वह हमेशा हँस दिया करते थे—उसे हँसी मे उडा दिया करते थे, और हमसे कहा करते थे कि मै तो अभी बहुत दिन जीऊँगा। लेकिन इधर बाद मे मै देखता था कि जब कभी कोई उनका जवानी का मित्र मर जाता तब वह अपनेको अकेला-सा, अटपटे साथियो और लोगो मे छूट गया-सा और मृत्यु के आने का इशारा-सा होता हुआ अनुभव करते थे। लेकिन आम तौर पर यह भाव आकर चला जाता था और उनकी ओत-प्रोत जीवनी-शक्ति अपना जोर जमाती। हम परिवार के लोग उनके इस बहु-सम्पन्न व्यक्तित्व के और उनके सर्वव्यापी उत्साह-प्रद स्नेह-पान के इतने अभ्यस्त हो गये थे कि उनके बिना दुनिया की कल्पना करना हमारे लिए कठिन था।

उनके चेहरे को देखकर मुझे बडा दु ख हुआ और मेरे मन मे तरह-तरह की आशकाये छा गई। ताहम मुझे यह खयाल नही हुआ था कि खतरा इतना नज़दीक आ पहुँचा है। ठीक उन्ही दिनो, पता नही क्यो, खुद मेरी भी तन्दुरुस्ती अच्छी नही रहती थी।

पहली गोलमेज-कान्फ्रेन्स के वे आखिरी दिन थे और उसके अन्तिम इशारे और हाव-भाव हमारे मनोरजन का विषय बन गये थे, और मुझे कहना होगा कि उस मनोरजन मे कुछ हिकारत का भाव भी था। वहाँ के भाषण और लबी-चौडी बाते और वादविवाद हमे अवास्तविक और व्यर्थ मालूम होते थे, पर हाँ, एक वास्तविकता साफ दिखाई पडती थी—वह यह कि देश की कठिन परीक्षा के अवसर पर और जबकि हमारे भाइयो और बहनो ने अपने आचरण से सबको इतना आश्चर्य मे डाल दिया तब भी हमारे देश मे ऐसे लोग थे जो हमारे सग्राम की अवहेलना करते थे और हमारे विपक्षियो की तरफ अपना नैतिक बल लगाते थे। यह बात हमे पहले से भी ज्यादा साफ नजर आ गई कि राष्ट्रीयता की धोखे की टट्टी मे विरोधी आर्थिक हित अपना काम कर रहे है और किस तरह स्थापित स्वार्थ उसी राष्ट्र-धर्म के नाम पर भविष्य के लिए अपनी रक्षा करने की चेष्टा कर रहे है। गोलमेज-कान्फ्रेन्स इन स्थापित स्वार्थो के प्रतिनिधियो का ही एक सम्मेलन था। उनमे से कितनो ही ने हमारे सग्राम का विरोध किया था, कुछ खामोश होकर एक तरफ खड देखते थे—हाँ, समय-समय पर हमें इस बात की याद भी दिलाया करते थे कि "जो खडे होकर इन्तजार करते है वे एक तरह की सेवा ही करते है।" लेकिन ज्योही लन्दन से डोर हिली इस इन्तजारी का यकायक अन्त आ गया और वे अपने विशेष हितो की रक्षा के लिए और जो कुछ टुकडे और मिल सकते है उनमे हिस्सा बँटाने के लिए एक के बाद एक दौड़ पड़े। लन्दन में यह जमीयत और भी जल्दी इसलिए की गई कि कांग्रेस

तेज़ी के साथ बायें पक्ष की ओर जा रही थी और उसपर जनता का अधिकाधिक प्रभाव पड़ता जा रहा था। यह सोचा गया कि अगर भारत में आमूल राजनैतिक परिवर्तन का दौर आ गया तो इसके मानी होंगे जनता की भिन्न-भिन्न शक्तियों या अंगों का प्राधान्य हो जाना, या कम-से-कम महत्वपूर्ण बन बैठना। और ये लाज़िमी तौर पर आमूल सामाजिक परिवर्तन पर जोर देंगे और इस तरह स्थापित स्वार्थों को धक्का पहुँचा जावेंगे। हिन्दुस्तानी स्थापित स्वार्थवाले इस आनेवाली आफत को देख-कर सहम गये और इसके कारण उन्होंने दूरगामी राजनैतिक परिवर्तनों का विरोध किया। उन्होंने चाहा कि ब्रिटिश लोग यहाँ वर्तमान सामाजिक ढाँचे को और स्थापित स्वार्थों को कायम रखने के लिए अन्तिम निर्णायक-शक्ति के तौर पर क़ायम रहे। औप-निवेशिक पद पर जो इतना जोर दिया गया उसके मूल में यही धारणा काम कर रही थी। एक दफ़ा तो एक मशहूर हिन्दुस्तानी लिबरल नेता मुझपर इस बात के लिए बिगड़ पड़े थे कि मैंने ग्रेट ब्रिटेन के साथ होनेवाले समझौते के अग-रूप ब्रिटिश फौज के हिन्दुस्तान से तुरन्त हटा दिये जाने और उसकी जगह हिन्दुस्तानी फौज के लोकतन्त्र के मातहत कर दिये जाने पर जोर दिया था। वह तो यहाँतक आगे बढ़ गये थे कि बोले—"अगर ब्रिटिश सरकार इस बात पर रजामंद हो भी जाय तो मैं अपनी पूरी ताक़त से इसका विरोध करूँगा"। किसी भी तरह की क़ौमी आज़ादी के लिए यह माँग बहुत ज़रूरी थी। फिर भी उन्होंने इसका जो विरोध किया वह इसलिए नहीं कि मौजूदा हालत में वह पूरी नहीं की जा सकती थी, बल्कि इसलिए कि वह अवाञ्छनीय समझी गई। इसका आंशिक कारण तो शायद यह डर हो कि बाहरी शक्तियां हमारे देश पर धावा बोल देंगी, और वह समझते थे कि ब्रिटिश फौज उस समय हमारी रक्षा के काम आवेगी! मगर ऐसे किसी हमले की सम्भावना हो या न हो, इसके अलावा भी किसी भी जानदार हिन्दुस्तानी के लिए यह ख़याल ही कितना ज़लील करनेवाला है कि वह किसी बाहरी आदमी से अपनी रक्षा करने के लिए कहे। मगर अँग्रेज़ों की सबल बाहु को हिन्दुस्तान में कायम रखने की ख़्वाहिश की तह में असली बात यह नहीं थी। अँग्रेज़ों की ज़रूरत तो समझी गई थी ख़ुद हिन्दुस्तानियों से, लोकतन्त्र से और जनता की आगे बढ़ती हुई लहर के प्रभाव से, हिन्दुस्तानी स्थापित स्वार्थों की रक्षा के लिए।

इसलिए गोलमेज के प्रसिद्ध प्रतिगामी और साम्प्रदायिक ही नहीं बल्कि वे प्रतिनिधि भी जो अपनेको उन्नतिशील और राष्ट्रवादी कहते थे, आपस में तथा ब्रिटिश सरकार के और अपने बीच अपने समान-हित की बहुत बातें पाते थे। राष्ट्र-धर्म सचमुच हमें बहुत व्यापक और भिन्न-भिन्न अर्थ रखनेवाला शब्द मालूम हुआ—

एक तरफ उसमे जहाँ वे लोग शामिल थे जो आजादी की लड़ाई मे जूझते हुए जेल गये थे, तो दूसरी तरफ उसमे उन लोगो का भी समावेश होता था जो हमें जेल भेजनेवालो से हाथ मिलाते थे, उनकी कतार में खड़े होते थे और उनके साथ बैठकर एक कार्य-नीति बनाने का आयोजन करते थे। एक दूसरे लोग भी हमारे देश मे थे— बहादुर राष्ट्रवादी, जो धारा-प्रवाह व्याख्यान झाड़ते थे, जो हर तरह से स्वदेशी-आन्दोलन को बढावा देते थे। वे हमसे कहते थे कि इसीमे स्वराज का सार छिपा हुआ है। इसलिए कुरबानी करके भी स्वदेशी को अपनाओ, और तकदीर से इस आन्दोलन की बदौलत उन्हे कुछ त्याग नही करना पड़ा। उलटा उनकी तिजारत और मुनाफा बढ गया। और जब एक तरफ कितने ही लोग जेल गये और लाठी-प्रहार का मुकाबिला किया, तो दूसरी तरफ वे अपनी दुकानो मे बैठ-बैठकर रुपये गिन रहे थे। बाद को जब राष्ट्रवाद ने ज़रा उग्र रूप धारण किया और उसमें ज्यादा जोखिम दिखाई दी तो उन्होने अपने भाषणो का स्वर नीचा कर दिया, गरम दलवालो को बुरा कहने लगे और मुखालिफो के साथ राजीनामे और ठहराव कर लिये।

हमे सचमुच इसका कुछ खयाल या परवा नही थी कि गोलमेज-कान्फ्रेन्स ने क्या किया। वह हमसे बहुत दूर, अवास्तविक और खोखली थी और लडाई यहाँ हमारे कस्बो और गाँवो मे हो रही थी। हमे इस बात मे कोई भ्रम नही था कि हमारी लडाई जल्द ही खत्म हो जायगी, या खतरा सामने खडा है, मगर फिर भी १९३० की घटनाओ ने हमे अपने राष्ट्रीय बल और दमखम का इत्मीनान करा दिया और उस इत्मीनान के भरोसे हमने भावी का मुकाबिला किया।

दिसम्बर या जनवरी के शुरू की एक घटना से हमे बहुत दु ख पहुँचा। श्री श्रीनिवास शास्त्री ने एडिनबरो (जहाँ मै समझता हूँ कि उन्हे 'फ्रीडम आफ दि सिटी' उपाधि प्रदान की गई थी) के अपने एक भाषण मे उन लोगो के प्रति नफरत के भाव जाहिर किये जो सविनय भग-आन्दोलन के सिलसिले मे जेल जा रहे थे। उस भाषण ने और खासकर जिस मौके पर वह दिया गया उसने हमारे दिलो को जख्मी कर दिया। क्योकि यद्यपि राजनीति मे शास्त्रीजी से हमारा बहुत मतभेद था, तोभी हम उनकी इज्जत करते थे।

रैम्जे मैकडानल्ड साहब ने, सदा की तरह, एक सद्भावपूर्ण भाषण के द्वारा गोलमेज-कान्फ्रेन्स का उपसहार किया। उसमे कॉग्रेसियो से ऐसी अपील की हुई दिखाई दी कि वे बुरे मार्ग को छोड दे और भले आदमियो की टोली मे मिल जायँ। ठीक इसी समय—१९३१ की जनवरी के मध्य मे—इलाहाबाद मे कॉंग्रेस की कार्य-समिति की एक बैठक हुई और दूसरी बातो के साथ-साथ इस भाषण और उसमे की गई

अपील पर भी विचार किया गया। उस वक्त मैं नैनी-जेल मे था और रिहा होने पर मैंने उसकी कार्रवाई का हाल सुना। पिताजी हाल ही कलकत्ते से लौटे थे और हालाँकि वह बहुत बीमार थे तोभी उन्होने इस बात पर बहुत जोर दिया कि उनकी रोगशय्या के पास ही मेंबर लोग आकर चर्चा करे। किसीने यह सुझाया कि मि० मैकडानल्ड की अपील के जवाब मे हमारी तरफ से भी कोई इशारा किया जाय और सविनय भग कुछ ढीला कर लिया जाय। इससे पिताजी बहुत उत्तेजित हो गये, अपने बिछौने पर उठ बैठे और कहा कि मैं तवतक समझौता न करूँगा जबतक कि राष्ट्रीय ध्येय प्राप्त नही हो जाता और अगर मैं अकेला ही रह गया तो भी मैं लड़ाई जारी रक्खूँगा। यह उत्तेजना उनके लिए बहुत बुरी थी। उनका तापमान बढ़ गया। आखिर डाक्टरो ने किसी तरह उन्हे राजी करके मेहमानो को वहाँ से हटाकर उन्हे अकेला रहने दिया।

बहुत कुछ उन्हीके आग्रह से कार्य-समिति ने एक ऐसा प्रस्ताव पास किया था, जिसके अनुसार समझौता नही हो सकता था। उसके अखबारो मे छपने के पहले ही सर तेजबहादुर सप्रू और श्रीनिवास शास्त्री का एक तार पिताजी को मिला, जिसमें उनकी मार्फत काँग्रेस से यह दरख्वास्त की गई थी कि वह इस विषय पर तबतक कोई फैसला न करे जबतक कि उन्हे बात-चीत करने का एक मौका न दिया जाय। वे लन्दन से बिदा हो चुके थे। उन्हे इस आशय का जवाब दिया गया कि कार्य-समिति ने एक प्रस्ताव तो पास कर दिया है, लेकिन जबतक आप दोनो यहाँ न आ जायँगे और आपसे बात-चीत न हो जायगी तबतक वह प्रकाशित न किया जायगा।

बाहर यह जो कुछ हो रहा था उसका हमे जेल मे कुछ पता न था। हम इतना ही जानते थे कि कुछ होनेवाला है और इससे हम कुछ चिन्तित हो गये थे। हमे जिस बात का सबसे अधिक खयाल था, वह तो था २६ जनवरी के स्वतत्रता-दिवस का प्रथम वार्षिकोत्सव, और हम सोचते थे कि देखे यह किस तरह मनाया जाता है। बाद को हमने सुना कि वह सारे देश मे मनाया गया। सभाये की गईं और उनमे स्वाधीनता के प्रस्ताव का समर्थन किया गया और सब जगह वह एकसा पास किया गया, जिसे 'स्मारक प्रस्ताव'[१] कहा जाता था। इस उत्सव का सगठन एक तरह की करामात ही थी। क्योकि न तो अखबार न छापेखाने ही सहायता करते थे न तार व डाक से ही काम लिया जा सकता था। लेकिन फिर भी एक ही प्रस्ताव अपनी-अपनी प्रान्तीय भाषा मे, कई बडी-बडी सभायें करके, करीब-करीब एक ही समय देशभर मे, क्या देहात और क्या कस्बे सब जगह, पास किये गये। बहुतेरी सभायें तो कानून की अवहेलना करके की गईं और पुलिस के द्वारा बलपूर्वक तितर-बितर की गई थी।

१. यह प्रस्ताव परिशिष्ट नं० ३ में दिया गया है।

२६ जनवरी ने हमको नैनी-जेल मे गुजिश्ता साल का सिंहावलोकन करते हुए और आगामी वर्ष को आशा की दृष्टि से देखते हुए पाया। इतने ही मे दोपहर को एकाएक मुझे कहा गया कि पिताजी की हालत बहुत नाजुक हो गई है और मुझे फौरन घर जाना होगा। पूछने पर पता चला कि मैं रिहा किया जा रहा हूँ। रणजीत भी मेरे साथ थे।

उस शाम को हिन्दुस्तान की कितनी ही जेलो से बहुत-से दूसरे लोग भी छोडे गये। ये लोग थे कार्य-समिति के मूल और स्थानापन्न सदस्य। सरकार हमे आपस मे मिलकर हालात पर गौर करने का मौका देना चाहती थी। इसलिए, मैं उसी शाम को हर हालत मे छूट जाता। पिताजी की तबीयत की वजह से कुछ घण्टे पहले रिहाई हो गई। २६ दिन का जेल-जीवन बिताकर कमला भी उसी दिन लखनऊ-जेल से छोड दी गई। वह भी कार्य-समिति की एक स्थानापन्न मेंबर थी।

३३

पिताजी का देहान्त

पिताजी को मैंने दो हफ्ते बाद देखा। १२ जनवरी को नैनी में जब वह मिलने आये थे तब उनका चेहरा देखकर मेरे दिल को एक धक्का लगा था। तबसे अब उनकी तबीयत और ज्यादा खराब हो गई थी और उनके चेहरे पर ज्यादा वरम आ गया था। बोलने में कुछ तकलीफ होती थी और दिमाग पर पूरा-पूरा काबू नहीं रहा था, लेकिन फिर भी उनकी सकल्प-शक्ति वैसी ही कायम रही थी और वह उनके शरीर और दिमाग को काम करने में ताकत देती रही।

मुझे और रणजीत को देखकर वह खुश हुए। एक या दो रोज़ बाद रणजीत (वह कार्य-समिति के सदस्यो की श्रेणी मे नही आते थे इसलिए) वापस नैनी भेज दिये गये। इससे पिताजी को बहुत बुरा मालूम हुआ और वह बार-बार उनको याद करते थे और शिकायत करते थे, कि जब इतने सारे लोग मुझसे दूर-दूर से मिलने आते है तब मेरा दामाद ही मुझसे दूर रक्खा जाता है! उनके इस आग्रह से डॉक्टर लोग चिन्तित थे और यह जाहिर था कि उससे पिताजी को कोई फायदा नही हो रहा था। ३ या ४ दिन बाद, मैं समझता हूँ डॉक्टरो के कहने से, युक्त-प्रान्त की सरकार ने रणजीत को छोड दिया।

२६ जनवरी को, उसी दिन जिस दिन मैं छोडा गया, गाधीजी भी यरवडा-जेल से रिहा कर दिये गये। मै उत्सुक था कि वह इलाहाबाद आवे, और जब मैंने उनके छूटने की खबर पिताजी को दी तो मैंने देखा कि वह उनसे मिलने के लिए आतुर थे। एक जबरदस्त जन-समूह के द्वारा, जैसा कि बम्बई में पहले कभी नही देखा गया, स्वागत हो जाने के बाद दूसरे ही दिन गाधीजी बम्बई से चल पडे। वह इलाहाबाद रात को देर से पहुँचे। लेकिन पिताजी उनसे मिलने की इन्तजारी मे जग रहे थे, और उनके आने से और उनके कुछ शब्द सुनने से पिताजी को बडी शान्ति मिली। उनके आने से मेरी माँ को भी बहुत शान्ति और तसल्ली रही।

अब कार्य-समिति के जो मूल और स्थानापन्न मेम्बर रिहा किये गये थे, वे इस बीच मे असमंजस मे पडे हुए मीटिंग के लिए सूचनाओ का इन्तजार कर रहे थे। कितने ही लोग पिताजी की बाबत चिन्तित थे और तुरन्त ही इलाहाबाद आ जाना चाहते थे। इसलिए यह तय हुआ कि उन सबको फौरन मीटिंग के लिए इलाहाबाद बुला लिया जाय। दो दिन के बाद ३० या ४० लोग आ गये और हमारे मकान के

पास ही स्वराज-भवन में उनकी मीटिंगे होने लगी । कभी-कभी मै इन मीटिंगो मे चला जाता था । लेकिन मै अपनी चिन्ताओ मे इतना मुब्तिला रहता था कि उनमे कोई उपयोगी हिस्सा नही लेता था और इस समय मुझे कुछ याद नही है कि वहाँ क्या-क्या निर्णय हुए थे । मेरा खयाल है कि वे सविनय-भग-आन्दोलन को जारी रखने के हक मे हुए थे ।

ये मित्र और साथी लोग, जिनमे से बहुतेरे तो हाल ही जेल से छूटे थे और फिर शीघ्र ही जेल जाने की आशा लगाये बैठे थे, पिताजी से मिलना चाहते थे और उनके अन्तिम दर्शन करके अन्तिम विदा लेना चाहते थे । सुबह-शाम उनमें से दो-तीन आते और पिताजी अपने इन पुराने साथियो का स्वागत करने के लिए आराम-कुर्सी पर बैठने का आग्रह करते थे । उनका डीलडौल तो बड़ा मगर चेहरा भाव-शून्य दिखाई देता था, क्योकि वरम आ जाने के कारण चेहरे पर भाव प्रकट नही हो पाते थे । लेकिन जैसे-जैसे एक के बाद एक साथी आते और जाते थे, तैसे-तैसे उन्हे पहचान-पहचानकर उनकी आँखो मे चमक आ जाती थी । उनका सिर कुछ झुकता जाता था और नमस्कार के लिए हाथ जुड जाते थे । हालाँकि वह ज्यादा नही बोल सकते थे, कभी-कभी कुछ शब्द बोलते थे, मगर फिर भी उनका पुराना हँसी-मजाक कायम था । वह एक बूढे शेर की तरह, जिसका शरीर बुरी तरह जख्मी हो गया हो और जिसकी ताकत शरीर से करीब-करीब चली गई हो, बैठे थे, लेकिन उस हालत में भी उनकी शान तो सिहो या राजाओ जैसी ही थी । जब-जब मै उनकी तरफ देखता, तो मै सोचता कि उनके दिमाग मे क्या-क्या खयाल आते होगे ? क्या वह हम लोगो के काम-काज मे दिलचस्पी लेने की हालत मे नही रहे है ? यह साफ मालूम होता था कि वह अक्सर अपने-आपसे लडते थे । चीजें उनकी पकड से निकलना चाहती थी और वह उनपर काबू पाने की कोशिश करते थे । अखीर तक यह लडाई जारी रही । मगर वह हारे नही । जब-तब बड़ी ही स्पष्टता के साथ हमसे बाते करते थे—यहाँ तक कि जब गले की सिकुडन से उनके मुँह से शब्द निकलना मुश्किल हो गया था तो वह कागज पर लिख-लिखकर अपना आशय ज़ाहिर करते थे ।

कार्य-समिति की बैठको मे, जोकि हमारे पडौस मे ही हो रही थी, उन्होने, कहना चाहिए कि, कुछ भी दिलचस्पी नही ली । १५ रोज पहले इनसे उनका उत्साह जरूर बढा होता, मगर अब शायद उन्होने महसूस किया कि अब वह उससे बहुत दूर निकल गये हैं । उन्होने गाधीजी से कहा—"महात्माजी ! मै जल्दी ही चला जानेवाला हूँ, स्वराज देखने के लिए जिन्दा नही रहूँगा । लेकिन मै जानता हूँ कि आपने स्वराज फतह कर लिया है और जल्दी ही उसे पा लेगे ।"

माँ को और मुझे हजारो सहानुभूति के सदेश मिले। लार्ड और लेडी अर्विन ने भी मा को एक सौजन्यपूर्ण सदेश भेजा। इस वहुत भारी सद्भावना और सहानुभूति ने हमारे दु ख और शोक की तीव्रता को कम कर दिया था। लेकिन सबसे ज्यादा और आश्चर्य-जनक शान्ति और तसल्ली तो मिली गाधीजी के वहा मौजूद रहने से, जिसने कि माँ को और हम सब लोगो को हमारे जीवन के उस विपतकाल का सामना करने का बल दिया।

मेरे लिए यह अनुभव करना मुश्किल था कि पिताजी अब नही है। तीन महीने बाद मै, अपनी पत्नी और लडकी सहित, लका गया था। हम लोग वहा नुवारा एलीया मे शान्ति और आराम से कुछ दिन गुजार रहे थे। वह जगह मुझे बहुत पसन्द आई और मुझे एकाएक खयाल हुआ कि पिताजी को यह जगह जरूर माफिक होगी। तो उन्हे यहा क्यो न बुला लूँ? वह बहुत थक गये होगे और यहाँ आराम से उनको जरूर फायदा होगा। मैने उन्हे इलाहाबाद तार देने की तैयारी करली थी।

लका से इलाहाबाद लौटते समय डाक से मुझे एक अजीब चिट्ठी मिली। लिफाफे पर पिताजी के हस्ताक्षर से पता लिखा हुआ था और उसपर न जाने कितने निशान और डाकखानो की मोहरे लगी हुई थी। मैने उसे खोला तो देखकर आश्चर्य हुआ कि वह सचमुच पिताजी का लिखा हुआ था, लेकिन तारीख उसपर पडी थी २८ फरवरी सन् १९२६ की। वह मुझे १९३१ की गर्मियो मे दिया गया था। इस तरह वह कोई साढे पाँच साल तक इधर-उधर सफर करता रहा। १९२६ मे मै जब कमला के साथ योरप रवाना हुआ तब पिताजी ने अहमदाबाद से वह खत लिखा था। इटालियन लॉयड स्टीमर के पते पर, जिससे कि मै यात्रा करनेवाला था, वह बम्बई भेजा गया था। यह साफ है कि वह उस वक्त मुझे नही मिला और बहुतेरे स्थानो मे भ्रमण करता रहा और शायद कितने ही डाकघरो मे हवा खाता रहा। अन्त को किसी मनचले आदमी ने उसे मुझे भेज दिया। कैसा अजीब सयोग है कि वह विदाई का पत्र था।

३४

दिल्ली का समझौता

जिस दिन और जिस वक्त मेरे पिताजी की मृत्यु हुई उसी दिन और प्राय उसी समय बम्बई मे गोलमेज-कान्फ्रेन्स के कुछ हिन्दुस्तानी मेम्बर जहाज से उतरे। श्री श्रीनिवास शास्त्री और सर तेजबहादुर सप्रू और शायद- दूसरे कुछ लोग, जिनका खयाल अब मुझे नही है, सीधे इलाहाबाद आये। गाधीजी तथा कार्य-समिति के कुछ और सदस्य वहाँ पहले ही मौजूद थे। हमारे मकान पर खानगी मीटिंगे हुई, जिनमे यह बताया गया कि गोलमेज़-कान्फ्रेन्स मे क्या-क्या हुआ ? मगर शुरू मे ही एक छोटी-सी घटना हुई। श्री श्रीनिवास शास्त्री ने खुद-बखुद अपने एडिनबरोवाले भाषण के सम्बन्ध मे खेद प्रकट किया। उन्होने यह भी कहा कि अपने आसपास के वातावरण का मुझपर हमेशा असर हो जाता है और मै अत्युक्ति और शब्दाडम्बर मे वह जाता हूँ।

इन प्रतिनिधियो ने हमे गोलमेज-कान्फ्रेन्स के सम्बन्ध मे ऐसी कोई मार्के की बात नही कही, जिसे हम पहले से नही जानते हो। हाँ, उन्होने यह अलबत्ते बताया कि वहाँ परदे के पीछे कैसी-कैसी साजिशे हुई, और फला 'लार्ड' या फला 'सर' ने खानगी मे क्या-क्या किया। हमारे हिन्दुस्तानी लिबरल दोस्त हमेशा सिद्धान्तो की और हिन्दुस्तान की परिस्थिति की वास्तविकताओ की बनिस्बत इस बात को ज्यादा महत्व देते हुए दिखाई देते है कि बड़े अफसरो ने खानगी बातचीत मे या गप-शप मे क्या-क्या कहा। लिबरल नेताओ के साथ हमारी जो कुछ बातचीत हुई, उसका कोई नतीजा न निकला। हमारी पिछली राय ही और मजबूत हो गई कि गोलमेज-कान्फ्रेन्स के निर्णयो की कुछ भी वकत नही है। किसीने सुझाया—मै उनका नाम भूल गया हूँ—कि गाँधीजी वाइसराय को मुलाकात के लिए लिखे और उनके साथ खुलकर बातचीत करले। वह इसपर रजामन्द हो गये। हालाकि मै नही समझता कि उन्होने फल-प्राप्ति की कोई आशा की हो। मगर अपने उसूल को सामने रखते हुए वह हमेशा मुखालिफो के साथ, कुछ कदम आगे जाकर भी, मिलने और बातचीत करने को तैयार रहते है। उन्हे चूँकि अपने पक्ष की सत्यता का पूरा विश्वास रहता है, इसलिए वह दूसरे पक्ष के लोगो को भी कायल करने की आशा रखते थे। मगर जो वह चाहते थे वह बौद्धिक विश्वास से शायद कुछ ज्यादा था। वह हमेशा मानसिक परिवर्त्तन की कोशिश करते है। राग-द्वेष के बन्धनो को तोडकर दूसरे की सदिच्छा और उच्च-भावनाओ तक

पहुँचने की कोशिश करते हैं। वह जानते थे कि यदि यह परिवर्तन हो गया तो विश्वास का आना आसान हो जायगा, या अगर विश्वास न भी आ सका तो विरोध ढीला हो जायगा और संघर्ष की तीव्रता कम हो जायगी। अपने व्यक्तिगत व्यवहारो मे अपने विरोधियो पर उन्होने इस तरह की बहुतेरी विजय प्राप्त की हैं, और यह ध्यान देने योग्य बात है कि वह महज अपने व्यक्तित्व के जोर पर किसी विरोधी को कैसे अपनी तरफ कर लेते हैं। कितने ही आलोचक और निन्दक उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उनके प्रशसक बन गये, और हालाकि वह नुक्ताचीनी करते रहते हैं, मगर उसमे कही उपहास या खिल्ली उडाने का नामोनिशान नही रहता।

चूँकि गाधीजी को अपने सामर्थ्य का पता है, वह हमेशा उन लोगो से मिलना पसन्द करते हैं जो उनसे मत-भेद रखते हैं। मगर किसी व्यक्तिगत या छोटे मामलो मे व्यक्तियो से व्यवहार करना एक बात है और ब्रिटिश-सरकार जैसी, जो विजयी साम्राज्यवाद की प्रतिनिधि है, अमूर्त वस्तु से व्यवहार करना बिलकुल दूसरी बात है। इस बात को जानते हुए, गाधीजी कोई बडी आशा लेकर लार्ड अर्विन से मिलने नही गये थे। सविनय भग-आन्दोलन अब भी चल रहा था। मगर वह ढीला पड गया था, क्योकि उधर सरकार से 'सुलह' करने की बातो का बडा जोर था।

बातचीत का इन्तजाम फौरन हो गया और गाधीजी दिल्ली रवाना हुए। हमसे कहते गये कि अगर वाइसराय से कामचलाऊ समझौते के बारे मे कोई बातचीत सजीदा तौर पर हुई तो मैं कार्य समिति के मेम्बरो को बुला लूँगा। कुछ ही दिनो बाद हमे दिल्ली का बुलावा आया। तीन हफ्ते तक वहाँ रहे। रोज मिलते और लम्बी-लम्बी बहस करते-करते थक जाते। गाधीजी कई बार लार्ड अर्विन से मिले। मगर कभी-कभी बीच मे तीन-चार रोज खाली भी जाते। शायद इसलिए कि भारत-सरकार लन्दन मे इण्डिया-आफिस से सलाह-मशवरा किया करती थी। कभी-कभी देखने मे जरा-जरा-सी बात या कुछ शब्दो के कारण ही गाडी रुक जाती। एक ऐसा लफ्ज था सविनय-भग को स्थगित कर देना। गाधीजी बराबर इस बात को स्पष्ट करते रहे कि सविनय-भग आखिरी तौर पर न तो बन्द ही किया जा सकता है न छोडा ही जा सकता है, क्योकि यही एक-मात्र हथियार हिन्दुस्तान के लोगो के हाथ मे है। हाँ, वह स्थगित किया जा सकता है। लार्ड अर्विन को इस बात पर आपत्ति थी। वह ऐसा शब्द चाहते थे, जिसका अर्थ निकलता हो सविनय-भग छोड दिया गया। लेकिन यह गाधीजी को मजूर नही होता था। आखिर 'रोक देना' शब्द इस्तैमाल किया गया। विदेशी कपडे और शराब की दूकानो पर धरना देने की बाबत भी लम्बी-चौडी बहस हुई। हमारा बहुतेरा समय समझौते की अस्थायी तजवीजो पर गौर करने मे

लगा और मूलभूत बातो पर कम ध्यान दिया गया। शायद यह सोचा गया कि जब यह कामचलाऊ समझौता हो जायगा और रोज-रोज की लडाई रोक दी जायगी तब अधिक अनुकूल वातावरण मे आधार-भूत बातो पर गौर किया जा सकेगा। हम उस बातचीत को एक आरजी सुलह तक ले जानेवाली मान रहे थे, जिसके बाद असली विषयों पर आगे और बातचीत की जायगी।

उन दिनो दिल्ली मे हर तरह के लोग खिच-खिचकर आते थे। बहुत-से विदेशी, खासकर अमेरिकन, अखबार-नवीस थे और वे हमारी खामोशी पर कुछ नाराज-से थे। वे कहते कि आपकी बनिस्बत तो हमे गांधी-अर्विन-बातचीत के बारे मे नई दिल्ली के सेक्रेटरिएट से ज्यादा खबरे मिल जाती है। और यह बात सही थी। इसके बाद बडे-बडे अल्काबधारी लोग थे जो गाधीजी के प्रति अपना सम्मान प्रदर्शित करने के लिए दौड आते थे। क्योकि अब तो महात्माजी का सितारा बुलद जो हो गया था। उन लोगो को जो अबतक गाधीजी से और काग्रेस से दूर रहे और जब-तब उनकी बुराई करते रहे, अब उसका प्रायश्चित्त करने के लिए आते देखना मजेदार लगता था। काग्रेस का बोलबोला होता हुआ दिखाई देता था, और कौन जाने आगे क्या-क्या होकर रहे, इसलिए बेहतर यही है कि काग्रेस और उसके नेताओ के साथ मेलजोल करके रहा जाय। एक साल के बाद ही उनमे दूसरे परिवर्तन की लहर आई दिखाई दी। वे काग्रेस के प्रति तथा उसके तमाम कार्यो के प्रति जोरो के साथ अपनी घृणा प्रदर्शित करते और कहते थे कि हमसे-इनसे कोई वास्ता नही है।

फिरकापरस्त लोग भी इन घटनाओ से जगे और उन्हे यह आशका पैदा हुई कि कही ऐसा न हो कि आनेवाली व्यवस्था मे उनके लिए कोई ऊँचा स्थान न रह जाय, और इसलिए कई लोग गाधीजी के पास आये और उनको यकीन दिलाया कि कौमी मसले पर हम समझौता करने को बिलकुल रजामन्द है। अगर आप शुरुआत भी कर दे तो समझौते मे कोई दिक्कत पेश न आयगी।

ऊँची और नीची सभी श्रेणियो के लोगो का सतत प्रवाह डा० अन्सारी के बगले की ओर हो रहा था, जहाँकि गाँधीजी और हममे से बहुतेरे लोग ठहरे थे, और फुरसत के वक्त हम उन्हे दिलचस्पी से देखते और फायदा भी उठाते थे। कुछ सालो से हम खास करके कस्बो मे और देहात मे रहनेवाले गरीबो के और उन लोगो के जो जेलो मे ठूँस दिये गये थे, सपर्क मे आते रहते थे, लेकिन धनी-मानी और खुशहाल लोग जो गाधीजी से मिलने आते थे, मानव-प्रकृति का दूसरा पहलू सामने रखते थे। वह पहलू जो घटनाओ और स्थितियो के साथ अपना मेल मिलाना जानता है। क्योकि जहा कही उन्हे सत्ता और सफलता दिखाई दी वे उसी तरफ झुक गये और अपनी मधुर

मुस्कान से उसका स्वागत करने लगे। उनमे कितने ही हिन्दुस्तान मे ब्रिटिश-सरकार के मजबूत स्तम्भ थे। यह जानकर तसल्ली होती थी कि वे भारत मे जो भी अन्य कोई सरकार कायम होगी उसके भी उतने ही सुदृढ स्तम्भ बन जायँगे।

उन दिनो अक्सर मै सुबह गाधीजी के साथ नई दिल्ली मे घूमने जाया करता था। यही एक ऐसा वक्त था कि मामूली तौर पर कोई आदमी उनसे बात करने का मौका पा सकता था, क्योकि उनका शेष सारा समय बटा हुआ था। एक-एक मिनट किसी काम या किसी व्यक्ति के लिए नियत था। यहाँतक कि सुबह के घूमने का वक्त भी किसीको बात-चीत के लिए, मामूली तौर पर किसी विदेश से आये हुए या किसी मित्र को, दे दिया जाता था जो उनसे व्यक्तिगत सलाह-मशवरे के लिए आते थे। हमने बहुत-से विषयो पर बात-चीत की। गुजिश्ता जमाने पर भी और मौजूदा हालत पर भी, और खासकर भविष्य पर भी। मुझे याद है कि उन्होने मुझे किस तरह काग्रेस के भविष्य के बारे मे अपने एक विचार से आश्चर्य मे डाल दिया। मैने तो खयाल कर रक्खा था कि आजादी मिल जाने पर काँग्रेस की हस्ती अपने-आप मिट जायगी। लेकिन उनका विचार था कि काँग्रेस बदस्तूर रहेगी—सिर्फ एक शर्त होगी, कि वह अपने लिए एक आर्डिनेन्स पास करेगी, जिसके मुताबिक उसका कोई भी मेम्बर राज्य मे वैतनिक काम न कर सकेगा और अगर राज्य मे हुकूमत का पद ग्रहण करना चाहे तो उसे काग्रेस छोड देनी होगी। मुझे इस समय यह तो याद नही है कि उन्होने अपने दिमाग मे उसका कैसा ढाँचा बिठाया था, मगर उसका तात्पर्य यह था कि काग्रेस इस प्रकार अपनी अनासक्ति और नि स्वार्थ भाव के कारण सरकार के प्रबध तथा दूसरे विभागो पर जबर्दस्त नैतिक दबाव डाल सकेगी और उन्हे ठीक रास्ते पर कायम रख सकेगी।

यह एक अनोखी कल्पना है, जिसे समझ लेना मुश्किल है और जिसमे बेशुमार दिक्कतें पेश आती हैं। मुझे यह दिखाई पडता है कि यदि ऐसी किसी सभा की कल्पना की भी जाय तो किसी स्थापित स्वार्थ के द्वारा उसका दुरुपयोग किया जायगा। मगर उसकी व्यावहारिकता को एक तरफ रख दे, तो इससे गाधीजी के विचारो का कुछ आधार समझने मे जरूर मदद मिलती है। यह आधुनिक दल-व्यवस्था की कल्पना के बिलकुल विपरीत है, क्योकि आधुनिक व्यवस्था तो किसी पूर्व-निश्चित कल्पना के मुताबिक राजनैतिक और आर्थिक ढाँचे को बनाने के लिए राज्यसत्ता पर कब्जा करने के खयाल पर बनी हुई है। यह उस दल-व्यवस्था के भी विरुद्ध है, जोकि आज-कल अक्सर पाई जाती है और जिसका कार्य श्री आर० एच० टानी के शब्दो मे "ज्यादा-से-ज्यादा गधो को ज्यादा-से-ज्यादा गाजरे खिलाना" है।

गाधीजी के लोक-तन्त्र का खयाल निश्चित रूप से आध्यात्मिक है। मामूली अर्थ मे उसका तादाद से या बहुमत से या प्रतिनिधित्व से कोई वास्ता नही। उसकी बुनियाद है सेवा और त्याग और वह नैतिक दबाव से ही काम लेती है। हाल ही प्रकाशित अपने एक वक्तव्य मे (१७ सितबर १९३४) लोकतत्र की उन्होने व्याख्या दी है। वह अपनेको 'पैदायशी लोकतन्त्र-वादी' मानते है और कहते है कि अगर 'मनुष्यजाति के निहायत गरीब-से-गरीब के साथ अपने-आपको बिलकुल मिला देने से, उनसे बेहतर हालत मे अपनेको न रखने की उत्कठा से और उनके समतल तक पहुँचने के जागृत प्रयत्न से किसीको इस दावे का अधिकार मिल सकता है, तो मै अपने लिए यह दावा करता हूँ।' आगे चलकर वह लोकतत्र की विवेचना इस प्रकार करते है.—

"हमे यह बात जान लेनी चाहिए कि काँग्रेस के अपने लोकतत्री-स्वरूप और प्रभाव की इज्जत उसके वार्षिक अधिवेशन मे खिच आनेवाले प्रतिनिधियो या दर्शको की तादाद के कारण नही, बल्कि उसकी की हुई सेवा के कारण है, जिसकी मात्रा रोज-ब-रोज बढती जा रही है। पश्चिमी लोकतन्त्र अगर अबतक विफल नही हुआ है तो कम-से-कम वह आजमाइश पर जरूर है। ईश्वर करे कि हिंदुस्तान मे प्रत्यक्ष सफलता के प्रदर्शन के द्वारा लोकतत्र के सच्चे विज्ञान का विकास हो।

"नीति-भ्रष्टता और दम्भ लोकतत्र के अनिवार्य फल न होने चाहिएँ जैसे कि वे नि सदेह हाल मे हो रहे है, और न बडी सख्या लोकतत्र की सच्ची कसौटी है। यदि थोडे-से व्यक्ति जिनके प्रतिनिधि बनने का दावा करते है उनकी स्पिरिट, आशा और हौसले का प्रतिनिधित्व करते है, तो वह लोकतत्र के सच्चे भाव से असगत नही है। मेरा यह मत है कि लोकतत्र का विकास बल-प्रयोग करके नही किया जा सकता है। लोक-तत्र की भावना बाहर से नही लादी जा सकती, वह तो अदर से ही लाई जा सकती है।"

यह निश्चय ही पश्चिमी लोकतत्र नही है, जैसा कि वह खुद कहते है। बल्कि कौतूहल की बात तो यह है कि वह कम्यूनिस्टो के लोकतत्र की धारणा से मिलता-जुलता है, क्योकि उसमे भी आध्यात्मिकता की झलक है। थोडे-से कम्यूनिस्ट जनता की असली आकाक्षाओ और आवश्यकताओ के प्रतितिधित्व का दावा कर सकते है, चाहे जनता को इसका पता न भी हो। जनता उनके लिए एक आध्यात्मिक वस्तु हो जायगी और वे इसका प्रतिनिधित्व करने का दावा करते है। फिर भी वह समानता थोड़ी ही है और हमको बहुत दूर तक नही ले जाती है। जीवन को देखने और उस तक पहुँचने के साधनो मे बहुत ज्यादा मतभेद है—मुख्यत उसे प्राप्त करने के साधन और बल के सम्बन्ध मे।

गाधीजी चाहे लोकतत्री हो या न हो, वह भारत की किसान-जनता के प्रतिनिधि

अवश्य हैं। वह उन करोडो की जाग्रत और सुप्त इच्छा-शक्ति के सार-रूप हैं। यह शायद उनका प्रतिनिधित्व करने से कही ज्यादा है, क्योकि वह करोडो के आदर्शो की सजीव मूर्त्ति हैं। हाँ, वह एक औसत किसान नही है। वह एक अत्यन्त कुशाग्र-बुद्धि, उच्च भावना और सुरुचि तथा व्यापक दृष्टि रखनेवाले पुरुष हैं—बहुत सहृदय, फिर भी आवश्यक रूप से एक तपस्वी जिन्होने अपने विकारो और भावनाओ का दमन करके उन्हे दिव्यत्व प्रदान किया है और आध्यात्मिक मार्गो मे प्रेरित किया हैं। उनका एक जबर्दस्त व्यक्तित्व है जो चुम्बक की तरह हरेक को अपनी ओर खीच लेता है और अपने प्रति भयकर वफादारी और ममता को दूसरो के हृदय मे उमडाता है। यह सब एक किसान से कितना भिन्न और कितना परे है ? और इतना होने पर भी वह एक महान् किसान है जो बातो को एक किसान दृष्टि-बिंदु से देखते हैं और जीवन के कुछ पहलुओ के बारे मे एक किसान की ही तरह अन्धे है। लेकिन भारत किसान-भारत है, और वह अपने भारत को अच्छी तरह जानते है और उसके हलके-से-हलके कम्पनो का भी उनपर तुरत असर होता है। वह स्थिति को ठीक-ठीक और प्राय सहज-स्फूर्ति से जान लेते है और ऐन मौके पर काम करने की अद्भुत सूझ रखते है।

ब्रिटिश सरकार ही के लिए नही, बल्कि खुद अपने लोगो और नजदीकी साथियो के लिए भी वह एक पहेली और एक समस्या बने हुए है। शायद दूसरे किसी भी देश मे आज उनका कोई स्थान न होता। मगर हिन्दुस्तान, आज भी ऐसा मालूम होता है, पैगम्बरो जैसे धार्मिक पुरुषों को, जो पाप और मुक्ति और अहिंसा की बाते करते हैं, समझ लेता है या कम-से-कम उनकी कदर करता है। भारत का धार्मिक साहित्य बडे-बडे तपस्वियो की कथाओ से भरा पडा है, जिन्होने घोर त्याग और तप के द्वारा बहुत पुण्य का सचय करके छोटे-छोटे देवताओ के प्राधान्य को हिला दिया तथा प्रचलित व्यवस्था को उलट-पलट दिया। जब कभी मैने गाधीजी की अक्षय आध्यात्मिक भण्डार से बहनेवाली विलक्षण कार्य-शक्ति और आन्तरिक बल को देखा है, तो मुझे अक्सर ये कथाये याद आ जाया करती हैं। वह स्पष्टत दुनिया के मामूली नमूने के नही हैं। वह तो बिरले और और ही तरह के साचे मे ढाले गये है और उनकी आँखो से मानो एक अज्ञात हमारी तरफ घूरता रहता है।

हिन्दुस्तान पर, कस्बो के हिन्दुस्तान पर ही नही, नये औद्योगिक हिन्दुस्तान पर भी, किसानपन की छाप लगी हुई है और उसके लिए यह स्वाभाविक था कि वह अपने इस पुत्र को अपने ही लायक और फिर भी अपनेसे इतना भिन्न एक देव-मूर्त्ति और एक प्रिय नेता बनावे। उन्होने पुरानी और धुंधली स्मृतियो को फिर ताजा किया और

उसको खुद अपनी ही आत्मा की झलके दिखलाई । वर्तमान काल की घोर मुसीबतो से कुचली जाने के कारण उसे भूतकाल के असहाय गीत गाने और भविष्य के गोल-मोल स्वप्न देखने मे तसल्ली मालूम होती थी । मगर वह आया और उसने हमारे दिलो को आशा और हमारे जीर्ण-शीर्ण शरीर को बल दिया और भविष्य हमारे लिए एक मनो-मोहक बन गया । इटालियनो के दोमुहे देवता जेनस की तरह भारत पीछे भूतकाल की तरफ और आगे भविष्यकाल की तरफ देखने लगा और दोनो के समन्वय की कोशिश करने लगा ।

हममे से कितने ही इस किसान दृष्टिकोण से कटकर अलग हो गये थे और पुराने आचार-विचार और धर्म हमारे लिए विदेशी-से बन गये थे । हम अपनेको नई रोशनी का कहते थे और प्रगति, उद्योगीकरण, ऊँचे रहन सहन और समष्टीकरण की भाषा में सोचते थे । किसान के दृष्टिविन्दु को हम प्रतिगामी समझते थे और कुछ लोग, जिनकी संख्या बढ रही है, समाजवाद और कम्यूनिज्म को अनुकूल दृष्टि से देखते थे । ऐसी दशा में यह प्रश्न है कि हमने कैसे गाधीजी की राजनीति मे उनका साथ दिया और किस तरह बहुतसी बातो मे उनके भक्त और अनुयायी बन गये ? इस सवाल का जवाब देना मुश्किल है और जो गाधीजी को नही जानता है उसे उस जवाब से तसल्ली न हो सकेगी । बात यह है कि व्यक्तित्व एक ऐसी चीज है जिसकी व्याख्या नही हो सकती । वह एक अजीब बल है जिसका मनुष्य के अन्त करण पर अधिकार हो जाता है और गाधीजी के पास यह शक्ति बहुत बड़ी तादाद में है और जो लोग उनके पास आते है उन्हे वह अक्सर मुख्तलिफ रूप मे दिखाई पड़ते है । यह ठीक है कि वह लोगो को आकर्षित करते है, मगर लोग जो उनतक गये है और जाकर ठहर गये है सो तो अखीर मे अपने बौद्धिक विश्वास के कारण ही । यह ठीक है कि वे उनके जीवन-सिद्धान्त से या उनके कितने ही आदर्शो से भी सहमत न थे, कई बार तो वे उन्हे समझते भी न थे, मगर जिस कार्य को करने का उन्होने आयोजन किया वह एक मूर्त्त और प्रत्यक्ष वस्तु थी, जिसको बुद्धि समझ सकती थी और उसकी कदर कर सकती थी। हमारी निष्क्रियता और अकर्मण्यता की लबी परम्परा के बाद, जोकि हमारी मुर्दा राज-नीति मे पोषित चली आ रही थी, किसी भी कार्य का स्वागत ही हो सकता था । फिर एक बहादुराना और कारगर कार्य का तो, जिसके कि आसपास नैतिकता का तेजोवलय भी जगमगा रहा हो, पूछना ही क्या ! बुद्धि और भावना दोनो पर उसका असर हुए बिना नही रह सकता था । फिर धीरे-धीरे उन्होने अपने कार्य के सही होने का भी कायल हमे कर दिया और हम उनके साथ हो लिये, हालाँकि हमने उनके जीवन-तत्त्व को स्वीकार नही किया । कार्य को उसके मूलभूत विचार से अलग रखना कदाचित्

उचित विधि नही है और उससे आगे चलकर तकलीफ और मानसिक संघर्ष हुए बिना नही रह सकता । हमने मोटे तौर पर यह उम्मीद की थी कि गाधीजी चूंकि एक कर्मयोगी है और बदलनेवाली हालतो का उनपर बहुत जल्दी असर होता है, इसलिए उस रास्ते पर आगे बढेगे जोकि हमे सही दिखाई देता था और हर हालत मे वह रास्ता जिसपर वह चल रहे थे अबतक तो सही ही था और अगर आगे चलकर हमे जुदे-जुदे रास्ते चलना पडे तो उसका पहले से खयाल बनाना बेवकूफी होगी ।

इस सबसे यह जाहिर होता है कि न तो हमारे विचार सुलझे हुए थे और न निश्चित । हमेशा हमारे दिल मे यह भावना रही कि हमारा मार्ग चाहे अधिक तर्क-शुद्ध हो मगर गाधीजी हिन्दुस्तान को हमसे कही ज्यादा अच्छी तरह जानते है और जो शख्स इतनी जबरदस्त श्रद्धा भक्ति का अधिकारी बन जाता है उसके अन्दर कोई ऐसी बात अवश्य होनी चाहिए जो जनता की आवश्यकताओ और उच्च आकाक्षाओ के माफिक हो । हमने सोचा कि यदि हम उनको अपने विचारो का कायल कर सके तो हम जनता को भी अपने मत का बना सकेगे, और हमें यह सभवनीय दिखाई पडता था कि हम उनको कायल कर सकेगे । क्योकि उनके किसान दृष्टिकोण के रहते हुए भी वह एक पैदायशी बागी है, एक क्रान्तिकारी है, जो भारी-भारी परिवर्तनो के लिए कमर कसे रहते है और जिसे परिणाम की आशकाये रोक नही सकती ।

किस तरह उन्होने इन सुस्त और पस्तहिम्मत लोगो को एक अनुशासन मे बाँधकर काम मे जोत दिया—बल-प्रयोग करके या दुनयवी लालच देकर नही बल्कि महज़ मीठी निगाह, कोमल शब्द और इनसे भी बढकर खुद अपने उदाहरण के द्वारा ! सत्याग्रह की शुरुआत के दिनो मे, ठेठ १९१९ मे, मुझे याद है कि बम्बई के उमर सोभानी उन्हे 'प्यारा स्लेव ड्राइवर' कहा करते थे । अब इस एक युग मे तो हालत और भी बदल गई है । उमर उन परिवर्तनो को देखने के लिए मौजूद नही है । मगर हम जो ज्यादा खुशकिस्मत रहे, १९३१ के शुरू महीनो से पीछे के जमानो को देखते है तो दिल उमग और अभिमान से भर जाता है । १९३१ का साल सचमुच हमारे लिए एक आश्चर्य का साल था और ऐसा मालूम होता था कि गाधीजी ने अपनी जादू की लकडी से हमारे देश का नकशा ही बदल दिया है । कोई ऐसा मूर्ख तो नही था जो यह समझता हो कि हमने ब्रिटिश सरकार पर आखिरी विजय पा ली है । हमें जो अभिमान होता था उसका सरकार से कोई ताल्लुक नही है । हमें तो अपने लोगो, अपनी बहनो, अपने नौजवानो और बच्चो पर, इस आन्दोलन मे जिस तरह उन्होने योग दिया उसपर, फख्र था । वह एक आध्यात्मिक लाभ था जोकि किसी भी समय और किन्ही भी लोगो के लिए कीमती था । मगर हमारे लिए तो जोकि गुलाम और दलित

हैं, दुहेरा उपकारी था, और हमें इस बात की चिन्ता थी कि कोई ऐसी बात न हो जाय कि जिससे यह लाभ हमसे छिन जाय।

खास मुझपर तो गाँधीजी ने असाधारण कृपा और उदारता दिखाई है और मेरे पिताजी की मृत्यु ने तो उन्हे खास तौर पर मेरे नजदीक ला दिया है। मुझे जो कुछ कहना होता था उसको वह बहुत ही धीरज के साथ सुनते थे और मेरी इच्छाओ को पूरा करने के लिए उन्होंने हर तरह की कोशिश की है। इससे अवश्य ही मैं यह सोचने लगा था कि यदि मैं और कुछ दूसरे साथी उनपर लगातार अपना असर डालते रहे तो सम्भव है उन्हे समाजवाद की ओर प्रेरित कर सकेंगे, और उन्होने खुद भी यह कहा था कि जैसे-जैसे मुझे रास्ता दिखाई देगा मैं एक-एक कदम बढता जाऊँगा। उस वक्त मुझे यह लाजिमी-सा दिखाई देता था कि वह समाजवाद के मूल सिद्धान्त या स्थिति को स्वीकार कर लेगे, क्योकि मुझे तो मौजूदा समाज-व्यवस्था से हिंसा, बेइन्साफी, खराबी और नाश से बचने का दूसरा कोई रास्ता दिखाई नही देता था। मुमकिन है कि साधनो से उनका मतभेद हो, मगर आदर्श से नही। उस वक़्त मैंने यही खयाल किया था। मगर अब मैं महसूस करता हूँ कि गाँधीजी के आदर्शो मे और समाजवाद के ध्येय मे मूल भेद है।

अब हम फिर फ़रवरी १९३१ की दिल्ली में चले। गाँधी-अर्विन-बातचीत होती रहती थी। वह एकाएक रुक गई। कई दिनो तक वाइसराय ने गाँधीजी को नही बुलाया और हमें ऐसा लगा कि बात-चीत टूट गई। कार्य-समिति के सदस्य दिल्ली से अपने-अपने सूबों में जाने की तैयारी कर रहे थे। जाने से पहले हम लोगो ने आपस में भावी कार्य की रूप-रेखाओ और सविनय भग पर (जोकि अभी उसूलन जारी था) विचार-विनियम किया। हमें यकीन था कि ज्योही बातचीत के टूटने की बात पक्के तौर पर जाहिर हो जायगी त्योही हमारे सबके लिए मिलकर बातचीत करने का मौका नही रह जायगा।

हम गिरफ्तारियो की अपेक्षा रखते थे। हमसे कहा गया था और यह सम्भव भी दीखता था कि अबके सरकार कांग्रेस पर ज़ोर का धावा बोलेगी। वह अबतक के दमन से बहुत भयंकर होगा। सो हम आपस में आखिरी तौर पर मिल लिये और हमने आन्दोलन को भविष्य मे चलाने के विषय में कई प्रस्ताव किये। एक प्रस्ताव खास तौर पर मार्के का था। अबतक रिवाज यह था कि कार्यवाहक सभापति अपने गिरफ्तार होने पर अपना वारिस मुकर्रर करदे और कार्य-समिति में जो स्थान खाली हो उनके लिए भी मेम्बरो को नामजद करदे। स्थानापन्न कार्य-समितियो की शायद ही कभी बैठकें होती थी और उन्हे किसी भी विषय में नई बात करने की बहुत कम सत्ता थी। वे सिर्फ़ जेल जाने भर को थी। और इसमें एक जोखम हमेशा ही लगी रहती

थी। वह यह कि लगातार स्थानापन्न बनाने की कारंवाई से सम्भव था कि कांग्रेस की स्थिति थोडी विषम हो जाय। इसमे स्पष्ट खतरे भी थे। इसलिए दिल्ली मे कार्य-समिति ने यह तय किया कि अब आगे से कार्यवाहक सभापति और स्थानापन्न सदस्य नामजद न किये जाने चाहिएँ। जबतक मूल कमिटी के कुछ मेम्बर जेल के बाहर रहेगे तबतक वही पूरी कमिटी की हैसियत मे काम करेगे। जब सब मेम्बर जेल चले जायँगे तब कोई कमिटी नही रहेगी, और हमने ज़रा बढ-चढकर कहा कि कार्य-समिति की सत्ता उस अवस्था मे देश के प्रत्येक स्त्री-पुरुष के पास चली जायगी। और हम उनको आवाहन करते है कि वे बिना किसी समझौते की भावना के लडाई को जारी रक्खें।

यह प्रस्ताव क्या था, सग्राम को जारी रखने का वीरोचित मार्ग इसमे दिखाया गया था और इसमे समझौते के लिए कोई गली-कूचा नही रक्खा गया था। इसके द्वारा यह बात भी मजूर की गई थी कि प्रधान कार्यालय के लिए दिन-पर दिन यह मुश्किल होता जाता था कि वह देश के हर हिस्से से अपना सम्पर्क रक्खे और नियमित रूप से हिदायते भेजे। यह लाजिमी था। क्योकि हमारे बहुतेरे कार्यकर्त्ता मशहूर स्त्री-पुरुष थे और वे खुल्लमखुल्ला काम करते थे। वे कभी भी गिरफ्तार हो सकते थे। १९३० मे छिपे तौर पर हिदायते भेजने, रिपोर्टे मँगवाने और देखभाल करने के लिए कुछ आदमी भेजे जाते थे। व्यवस्था चली तो अच्छी और उसने यह दिखा दिया कि हम गुप्त खबरे देने के काम को बडी सफलता के साथ कर सकते है। लेकिन कुछ हद तक यह हमारे खुले आन्दोलन के साथ मेल नही खाती थी और गाँधीजी इसके खिलाफ थे। तो अब प्रधान कार्यालय से हिदायते मिलने के आभाव मे हमे काम की जिम्मेदारी मुकामी लोगो पर ही छोडनी पडी थी। क्योकि नही तो वे ऊपर से हिदायते आने की राह देखते बैठते और कुछ काम नही करते। हाँ, जब-जब मुमकिन होता हिदायते भी भेजी जाती थी।

इस तरह हमने यह तथा दूसरे प्रस्ताव पास किये (इनमे से कोई न तो प्रकाशित किया गया और न उनपर अमल ही किया गया। क्योकि बाद को हालात बदल गये थे।) और जाने के लिए बिस्तर बाँध लिये। ठीक इसी वक्त लार्ड अर्विन की तरफ से बुलावा आया और बातचीत फिर शुरू हो गई। ४ मार्च की रात को हम आधी रात तक गाँधीजी के वाइसराय-भवन से लौटने का इन्तजार कर रहे थे। वह रात को कोई २ बजे आये, और हमे जगाकर कहा कि राजीनामा हो गया है। हमने मसविदा देखा। बहुतेरी कलमो को तो मै जानता था, क्योकि अक्सर उनपर चर्चा होती रहती थी। लेकिन कलम न० २ [1] जोकि ऊपर-ही-ऊपर थी और जो सरक्षण

[1] दिल्ली-समझौते की कलम न० २ (५ मार्च, १९३१) यह है:—"विधान-सम्बन्धी प्रश्न

आदि के बारे में थी, उसे देखकर मुझे जबरदस्त धक्का लगा। मैं उसके लिए क़तई तैयार न था। मगर मैं उस वक्त कुछ न बोला और हम सब सो गये।

अब कुछ कहने की गुंजाइश भी कहाँ रह गई थी? बात तो हो चुकी थी। हमारे नेता अपना वचन दे चुके थे और अगर हम राजी न भी हों तो कर क्या सकते थे? क्या उनका विरोध करे? क्या उनसे अलहदा हो जायँ? अपने मतभेद की घोषणा करदें? हो सकता है कि इससे किसी व्यक्ति को अपने लिए सन्तोष हो जाय। परन्तु अन्तिम फैसले पर उसका क्या असर पड़ सकता था? कम-से-कम अभी कुछ समय के लिए तो सविनयभंग-आन्दोलन खतम हो चुका था। अब जबकि सरकार यह घोषित कर सकती थी कि गांधीजी समझौता कर चुके है, तो कार्य-समिति तक उसे आगे नही बढ़ा सकती थी।

मैं इस बात के लिए तो बिलकुल रजामंद था, जैसे कि मेरे दूसरे साथी भी थे. कि सविनय भंग स्थगित कर दिया जाय और सरकार के साथ अस्थायी समझौता कर लिया जाय। हममें से किसीके लिए यह आसान बात न थी कि अपने साथियों को वापस जेल भेज दे या जो कई हजार लोग पहले से जेलों मे पड़े हुए है उनको वहीं पड़ा रहने देने के साधन बनें। जेलखाना ऐसी जगह नही है जहाँ हम अपने दिन और रात गुजारा करे, हालांकि हम बहुतेरे अपनेको उसके लिए तैयार करते है और उसके कुचल डालनेवाले दैनिक क्रम के बारे में बड़े हलके दिल से बातें करते है। इसके अलावा तीन हफ्ते से ज्यादा दिन गांधीजी और लार्ड अर्विन के बीच जो बातें चलीं उनसे लोगों के दिलों मे ये आशायें बँध गईं कि समझौता होनेवाला है और अब अगर उसके आखिरी तौर पर टूट जाने की खबर मिली तो उससे उनको निराशा होगी। यह सोचकर कार्य-समिति के हम सब मेम्बर अस्थायी समझौते के (क्योंकि इससे अधिक वह हो भी नहीं सकता था) हक़ मे थे, बशर्ते कि उसके द्वारा हमें अपनी कोई अत्यन्त महत्व की बात न छोड़नी पड़ती हो।

जहाँतक मुझसे ताल्लुक है, जिन दूसरी मदो पर काफी बहस-मुबाहिसा हुआ उनसे मुझे इतनी ज्यादा दिलचस्पी नही थी; मुझे सबसे ज्यादा खयाल दो बातो का था।

पर, सम्राट्-सरकार की अनुमति से, यह तय हुआ है कि हिन्दुस्तान के वैध-शासन की उसी योजना पर आगे विचार किया जायगा जिसपर गोलमेज-कान्फ्रेन्स में पहले विचार हो चुका है। वहाँ जो योजना बनी थी, संघ-शासन उसका एक अनिवार्य अंग है. इसी प्रकार भारतीय-उत्तरदायित्व और भारत के हित की दृष्टि से रक्षा (सेना), वैदेशिक मामले, अल्प-संख्यक जातियों की स्थिति, भारत की आर्थिक साख और जिम्मेदारियों की अदायगी जैसे विषयों के प्रतिबन्ध या संरक्षण भी उसके आवश्यक भाग हैं।"

एक तो यह कि हमारा स्वतत्रता का ध्येय किसी भी कदर नीचा न किया जाय, और दूसरा यह कि समझौते का युक्तप्रान्त के किसानो की स्थिति पर क्या असर होगा ? हमारा लगानबन्दी-आन्दोलन अबतक बहुत कामयाब रहा था, और कुछ इलाको मे तो मुश्किल से लगान वसूल होने पाया था । किसानो ने खूब मजबूती दिखाई थी, और ससार की कृषि-सम्बन्धी अवस्थाये और चीजो के भाव बहुत खराब थे, जिससे उनके लिए लगान अदा करना और मुश्किल हो गया था । हमारा करबन्दी-आन्दोलन राजनैतिक और आर्थिक दोनो तरह का था । अगर सरकार के साथ कोई आरजी समझौता हो जाता है तो सविनय-भग वापस ले लिया जायगा और उसका राजनैतिक आधार निकल जायगा । लेकिन उसके आर्थिक पहलू के, भावो की इतनी गिरावट के और किसानो की मुकर्ररा किस्त के मुकाबिले मे कुछ भी देने की असमर्थता के विषय मे क्या होगा ? गाधीजी ने लार्ड अर्विन से यह मुद्दा बिलकुल साफ कर लिया था । उन्होने कहा था कि यद्यपि करबन्दी-आन्दोलन बन्द कर दिया जायगा, तो भी हम किसानो को यह सलाह नही दे सकते कि वे अपनी ताकत या हैसियत से ज्यादा दे । चूँकि यह प्रान्तीय मामला था, भारत-सरकार के साथ इसकी ज्यादा चर्चा नही हो सकी थी । हमे यह यकीन दिलाया गया था कि प्रान्तीय-सरकार इस विषय मे खुशी के साथ हमसे बातचीत करेगी और अपने बस-भर किसानो की तकलीफ दूर करने की कोशिश करेगी । यह एक गोल-मोल आश्वासन था । लेकिन उन हालात मे इससे ज्यादा पक्की बात होना मुश्किल था । इस तरह यह मामला उस वक्त के लिए तो खत्म ही कर दिया गया था ।

अब हमारी स्वाधीनता का अर्थात् हमारे मकसद का महत्वपूर्ण प्रश्न बाकी रहा और समझौते की कलम नम्बर २ से मुझे यह मालूम पडा कि यह भी खतरे मे जा पड़ा है । क्या इसीलिए हमारे लोगो ने एक साल तक अपनी बहादुरी दिखाई ? क्या हमारी बडी-बडी जोरदार बातो और कामो का खात्मा इसी तरह होना था ? क्या कॉंग्रेस का स्वाधीनता-प्रस्ताव और २६ जनवरी की प्रतिज्ञा इसीलिए की गई थी ? इस तरह के विचारो मे डूबा हुआ मै मार्च की उस रातभर पडा रहा और अपने दिल मे ऐसा खालीपन महसूस करने लगा कि मानो उसमे से कोई कीमती चीज सदा के लिए निकल गई हो ।

तरीका यह दुनिया का देखा सही—
गरजते बहुत वे बरसते नही । [१]

१. मूल अंग्रेजी पद्य इस प्रकार है:—

"This is the way the world ends,
Not with a bang, but a whimper."

३५

कराची-कॉंग्रेस

गांधीजी ने किसीसे मेरी मानसिक व्यथा का हाल सुना और दूसरे दिन सुबह घूमने के वक्त अपने साथ चलने के लिए मुझे कहा। बडी देर तक हमने बात-चीत की, जिसमे उन्होने मुझे यह विश्वास दिलाने की कोशिश की कि न तो कोई अत्यन्त महत्व की बात खो दी गई है और न सिद्धान्त ही छोडा गया है। उन्होने कलम नम्बर २ का एक खास अर्थ लगाया, जिससे वह हमारी स्वतत्रता की माँग से मेल खा सके। उनका आधार था खासकर ये शब्द—"भारत के हित में"। यह अर्थ मुझे खीचातानी का मालूम हुआ। मै उसका कायल तो न हुआ, लेकिन उनकी बात-चीत से मुझे कुछ तसल्ली जरूर हुई। तो भी मैने उनसे कहा कि समझौते के गुण-दोष को एक तरफ रख दें, एकाएक कुछ कर डालने के आपके तरीके से मै डर गया था। आपमें कुछ ऐसी अज्ञात वस्तु है जिसे चौदह साल[1] के निकट-सम्पर्क के बाद भी मै कतई नही समझ सका हूँ और इसने मेरे मन मे भय पैदा कर दिया है। उन्होने अपने अन्दर ऐसे अज्ञात तत्त्व का होना तो स्वीकार किया, मगर कहा कि मै खुद भी इसका जवाब नही दे सकता, न यही पहले से बता सकता हूँ कि यह हमे किस ओर ले जायगा।

एक-दो दिन तक मैं बड़ी दुविधा मे पड़ा रहा। समझ न सका कि क्या करूँ? अब समझौते के विरोध का या उसे रोकने का तो कोई सवाल ही नही था। वह वक्त गुजर चुका था और मैं जो-कुछ कर सकता था वह यह कि अमलन उसे मजूर करते हुए उसूलन अपनेको उससे अलग रक्खूँ। इससे मेरे अभिमान को कुछ सान्त्वना मिल जाती; लेकिन हमारे बडे प्रश्न पर इसका क्या असर पड सकता था? तब क्या यह अच्छा न होगा कि मैं उसे खूबसूरती के साथ मजूर कर लूँ और उसका अधिक-से-अधिक अनुकूल अर्थ लगाऊँ, जैसा कि गाधीजी ने किया? समझौते के बाद ही फौरन् अखबारवालो से बात-चीत करते हुए गाधीजी ने उसी अर्थ पर ज़ोर दिया था और कहा कि हम स्वतत्रता के प्रश्न पर पूरे-पूरे अटल है। वह लॉर्ड अर्विन के पास गये और इस बात को बिलकुल स्पष्ट कर दिया जिससे कि उस समय या आगे कोई गलतफहमी न होने पावे। उन्होंने उनसे कहा कि यदि कॉंग्रेस गोलमेज-कान्फ्रेंस मे अपना प्रतिनिधि भेजे, तो उसका आधार एकमात्र स्वतत्रता ही हो सकता है और उसे बढ़ाने के लिए ही वहाँ जाया जा सकता है। अवश्य ही लॉर्ड अर्विन इस दावे को

मान तो नही सकते थे, लेकिन उन्होने यह मजूर किया कि हां, कांग्रेस को उसे पेश करने का हक है।

इसलिए मैंने समझौते को मान लेना और तहेदिल से उसके लिए काम करना तय किया। यह बात नही कि ऐसा करते हुए मुझे वहुत मानसिक और शारीरिक क्लेश न हुआ हो। मगर मुझे बीच का कोई मार्ग नही दिखाई देता था।

समझौते के पहले तथा वाद मे लॉर्ड अर्विन के साथ वातचीत के दर्म्यान गाधीजी ने सत्याग्रही कैदियो के अलावा दूसरे राजनैतिक कैदियो की रिहाई की भी पैरवी की थी। सत्याग्रही कैदी तो समझौते के फल-स्वरूप अपने-आप रिहा हो जाने वाले ही थे। लेकिन दूसरे ऐसे हजारो कैदी थे जो मुकदमा चलाकर जेल भेजे गये थे और ऐसे नजरवन्द भी थे जो विना मुकदमा चलाये, विना इलजाम लगाये या सजा दिये ही जेलो में भर दिये गये थे। इनमे से कितने ही नजरवन्द वर्षो से वहाँ पडे हुए थे और उनके वारे मे सारे देश मे नाराजगी फैली हुई थी—खासकर वगाल मे जहाँ कि विना मुकदमा चलाये कैद कर देने के तरीके से वहुत ज्यादा काम लिया गया। पोलीन टापू के (या शायद ड्रेफस के मामले मे) जनरल स्टाफ के मुखिया की तरह भारत-सरकार का भी मन्तव्य था कि सबूत का न होना ही वढिया सबूत का होना है। सबूत न होना तो गैर-सावित किया ही नही जा सकता। नजरवन्दो पर सरकार का यह आरोप था कि वे हिंसात्मक प्रकार के असली या अप्रत्यक्ष क्रान्तिकारी है। गाधीजी ने समझौते के अग-स्वरूप तो नही, परन्तु इसलिए कि वगाल मे राजनैतिक तनातनी कम हो जाय और वातावरण अपनी मामूली स्थिति मे आ जाय, उनकी रिहाई की पैरवी की थी। मगर सरकार इसपर रजामन्द न हुई।

भगतसिंह की फाँसी की सजा रद कराने के लिए गाधीजी ने जो जोरदार पैरवी की उसको भी सरकार ने मजूर नही किया। उसका भी समझौते से कोई सम्वन्ध न था। गाधीजी ने इसपर भी अलहदा तौर पर जोर इसलिए दिया था कि इस विषय पर भारत मे वहुत तीव्र लोक-भावना थी। मगर उनकी पैरवी वेकार गई।

उन्ही दिनो की एक कुतूहलवर्धक घटना मुझे याद है, जिसने हिन्दुस्तान के आतकवादियो की मन स्थिति का आन्तरिक परिचय मुझे कराया। मेरे जेल से छूटने के पहले ही, या पिताजी के मरने के पहले या वाद, यह घटना हुई है। हमारे स्थान पर एक अजनबी मुझसे मिलने आया। मुझसे कहा गया कि वह चन्द्रशेखर आजाद है। मैंने उसे पहले तो कभी नही देखा था। हाँ, दस वर्ष पहले मैंने उसका नाम जरूर सुना था जब कि १९२१ मे असहयोग-आन्दोलन के जमाने मे स्कूल से असहयोग करके वह जेल गया था। उस समय वह कोई पन्द्रह साल का रहा होगा और जेल का नियम

भंग करने के अपराध मे जेल में उसे बेत लगवाये गये थे। बाद को उत्तर-भारत में वह आतंकवादियो का एक मुख्य आदमी बन गया। इसी तरह का कुछ-कुछ हाल मैंने सुन रक्खा था। मगर इन अफवाहो मे मैंने कोई दिलचस्पी न ली थी। इसलिए वह आया तो मुझे ताज्जुब हुआ। वह मुझसे इसलिए मिलने को तैयार हुआ था कि हमारे छूट जाने से आम तौर पर ये आशायें बँधने लगी कि सरकार और काँग्रेस मे कुछ-न-कुछ समझौता होनेवाला है। वह मुझसे जानना चाहता था कि अगर कोई समझौता हो तो हमारे दल के लोगो को शान्ति मिलेगी या नही ? क्या हमारे साथ अब भी विद्रोही का-सा बर्ताव किया जावेगा ? जगह-ब-जगह हमारा पीछा इसी तरह किया जायगा ? हमारे सिर के लिए इनाम घोषित ही होते रहेंगे और हमारे सामने फांसी का तख्ता हमेशा लटकता रहा करेगा, या हमारे लिए शान्ति के साथ कामधधे में लग जाने की भी कोई सभावना होगी ? उसने कहा कि खुद मेरा तथा मेरे दूसरे साथियो का यह विश्वास हो चुका है कि आतकवादी तरीके बिलकुल बेकार है और उनसे कोई लाभ नही है। हाँ, वह यह मानने के लिए तैयार नही था कि शान्तिमय साधनो से ही हिन्दुस्तान को आजादी मिल जायगी। उसने कहा, आगे कभी सशस्त्र लड़ाई का मौका आ सकता है, मगर वह आतकवाद न होगा। हिन्दुस्तान की आजादी के लिए तो उसने आतकवाद को खारिज ही कर दिया था। पर उसने फिर पूछा, कि अगर मुझे शान्ति के साथ जमकर बैठने का मौका न दिया जाय, रोज-ब-रोज मेरा पीछा किया जाय, तो मैं क्या करूँगा ? उसने कहा—इधर हाल में जो आतककारी घटनायें हुई हैं वे ज्यादातर आत्म-रक्षा के लिए की गई हैं।

मुझे आजाद से यह सुनकर खुशी हुई थी और बाद मे उसका और सबूत भी मिल गया कि आतकवाद पर से उन लोगो का विश्वास हट रहा है। एक दल के विचार के रूप मे तो वह अवश्य ही प्राय मर गया है, और जो कुछ व्यक्तिगत इक्की-दुक्की घटनायें हो जाती है वे या तो किसी वजह से या बदले मे या बचाव में या किसीकी लहर से हुई घटनायें है, न कि आम धारणा के फलस्वरूप। अवश्य ही इसके यह मानी नही है कि पुराने आतंकवादी और उनके नये साथी अहिंसा के हामी बन गये है या ब्रिटिश सरकार के भक्त बन गये हैं। हाँ, अब वे आतकवादियो की भाषा में नही सोचते, जैसा कि पहले किया करते थे। मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि उनमें से बहुतो की मनोवृत्ति निश्चित्त रूप से फासिस्ट बन गई थी।

मैंने चन्द्रशेखर आजाद को अपना राजनैतिक सिद्धान्त समझाने की कोशिश की और यह भी कोशिश की कि वह मेरे दृष्टिविन्दु का कायल हो जाय। लेकिन उसके असली सवाल का, कि 'अब मैं क्या करूँ ?', मेरे पास कोई जवाब न था।

ऐसी कोई बात होती हुई नही दिखाई देती थी कि जिससे उसको या उसके जैसो को कोई राहत या शान्ति मिले। मै जो कुछ उसे कह सकता था वह इतना ही कि वह भविष्य मे आतकवादी कार्यों को रोकने की कोशिश करे। क्योकि उससे हमारे बडे कार्य को तथा खुद उसके दल को भी नुकसान पहुँचेगा।

दो-तीन हफ्ते बाद ही जब गाधी-अर्विन-बातचीत चल रही थी, मैने देहली मे सुना कि चद्रशेखर आजाद पर इलाहाबाद मे पुलिस ने गोली चलाई और वह मर गया। दिन के वक्त किसी एक पार्क मे वह पहचाना गया और पुलिस के एक बड़े दल ने आकर उसे घेर लिया। एक पेड के पीछे से उसने अपनेको बचाने की कोशिश की। दोनो तरफ से गोलियाँ चली। एक-दो पुलिसवालो को घायल कर आखिर गोली लगने से वह मर गया।

आरजी सुलह होने के बाद शीघ्र ही मै दिल्ली से लखनऊ पहुँचा। हमने सारे देश मे सविनय भग बन्द करने के लिए आवश्यक तमाम कार्रवाई की, और कांग्रेस की तमाम शाखाओ ने हमारी हिदायतो का पालन बडे ही नियम के साथ किया। हमारे साथियो मे ऐसे कितने ही लोग थे जो समझौते से नाराज थे, और कितने ही तो आग-बबूला भी थे। इधर उन्हे सविनय भग से रोकने पर मजबूर करने के लिए हमारे पास कोई साधन न था। मगर जहाँतक मुझे मालूम है, बिना एक भी अपवाद के उस सारे विशाल सगठन ने अमल के द्वारा इस नई व्यवस्था को स्वीकार किया, हालाकि कितने ही लोगो ने उसकी आलोचना भी की थी। मुझे खास तौर पर दिलचस्पी इस बात पर थी कि हमारे सूबे मे इसका क्या असर होगा ? क्योकि वहाँ कुछ क्षेत्रो मे करबदी-आन्दोलन तेजी से चल रहा था। हमारा पहला काम यह देखना था कि सत्याग्रही कैदी रिहा हो जायँ। वे हजारो की तादाद मे छूटते थे और कुछ समय बाद सिर्फ वही लोग जेल मे रह गये जिनका मामला बहस-तलब था —उन हजारो नजरबन्दो के और उन लोगो के अलावा जो हिंसात्मक कार्यों के लिए सजा पाये हुए थे और जो रिहा नही किये गये थे।

ये जेल से छूटे हुए कैदी जो अपने गाँवो और कस्बे मे गये तो स्वभावत लोगो ने उनका स्वागत किया। कई लोगो ने सजावट भी की, बन्दनवारे लगवाई, जुलूस निकाले, सभाये की, भाषण हुए और स्वागत मे मानपत्र भी दिये गये। यह सब कुछ होना बहुत स्वाभाविक था और इसीकी आशा भी की जा सकती थी। मगर वह जमाना जबकि चारो ओर पुलिस की लाठियाँ-ही-लाठियाँ दिखाई देती थी, सभा और जुलूस जबर्दस्ती बिखेर दिये जाते थे, एकाएक बदल गया था। इससे पुलिसवाले ज़रा बेचैनी अनुभव करने लगे और कदाचित् हमारे बहुतेरे जेल से आनेवालो मे विजय का

भाव भी आ गया था। यो अपनेको विजयी मानने का शायद ही कोई कारण था, लेकिन जेल से आने पर (अगर जेल में स्पिरिट कुचल न दी गई हो तो) हमेशा एक आनन्द और अभिमान की भावना पैदा होती है, और झुंड-के-झुंड लोगों के एक-साथ जेल से छूटने पर तो यह आनन्द और अभिमान और अधिक बढ़ जाता है।

मैंने इस बात का जिक्र इसलिए किया है कि आगे जाकर सरकार ने इस 'विजय के भाव' पर बड़ा ऐतराज किया था, और हमपर इसके लिए इल्जाम लगाया गया था! हमेशा हुकूमत-परस्ती के वातावरण मे रहने और पाले-पोसे जाने के कारण और शासन के सबन्ध में ऐसे फौजी स्वरूप की धारणा होने से, जिसको जनता का आधार या समर्थन प्राप्त नही होता, उनके नजदीक उस चीज के कमजोर हो जाने से बढ़कर दु.खदाई बात दूसरी नहीं हो सकती जिसे वे अपना रौब समझते हैं। जहाँतक मुझे पता है, हममे से किसीको इसका कोई खयाल न था और जब हमने बाद को यह सुना कि सरकारी अफसर ठेठ शिमला-शैल से लेकर नीचे मैदान तक लोगों की इस गुस्ताखी पर सिर से पैर तक आग-बगूला होने लगे और ऐसा अनुभव करने लगे मानों उनके अभिमान पर चोट पड़ी है, तो उसपर हम आश्चर्य से दंग रह गये। जो अखबार उनके विचारों की प्रतिध्वनि करते हैं वे तो अबतक भी इससे बरी नहीं हुए है। अब भी वे, हालाँकि ३–३॥ साल हो गये है, उन साहसिक और बुरे दिनों का, जबकि उनके मतानुसार कांग्रेसी इस तरह विजय-घोष करते फिरते थे कि मानो उन्होंने कोई बड़ी भारी फतह हासिल की हो, जिक्र भय से काँपते हुए करते हैं। अखबारों मे सरकार ने और उनके दोस्तो ने जो क्रोध उगला वह हमारे लिए एक नई बात थी। उससे पता लगा कि वे कितने घबरा गये थे, उन्हें अपने दिल को कितना दबा-दबाकर रखना पड़ा था, जिससे उनके मन में तरह-तरह की विषमतायें आ गई थी। यह एक अनोखी बात है कि थोड़े-से जुलूसों से और हमारे लोगों के कुछ भाषणों से उनके यहाँ इतना तहलका मच गया।

सच पूछो तो कांग्रेस के साधारण लोगों मे ब्रिटिश सरकार को 'हरा देने' का कोई भाव नही था और नेताओं में तो और भी नहीं। लेकिन हाँ, अपने भाइयों और बहनों के त्याग और साहस पर हम लोगों के अन्दर एक विजय की भावना जरूर थी। देश ने १९३० में जो कुछ किया उसपर हमे फख्र जरूर है। उसने हमे अपनी ही निगाहो मे ऊँचा उठा दिया, हमें आत्म-विश्वास प्रदान किया, और इस बात के खयाल से हमारे छोटे-से-छोटे स्वयंसेवक की भी छाती तन जाती और सिर ऊँचा हो जाता है। हम यह भी अनुभव करते थे कि इस महान् आयोजन ने, जिसने सारी दुनिया का ध्यान अपनी तरफ खीच लिया था, ब्रिटिश सरकार पर बहुत भारी दबाव डाला और हमको

अपने मंजिलेमकसूद के ज्यादा नजदीक पहुँचाया। इन सबका 'सरकार को हराने' से कोई ताल्लुक न था, और वास्तव मे तो हममे से बहुतो को यही खयाल रहा है कि दिल्ली-समझौते मे तो सरकार ही ज्यादा फायदे मे रही है। इसमे से जिन लोगो ने यह कहा कि अभी तो हम अपने ध्येय से बहुत दूर है और एक बडा और मुश्किल सग्राम सामने आने को है, वे सरकार के मित्रो के द्वारा लडाई को उकसाने और दिल्ली-समझौते की स्पिरिट को तोडने के दोषी बताये गये।

युक्तप्रान्त मे अब हमे किसानो के मसले का सामना करना था। हमारी नीति अब यह भी थी कि जहाँतक मुमकिन हो ब्रिटिश सरकार से सहयोग किया जाय और, इसलिए, हमने तुरत ही युक्तप्रान्तीय सरकार के साथ उसकी कार्रवाई शुरू करदी। बहुत दिनो के बाद सूबे के कुछ आला अफसरो से—कोई बारह साल तक हमने इधर सरकारी तौर पर कोई व्यवहार नही रक्खा था—मै किसानो के मामले पर चर्चा करने के लिए मिला। इस विषय मे हमारी लबी लिखा-पढी भी चली। प्रान्तीय कमिटी ने हमारे प्रान्त के एक प्रमुख व्यक्ति गोविन्दवल्लभ पन्त को एक मध्यस्थ के तौर पर नियत किया कि जो लगातार प्रान्तीय सरकार के सपर्क मे रहे। सरकार की तरफ से ये बाते मान ली गई कि हाँ, किसान वाकई सकट मे है, अनाज के भाव बहुत बुरी तरह गिर गये है, और एक औसत किसान लगान देने मे असमर्थ है। सवाल सिर्फ यह था कि कितनी छूट दी जाय, लेकिन इस विषय मे कुछ कार्रवाई करना प्रान्तीय सरकार के हाथ मे था। मामूल के मुताबिक तो सरकार जमीदारो से ही ताल्लुक रखती है, सीधा काश्तकारो से नही, और लगान कम करना या उसमे छूट देना जमीदारो का ही काम था। लेकिन जमीदारो ने तबतक ऐसा करने से इन्कार कर दिया जबतक सरकार भी उनको उतनी ही छूट न दे दे। और उन्हे तो किसी भी सूरत मे अपने काश्तकारो को छूट देने की ऐसी पडी नही थी। इसलिए फैसला तो आखिर सरकार को ही करना था।

प्रान्तीय काग्रेस कमिटी ने किसानो से कह दिया था कि कर-बन्दी की लडाई रोक दी गई है और जितना हो सके उतना लगान दे दो। मगर उनके प्रतिनिधि की हैसियत से उसने काफी छूट चाही थी। बहुत दिनो तक सरकार ने कुछ भी कार्रवाई नही की। गालिबन गवर्नर सर माल्कम हेली के छुट्टी या स्पेशल ड्यूटी पर चले जाने से वह दिक्कत महसूस कर रही थी। इसमे तुरन्त और व्यापक परिणाम लानेवाली कार्रवाई करने की जरूरत थी। ताहम कार्यवाहक गवर्नर और उनके साथी कार्रवाई करने मे हिचकते थे, और सर माल्कम हेली के आने तक (गर्मियो तक) मामले को आगे धकेलते रहे। इस देरी और ढील-पोल ने उस मुश्किल हालत को और भी खराब बना दिया, जिससे काश्तकारो को बहुत नुकसान बर्दाश्त करना पडा।

दिल्ली-समझौते के वाद ही मेरी तन्दुरुस्ती कुछ खराव हो गई। जेल में भी मेरी तवीयत अलील रही। उसके वाद पिताजी की मृत्यु से धक्का लगा और फिर फौरन ही दिल्ली में सुलह की चर्चा का जोर पड़ा। यह सब मेरे स्वास्थ्य के लिए हानिकर साबित हुए। लेकिन कराची-कांग्रेस जाने तक मैं कुछ-कुछ ठीक हो चला था।

कराची हिन्दुस्तान के ठेठ उत्तर-पश्चिम कोने में है, जहाँकि पहुँचना मुश्किल है। वीच मे वड़ा रेतीला मैदान है, जिससे वह हिन्दुस्तान के शेष हिस्सो से विलकुल जुदा पड जाता है। लेकिन फिर भी वहाँ दूर-दूर के हिस्सो से वहुत लोग आये थे और वे उस समय देश का जैसा मिज़ाज था उसको सही तौर पर जाहिर करते थे। लोगो के दिलो मे शान्ति के भाव थे और राष्ट्रीय आन्दोलन की जो ताकत देश में वढ रही थी उसके प्रति गहरा सन्तोष था। कांग्रेस-संगठन के प्रति, जिसने कि देश की भारी पुकार और माँग का वडी योग्यता-पूर्वक जवाव दिया था और जिसने अनुशासन और त्याग के द्वारा अपने अस्तित्व की पूरी सार्थकता दिखलाई थी, उनके मन में अभिमान था। अपने लोगो के प्रति विश्वास का भाव था और उसके उत्साह में संयम दिखलाई पड़ता था। इसके साथ ही आगे आनेवाले जवर्दस्त प्रश्नों और खतरो के प्रति जिम्मेदारी का गहरा भाव भी था। हमारे शब्द और प्रस्ताव अव राष्ट्रीय पैमाने पर किये जानेवाले कार्यो के मगलाचरण थे और वे यो ही विना सोचे-विचारे न वोले जाते थे, न पास किये जाते थे। दिल्ली-समझौते को यद्यपि वड़ी वहुमति ने पास कर दिया था, तो भी वह लोकप्रिय नही था, और न पसन्द ही किया गया था, और लोगो के अन्दर यह भय काम कर रहा था कि यह हमें तरह-तरह की भद्दी और विषम स्थितियो में लाकर पटक देगा। कुछ ऐसा-सा दिखाई पड़ता था कि देश के सामने जो सवाल है उनको यह अस्पष्ट कर देगा। कांग्रेस के अधिवेशन के ठीक पहले ही एक और देश की नाराजगी का वाइस पैदा हो गया था—भगतसिंह का फाँसी पर लटकाया जाना। उत्तर-भारत में इस भावना की लहर तेज थी और कराची उत्तर में ही होने के कारण वहाँ पंजाव से वडी तादाद मे लोग आये थे।

पिछली किसी की कॉंग्रेस की वनिस्वत कराची-कॉंग्रेस मे तो गाधीजी की और भी वड़ी निजी विजय हुई थी। उसके सभापति सरदार वल्लभभाई पटेल हिन्दुस्तान के वहुत ही लोकप्रिय और जोरदार आदमी थे और उन्हे गुजरात के सफल नेतृत्व की सुकीर्ति प्राप्त थी। फिर भी उसमे दौरदौरा तो गाधीजी का ही था। अब्दुलगफ्फारखा के नेतृत्व मे सीमाप्रान्त से भी लालकुर्तीवालो का एक अच्छा दल वहाँ पहुँचा था। लालकुर्तीवाले वड़े लोकप्रिय थे। जहाँ कही भी जाते लोग तालियो से उनका स्वागत करते। क्योंकि अप्रैल १९३० से गहरी उत्तेजना दिखाई जाने पर भी

उन्होने असाधारण शान्ति और साहस की छाप हिन्दुस्तान पर छोडी है। लालकुर्ती नाम से कुछ लोगो को यह गुमान हो जाता था कि वे कम्यूनिस्ट या वाम-पक्षीय मजदूर-दल के थे। सच पूछो तो उनका नाम खुदाई खिदमतगार था और वह सगठन काग्रेस के साथ मिलकर काम करता था (बाद को १९३१ मे काग्रेस का एक अभिन्न अग बना लिया गया था)। वे लालकुर्ती वाले महज इसलिए कहलाते थे कि उनकी वर्दी जरा पुराने ढग की लाल थी। उनके कार्य-क्रम मे कोई आर्थिक नीति शामिल न थी, वह तो राष्ट्रीय था और उसमे सामाजिक सुधार भी शामिल था।

कराची के मुख्य प्रस्ताव मे दिल्ली-समझौता और गोलमेज-कान्फ्रेन्स का विषय था। कार्य-समिति ने जिस अन्तिम रूप मे उसे पास किया था उसे मैने अवश्य ही मजूर कर लिया था। मगर जब गाधीजी ने मुझे खुले अधिवेशन मे उसे पेश करने के लिए कहा, तो मै जरा हिचकिचाया। यह मेरी तबीयत के खिलाफ था। पहले मैने इन्कार कर दिया, मगर बाद को मुझे यह अपनी कमजोरी और असन्तोषजनक स्थिति दिखाई दी। या तो मुझे इसके हक मे होना चाहिए या इसके खिलाफ; यह मुनासिब न था कि ऐसे मामले मे टालमटोल करूँ और लोगो को अटकले बाँधने के लिए स्वतन्त्र छोड दूँ। अत बिलकुल आखिरी क्षण में खुले अधिवेशन मे प्रस्ताव आने के कुछ ही मिनट पहले मैने उसे पेश करने का निश्चय किया। अपने भाषण मे मैने अपने हृदय के भाव ज्यो-के-त्यो उस विशाल जन-समूह के सामने रख दिये और उनसे पैरवी की कि वे उस प्रस्ताव को तहेदिल से मजूर कर ले। मेरा वह भाषण जो ऐन वक्त पर अन्त स्फूर्ति से दिया गया और जो हृदय के अन्तस्तल से निकला था, जिसमे न कोई अलकार था न सुन्दर शब्दावली, कदाचित् मेरे उन कई भाषणो से ज्यादा सफल रहा जिनके लिए ज्यादा ध्यान देकर तैयारी करने की जरूरत हुई थी।

मै और प्रस्तावो पर भी बोला था। इनमे भगतसिह, मौलिक अधिकार और आर्थिक नीति के प्रस्ताव उल्लेखनीय है। आखिरी प्रस्ताव मे मेरी खास दिलचस्पी थी। क्योकि एक तो उसका विषय ही ऐसा था और दूसरे उसके द्वारा कांग्रेस मे एक नये दृष्टिकोण का प्रवेश होता था। अबतक कांग्रेस सिर्फ राष्ट्रीयता की ही दिशा मे सोचती थी और आर्थिक प्रश्नो के मुकाबिले से बचती रहती थी। जहाँतक ग्राम-उद्योगो से और आम तौर पर स्वदेशी को बढावा देने से ताल्लुक था, उसको छोड़कर कराची वाले इस प्रस्ताव के द्वारा मूल उद्योगो और नौकरियो के राष्ट्रीयकरण और ऐसे ही दूसरे उपायो के प्रचार के द्वारा गरीबो का बोझा कम करके अमीरो पर बढाने के लिए एक बहुत छोटा कदम, समाजवाद की दिशा मे, उठाया गया, लेकिन वह समाजवाद कतई न था। पूजीवादी राज्य भी उसकी प्राय हर बात को आसानी से मजूर कर सकता है।

इस बहुत ही नरम और नि सार प्रस्ताव ने भारत-सरकार के बड़े-बड़े लोगो को भारी और गहरे विचार मे डाल दिया। कदाचित् उन्होने अपनी सदा की अन्तर्दृष्टि के मुताबिक यह भी कल्पना की कि बोलशेविकों का रुपया लुक-छिपकर कराची जा पहुँचा है और कांग्रेस के नेताओ को नीति-भ्रष्ट कर रहा है। एक तरह के राजनैतिक अन्त पुर मे रहते-रहते, बाहरी दुनिया से कटे-हटे, गुप्त वातावरण से घिरे हुए उनके दिमाग को रहस्य और भेद की कहानियाँ और कल्पित कथाओ के सुनने का बडा शौक रहता है। और फिर ये किस्से एक रहस्यपूर्ण ढंग से थोडा-थोड़ा करके अपने प्रीति-प्राप्त अखबारो मे दिये जाते है और साथ मे यह झलकाया जाता है कि यदि परदा खोल दिया जाय तो और भी कई गुल खिल सकते है। उनके इस मान्य प्रचलित तरीके से मौलिक अधिकार वगैरा सम्बन्धी कराची के प्रस्तावों का बार-बार जिक्र किया गया है और मै उनसे यही नतीजा निकाल सकता हूँ कि वे इस प्रस्ताव पर सरकारी सम्मतियो के निदर्शक है। किस्सा यहाँतक कहा जाता है कि एक छिपे व्यक्ति ने, जिसका कम्यूनिस्टो से ताल्लुक है, प्रस्ताव का या उसके ज्यादातर हिस्से का ढाचा बनाया है और उसने कराची मे वह मेरे मत्थे मढ़ दिया। उसपर मैंने गाँधीजी को चुनौती दे दी कि या तो इसे मजूर कीजिए या दिल्ली-समझौते पर मेरी मुखालिफत के लिए तैयार रहिए। और गाँधीजी ने मुझे चुप करने के लिए यह रिश्वत दे दी तथा आखिरी दिन जबकि विषय-समिति और कांग्रेस थकी हुई थी, उन्होने इसे उनके सिर पर लाद दिया।

उस छिपे व्यक्ति का नाम, जहातक मुझे पता है, यो साफ-साफ लिया नही गया है। लेकिन तरह-तरह के इशारों से मालूम हो जाता है कि उनकी मशा किनसे है। मुझे छिपे तरीकों और और घुमाव-फिराव से बात कहने की आदत नही, इसलिए मै सीधे ही कह दूँ कि उनकी मंशा शायद एम० एन० राय से है। शिमला और दिल्ली के ऊंचे आसनवालो के लिए यह जानना दिलचस्प और शिक्षाप्रद होगा कि एम० एन० राय या दूसरे 'कम्यूनिस्ट-प्रवृत्ति रखनेवाले' कराची के उस सीधे-सादे प्रस्ताव के बारे मे क्या खयाल करते है। उन्हे यह जानकर ताज्जुब होगा कि उस तरह के आदमी तो उस प्रस्ताव को कुछ घृणा की दृष्टि से देखते है। क्योकि उनके मतानुसार तो यह मध्यम वर्ग के सुधारवादियो की मनोवृत्ति का एक खासा उदाहरण है।

जहातक गाधीजी से ताल्लुक है, उनसे मेरी घनिष्ठता पिछले १७ सालो से है और मुझे उन्हे बहुत नजदीक से जानने का सौभाग्य प्राप्त है। यह खयाल कि मै उन्हे चुनौती दूँ, या उनसे सौदा करूँ, मेरी निगाह मे राक्षसी है। हा, हम एक-दूसरे का

खूब लिहाज रखते है और कभी किसी विशेष मसले पर अलग-अलग भी हो सकते है, लेकिन हमारे आपस के व्यवहारो मे बाजारू तरीको से हरगिज़ काम नही लिया जा सकता।

कांग्रेस में इस तरह के प्रस्ताव को पास कराने का खयाल पुराना है। कुछ सालो से युक्तप्रान्तीय कांग्रेस कमिटी इस विषय मे हलचल मचा रही थी और कोशिश कर रही थी कि अ० भा० कांग्रेस कमिटी समाजवादी प्रस्ताव को स्वीकार कर ले। १९२९ मे उसने अ० भा० का० कमिटी मे कुछ हद तक उसके सिद्धान्त को स्वीकार करा लिया था। उसके बाद सत्याग्रह आ गया। दिल्ली मे, फरवरी १९३१ मे, जबकि मैं गाधीजी के साथ सुबह घूमने जाया करता था, मैंने उनसे इस मामले का जिक्र किया था और उन्होने आर्थिक विषयो पर एक प्रस्ताव रखने के विचार का स्वागत किया था। उन्होने मुझसे कहा था कि कराची मे इस विषय को उठाना और इस विषय मे एक प्रस्ताव बनाकर मुझे दिखाना। कराची मे मैंने मसविदा बनाया और उन्होने उसमे बहुतेरे परिवर्तन सुझाये और सूचनाये की। वह चाहते थे कि कार्य-समिति मे पेश करने के पहले हम दोनो उसकी भाषा पर सहमत हो जायँ। मुझे कई मसविदे बनाने पडे और इससे इस मामले मे कुछ दिन की देरी हो गई। आखिर गाधीजी और मै दोनो एक मसविदे पर सहमत हो गये और तब वह कार्य-समिति में और उसके बाद विषय-समिति मे पेश किया गया। यह बिलकुल सच है कि विषय-समिति के लिए यह एक नया विषय था और कुछ मेम्बरो को उसे देखकर ताज्जुब हुआ था। फिर भी वह कमिटी मे और कांग्रेस मे आसानी से पास हो गया और बाद मे अ० भा० का० कमिटी को सौप दिया गया कि वह निर्दिष्ट दिशा मे उसको और विषद और व्यापक बनावे।

हा, जब मैं इस प्रस्ताव का खर्रा बना रहा था तब कितने ही लोगो से, जो मेरे डेरे पर आया करते थे, इसके बारे मे मैं कभी-कभी कुछ सलाह ले लिया करता था। मगर एम० एन० राय से इसका कतई कोई ताल्लुक नही था, और मैं यह अच्छी तरह जानता था कि वह इसको बिलकुल पसन्द नही करेंगे और इसकी खिल्ली तक उडावेंगे।

अलबत्ता कराची आने के कुछ दिन पहले इलाहाबाद मे एम० एन० राय से मेरी मुलाकात हुई थी। वह एक रोज शाम को अकस्मात हमारे घर आये। मुझे पता नही था कि वह हिन्दुस्तान मे है। ताहम मैंने उन्हे फौरन पहचान लिया, क्योकि उनको मैंने १९२७ मे मास्को मे देखा था। कराची मे वह मुझसे मिले थे, मगर शायद पॉच मिनट से ज्यादा नही। पिछले कुछ सालो मे राजनैतिक दृष्टि से मेरी निन्दा करते हुए मेरे खिलाफ उन्होने बहुत-कुछ लिखा है, और अक्सर मुझे चोट पहुँचाने

मे कामयाब भी हुए है। गो उनके और मेरे बीच बहुत मतभेद है, ताहम मेरा आकर्षण उनकी ओर हुआ, और बाद को जब वह गिरफ्तार हुए और मुसीबत मे थे तब मेरा जी हुआ कि जो-कुछ मुझसे हो सके (और वह बहुत थोडी थी) उनकी मदद करूँ। मै उनकी तरफ आकर्षित हुआ उनकी विलक्षण बौद्धिक क्षमता को देखकर। मै उनकी तरफ इसलिए भी खिचा कि मुझे वह सब तरह अकेले मालूम हुए, जिनको हर आदमी ने छोड दिया था। ब्रिटिश सरकार उनके पीछे पडी हुई थी ही। हिन्दुस्तान के राष्ट्रीय दल के लोगो की उनकी ओर दिलचस्पी नही थी। और जो लोग हिन्दुस्तान मे अपनेको कम्यूनिस्ट कहते है वे विश्वासघाती समझकर उनकी निन्दा करते थे। मुझे मालूम हुआ कि सालो तक रूस मे रहने और कोमिनटर्न के साथ घनिष्ठ सहयोग करने के बाद वह उनसे जुदा पड़ गये थे, या जुदा कर दिये गये थे। ऐसा क्यों हुआ इसका मुझे पता नही है, और सिवा कुछ आभास के न अबतक यही जानता हूँ कि उनके मौजूदा विचार क्या है और पुराने कम्यूनिस्टो से किस बात मे उनका मतभेद है। लेकिन उनके जैसे पुरुष को इस तरह प्राय हरेक के द्वारा अकेला छोड़े जाते देखकर मुझे पीडा हुई और अपनी आदत के खिलाफ मै उनके लिए बनाई गई डिफेस कमिटी मे शामिल हुआ। १९३१ की गर्मियो से, अबसे कोई तीन वर्ष पहले से, वह जेल में है, बीमार है और प्राय तनहाई मे रह रहे है।

कराची मे काग्रेस-अधिवेशन का एक आखिरी कार्य था कार्य-समिति का चुनाव। यो तो उसका चुनाव अ० भा० कॉ० कमिटी द्वारा होता है, मगर ऐसा रिवाज पड गया था कि उस साल का सभापति (गाधीजी और कभी-कभी दूसरे साथियो की सलाह से) नाम पेश करता और वे अ० भा० का० कमिटी में मजूर कर लिये जाते। लेकिन कराची मे हुए कार्य-समिति के चुनाव का बुरा नतीजा निकला, जिसका पहले किसी को खयाल नही हुआ था। अ० भा० कॉ० कमिटी के कुछ मुसलमान मेम्बरो ने इस चुनाव पर ऐतराज किया था। खास तौर पर एक (मुस्लिम) नाम पर। शायद उन्होने उसमें अपनी तौहीन समझी थी कि उनके दल का उसमे कोई भी आदमी नही था। एक ऐसी अ० भा० कमिटी मे जिसमे केवल १५ ही मेम्बर हो, यह सरासर असभव था कि सभी हितो के प्रतिनिधि उसमे रहे। और असली झगडा था, जिसके बारे मे हमे कुछ भी इल्म नही था, बिलकुल जाती और पजाब का मुकामी। लेकिन उसका नतीजा यह हुआ कि जिन लोगो ने विरोध की आवाजे उठाई थी वे (पजाब मे) कॉग्रेस से हटकर मजलिसे अहरार मे शरीक हो गये। कॉग्रेस के कुछ बहुत ही मुस्तैद और लोकप्रिय कार्यकर्ता उसमे शामिल हो गये और पजाब के कितने ही मुसलमानो को उसने अपनी ओर खीच लिया। निचले मध्यमवर्ग के लोग उसमे थे

और मुस्लिम जनता से उसका बहुत संपर्क था। इस तरह वह एक जबर्दस्त संगठन बन गया। उच्च श्रेणी के मुस्लिम फिरकेवाराना लोगो के, जो कि या तो हवा मे या दीवानखाने मे या कमिटियो के कमरो में इकट्ठा होते थे, लूज संगठन की वनिस्वत यह कही ज्यादा मजबूत था। अहरार लोग वैसे तो फिरकापरस्ती की तरफ चले गये, मगर मुस्लिम जनता के साथ उन्होने अपना सिलसिला बाँध रक्खा था। इसलिए वे एक जिन्दा जमात बने रहे, जिसका एक धुधलासा आर्थिक दृष्टिकोण है। देशी राज्यो के मुसलमान-आन्दोलन मे, खासकर कश्मीर मे, उन्होने बडा काम किया है जिनमे कि आर्थिक कष्ट और फिरकापरस्ती दोनो अजीब तरह से और बदकिस्मती से घुल-मिल गये है। कांग्रेस से अहरार-पार्टी के कुछ नेताओ का कट जाना पंजाब मे कांग्रेस के लिए बहुत ही मुजिर हुआ। मगर कराची मे इसका हमे क्या पता था? बाद मे जाकर धीरे-धीरे हमे इसका अहसास होने लगा। लेकिन यह न समझना चाहिए कि कार्य-समिति के चुनाव के कारण ही वे लोग कांग्रेस से अलग हो गये हो। वह तो एक तिनका था जिसने हवा के रुख को बताया। उसके असली कारण तो और ही है, और वे गहरे है।

हम सब कराची मे ही थे कि कानपुर के हिंदू-मुसलिम दंगे की खबर हमें मिली। इसके बाद ही दूसरा समाचार यह मिला कि गणेशशंकर विद्यार्थी को कुछ मजहबी दीवाने लोगो ने, जिनकी मदद के लिए वह वहाँ गये थे, कत्ल कर डाला। वे भयंकर और पाशविक दंगे ही क्या कम बुरे थे? लेकिन गणेशजी की मृत्यु ने हमे उनकी भयंकरता की बीभत्सता जिस तरह हमारे हृदय पर अंकित कर दी वैसी और कोई चीज नही कर सकती थी। उस कांग्रेस-कैम्प मे हजारो आदमी उन्हे जानते थे और कुछ प्रान्त के हम सब लोगो के वह निहायत प्यारे साथी और दोस्त थे। जवामर्द और निडर, दूरदर्शी और निहायत अक्लमन्द सलाहकार, कभी हिम्मत न हारनेवाले, चुपचाप काम करनेवाले, नाम, शोहरत, पद और प्रकाशन से दूर भागने वाले। अपनी जवानी के उत्साह मे झूमते हुए वह हिन्दू-मुसलिम एकता के लिए, जो उन्हे इतनी प्यारी थी और जिसके लिए उन्होने अबतक कार्य किया था, अपना सिर हथेली पर लेकर खुशी-खुशी आगे बढे थे कि बेवकूफ हाथो ने उन्हे जमीन पर मार गिराया और कानपुर को और सूबे को एक अत्यंत उज्ज्वल रत्न से महरूम कर दिया। जब यह खबर पहुँची तो कराची के यू० पी० कैम्प मे शोक की घटा छा गई और ऐसा मालूम हुआ कि उसकी शान चली गई। लेकिन फिर भी उसके दिल मे यह अभिमान था कि गणेशजी ने बिना पीछे कदम उठाये मौत का मुकाबिला किया और उन्हे ऐसी गौरव-पूर्ण मौत नसीब हुई।

३६

लंका में विश्राम

मेरे डाक्टरो ने मुझपर जोर दिया कि मुझे कुछ आराम लेना चाहिए, और आब-हवा बदलनी चाहिए। मैंने लका द्वीप मे एक महीना गुजारना तय किया। हिन्दुस्तान बड़ा भारी देश होने पर भी, इसमे स्थान-परिवर्तन या मानसिक विश्राम की असली सभावना दिखाई न दी, क्योकि मै जहाँ भी जाता वहाँ राजनैतिक साथी मिलते ही, और वही समस्याये भी मेरे पीछे-पीछे वहाँ आ जाती। लका ही हिन्दुस्तान से सबसे नजदीक की जगह थी, इसलिए हम लका ही गये—कमला, इन्दिरा और मै। १९२७ में योरप से लौटने के बाद यही मेरी पहली तातील थी, यही पहला मौका था जब मेरी पत्नी, कन्या और मैंने एक-साथ शान्ति से कही विश्राम किया हो, और हमे कोई चिन्तायें न रही हो। ऐसा विश्राम फिर नही मिला है, और मुझे सदेह है कि शायद मिलेगा भी या नही।

फिर भी, दरअसल, हमें लका मे सिवा नुवाया एलीया के दो हफ्तो के ज्यादा विश्राम भी नही मिला। वहाँ के सभी वर्गो के लोगो ने हमारे प्रति बहुत ही आतिथ्य और मित्र-भाव प्रदर्शित किया। यह इतनी सद्भावना बहुत अच्छी तो लगती थी, मगर परेशानी में भी डाल देती थी। नुवाया एलीया मे बहुत-से श्रमिक, चाय-बागान के मजदूर और दूसरे लोग रोज कई मील चलकर आया करते थे, और अपने साथ अपनी प्रेम-पूर्ण भेंट की चीजे—जगल के फूल, सब्जिया, घर का मक्खन—भी लाया करते थे। हम तो उनसे प्रायः बात भी नही कर सकते थे; एक-दूसरे की तरफ देख भर लेते थे और मुस्करा देते थे। हमारा छोटा-सा घर उनकी भेंट की इन कीमती चीजों से, जो वे अपनी दरिद्र अवस्था मे भी हमें दे जाते थे, भर गया था। ये चीजे हम वहाँ के अस्पतालों और अनाथालयो को भेज दिया करते थे।

हमने उस द्वीप की मशहूर चीजो और ऐतिहासिक खडहरो, बौद्ध मठों और घने जगलो को देखा। अनुराधापुर मे मुझे बुद्ध की एक पुरानी बैठी हुई मूर्त्ति बहुत पसन्द आई। एक साल बाद जब मै देहरादून-जेल में था, तब लका के एक मित्र ने इस मूर्त्ति का चित्र मेरे पास भेज दिया था, जिसे मैं अपनी कोठरी में अपने छोटे-से टेबल पर रक्खे रहता था। यह चित्र मेरा बडा मूल्यवान साथी बन गया था, और बुद्ध की मूर्त्ति के गभीर शान्त भावों से मुझे बडी शान्ति और शक्ति मिलती थी, जिससे मुझे कई बार उदासी के मौको पर बडी मदद मिली।

बुद्ध हमेशा मुझे बहुत आकर्षक प्रतीत हुए हैं। इसका कारण बताना तो मुश्किल है, मगर वह धार्मिक नहीं है, क्योंकि बौद्ध-धर्म के साथ-साथ जो सिद्धान्त या मत बन गये हैं उनमें मुझे कोई दिलचस्पी नहीं है। उनके व्यक्तित्व ने ही मुझे आकर्षित किया है। इसी तरह ईसा के व्यक्तित्व के प्रति भी मुझे बड़ा आकर्षण है।

मैंने मठों में और सड़कों पर बहुत-से 'भिक्खुओं' को देखा, जिन्हें हर जगह, जहाँ कहीं वे जाते थे, सम्मान मिलता था। करीब-करीब सभीके चेहरों पर शान्ति और निश्चलता का, तथा दुनिया की फिक्रों से एक विचित्र वैराग्य का, मुख्य भाव था। आम तौर पर, उनके चेहरे से बुद्धिमत्ता नहीं झलकती थी, उनकी सूरत में दिमाग के अन्दर होनेवाला भयंकर संघर्ष नहीं मालूम पड़ता था। उन्हें जीवन महासागर की ओर शान्ति से बहती हुई नदी के समान दिखाई देता था। मैं उनकी तरफ कुछ रश्क के साथ, आंधी और तूफान से बचानेवाला शान्त बन्दरगाह पाने की एक हल्की उत्कण्ठा के साथ, देखता था। मगर मैं तो जानता था कि मेरी किस्मत में और ही कुछ है, उसमें तो आँधी और तूफान ही है। मुझे कोई शान्त बन्दरगाह मिलनेवाला नहीं है, क्योंकि मेरे भीतर का तूफान भी उतना ही तेज है जितना बाहर का। और अगर मुझे कोई ऐसा बन्दरगाह मिल भी जाय, जहाँ इत्तिफाक से आँधी की प्रचंडता न हो, तो भी क्या वहाँ मैं सन्तोष और सुख से रह सकूँगा ?

कुछ समय के लिए तो वह बन्दरगाह खुशनुमा ही था। वहाँ आदमी पड़ा रह सकता था, स्वप्न देख सकता था, और उष्ण-कटिबन्ध का शान्तिप्रद और जीवनदायी आनन्द अपने अन्दर भर सकता था। लंकाद्वीप उस समय भी मेरी वृत्ति के अनुकूल था, और उसकी शोभा देखकर मेरा हृदय हर्ष से भर गया। विश्राम का हमारा महीना जल्दी ही खतम हो गया, और दिली अफसोस के साथ हम वहाँ से विदा हुए। उस भूमि और वहाँ के लोगों की कई बातों की याद मुझे अब भी आया करती है, जेल के मेरे लम्बे और सूने दिनों में भी यह मीठी याद मेरे साथ रही। एक छोटी-सी घटना मुझे स्मरण है, वह शायद जाफना के पास हुई थी। एक स्कूल के शिक्षकों और लड़कों ने हमारी मोटर रोक ली, और अभिवादन के कुछ शब्द कहे। दृढ़ और उत्सुक चेहरे लिये लड़के खड़े रहे, और उनमें से एक मेरे पास आया। उसने मुझसे हाथ मिलाया। बिना कुछ पूछे या दलील किये उसने कहा—"मैं कभी लड़खड़ाऊँगा नहीं।" उस लड़के की उन चमकती हुई आँखों की, उस आनन्दपूर्ण चेहरे की, जिसमें निश्चय की दृढ़ता भरी हुई थी, छाप मेरे मन पर अब भी पड़ी हुई है। मुझे पता नहीं कि वह कौन था, उसका कोई पता-ठिकाना मेरे पास नहीं है, मगर किसी-न-किसी प्रकार मुझे यह विश्वास होता है कि वह अपने शब्दों का पक्का रहेगा, और जब जीवन की

विषम समस्याओं का मुकाबिला उसे करना होगा तब वह लडखडायगा नही, पीछे नही रहेगा ।

लका से हम दक्षिण भारत, ठीक कुमारी अन्तरीप के पास, दक्षिणी सिरे पर गये। वहाँ आश्चर्यजनक शान्ति थी । इसके बाद हम त्रावणकोर, कोचीन, मलाबार, मैसूर, हैदराबाद मे होकर गुजरे, जो ज्यादातर देशी रियासते है । इनमे से कुछ दूसरो से बहुत प्रगतिशील है, कुछ बहुत पिछडी हुई है । त्रावणकोर और कोचीन शिक्षा में ब्रिटिश-भारत से भी बहुत आगे बढे हुए है । मैसूर शायद उद्योग-धन्धो में आगे बढा हुआ है, और हैदराबाद करीब-करीब पूरी तरह पुराने सामन्त-तन्त्र का स्मारक है । हमे हर जगह, जनता से भी और अधिकारियो से भी, आदर और स्वागत मिला । मगर इस स्वागत मे अधिकारियो की यह चिन्ता भी छिपी हुई थी कि हमारे वहाँ आने से कही लोगों के खयालात खतरनाक न हो जायँ । मालूम होता है, उस वक्त मैसूर और त्रावणकोर ने राजनैतिक कार्य के लिए कुछ नागरिक स्वतन्त्रता और अवसर दिया था। हैदराबाद में इतनी आजादी न थी । और, हालाकि हमारे साथ आदर का बर्ताव किया जा रहा था, फिर भी मुझे वह वातावरण दम घोटने और साँस रोकनेवाला मालूम हुआ । बाद मे मैसूर और त्रावणकोर की सरकारों ने उतनी नागरिक स्वतत्रता और राजनैतिक कार्यों की सुविधा भी छीन ली, जो उन्होने पहले दे रक्खी थी ।

मैसूर रियासत के बगलोर शहर में, एक बडे मजमे के अन्दर, मैंने लोहे के एक ऊँचे खम्भे पर राष्ट्रीय झण्डा फहराया था । मेरे जाने के थोड़े दिनो बाद ही वह खम्भा तोडकर टुकडे-टुकडे कर दिया गया, और मैसूर-सरकार ने झण्डे का प्रदर्शन जुर्म करार दे दिया । मैंने जिस झण्डे को फहराया था उसकी इतनी खराबी और बेइज्जती होने से मुझे बडा रज हुआ ।

आज त्रावणकोर में काँग्रेस ही गैरकानूनी सस्था करार दे दी गई है और काँग्रेस का मेम्बर भी कोई नही बन सकता, हालाकि ब्रिटिश भारत मे सविनय भंग रुक जाने के बाद से वह क़ानूनी हो गई है । इस तरह मैसूर और त्रावणकोर दोनो मामूली शान्तिपूर्ण राजनैतिक हलचल को भी कुचल रही है, और उन्होंने वे सुभीते भी छीन लिये है जो पहले दे रक्खे थे । ये रियासते पीछे हट रही है । किन्तु हैदराबाद को पीछे जाने या सुविधायें छीनने की जरूरत ही न हुई, क्योंकि वह आगे कभी बढी ही न थी और न उसने इस किस्म की कोई सुविधायें दी थी । हैदराबाद मे राजनैतिक सभाये कभी नही होती, और सामाजिक और धार्मिक सभायें भी सन्देह की दृष्टि से देखी जाती है, और उनके लिए भी खास इजाजत लेनी पड़ती है । वहाँ कोई भी अच्छे अखबार नही निकलते, और बाहर से बुराई के कीटाणु न आने देने के लिए हिन्दुस्तान

के दूसरे हिस्सो मे छपनेवाले बहुत-से अखबारो की रियासत मे रोक कर दी गई है। बाहर के असर से दूर रहने की यह नीति इतनी सख्त है कि माडर्न्ट अखबारो की भी वहाँ मुमानियत है।

कोचीन मे हम 'सफेद यहूदी' कहानेवाले लोगो का मुहल्ला देखने गये, और उनके पुराने मन्दिर मे उनकी एक प्रकार की पूजा देखी। यह छोटा-सा समाज बहुत प्राचीन और बहुत अजीब है। इसकी तादाद घटती जा रही है। हमसे कहा गया कि कोचीन के जिस हिस्से मे वे रहते है, वह जेरूसलेम के समान था। निश्चय ही वह पुरानी बनावट का तो मालूम हुआ।

मलावार के किनारे हमने कुछ ऐसे कसबे देखे जिनमे ज्यादातर सीरियन मत के ईसाई बसे हुए थे। शायद इसका बहुत कम लोगो को खयाल होगा कि ईसाई-धर्म हिन्दुस्तान मे ईसा के बाद पहली सदी मे ही आ गया था, जबकि योरप ने भी उसे नही ग्रहण किया था, और दक्षिण हिन्दुस्तान मे खूब मजबूती से जम गया था। हालाकि इन ईसाइयो का बडा धर्माध्यक्ष सीरिया के एण्टियोक या और किसी कसबे मे है, मगर इनकी ईसाइयत ज्यादातर हिन्दुस्तानी चीज ही है और उसका बाहर से ज्यादा ताल्लुक नही है।

दक्षिण मे नेस्टोरियन मत के लोगो की भी एक बस्ती देखकर मुझे बडा ताज्जुब हुआ। उनके पादरी ने मुझे बताया कि उनकी तादाद दस हजार है। मेरा तो यह खयाल था कि ये लोग कभी के दूसरे मतो मे मिल चुके होगे, और मुझे यह पता न था कि कभी वे हिन्दुस्तान मे भी मौजूद थे। मगर मुझसे कहा गया कि एक समय हिन्दुस्तान में उनके अनुयायी बहुत थे, और वे उत्तर मे बनारस तक फैले हुए थे।

हम हैदराबाद खासकर श्रीमती सरोजिनी नायडू और उनकी लडकियो, पद्मजा और लीलामणि, से मिलने गये थे। जिन दिनो हम उनके यहाँ ठहरे हुए थे, एक बार मेरी पत्नी से मिलने के लिए कुछ पर्दानशीन स्त्रियाँ उन्हीके मकान पर इकट्ठा हो गई, और शायद कमला ने उनके सामने कोई भाषण दिया। उसका भाषण सम्भवत पुरुषो के बनाये हुए कानूनो और रिवाजो के खिलाफ स्त्रियो के युद्ध के (जो उसका एक खास प्यारा विषय था) बारे मे था, और उसने स्त्रियो से कहा कि वे पुरुषो से बहुत न दबे। इसके दो या तीन हफ्ते बाद इसका एक बडा दिलचस्प नतीजा निकला। एक परेशान हुए पति ने हैदराबाद से कमला को खत लिखा कि, आपके यहाँ आने के बाद से मेरी पत्नी का बर्ताव अजीब हो गया है। वह पहले की तरह मेरी बात नही सुनती, न मेरी बात मानती है; बल्कि मुझसे बहस करती है और कभी-कभी सख्त रुख भी अख्त्यार कर लेती है।

बबई से लका को रवाना होने के सात हफ्ते बाद हम फिर बबई आ गये, और मै फौरन ही कॉंग्रेस की राजनीति के भँवर मे कूद पडा। कार्य-समिति की बैठके कई जरूरी मामलो पर विचार करने के लिए होनेवाली थी—हिन्दुस्तान की स्थिति तेजी से बदलती और गभीर होती जाती थी, यू० पी० के किसानो का प्रश्न जटिल हो गया था, खान अब्दुलगफ्फारखा के नेतृत्व में सीमा-प्रान्त मे लालकुर्ती-दल की आश्चर्यजनक प्रगति हुई थी, बगाल में अत्यन्त विक्षोभ की दशा हो गई थी, और उसमे क्रोध और असन्तोष अन्दर-ही-अन्दर बढ गया था, सदा मौजूद साम्प्रदायिक समस्या तो थी ही, और कॉंग्रेस के लोगो और सरकारी अफसरो के बीच में कई तरह के मामलो में छोटे-छोटे कई स्थानीय झगडे खडे हो गये थे, जिनमे दोनो पक्ष एक-दूसरे पर दिल्ली-समझौते को तोडने का इलजाम लगाते थे। इसके अलावा यह सवाल भी बार-बार उठता था कि क्या कॉंग्रेस गोलमेज-कान्फ्रेन्स मे शामिल होगी ? क्या गाधीजी को वहाँ जाना चाहिए ?

३७

समझौता-काल में दिक्कतें

गांधीजी को गोलमेज-कान्फ्रेन्स के लिए लन्दन जाना चाहिए या नही ? यह सवाल बराबर उठता रहता था, और इसका कोई निश्चित जवाब नही मिलता था। आखिरी मिनट तक कोई भी नही जानता था, कांग्रेस-कार्य-समिति और खुद गाधीजी भी नही जानते थे। क्योकि, जवाब का आधार तो कई बातो पर था, और नई-नई घटनाये परिस्थिति को निरन्तर बदल रही थी। इस सवाल और जवाब की तह मे असली और मुश्किल समस्याये खडी थी।

ब्रिटिश-सरकार और उसके दोस्तो की तरफ से हमसे बराबर कहा गया कि गोलमेज-कान्फ्रेंस ने तो विधान की रूप-रेखा निश्चित कर ही दी है, चित्र की मोटी-मोटी रेखाये खिच चुकी है, और अब तो इनमे रग भरना ही बाकी रहा है। मगर कॉंग्रेस ऐसा नही समझती थी और उसकी निगाह मे तो अभी सारी तस्वीर ही बनना बाकी थी, सो भी करीब-करीब कोरे कागज पर। यह तो सच था कि दिल्ली के समझौते के द्वारा सघ-स्वरूप को आधार मान लिया गया था, और सरक्षणो या प्रतिबन्धो का विचार भी मजूर कर लिया था। मगर हममे से बहुत-से तो बहुत पहले से ही हिन्दुस्तान के लिए सघ-स्वरूप का विधान ही सबमे ज्यादा उपयुक्त समझते थे। और इस विचार को हमारे मान लेने का यह मतलब नही था कि हमने खास उस तरह का सघ भी मान लिया जिसकी रचना पहली गोलमेज-कान्फ्रेन्स ने की थी। राजनैतिक स्वाधीनता और सामाजिक-परिवर्तन के साथ भी सघ-स्वरूप पूरी तरह मेल खा सकता है। हाँ, सरक्षणो या प्रतिबन्धो के विचार का मेल बैठाना ज्यादा मुश्किल था और मामूली तौर पर उनके होने से स्वाधीनता मे काफी कमी आ जाती थी। मगर 'भारत के हित की दृष्टि से' इन शब्दो से हम इस कठिनाई से कम-से-कम थोडी हद तक तो निकल सकते थे, फिर भी अच्छी तरह नही। कुछ भी हो, कराची-कॉंग्रेस ने यह साफ कर दिया था कि हमे वही विधान मजूर हो सकेगा जिसमे फौज, वैदेशिक मामलो और राजस्व तथा आर्थिक नीति पर पूरा अधिकार दिया गया हो, और हिन्दुस्तान को विदेशो की (आर्थात् अधिकाश ब्रिटिशो की) देनदारी मजूर करने से पहले अपने कर्ज़े के प्रश्न की जांच करने का हक हो। इसके अलावा मौलिक अधिकारो सम्बन्धी प्रस्ताव ने भी बता दिया था कि हम किन-किन राजनैतिक और आर्थिक तबदीलियो को करना चाहते है। ये सब बाते गोलमेज-कान्फ्रेन्स के कई निश्चयो और हिन्दुस्तान की हुकूमत के मौजूदा ढॉंचे के भी खिलाफ़ पड़ती थी।

कांग्रेस और ब्रिटिश-सरकार के दृष्टिकोणो मे भारी फ़र्क था, और अब इस अवस्था मे उनका दूर होना बहुत ही नामुमकिन मालूम होता था। करीब-क़रीब सभी कांग्रेसवालों को गोलमेज-कान्फ्रेन्स में कांग्रेस और सरकार के बीच किसी भी बात पर एक-राय होने की उम्मीद नही थी, और गाधीजी को भी, हालाकि वह हमेशा बडे आशावादी रहे है, कोई ज्यादा आशा न हो सकी। फिर भी वह कभी नाउम्मीद नहीं होते थे, और आखिरी हद तक कोशिश करने का इरादा रखते थे। हम सब महसूस करते थे, कि चाहे सफलता मिले या न मिले, मगर दिल्ली-समझौते के कारण एक बार प्रयत्न तो करना ही चाहिए। मगर दो जरूरी बाते थी, जिनके कारण हमारा गोलमेज-कान्फ्रेन्स मे हिस्सा लेना रुक सकता था। हम तभी जा सकते थे जबकि हमें गोलमेज-कान्फ्रेन्स के सामने अपना सम्पूर्ण दृष्टिबिन्दु रखने की पूरी आजादी रहे, और इसके लिए हमें यह कहकर कि यह मामला तो पहले ही तय हो चुका है, या और किसी सबब से, रोका न जाय। हिन्दुस्तान मे भी ऐसी परिस्थिति हो सकती थी कि जिससे गोल-मेज-कान्फ्रेन्स मे हमारा प्रतिनिधि न जा पाता। यहाँ ऐसी हालत पैदा हो सकती थी कि जिससे सरकार से सघर्ष खड़ा हो जाता, या जिसमे हमें कठोर दमन का मुकाबिला करना पडता। अगर हिन्दुस्तान में ऐसा हो, और हमारा घर ही जल रहा हो, तो हमारे किसी भी प्रतिनिधि के लिए यह बिलकुल नामुनासिब होता कि इस आग का खयाल न करके वह लन्दन मे जाकर विधान आदि पर कोरे पण्डितों की तरह बहस करे।

हिन्दुस्तान मे परिस्थिति तेजी से बदल रही थी। सारे देश मे ऐसा हो रहा था, खासकर बगाल, युक्तप्रान्त और सीमा-प्रान्त मे। बगाल में तो दिल्ली के समझौते से कोई खास फर्क नही पडा, और तनाव जारी रहा, बल्कि और भी ज्यादा हो गया। सविनय भंग के कुछ कैदी छोड दिये गये। लेकिन हजारो राजनैतिक कैदी, जो नाम के लिए सविनय भंग के कैदी नही समझे जा सकते थे, जेल में ही रहे। नजरबन्द भी जेलो या डिटेन्शन-कैम्पो में ही सडते रहे। राजद्रोहात्मक भाषणो या दूसरी राजनैतिक प्रवृत्तियो के कारण नई गिरफ्तारियाँ अकसर हो जाती थी, और आम तौर पर यही महसूस हो रहा था कि सरकार की तरफ से हमला अब भी बद नही हुआ है, वह जारी है। कांग्रेस के लिए आतकवाद के कारण बगाल की समस्या हमेशा बहुत ही कठिन रही है। कांग्रेस की सामान्य प्रवृत्तियों और सविनय भग के मुकाबिले मे आतकवादी हलचलें तो बहुत थोड़ी और बहुत छोटी ही रही है। मगर उनसे शोर ज्यादा मचता था, और उनकी तरफ ध्यान बहुत खिंच जाता था। इन हलचलो से दूसरे प्रान्तों की तरह कांग्रेस का काम होना मुश्किल हो गया था। क्योंकि आतकवाद

से ऐसा वातावरण पैदा हो जाता था कि जो शान्ति-पूर्ण लड़ाई के लिए माफ़िक न था। लाजिमी तौर पर इसके कारण सरकार ने सख्त-से-सख्त दमन किया, जोकि आतकवादी और गैर-आतकवादी बहुत-कुछ दोनो पर निष्पक्ष समानता से पड़ा।

पुलिस और मुकामी इन्तजामी अफसरो के लिए यह मुश्किल था कि वे खास कानूनो और आर्डिनेन्सो का (जो आतकवादियो के लिए बनाये गये थे) कांग्रेसवालो, मजदूरो और किसानो के कार्यकर्ताओ और दूसरे लोगो पर, जिनकी प्रवृत्तियो को वे नापसन्द करते थे, उपयोग न करे। यह मुमकिन है कि कई नजरबन्दो का, जिन्हे अभीतक कई वर्षो से बगैर इलजाम लगाये, मुकदमा चलाये या सजा दिये बन्द रक्खा गया था, असली कुसूर आतकवादी प्रवृत्तियां नही थी, बल्कि दूसरी ही कोई प्रबल राजनैतिक प्रवृत्ति हो। उन्हे इसका मौका तक नही दिया गया कि वे अपनी सफाई दे सके, या कम-से-कम अपना अपराध तक मालूम कर सके। उनपर अदालतो मे मुकदमे इसलिए नही चलाये जाते कि कदाचित पुलिस के पास उन्हे सजा दिलाने लायक काफी सुबूत नही है, हालाकि यह सभी जानते है कि सरकार-विरोधी जुर्मो के लिए ब्रिटिश भारत के कानून आश्चर्यजनक रूप से व्यापक और भरे-पूरे है और उनके घने जाल मे से बच सकना मुश्किल है। यह अक्सर होता है कि कोई आदमी अदालतो से तो बरी कर दिया जाता है, मगर फिर फौरन ही गिरफ्तार कर लिया जाता है और नजरबन्द बना लिया जाता है।

बगाल के इस पेचीदा सवाल के सबब से कांग्रेस-कार्य-समिति के लोग अपनेको बड़ा लाचार अनुभव करते थे। वे हमेशा इससे परेशान रहते थे और किसी न-किसी शकल मे बगाल का कोई-न-कोई मामला जरूर उनके सामने आता ही रहता था। जितना उनसे बनता था उतना उस बारे मे वे जरूर करते थे, मगर वे अच्छी तरह जानते थे कि इससे असली सवाल हल न होगा। इसलिए, कुछ कमजोरी ही समझिए, वे जो-कुछ वहा होता था उसे वैसा ही चलने देते थे। और यह कहना भी मुश्किल है कि, उनकी जैसी परिस्थिति मे, वे और कर भी क्या सकते थे। बगाल मे कार्य-समिति के इस रवैये पर बडा रोष हो रहा था, और वहाँ यह ख़याल पैदा हो गया कि कांग्रेस कार्य-समिति और दूसरे सब प्रान्त बगाल की परवा नही करते। मालूम होता था कि मुसीबत के वक्त मे सबने बगाल का साथ छोड दिया है। मगर यह ख़याल बिलकुल गलत था, क्योकि सारे हिन्दुस्तान मे बगाल के प्रति सहानुभूति थी, लेकिन उसे यह नही सूझता था कि इस सहानुभूति को असली मदद की शकल मे कैसे जाहिर करे। इसके अलावा, हर प्रान्त के सामने अपने-अपने कष्टो का भी तो सवाल था।

युक्तप्रान्त मे किसानो की स्थिति खराब होती जा रही थी। प्रान्तीय-सरकार

इस सवाल पर टालमटोल करने की कोशिश कर रही थी। उसने लगान और मालगुजारी के छूट के फैसले को आगे धकेल दिया, और जबरदस्ती लगान-वसूली शुरू करदी। मजमूई बेदखलिया और कुर्किया होने लगी। जब हम लका में थे तभी, जबरदस्ती लगान-वसूली की कोशिश के कारण, दो या तीन मुकामो पर किसानो के दगे हो गये थे। ये दगे थे तो मामूली-से ही, मगर बदकिस्मती से उनमें जमीदार या उनके कारिन्दे मर गये थे। गाधीजी युक्तप्रान्त के गवर्नर सर मालकम हेली से किसानो की परिस्थिति पर बातचीत करने नैनीताल गये थे (उस वक्त भी मै लका में ही था), मगर उसका कोई अच्छा नतीजा नही निकला। जब सरकार ने छूट की घोषणा की, तो वह उम्मीद से बहुत कम थी। देहात मे लगातार चिल्ल-पो मचने और बढने लगी। ज्यो-ज्यो जमीदार और सरकार दोनो का मिलाकर दबाव बढता गया, और हजारो किसान अपनी जमीन से बेदखल किये जाने लगे, और उनकी छोटी-छोटी मिल्कियत छीनी जाने लगी, त्यो-त्यो ऐसी स्थिति पैदा होती गई कि जिससे किसी भी दूसरे देश मे एक बडा किसान-विप्लव खड़ा हो सकता था। मेरा खयाल है कि यह काग्रेस की कोशिश का ही नतीजा था कि जिससे किसानो ने कोई हिसात्मक कार्य नही किये। मगर खुद उनपर जो बल-प्रयोग हुआ उसका क्या पूछना!

किसानो के इस उभाड़ और मुसीबत मे एक बात अच्छी थी। खेती की पैदावारो के भाव बहुत कम हो जाने से गरीब लोगों के पास, जिनमे किसान भी शामिल थे, अगर उनकी सम्पत्ति छिनी नही थी तो, पिछले कई सालो की बनिस्बत, ज्यादा खाद्य-सामग्री मौजूद थी।

बंगाल की ही तरह, सीमाप्रान्त मे भी दिल्ली के समझौते से कोई शान्ति नही हुई। वहा विक्षोभ का वातावरण निरन्तर बना रहा। वहाँ की हुकूमत विशेष कानूनो और आर्डिनेन्सो और छोटे-छोटे-से कुसूरो पर भारी-भारी सजाओ के कारण एक फौजी प्रबन्ध जैसी हो रही थी। इस हालत का विरोध करने के लिए खान अब्दुल-गफ्फारखा ने बडा आन्दोलन उठाया, जिससे सरकार की निगाह मे वह बहुत खटकने लगे। वह छ फीट तीन इच ऊँचे पूरे पठान, अपनी मर्दानगी के साथ, गाव-गाव पैदल जाते थे, और जगह-जगह 'लाल-कुर्ती' दल के केन्द्र कायम करते थे। जहा कही वह या उनके खास-खास साथी जाते थे वहा-वहा वह लाल-कुर्ती-दल का एक सिलसिला बनाकर छोड जाते थे, और जल्दी ही सारे प्रान्त मे 'खुदाई खिदमतगार' की शाखायें फैल गईं। वे बिलकुल शान्तिपूर्ण थे, और उनके खिलाफ गोल-मोल आरोप लगाये जाने पर भी, आजतक हिसा का कोई एक भी निश्चित अभियोग नही ठहर सका है। मगर चाहे वे शान्तिपूर्ण रहे हो या नही, उनका पूर्व-इतिहास तो युद्ध और हिसा का

रहा था, और वे उपद्रवी सीमाप्रदेश के पास बसे हुए थे इसलिए इस अनुशासन-युक्त आन्दोलन के, जिसका हिन्दुस्तान के राष्ट्रीय-आन्दोलन से गहरा ताल्लुक था, तेज़ी से बढने के कारण सरकार घबरा गई। मेरा खयाल है कि उसने इस आन्दोलन के शान्ति और अहिंसा के दावे पर कभी विश्वास नहीं किया। मगर, यदि उसने विश्वास भी कर लिया होता, तो भी उसके हृदय में इसके कारण दहशत और झुझलाहट ही पैदा हुई होती। इसमें उसे इतनी असली और भीतरी शक्ति दिखाई दी कि वह इसे शान्ति से देखती नहीं रह सकती थी।

इस बडे आन्दोलन के मुखिया, विला उज्र, खान अब्दुलगफ्फारखा ही थे—जिन्हे 'फखे-अफगान', 'फख्रे-पठान', 'गाधी-ए-सरहद' वगैरा नामों से याद किया जाने लगा। उन्होंने सिर्फ अपने चुपचाप और इस्तकलाल-भरे काम के बल पर, जिनमें न वह मुश्किलो से डरे न सरकारी दमन से, सीमाप्रान्त में हैरत-अगेज हरदिलअजीजी हासिल कर ली थी। जैसे कि राजनीतिज्ञ आम तौर पर हुआ करते हैं, उस तरह के राजनीतिज्ञ न वह थे, न है, वह सियासी चालाकियों और पैंतरेबाजियों को नहीं जानते। वह तो एक ऊंचे और सीधे, शरीर और मन दोनों से सीधे, आदमी हैं। वह शोर-गुल और बहुत बकवास से नफरत करते हैं। वह हिन्दुस्तान की आजादी के ढांचे के अन्दर अपने सीमाप्रान्तीय लोगों के लिए भी आजादी चाहते हैं, मगर विधानों और कानूनी बातों के बारे में उनका दिमाग स्पष्ट नहीं है और न उनमें उन्हें कोई दिलचस्पी ही है। किसी भी चीज को पाने के लिए जोरदार काम की जरूरत है, और गाधीजी ने ऐसे शान्तिपूर्ण काम का एक बढिया तरीका, जो उन्हें जँच गया, बता ही दिया था। इसलिए ज्यादा बहस में न पडते हुए, और अपने सगठन के लिए कायदों के मसविदे के फेर में न पड़ते हुए, उन्होंने सीधा सगठन करना ही शुरू कर दिया और उसमें उन्हें खूब कामयाबी मिली।

गाधीजी की तरफ उनका रुझान खास तौर पर हो गया। पहले तो, अपने-आपको पीछे ही रखने के लजीलेपन के सबब से, वह उनसे दूर-दूर रहे। बाद में कई मामलों पर बहस करने के लिए उन्हें उनसे मिलना पडा, और उनका ताल्लुक बढ़ा। यह ताज्जुब की बात है कि इस पठान ने अहिंसा को उसूलन हममें से कई लोगों की बनिस्बत ज्यादा कैसे मान लिया? और चूंकि उनका अहिंसा पर पक्का यकीन था, इसी कारण वह अपने लोगों को समझा सके कि उभाडे जाने पर भी शान्ति रखने का बडा भारी महत्व है। यह कहना तो बिलकुल गलत ही होगा कि सीमा-प्रान्त के लोगों ने कभी भी या छोटी भी हिंसा करने का विचार पूरी तरह से छोड दिया है, जैसा कि किसी भी प्रान्त के लोगों के बारे में आम तौर पर यह कहना बिलकुल गलत

होगा। आम जनता तो भावुकता की लहरों में बहा करती है, और जब इस तरह की लहर उठ जाय तब वह क्या करेगी यह पहले से नहीं कहा जा सकता। मगर अपने-आप पर काबू और ज़ब्त रखने की जो मिसाल सीमा-प्रान्त के लोगों ने १९३० में और बाद के बरसों में पेश की थी वह कुछ विलक्षण ज़रूर थी।

सरकारी अधिकारी और हमारे कई निहायत डरपोक देशवासी 'सीमा-प्रान्तीय गाँधी' को शक की निगाह से देखते हैं। वे उनकी बातों का यकीन नहीं करते। उन्हें उनमें कोई छिपा हुआ षड्यन्त्र ही दिखाई देता है। मगर पिछले कुछ बरसों से वह और सीमा-प्रान्त के दूसरे साथी हिन्दुस्तान के दूसरे हिस्सों के काँग्रेसी कार्यकर्ताओं के बहुत नजदीक आ गये हैं, और इनके बीच में गहरा भाईचारा और परस्पर आदर और कद्रदानी का भाव पैदा हो गया है। खान अब्दुलगफ्फारखा को काँग्रेस के लोग कई बरस से जानते और चाहते हैं। मगर वह महज एक साथी ही नहीं हैं, उससे कुछ ज्यादा हैं। दिन-ब-दिन हिन्दुस्तान के बाकी हिस्सों में लोग उनको एक बहादुर और निडर लोगों के, जो हमारे सर्व-सामान्य युद्ध में हमारे साथी हैं, साहस और बलिदान का प्रतीक समझने लगे हैं।

खान अब्दुलगफ्फारखा से पहचान होने के बहुत पहले ही मैं उनके भाई डाक्टर खानसाहब को जानता हूँ। जब मैं केम्ब्रिज में पढ़ता था, तब वह लन्दन के सेण्ट-टॉमस अस्पताल में शिक्षा पाते थे, और बाद में जब मैं इनर टेम्पल के कानूनी विद्यालय में पढता था तब मेरी-उनकी गहरी दोस्ती हो गई थी। जब मैं लन्दन में रहता था, तो शायद ही कोई ऐसा दिन जाता हो जब हम आपस में न मिलते हों। मैं तो हिन्दुस्तान चला गया, मगर वह इंग्लैण्ड में ही रह गये और महायुद्ध के ज़माने में डाक्टर की हैसियत से काम करते हुए कई बरसों तक वहीं रहे। इसके बाद मैंने उन्हें नैनी-जेल में देखा।

सीमा-प्रान्त के लालकुर्तीवालों ने काँग्रेस के साथ सहयोग तो किया, लेकिन उनका संगठन अपना अलग ही था। यह एक विचित्र स्थिति थी। दोनों को जोड़ने-वाली कड़ी तो अब्दुलगफ्फारखा थे। १९३१ की गर्मियों में इस सवाल पर कार्य-समिति ने सीमा-प्रान्त के नेताओं के परामर्श से यह तय किया कि लालकुर्तीवालों को काँग्रेस का ही अंग बना लिया जाय। इस तरह वे काँग्रेस के एक जुज़ बन गये।

गांधीजी की ख्वाहिश थी कि वह कराची-काँग्रेस के बाद ही फौरन सीमा-प्रान्त में जायँ, मगर सरकार ने ऐसा न होने दिया। बाद के महीनों में जब सरकारी अधिकारियों ने लालकुर्ती दल की कार्रवाइयों की शिकायत की, तो उन्होंने ज़ोर दिया कि मुझे वहाँ इन बातों का खुद पता लगाने के लिए जाने की इजाज़त दी जाय,

मगर उन्हे नही जाने दिया गया। न वहा मेरा जाना ही पसन्द किया गया। दिल्ली के समझौते को देखते हुए, हमने यह ठीक नही समझा कि हम सरकार की स्पष्ट इच्छा के विरुद्ध सीमा-प्रान्त मे चले जायँ।

इन सवालो के अलावा, कार्य-समिति के सामने एक और मसला था, साम्प्रदायिक। यह कोई नई समस्या न थी, हालाकि बार-बार यह नई और अजीब शकल मे सामने आती थी। गोलमेज कान्फ्रेन्स के सबब से उसे और भी महत्व मिल गया। क्योकि यह तो जाहिर था कि ब्रिटिश-सरकार इसीको सबसे आगे रक्खेगी, और दूसरी सब समस्याओ को इससे कम महत्व देगी। इस कान्फ्रेन्स के मेम्बर, जो कि सभी सरकार के नामजद किये हुए थे, खासकर इस तरह पसन्द किये गये थे कि जिससे साम्प्रदायिक और सामुदायिक स्वार्थों को महत्व दिया जा सके, और सामान्य स्वार्थों के बजाय इन भेद-भावो पर जोर दिया जा सके। सरकार ने खास तौर पर, और जोर के साथ, राष्ट्रीय मुसलमानो के किसी भी नेता को नामजद करने से ही इन्कार कर दिया। गाधीजी ने महसूस किया कि अगर ब्रिटिश सरकार के कहने से कान्फ्रेन्स बिलकुल शुरू में ही साम्प्रदायिक सवाल मे उलझ गई, तो असली राजनैतिक और आर्थिक सवालो पर काफी विचार न हो सकेगा। इस परिस्थिति मे उनके लन्दन जाने से कोई फ़ायदा न होगा। इसलिए उन्होने कार्य-समिति के सामने यह बात पेश की कि लन्दन तभी जाना चाहिए जब कि सब सम्बधित दलो के बीच में साम्प्रदायिक समस्या पर कोई समझौता हो जाय। उनकी यह सहज-बुद्धि बिलकुल ठीक थी, मगर कमिटी ने यह बात न मानी, और यह फ़ैसला किया कि सिर्फ इसी आधार पर, कि हम साम्प्रदायिक समस्या को तय नही कर पाये हैं, उन्हे जाने से इन्कार न करना चाहिए। कमिटी ने विविध सम्प्रदायो के प्रतिनिधियो की सलाह से इस समस्या का हल ढूढने की कोशिश भी की। मगर इसमे ज्यादा कामयाबी न मिली।

१९३१ की गर्मियो मे, छोटे-मोटे कई मसलो के अलावा, यही कुछ बडे प्रश्न हमारे सामने थे। सारे देश की मुकामी काग्रेस-कमिटियो से हमारे पास बराबर शिकायते आ रही थी कि मुकामी अफसरो ने फला-फला बात मे दिल्ली के समझौते को तोड दिया है। हमने उनमे से कुछ बडी-बडी शिकायते सरकार के पास भी भेज दी, और उधर सरकार ने भी काग्रेसवालो के खिलाफ समझौता तोडने के आरोप लगाये। इस तरह से एक-दूसरे पर आरोप और प्रत्यारोप लगाये गये, और बाद मे वे अखबारो मे भी छाप दिये गये। यह कहने की जरूरत नही है कि इससे भी काँग्रेस और सरकार के ताल्लुकात सुधरे नही।

फिर भी, इन छोटे-छोटे मामलो के सबध मे सघर्ष खुद कोई बडा महत्व नही

रखता था। इसका महत्व यही था कि इससे एक दूसरे ही अधिक मौलिक सघर्ष के बढने का पता लगता था। यह मौलिक सघर्ष व्यक्तियो पर निर्भर नही करता था, मगर वह हमारे राष्ट्रीय सग्राम के स्वरूप के कारण और हमारे ग्रामो की आर्थिक व्यवस्था में असामञ्जस्य होने के कारण उत्पन्न हुआ था। इस सघर्ष को बिना बुनियादी परिवर्तन किये हटाना या कम करना मुमकिन नही था। हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन मूल मे इसलिए शुरू हुआ था कि हमारे ऊपरी तह के मध्यम-वर्गो मे अपनी उन्नति और विकास का साधन प्राप्त करने की इच्छा पैदा हुई, और इसकी जड में राजनैतिक और आर्थिक प्रेरणा थी। यह आन्दोलन निचले मध्यम वर्गो में फैल गया, और देश मे एक ताकत बन गया, और फिर उसने देहात की जनता को भी उठाना शुरू किया, जिन्हे आम तौर पर यह भी मुश्किल हो रहा था कि अपना सबसे निचली कोटि का दरिद्रतापूर्ण जीवन भी किसी तरह कायम रख सके। पुराने जमाने की स्वावलम्बी ग्रामीण व्यवस्था कभी की मिट चुकी थी। सहायक घरेलू धन्धे भी, जो खेती के सहायक थे और जिनसे जमीन का बोझ कुछ कम हो जाता था, बर्बाद हो गये थे। कुछ तो सरकारी नीति के सबब से, मगर खासकर इस कारण कि वे मशीनो के व्यवसायो का मुकाबिला नही कर सके। जमीन का बोझ बढने लगा, और हिन्दुस्तान के कारखानो की तरक्की इतनी धीमी हुई कि वह इसमे कुछ फर्क न कर सकी। और फिर ये गाँव, जो सब तरह से साधन-हीन और तरह-तरह के बोझो से लदे हुए थे, सहसा, ससार के बाजारो के मुकाबिले मे डाल दिये गये, और इधर-से-उधर धक्के खाने लगे। बराबरी के नाते से वे विदेशो का मुकाबिला कर नही सकते थे। उनकी उत्पत्ति के औजार पुराने ढग के थे, और जमीन के बँटवारे का तरीका उनका ऐसा था जिससे खेत बराबर छोटे-छोटे टुकडो मे बँटते जाते थे। कोई भी आमूल सुधार होना नामुमकिन था। इस-लिए कृषि करनेवाले वर्ग—जमीदार और काश्तकार दोनो ही—सिवा उन दिनो के जबकि भाव बहुत ऊँचे हो जाते थे, नीचे ही गिरते गये। जमीदारो ने अपने बोझ को काश्तकारो पर उतारने की कोशिश की, और किसानो के, छोटे जमीन-मालिको और काश्तकारो दोनो ही के, मुफलिस हो जाने के कारण वे राष्ट्रीय आन्दोलन की तरफ खिच आये। खेत-मजदूर भी, अर्थात् देहातो के ऐसे लोग जिनके पास जमीन नही थी और जिनकी तादाद बडी थी, इस तरफ आर्कषित हुए। इन देहाती वर्गो के लिए तो 'राष्ट्रीयता' या 'स्वराज' का मतलब यही था कि जमीन के बँटवारे की प्रणाली मे मौलिक परिवर्तन किया जाय, जिससे कि उनका बोझ दूर या कम हो जाय और भूमि-हीन को भूमि मिल जाय। मगर राष्ट्रीय आन्दोलन मे पडे हुए किसानो या मध्यम-वर्गीय नेताओ मे किसीने भी उनकी इन इच्छाओ को साफ तौर पर प्रदर्शित नही किया।

१९३० का सविनय भग-आन्दोलन उद्योग-धन्धो और कृषि की बडी ससार-व्यापी मन्दी के बिलकुल अनुकूल वैठ गया, और इसका पता पहले तो उसके नेताओ को भी न लगा। इस मन्दी का असर देहाती जनता पर भी बहुत ज्यादा पडा था, इसलिए वे भी कॉंग्रेस और सविनय भग की तरफ झुक पडे। उनका यह लक्ष्य नही था कि लन्दन मे या दूसरी किसी जगह बैठकर कोई अच्छा-सा विधान तैयार किया जाय, मगर उनका लक्ष्य, खासकर जमीदारी प्रदेश मे, यह था कि भूमि-प्रथा मे बुनियादी तबदीली की जाय। वास्तव मे यह मालूम होने लगा कि जमीदारी तरीका अब इस जमाने के लिए पुराना पड गया है, और उसमे कोई स्थिरता बाकी नही रही थी। मगर ब्रिटिश-सरकार, अपनी मौजूदा परिस्थिति मे, इस भूमि-प्रणाली मे कोई बुनियादी तबदीली करने की हिम्मत नही दिखा सकती थी। जब उसने एक शाही कृषि-कमीशन मुकर्रर किया था, तब भी उसके निर्देशो में ज़मीन की मिल्कियत और भूमि-प्रणाली के परिवर्तन पर विचार करने की मनाई कर दी गई थी।

इस तरह, उस समय, सघर्ष मानो हिन्दुस्तान की परिस्थिति मे ही निहित था, और वह किसी प्रकार के मोहक शब्दो या समझौतो से दूर नही किया जा सकता था। दूसरे आवश्यक राष्ट्रीय प्रश्नो के अलावा जमीन के सवाल का बुनियादी हल निकालने से ही यह सघर्ष बच सकता था। यह हल ब्रिटिश-सरकार के मार्फत निकले, इसकी कोई सभावना न थी। आरजी इलाजो से बीमारी चाहे थोडी देर के लिए कम हो सके, और सख्त दमन के डर से चाहे लोग उसका इजहार करना बन्द कर दे, मगर दोनो बातो से सवाल का हल नही निकल सकता था।

मगर, मेरा खयाल है कि, ज्यादातर सरकारो की तरह ब्रिटिश-सरकार का भी यह विचार है कि हिन्दुस्तान मे ज्यादा गडबड 'आन्दोलनकारियो' के कारण है। मगर यह बिलकुल ही वाहियात विचार है। पिछले पन्द्रह बरसो से हिन्दुस्तान के पास एक ऐसा नेता तो रहा है, जिसे अपने करोडो देशवासियो से स्नेह-श्रद्धा और पूजा तक प्राप्त है, और जो उससे कई तरह अपनी इच्छा भी मनवा लेता है। उसने उसके वर्तमान इतिहास मे बहुत ही महत्वपूर्ण हिस्सा लिया है, मगर फिर भी उससे ज्यादा महत्वपूर्ण तो वे आम लोग ही रहे है जो उसके आदेशो को मानो आँख बन्द करके मानते रहे है। आम लोग ही मुख्य अभिनेता थे, और उनके पीछे, उन्हे आगे धकेलनेवाली, बडी-बडी ऐतिहासिक प्रेरणाये थी, जिन्होने लोगो को तैयार कर दिया और अपने नेता की बासुरी सुनने को मजबूर कर दिया। उस ऐतिहासिक परिस्थिति, और राजनैतिक और आर्थिक प्रेरणाओ के अभाव मे, कोई भी नेता या आन्दोलनकारी उन्हे कोई भी काम करने की स्फूर्ति नही दे सकते थे। गाधीजी मे नेतृत्त्व का यही खास गुण था कि

वह अपनी सहज-बुद्धि से आम लोगो की नब्ज पहचान सकते थे, और जान लेते थे कि किस प्रगति और कार्य के लिए कब परिस्थिति ठीक अनुकूल है।

१९३० मे हिन्दुस्तान का राष्ट्रीय आन्दोलन कुछ वक्त के लिए देश की बढ़ती हुई सामाजिक शक्तियो के बिलकुल अनुकूल बैठ गया, जिससे उसे बड़ी ताकत मिल गई। उसमे वास्तविकता मालूम होने लगी, और ऐसा लगने लगा कि मानों वह सचमुच इतिहास के साथ कदम-ब-कदम आगे बढ रहा है। कॉंग्रेस उस राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रतिनिधि थी, और उसकी प्रतिष्ठा-वृद्धि से मालूम होता था कि उसकी शक्ति और सत्ता बढ रही है। यह कुछ-कुछ अस्पष्ट, कुछ बे-अन्दाज, कुछ अनिर्वचनीय-सा तो था, किन्तु फिर भी बहुत-कुछ मौजूद तो था ही। नि सन्देह किसान लोग कॉंग्रेस की तरफ झुके, और उन्होने ही उसकी असली शक्ति बनाई। निचले मध्यम-वर्ग ने उसे सबसे मजबूत सैनिक दिये। ऊपरी मध्यम-वर्ग ने भी, इस वातावरण से घबराकर, कॉंग्रेस से दोस्ती बनाये रखने मे ही ज्यादा भलाई देखी। ज्यादातर सूती मिलो ने कॉंग्रेस के बनाये इकरार-नामो पर दस्तखत कर दिये, और वे ऐसे काम करने से डरने लगी जिनसे कॉंग्रेस उन-पर नाराज हो जाय। जब कुछ लोग लन्दन मे बैठे पहली गोलमेज-कान्फ्रेन्स मे अच्छे-अच्छे कानूनी मुद्दो पर बातचीत कर रहे थे, उस वक्त मालूम हो रहा था कि आम लोगो के प्रतिनिधि की हैसियत से कॉंग्रेस के पास ही धीरे-धीरे और अनजान मे असली ताकत जा रही है। दिल्ली के समझौते के बाद भी यह भ्रम बढ़ता ही रहा, किन्ही अभिमान-भरे भाषणो के कारण नही, बल्कि १९३० और बाद की घटनाओ के कारण। इसमे शक नही कि शायद कॉंग्रेस के नेताओ को ही सबसे ज्यादा यह पता था कि सामने क्या-क्या कठिनाइयाँ और खतरे आनेवाले है, और इसलिए उनको मामूली न समझने की उन्होने पूरी फिक्र रक्खी।

देश मे दो सस्थाओ के पास सत्ता होने की यह अस्पष्ट भावना कुदरती तौर पर सरकार को बहुत ही चुभनेवाली थी। असल में, इस धारणा के लिए कोई असली बुनियाद तो थी नही, क्योकि दृश्य सत्ता तो सोलहो आना सरकारी अधिकारियो के हाथ मे ही थी, फिर भी, लोगो के दिमागो मे उसका अस्तित्व था, इसमे तो शक नही। सत्तावादी और अ-परिवर्तनीय शासन-तन्त्र के लिए तो यह स्थिति चलने देना असम्भव था, और इसी विचित्र वातावरण से अधिकारी बेचैन हो गये, न कि ग्रामो के कुछ ऐसे-वैसे भाषणो या जुलूसो से, जिनकी कि उन्होने बाद मे शिकायत की। इसलिए सघर्ष होना अनिवार्य ही दीखने लगा। कॉंग्रेस अपनी खुशी से खुदकुशी नही कर सकती थी, और सरकार भी इस द्वैध-सत्ता के वातावरण को बरदाश्त नही कर सकती थी, और कॉंग्रेस को कुचल डालने को तुली हुई थी। यह सघर्ष दूसरी

गोलमेज-कान्फ्रेन्स के सबब से रुका रहा। किसी-न-किसी कारण से, ब्रिटिश-सरकार गाधीजी को लन्दन बुलाने को बहुत उत्सुक थी, और इसीसे जहाँतक हो सके कोई भी ऐसा काम नही करती थी जिससे उनका लन्दन जाना रुक जाय।

इसके बावजूद सघर्ष की भावना बढती ही गई, और हमे दीखने लगा कि सरकार का रुख़ सख़्त हो रहा है। दिल्ली के समझौते के बाद ही लार्ड अर्विन हिन्दुस्तान से चले गये और लार्ड विलिंगडन उनकी जगह वाइसराय बनकर आये। यह खबर फैलने लगी कि नया वाइसराय बडा सख़्त और करारा आदमी है, और पिछले वाइसराय की तरह समझौते करनेवाला नही है। हमारे कई राजनैतिक पुरुषो मे, राजनीति के उसूलो की निगाह से न देखकर व्यक्तियो की निगाह से देखने की लिबरलो की तरह, आदत हो गई है। वे यह नही समझते कि ब्रिटिश-सरकार की सामान्य साम्राज्य-वादी नीति वाइसरायो की व्यक्तिगत रायो पर निर्भर नही रहती। इसलिए वाइसरायो के बदल जाने से कोई फर्क नही पडा, न पड सकता था। मगर, असल मे यह हुआ कि परिस्थिति की गति-विधि के कारण सरकार की नीति भी धीरे-धीरे बदलती गई। सिविल-सर्विस के उच्च अधिकारियो को कॉंग्रेस के साथ समझौते या व्यवहार करने की बात पसन्द नही थी। शासन के सबध मे उनकी सारी तालीम और सत्तावादी धारणाये इसके खिलाफ थी। उनके दिमाग मे यह खयाल था कि उन्होने गाधीजी के साथ बिलकुल बराबरी का-सा बर्ताव करके कॉंग्रेस के प्रभाव और गाधीजी के रुतबे को बढा दिया है, और अब यह वक्त है कि जब उनको थोडा-सा नीचा गिराया जाय। यह खयाल बडी बेवकूफी का था, मगर, हिन्दुस्तान की सिविल-सर्विस मे विचारो की मौलिकता तो कभी मानी ही नही गई है। खैर, कुछ भी कारण हो, सरकार सख़्ती से तन गई और उसने अपना पजा और भी मजबूती से जमाया, और पुराने पैगम्बर के शब्दो मे मानो उसने हमसे कहा कि 'मेरी छोटी अगुली भी मेरे बाप की कमर से मोटी है, जबकि उसने तुम्हे कोडो से तोबा कराई, तो मै तुम्हे बिच्छू के डको से कराऊँगा।'

मगर अभी तोबा करने का वक्त नही आया था। अभी तो यही जरूरी समझा गया कि अगर मुमकिन हो, तो कॉंग्रेस का प्रतिनिधि दूसरी गोलमेज-कान्फ्रेन्स मे ज़रूर जाय। वाइसराय और दूसरे अधिकारियो से लम्बी-लम्बी बातचीत करने के लिए गाधीजी दो बार शिमला गये। उन्होने उस समय उपस्थित कई सवालो पर बातचीत की, और बगाल के अलावा, जो सरकार को सबसे ज्यादा चिन्तित कर रहा मालूम पडता था, खासकर सीमा-प्रान्त के लालकुर्त्ती-दल-आन्दोलन और युक्तप्रान्त के किसानो की स्थिति इन दो विषयो पर बातचीत हुई।

शिमला में गांधीजी ने मुझे भी बुलवा लिया था, और मुझे भारत-सरकार के कुछ अधिकारियों से मिलने के भी मौक़े मिले। मैं सिर्फ़ युक्तप्रान्त के बारे में ही बातचीत करता था। बड़ी साफ़-साफ़ बातें हुईं, और छोटे-छोटे आरोपों और प्रत्यारोपों की तह में जो असली संघर्ष की बातें छिपी हुई थीं उनपर भी बहस हुई। मुझे याद है कि मुझसे कहा गया, कि फरवरी १९३१ में ही सरकार की ऐसी स्थिति थी कि वह ज्यादा-से-ज्यादा तीन महीने के अन्दर सविनय-भंग के आन्दोलन को दबा सकती थी। उसने अपना सारा यन्त्र तैयार कर लिया था, और सिर्फ़ उसे चला भर देने की जरूरत थी, सिर्फ़ बटन दबा देने की आवश्यकता थी। मगर उसने यह सोचकर कि, अगर हो सके तो, बल-प्रयोग के बजाय आपस में मिलकर समझौता कर लेना अच्छा होगा, आपसी बातचीत करके देखना तय किया था, और इसीका नतीजा था कि दिल्ली का समझौता हो गया। अगर समझौता न हुआ होता, तो बटन तो मौजूद था ही, और एक पल-भर में दबाया जा सकता था। और इसमें यह भी इशारा मालूम होता था, कि अगर हमने ठीक बर्ताव न किया तो फिर जल्दी ही बटन दबा देना पड़ेगा। यह सारी बात बड़ी आजिजी से और साफ़-साफ़ कही गई थी, और हम दोनों ही जानते थे कि हमारे बावजूद, और चाहे हम कुछ भी कहें या करें, संघर्ष होना तो लाजिमी था।

एक दूसरे ऊँचे अधिकारी ने कांग्रेस की तारीफ़ भी की। उस वक़्त हम ज्यादा व्यापक ग़ैर-राजनैतिक ढंग की समस्याओं पर विचार कर रहे थे। उसने मुझसे कहा कि, राजनीति के सवाल को छोड़ दें तो भी, कांग्रेस ने हिन्दुस्तान की बड़ी भारी ख़िदमत की है। हिन्दुस्तानियों के ख़िलाफ़ आम तौर पर यह इलज़ाम लगाया जाता है कि वे अच्छे संगठन-कर्ता नहीं हैं, मगर १९३० में कांग्रेस ने, भारी कठिनाइयों और विरोध के होते हुए भी, एक आश्चर्यजनक संगठन कर दिखाया था।

जहाँतक गोलमेज-कान्फ्रेंस में जाने का सवाल था, गांधीजी की पहली शिमला-यात्रा का कोई नतीजा न निकला। दूसरी यात्रा अगस्त के आख़िरी हफ़्ते में हुई। जाने या न जाने का आख़िरी फ़ैसला तो करना ही था, मगर फिर भी उन्हें हिन्दुस्तान छोड़ने का निश्चय करना मुश्किल हो गया। बंगाल में, सीमा-प्रान्त में और युक्तप्रान्त में उन्हें मुसीबत आती हुई दीख रही थी, और जबतक उन्हें हिन्दुस्तान में शान्ति रहने का आश्वासन न मिल जाय, वह जाना नहीं चाहते थे। अन्त में एक तरह का समझौता सरकार के साथ हो गया, जो एक वक्तव्य और परस्पर के पत्र-व्यवहार के रूप में था। यह बिलकुल ही आख़िरी घड़ी किया गया, ताकि वह उस जहाज़ से जा सकें जिस-में गोलमेज-कान्फ्रेंस के प्रतिनिधि जा रहे थे। वास्तव में, यह एक तरह से बिलकुल ही

आखिरी घडी मे हुआ था, क्योंकि आखिरी ट्रेन छूट चुकी थी। शिमला से कालका तक एक स्पेशल ट्रेन तैयार कराई गई, और कालका से छूटनेवाली गाडी पकडने के लिए दूसरी गाडियाँ रोक दी गई।

मैं उनके साथ शिमला से बम्बई तक गया। और वहाँ अगस्त के एक सुन्दर प्रभात में मैंने उन्हे बिदाई दी, और वह अरबी समुद्र और सुदूर पश्चिम की तरफ बढ चले। बस, अगले दो साल तक के लिए मुझे यही उनका अन्तिम दर्शन था।

३८

गोलमेज़-कान्फ्रेन्स

एक अंग्रेज़ अखबारनवीस ने हाल ही मे एक किताब लिखी है और उसका दावा है कि उसने गाँधीजी को हिन्दुस्तान में और लन्दन मे गोलमेज-कान्फ्रेन्स मे बहुत काफी देखा है। अपनी किताब मे उसने लिखा है.—

"मुलतान नाम के जहाज मे जो लीडर बैठे हुए थे वे यह जानते थे कि गाधीजी के खिलाफ कार्य-समिति के भीतर एक साजिश की गई है और वे यह भी जानते थे कि वक्त आते ही काँग्रेस उन्हे निकाल फेंकेगी। लेकिन कांग्रेस गाधीजी को निकाल-कर गालिबन अपने आधे के करीब मेम्बरो को निकाल देगी। इन आधे मेम्बरो को सर तेजबहादुर सप्रू और जयकर साहब लिबरल-पार्टी मे मिला लेना चाहते थे। वे इस बात को कभी नही छिपाते थे। उन्हीके लफ्जो मे गाधीजी का दिमाग साफ नही है, लेकिन अगर कोई मट्ठे दिमागवाला नेता अपने साथ दस लाख मट्ठे दिमागवाले अनुयायी आपको दे तो उसको अपनी तरफ़ करना अच्छा ही है।"[१]

मुझे पता नही कि इस उद्धरण मे जो बाते कही गई है वे सर तेजबहादुर सप्रू और जयकर साहब या गोलमेज़-कान्फ्रेन्स के दूसरे मेम्बरो के विचारो को, जो सन् १९३१

१. ग्लोर्नें बोल्टन की The Tragedy of Gandhi नामक पुस्तक का यह उद्धरण मैंने उस किताब की एक आलोचना से लिया है, क्योंकि खुद किताब को पढ़ने का मौक़ा अभीतक नहीं मिल पाया है। मुझे उम्मीद है कि मैं ऐसा करके किताब के लेखक या जिन शख्सों का नाम उसमें आया है उनके साथ कोई ज्यादती नहीं कर रहा हूँ।

इतना लिखने के बाद मैंने किताब भी पढ़ ली। मि० बोल्टन के बहुत-से बयान और उन्होंने जो नतीजे निकाले हैं वे मेरे विचार से बिलकुल बेबुनियाद हैं। इसके अलावा कई वाक़यात भी ग़लत दिये गये हैं। ख़ासकर कमिटी ने दिल्ली-पैक्ट की बातचीत के दौरान में और उसके बाद क्या किया और क्या नहीं किया इस विषयक वाक़यात। उन्होंने एक अजीब बात यह भी मान ली है कि १९३१ में सरदार वल्लभभाई पटेल को काँग्रेस की सदारत और उसके जरिये से उसकी रहनुमाई गांधीजी की प्रतिस्पर्धा में मिली, जबकि सच बात यह है कि पिछले पन्द्रह बरसों में काँग्रेस में और निस्सन्देह देश में भी गांधीजी की हस्ती काँग्रेस के किसी भी सदर से कहीं ज्यादा बड़ी हस्ती रही है। वह सभापति बनानेवाले रहे हैं और उनकी बात हमेशा लोगों ने मानी है। उन्होंने खुद बार-बार सदर होने से इन्कार किया और यह पसन्द किया कि उनके

में लन्दन आ रहे थे, कहाँतक प्रकट करती है। लेकिन मुझे यह बात जरूर आश्चर्य-जनक मालूम होती है कि हिंदुस्तान की राजनीति मे थोडी-सी जानकारी रखनेवाला कोई शख्स, फिर चाहे वह अखबारनवीस हो या नेता, इस तरह की बात कह सकता है। मै तो उसे पढकर दग रह गया, क्योकि इससे पहले मैंने किसीको इशारे मे भी इस तरह की बात कहते हुए नही सुना। लेकिन इसमे ऐसी कोई बात नही है जो समझ मे न आये, क्योकि तभी से मैं ज्यादातर जेल मे ही रहा हूँ।

कुछ साथी और लेफ्टिनेन्ट सदारत करें। मैं तो कांग्रेस का सदर महज़ उन्हींकी बदौलत हुआ। वास्तव में वह चुन लिये गये थे, लेकिन उन्होंने अपना नाम वापस लेकर जबरदस्ती मुझे चुनवाया। वल्लभभाई का चुनाव भी मामूली तरीके से नहीं हुआ। हम लोग अभी-अभी जेल से निकले थे। अभीतक कांग्रेस-कमिटियाँ गैर-क़ानूनी जमाते थीं। वे मामूली तरीकों पर काम नहीं कर सकती थीं। इसलिए कराची-कांग्रेस के लिए सभापति चुनने का काम कार्य-समिति ने अपने ऊपर ले लिया। वल्लभभाई समेत तमाम कमिटी ने गांधीजी से अर्ज की कि वह सदारत मंजूर कर लें और इस तरह जहाँ वह कांग्रेस के असली प्रधान हैं वहाँ पद के द्वारा भी प्रधान हो जायँ, ख़ासकर आगामी नाज़ुक साल के लिए। लेकिन वह राजी नहीं हुए और इस बात पर ज़ोर देते रहे कि वल्लभभाई को सदारत मजूर कर लेनी चाहिए। मुझे याद है कि उस वक्त उनसे यह कहा गया था कि आप हमेशा मुसोलिनी रहना चाहते हैं और दूसरों को, थोड़े वक्त के लिए, बादशाह यानी बराय-नाम अधिकारी बना देते हैं।

एक छोटे-से फुटनोट में मिस्टर बोल्टन की दूसरी भी बहुत-सी वाहियात बातों का जवाब देना मुमकिन नहीं है, लेकिन एक मामले की बाबत, जो कुछ-कुछ जाती-सा है, मैं ज़रूर कुछ कहना पसन्द करूँगा। उनको इस बात का इत्मीनान-सा हो गया मालूम होता है कि मेरे पिताजी के राजनैतिक जीवन को पलट देनेवाली बात एक यूरोपियन क्लब में उनका मेम्बर न चुना जाना ही है,और एक इसी बात से न सिर्फ वह उग्र तरीकों के ही हामी हो गये बल्कि अंग्रेज़ों की सोसायटी से भी वह दूर रहने लगे। यह कहानी जो अक्सर बार-बार दुहराई गई है, क़तई गलत है। असली वाक़यात की कोई ख़ास अहमियत नहीं, लेकिन उस रहस्य को दूर करने के लिए मैं उन्हें यहाँ दिये देता हूँ। वकालत के शुरू दिनों में पिताजी को सर जान एज बहुत चाहते थे। वह उन दिनों इलाहाबाद-हाईकोर्ट के चीफ जस्टिस थे। सर जान ने पिताजी से कहा कि आप इलाहाबाद की यूरोपियन क्लब में शामिल हो जायँ। उन्होंने कहा, मैं खुद मेम्बरी के लिए आपके नाम का प्रस्ताव करूँगा। पिताजी ने उनकी इस मेहरबानी के लिए उनका शुक्रिया अदा किया, लेकिन साथ में यह भी कहा कि इसमें बखेड़ा ज़रूर खड़ा होगा, क्योंकि बहुत-से

ये साजिश करनेवाले शख्स कौन है और इनका मकसद क्या है ? कभी-कभी यह कहा जाता था कि मै और कांग्रेस के सभापति सरदार वल्लभभाई पटेल कार्य-समिति के मेम्बरो में सबसे ज्यादा गरम स्वभाव के है, और मेरा खयाल है, इसलिए, साजिश के नेताओ मे हम लोगो की भी गिनती होगी। लेकिन शायद गाँधीजी का वल्लभभाई से ज्यादा सच्चा भक्त हिन्दुस्तान-भर मे दूसरा कोई न होगा। अपने काम में वह कितने ही कड़े और मजबूत क्यो न हो, लेकिन गाधीजी के आदर्शो, उनकी नीति और उनके व्यक्तित्व के प्रति उनकी बडी भक्ति है। मै जरूर इस बात का दावा नही कर सकता कि मैंने भी उसी तरह से इन आदर्शो को माना है, लेकिन मुझे बहुत नजदीक रहकर गाँधीजी के साथ काम करने का सौभाग्य मिला है। मेरे लिए उनके खिलाफ साजिश करने का खयाल ही राक्षसी है। सच बात तो यह है कि कार्य-समिति के सभी मेम्बरो के बारे मे यही बात सही है। वह कमिटी वस्तुत गाधीजी की बनाई हुई थी। अपने कुछ साथियो के सलाह-मशवरे से उन्होने इस कमिटी को नामजद किया था। उसके चुनाव की तो सिर्फ रस्म पूरी की गई थी। कमिटी के ज्यादातर मेम्बर तो उसके स्तम्भ-रूप थे—ऐसे जो उसमें सालो से रह चुके थे और करीब-करीब उसके हमेशा मेम्बर खयाल किये जाते थे। उनमे राजनैतिक मतभेद था, लेकिन वह स्वभाव व दृष्टि-

---

अंग्रेज़ मेरे हिन्दुस्तानी होने की वजह से एतराज करेंगे और मुमकिन है कि मेरे खिलाफ़ वोट दें। कोई भी मामूली अफसर इस तरह मेरा नाम रद्द करा सकेगा, और ऐसी हालत में मैं चुनाव के झगड़े में पड़ना पसन्द नहीं करूँगा। इसपर सर जान ने यह भी कहा कि मै इलाहाबाद रक़बे की फौज के कमाण्डर ब्रिगेडियर जनरल से आपके नाम की ताईद करा दूंगा। लेकिन अखीर में यह ख़याल छोड़ दिया गया। मेरे पिताजी का नाम क्लब में नहीं पेश किया गया, क्योंकि उन्होंने यह बात साफ कर दी कि मैं बेइज़्ज़ती का ख़तरा मोल लेने के लिए तैयार नहीं हूँ। इस घटना की बदौलत वह अंग्रेज़ों के खिलाफ़ होने के बजाय सर जान एज के एहसानमन्द बन गये और उसके बाद के सालों में ही बहुत-से अंग्रेज़ों से उनकी दोस्ती तथा मेल मुहब्बत पैदा हुई। और यह सब तो हुआ १८९० से लेकर १८९९ के दर्म्यान, और पिताजी इसके कोई २५ वर्ष बाद उग्र राजनैतिक और असहयोगी बने। उनकी यह तबदीली एकाएक नहीं हुई, लेकिन पंजाब के जंगी क़ानून ने इस विधि को पूरा कर दिया। और ऐन मौके पर पड़े गांधीजी के असर ने तो हालत बहुत ही बदल दी। इतने पर भी अंग्रेज़ों से मिलना-जुलना छोड़ने का, उनमे सब ताल्लुक़ात छोड़ने का, उनका कोई इरादा नहीं था। लेकिन जहाँ ज्यादातर अंग्रेज़ अफसर हों वहाँ असहयोग और सविनय भंग मे लाज़िमी तौर पर मिलना-जुलना बन्द हो जाता है।

कोण का मतभेद था। और सालो तक एकसाथ और कन्धे-से-कन्धा मिलाकर काम करते-करते तथा एकसे खतरो का सामना करते हुए वे एक-दूसरे से हिल-मिल गये थे। उनमे आपस मे दोस्ती, भाईचारा और एक-दूसरे के लिए आदर पैदा हो गया था। वे 'सयुक्त-मण्डल' न होकर एक इकाई, एक शरीर, थे और उनमे से किसीकी बावत यह सोचा तक नही जा सकता कि वह दूसरो के खिलाफ साजिश करेगा। कमिटी मे गाधीजी की चलती थी और सब लोग रहनुमाई के लिए उन्हीकी तरफ देखते थे। कई सालो से यही होता आ रहा था और सन् १९३० मे हमारी लडाई को जो बडी कामयाबी मिली थी उसके बाद सन् १९३१ मे तो यह बात और भी ज्यादा बढ गई थी। कार्य-समिति के गरम खयाल के मेम्बरो को उन्हे निकालने की कोशिश करने मे क्या मकसद हो सकता था ? शायद यह सोचा जाता है कि उन्हे जल्दी समझौता करने के लिए राजी हो जानेवाला और इसलिए एक किस्म का बोझा समझा जाता हो। लेकिन उनके बिना लडाई का क्या होता ? असहयोग और सत्याग्रह का क्या होता ? वह तो इस जीवित-आन्दोलन के अग थे। बल्कि सच बात तो यह है कि वह खुद ही आन्दोलन थे। जहाँतक उस लडाई से ताल्लुक है, सब-कुछ उन्हींपर मुनह-सिर था। बिलाशक कौमी लडाई उनकी पैदा की हुई नही थी, न वह किसी शख्स पर मुनहसिर थी। उसकी जडे इससे ज्यादा गहरी थी। लेकिन लडाई का वह खास पहलू, जिसकी निशानी सविनय भग थी, खास तौर पर उन्हीपर अवलम्बित था। उनसे अलग होने के मानी थे इस आन्दोलन को बद करना और नई नीव पर नये सिरे से इमारत खडी करना। यह काम किसी भी वक्त काफी मुश्किल साबित होता, लेकिन १९३१ मे तो कोई उसका खयाल भी नही कर सकता था।

यह खयाल बडा ही मजेदार है कि कुछ लोगो की राय में हम कुछ लोग १९३१ मे गाधीजी को काग्रेस से निकालने की कोशिश कर रहे थे। जब उनको जरा-सा इशारा करने से ही काम चल सकता था, तो फिर हमे उनके खिलाफ साजिश करने की क्या जरूरत थी ? ज्योही गाँधीजी कभी ऐसी बात कहते कि मैं काँग्रेस से अलग होना चाहता हूँ त्योही तमाम कार्य-समिति और तमाम मुल्क मे तहलका मच जाता था। वह हमारी लड़ाई के एक ऐसे अग बन गये थे कि हम इस खयाल को भी बरदाश्त नही कर सकते थे कि वह हमसे अलग हो जायँ। हम लोग तो उन्हे लन्दन भेजने से हिचकिचाते थे, क्योकि उनकी गैरहाजिरी मे हिन्दुस्तान के काम का तमाम बोझ हमारे ऊपर आकर पडता था, और यह बात ऐसी न थी जिसको हम पसन्द करते। हम लोग उनके कन्धो पर तमाम बोझ डाल देने के आदी हो गये थे। कार्य-समिति के मेम्बरो को ही नही, उससे बाहर के बहुत-से लोगो को भी जो बन्धन गाधीजी से

बाँधे हुए थे, वे ऐसे थे कि उनसे अलग होकर थोड़े वक्त के लिए कुछ फायदा उठाने के बजाय वे उनके साथ रहकर नाकामयाब होना ज्यादा पसन्द करते थे।

गाँधीजी का दिमाग साफ है या नहीं, इसका फैसला तो हम अपने लिबरल दोस्तों के लिए ही छोड़े देते हैं। हाँ, यह बात बिलकुल सच है कि कभी-कभी उनकी राजनीति बहुत आध्यात्मिक होती है, जो मुश्किल से समझ मे आती है। लेकिन उन्होंने यह दिखा दिया है कि वह कर्मवीर है, उनमे आश्चर्यजनक साहस है और वह एक ऐसे शख्स है जो अक्सर अपनी ज़िम्मेदारी को पूरा करके दिखा सकते है। और अगर 'दिमाग के साफ न होने' से इतने अमली नतीजे निकलते है, तो शायद वह उस अमली राजनीति के मुकाबिले मे बुरा साबित न होगा, जिसकी शुरुआत और जिसका खात्मा पुस्तकें पढने और चुने हुए हलकों मे ही हो जाता है। यह सच है कि उनके करोड़ों अनुयायियों का दिमाग साफ नही था। वे राजनीति और शासन-विधानों की बाबत कुछ नहीं जानते। वे तो सिर्फ अपनी इनसानी ज़रूरतो, खाना, घर, कपडो और जमीन की बाते ही सोच सकते है।

मुझे यह बात हमेशा ही अचम्भे की मालूम हुई है कि इनसानी कुदरत को देखने की विद्या को भली-भांति सीखे हुए नामी विलायती अखबारनवीस किस तरह हिन्दुस्तान के मामलों मे गलती खा जाते है। क्या यह उनके बचपन की उस अमिट धारणा की वजह से है कि पूर्व तो कतई दूसरी चीज़ है और उसको आप मामूली पैमानो से नही नाप सकते? या, अंग्रेजो के लिए, यह साम्राज्य का वह पीलिया रोग है, जो उनकी आँखों को खराब कर देता है? कोई चीज़ कैसी भी अनहोनी क्यो न हो, उसपर वे क़रीब-करीब फौरन ही इत्मीनान कर लेंगे, बिना किसी तरह का अचम्भा किये, क्योकि वे समझते है कि रहस्य-भरे पूर्व में हर बात मुमकिन हो सकती है। कभी-कभी वे ऐसी किताबे छापते है, जिनमे काफी योग्यतापूर्ण निरीक्षण होता है और तीव्र अवलोकन-शक्ति के नमूने भी, लेकिन बीच-बीच मे विलक्षण गलतियाँ भी होती है।

मुझे याद है कि जब गांधीजी १९३१ मे योरप रवाना हुए तब, उसके बाद फ़ौरन ही, मैंने पैरिस के एक मशहूर संवाददाता का एक मज़मून पढ़ा। उन दिनों वह लन्दन के एक अखबार का संवाददाता था और वह लेख हिन्दुस्तान के बारे मे था। उस लेख में एक ऐसी घटना का जिक्र था जो उसके कहने के मुताबिक १९२१ में उस वक्त हुई जब असहयोग के दौरान में प्रिंस ऑफ वेल्स ने दौरा किया था। उस लेख में कहा गया था कि किसी जगह (गालिबन वह देहली थी), महात्मा गांधी यकायक नाटकीय ढंग से, बिना इत्तिला किये हुए, युवराज के सामने प्रकट हो गये और उन्होंने

अपने घुटने टेककर युवराज के पैर पकड लिये तथा ढाड मार-मारकर रोते हुए उनसे विनती की कि इस अभागे देश को शान्ति दीजिए। हम किसीने, गाधीजी ने भी, यह मजेदार कहानी कभी नही सुनी। इसलिए मैंने खत लिखकर उस अखबारनवीस को यह बात बताई। उसने अपना अफसोस जाहिर किया, लेकिन साथ मे यह भी लिखा कि मैंने यह कहानी बडे विश्वस्त-सूत्र से सुनी। जिस बात पर मुझे आश्चर्य हुआ वह यह थी कि उसने बिना किसी तरह की जॉच की कोशिश किये एक ऐसी कहानी पर इत्मीनान कर लिया जो जाहिर तौर पर बिलकुल गैर-मुमकिन थी और जिसका कोई भी शख्स, जो गाधीजी, कॉग्रेस या हिन्दुस्तान के बारे मे कुछ भी जानता था, इत्मीनान नही कर सकता था। बदकिस्मती से यह बात सही है कि हिन्दुस्तान मे बहुत-से ऐसे अगेज है जो यहाँ बहुत दिनो तक रहने के बाद भी कॉग्रेस या गाधीजी या मुल्क की बाबत कुछ नही जानते। कहानी कतई इत्मीनान के काबिल नही थी। वह बिलकुल बेहूदा थी। ऐसी बेहूदा जैसी यह कहानी होती कि केण्टरबरी के बडे पादरी साहब यकायक मुसोलिनी के सामने प्रकट हो गये और सिर के बल खडे होकर, हवा मे अपने पैर हिलाकर, उनको सलाम करने लगे।

हालही मे एक अखबार मे जो रिपोर्ट छपी है उसमे एक दूसरी किस्म की कहानी दी हुई है। उसमें कहा गया है कि गाधीजी के पास अपार दौलत है, जो कई करोड होगी। वह उनके दोस्तो के पास छिपी रक्खी है। कॉग्रेस उस रुपये को हड़पना चाहती है। कॉग्रेस को डर है कि अगर गाधीजी काँग्रेस से अलहदा हो जायँगे तो वह दौलत उसके हाथ से निकल जायगी। यह कहानी सरासर बेहूदा है, क्योकि गाधीजी कभी किसी फण्ड को न अपने पास रखते हैं और न छिपाकर रखते है। जो कुछ रुपया वह इकट्ठा करते हैं, उसे सार्वजनिक सस्थाओ को दे देते हैं। ठीक-ठीक हिसाब रखने के मामले मे उनमें बनियो की-सी सहज-बुद्धि है, और उन्होने जितने चन्दे किये उनको खुलेआम आडिट कराया गया है।

काँग्रेस ने सन् १९२१ मे एक करोड़ का जो मशहूर चन्दा किया था यह अफवाह गालिबन उसीकी कहानी पर इमर रखती है। यह रकम वैसे तो बहुत बडी मालूम होती है, लेकिन अगर हिन्दुस्तान-भर पर फैलाई जाय तो ज्यादा नही मालूम होगी। इस रकम को इस्तैमाल भी विश्वविद्यालय और स्कूल कायम करने, घरेलू धधो को तरक्की देने और खास तौर पर खद्दर की तरक्की के लिए, अछूत उद्धार के कार्यो मे तथा ऐसे ही दूसरी किस्मो के रचनात्मक कार्यो मे किया गया था। उसमे से काफी तादाद खास-खास स्कीमो के लिए अकित कर दी गई थी। फण्ड अबतक मौजूद है और जिन खास कार्यो के लिए वे अकित किये गये थे उन्हीमे लगाये जा रहे

है। बाकी जो रुपया इकट्ठा हुआ था, वह मुकामी कमिटियों के पास छोड दिया गया था और वह कॉंग्रेस के सगठन के काम मे तथा राजनैतिक कामो मे खर्च किया गया। असहयोग-आन्दोलन का काम इसी फण्ड से चला था और कुछ साल बाद तक कॉंग्रेस का काम उसीसे चलता रहा। गाधीजी ने और मुल्क की गरीबी ने हमे यह सिखा दिया है कि बहुत थोडे-से रुपयो से भी अपना राजनैतिक आन्दोलन कैसे चलाना चाहिए। हमारा ज्यादातर काम तो लोगो ने अपनी खुशी से बिना कुछ लिये ही किया है। और जिस किसीको कुछ देना भी पडा है, तो सिर्फ उतना ही जितना पेट भरने को काफी हो। हमारे अच्छे-से-अच्छे ऐसे कार्यकर्ताओ को, जो विश्व-विद्यालयो के ग्रेज्युएट है और जिन्हे अपने परिवार का पालन करना पड़ता है, जो तनख्वाहे दी गई वे उस भत्ते से भी कम है जो इग्लैण्ड मे बेकारो को दिया जाता है। पिछले पन्द्रह सालो के दौरान मे कॉंग्रेस का आन्दोलन जितने कम रुपये से चला है, उतने कम रुपये से बडे पैमाने पर और कोई राजनैतिक या मजदूरो का आन्दोलन, मुझे शक है कि, किसी भी मुल्क मे शायद ही चलाया गया हो। और कॉंग्रेस के तमाम फण्ड और उसका तमाम हिसाब खुलेआम हर साल आडिट होते रहे, उनका कोई हिस्सा गुप्त नही है। हाँ, उन दिनो की बात बिलकुल दूसरी है जब सत्याग्रह की लडाई चल रही थी और कॉंग्रेस गैरकानूनी जमात थी।

गाधीजी गोलमेज-कान्फ्रेन्स मे शामिल होने के लिए कॉंग्रेस के एकमात्र प्रतिनिधि की हैसियत से लन्दन गये थे। बडी लम्बी बहस के बाद हम लोगो ने यही तय किया था कि किसी दूसरे प्रतिनिधि की जरूरत नही। यह बात कुछ हद तक तो इसलिए की गई कि हम यह चाहते थे कि हम ऐसे नाजुक वक्त मे अपने सब अच्छे आदमियो को हिन्दुस्तान मे ही रक्खे। उन दिनो हालात को बहुत होशियारी के साथ सम्हालते रहने की सख्त जरूरत थी। हम लोग यह महसूस करते थे कि लन्दन मे गोलमेज-कान्फ्रेन्स होने के बावजूद आकर्षण का केन्द्र तो हिन्दुस्तान में ही था और हिन्दुस्तान में जो कुछ होगा लन्दन मे उसकी प्रतिध्वनि जरूर होगी। हम चाहते थे कि अगर मुल्क मे कोई गडबड हो तो हम उसे देखे और अपने सगठन को ठीक हालत मे बनाये रक्खे। लेकिन सिर्फ एक प्रतिनिधि भेजने का हमारा असली कारण यही न था। अगर हम वैसा करना जरूरी और मुनासिब समझते तो हम बिलाशक दूसरे को भी भेज सकते थे, लेकिन हम लोगो ने जान-बूझकर ऐसा नही किया।

हम गोलमेज-कान्फ्रेन्स मे इसलिए शामिल नही हो रहे थे कि हम विधान-सम्बन्धी छोटी-मोटी बातो पर ऐसी बाते और बहस करे जिनका कभी खात्मा ही न हो। उस अवस्था मे हमे इन तफसीलो में कोई दिलचस्पी नही थी। उनपर तो तभी

गौर किया जा सकता था जब कि खास-खास बुनियादी मामलो मे ब्रिटिश सरकार के साथ हमारा कोई समझौता हो जाता। असली सवाल तो यह था कि लोकतन्त्रीय हिन्दुस्तान को कितनी ताकत सौपी जाने को थी। यह बात तय हो जाने के बाद राजीनामे का मसविदा बनाने और उसकी तफसीले तय करने का काम तो कोई भी वकील कर सकता था। इन मूल बातो पर कॉग्रेस की स्थिति बहुत साफ और सीधी थी और उसपर बहस करने का भी ऐसा ज्यादा मौका न था। हम लोगो को यह मालूम होता था कि हम लोगो के लिए यही गौरवपूर्ण रास्ता है कि हमारा सिर्फ एक ही प्रतिनिधि जाय और वह प्रतिनिधि हमारा लीडर हो। वह वहाँ जाकर हमारी स्थिति को साफ कर दे। यह बतावे कि हमारी स्थिति कितनी युक्तिसगत है और किस तरह उसको मजूर किये बिना गति नही है। अगर हो सके तो ब्रिटिश-सरकार को इस बात के लिए राजी करले कि वह कॉग्रेस की बात मान ले। हम जानते थे कि यह बात तो बहुत ही मुश्किल थी, और उस वक्त जैसी हालत थी उसको देखते हुए तो वह बिलकुल मुमकिन नही थी, लेकिन हमारे पास भी तो इसके सिवा कोई चारा न था। हम अपनी उस स्थिति को नही छोड सकते थे। न हम उन उसूलो और आदर्शो को ही छोड सकते थे जिनसे हम बधे हुए थे और जिनमे हमे पूर्ण विश्वास था। अगर हमारी तकदीर सिकन्दर हो और इन बुनियादी बातो मे राजीनामे की कोई सूरत निकल आती तो बाकी बाते अपने-आप आसानी से तय हो जाती। बल्कि सच बात तो यह है कि हम लोगो मे आपस मे यह तय हो गया था कि अगर किसी तरह से ऐसा राजीनामा हो जाय तो गाधीजी हम कुछ को या कार्य-समिति के तमाम मेम्बरो को फौरन लन्दन बुला लेगे, जिससे कि हम वहाँ जाकर समझौते की तफसील तय करने का काम कर सके। हम लोगो को वहाँ जाने के लिए तैयार रहना था और जरूरत पडती तो हम लोग हवाई जहाजो मे उडकर भी जाते। इस तरह हम बुलाये जाने पर दस दिन के अन्दर उनके पास पहुँच सकते थे।

लेकिन अगर बुनियादी बातो मे शुरू-शुरू मे कोई राजीनामा नही होता, तो आगे और तफसील मे, समझौते की, बाते करने का सवाल ही नही पैदा होता। न कॉग्रेस के दूसरे प्रतिनिधियो को गोलमेज-कान्फ्रेन्स मे जाने की कोई जरूरत पडती। इसीलिए हमने सिर्फ गाधीजी को ही वहाँ भेजना तय किया। कार्य-समिति की एक और सदस्य श्रीमती सरोजिनी नायडू भी गोलमेज-कान्फ्रेन्स मे शामिल हुई, लेकिन वह वहाँ काग्रेस की प्रतिनिधि होकर नही गई थी। उनको तो वहाँ हिन्दुस्तानी स्त्रियो के प्रतिनिधि-स्वरूप बुलाया गया था और कार्य-समिति ने उन्हे इजाजत दे दी कि वह इस हैसियत से उस कान्फ्रेस मे शामिल हो सकती है।

लेकिन ब्रिटिश सरकार का इस तरह का कोई इरादा न था कि इस मामले मे वह हमारी मर्जी के मुताबिक काम करे। उसकी नीति तो यह थी कि असली सवालो का विचार करना तो मुल्तवी होता रहेगा, कान्फ्रेस थोडी-बहुत छोटी-छोटी और बेमतलब की बातो पर बहस करके थक जाय। जब कभी बडे-बड़े सवालो पर गौर भी हुआ तब सरकार ने चुप्पी साध ली। उसने हाँ या ना करने से साफ इन्कार कर दिया और सिर्फ यह वादा किया कि सरकार अपनी राय बाद को अच्छी तरह सोच-विचार कर देगी। असल मे उसके पास तुरप का पत्ता तो था साम्प्रदायिक सवाल, और उसका उसने पूरा-पूरा इस्तैमाल किया। कान्फ्रेस मे इसी सवाल का बोल-बाला था।

कान्फ्रेस के ज्यादातर हिन्दुस्तानी मेम्बर सरकार की इन चालो के जाल मे फँस गये। ज्यादा तो राजी-खुशी से और कुछ थोडे-से मजबूरी से। कान्फ्रेस क्या थी, भानमती का कुनवा था। उसमे शायद ही कोई ऐसा हो जो अपने अलावा किसी दूसरे का प्रतिनिधि हो। कुछ आदमी काबिल थे और मुल्क मे उनकी इज्जत भी थी, लेकिन बाकी बहुत-से लोगो की बाबत यह बात भी नही कही जा सकती। कुल मिलाकर राजनैतिक और सामाजिक दृष्टिकोण से वे हिन्दुस्तान मे राजनैतिक उन्नति के सबसे ज्यादा विरोधी फिरको के प्रतिनिधि थे। ये लोग इतने फिसड्डी और प्रगति-विरोधी थे कि हिन्दुस्तान के लिबरल जो हिन्दुस्तान मे बहुत ही माडरेट और फूँक-फूँककर कदम रखनेवाले माने जाते हैं, इनकी जमात मे वही तरक्की के बडे भारी हामी बनकर चमके। ये लोग हिन्दुस्तान मे ऐसे स्थापित स्वार्थ रखनेवालो के प्रतिनिधि थे जो ब्रिटिश साम्राज्यवाद से बँधे हुए थे और तरक्की और रखवाली के लिए उसीका भरोसा रखते थे। सबसे ज्यादा मशहूर प्रतिनिधि तो फिरकेवाराना झगडो के सिल-सिले मे जो 'छोटी' और 'बडी' जातियाँ थी उनके थे। ये टोलियाँ उन उच्च वर्गवालो की थी जो कुछ भी मानने को तैयार न थे और जो आपस मे कभी मिल ही नही सकते थे। राजनैतिक दृष्टि से वे कतई हर किस्म की तरक्की के मुखालिफ थे और उनकी महज एक दिलचस्पी थी कि किसी तरह अपने फिरके के लिए कुछ फायदे की बात हासिल करले, फिर चाहे ऐसा करने में हमे अपनी राजनैतिक तरक्की को भी छोडना पडे। बल्कि सच बात तो यह है कि उन्होने खुल्लम-खुल्ला यह ऐलान कर दिया था कि जबतक उनकी फिरकेवाराना माँगे पूरी नही की जायँगी तबतक वे राजनैतिक आजादी लेने को राजी न होगे। यह एक गैर-मामूली दृश्य था और उससे हमे बडे दुःख के साथ यह बात साफ-साफ दिखाई देती थी कि एक गुलाम कौम किस हद तक गिर सकती है और वह साम्राज्यवादियो के खेल मे किस तरह शतरज की

गोट बन सकती है। यह सही था कि हाईनेसो, लार्डो, सरो और दूसरे बडे-बड़े अलकाबवाले लोगो की उस भीड की बावत यह नही कहा जा सकता कि वह हिन्दुस्तान के लोगो के प्रतिनिधि है। गोलमेज-कान्फ्रेस के मेम्बर ब्रिटिश सरकार के नामजद थे और अपनी दृष्टि से सरकार ने जो चुनाव किया था वह बहुत अच्छा किया था। फिर भी महज यह बात कि ब्रिटिश-अधिकारी हम लोगो का ऐसा इस्तैमाल कर सकते है, यह दिखाती है कि हम लोगो मे कितनी कमजोरियाँ है और हम लोग कैसी अजीब आसानी के साथ असली बातो से हटाकर एक-दूसरे की कोशिशो को बेकार करने के काम मे लगाये जा सकते है। हमारे उच्चवर्ग के लोग अभीतक हमारे साम्राज्यवादी शासको की विचार-धारा से अभिभूत थे और वे उन्हीका खेल खेलते थे। क्या यह इसलिए था कि वे उनकी चालो को समझ नही पाते थे ? या वे उसके असली मानो को समझते हुए, जानबूझकर उसे इसलिए मजूर कर लेते थे कि उन्हे हिन्दुस्तान मे आजादी और लोकतत्र कायम होने से डर लगता था ?

यह तो ठीक ही था कि साम्राज्यवादी, माडलिकवादी, महाजन, व्यवसायी, धार्मिक और फिरकेवर लोगो के स्थापित स्वार्थो के इस समाज मे ब्रिटिश भारतीय प्रतिनिधि-मडल का नेतृत्व मामूल के मुताबिक आगाखाँ के हाथ मे रहे, क्योकि वह कुछ हद तक इन सब स्वार्थो से स्वय सम्पन्न थे। कोई एक पुश्त से ज्यादा ब्रिटिश साम्राज्यवाद से और ब्रिटिश शासक-श्रेणी से उनका बहुत नजदीकी ताल्लुक रहा है। वह ज्यादातर इग्लैण्ड मे ही रहते है। इसलिए वह हमारे शासको के स्वार्थो और उनके दृष्टिकोण को पूरी तरह समझ सकते है और उनका प्रतिनिधित्व कर सकते है। उस गोलमेज-कान्फ्रेस मे साम्राज्यवादी इग्लैण्ड के वह बहुत काबिल प्रतिनिधि हो सकते थे। लेकिन आश्चर्य तो यह था कि वह हिन्दुस्तान के प्रतिनिधि समझे जाते थे !

कान्फ्रेन्स में हमारे खिलाफ पलडा बूरी तरह से लदा हुआ था, और यद्यपि हमे उससे कभी कोई उम्मीद न थी फिर भी उसकी कार्रवाइयो को पढ-पढ़कर हमे हैरत होती थी और दिन-दिन उससे हमारा जी ऊबता जाता था। हमने देखा कि राष्ट्रीय और आर्थिक समस्याओ की सतह को खरोचने की कैसे दयनीय और वाहियात ढग से मामूली कोशिश की जा रही है ? कैसे-कैसे पैक्ट और कैसी-कैसी साजिशे हो रही है ? कैसी-कैसी चाले चली जा रही है ? हमारे ही कुछ देश-भाई ब्रिटिश अनुदार दल के सबसे ज्यादा उन्नति-विरोधी लोगो से मिल गये है। टुच्चे-टुच्चे मामलो पर बाते चलती थी और सोभी खत्म ही न होती थी। जो असली बाते है उनको जानबूझकर टाला जा रहा है। ये प्रतिनिधि बडे-बडे स्थापित स्वार्थो के और खासकर ब्रिटिश-साम्राज्यवाद के हाथ की कठपुतली बने हुए है। वे कभी तो आपस मे लडते-झगडते है

और कभी एक-साथ बैठकर दावते खाते तथा एक-दूसरे की तारीफ़ करते है। शुरू से लेकर अखीर तक सब मामला नौकरियो का था। छोटे ओहदे, बडे ओहदे, हिन्दुओ के लिए कितनी नौकरियाँ और मेम्बरियाँ है तथा सिक्खो और मुसलमानो के लिए कितनी ? और एग्लो-इन्डियनो तथा यूरोपियनो के लिए कितनी ? लेकिन ये सब ओहदे ऊँचे दरजे के अमीर लोगो के लिए थे, जन-साधारण के लिए उनमे कुछ न था। मौका-परस्ती का दौर-दौरा था और ऐसा मालूम पडता था कि नये शासन-विधान मे टुकडे-रूपी जो शिकार था उसकी फिराक मे भिन्न-भिन्न गिरोह भूखे भेड़ियो की तरह घात लगाये फिरते थे। उनकी आजादी की कल्पना ने भी तो बडे पैमाने पर नौकरियाँ तलाश करने की शक्ल अख्त्यार करली थी। इसे ये लोग "भारती-करण" के नाम से पुकारते थे। फ़ौज मे, मुल्की नौकरियो में और दूसरी जगहो मे हिन्दुस्तानियो को ज्यादा नौकरियाँ मिले यही इनकी पुकार थी। कोई यह नही सोचता था कि हिन्दुस्तान के लिए आजादी की, असली स्वतन्त्रता की, भारत को लोकतन्त्री सत्ता सौपे जाने की, हिन्दुस्तान के लोगो के सामने जो भारी और जरूरी आर्थिक मसले मौजूद है उनके हल करने की भी कोई जरूरत है ? क्या इसीके लिए हिन्दुस्तान मे इतनी मर्दानगी से लडाई लडी गई थी ? क्या हम सुन्दर आदर्शवाद और त्याग की दुर्लभ मलय-समीर को छोडकर इस गन्दी हवा को ग्रहण करेंगे ?

उस सुनहले भवन मे और इतने लोगो की भीड मे गाधीजी बिलकुल अकेले मालूम होते थे। उनकी पोशाक से, या उनकी कोई पोशाक ही न होने की वजह से, बाकी सब लोगो मे उन्हे आसानी से पहचाना जा सकता था। लेकिन उनके आस-पास अच्छे सजे-धजे लोगो की जो भीड बैठी हुई थी उसके विचार और दृष्टि कोण मे तथा गाधीजी के खयाल और उनके दृष्टि-विन्दु मे और भी ज्यादा फर्क था। उस कान्फ्रेन्स मे उनकी स्थिति निहायत ही मुश्किल थी। इतनी दूर बैठे-बैठे हम इस बात पर अचरज करते थे कि वह इसे कैसे बरदाश्त कर रहे है ? लेकिन आश्चर्य-जनक धीरज के साथ वह अपना काम करते रहे, और राजीनामे की कोई-न-कोई बुनियाद ढूँढने के लिए उन्होने कई कोशिशे की। एक विलक्षण बात उन्होने ऐसी की जिसने फौरन यह दिखला दिया कि किस तरह फिरकेवाराना भाव ने दरअसल राजनैतिक प्रतिगामिता को अपनी ओट मे छिपा रक्खा था। मुसलमान प्रतिनिधियो की तरफ से कान्फ्रेन्स मे जो फिरकेवाराना माँगे पेश की गई थी उनको गाधीजी पसन्द नही करते थे। उनका खयाल था, और उनके साथी कुछ राष्ट्रीय विचार के मुसलमानो का भी यही खयाल था, कि इनमे से कुछ माँगें तो आजादी और लोकतन्त्र के रास्ते मे रोडा अटकाने वाली है। लेकिन फिर भी उन्होने कहा कि मै इन सब माँगो को "बिना किसी ऐतराज के मानने

को तैयार हूँ, बशर्ते कि मुसलमान प्रतिनिधि राजनैतिक माँग यानी आजादी के मामले मे मेरा तथा कॉंग्रेस का साथ दे ।"

उनका यह प्रस्ताव खुद अपनी तरफ से था, क्योकि उनकी जैसी हालत थी, उसमे कॉंग्रेस को वह किसी बात से नही बाँध सकते थे । लेकिन उन्होने वादा किया कि मैं कॉंग्रेस मे इस बात के लिए जोर दूँगा कि ये माँगे मान ली जायँ । और कोई भी शख्स जो कॉंग्रेस मे उनके असर को जानता था, इस बात मे कोई शक नही कर सकता था कि वह कॉंग्रेस से उन माँगो को मनवाने मे कामयाबी हासिल कर सकते थे । लेकिन मुसलमानो ने गाधीजी के इस प्रस्ताव को मजूर नहीं किया । सचमुच इस बात की कल्पना करना जरा मुश्किल है कि आगाखा साहब हिन्दुस्तान की आजादी के हामी हो जायँगे । लेकिन इससे इतनी बात साफ-साफ दिखाई दे गई कि असली झगडा फिरकेवाराना नही था, यद्यपि कान्फ्रेन्स में फिरकेवाराना सवाल की ही धूम थी । असल मे तो राजनैतिक प्रतिगामिता ही सब तरह की तरक्की के रास्ते को रोक रही थी और वही फिरकेवाराना सवाल की आड मे छिपी हुई टट्टी की ओट से शिकार करती रही । कान्फ्रेन्स के लिए अपने नामजद प्रतिनिधियो का चुनाव बडी चालाकी मे करके ब्रिटिश-सरकार ने इन उन्नति-विरोधी लोगो को वहाँ जमा किया था और कान्फ्रेन्स की कार्रवाई की गति-विधि अपने हाथ मे रखकर उसने फिरकेवाराना सवाल को अहम और एक ऐसा सवाल बना दिया था जिसपर आपस मे कभी न मिल सकनेवाले जो लोग वहाँ इकट्ठे हुए थे उनमे कभी कोई राजीनामा नहीं हो सकता था ।

इस कोशिश म ब्रिटिश सरकार को कामयाबी मिली और इस कामयाबी मे उसने यह साबित कर दिया कि अभीतक उसमे न सिर्फ अपने साम्राज्य को कायम रखने की बाहरी ताकत ही है, बल्कि कुछ दिनो तक और साम्राज्यवादी परम्परा को चला ले जाने के लिए चालाकी और कूटनीति भी उसके पास है । हिन्दुस्तान के लोग नाकामयाब रहे, यद्यपि गोलमेज-कान्फ्रेन्स न तो उनकी प्रतिनिधि ही थी, और न उसकी ताकत से हिन्दुस्तान के लोगो की ताकत का अन्दाजा ही लगाया जा सकता था । उनके नाकामयाब होने की खास वजह यह थी कि उनके पास उनके उद्देश के पीछे कोई विचार-धारा न थी, इसलिए उन्हे आसानी से अपनी असली जगह से हटाया तथा गुमराह किया जा सकता था । वे इसलिए नाकामयाब हुए कि वे अपनेमे इतनी ताकत नही महसूस करते थे कि वे उन स्थापित स्वार्थ रखनेवालो को धता बता दे जो उनकी तरक्की के लिए भार-स्वरूप बने हुए थे । वे नाकामयाब रहे, क्योकि उनमें मज़हबीपन की अति थी और उनके फिरकेवाराना जजबात आसानी से भडकाये जा सकते थे ।

थोडेसे मे वे इसलिए असफल हुए कि अभीतक इतने आगे नही बढे हुए थे, न इतने मजबूत ही थे, कि कामयाब होते ।

असल मे इस गोलमेज-कान्फ्रेन्स मे तो कामयाबी या नाकामयाबी का सवाल ही न था। उससे तो कोई उम्मीद ही नही की जा सकती थी । फिर भी उसमें पहले से कुछ फर्क था। पहली गोलमेज-कान्फ्रेन्स थी तो अपने किस्म की सबसे पहली कान्फ्रेन्स, लेकिन हिन्दुस्तान मे बहुत ही कम लोगो का खयाल उसकी तरफ गया, और बाहर भी यही बात रही, क्योकि उन दिनो सब लोगो का ध्यान सविनय भग की लडाई की तरफ था। ब्रिटिश सरकार द्वारा जो नामजद उम्मीदवार १९३० मे कान्फ्रेन्स मे शामिल होने गये, अक्सर उनके साथ-साथ काले झण्डे निकाले गये और विरोधी नारे लगाये गये। लेकिन १९३१ मे सब बाते बदल गई थी। क्यो ? इसलिए कि उसमे गाधीजी कॉंग्रेस के प्रतिनिधि की हैसियत से, जिसके पीछे करोडो लोग चलते है, उसमें शामिल हुए, इस बात से कान्फ्रेन्स की शान जम गई और हिन्दुस्तान ने दिलचस्पी के साथ रोज-बरोज उसकी कार्रवाइयो पर ध्यान दिया। और वजह जो कुछ भी हो, यह जरूर है कि इस कान्फ्रेन्स मे जितनी नाकामयाबी हुई उससे हिन्दुस्तान की बदनामी हुई। अब हम लोगो की समझ मे यह बात साफ-साफ आ गई कि ब्रिटिश-सरकार गाधीजी के उसमे शामिल होने को इतनी अहमियत क्यो देती थी ?

जहॉतक कान्फ्रेन्स से ताल्लुक है वहातक वह, जिसमे वहॉ होनेवाली साजिशे मौकापरस्ती और फिजूल की जाल-साजियाँ शामिल है, हिन्दुस्तान की विफलता नही कहला सकती। वह तो बनाई ही ऐसी गई थी, जिससे नाकामयाब होती। उसकी नाकामयाबी का कुसूर हिन्दुस्तान के लोगो के मत्थे नही मढ़ा जा सकता। लेकिन उसे इस बात मे जरूर कामयाबी हुई कि उसने हिन्दुस्तान के असली सवालो से दुनिया का ध्यान हटा दिया और खुद हिन्दुस्तान मे उसकी वजह से लोगो की आँखे खुल गई, उनका उत्साह मर गया तथा उन्होने उससे अपनी जिल्लत-सी महसूस की। उसने प्रतिगामी लोगो को फिर अपना सिर उठाने का मौका दे दिया।

हिन्दुस्तान के लोगो के लिए तो कामयाबी या नाकामयाबी खुद हिन्दुस्तान मे होनेवाली घटनाओ से हो सकती थी। हिन्दुस्तान में जो मजबूत राष्ट्रीय हलचल हो रही थी वह लन्दन मे होनेवाली चालबाजियो से ठण्डी नही पड सकती थी। राष्ट्रीयता मध्यमवर्ग के लोगों और किसानो की असली और तात्कालिक जरूरतो को दिखलाती थी। उसीके जरिये वे अपने मसलो को हल करना चाहते थे, इसलिए उस हलचल की दो ही सूरते हो सकती थी—एक तो यह कि वह कामयाब होती, अपना काम पूरा

कर देती और किसी ऐसी दूसरी हलचल के लिए जगह खाली कर देती जो लोगो को प्रगति और आज़ादी की सडक पर और भी आगे ले जाती, दूसरी यह कि कुछ वक्त के लिए उसे ज़बर्दस्ती दवा दिया जाता। असल मे कान्फ्रेन्स के बाद फौरन् हिन्दुस्तान मे लडाई छिडने को थी और होनहार यह था कि वह कुछ वक्त के लिए बेबस बनकर खत्म हो। दूसरी गोलमेज़-कान्फ्रेन्स का इस लडाई पर कोई ऐसा ज्यादा असर नही पड़ सका, लेकिन उसने कुछ हदतक हमारी लडाई के खिलाफ आबोहवा जरूर बना दी।

३६

युक्तप्रान्त में किसानों-सम्बन्धी दिक़्क़तें

काँग्रेस के एक प्रधानमंत्री और कार्यसमिति के एक मेम्बर की हैसियत से अखिल-भारतीय राजनीति से मेरा ताल्लुक रहता था, और कभी-कभी मुझे कुछ दौरा भी करना पड़ता था, हालाँकि जहाँतक मुमकिन होता मैं उसे टालता ही रहता था। जैसे-जैसे हमारा बोझ और जिम्मेदारियाँ ज्यादा-ज्यादा बढने लगी, वैसे-वैसे कार्य-समिति की बैठके भी ज्यादा-ज्यादा लम्बी होने लगी, यहाँतक कि वे लगातार दो-दो हफ्ते तक होती थी। अब सिर्फ नुकताचीनी के प्रस्ताव पास करना नही था, मगर एक बड़ी भारी, और कई तरह की प्रवृत्तियोवाली, सस्था के अनेक और भिन्न-भिन्न प्रकार के रचनात्मक कार्यो का नियंत्रण करना था, और दिन-ब-दिन मुश्किल सवालो का फैसला करना था, जिनके ऊपर देशभर की व्यापक लड़ाई या शान्ति निर्भर थी।

मगर मेरा खास काम तो युक्तप्रान्त मे ही था, जहाँ कि काँग्रेस का ध्यान किसानो की समस्या पर लगा हुआ था। युक्तप्रान्तीय काँग्रेस कमिटी मे डेढ़सौ से ज्यादा मेम्बर थे, और उसकी बैठक हर दो या तीन महीने मे हुआ करती थी। उसकी कार्यकारिणी कौंसिल की, जिसमे पन्द्रह मेम्बर थे, बैठके अक्सर होती रहती थी, और उसीके हाथ मे किसानो का महकमा था।

१९३१ के पिछले हिस्से मे इस कौंसिल ने एक खास किसान-सम्बन्धी कमिटी मुकर्रर कर दी। यह जानने लायक बात है कि इस कौंसिल और इस कमिटी मे कई ज़मीदार बराबर शामिल रहे थे, और सब कार्रवाई उनकी राय से की जाती थी। वास्तव में, उस साल के हमारे प्रान्तीय कमिटी के सभापति (और इसीलिए जो कार्यकारिणी कौंसिल और किसान-कमिटी के पदेन अध्यक्ष भी थे) तसद्दुकअहमदखाँ शेरवानी थे, जो एक मशहूर ज़मीदार खानदान के थे। प्रधानमन्त्री श्रीप्रकाशजी और कौंसिल के दूसरे भी कई बड़े-बड़े मेम्बर ज़मीदार थे, या ज़मीदार घराने के थे। बाकी मेम्बर ऊँचा पेशा करनेवाले मध्यमवर्ग के लोग थे। हमारी प्रान्तीय कार्यकारिणी मे एक भी काश्तकार या गरीब किसान प्रतिनिधि न था। हमारी ज़िला-कमिटियों ने किसान पाये जाते थे, मगर जिन कई चुनावो मे जाकर प्रान्त की कार्यकारिणी कौंसिल बनती थी, उनमे वे शायद ही कभी कामयाब हो पाते थे। इस कौंसिल में मध्यमवर्ग के पढ़े-लिखे लोगों की ही तादाद बहुत ज्यादा थी, और ज़मीदारों का भी बहुत प्रभाव

था। इस तरह यह कौसिल किसी तरह भी गरम नही कही जा सकती थी, और किमानो के सवाल पर तो निश्चय ही नही कही जा सकती थी।

प्रान्त मे मेरी हैसियत सिर्फ कार्यकारिणी कौसिल और किसान-कमिटी के एक मेम्बर की थी, इससे ज्यादा कुछ भी नही। सलाह-मशविरो या दूसरे काम-काज मे मैं खास हिस्सा लेता था, मगर किसी भी मानी मे सबसे प्रमुख भाग नही लेता था। वास्तव मे, किसीके भी वारे मे यह नही कहा जा सकता था कि वह प्रमुख भाग लेता हैं, क्योंकि मजमूई और इकट्ठा कार्य करने की हमारी पुरानी आदत हो गई थी, और व्यक्ति पर नही, सगठन पर ही हमेशा जोर दिया जाता था। हमारा सभापति हमारा तात्कालिक मुखिया रहता था, और हमारा प्रतिनिधि होता था, मगर उसे भी विशेष अख्यारात न थे।

मुकामी तौर पर मै इलाहावाद जिला कॉंग्रेस कमिटी का भी मेम्बर था। इस कमिटी ने, अपने सदर पुरुषोत्तमदास टण्डन के नेतृत्व मे, किसान-समस्या की प्रगति मे महत्वपूर्ण हिस्सा लिया था। १९३० मे इस कमिटी ने ही प्रान्त मे सबसे पहले करवन्दी-आन्दोलन शुरू किया था। इसका कारण यह नही था कि इलाहावाद ज़िले मे किसानो की हालत, भाव की मन्दी से सबसे ज्यादा खराब हो गई थी, क्योंकि अवध के ताल्लुकेदारी हिस्से और भी ज्यादा खराब थे। मगर इलाहावाद जिले का सगठन अच्छा था, और इसमे राजनैतिक चेतना ज्यादा थी, क्योंकि इलाहावाद शहर राजनैतिक हलचलो का एक केन्द्र था और आसपास के देहात मे वडे-वडे कार्यकर्त्ता अक्सर जाया करते थे।

मार्च १९३१ के दिल्ली-समझौते के वाद फौरन ही हमने देहात मे कार्यकर्त्ता और नोटिस भेज दिये थे, और किसानो को इत्तिला दे दी थी कि सविनय-भग और यह आन्दोलन वन्द कर दिया गया है। राजनैतिक दृष्टि से उनके लगान अदा कर देने में अव कोई रुकावट न थी, और हमने उन्हे सलाह भी दी कि वे अदा कर दे। मगर साथ ही हमने यह भी कह दिया कि इस भारी सस्ताई को देखते हुए हमारी राय यह है कि उन्हे भारी छूट मिलनी चाहिए, और हमने यह सुझाया कि हमको एकसाथ मिलकर छूट हासिल करने की कोशिश करनी चाहिए। मामूली हालत में भी लगान अक्सर एक असह्य वोझ ही होता था, फिर भारी मन्दी के जमाने मे तो पूरा लगान या पूरी के करीव रकम देना तो विलकुल ही गैर-मुमकिन था। हमने किसानो के प्रतिनिधियो के साथ सलाह-मशविरा किया, और आरज़ी तजवीज़ की कि आम तौर पर छूट पचास फीसदी होनी चाहिए, और कही-कही तो इससे भी ज्यादा।

हमने किसानो के सवाल को सविनय-भग के प्रश्न से विलकुल अलग करने की

कोशिश की। कम-से-कम १९३१ मे तो, हम उसपर आर्थिक दृष्टि से ही विचार करना चाहते थे, और उसे राजनैतिक-क्षेत्र से अलग रखना चाहते थे। मगर यह मुश्किल था, क्योंकि दोनो किसी-न-किसी तरह एक-दूसरे से गहरे जुड़ गये थे, और पहले दोनो का गहरा साथ हो गया था। और कॉंग्रेस-सगठन के रूप में, हम लोग तो निश्चित रूप से राजनैतिक थे ही। कुछ समय के लिए तो हमने कोशिश की कि हमारी सस्था एक किसान-यूनियन (जिसपर नियन्त्रण गैर-किसानों और जमीदारो तक का था!) की तरह ही काम करे, मगर हम अपना राजनैतिक स्वरूप नही छोड़ सके, और न हमने छोडने की ख्वाहिश ही की, और सरकार भी जो-कुछ हम करते थे उसे राजनैतिक ही समझती थी। सविनय भग फिर होने की संभावना भी हमारे सामने थी, और अगर ऐसा हुआ तो इसमे शक नही कि अर्थ-नीति और राजनीति दोनो साथ-साथ मिलकर चलेंगे।

इन जाहिरा मुश्किलो के बावजूद, दिल्ली-समझौते के वक्त से हमेशा हमारी यह कोशिश रही कि किसानों के सवाल को राजनैतिक लडाई से अलग रक्खा जाय। इसका असली सबब यह था कि दिल्ली-समझौते ने इसे बन्द नही कर दिया था, और यह बात हम सरकार और आम लोगो को बिलकुल साफ बता देना चाहते थे। दिल्ली की बातचीतो मे, मेरा खयाल है, गाधीजी ने लॉर्ड अर्विन को यह भरोसा दिला दिया था कि अगर वह गोलमेज-कान्फ्रेंस में न भी गये, तो भी जबतक कान्फ्रेंस की बैठके होती रहेगी तबतक वह सविनय भग फिर शुरू नही करेगे; वह कॉंग्रेस से सिफारिश करेंगे कि कान्फ्रेंस को हर तरह का मौका दिया जाना चाहिए, और उसके नतीजे का इन्तजार करना चाहिए। मगर, तब भी गाधीजी ने यह साफ बता दिया था कि अगर किसी मुकामी आर्थिक लडाई के लिए हमे मजबूर किया जायगा, तो उसपर यह बात लागू न होगी। युक्तप्रान्त के किसानो की समस्या उस वक्त हम सबके सामने थी, क्योकि वहाँ सगठित कार्य किया गया था। दर-असल तो सारे हिन्दुस्तानभर के किसानो की वैसी ही हालत थी। शिमला की बात-चीतो मे भी गांधीजी ने इस बात को दुहराया था, और उनके प्रकाशित पत्र-व्यवहार[1] मे भी इसका जिक्र किया गया था।

१. शिमला के २७ अगस्त १९३१ के समझौते में नीचे के खत भी शामिल थे:—

भारत-सरकार के होम-सेक्रेटरी इमरसन साहब के नाम गांधीजी का पत्र

शिमला

२७ अगस्त १९३१

प्रिय इमरसन साहब,

आपके आज की तारीख के खत के लिए, जिसके साथ नया मसविदा नत्थी है, धन्यवाद। सर कावसजी ने भी आपकी बताई तरमीमें भेजने की कृपा की है। मेरे

योरप रवाना होने के ठीक पहले ही उन्होने साफ कर दिया था, कि गोलमेज-कान्फ्रेन्स और राजनैतिक सवालो के बिलकुल अलावा भी कॉंग्रेस के लिए यह जरूरी हो सकता है कि वह आर्थिक लड़ाइयो में लोगो के, और खासकर किसानो के, अधिकारो की रक्षा करे। ऐसी किसी लडाई में फँसने की उनकी ख्वाहिश नही है, वह उसे टालना चाहते है, मगर यदि यह अनिवार्य ही हो जाय, तो उसे हाथ में लेना ही पडेगा। हम जनता को अकेला नही छोड सकते थे। उनका मानना यह था कि दिल्ली के समझौते से, जो सामान्य और राजनैतिक सविनय-भग से ताल्लुक रखता था, इसकी रोक नही की गई है।

मैं इसका जिक्र इसलिए कर रहा हूँ कि युक्तप्रान्तीय कांग्रेस-कमिटी और उसके नेताओ पर यह आरोप बार-बार लगाया जाता रहा है कि उन्होने करबन्दी-आन्दोलन फिर शुरू करके दिल्ली के समझौते को तोड दिया। आरोप करनेवालो के सुभीते की बात यह थी कि यह आरोप तब लगाया गया जब वे सब लोग जिनपर यह लगाया गया और जो इसका जवाब दे सकते थे, जेल मे बन्द कर दिये गये थे और हर अखबार और प्रेस पर सख्त सेन्सर बैठा हुआ था। इस हकीकत के अलावा कि

साथियों ने व मैंने तरमीम-शुदा मसविदे पर खूब गौर किया है। नीचे लिखे स्पष्टीकरण के साथ हम आपके सशोधित मसविदे को मजूर करने को तैयार हैं—

पैरेग्राफ ४ में सरकार ने जो पोज़ीशन अख्त्यार की है उसे कांग्रेस की तरफ से मजूर करना मेरे लिए नामुमकिन है। क्योंकि हम यह महसूस करते हैं कि जहां कांग्रेस की राय में समझौते के अमल में पैदा हुई शिकायत दूर नहीं की जाती वहां जाँच करना ज़रूरी हो जाता है। क्योंकि सविनय भग-आन्दोलन उसी वक्त के लिए मुल्तवी किया गया है, जबतक दिल्ली का समझौता जारी है। लेकिन अगर भारत-सरकार और दूसरी प्रान्तीय सरकारें जांच कराने को तैयार नहीं हैं, तो मेरे साथी और मैं इस जुमले के रहने देने पर कोई ऐतराज़ न करेंगे। इसका नतीजा यह होगा कि कांग्रेस अब से उठाये गये दूसरे मामलों के बारे में जाँच के लिए जोर नही देगी, लेकिन अगर कोई शिकायत इतनी तीव्रता से महसूस की जा रही हो कि जाँच के अभाव में उसे दूर करने के लिए रक्षात्मक सीधी लड़ाई लड़ना ज़रूरी हो जाय, तो कांग्रेस, सविनय भग-आन्दोलन के मुल्तवी रहते हुए भी, उसे करने के लिए स्वतन्त्र होगी।

मैं सरकार को यह यक़ीन दिलाने की ज़रूरत नही समझता कि कांग्रेस की हमेशा यही कोशिश रहेगी कि सीधी लड़ाई से बचे और आपसी बातचीत और समझाना-बुझाना आदि उपायों से शिकायत दूर कराये। कांग्रेस की पोज़ीशन का ज़िक्र

युक्तप्रान्तीय कमिटी ने १९३१ मे कभी करबन्दी-आन्दोलन शुरू ही नही किया, मैं इस बात को साफ कर देना चाहता हूँ कि आर्थिक उद्देश्य से, सविनय-भग से अलग रहते हुए, ऐसी लडाई लड़ना भी दिल्ली के समझौते का भग नही होता। वह उसके कारणो को देखते हुए उचित था या नही, यह तो दूसरी बात थी, लेकिन जिस तरह किसी कारखाने के मज़दूरो को अपने किसी आर्थिक कष्ट के कारण हड़ताल शुरू करने का हक होता है, उसी तरह किसानो को भी आर्थिक कारण से हडताल करने का अधिकार था। दिल्ली से शिमला तक बराबर हमारी यही पोज़ीशन रही, और सरकार ने इसे समझ ही नही लिया था, बल्कि उसने इसकी कद्र भी की थी।

करना यहाँ इसलिए ज़रूरी हो गया है कि आगे कोई संभावित ग़लतफ़हमी या कांग्रेस पर समझौता-उल्लघन का आरोप न हो सके। मौजूदा बातचीत के कामयाब होने की हालत में मेरा ख़याल है कि यह विज्ञप्ति, यह पत्र और आपका जवाब एक-साथ प्रकाशित कर दिये जायँगे।

आपका

मो० क० गांधी

गांधीजी के नाम इमरसन साहब का पत्र

शिमला,

प्रिय गाधीजी, २७ अगस्त, १९३१

आज की तारीख़ के पत्र के लिए धन्यवाद, जिसमें आपने अपने पत्र में लिखे स्पष्टीकरण के साथ कम्यूनिक के मसविदे को मंजूर कर लिया है। कौंसिल-सहित गवर्नर-जनरल ने इस बात को नोट कर लिया है कि अब आगे से उठाये गये मामलों में जाँच पर ज़ोर देने का इरादा कांग्रेस का नहीं है। लेकिन जहाँ आप यह आश्वासन देते हैं कि कांग्रेस हमेशा सीधी लड़ाई से बचने और आपसी बातचीत, समझाना-बुझाना आदि तरीकों से ही अपनी शिकायत दूर कराने की हमेशा कोशिश करेगी, वहाँ आप आगे अगर कांग्रेस कोई कार्रवाई करने का निश्चय करे तो उसकी पोज़ीशन भी साफ कर देना चाहते हैं। मुझे यह कहना है कि कौंसिल-सहित गवर्नर-जनरल आपके साथ इस उम्मीद में शामिल हैं कि सीधी लड़ाई का कोई मौका नहीं आयगा। जहाँतक सरकार की आम पोज़ीशन की बात है, मैं वाइसराय के १९ अगस्त के आपको लिखे हुए पत्र का निर्देश करता हूँ। मुझे कहना है कि उक्त कम्यूनिक, आपका आज की तारीख़ का पत्र और यह जवाब सरकार एक-साथ प्रकाशित कर देगी।

आपका

एच० डबलू० इमरसन

१९२९ और उसके बाद की कृषि-सम्बन्धी मन्दी से निरन्तर बिगडती हुई परिस्थिति हद दर्जे को पहुँच गई थी। पिछले कई वर्षों से दुनियाभर में कृषि-सम्बन्धी भाव ऊँचे की तरफ चढते जा रहे थे, और हिन्दुस्तान की कृषि ने भी, जो दुनिया के बाजार से बँध चुकी थी, इस चढाव मे हिस्सा लिया था। दुनियाभर के कारखानो और खेतो की तरक्की मे कोई तारतम्य न रहने के कारण सभी जगह कृषि-सबधी चीजो के भाव चढ गये थे। हिन्दुस्तान मे जैसे-जैसे भाव बढते गये, सरकार की मालगुजारी और जमीदार का लगान भी बढता गया, जिससे कि असली खेती करने-वाले को इससे कुछ भी फायदा न हुआ। कुल मिलाकर किसान लोगो की हालत, कुछ खास तौर पर अच्छे हिस्से को छोडकर, खराब ही हो गई। युक्तप्रान्त मे लगान मालगुजारी को बनिस्बत बहुत तेज़ी से बढा, इन दोनो की सापेक्ष वृद्धि, इस शताब्दी के पहले तीस वर्षो मे, करीब-करीब (मै अपनी याददाश्त से ही कहता हूँ) ५ १ थी। इस तरह हालाकि जमीन से सरकार की आमदनी काफी बढ गई, लेकिन जमीदार की आमदनी तो उससे भी बहुत ज्यादा बढी, और काश्तकार हमेशा की तरह रोटी का मोहताज ही रहा। यदि कही भाव गिर भी जाते थे, या कही मुकामी मुसीबते, जैसे अवृष्टि, बाढ, ओले, टिड्डी वगैरा, आ पडती, तब भी मालगुजारी और लगान की रकम वही रहती थी। अगर कुछ छूट भी हुई तो, बहुत हिचकिचाहट के बाद थोडी-सी, सिर्फ उस फसल भर के लिए। अच्छी-से-अच्छी फसलो के वक्त भी लगान की दर बहुत ऊँची मालूम होती थी, तब दूसरे वक्त मे तो साहूकार से कर्ज़ लिये बिना उसकी अदायगी ही होना मुश्किल था। फलत किसानो का कर्जा बढता जा रहा था।

खेती से ताल्लुक रखनेवाले सभी वर्ग, जमीदार, मालिक, किसान और काश्तकार, सभी बोहरो के, जो कि मौजूदा हालतो में गावो की आदिम-कालीन व्यवस्था का एक आवश्यक कार्य कर रहे थे, फदे मे फँस गये। इस काम से साहूकारो ने खूब निजी फायदा उठाया, और उनका जाल जमीन पर और जमीन से ताल्लुक रखनेवाले सभी लोगो पर फैल गया। उनपर बन्धन कोई नही थे। कानून उनकी मदद पर था, और अपने इकरारनामे के एक-एक लफ्ज को पकडकर वे अपने आसामियो को जरा भी नही बख्शते थे। धीरे-धीरे छोटे जमीदार और मालिक-किसान दोनो के पास से जमीन उनके हाथो मे आने लगी, और साहूकार ही बड़े पैमाने पर जमीन के मालिक, बडे जमीदार, जमीदार-वर्गीय बन गये। मालिक-किसान, जो अभीतक अपनी ही जमीन पर खेती करता था, अब बनिया-जमीदारो या साहूकारो का करीब-करीब दास-किसान बन गया, जो केवल काश्तकार था उसकी हालत तो और भी खराब हो गई। वह तो साहूकार का भी दास बन गया था, या बेदखल किये हुए भूमि-हीन

मजदूरो की बढती हुई जमात मे शामिल हो गया। ऋण-दाता—लेन-देन करनेवाले व्यक्तियो—का जो अब इस तरह जमीन-मालिक भी बन गये, जमीन से या काश्तकारो से कोई सजीव सम्पर्क नही था। वे आम तौर पर शहर के रहनेवाले थे, जहाँ वे अपना लेन-देन करते थे, और उन्होने लगान-वसूली का काम अपने कारिन्दो के सुपुर्द कर दिया, जो उस काम को मशीनो की-सी सग-दिली और बेरहमी से करते थे।

किसानो की बढती हुई कर्जदारी ही खुद इस बात का सबूत थी कि भूमि-प्रणाली गलत और अस्थिर है। ज्यादातर लोगो के पास किसी किस्म की बचत न थी, न जिस्मानी न माली, बरदाश्त करने की बिलकुल ताकत न थी और वे हमेशा भूखे-नगे ही रहते थे। प्रतिकूल-रूप की किसी भी असाधारण घटना के सामने वे टिक नही सकते थे। कोई आम बीमारी आ जाती, तो लाखो मर जाते थे। १९२९ और १९३० मे सरकार-द्वारा नियुक्त प्रान्तीय बैंकिग जाँच कमिटी ने अन्दाजा लगाया था कि (बर्मा-सहित) हिन्दुस्तान का कृषि-सम्बन्धी कर्जा ८६० करोड रुपया था। इस आकडे मे ज़मीदारो, मालिक, किसानो और काश्तकारो का कर्जा शामिल था, मगर मुख्यत. यह असली काश्तकारो का ही कर्जा था। सरकारी आर्थिक नीति बिलकुल साहूकारो के ही हक मे रही है, और इससे भी भारी कर्जे मे और बढती हुई है। इस तरह रुपये का अनुपात, हिन्दुस्तान का जबरदस्त विरोध होते हुए भी, सोलह पेन्स के बजाय १८ पेन्स कर देने से किसानो का कर्ज १२½ फी सदी या लगभग १०७ करोड बढ गया[1]।

लड़ाई के बाद के अचानक चढाव के बाद भाव धीरे धीरे लेकिन लगातार गिरते ही चले गये, और देहात की हालत और खराब हो गई। और इस सबके ऊपर १९२९ और बाद के वर्षो का सकट आ गया सो अलग।

१९३१ मे युक्तप्रान्त मे हमारा कहना यह था कि लगान चीजो के भावो के मुताबिक रहना चाहिए। यानी, पहले जिस समय १९३१ के बराबर भाव थे, उस

१ हिन्दुस्तान की कृषि-सम्बन्धी कर्ज़दारी ८६० करोड है; यह भी संभवतः बहुत कम अन्दाज़ है। और, कम-से-कम, पिछले चार या पाँच वर्षों में यह काफी ज्यादा बढ़ गया होगा। पंजाब प्रान्तीय बैंकिंग जाँच कमिटी ने, १९२९ में, पंजाब का आँकड़ा १३५ करोड़ बताया था। लेकिन पंजाब ऋण-मुक्ति बिल की सिलेक्ट कमिटी की रिपोर्ट में (जो १९३४ में पेश की गई थी) लिखा है कि "कृषकों के कर्ज़ का बोझा बहुत भारी है, बहुत ही कम अन्दाज़ लगावें तो क़रीब २०० करोड़ रुपया होगा।" यह नया आंकड़ा बैंकिंग जाँच कमिटी की रिपोर्ट के आंकड़े से लगभग ५० फ़ीसदी ज्यादा है। अगर दूसरे प्रान्तों के लिए भी इसी हिसाब से बढ़ती मानी जाय तो सारे भारत की मौजूदा (१९३४ की) कृषि-कर्जदारी १२०० करोड़ से ज्यादा होगी।

वक्त के लगान के बराबर ही अब भी लगान हो जाना चाहिए। ये भाव लगभग तीस साल पहले, करीब १९०१ मे थे। यह एक मोटी कसौटी थी, और इससे परखना भी आसान नही था, क्योकि काश्तकार भी कई तरह के थे—जैसे, मौरूसी, गैर-मौरूसी, शिकमी वगैरा, और सबसे नीचे दर्जे के काश्तकारो पर ही मन्दी का सबसे ज्यादा असर पडा था। दूसरी कसौटी सिर्फ यही हो सकती थी, और यही सबसे मुनासिब भी थी कि खेती का खर्चा और निर्वाह-योग्य मज़दूरी निकालकर कितनी रकम देने की ताकत काश्तकार की रहती है। मगर इस पिछली कसौटी से जॉचने पर जीवन-निर्वाह के खर्च कितने भी कम क्यो न माने जायँ, हिन्दुस्तान मे बहुत ज्यादा खेत ऐसे निकलेगे जो बे-मुनाफे है, और जैसा कि हमने १९३१ मे युक्तप्रान्त मे मिसालो से साबित किया था। कई काश्तकार तो अपना लगान अदा कर ही नही सकते थे, जबतक कि वे अगर उनके पास बेचने को कुछ जायदाद हो तो अपनी जायदाद न बेचे या ऊँची दरो पर कर्ज न ले।

हमारी युक्तप्रान्तीय कॉग्रेस कमिटी की पहली और आरजी तजवीज यह थी कि सब मौरूसी काश्तकारो के लिए ५० फीसदी आम छूट हो जानी चाहिए, और जिन काश्तकारो की हालत और भी खराब है उनके लिए इससे भी ज्यादा छूट दी जाय। जब मई १९३१ मे गाधीजी युक्तप्रान्त मे आये थे और गवर्नर सर मालकम हेली से मिले, तो उनमे मतभेद पाया गया, और उनकी राय एक न हो सकी। इसके बाद ही उन्होने युक्तप्रान्त के ज़मीदारो और काश्तकारो के नाम अपीले निकाली थी। पिछली अपील मे उन्होने काश्तकारो से कहा कि, उनसे जितना बन सके वे अदा करदे। उन्होने एक आकडा भी बताया, जोकि हमारे पहले बताये ऑकड़े से कुछ ऊँचा था। हमारी प्रान्तीय कमिटी ने गॉधीजी का ही आकडा मजूर कर लिया, मगर इससे मामला सुलझा नही, क्योकि सरकार उसपर राजी न हुई।

प्रान्तीय सरकार एक कठिन परिस्थिति मे थी। मालगुजारी ही उसकी आमदनी का बडा जरिया था, और अगर वह इसे बिलकुल उड़ा देती है या बहुत कम कर देती है तो उसे दिवालियापन का मुकाबिला करना पड़ता है। मगर, साथ ही उसे किसानो के उभड पडने का भी काफी अन्देशा था, और जहाँतक हो सके वह उन्हे काफी लगान की छूट देकर तसल्ली भी देना चाहती थी। लेकिन दोनो तरफ फायदे मे रहना आसान न था। सरकार और किसानो के बीच मे जमीदारवर्ग खड़ा था, जो कि आर्थिक दृष्टि से बेकार और गैर-जरूरी वर्ग था, और यदि इस वर्ग को नुकसान पहुँचाना गवारा किया जाय तो सरकार और किसान दोनो को रक्षण और सहायता मिल सकती थी। मगर ब्रिटिश-सरकार अपनी मौजूदा परिस्थिति में राज़-

नैतिक कारणो से उस वर्ग को नाराज नही कर सकती थी, क्योंकि जो वर्ग उसका पल्ला पकड़े हुए थे, उनमें एक वह भी है।

आखिर प्रान्तीय-सरकार ने ज़मीदार और काश्तकार दोनों के लिए ही छूट की घोषणा की। यह छूट कुछ बड़े पेचीदा तरीके पर दी गई थी, और पहले तो यही समझना मुश्किल था कि कितनी छूट दी गई है। मगर यह तो साफ जाहिर था कि यह बहुत ही नाकाफी थी। इसके अलावा छूट चालू किस्त के लिए ही घोषित की गई, और किसानो के पिछले बकाया कर्जे के बारे मे कोई भी बात नही कही गई। यह तो जाहिर था, कि अगर काश्तकार मौजूदा आधे वर्ष का लगान देने मे असमर्थ है, तो वह पिछला बकाया या कर्जा चुकाने मे तो और भी ज्यादा असमर्थ होगा। हमेशा ज़मीदारो ही का कायदा यह रहा था कि जितनी भी वसूली होती थी, वे पिछले बकाये में जमा किया करते थे। काश्तकार की दृष्टि से यह तरीका खतरनाक था। क्योंकि किस्त का कुछ-न-कुछ हिस्सा बाकी रह जाने की बिना पर उसके खिलाफ, चाहे जब, मुकदमा दायर किया जा सकता था, और उसकी ज़मीन जब चाहे छीनी जा सकती थी।

प्रान्तीय कॉंग्रेस-कार्यकारिणी बहुत ही कठिन स्थिति मे पड़ गई। हमे विश्वास था कि काश्तकारो के साथ बहुत बेजा बर्ताव हो रहा है, मगर हम कुछ न कर सकते थे। हम किसानो से यह कहने की जिम्मेदारी नही लेना चाहते थे कि वे अदायगी न करे। हम बराबर यही कहते रहे कि उनसे जितना बन सके उतना वे अदा कर दे, और आम तौर पर उनकी मुसीबतो मे उनके साथ हमदर्दी दिखाते और उन्हे हिम्मत बँधाने की कोशिश करते रहे। हम उनकी इस बात से सहमत थे, कि छूट कम करने पर भी किस्त की रकम उनकी ताकत के बाहर है।

अब बल-प्रयोग की मशीन, कानूनी और गैरकानूनी दोनो तरह से, चलने लगी। हजारो की तादाद मे बेदखली के मुकदमे दायर होने लगे; गाय, बैल और जाती मिल्कियत कुर्क होने लगी; जमीदारो के कारिन्दे मारपीट करने लगे। बहुतसे किसानो ने किस्त का कुछ हिस्सा जमा करा दिया। उनकी राय मे, उनकी इतना ही देने की ताकत थी। बहुत मुमकिन है कि कुछ लोग थोड़ा और दे सकते हो, लेकिन यह बिलकुल जाहिर था कि ज्यादातर किसानों के लिए तो यह भी भारी बोझ था। मगर इस आंशिक अदायगी के कारण वे बच नही सके। कानून का एंजिन तो आगे बढता ही गया, और रास्ते में जो कुछ आया, उसे कुचलता ही गया। हालाकि किस्तो का थोड़ा हिस्सा चुका दिया गया था, फिर भी इजराय डिग्री जारी हो गई और पशुओ और व्यक्ति-गत सम्पत्ति की कुर्की और नीलाम जारी रहा। अगर काश्तकार कुछ

भी न देते तो भी उनकी हालत इससे ज्यादा खराब न हो सकती थी। बल्कि, उतना रुपया बचा लेने से, उनकी हालत कुछ अच्छी ही रहती।

वे बडी तादाद मे हमारे पास जोरदार शिकायत करते हुए आते थे, और कहते थे कि हमने आपकी सलाह मान ली और जितना हमसे बन सकता था उतना हमने अदा कर दिया, फिर भी यह नतीजा हुआ है। अकेले इलाहाबाद जिले में ही कई हजार काश्तकार बेदखल कर दिये गये थे, और कई हजारो के खिलाफ कोई-न-कोई मुकदमा दायर कर दिया गया था। जिला कॉंग्रेस कमिटी का दफ्तर दिनभर परेशान काश्तकारो से घिरा रहता था। मेरा घर भी इसी तरह घिरा रहता था, और अक्सर मुझे लगता था कि मै यहाँ से भाग जाऊँ और कही छिप जाऊँ, जहाँ यह भयकर दुर्दशा दिखाई न दे। कई काश्तकारो पर, जो हमारे यहाँ आते थे, चोट के निशानात थे, जो जमीदारो के कारिन्दो की मार के थे। हमने उनका इलाज अस्पताल मे करवाया। वे क्या कर सकते थे ? और, हम क्या कर सकते थे ? हमने युक्त-प्रान्तीय सरकार के पास बडे-बडे पत्र भेजे। हमारी कमिटी ने नैनीताल या लखनऊ मे प्रान्तीय सरकार से सम्पर्क रखने के लिए गोविन्दवल्लभ पन्त को अपनी तरफ से मध्यस्थ बनाया था। वह सरकार को निरन्तर लिखते रहे, हमारे प्रान्तीय सदर, तसद्दुकअहमदखा शेरवानी भी लिखते रहे, और मै भी लिखता था।

जून-जुलाई की बारिश नजदीक आने से एक ओर कठिनाई सामने आई। यह खेत जोतने और बोने का मौसम था। क्या बेदखल किसान बेकार बैठे रहे और अपने सामने अपनी जमीन खाली पडी देखते रहे ? किसान के लिए यह बडा मुश्किल था। यह तो उसकी आदत के खिलाफ था। कई लोगो की बेदखली सिर्फ कानूनी लिहाज से हो गई थी, उन्हे दरअसल हटा नही दिया गया था। सिर्फ अदालत का फैसला हो गया था, इसके अलावा और कुछ नही हुआ था। इस हालत मे क्या वे जमीन जोत डाले और इस तरह मदाखलत बेजा का जुर्म कर ले, जिसमे शायद छोटे-मोटे दगे की भी सभावना हो जाय ? यह देखना भी किसान के लिए मुश्किल था कि उसकी पुरानी जमीन को कोई दूसरा जोत ले। वे सब हमसे सलाह मॉगने को आते थे। हम उन्हे क्या सलाह दे सकते थे ?

गर्मियो मे जब मै गाधीजी के साथ शिमला गया तो, मैने यह कठिनाई भारत-सरकार के एक ऊँचे अधिकारी के सामने रक्खी, और उनसे पूछा कि अगर वह हमारी स्थिति मे होते तो क्या सलाह देते ? उनका जवाब ऑखे खोल देनेवाला था। उन्होने कहा कि 'अगर कोई किसान, जिसकी जमीन छिन गई है, यह सवाल मुझसे पूछे तो मै जवाब देने से इन्कार कर दूँगा !' हालॉकि जमीन पर से किसान का कब्जा

क़ानूनन हटाया गया था फिर भी वह उसको सीधा यह कहने को भी तैयार नही थे कि वह अपनी ज़मीन न जोते। शिमला के पहाड़ पर बैठकर मिसलों पर इस तरह हुक्म देना, मानो वह गणित की किसी अमूर्त्त समस्या पर विचार कर रहे हो, उनके लिए तो आसान था। उन्हे या नैनीताल के प्रान्तीय प्रभुओं को मनुष्यो से सावका नही पड़ता था, और न वे मनुष्यो की मुसीबतों को ही अपनी आँखो से देखते थे।

शिमला मे हमसे यह भी कहा गया कि हम किसानों को सिर्फ एक ही सलाह दे कि उन्हे पूरी किस्त दे देनी चाहिए, या वे जितनी दे सकें उतनी दे देना चाहिए। हमें करीब-करीब ज़मींदारों के कारिन्दों के जैसे ही काम करना चाहिए। दरअसल, कुछ ऐसी ही बात हमने उनसे तभी कह दी थी जबकि हमने उनसे कहा था कि जितना बने उतना अदा कर दो। लेकिन, बेशक, हमने साथ ही यह कहा था कि उन्हें अपने पशु नही बेचने चाहिएँ, या नया कर्ज़ा नही करना चाहिए। और इसका नतीजा भी जो-कुछ हुआ सो हम देख चुके थे।

यह गरमी हमारे लिए बड़ी भयकर थी। हिन्दुस्तान के किसानों मे मुसीबत सहने की अद्‌भुत शक्ति है, और उनपर हमेशा जरूरत से ज्यादा मुसीबते आती भी रही है--अकाल, बाढ़, बीमारी और निरन्तर कुचलनेवाली दरिद्रता—और जब वे अधिक बरदाश्त नही कर सकते, तो चुपचाप, और मानो बगैर शिकायत किये, हज़ारों की सख्या मे, मर जाते हैं। यह उनका मुसीबतों से बचने का तरीका रहा है। १९३१ मे, समय-समय पर आनेवाली पिछली मुसीबतो से ज्यादा कोई बड़ी बात नही थी। मगर, किसी कारण, १९३१ की घटनायें उन्हें ऐसी न लगी कि जो क़ुदरत की तरफ से आ गई हो और जिन्हें चुपचाप बरदाश्त करना ही चाहिए। उन्होने विचार किया कि ये तो मनुष्य की लाई हुई हैं, और इसलिए वे उन्हे बुरी लगी। जो नई राजनैतिक तालीम उन्हे मिली थी वह अपना असर दिखा रही थी। हमारे लिए भी १९३१ की ये घटनाये खास तौर पर दर्दनाक थी, क्योकि किसी हद तक हम अपने-आपको उनके लिए जिम्मेदार समझते थे। क्या इस मामले मे किसानों ने ज्यादातर हमारी सलाह नही मानी थी? लेकिन, फिर भी, मेरा तो पूरा विश्वास है कि अगर हमारी निरन्तर सहायता न होती तो किसानो की हालत और भी बदतर हुई होती। हम उनको संगठित करके रखते थे, और उनकी एक ताकत हो गई थी, जिसका ख़याल रखना पड़ता था, और इसी कारण उन्हे इतनी छूट भी मिल गई जितनी शायद और तरह उन्हे न मिलती। और इन अभागे लोगो पर जो मार-पीट और सख़्ती की गई, वह, हालांकि ख़राब थी, इनके लिए कोई नई बात न थी। हाँ, इस वक्त उसकी मात्रा मे कुछ फर्क था (क्योंकि इस वक्त पहले से ज्यादा मात्रा में की गई थी), और कुछ

उसका प्रकाशन भी ज्यादा हुआ था । आम तौर पर, गाँवो मे जमीदारो के कारिन्दो का काश्तकारो के साथ मार-पीट करना या उन्हे बहुत पीडा पहुँचाना भी मामूली बात समझी जाती है, और पिटनेवाले की मौत होजाने पर, सिवा वहाँ के, बाहर उसकी चर्चा भी नही होती । मगर हमारे सगठन और किसानो की जागृति के कारण अब ऐसा नही हो सकता था, क्योकि इससे किसान सब एक-साथ हो गये थे और हर बात की रिपोर्ट कॉंग्रेस के दफ्तर में करते थे ।

जैसे-जैसे गरमी का मौसम बीतता गया, जबरदस्ती वसूल करने की कोशिश कुछ ढीली हो गई और बल-प्रयोग की कार्रवाइयाँ कम पडने लगी । अब हमे बहु-सख्यक बेदखल किसानो की फिक्र थी । उनके लिए क्या करना चाहिए ? हम सरकार पर जोर डाल रहे थे कि वह उन्हे उनके खेत वापस दिलवाने मे मदद करे, जो कि ज्यादातर खाली ही पडे थे । इससे भी ज्यादा जरूरी प्रश्न भविष्य का था । जो छूट मिली थी वह पिछली फसल के लिए ही थी, और भविष्य के लिए अभीतक कुछ भी तय नही हुआ था । अक्तूबर से अगली किस्त की वसूली का वक्त आ जायगा । तब क्या होगा ? क्या हमे इसी भयकर घटना-चक्र मे से फिर गुज़रना पड़ेगा ? प्रान्तीय सरकार ने इसपर विचार करने के लिए एक छोटी-सी कमिटी नियुक्त की, जिसमे उसीके अधिकारी और प्रान्तीय कौंसिल के कुछ जमीदार मेम्बर थे । उसमे किसानो की तरफ से कोई प्रतिनिधि न था । अन्तिम क्षण, जब कि कमिटी ने काम भी शुरू कर दिया, सरकार ने हमारी तरफ से गोविन्दवल्लभ पन्त से उसमे शामिल होने को कहा । उन्होने इतने अर्से बाद उसमे शामिल होने मे कुछ फायदा न देखा, जब कि जरूरी मामलो के निर्णय तो किये ही जा चुके थे ।

युक्तप्रान्तीय कॉंग्रेस कमिटी ने भी किसानो के मुतल्लिक पिछली और मौजूदा कई हकीकते इकट्ठा करने और मौजूदा परिस्थिति पर अपनी रिपोर्ट देने के लिए एक छोटी-सी कमिटी बिठाई थी । इस कमिटी ने एक बडी रिपोर्ट पेश की, जिसमे युक्तप्रान्त के देहात की हालत का बडा योग्यता-पूर्ण निरीक्षण किया गया था, और भावो की भारी कमी के कारण आई हुई दुर्दशा का विश्लेषण किया गया था । उनकी सिफारिशे बडी व्यापक थी । उस रिपोर्ट पर, जो पुस्तक-रूप मे प्रकाशित की गई थी, गोविन्दवल्लभ पन्त, रफीअहमद किदवई और वेकटेशनारायण तिवारी के दस्तखत थे ।

इस रिपोर्ट के निकलने के बहुत पहले ही गाधीजी गोलमेज-कान्फ्रेन्स के लिए लन्दन जा चुके थे । वह बडी हिचकिचाहट के बाद गये थे, और इस हिचकिचाहट का एक सबब युक्तप्रान्त के किसानो की परिस्थिति भी थी । वास्तव मे उन्होने प्राय यह तय कर लिया था कि अगर वह गोलमेज-कान्फ्रेन्स के लिए लन्दन न गये, तो

वह यू० पी० आयेंगे और इस पेचीदा सवाल को हल करने में जुट पड़ेंगे। सरकार के साथ शिमला में जो आखिरी बातचीत हुई थी, उसमें और बातों के साथ युक्तप्रान्त की बात भी शामिल थी। उनके इंग्लैण्ड रवाना हो जाने के बाद भी उन्हें हम, जो-कुछ होता था उसकी, पूरी-पूरी इत्तिला देते रहते थे। पहले एक या दो महीने तक तो मैं उन्हे हर हफ्ते, हवाई और मामूली, दोनों डाकों से पत्र लिखा करता था। बाद में हम इतने नियमित रूप से नहीं लिखते थे, क्योंकि हमें उम्मीद थी कि वह जल्दी ही आजायँगे। उन्होने हमसे कहा था कि वह ज्यादा-से-ज्यादा तीन महीने में, यानी नवम्बर मे किसी वक्त, लौट आयँगे, और हमे उम्मीद थी कि उस वक्त तक हिन्दुस्तान मे कोई संकट खड़ा न होगा। सबसे बड़ी बात यह थी कि उनकी ग़ैर-हाज़िरी में हम सरकार के साथ संघर्ष या सकट मोल लेना नही चाहते थे। मगर, जब उनके आने में देर लग गई और किसानो की समस्या तेज़ी से बढ़ती चली, तब हमने उन्हे एक लम्बा तार भेजा, जिसमें ताज़ा-से-ताज़ा वाक़यात लिखे, और उन्हे इत्तिला की कि किस तरह हम कुछ-न-कुछ करने के लिए मजबूर हो रहे हैं। उन्होंने तार से जवाब दिया कि इस मामले मे मैं लाचार हूँ और इस समय कुछ नही कर सकता, और यह भी कह दिया कि जैसा हम लोगों को ठीक मालूम हो वैसा ही करते जायँ।

प्रान्तीय कार्यकारिणी, कार्य-समिति को भी हर बात की इत्तिला देती रही। मैं खुद उसमे अपनी जानकारी से बातें बताने को मौजूद था ही, मगर चूँकि मामला गंभीर होता जाता था, कमिटी ने हमारे प्रान्तीय सदर तसद्दुक़ शेरवानी, और इलाहाबाद ज़िला कमिटी के प्रसीडेण्ट पुरुषोत्तमदास टण्डन से भी बातचीत की।

सरकार की किसान-सम्बन्धी कमिटी ने अपनी रिपोर्ट निकाली, और कुछ सिफ़ारिशे भी की, जो पेचीदा और गोल-मोल थीं और उसमें बहुत बातें मुक़ामी अफसरो के ऊपर छोड़ दी गई थी। कुल मिलाकर उसमे जिस छूट की तजवीज़ की गई थी, वह पिछले मौसम की छूट से ज्यादा थी, मगर हमें मालूम हुआ कि यह छूट भी काफ़ी नही है। जिन आधारो पर उसमे सिफ़ारिशे की गई थी उनपर, और सिफ़ारिशों के स्वरूप पर भी, हमने ऐतराज़ किया। इसके सिवा, रिपोर्ट में सिर्फ आगे का ही विचार किया गया था, मगर पिछले बक़ाया, कर्ज़ा, और बहुसंख्यक बेदखल कृषकों के सवाल पर कुछ नही कहा गया था। अब, हम क्या करते? जिस तरह हमने पिछले चैत-बैसाख मे किसानों से कहा था कि वे जितना बने उतना अदा कर दें, क्या अब भी हम किसानो को वही सलाह दे, और फिर वही नतीजे देखे? हमने देख लिया था कि वह सलाह सबसे ज्यादा मूर्खता-पूर्ण थी, और फिर से नहीं दी जा सकती थी। या तो किसानों को चाहिए कि अगर वे दे सकें तो पूरी

रकम अदा करे जो अब छूट काटकर उनसे माँगी जा रही है, या वे कुछ भी न दे और देखे कि क्या होता है। रकम का कुछ हिस्सा दे देने से वे न इधर के रहते न उधर के। काश्तकारो का, जितना वह निकाल सकते है, सारा रुपया वगैरा भी चला जाता है, और उनकी जमीन भी छिन जाती है।

हमारी प्रान्तीय कार्य-कारिणी ने परिस्थिति पर देर तक और गभीरता के साथ विचार किया और निश्चय किया कि सरकार की तजवीजे हालाँकि पिछली गरमी की छूट से ज्यादा है लेकिन इतनी माफिक नही है कि उन्हे मौजूदा शकल मे मंजूर कर लिया जाय। उनमे किसानो के हक मे तबदीली होने की फिर भी सम्भावना थी, और इसके लिए हमने सरकार पर जोर दिया। मगर हमे मालूम होता था कि अब कोई उम्मीद नही है, और जिस सघर्ष को हम टालना चाहते थे, वह कुछ तेजी से आ रहा है। प्रान्तीय सरकार और भारत-सरकार का कॉंग्रेस-सगठन की तरफ रुख लगातार बदलता और सख्त होता जा रहा था। हमारे बडे-बडे पत्रो के जवाब मे हमे जरा-जरा सा जवाब मिल जाया करता था, जिसमे बता दिया जाता था कि हम मुकामी अफसरो से लिखापढी करे। यह जाहिर था कि सरकार की नीति हमे किसी तरह भी प्रोत्साहित करने की नही थी। सरकार की एक मुसीबत और मुश्किल यह भी थी कि अगर किसानो को छूट देदी जाय तो काग्रेस का रौब बढ जाने की सभावना थी। पुरानी आदत के कारण वह सिर्फ रौब के लिहाज से ही सोच सकती थी, और यह खयाल, कि शायद जनता छूट का जस कॉंग्रेस को देने लगेगी, उसे नागवार हो रहा था, और वह इसे जहाँतक हो सके बचाना चाहती थी।

इस बीच हमारे पास दिल्ली और दूसरी जगहो से ये रिपोर्टे आ रही थी कि भारत-सरकार सारे कॉंग्रेस-आन्दोलन पर जल्दी ही एक जबरदस्त आक्रमण शुरू करनेवाली है। अब छोटी अगुली ज्यादा जोर से काम करनेवाली है, और बिच्छू के डक हमसे तोबा करानेवाले है। कॉंग्रेस के खिलाफ क्या-क्या करने की तजवीज है, इसकी बहुत-सी तफसील भी हमे मिल गई। मेरा खयाल है कि शायद नवम्बर मे किसी वक्त, डाक्टर अन्सारी ने मेरे पास (और कॉंग्रेस के सदर वल्लभभाई पटेल के पास भी, अलग) एक खबर भेजी, जिससे हमारी पिछली रिपोर्टो की ताईद होती थी, और जिसमें खासकर सीमाप्रान्त और युक्तप्रान्त के प्रस्तावित आर्डिनेन्सो की तफसील भी थी। मेरा खयाल है कि बगाल को नये आर्डिनेन्स की सौगात मिल चुकी थी, या, शायद मिलने ही वाली थी। कई हफ्ते बाद जब नये आर्डिनेन्स निकले, मानो वे किसी नई परिस्थिति का एकदम सामना करने के लिए निकले हो, तब डॉक्टर अन्सारी की खबर की बहुत कुछ ताईद हो गई, और उसकी तफसील भी बहुत हद तक सही

निकली। आम तौर पर यही माना गया कि सरकार ने, गोलमेज-कान्फ्रेन्स के आशातीत लम्बा हो जाने से, अपना हमला रोक रक्खा था। उस समय जबकि गोलमेज़-कान्फ्रेन्स के मेम्बर आपस में मीठी-मीठी बेमतलब की कानाफूसी कर रहे थे, सरकार हिन्दुस्तान में आम दमन को टालना चाहती थी।

इसलिए तनातनी बढती गई, और हम सभीको महसूस हो रहा था कि हमारे जैसे छोटे-छोटे लोगो के रोकने पर भी घटनाये अपने-आप आगे बढ़ रही है, और होनहार को कोई रोक न सकेगा। हम तो इतना ही कर सकते थे कि हम उनका मुकाबिला करने के लिए, और जीवन के उस नाटक मे, जो शायद दु खान्त होनेवाला था, व्यक्तिगत और सामूहिक रुप से अपना हिस्सा ठीक तरह से अदा करने के लिए, अपने-आप को तैयार करले। मगर हमे उम्मीद थी कि शक्तियो का यह सघर्ष शुरू होने से पहले गाधीजी लौट आयँगे, और वह लडाई या सुलह की जिम्मेदारी अपने कन्धो पर उठा लेगे। उनकी गैरहाज़िरी मे इस बोझ को उठाने के लिए हममे से कोई भी तैयार नही था।

युक्तप्रान्त मे सरकार ने एक और काम किया जिससे देहाती हलको मे हलचल मच गई। काश्तकारो को छूट की चिट्ठियाँ बाँट दी गईं, जिनमे छूट की रकम बताई गई थी और यह धमकी शामिल थी कि अगर इसमे दिखाई हुई रकम एक महीने मे अदा न की जायगी (किसी-किसी चिट्ठी मे इससे भी कम वक्त दिया गया था), तो छूट रद कर दी जायगी, और पूरी रकम कानूनी तरीके से, जिसका मतलब होता है बेदखली, कुर्की, वगैरा से, वसूल कर ली जायगी। मामूली बरसो मे तो काश्तकार अपनी लगान किस्तो मे दो या तीन महीनो मे अदा कर देते है। अबकी यह मामूली मियाद भी नही दी गई। सारे देहात के सामने एकदम नया संकट खड़ा हो गया, और चिट्ठियाँ हाथ मे लेकर काश्तकार इधर-उधर उसका विरोध और शिकायत करते हुए, सलाह पूछने के लिए, दौडने लगे। सरकार या उसके मुकामी अफसरो की तरफ से यह एक मूर्खता-पूर्ण धमकी थी, और बाद को हमसे कहा गया कि यह संजीदगी से नही दी गई थी। मगर इससे शान्तिपूर्ण समझौते का मौका बहुत कम रह गया, और कदम-ब-कदम लाजिमी तौर पर सघर्ष नजदीक आने लगा।

अब तो किसानो को और कॉंग्रेस को जल्दी ही फैसला करना आवश्यक था। हम गाँधीजी के लौटने तक अपना फैसला नही रोक सकते थे। हमे अब क्या करना चाहिए? क्या सलाह देनी चाहिए? क्या जबकि हम यह जानते थे कि कई किसान इस मिली हुई छोटी-सी मियाद मे अपनी रकम अदा नही कर सकते तो यह वाजिब बात होती कि हम उन किसानो से कह देते कि वे अपनी रकम अदा करदे? और

फिर जो वकाया उनकी तरफ था, उसके बारे मे क्या होगा ? अगर उनसे मॉगी हुई रकम का वडा हिस्सा भी वे अदा करदे, या हाल की पूरी रकम भी अदा करदे, जो वकाये मे जमा करली जायगी, तो भी क्या वे वेदखल किये जाने के खतरे से वच जायँगे ?

इलाहावाद काँग्रेस कमिटी ने अपनी मजवूत किसान-सेना के साथ लडाई का जोर बाँधा। उसने फैसला किया कि उसके लिए यह मुमकिन नही है कि वह किसानो को अदायगी कर देने की सलाह दे। मगर यह कह दिया गया कि प्रान्तीय कार्यकारिणी और अखिल-भारतीय कार्य-समिति की वाकायदा मजूरी के वगैर वह कोई आक्रामक कदम नही उठा सकती। इसलिए मामला कार्य-समिति के सामने पेश किया गया, और प्रान्त और जिले की तरफ से अपना मामला समझाने के लिए तसद्दुक शेरवानी और पुरुषोत्तमदास टडन दोनो ही मौजूद रहे। हमारे सामने जो सवाल था वह सिर्फ इलाहावाद जिले से ही ताल्लुक रखता था और वह शुद्ध आर्थिक मामला था, मगर हमने महसूस किया कि उस वक्त जैसी राजनैतिक तनातनी हो रही थी उसमे उसका व्यापक परिणाम हो सकता था। क्या इलाहावाद जिला काँग्रेस कमिटी को यह इजाज़त दे दी जाय कि वह कुछ वक्त के लिए, जवतक कि आगे सुलह की वातचीत न होले और ज्यादा अच्छी शर्ते न मिल जायँ तवतक के लिए, लगान या मालगुजारी अदा न करने की सलाह किसानो को दे दे। यह एक छोटा मामला था और हम उसी तक महदूद भी रहना चाहते थे, लेकिन क्या हम ऐसा कर सकते थे ? कार्य-समिति गाधीजी के लौटने से पहले सरकार से लड़ पडने की स्थिति को बचाने के लिए सारी ताकत लगाकर कोशिश करना चाहती थी, और खासकर वह एक ऐसे आर्थिक सवाल पर तो लडाई को टालना चाहती ही थी जिसके वर्ग-समस्या वन जाने की सभावना थी। कमिटी हालाकि राजनैतिक दृष्टि से आगे वढी हुई थी, लेकिन सामाजिक दृष्टि से तो आगे वढी हुई नही थी, और उसे किसान और जमींदारो का आपसी झगडा खडा होना पसन्द न था।

चूकि मेरा झुकाव समाजवाद की तरफ था, मुझे आर्थिक और सामाजिक मामलो मे सलाह देने के लिए भरोसे लायक आदमी न समझा गया। मुझे खुद यह महसूस हो रहा था कि कार्य-समिति को यह मालूम हो जाना चाहिए कि युक्तप्रान्त की परिस्थिति ही ऐसी है कि हमारे ज्यादा नरम और दाहिने वाजू के मेम्वर भी, सघर्ष करने की पूरी अनिच्छा रखते हुए भी, वाकयात से मजवूर होकर सघर्ष करना चाहते है। इसलिए मैंने हमारी कमिटी की मीटिंग मे हमारे प्रान्त से शेरवानी और दूसरे लोगो के आने को वहुत अच्छा समझा, क्योकि शेरवानी, जो हमारे प्रान्त के सभापति थे, किसी भी

प्रकार उग्र नही थे। राजनैतिक और सामाजिक दोनो रूप मे वह कॉंग्रेस मे दाहिने बाजू के समझे जाते थे, और साल के शुरू मे उनकी राय युक्तप्रान्तीय कॉंग्रेस कमिटी की किसानो-सम्बन्धी नीति के खिलाफ हो गई थी। मगर जब वह खुद कमिटी के सदर बन गये और उन्हे खुद बोझ उठाना पडा, तो उन्होने समझ लिया कि हमारे लिए दूसरा चारा ही नही है। प्रान्तीय कॉंग्रेस कमिटी ने बाद में जो-जो भी कदम उठाया वह उनके घने-से-घने सहयोग के साथ, और अक्सर सदर की हैसियत से उन्हीकी मार्फत, उठाया।

इसलिए कार्य-समिति के सामने तसद्दुक शेरवानी की बहस से मेम्बरो पर बडा असर पडा—मै जितना असर डाल सकता था, उससे कही ज्यादा। बहुत सोच-विचार के बाद, लेकिन यह महसूस करके कि वह उससे इन्कार नही कर सकते है, उन्होने युक्तप्रान्तीय कमिटी को अख्त्यार दे दिया कि वह अपने किसी भी इलाके मे लगान और मालगुजारी की अदायगी को मुल्तवी करने की इजाजत दे सकती है। मगर, साथ ही, उन्होने युक्तप्रान्त के लोगो पर जोर दिया कि हो सके तो वे इस कदम को न उठायँ, और प्रान्तीय सरकार से सुलह की बातचीत चलाते रहे।

कुछ समय तक यह बातचीत चलाई गई, लेकिन नतीजा कुछ भी नही हुआ। मेरा खयाल है कि इलाहाबाद जिले की छूट मे थोड़ा-सा इजाफा कर दिया गया। मामूली परिस्थिति मे शायद यह मुमकिन होता कि आपस मे समझौता हो जाता या खुला सघर्ष रुक जाता; अन्तर कम होता जा रहा था। मगर परिस्थिति बहुत ही असाधारण थी, और सरकार और कॉंग्रेस दोनो ही तरफ से यह भावना थी कि जल्दी ही संघर्ष होना लाजिमी है, और हमारी निपटारे की बातचीत की तह मे कोई असलियत नही थी। दोनो तरफ से जो-जो कदम उठाया जाता था, उसमे ऐसा ही दिखता था कि यह अपने लिए अच्छी स्थिति पैदा कर लेने की ख्वाहिश से उठाया जा रहा है। इसके लिए सरकार की तैयारियाँ तो गुप्त रूप से हो सकती थी, और दर-असल सोलहो आना हो भी गई थी। लेकिन हमारी शक्ति तो बिलकुल लोगो के दम-खम पर ही टिकी हुई थी, और इसकी तैयारी गुप्त कार्रवाइयो से नही हो सकती थी। हममे से कुछ लोगो ने, और मै भी उन्ही कुसूरवारो मे से था, तो आम भाषणो मे यह बार-बार कहा था कि आजादी की लड़ाई हरगिज खतम नही हुई है, और हमे निकट-भविष्य मे कई आजमाइशो और मुश्किलो से गुज़रना पड़ेगा। हमने लोगो से कहा कि वे इसके लिए हमेशा तैयार रहे, और इसी कारण हमें लड़ाई जगानेवाला कहकर हमारी निन्दा की गई थी। दरहकीकत मध्यम-वर्गीय कॉंग्रेसी-कार्यकर्त्ताओ के अन्दर हकीकतो का मुकाबिला करने की साफ़ अनिच्छा मालूम होती थी, और उन्हे उम्मीद थी की

किसी-न-किसी तरह सघर्ष टल जायगा। गाधीजी के लन्दन मे रहने से भी अखबार पढनेवाले वर्गो का ध्यान उधर बँट जाता था। मगर पढे-लिखे लोगो की इस निष्क्रियता के होते हुए भी घटनाये आगे ही बढती गई। खासकर बगाल, सीमाप्रान्त और युक्तप्रान्त मे—और नवम्बर मे कई लोगो को यह दीखने लगा कि सकट नजदीक आ ही रहा है।

युक्तप्रान्तीय कॉंग्रेस कमिटी ने, इस डर से कि अचानक न जाने कैसी घटनाये हो जायँ, लडाई शुरू होने की अवस्था के लिए कुछ आन्तरिक व्यवस्था कर डाली। इलाहाबाद-कमिटी ने एक बडी किसान-कान्फ्रेन्स बुलाई, जिसमे एक आरजी ठहराव किया गया कि अगर ज्यादा अच्छी शर्ते न मिल सकेंगी, तो उन्हे किसानो को लगान और मालगुजारी रोक लेने की सलाह देनी पडेगी। इस प्रस्ताव से प्रान्तीय-सरकार बहुत नाराज हुई, और इसीको 'लडाई का काफी सबब' समझकर उसने हमारे साथ आगे कोई भी बातचीत करने से इन्कार कर दिया। इस रुख का प्रान्तीय कॉंग्रेस पर भी असर पडा, और उसने इसको आनेवाले तूफान का निशान समझा और जल्दी-जल्दी अपनी तैयारियाँ करना शुरू किया। इलाहाबाद मे एक और किसान कान्फ्रेन्स हुई, जिसमे पहले से भी ज्यादा तेज और निश्चित प्रस्ताव पास किया गया। इसमे किसानो से कहा गया कि वे आगे और निपटारे की बातचीत होने और ज्यादा अच्छी शर्तें मिलने तक के लिए अदायगी रोक ले। उस वक्त भी, और अखीर तक, हमारी लडाई का रुख यह नही था कि 'लगान न दिया जाय', मगर यह था कि 'मुनासिब लगान दिया जाय'। और हम लगातार बातचीत करने की दरख्वास्त करते ही रहे, हालाकि दूसरा पक्ष ऐंठ मे दूर हट गया था। इलाहाबाद का ठहराव जमीदारो और काश्तकारो दोनो पर लागू था, मगर हम जानते थे कि अमल मे वह काश्तकारो और कुछ छोटे जमीदारो पर ही लागू होगा।

नवम्बर १९३१ के अन्त और दिसम्बर के शुरू के करीब युक्तप्रान्त मे यह परिस्थिति थी। इस बीच बगाल और सीमा-प्रान्त मे भी घटनाये हद तक पहुँच चुकी थी, और बगाल मे एक नया और भयकर रूप से व्यापक आर्डिनेन्स जारी कर दिया गया था। ये सब लडाई के चिन्ह थे, न कि सुलह के, और सवाल उठता था कि गाधीजी कब लौटेंगे? सरकार ने जिस बडे प्रहार की तैयारी बहुत अर्से से कर रक्खी थी, उसके शुरू किये जाने से पहले क्या गाधीजी हिन्दुस्तान आ पहुँचेगे? या, क्या वह यहाँ पहुँचकर यह देखेंगे कि उनके कई साथी जेल जा चुके है और लडाई चालू हो गई है? हमें मालूम हुआ कि वह इग्लैड से रवाना हो चुके है और साल के आखिरी हफ्ते मे बम्बई आ पहुँचेगे। हममे से हरेक, मुख्य कार्यालय का या प्रान्तो का हर-

प्रमुख कार्यकर्ता, उनके लौटने तक लडाई टालना चाहता था। और लडाई के लिहाज से भी हमारे लिए यह वाञ्छनीय था कि हम उनसे मिल ले, और उनकी सलाह और हिदायते हासिल कर ले। वह एक इस तरह की दौड थी, जिसमे हम मजबूर थे। इसमे सूत्रपात ब्रिटिश सरकार के हाथ में था।

४०

सुलह का खात्मा

युक्तप्रान्त मे मेरे मशगूल रहने के वावजूद वहुत अरसे से मेरी यह ख्वाहिश थी कि मैं दूसरे दोनो तूफानी केन्द्रो, सीमाप्रान्त और वगाल, मे भी हो आऊँ। मै उस जगह जाकर वहाँ कि परिस्थिति का अध्ययन करना, और अपने पुराने साथियो से, जिनमें से अनेक को मैने करीव दो साल से नही देखा था, मिलना चाहता था। मगर, सवसे ज्यादा, मै यह चाहता था कि मे उन प्रान्तो के लोगो की स्पिरिट और हिम्मत के, और राष्ट्रीय सग्राम मे उनकी कुर्वानियो के प्रति, अपनी तरफ से सम्मान प्रकट करू। सीमाप्रान्त मे तो कुछ समय के लिए मैं जा ही नही सकता था, क्योंकि भारत-सरकार यह पसन्द नहीं करती थी कि कोई प्रमुख कांग्रेसी वहाँ जाय, और उसके इस रुख को देखते हुए हम वहाँ जाने और अड़चन पैदा करने की कोई इच्छा नही रखते थे।

वगाल में स्थिति विगडती जा रही थी, और हालांकि उस प्रान्त की तरफ मुझे वहुत आकर्षण था, फिर भी जाने के पहले मुझे वडी हिचकिचाहट हुई। मै महसूस करता था कि मैं वहाँ असहाय-सा रहूँगा, और कुछ भी फायदा न पहुँचा सकूँगा। उस प्रान्त मे काँग्रेसी लोगो के दो दलो के शोचनीय और दीर्घकालीन झगडो के सवव से वाहरी कॉग्रेसवाले वहुत अर्से से डर गये थे, और दूर-दूर रह रहे थे, क्योकि उन्हे भय था कि वे भी किसी-न-किसी दल मे शामिल समझ लिये जायँगे। यह वडी कमजोर और चिमगादडी नीति थी, और इससे वगाल की समस्या के सरल होने या हल होने मे मदद नही मिली। गाधीजी के लंदन जाने के कुछ वक्त वाद ही दो घटनाये अचानक ऐसी हुई जिनसे सारे हिन्दुस्तान का ध्यान वगाल की स्थिति पर केन्द्रित हो गया। ये दोनो घटनाये हिजली और चटगाँव मे हुई थी।

हिजली नजरवन्दो के लिए खास तौर पर वनाया हुआ एक डिटेन्शन-कैम्प जेल था। सरकारी तौर पर यह घोषित किया गया कि कैम्प के अन्दर एक दगा हो गया और नजरवन्दो ने जेल के मुलाजिमो पर हमला कर दिया, इसलिए उनपर मजवूरन जेलवालो को गोली चलानी पडी थी। इस गोलीकाण्ड से एक नजरवन्द मारा गया और कई घायल हुए। एक मुकामी सरकारी तफतीश ने, जो उसके वाद ही फौरन की गई थी, जेलवालो को इस गोलीकाण्ड और इसके नतीजो से विलकुल वरी कर दिया। मगर इस घटना मे कई विचित्र वाते हुई, और कई तथ्य

ऐसे प्रकट हो गये, जो सरकारी बयान से मेल नही खाते थे, और जगह-जगह से इसकी ज्यादा जाच करने की जोरदार और जबरदस्त मॉग की गई। हिन्दुस्तान के आम सरकारी रिवाज के खिलाफ बगाल-सरकार ने एक ऐसी जाच-कमिटी मुकर्रर कर दी, जिसमे सब ऊँचे-ऊँचे जुडीशियल अफसर ही थे। वह शुद्ध सरकारी कमिटी थी, लेकिन उसने शहादते ली और मामले पर पूरा विचार किया, और उसकी रिपोर्ट डिटेन्शन-कैम्प-जेल के मुलाजिमो के खिलाफ हुई। यह तसलीम किया गया कि कुसूर ज्यादातर जेल के मुलाजिमो का ही था, और गोलीकाण्ड बिलकुल अनुचित था। इस तरह सरकार के जो पहले कम्यूनिक निकले थे वे बिलकुल झूठे साबित हुए।

हिजली की घटना कोई बहुत असाधारण घटना नही थी। बदकिस्मती से ऐसी घटनाये हिन्दुस्तान में कम नही होती और जेल के अन्दर दगो के होने की और जेल मे हथियार-बन्द वार्डरो और दूसरे लोगो द्वारा निहत्थे और बेबस कैदियो के मर्दानगी से दबाये जाने की खबरे अक्सर पढने को मिला करती है। हिजली मे असाधारण बात यही हुई कि उससे ऐसी घटनाओ के बारे मे सरकारी कम्यूनिको के बिलकुल एक तर्फापन और झूठेपन की पोल खुल गई, और वह भी सरकारी रिपोर्ट से ही। पहले ही सरकार के कम्यूनिको का कोई भरोसा नही किया जाता था, मगर अब तो उनका पूरा-पूरा भण्डाफोड ही हो गया।

हिजली-काण्ड के बाद तो जेल की घटनाये, जिनमे जेलवालों द्वारा कही गोली चलाई जाती थी और कही दूसरे प्रकार का कोई बल-प्रयोग किया जाता था, सारे हिन्दुस्तान-भर में बडी तादाद मे होने लगी। ताज्जुब की बात यह है कि इन जेल के दगो मे चोट सिर्फ कैदियो को ही लगती मालूम होती थी। करीब-करीब हर मामले मे एक सरकारी वक्तव्य निकलता था, जिसमे कैदियो पर कई बेजा हरकतो का इलजाम लगाया जाता था, और जेल के मुलाजिमो को बचाया जाता था। बहुत ही कम मिसालो मे जेलवालो को महकमे की तरफ से कोई सजा दी गई होगी। पूरी जॉच करने की तमाम मागो के लिए बिलकुल इन्कार कर दिया गया, सिर्फ महकमे की एक तरफ की जाँच ही काफी समझी गई। साफ जाहिर था कि सरकार ने हिजली से अच्छी तरह सबक सीख लिया था कि मुनासिब और निष्पक्ष जाँच कराने मे खतरा रहता है और मुस्तगीस ही खुद अपने इलजाम का सबसे अच्छा जज होता है। तो फिर इसमें भी क्या ताज्जुब है कि लोगो ने भी हिजली से सबक सीख लिया हो, कि सरकारी कम्यूनिको मे वही बात कही जाती है जो सरकार हमसे कहना चाहती है, न कि वह जो दरअसल घटित होती है ?

चटगाव की घटना तो इससे भी बहुत ज्यादा गम्भीर थी। एक आतकवादी ने

किसी एक मुसलमान पुलिस-इन्स्पेक्टर को गोली से मार डाला। इसके बाद ही एक हिन्दू-मुसलिम दगा हो गया, या उसे ऐसा नाम दिया गया। मगर यह तो जाहिर था कि मामला इससे कुछ बहुत ज्यादा था और वह मामूली दगो से कुछ भिन्न था। यह स्पष्ट था कि आतकवादी के काम का साम्प्रदायिकता से कोई ताल्लुक न था, वह हमला तो हिन्दू या मुसलमान का खयाल न रखते हुए एक पुलिस-अफसर पर हुआ था। फिर भी यह तो सही ही है कि बाद मे हिन्दू-मुसलमानो मे कुछ झगड़ा भी होगया। यह झगडा कैसे शुरू हुआ, उसके होने का कारण कौन-सा था, यह साफ नही बताया गया, हालाकि जिम्मेदार सार्वजनिक व्यक्तियो ने इस मामले मे बहुत गभीर-गभीर इलजाम लगाये है। इस दगे की एक और विशेषता यह थी कि इसमे दूसरी जातियो के निश्चित समुदायो ने, एग्लो-इण्डियनो ने, खासकर रेलवे मुलाजिमो ने और दूसरे सरकारी मुलाजिमो ने भी, जिनके बारे मे कहा जाता है कि उन्होने बड़े पैमाने पर बदला लेने के कार्य किये—हिस्सा लिया। जे० एम० सेनगुप्त और बंगाल के दूसरे मशहूर लीडरो ने चटगाँव के वाकयात के बारे मे कई निश्चित आरोप लगाये, और उन्होने जाँच करने या मान-हानि का मुकदमा चलाने तक की चुनौती दी, मगर फिर भी सरकार ने कोई कार्रवाई न करना ही अच्छा समझा।

चटगाँव की इन कुछ असाधारण घटनाओ से दो खतरनाक सभावनाओ की तरफ विशेष ध्यान गया। आतकवाद की कई लिहाज से निन्दा की गई थी, और आधुनिक क्रान्तिकारी पद्धति भी उसको बुरा बताती थी। मगर उसका एक नतीजा ऐसा भी हो सकता था, जिससे मुझे खासकर भय लगता था। वह सभावना थी हिन्दुस्तान मे इक्के-दुक्के और साम्प्रदायिक हिसा-काण्डो का फैलना। हालाकि मै हिसा-काण्डो को नापसन्द करता हूँ लेकिन मै उनसे डर जानेवाला 'डरपोक हिन्दू' नही हूँ। मगर मै यह जरूर महसूस करता हूँ कि हिन्दुस्तान मे फूट फैलानेवाली ताकते अभीतक भी बहुत बडी-बडी है, और अगर ऐसे इक्के-दुक्के हिसा-काण्ड होने लगेगे तो उनसे उन ताकतो को मदद मिल जायगी, और एक सयुक्त और अनुशासन-युक्त राष्ट्र बनाने का काम आज से भी ज्यादा मुश्किल हो जायगा। जब लोग मजहब के नाम पर या बहिश्त जाने के लिए कत्ल करते है, तो ऐसे लोगो को आतककारी हिसा का अभ्यास करा देना बडी खतरनाक बात होगी। राजनैतिक खून करना बुरा है। लेकिन राजनैतिक आतकवादी को समझाकर अपनी राय का बना लिया जा सकता है, क्योकि शायद उसका लक्ष्य दुनियवी है, और व्यक्तिगत नही बल्कि राष्ट्रीय है। मगर मजहबी खून करना तो और भी बुरा है, क्योकि उसका ताल्लुक दूसरी दुनिया से है, और ऐसे मामलो में दलील से समझाने की भी कोई कोशिश नही कर

सकता। कभी-कभी तो दोनो के बीच में फ़र्क बहुत ही बारीक रहता है और करीब-क़रीब मिट-सा जाता है, और राजनैतिक हत्या, एक आध्यात्मिक प्रक्रिया से, अर्ध-धार्मिक बन जाती है।

किसी आतंकवादी द्वारा एक पुलिस-अफसर के कत्ल किये जाने से और उसके नतीजो से हरेक को बहुत साफ तौर पर यह महसूस होने लगा कि आतंककारी हलचल से बड़ी ख़तरनाक बाते पैदा हो सकती है और हिन्दुस्तान की एकता और आज़ादी के काम को बेहद नुकसान पहुँच सकता है। इसके बाद जो बदला लेने की घटनायें हुई उनसे भी हमे मालूम हुआ कि हिन्दुस्तान मे फासिस्ट तरीके पैदा हो चुके है, और फासिस्ट मनोवृत्ति यूरोपियन और एग्लो-इडियन जातियो में तो नि सन्देह फैल ही चुकी है। हिन्दुस्तान मे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के कई पिछलग्गुओ मे भी यह मनोवृत्ति घर कर चुकी है।

यह एक विचित्र बात है, लेकिन खुद आतककारियो का या उनमे से कई लोगो का भी यही फासिस्ट दृष्टिकोण है, लेकिन उसकी दिशा दूसरी है। उनका राष्ट्रीय फ़ासिस्ट-वाद यूरोपियनो, एग्लो-इण्डियनो और कुछ उच्चवर्गीय हिन्दुस्तानियो के साम्राज्यवादी फासिस्टवाद का मुकाबिला करता है।

नवम्बर १९३१ में मैं कुछ दिनो के लिए कलकत्ता गया। वहाँ मेरा कार्यक्रम बहुत भरा-पूरा रहा, और खानगी तौर पर व्यक्तियो और समुदायो से मिलने के अलावा मैने कई आम सभाओ में भी भाषण दिये। इन तमाम सभाओ मे मैने आतंक-वाद के सवाल पर भी विचार किया और यह बताने की कोशिश की कि हिन्दुस्तान की आज़ादी के लिए वह कितना गलत और बेकार और नुकसानदेह है। मैने आतक-वादियो को बुरा नही कहा, न मैने उन्हे हमारे कुछ ऐसे देशवासियो की तरह 'कायर' ही कहा, जिन्होने शायद ही कभी मर्दाना या ख़तरे का कोई काम करने का साहस किया हो। मुझे हमेशा यह बड़ी बेवकूफी की बात मालूम हुई है कि ऐसे स्त्री या पुरुष को, जो कि लगातार अपनी जान को खतरे में डालता रहता है, कायर कहा जाय। और इसका असर उस आदमी पर यह होता है कि वह अपने डरपोक समालोचको से, जो दूर खड़े रहकर ही चीख़ते है लेकिन कुछ भी करने के काबिल नही है, कुछ ज्यादा हिकारत करने लगता है।

एक दिन शाम को कलकत्ते में, वहाँ से रवाना होने के लिए मेरे स्टेशन पर जाने से थोड़े ही वक्त पहले, मेरे पास दो युवक आये। वे बहुत ही कम-उम्र, करीब बीस-बीस साल के, नौजवान थे। उनके चेहरे पीले थे और उनपर घबराहट झलक रही थी। उनकी आँखे चमकदार थी। मुझे मालूम न था कि वे कौन थे, लेकिन मै अन्दाज से

समझ गया कि उनके जिम्मे क्या काम था। वे आतंक-वादी हिंसा के खिलाफ मेरे प्रचार के कारण मुझपर बहुत नाराज थे। उन्होंने कहा कि उससे नौजवानों पर बहुत बुरा असर पड रहा है, और इस तरह मेरा दखल देना वे पसन्द नही करते। हमने थोडी-सी बहस भी की, लेकिन वह बडी जल्दी-जल्दी मे हुई, क्योकि मेरे रवाना होने का वक्त नजदीक आ रहा था। मेरा खयाल है कि उस समय हमारी आवाज और हमारा मिजाज तेज हो गया था, और मैंने उनसे कुछ सख्त बाते भी कह दी थी, और जब मैं उन्हे वही छोडकर चलने लगा, तो उन्होने मुझे आखिरी आगाही दी कि "अगर आगे भी आपका यही रवैया रहा तो हम आपके साथ भी वही सूलूक करेंगे जैसा कि हमने दूसरो के साथ किया है।"

इस तरह मैं कलकत्ते से चल दिया, और रात को गाडी मे अपने बर्थ पर लेटे हुए, मेरे दिमाग उन्ही दोनो लड़को के उत्तेजित चेहरे बहुत देर तक चक्कर काटते रहे। उनमे जीवन और जोश भरा हुआ था, अगर वे ठीक रास्ते मे लग जाते तो कितने अच्छे बन सकते थे ? मैंने उनके साथ जल्दी-जल्दी मे और कुछ रूखा व्यवहार किया था। काश मुझे लम्बी बात-चीत करने का मौका मिलता। शायद उन्हे दूसरी दिशाओ मे हिन्दुस्तान की सेवा और आजादी के रास्ते मे, जिसमे कि साहस और आत्मत्याग के मौके भी की कमी न थी, अपने होनहार जीवन को लगाने का विश्वास दिला सकता। उस घटना के बाद भी मैं अक्सर उन लोगो का विचार किया करता हूँ। मुझे उनके नाम मालूम न हो सके, और न उनका मुझे बाद मे भी कुछ पता लगा। मैं कई दफा सोचता हूँ कि क्या वे मर चुके हैं, या अण्डमान टापुओ की किन्ही कोठरियो मे बन्द है ?

दिसम्बर का महीना था। इलाहाबाद मे दूसरी किसान-कान्फ्रेन्स हुई, और फिर मैं हिन्दुस्तानी-सेवा-दल के अपने पुराने साथी डॉक्टर एन० एस० हार्डीकर को दिये अपने एक पिछले वचन को पूरा करने के लिए जल्दी में कर्नाटक गया। सेवा-दल राष्ट्रीय आन्दोलन की एक स्वयसेवक-शाखा थी। वह हमेशा कॉंग्रेस का सहायक रहा, यद्यपि उसका सगठन बिलकुल अलग ही था। लेकिन १९३१ की गर्मियो मे कार्य-समिति ने उसे बिलकुल कॉंग्रेस मे शामिल करने और उसे कॉंग्रेस का स्वयसेवक-विभाग बना लेने का निश्चय कर लिया। ऐसा ही हो भी गया, और हार्डीकर को और मुझे उसका चार्ज सौंपा गया। दल का हेडक्वार्टर कर्नाटक प्रदेश के हुबली शहर मे ही रहा, और हार्डीकर ने मुझे दल-सम्बन्धी कई कामो के लिए वहाँ बुलाया था। फिर वह मुझे कुछ दिन के लिए कर्नाटक मे दौरा करने को ले गये। सब दूर लोगो का जबरदस्त जोश देखकर मैं दग रह गया। लौटते वक्त मैं शोलापुर भी गया, जिसका नाम फौजी कानून के दिनो में मशहूर हो चुका था।

कर्नाटक के उस दौरे ने मेरे लिए बिदाई के समारोह का रूप धारण कर लिया। मेरे भाषण हस के अन्तिम सगीत जैसे थे, जिसे वह अपने मरने से पहले गाया करता है, लेकिन उनमे तेजी ज्यादा थी और सगीत कम था। युक्तप्रान्त से जो खबर मिली वह निश्चित और साफ थी। सरकार ने वार कर दिया था, और सख्त किया था। इलाहाबाद से कर्नाटक जाते वक्त मै कमला के साथ बम्बई गया था। वह फिर बीमार हो गई थी। मैने बम्बई मे उसके इलाज का इन्तजाम कर दिया। बम्बई मे ही, और करीब-करीब हमारे इलाहाबाद से वहाँ पहुँचने के बाद ही, हमे यह पता लगा कि भारत-सरकार ने युक्तप्रान्त के लिए एक खास आर्डिनेन्स जारी कर दिया है। सरकार ने तय कर लिया था कि वह गाधीजी के आने का इन्तिजार न करेगी, हालॉकि गाँधीजी जहाज पर चल दिये थे, और जल्दी ही बम्बई आनेवाले थे। समझा तो यह गया कि आर्डिनेन्स किसानो के आन्दोलन के ही लिए बनाया गया था, लेकिन वह इतना ज्यादा व्यापक था कि उससे हर प्रकार की राजनैतिक या सार्वजनिक प्रवृत्ति असम्भव हो गई। उसमे बच्चो या नाबालिगो के अपराधो के लिए वालदैन या सरपरस्तो को सजा देने का विधान भी किया गया। यह इजील के जमाने के रिवाज की खूब उलटी आवृति थी।

करीब-करीब इन्ही दिनो हमने गाधीजी की उस बातचीत की रिपोर्ट पढ़ी, जो रोम मे 'ग्योरनेल डि इटालिया' के प्रतिनिधि से हुई बताई गई थी। इसे पढकर हम अचम्भे मे पड़ गये, क्योकि इस तरह रोम मे राह चलते 'इटरव्यू' दे देना उनकी आदत के खिलाफ था। ज्यादा गौर से जाँच करने पर कई शब्द और वाक्य ऐसे मिले जो उनके प्रयोग मे नही आते थे, और उसका खण्डन आने से पहले ही हमे साफ हो गया कि जिस तरह की 'इटरव्यू' प्रकाशित हुई है वह उनकी दी हुई नही हो सकती। हमारा खयाल हुआ कि उन्होने जो कुछ भी कहा होगा, उसको बहुत ज्यादा तोड-मरोडकर बनाया गया है। बाद मे तो गाधीजी का जोरदार खण्डन भी निकला, और यह बयान भी निकला कि उन्होने रोम मे कोई वक्तव्य ही नही दिया। हमे मालूम हो गया कि किसीने उनके साथ यह चालाकी की है। मगर हमे इस बात से आश्चर्य हुआ कि ब्रिटेन के अखबारो और सार्वजनिक लोगो ने उनकी बात पर विश्वास नही किया और नफरत-सी दिखाते हुए उन्हे झूठा बतलाया। इससे हमे चोट पहुँची और गुस्सा भी आया।

मै इलाहाबाद वापस जाने और कर्नाटक का दौरा बन्द कर देने को उत्सुक था। मुझे लगा कि मुझे तो अपने सूबे मे अपने साथियो के साथ रहना चाहिए, और जब अपने घर मे इतनी घटनाये हो रही हो तब उनसे बहुत दूर रहना एक कठोर

परीक्षा ही थी। फिर भी मैंने तय किया कि मैं कर्नाटक के कार्य-क्रम को पूरा ही कर डालूँ। मेरे बम्बई आने पर कुछ दोस्तो ने मुझे सलाह दी कि मैं गाधीजी की वापसी तक, जो कि एक ही हफ्ते बाद आनेवाले है, ठहरा रहूँ। मगर यह नामुमकिन था। इलाहाबाद से पुरुषोत्तमदास टण्डन और दूसरे लोगो की गिरफ्तारी की खबर आई। इसके अलावा हमारी प्रान्तीय कान्फ्रेन्स भी इटावा मे उसी हफ्ते मे होनेवाली थी। इसलिए मैंने तय किया कि मैं पहले इलाहाबाद जाऊँ और फिर एक हफ्ते बाद, अगर आजाद रहा तो, गाधीजी से मिलने और कार्य-समिति की मीटिंग मे शरीक होने को बम्बई लौट आऊँ। मैंने कमला को रोगशय्या पर बम्बई मे ही छोडा।

मुझे इलाहाबाद पहुँचने से पहले ही, छौकी स्टेशन पर नये आर्डिनेन्स के मुताबिक एक हुक्म मिला। इलाहाबाद स्टेशन पर उसी हुक्म की दूसरी नकल मुझे देने की कोशिश की गई। और, मेरे मकान पर भी एक तीसरे शख्स ने ऐसी ही तीसरी कोशिश की। जाहिर था कि सरकार कोई भी जोखम उठाना नही चाहती थी। उस हुक्म के मुताबिक मैं इलाहाबाद की म्युनिसिपल हद के अन्दर नजरबन्द कर दिया गया, और मुझसे कहा गया कि मुझे किसी आम मीटिंग मे या कार्य मे शामिल न होना चाहिए, किसी सभा में भाषण न करना चाहिए, किसी अखबार या पत्रिका मे कोई लेख नही लिखना चाहिए। और भी कई पाबन्दियाँ लगा दी गई थी। मुझे मालूम हुआ कि मेरे साथियो के नाम भी, जिनमे तसद्दुक शेरवानी भी शामिल थे, इसी प्रकार के हुक्म जारी किये गये। दूसरे दिन सवेरे ही मैंने जिला-मजिस्ट्रेट को (जिसने हुक्म जारी किये थे) लिख दिया कि मुझे क्या करना चाहिए या क्या न करना चाहिए इसकी बाबत मैं आपसे हुक्म नही लेना चाहता, मैं अपना मामूली काम हस्बमामूल करूँगा, और अपने काम के सिलसिले मे इस हफ्ते मे मैं गाधीजी से मिलने और कार्य-समिति की, जिसका मैं सेक्रेटरी हूँ, मीटिंग मे शरीक होने बम्बई जल्दी जानेवाला हूँ।

एक नई समस्या भी हमारे सामने खड़ी हो गई। हमारी युक्तप्रान्तीय-कान्फ्रेन्स उसी हफ्ते मे इटावे मे होनेवाली थी। बम्बई से मैं इस कान्फ्रेन्स को स्थगित करवाने की तजवीज पेश करने के इरादे से आया था, क्योंकि एक तो वह गाधीजी के आने के दिनो मे ही होनेवाली थी, और दूसरे सरकार से अभी सघर्ष भी टालना था। लेकिन मेरे इलाहाबाद आने से पहले ही यू० पी० सरकार की तरफ से हमारे सदर शेरवानी साहब के पास एक ताकीदी खत आया था, जिसमे पूछा गया था कि क्या आपकी कान्फ्रेन्स मे किसानो के सवाल पर भी विचार किया जायगा ? क्योंकि अगर ऐसा होनेवाला हो, तो सरकार कान्फ्रेन्स को ही बन्द कर देगी। यह तो साफ जाहिर था कि

कान्फ्रेन्स का खास मकसद ही किसानो की समस्या पर विचार करना था, जिससे कि सारे प्रान्त मे खलबली मच रही थी। कान्फ्रेन्स करना और उसमें इस सवाल पर गौर न करना तो मूर्खता की हद थी और अपने-आपकी हँसी कराना ही था। कुछ भी हो, हमारे सदर साहब को या और किसीको भी यह अख्त्यार न था कि वह कान्फ्रेन्स को किसी बात के लिए पहले से ही बाँध दें। सरकार की धमकी के बगैर भी हम कुछ लोगो का यह इरादा तो था ही कि कान्फ्रेन्स स्थगित की जाय, मगर इस धमकी से तो बात ही और हो गई। हममे से कई लोग ऐसे मामलो मे कुछ-कुछ जिद्दी थे, और सरकार-द्वारा हमे ऐसा हुक्म दिया जाना किसीको अच्छा न लगा। फिर भी, बडी बहस के बाद, हमने तय कर लिया कि इस वक्त हमे अपने स्वाभिमान को पी जाना चाहिए और कान्फ्रेन्स को स्थगित कर देना चाहिए। हमने यह फैसला इस-लिए किया कि हम गाँधीजी के आने तक लडाई को, जो शुरू तो हो ही चुकी थी, किसी भी हालत मे ज्यादा बढाना नही चाहते थे। हम उन्हे ऐसी परिस्थिति के अन्दर नही डाल देना चाहते थे, जिसमे वह बागडोर अपने हाथ मे न ले सके। हमारे प्रान्तीय कान्फ्रेन्स को मुल्तवी कर देने पर भी इटावा मे पुलिस और फौज का खूब प्रदर्शन किया गया, कुछ भूले-भटके प्रतिनिधि, जो वहाँ पहुँच गये थे, वे गिरफ्तार कर लिये गये, और वहाँ लगी स्वदेशी-प्रदर्शनी पर फ़ौज ने कब्जा कर लिया।

शेरवानी ने और मैंने २६ दिसम्बर की सुबह को इलाहाबाद से बम्बई रवाना होना तय किया। शेरवानी को कार्य-समिति की मीटिंग मे यू० पी० की स्थिति पर विचार करने के लिए खास तौर पर बुलावा दिया गया था। हम दोनो को ही आर्डिनेन्स के मुताबिक यह हुक्म मिल चुके थे कि हम इलाहाबाद शहर न छोडें। कहा गया था कि आर्डिनेन्स यू० पी० के इलाहाबाद और दूसरे जिलो में लगानबन्दी की हलचलो के खिलाफ जारी किया गया है। यह समझना तो आसान है कि सरकार हमारा इन देहाती हिस्सो में जाना बन्द कर दे। मगर यह तो साफ था कि हम बम्बई शहर मे जाकर किसानो का आन्दोलन नही चला सकते थे, और अगर आर्डिनेन्स सिर्फ किसानो की परिस्थिति का मुकाबिला करने के लिए ही जारी किया गया था, तो उसे हमारे प्रान्त से दूर चले जाने का तो स्वागत ही करना चाहिए। आर्डिनेन्स के जारी हो जाने के वक़्त से हमारी आम नीति उससे बचते रहने की ही रही, और हम सघर्ष को टालते ही रहे, हालाकि बाज-बाज लोगो ने हुक्म-उदूली करदी थी। जहाँतक यू० पी० कॉंग्रेस का ताल्लुक था, यह बात साफ थी कि वह, कम-से-कम फिलहाल, सरकार से लडाई करने से बचना या उसे मुल्तवी करना चाहती थी। शेरवानी और मैं बम्बई जा रहे थे, जहाँकि गांधीजी और कार्य-समिति इन मामलो पर गौर करते, और यह

किसीको मालूम नही था, और मुझे तो बिलकुल ही निश्चय नही था, कि उनके आखिरी फैसले क्या होते ।

इन सब विचारो से मुझे खयाल होता था कि हमे बम्बई जाने दिया जायगा, और, कम-से-कम उस समय के लिए ही सही, हमारी शहर की नजरबन्दी के कानूनी आज्ञा-भग को सरकार बरदाश्त कर लेगी । लेकिन, मेरा दिल कुछ और ही कह रहा था ।

ज्योही हम रेल मे बैठे, हमने सुवह के अखबारो मे नये सीमाप्रान्तीय आर्डिनेन्स और अब्दुलगफ्फारखा तथा डाक्टर खानसाहव वगैरा की गिरफ्तारी का हाल पढा । बहुत जल्दी ही हमारी गाडी, बम्बई-मेल, रास्ते के एक छोटे-से स्टेशन इरादतगज पर, जहाँ आम तौर पर वह नही ठहरा करती थी, अचानक ठहर गई, और हमे गिरफ्तार करने को पुलिस अफसर आगये । रेलवे लाइन के पास ही एक "ब्लैक मैरिया" गाड़ी खडी थी, और कैदियो की इस लारी मे मै और शेरवानी दाखिल हुए । वह तेजी से चली और हम नैनी-जेल मे जा पहुँचे । वह 'बॉक्सिग-दिवस' का प्रात.काल था और वह पुलिस-सुपरिण्टेण्डेण्ट, जो हमे गिरफ्तार करने आया था, अग्रेज था, वह दुखी और उदास दिखाई दिया । मै समझता हूँ, हमने उसके क्रिसमस त्यौहार का मजा किरकिरा कर दिया था ।

और इस तरह हम जेल मे आ पहुँचे—

एक घड़ी भर अब तू सारा आल्हाद भुला दे,
और, वेदना मे ही अब तो कुछ काल बितादे ।[1]

१. मूल अग्रेज़ी पद्य इस प्रकार है:—

"Absent thee from felicity a while,
And for a season draw thy breath in pain"

४१

गिरफ़्तारियाँ, आर्डिनेन्स और मुमानियतें

हमारी गिरफ्तारी के दो दिन बाद ही गांधीजी बम्बई मे उतरे, और तभी उन्हे नई और ताज़ी घटनाओ का हाल मालूम हुआ। उन्होने लन्दन मे ही बगाल-आर्डिनेन्स की खबर सुन ली थी, और वह उससे बहुत दु खी हुए थे। अब उन्हे मालूम हुआ कि उनके लिए यू० पी० और सीमा-प्रान्तीय आर्डिनेन्सो की शकल मे बडे दिन की भेट तैयार थी, और सीमा-प्रान्त और यू० पी० में उनके कुछ सबसे गहरे साथी गिरफ्तार हो चुके थे। अब तो पाँसा पड़ चुका दीखता था, और शान्ति की सारी आशा मिट चुकी थी, फिर भी उन्होने रास्ता ढूँढने की कोशिश की, और इसके लिए वाइसराय से मुलाकात चाही। उन्हे नई दिल्ली से बताया गया कि मुलाकात कुछ खास शर्तो पर ही हो सकेगी। वे शर्ते ये थी कि वह बगाल, युक्तप्रान्त और सीमा-प्रान्त की ताज़ी घटनाओ, और नये आर्डिनेन्सो और उनके मुताबिक हुई गिरफ्तारियो के बारे मे बातचीत न करे। (यह बात मै अपनी याददाश्त से लिख रहा हूँ, क्योकि मेरे सामने वाइसराय के जवाब की नकल नही है।) यह समझना मुश्किल है कि सरकार की निगाह में इन विषयो के अलावा जो कि देश को विक्षुब्ध कर रहे थे, और जिनपर बात करने की मुमानियत कर दी गई थी, गाधीजी या काँग्रेस का कोई भी नेता किस विषय पर बातचीत कर सकता था। अब यह बिलकुल साफ जाहिर हो गया कि भारत-सरकार ने कांग्रेस को कुचल डालने का निश्चय कर लिया था, और वह उससे कोई ताल्लुक रखना नही चाहती थी। कार्य-समिति के पास सविनय भग फिर चालू कर देने के सिवा और कोई रास्ता न रहा। कार्य-समितिवालो को किसी भी समय अपने गिरफ्तार हो जाने की आशका हो गई थी, और अपनी वहाँ से रवानगी के पहले वे देश को आगे के लिए मार्ग-प्रदर्शन कर देना चाहते थे। इसी दृष्टि से आरजी तौर पर सविनय भंग का प्रस्ताव पास किया गया, और गाधीजी ने वाइसराय से मुलाकात करने की दुबारा कोशिश की। उन्होने वाइसराय को बिला-शर्त मुलाकात देने के लिए तार दिया। सरकार का जवाब गाधीजी और काँग्रेस के सदर की गिरफ्तारी के रूप में मिला, और साथ ही वह बटन भी दबा दिया गया जिससे कि सारे देश मे भयंकर दमन शुरू हो गया। यह तो स्पष्ट ही था, कि दूसरा कोई लड़ाई चाहता हो, या न चाहता हो, लेकिन सरकार तो उसके लिए बेचैन थी और पहले ही जरूरत से ज्यादा तैयार बैठी थी।

निःसन्देह, हम तो जेल मे ही थे, और ये सारी खबरे हमारे पास गोलमोल और तितर-बितर होकर आई। हमारा मुकदमा नव-वर्ष के लिए मुल्तवी कर दिया गया, इसलिए हमे हवालाती कैदी की हैसियत से सजायाफ्ता कैदियों की बनिस्बत ज्यादा मुलाकाते करने का मौका मिला। हमने सुना कि वाइसराय को मुलाकात मजूर करनी चाहिए थी या न मजूर करनी चाहिए थी, इसपर अखबारो मे बहुत वादविवाद चल रहा है, मानो इससे कोई बडा फर्क पडनेवाला था। यह मुलाकात का सवाल ही सबसे बडा हो रहा था। यह कहा गया कि अगर लॉर्ड अर्विन होते तो वह मुलाकात जरूर मजूर कर लेते, और अगर उनमे और गाधीजी मे मुलाकात हुई होती तो जरूर सब कुछ ठीक हो जाता। मुझे ताज्जुब हुआ कि परिस्थिति के बारे मे हिन्दुस्तान के अखबार कितनी ज्यादा सरसरी निगाह से काम लेते है, और असलियत की ओर कैसे आँख उठाकर नही देखते है। क्या हिन्दुस्तान की राष्ट्रीयता और ब्रिटेन के साम्राज्यवाद की, जिनमे सूक्ष्म विचार करने से मालूम होगा कि कभी मेल नही हो सकता, लाजिमी लडाई किन्ही व्यक्तियो की व्यक्तिगत इच्छाओ पर ही निर्भर करती है? क्या दो तवारीखी ताकतो की भिडन्त मीठी मुसकान और आपसी शिष्टता दिखाने-मात्र से हट सकती है? गाधीजी को एक खास दिशा मे ही जाना पडा, इसलिए कि हिन्दुस्तान की राष्ट्रीयता अपने ही सिद्धान्तो का त्याग करके अपनी आत्म-हत्या नही कर सकती थी, और न जरूरी मामलो मे विदेशी फरमानो के सामने खुशी से झुक सकती थी। और हिन्दुस्तान के ब्रिटिश वाइसराय को दूसरी ही विशेष दिशा मे जाना पडा, क्योकि उन्हे इस राष्ट्रीयता का मुकाबिला करना था, और ब्रिटिश स्वार्थो की रक्षा करनी थी, और इसमे इस बात से जरा भी फर्क नही पड सकता था कि उस समय वाइसराय कौन था। लॉर्ड अर्विन भी ठीक वही काम करते जो लॉर्ड विलिंगडन ने किया, क्योकि दोनो ही ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीति के साधक थे, और वे निर्दिष्ट दिशा मे कुछ बहुत ही मामूली-सा फर्क कर सकते थे। वास्तव मे, बाद मे तो लॉर्ड अर्विन ब्रिटिश शासन-तन्त्र के मेम्बर हो गये, और हिन्दुस्तान मे जो-जो सरकारी कार्रवाइयाँ की गई उन सबमे उन्होने पूरा-पूरा साथ दिया। हिन्दुस्तान मे प्रचलित ब्रिटिश नीति के लिए किसी खास वाइसराय की तारीफ या बुराई करना मुझे तो बिलकुल ही अनुचित बात मालूम होती है, और हमारे ऐसा करने की आदत का कारण सिर्फ यही हो सकता है कि या तो हम असली सवालो को नही समझते, या उन्हे जान-बूझकर टालना चाहते है।

४ जनवरी १९३२ एक महत्वपूर्ण दिन था। उसने बातचीत और बहस का खात्मा कर दिया। उन दिनो सबेरे ही गाधीजी और कॉंग्रेस के सदर वल्लभभाई

गिरफ्तार करके, बगैर मुकदमा चलाये, शाही कैदी बना लिये गये। चार नये आर्डिनेन्स जारी कर दिये गये, जिनके जरिये मजिस्ट्रेटो और पुलिस-अफसरो को व्यापक-से, व्यापक अख्त्यारात दे दिये गये। नागरिक स्वतन्त्रता की हस्ती मिट गई, और जन और धन दोनो पर ही अधिकारी चाहे जब कब्जा कर सकते थे। सारे देश पर मानो कब्जा कर लेने की हालत का ऐलान कर दिया गया, और इसको किस-किस पर और कितना-कितना लागू किया जाय, यह मुकामी अफसरो की मर्जी पर छोड़ दिया गया।[१]

४ जनवरी को ही नैनी-जेल में यू० पी० इमर्जेन्सी पावर्स आर्डिनेन्स के मुताबिक हमारा मुकदमा हुआ। शेरवानी को छ महीने की सख्त कैद और १५० रुपये जुर्माने की सजा हुई, मुझे दो साल की सख्त कैद और ५०० रुपये जुर्माना (या बदले में छ महीने की कैद) की सजा दी गई। दोनो के अपराध बिलकुल एक-से थे। हम दोनो को इलाहाबाद शहर मे नजरबन्दी के एक-से हुक्म दिये गये थे। हम दोनो ने ही बम्बई जाने की कोशिश करके उनका एक ही तरह से भग किया था। हम दोनो को एक ही दफा मे गिरफ्तार किया गया, और दोनो का एकसाथ ही मुकदमा चला। फिर भी हमारी सजाओ में बड़ा फर्क था। लेकिन दोनो मे एक फर्क जरूर था। मैंने जिला-मजिस्ट्रेट को लिखकर इत्तिला दी थी कि मैं हुक्म की खिलाफ-वर्जी करके बम्बई जाना चाहता हूँ; शेरवानी ने ऐसा कोई बाकायदा नोटिस नही दिया था, लेकिन वह भी जाना चाहते हैं यह बात समान-रूप से प्रसिद्ध थी, और अखबारो मे भी छपी थी। सजा सुनाने के बाद ही शेरवानी ने मजिस्ट्रेट से पूछा, कि मुसलमान होने के ख़याल से तो मुझे कम सजा नही दी गई है? उनके इस सवाल से वहाँ मौजूद लोगो को बडा लुत्फ रहा और मजिस्ट्रेट कुछ परेशानी मे पड गया।

उस स्मरणीय दिन, ४ जनवरी को, देशभर मे बहुत-सी घटनाये हुई। इलाहाबाद शहर मे, हमारे मुकाम के नजदीक, बड़ी-बड़ी भीड़ो की पुलिस और फौज से मुठभेड़ हो गई, और हस्बमामूल लाठी-प्रहार हुआ, जिसमे कुछ लोग मरे और कुछ घायल हुए। सविनय भग के कैदियो से जेलें भरने लगी। पहले तो ये कैदी जिला-जेलो मे भेजे गये, और जब वहाँ जगह न रहती तब ही कैदी नैनी आदि सेण्ट्रल जेलो मे आते थे। बाद मे सभी जेले भर गई, और बडी-बडी आरजी कैम्प-जेले कायम करनी पडी।

१. भारत-मन्त्री सर सैम्युअल होर ने २४ मार्च १९३२ को कामन-सभा में कहा था कि, "मैं मजूर करता हूँ कि जिन आर्डिनेन्सों का हमने समर्थन कर दिया है वे बड़े व्यापक और सख्त हैं; वे हिन्दुस्तान के जीवन की लगभग हरेक प्रवृत्ति पर असर डालते हैं।"

नैनी के हमारे छोटे-से अहाते मे बहुत थोडे लोग आये। मेरे पुराने साथी नर्मदाप्रसाद हमारे पास आ गये। रणजीत पडित और मेरे चचेरे भाई मोहनलाल नेहरू भी आ गये। बैरक न० ६ की हमारी छोटी-सी मित्र-मण्डली मे लका के एक युवक-मित्र वर्नार्ड एलुविहारे भी अचानक आ गये, जो कि बैरिस्टर बनने के बाद इग्लैण्ड से हाल मे ही लौटे थे। मेरी बहन ने उनसे कहा था कि आप हमारे जुलूस वगैरा में शामिल न हो। लेकिन जोश मे आकर वह काँग्रेस के एक जुलूस में शरीक हो ही गये, और एक ब्लैक मैरिया लारी उन्हे जेल मे ले आई।

काँग्रेस, जिसमे सबसे ऊपर कार्य-समिति और फिर प्रान्तीय कमीटियाँ और बेशुमार मुकामी कमीटिया शामिल थी, गैर-कानूनी करार दे दी गई थी। कॉग्रेस के साथ-साथ सब तरह की सम्बन्धित या सहानुभूति रखनेवाले या प्रगतिशील सगठन जैसे, किसान-सभाये, किसान-सघ, युवक-सघ, विद्यार्थी-मण्डल, प्रगतिशील राजनैतिक-सगठन, राष्ट्रीय विश्व-विद्यालय और स्कूल, अस्पताल, स्वदेशी दुकाने, पुस्तकालय, आदि भी—गैर-कानूनी करार दे दिये गये। इनकी फेहरिस्ते बडी लम्बी-लम्बी थी, प्रत्येक बडे प्रान्त के सैकडो नाम इनमे शामिल थे। सारे हिन्दुस्तान भर का योग कई हजार तक पहुँच गया होगा। इन गैर-कानूनी घोषित सस्थाओ की यह सख्या ही मानो काँग्रेस और राष्ट्रीय आन्दोलन का महत्व और प्रभाव दिखाती थी।

बम्बई मे मेरी पत्नी बीमार पड़ी थी, और आन्दोलन मे हिस्सा न ले सकने के कारण छटपटा रही थी। मेरी माताजी और दोनो बहने जोश-खरोश के साथ आन्दोलन मे कूद पडी। मेरी दोनो बहनो को जल्दी ही एक-एक साल की सज़ा मिल गई और वे जेल पहुँच गई। नये आनेवालो के जरिये या हमें मिलनेवाले स्थानीय साप्ताहिक पत्र द्वारा हमें कुछ अनोखी खबरे मिल जाया करती थी। जो-कुछ हो रहा था उसकी हम ज्यादातर कल्पना कर लिया करते थे, क्योकि सब दूर सेन्सर की बडी सख्ती थी, और समाचारपत्रो और समाचार-एजेन्सियो को भारी-भारी जुर्मानो का डर हमेशा बना रहता था। कुछ प्रान्तो मे तो गिरफ्तारशुदा या सजायाब व्यक्ति का नाम लिख देना भी जुर्म था।

इस तरह हम नैनी-जेल मे बाहर के झगडो से अलग पडे हुए, फिर भी उनमे सैकड़ो तरह से उलझे हुए, रह रहे थे। हमने अपनेको कातने, पढने या दूसरे कामो मे मशगूल कर रक्खा था, और कभी-कभी हम दूसरे मामलो पर भी बातचीत करते थे, लेकिन हम हमेशा यही सोचते रहते थे कि जेल की चहार-दीवारी के बाहर क्या हो रहा है। उससे हम अलग भी थे और फिर भी उसमे शामिल थे। कभी-कभी तो किसी बात की उम्मीद करते-करते बहुत थक जाते थे और कभी-कभी किसी काम

के बिगड जाने पर गुस्सा आता था, और किसी कमजोरी या भद्देपन पर तबीयत झुझला उठती थी। लेकिन कभी-कभी हम अजीब ढग से तटस्थ-से हो जाते थे और सारे दृश्य को शान्ति और अनासक्ति से देख सकते थे, और यह अनुभव करते थे कि जब विशाल शक्तिया अपना काम कर रही है और दैवी तन्त्र लोगो को पीस रहा है, तब व्यक्तियो की छोटी-छोटी गलतिया या कमजोरिया कोई महत्व नही रखती। हम सोचा करते थे कि इस झगडे और शोर-गुल का, और इस मर्दाने उत्साह और निर्दय दमन और घृणित कायरता का, भविष्य क्या होनेवाला है ? इसका क्या नतीजा होगा ? हम किस तरफ जा रहे है ? भविष्य हमारी आँखो से छिपा हुआ था; और अच्छा ही था कि वह छिपा हुआ था, और जहाँतक हमसे ताल्लुक था, वर्त्तमान भी एक परदे से कुछ-कुछ छिपा हुआ था। लेकिन हम एक बात जानते थे कि हमारा रास्ता तो आज भी और कल भी, सघर्ष, कष्ट-सहन और बलिदान मे से होकर ही जाता है—

"कल फिर से आरम्भ युद्ध हाँ, हो जायेगा,
झेन्थस सारा अहो रक्त से रग जायेगा,
हेक्टर तथा अजेक्स पुन: होगे समुपस्थित,
हेलन भी खुद दृश्य लखेगी हो उच्चस्थित।

तब हम या परदे मे होगे या चमकेगे रण मे,
अन्धी आशा-निराशाओ मे झूलेगे क्षण-क्षण मे;
तब सोचा हमने यह जीवन-बल ला होमा सारा,
किन्तु न जाना आत्मा का क्या होगा हाल हमारा।[1]

१. मेथ्यू एरनॉल्ड का मूल पद्य इस प्रकार है :—

"Men will renew the battle in the plain
To-morrow; red with blood will Xanthus be;
Hector and Ajax will be there again;
Helen will come upon the wall to see.

Then we shall rust in shade, or shine in strife,
And fluctuate 'tween blind hopes and blind despairs,
And fancy that we put forth all our life,
And never know how with the soul it fares."

४९

ब्रिटिश शासकों की हू-हू

१९३२ के शुरू के उन महीनो मे, और बातो के अलावा, खास बात यह हुई कि ब्रिटिश हाकिमो ने मारे खुशी के खूब हा-हा हू-हू की। छोटे और बड़े सभी हाकिम चिल्ला-चिल्लाकर यह कहने लगे कि देखो, हम कितने भले और शान्ति-प्रिय है और कॉंग्रेसवाले कितने बुरे और झगड़ालू है। हम लोग लोकतन्त्र के हामी है जबकि कॉंग्रेस को डिक्टेटरशिप भाती है। वह देखो कॉंग्रेस का सभापति डिक्टेटर के नाम से पुकारा जाता है। एक धर्म-कार्य के लिए अपने इस जोश मे ये हाकिम आर्डिनेन्सो, तमाम आजादी के दमन, अखबारो और छापेखानो की मुँहबन्दी, बिना मुकदमा चलाये लोगो की जेलबन्दी, जायदाद और रुपयो की जब्ती और रोज-ब-रोज होनेवाली बहुत-सी दूसरी अद्भुत चीजो-जैसी न-कुछ बातो को भूल गये थे। इसके अलावा वे हिन्दुस्तान में ब्रिटिश राज की जो बुनियादी खसलत है उसको भी भूल गये। सरकार के वे मिनिस्टर, जो हमारे ही देशभाई थे, इस विषय पर बड़े धारा-प्रवाह व्याख्यान देने लगे, कि जेलो मे बन्द कॉंग्रेसी किस तरह अपना मतलब गॉंठ रहे है जबकि हम कुछ हजार रुपये महीनों की नाचीज मजदूरी पर पब्लिक की भलाई मे दिन-रात जुटे रहते है। छोटे-छोटे मजिस्ट्रेट हम लोगों को भारी-भारी सजाये तो देते ही थे, लेकिन सजा देते वक्त हमें उपदेश भी देते थे, और उन उपदेशो के साथ-साथ कभी-कभी वे कॉंग्रेस और कॉंग्रेस मे काम करनेवाले शख्सो को गालियाँ भी देते थे। भारत-मंत्री के ऊँचे ओहदे की गम्भीर प्रतिष्ठा के पद से सर सैम्युअल होर तक ने यह ऐलान किया कि, हॉं, कुत्ते भौक रहे है, मगर हमारा कारवा चला जा रहा है। उस वक्त वह यह भूल गये थे कि कुत्ते जेलो मे बन्द थे, वहाँ से वे आसानी से भौक नही सकते थे, और जो कुत्ते बाहर रह गये थे उनके मुँह बिलकुल बन्द कर दिये गये थे।

सबसे ज्यादा ताज्जुब की बात तो यह थी कि कानपुर के हिन्दू-मुस्लिम दगे का दोष कॉंग्रेस के मत्थे मढा जा रहा था। यह दंगा सचमुच बहुत ही बीभत्स था, लेकिन उसकी बीभत्सता बार-बार जतलाई गई और बराबर ही यह बताया गया कि इसकी बीभत्सता के लिए कॉंग्रेस जिम्मेदार थी, जबकि असली बात जो हुई वह यह थी कि उस दगे में कॉंग्रेस ने वही किया जो कि करना ठीक था। यहाँ तक कि कॉंग्रेस का एक सर्वश्रेष्ठ पुरुष उसमें काम आया, जिसकी मौत पर कानपुर के हर फिरके और दल ने रज मनाया। दगो की खबर पाते ही कॉंग्रेस ने अपने कराची के अधिवेशन में फ़ौरन

ही एक जॉच-कमिटी बिठा दी और इस कमिटी ने एक बहुत मुकम्मिल जॉच की। कई महीने मेहनत करने के बाद कमिटी ने एक बड़ी रिपोर्ट छपाई। सरकार ने फौरन ही इस रिपोर्ट को जब्त कर लिया। उसकी छपी हुई कापियाँ उठा ली गई, और मेरा खयाल है कि उन्हे बरबाद कर दिया गया। जाँच के नतीजो को इस तरह दबा देने के बाद भी हमारे हुक्काम आलोचक और व अखबार जिनके मालिक अग्रेज है हर वक्त यह बात दुहराते नही थकते कि दगा काँग्रेस की वजह से हुआ। इसमे कोई शक नही कि इस मामले मे ही नही, दूसरे और मामलो मे भी, अखीर मे सचाई की जीत होगी, लेकिन कभी-कभी झूठ बहुत दीर्घजीवी हो जाती है। एक कवि के शब्दो मं:—

"यह असत्य निश्चय ही जग मे नष्ट एक दिन होगा,
पर तब तक वह बुरी तरह से क्षत-विक्षत कर देगा।
सत्य महान्, उसी की जग मे विजय अत मे होगी,
पर उस क्षण तक उसे देखने वैठा कौन रहेगा ?"[१]

मेरा खयाल है कि हिस्टीरिया जैसी युद्ध-मनोवृत्ति का यह प्रदर्शन बिलकुल कुदरती था और ऐसी हालत में कोई भी इस बात की उम्मीद नही कर सकता था कि सच्चाई से या सयम से काम लिया जायगा, लेकिन फिर भी ऐसा मालूम पड़ता था कि उसमे आशातीत झूठ और छूट से काम लिया गया। उसकी गहराई और छूट को देखकर हैरत होती थी। इससे हमे इस बात का पता चल जाता है कि हिन्दुस्तान के शासक-दल का मिजाज कैसा था और पिछले दिनो में वे अपनेको कितना दबाये रखते थे। सम्भवतः उनको यह गुस्सा हमारे किसी काम पर या हमारी किसी बात की वजह से नही आया, बल्कि यह महसूस करके आया कि अपने साम्राज्य से हाथ धो बैठने का उन्हे जो डर पहले था वह सच होता दीखता है। जिन शासको को अपनी ताकत का भरोसा होता है वे इस तरह हिम्मत नही हारते। शासको की इस मनोवृत्ति मे और उधर दूसरी तरफ की तस्वीर मे जमीन-आस्मान का फर्क था। क्योकि काँग्रेस की तरफ बिलकुल खामोशी छाई हुई थी। मगर यह खामोशी सयम की—स्वेच्छा-पूर्वक और गौरवपूर्ण सयम की—सूचक नही थी, बल्कि इसलिए थी कि काँग्रेसवाले जेलो में बन्द थे और बाकी के लोग डरे हुए थे तथा अखबारवालो को भी सर्व-व्यापी सेसर का डर था। इसमे कोई शक नही कि अगर कांग्रेसवालो का मुह इस तरह मजबूरी से

१. मूल अंग्रेज़ी पद्य इस प्रकार है:—

"When all its work is done, the lie shall rot,
The truth is great and shall prevail,
When none cares whether it prevails or not."

बन्द न होता तो वे भी मनमानी बकवास करते, बढा-चढाकर बातें कहते और गालियाँ देने मे शासको को मात करते। मगर, हा, कॉंग्रेसवालो के लिए भी एक रास्ता तो था। वह था गैर-कानूनी अखबारो का, जो कई शहरो मे समय-समय पर निकाले जाते थे।

हिन्दुस्तान मे अधगोरो के जो अखबार निकलते हैं और जिनके मालिक अंग्रेज है वे भी बडे रस के साथ इस हा-हा, हू-हू मे शामिल हुए और उन्होनें ऐसे बहुत-से खयालात जाहिर किये और फैलाये जो शायद बहुत दिनो से उनके दिलो मे दबे हुए पड़े थे। यो आम तौर पर उन्हे अपनी बात कुछ समझ-बूझकर कहनी पडती है, क्योकि बहुत-से हिन्दुस्तानी उनके अखबारो के ग्राहक है; लेकिन जब नाजुक वक्त आ गया तब यह सब सयम बह गया और हमें अंग्रेज और हिन्दुस्तानी दोनो ही के मन की झलक मिल गई। अब हिन्दुस्तान मे अधगोरे अखबार बहुत कम रह गये है, वे एक-एक करके बन्द हो गये है, लेकिन जो बाकी बचे है, उनमे कई ऊँचे दरजे के है—खबरों के लिहाज से भी और आकार-प्रकार की सुन्दरता के लिहाज से भी। दुनिया के मामलो पर उनके जो अग्रलेख होते है, यद्यपि वे हमेशा अनुदार लोगो के दृष्टिकोण से लिखे जाते है फिर भी, उनमे लिखनेवालो की लियाकत झलकती है, तथा इस बात का पता चलता है कि उन्हे अपने विषय का ज्ञान है और उसपर पूरा काबू है। इसमें कोई शक नही कि अखबारो की दृष्टि से गालिबन वे सबसे अच्छे है, लेकिन हिन्दुस्तान के राजनैतिक मामलो में वे अपने दरजे से गिर जाते है। उनकी इकतरफा रायो को देखकर हैरत होती है, और जब कभी कोई आन-बान का मौका आता है तब तो उनकी वह हिमायत अकसर बकवास और गँवारूपन का रूप धारण कर लेती है। वे सच्चाई के साथ भारत सरकार की राय को प्रकट करते है और इस सरकार के हक मे वे लगातार जो प्रचार करते है उसमें अपनी बात किसीपर जबरदस्ती न थोपने का गुण नही होता।

इन कुछ इने-गिने अधगोरे अखबारो के मुकाबिले मे हिन्दुस्तानी अखबार नीचे दरजे के है। उनके पास आर्थिक साधन बहुत कम होते है और उनके मालिक उनकी तरक्की करने की बहुत कम कोशिश करते है। वे अपनी रोजमर्रा की जिन्दगी मुश्किल से चला पाते है और गरीब सम्पादकीय-विभाग को बडी मुसीबत का सामना करना पडता है। उनका आकार-प्रकार भद्दा है, उनमे छपनेवाले विज्ञापन अक्सर बहुत आपत्ति-जनक होते है और क्या राजनीति तथा क्या सामान्य जीवन दोनो मे वे बहुत बढी-चढी भावुकता का परिचय देते है। मै समझता हूँ कि कुछ हद तक तो इसकी वजह यह है कि हम लोगो की जाति ही भावुकतामय है, और कुछ हद तक इसलिए कि जिस जबान

में यानी अँग्रेज़ी मे वे निकलते हैं वह विलायती जवान है और उसमें सरलता से और साथ ही ज़ोर के साथ लिखना आसान नही है। लेकिन असली कारण तो यह है कि हम सब लोग कई किस्म के ऊँचे-नीचे खयालो के शिकार है जो बहुत दिनो के दमन और गुलामी की वजह से पैदा हुए है, इसलिए इन भावो को बाहर निकालने की हमारी हरेक विधि भावुकता से भरी हुई होती है।

अंग्रेज़ी मे निकलनेवाले हिन्दुस्तानी मालिको के अखबारो मे जहाँतक उसके बहिरंग की सुन्दरता और समाचार-सम्पादन से ताल्लुक है, मदरास का 'हिन्दू' ग़ालिबन सबसे अच्छा है। उसे पढकर मुझे हमेशा किसी वृद्ध कुमारिका की याद आ जाती है, जो हमेशा मर्यादा और औचित्य को पसन्द करती है और अगर उसके सामने बेअदबी का एक हरफ भी कह दिया जाय तो उसे बहुत बुरा मालूम होता है। यह अखबार खास तौर पर मध्यम श्रेणीवालो का अखबार है, जिनकी ज़िन्दगी चैन से गुज़रती है। ज़िन्दगी के नकली या ऊपरी पहलुओ से जीवन के संघर्षों और उसकी धक्का-मुक्की से, उसका कोई सरोकार नही। नरम-दल के और भी कई अखबारो का स्टैंडर्ड यही वृद्ध कुमारियो का-सा है। इस स्टैंडर्ड तक तो वे पहुँच जाते, लेकिन उनमे वह खूबी नही आ पाती जो 'हिन्दू' में है और इसलिए वे हर लिहाज़ से बहुत नीरस हो जाते हैं।

यह ज़ाहिर था कि सरकार ने वार करने की तैयारी बहुत पहले से कर रक्खी थी और वह यह चाहती थी कि शुरू ही में उसकी चोट जहाँतक हो सके पूरी कसकर बैठे और उसे खानेवाला चक्कर खाकर गिर पड़े। १९३० में वह हमेशा इस कोशिश में रहती थी कि दिन-पर-दिन जो हालत बिगड़ती जा रही है उसे नये-नये आर्डिनेन्सो से सम्हाले। उन दिनो वार में पहल हमेशा काँग्रेस की तरफ से होती थी, लेकिन १९३२ के तरीक़े बिलकुल दूसरे थे। १९३२ मे सरकार ने सब तरफ से हमला करके लड़ाई शुरू की। अखिल-भारतीय और प्रान्तीय आर्डिनेन्सो के द्वारा हाकिमो को जितने अख्त्यार सोचे जा सकते थे सभी दे दिये गये। संस्थाये गैरकानूनी करार दे दी गई। इमारतो पर, जायदाद पर, सवारियो, मोटर वगैरा पर और बैंको मे जमा रुपयो पर क़ब्ज़ा कर लिया गया। आम जलसो और जुलूसो की मनादी करदी गई और अखबारो और छापेखानों पर पूरी तरह नियन्त्रण कर लिया गया। दूसरी तरफ, १९३० के बिलकुल खिलाफ, गाधीजी निश्चित रूप से यह चाहते थे कि उस वक्त सत्याग्रह न किया जाय। कार्य-समिति के ज्यादातर मेम्बरो की भी यही राय थी। उनमें से कुछ, जिनमें से मै भी एक था, यह समझते थे कि हम कितना ही नापसन्द करे लेकिन लड़ाई हुए बिना न रहेगी और हमें उसके लिए तैयार रहना चाहिए। इसके अलावा सयुक्त-प्रान्त में और सरहदी सूबे मे जो तनातनी बढ़ रही थी उससे लोगो का ध्यान भावी

लड़ाई की तरफ लग रहा था। लेकिन कुल मिलाकर मध्यम श्रेणी के और पढे-लिखे लोग लड़ाई की बात नही सोच रहे थे, हालाँकि वे लड़ाई की सम्भावना की पूर्ण उपेक्षा नही कर सकते थे। किसी तरह हो, उन्हे यह उम्मीद थी कि गाधीजी के आने पर यह लड़ाई टल जायगी और जाहिर है कि इस मामले मे उनकी लडाई से बचने की इच्छा ने ही उनके दिलो मे यह उम्मीद पैदा की थी।

इस तरह १९३२ के शुरू में निश्चित रूप से पहला हमला सरकार की तरफ से होता था और काँग्रेस हमेशा अपना बचाव करने मे लगी रहती थी। आर्डिनेन्सो को और सत्याग्रह-सग्राम को पैदा करनेवाली जो घटनाये यकायक हो गई उनकी वजह से कई जगह के मुकामी नेता तो भौचक्के रह गये। लेकिन ये सब बाते होते हुए भी काँग्रेस की पुकार का लोगो ने जो जवाब दिया वह ऐसा-वैसा नही था। सत्याग्रहियो की कमी नही रही। बल्कि सच बात तो यह है और मेरे खयाल मे इस बात में कोई शक नही हो सकता कि १९३२ में ब्रिटिश सरकार का जो मुकाबिला किया गया वह १९३० मे किये जानेवाले मुकाबिले से बहुत कडा और भारी था। यद्यपि १९३० में खास तौर पर बड़े-बडे शहरो मे धूम-धाम व शोरोगुल ज्यादा था, परन्तु साथ ही यद्यपि १९३२ में लोगो ने सहन-शक्ति पहले से ज्यादा दिखाई और वे पूरी तरह शान्त रहे, फिर भी इन बातो के बावजूद स्फूर्ति की प्रारम्भिक लहर का जोर १९३० से बहुत कम था। ऐसा मालूम होता था मानो हम बेमन से लडाई मे शामिल हुए थे। १९३० मे हमारी लडाई मे हम एक तरह का गौरव अनुभव करते थे जो दो साल बाद अब कुछ-कुछ मुर्झा गया था। सरकार ने उसके पास जितनी ताकत थी सब लगाकर काँग्रेस का मुकाबिला किया। उन दिनो हिन्दुस्तान एक तरह से फौजी कानून के अधीन रहा और काँग्रेस असल में कभी भी पहला हमला न कर सकी, और न उसे काम करने की आज़ादी ही मिली। वह पहली ही चपेट मे बेहोश हो गई। उसके उन धनी-मानी हमदर्दों मे से जो पिछले दिनो मे उसके खास मददगार रहे थे, ज्यादातर इस बार घबरा गये। उनके धन-माल पर आ बनी। यह बात साफ दीखती थी कि जो लोग सत्याग्रह-सग्राम मे शामिल होगे या और किसी तरह से उसकी मदद करेगे, न सिर्फ उनकी आजादी ही छीन ली जा सकती थी बल्कि शायद उनकी तमाम जायदाद भी छीन ली जासकती थी। इस बात का हम लोगो पर युक्तप्रान्त मे तो कोई खास असर नही पडा, क्योकि यहाँ तो काँग्रेस गरीबो ही की थी। लेकिन बम्बई जैसे बडे शहरो में इस बात का बडा भारी असर पडा। व्यापारियो के लिए तो इसके मानी थे पूरा सत्यानाश। पेशेवर लोगो को भी उससे भारी नुकसान पहुँचता था। इसकी धमकी भर से—कभी-कभी तो वह धमकी पूरी करके भी दिखाई गई—शहर के अमीर श्रेणी के

लोगो को लकवा-सा मार गया। पीछे मुझे मालूम हुआ कि एक डरपोक लेकिन मालदार व्यापारी को पुलिस ने यह धमकी दी कि तुम्हे लम्बी सजा देने के साथ पाँच लाख का जुर्माना किया जायगा। इस व्यापारी का राजनीति से कोई सम्बन्ध नही था, सिवा इसके कि कभी-कभी राजनैतिक कामो के लिए चन्दा दे दिया करता था। ऐसी धमकियाँ एक आम बात हो गई थी, और ये कोरी बातो की धमकियाँ ही न थी, क्योकि उन दिनो पुलिस सर्वशक्तिमान थी और लोगो को हर रोज इन धमकियो के पूरे होने की मिसाले मिलती रहती थी।

मेरा खयाल है कि किसी कॉंग्रेसी को इस बात का हक नही है कि सरकार ने जो तरीका अख्त्यार किया उसपर ऐतराज करे—यद्यपि एक सोलह आने अहिंसात्मक आन्दोलन के खिलाफ सरकार ने जिस जोर-जबरदस्ती से काम लिया वह किसी भी शाइस्ता पैमाने से बहुत ऐतराज के काबिल थी। अगर हम लोग सीधी लडाई के क्रान्तिकारी तरीको से काम लेते है तो हमें हर तरह के मुकाबिले के लिए तैयार रहना चाहिए, फिर चाहे हमारे तरीके कितने भी अहिंसात्मक क्यो न हो ? हम लोग अपने बैठकखाने मे बैठे-बैठे क्रान्ति के साथ खिलवाड नही कर सकते, यद्यपि कुछ लोग इन दोनो का फायदा साथ-साथ ही उठाना चाहते है। अगर कोई क्रान्ति की ओर कदम बढाना चाहते है, तो उन्हे उनके पास जो कुछ है उस सबको खो बैठने के लिए तैयार रहना चाहिए। इसीलिए धन-दौलत और पैसेवाले अमीर लोगो मे से तो बिरले ही क्रान्तिकारी हो सकते है। हॉ, उन व्यक्तियो की बात दूसरी है जो व्यवहार-चतुर लोगो की दृष्टि मे मूर्ख और अपनी जाति के घातक कहलाते है।

लेकिन आम लोगो के पास न तो मोटरे थी, न बैंको मे उनका कोई हिसाब था, न जब्त करने लायक जायदाद; और उन्ही लोगो पर लडाई का असली बोझ था। इसलिए अवश्य ही उनका मुकाबिला करने के लिए दूसरे तरीके अख्त्यार किये गये। सरकार ने चारो तरफ जिस बेरहमी से काम लिया उसका एक मजेदार नतीजा यह हुआ कि उन लोगो की जमात उठ खडी हुई, जिनको हाल ही मे छपी एक किताब मे लिखे एक शब्द के मुताबिक 'सरकार-पक्षी' (Governmentarians) के नाम से पुकारा जा सकता है। इन लोगो को यह तो पता नही था कि भविष्य मे क्या होनेवाला है, इसलिए ये लोग कॉंग्रेस के आगे-पीछे चक्कर काटने लगे थे। लेकिन सरकार इस बात को बरदाश्त करने को तैयार न थी। वह निष्क्रिय राजभक्ति को काफी नही समझती थी। गदर के सिलसिले मे मशहूर फ्रेडरिक कूपर के लफ्जो मे शासक लोग, "पूरी, क्रियाशील और निश्चित वफादारी से कम किसी बात को बरदाश्त नही कर सकते। सरकार इतना नीचे उतरने को तैयार नही हो सकती थी कि वह अपनी

रिआया के महज सद्भाव पर कायम रहे।" ब्रिटिश लिबरल दल के जो नेता राष्ट्रीय सरकार मे जा मिले थे, अपने इन पुराने साथियो की बाबत एक साल पहले मिस्टर लायड जार्ज ने यह कहा था कि "वे उन गिरगिटो के नमूने है जो अपनी देश-कालावस्था के मुताबिक अपना रग बना लेते है।" हिन्दुस्तान की नई देशकालावस्था मे न्यारे रगो के लिए गुंजाइश नही थी, इसलिए हमारे कुछ देश-भाई सरकार की पसन्द के निहायत चमकीले रग मे रगकर बाहर निकले और दावते खाते तथा गीत गाते हुए उन्होने शासको के प्रति अपना प्रेम और आदर प्रदर्शित किया। जो आर्डिनेन्स जारी किये गये थे उनसे, तरह-तरह की जो मनाहियाँ और रोके थी उनसे, और दिन छिपे बाद घरो से बाहर न निकलने के हुक्म जारी किये गये थे उनसे उन्हे डरने की कोई जरूरत न थी, क्योकि सरकार की तरफ से यह बात कह दी गई थी कि यह सब तो राजद्रोहियो और अराजभक्तो ही के लिए है, राजभक्तो के लिए उनसे डरने की कोई वजह नही है। इसीलिए जिस डर ने हमारे बहुत-से देशभाइयो को जकड रक्खा था वह उनके पास तक नही फटका और वे अपने चारो तरफ होनेवाली लडाई व कशमकश को समदृष्टि से देखते थे। The Faithful Shepherdess नाम की कविता म शायद वे भी क्लो से सहमत होते, जब उसने यह कहा कि —

> "भय क्यो हो, सर्वथा मुक्त हूँ मै तो भय से,
> बलात्कार क्यो, जब खुद ही राजी हूँ मन से।' [१]

न जाने कैसे सरकार को यह खयाल हो गया कि कॉंग्रेस जेलो को औरतो से भरकर अपनी लडाई मे उनका इस्तेमाल करना चाहती है। क्योकि कॉंग्रेसवाले समझते होगे कि औरतो के साथ अच्छा बर्ताव किया जायगा या उनको थोडी सजा दी जायगी। यह खयाल बिलकुल बे-बुनियाद था। ऐसा कौन है जो यह चाहता हो कि हमारे घर की औरते जेलो मे धकेली जायँ? मामूली तौर पर लडकियो और औरतो ने हमारी लडाई मे क्रियात्मक भाग अपने पिताओ और भाइयो या पतियो की इच्छा के विरुद्ध ही लिया, किसी भी हालत मे उन्हे अपने घर के मर्दो का पूरा सहयोग नही मिला। फिर भी सरकार ने यह तय किया कि लम्बी-लम्बी सजाये देकर और जेलो मे बुरा बर्ताव करके स्त्रियो को जेल जाने से रोका जाय। मेरी बहनो की गिरफ्तारी के बाद फौरन ही कुछ नौजवान लडकियाँ, जिनमे से ज्यादातर पन्द्रह या सोलह बरस

१. मूल अंग्रेजी पद्य इस प्रकार है:—

> "For from one cause of fear I am most free,
> It is impossible to ravish me,
> I am so willing"

की थी, इलाहाबाद मे इस बात पर गौर करने के लिए इकट्ठी हुईं कि अब क्या करना चाहिए। उन्हे कोई तजुर्बा तो था नही। हाँ, उनमे जोश भरा हुआ था और वे यह सलाह लेना चाहती थी कि हम क्या करे। लेकिन जब कि वे एक प्राइवेट घर मे बैठी हुई बातें कर रही थी, गिरफ्तार करली गई और हरेक को दो-दो साल की सख्त कैद की सजा दी गई। यह तो उन बहुत-सी छोटी-छोटी घटनाओ मे से एक थी जो उन दिनो रोज-ब-रोज़ हिन्दुस्तान-भर में हो रही थी। जिन लडकियो व स्त्रियो को सजा मिली उनमे से ज्यादातर को बहुत तकलीफे बरदाश्त करनी पड़ी। उन्हे मर्दों तक से भी ज्यादा तकलीफे भुगतनी पडी। यो मैंने ऐसी कई दु खदाई मिसाले सुनी, लेकिन मीरा बहन ने बम्बई की एक जेल मे अपने तथा अपने साथी कैदी दूसरी सत्याग्रही स्त्रियो के साथ होनेवाले व्यवहार का जो वर्णन किया वह उन सब को मात करने वाला था।

सयुक्तप्रान्त मे हमारी लडाई का केन्द्र देहाती रकबो मे ही रहा। किसानो के प्रतिनिधि की हैसियत से कांग्रेस ने जो लगातार जोर डाला उसकी वजह से सरकार ने काफी छूट देने का वादा किया, लेकिन हम उसे भी काफी नही समझते थे। हमारी गिरफ्तारी के बाद फौरन ही और भी छूट का ऐलान किया गया। यह एक विचित्र बात थी कि इस छूट का ऐलान पहले नही किया गया, क्योकि अगर यह ऐलान पहले हो जाता तो हालत मे काफी फर्क पड जाता। हम लोगो के लिए यह मुश्किल हो जाता कि हम उसे यो ही ठुकरादे। लेकिन उस वक्त तो सरकार को यह फिकर थी कि इस छूट की नामवरी कांग्रेस को न मिलने पावे। इसलिए एक तरफ तो वह कांग्रेस को कुचलना चाहती थी और दूसरी तरफ किसानो को जितनी छूट वह दे सकती थी उतनी देती थी कि जिससे वे चुपचाप अपने घर बैठे रहे। यह बात साफ तौर पर दिखाई देती थी कि जहाँ-जहाँ कांग्रेस का ज़ोर ज्यादा था वही-वही ज्यादा छूट मिली थी।

यद्यपि ये छूटे ऐसी-वैसी न थी, फिर भी उनसे किसानो का सवाल हल न हुआ। हाँ, उनसे स्थिति बहुत-कुछ संभल जरूर गई। इन छूटो ने किसानो की लड़ाई की तेज़ी कम करदी और हमारी व्यापक लड़ाई की दृष्टि से इन छूटो ने उस वक्त हमे कमजोर कर दिया। उस लडाई से युक्तप्रान्त में बीसियो हजार किसानो को दुख झेलने पडे। उनमे से कई तो उसकी वजह से बिलकुल बर्बाद होगये। लेकिन उस लड़ाई के जोर से लाखो किसानो को मौजूदा प्रणाली में ज्यादा-से-ज्यादा जितनी छूट मुमकिन हो सकती थी करीब-करीब उतनी मिल गई और उस लडाई ने तरह-तरह की तगियो से भी उनकी जान बचा दी। सत्याग्रह संग्राम या उसके पुछल्लो की वजह से बहुतो को जो तकलीफ उठानी पडी वह अलग ही। किसानो को कभी-कभी जो ये

थोड़े से फायदे होगये वे ऐसे कुछ है नही लेकिन इस बात मे कोई शक नही है कि वे जैसे भी थे वैसे ज्यादातर उस लगातार कोशिश के फल थे जो युक्त प्रान्तीय कांग्रेस कमिटी ने किसानो की तरफ से की थी। आम किसानो को उस लड़ाई से कुछ दिनो के लिए फायदा ही हुआ, लेकिन उनमे जो सबसे अधिक बहादुर थे वे उस लडाई मे काम आ गये।

दिसम्बर १९३१ मे जब युक्त प्रान्त का विशेष आर्डिनेस जारी हुआ तब उसके साथ-साथ एक वक्तव्य निकाला गया था। इस बयान मे और दूसरे आर्डीनेंसो के साथ-साथ जो बयान निकाले गये उनमे बहुत सी असत्य और अर्ध-सत्य बाते भरी हुई थी, जो प्रचार के मतलब के लिए कही गई थी। यह सब शुरू-शुरू की हू-हा का हिस्सा था और हमे उसका जवाब देने या उनकी स्पष्ट गलतियो के खडन करने का कोई मौका नहीं मिला। शेरवानी के मत्थे खास तौर पर एक झूठा इलजाम मढने की कोशिश की गई थी। यह झूठ साफ-साफ चमकता था और शेरवानी ने गिरफ्तारी से कुछ ही पहले उसका खडन कर दिया था। ये तरह-तरह के बयान और सरकार की सफाइयाँ बडी अजीब होती थीं। उनसे मालूम होता था कि सरकार कितनी बर्राती थी और कितनी हड़बडा गई थी। उस दिन मैं वह हुक्मनामा पढ रहा था जो स्पेन के तीसरे बोरबन चार्ल्स, तृतीय, ने अपने राज्य से जेसुइट्स को निकालते हुए जारी किया था। उसे पढते ही मुझे उन हुक्मनामो और आर्डिनेसो की तथा उन्हे निकालने के दिये गये कारणो की याद आये बिना न रही, जो ब्रिटिश सरकार ने हिन्दुस्तान मे प्रकाशित किये थे। चार्ल्स का वह हुक्मनामा फरवरी १७६७ ईसवी को दिया गया था। बादशाह ने यह कहकर अपने हुक्म को ठीक ठहराया था कि इसको निकालने के लिए हमारे पास "अपनी हुकूमत, अमन, और अपनी प्रजा मे न्याय की रक्षा करने के लिए मेरा जो फर्ज है उससे सम्बन्ध रखनेवाले बहुत ही गम्भीर वजूहात है और इन वजूहात के अलावा दूसरे बहुत जरूरी, ठीक और आवश्यक कारण भी है जिन्हे मैं अपने दिल मे सुरक्षित रख रहा हूँ।"

इसलिए आर्डिनेन्स निकालने के जो असली कारण थे वे तो वायसराय के दिल मे या उनके सलाहकारो के साम्राज्यवादी दिलो के ताले मे ही बन्द रहे, यद्यपि वे साफ-साफ दीख पडते थे। सरकार की तरफ से आर्डिनेन्सो को निकालने के लिए जो कारण बताये गये उनसे हमे सरकारी प्रचार की उस विद्या को समझने का मौका मिला जिसे ब्रिटिश सरकार हिन्दुस्तान मे कमाल पर पहुँचा रही थी। कुछ महीने बाद हमे यह भी मालूम हुआ कि कुछ नीम सरकारी पर्चे व पैम्फलेट हजारो की तादाद मे सब गाँवो मे बाटे जा रहे है, और जिनमे गलत बातो की तादाद काफी आश्चर्य-जनक है और

जिनमे खास तौर पर यह बात भी कही गई थी कि किसानो को नाज की जिस मंदी से नुकसान पहुँचा है वह कॉंग्रेस ने ही कराई है। कॉंग्रेस की ताकत की इससे ज्यादा तारीफ और क्या हो सकती है कि वह संसार व्यापी सकट पैदा कर सकती लेकिन यहां झूठ लगातार काफी होशियारी के साथ इस उम्मीद से फैलाई गई कि उससे कॉंग्रेस की धाक को धक्का लगेगा।

इन सब बातो के होते हुए भी युक्तप्रान्त के कुछ खास-खास जिलो के किसानो ने सत्याग्रह की लड़ाई मे जो हिस्सा लिया था वह तारीफ के लायक है। सत्याग्रह की यह लड़ाई लाजमी तौर पर माकूल लगान और छूट की लड़ाई मे मिल गई थी। इस लड़ाई मे किसानो ने १९३० की लडाई से कही ज्यादा तादाद मे और ज्यादा अनुशासन के साथ हिस्सा लिया। शुरू-शुरू मे इस लड़ाई मे कुछ चुहलबाजी भी हुई। हम लोगो को एक मजेदार कहानी यह सुनाई गई कि पुलिस की एक पार्टी रायबरेली जिले के बाकुलिया गाव मे गई। वे लोग लगान अदा न होने पर माल कुडक करने के लिए गये थे। इस गॉव के लोग दूसरे लोगो को देखते हुए कुछ खुश हाल और जीवट के आदमी थे। उन्होने महकमे माल व पुलिस के अफ़सरों का खूब स्वागत-सत्कार किया और अपने-अपने घरो के किवाड खोलकर उनसे कहा कि चले जाइए और जो चाहे उठा लाइए। इन लोगो ने मवेशी वगैरा कुड़क किये। इसके बाद गांववालों ने पुलिस और महकमे माल के हाकिमो को पान-सुपारी नजर की। वे बेचारे निहायत शर्मिन्दा होकर नीचे को निगाह डालकर वहाँ से चले गये। लेकिन यह तो एक बिरली और गैर-मामूली घटना थी। लेकिन बाद को फौरन ही यह चुहलबाज़ी या उदारता या मेहरबानी कही भी न दिखाई दी। चुहलबाज़ी की वजह से बेचारा बाकुलिया गाव उस सजा से नही बच सका जो उसे ऐसा जीवट दिखाने के लिए मिली।

कई खास-खास जिलो मे कई महीनो तक किसानो ने लगान रोक रक्खा था। उसकी अदायगी गालिबन गरमी के शुरू मे शुरू हुई। इसमे कोई शक नही कि बहुत से लोग गिरफ्तार किये गये लेकिन ये गिरफ्तारियाँ तो सरकार को अपनी कार्य-नीति के खिलाफ करनी पड़ी। आम तौर पर गिरफ्तारिया खास-खास कार्यकर्त्ताओं तथा गॉवो के नेताओ की ही की जाती थी। दूसरो को तो महज़ मार-पीटकर छोड दिया जाता था। मारपीट का यह तरीका जेल मे ले जाने और गोली मारने के तरीक़े से बेहतर पाया गया। क्योकि लोगो को जहाँ जी चाहे वही मारा-पीटा जा सकता है और दूर देहात मे होनेवाली मार-पीट की तरफ वहाँसे बाहर के लोगो का बहुत कम ध्यान जाता है। इसके अलावा उससे कैदियो की तादाद भी नही बढ़ती। जोकि वैसे ही बढती जाती थी। हॉ बेदखलियाँ, कुड़कियाँ और जानवर तथा जायदाद बहुत

कसरत से नीलाम हुई। किसान तकलीफ से तडपते हुए यह देखते थे कि उनके पास जो कुछ थोडा-सा बचा-खुचा था वह भी उनसे छीनकर मिट्टी के मोल बेचा जा रहा है।

देशभर मे जिन बहुत-सी इमारतो पर सरकार ने अपना कब्जा कर लिया था उनमे स्वराज-भवन भी था। स्वराज-भवन मे ही कांग्रेस का जो अस्पताल काम कर रहा था उसका भी कीमती सामान व माल सरकार के कब्जे मे ले लिया गया। कुछ दिनो तक तो अस्पताल बिलकुल ही बन्द हो गया लेकिन उसके बाद पडौस के एक पार्क में ही एक खुला दवाखाना खोल दिया गया। इसके बाद वह अस्पताल या दवाखाना स्वराज-भवन से लगे हुए एक छोटे-से मकान मे रक्खा गया और वही वह कोई ढाई बरस तक चलता रहा।

हमारे रहने के घर 'आनन्द भवन' की बाबत भी कुछ चर्चा चली थी कि सरकार उसपर भी अपना कब्जा कर लेना चाहती है। क्योकि मैंने हमारे इनकमटैक्स की जो एक बडी रकम बकाया थी उसके अदा करने से इन्कार कर दिया था। यह टैक्स १९३० मे पिताजी की आमदनी पर लगाया गया था और उन्होने सत्याग्रह की लडाई की वजह से उस साल उसे अदा नही किया। दिल्ली पैक्ट के बाद १९३१ मे उस टैक्स के बारे मे इनकमटैक्स के हाकिमो से मेरी बहस हुई लेकिन अखीर मे मै उसे देने को राजी होगया और उसकी एक किस्त दे भी दी। ठीक इसी समय आर्डिनेस जारी हुआ और मैंने तय कर लिया कि अब मैं टैक्स नही दूंगा। मुझे अपने लिए यह बात बहुत ही बुरी, बुरी ही क्यो अनीतिपूर्ण भी, मालूम हुई कि मै किसानो से तो यह कहूँ कि तुम लगान और मालगुजारी देने से रुक जाओ और खुद अपना इनकमटैक्स अदा करदूँ। इसलिए मै यह उम्मीद करता था कि सरकार हमारे मकान को कुडक कर लेगी। मुझे अपने मकान की कुडकी की बात बहुत ही बुरी लगती थी क्योकि उसके मानी यह थे कि मेरी माताजी उससे निकाल दी जाती और हमारी किताबे, व कागजात, वे चीजे तथा जानवर और बहुत-सी जिसे जिनका, निजी उपयोग तथा ममत्व के कारण हमारी दृष्टि मे, महत्व था, अजनबी लोगो के हाथो मे चली जाती और उनमे से कई तो कदाचित खो भी जाती, हमारा राष्ट्रीय झण्डा उतार दिया जाता और उसकी जगह यूनीयन जैक फहरा दिया जाता। इसके साथ ही, मकान को खो बैठने का खयाल मुझे बहुत अच्छा भी मालूम होता था। क्योकि मे महसूस करता था कि मेरा मकान कुडक हो जाने पर मै उन किसानो के ज्यादा नजदीक आजाऊँगा जो अपनी चीजे खो बैठे है और इससे उनके दिल भी बढेगे। हमारे आन्दोलन की दृष्टि से तो सचमुच यह बात बहुत ही अच्छी होती। लेकिन सरकार ने दूसरी ही बात तय की। उसने मकान

पर हाथ नही डाला, शायद इसलिए कि उसे मेरी माता का ख़याल था। या शायद इसलिए कि उसने ठीक-ठीक यह बात जानली कि मेरे मकान को कुड़क करने से सत्याग्रह-आन्दोलन की तेजी बढ जायगी। कई महीनो बाद मेरे कुछ रेलवे के शेयरो का पता लगाकर इनकमटैक्स वसूल करने के लिए उन्हे कुड़क कर लिया गया। मेरी और मेरी बहन की मोटर तो पहले ही कुडक करके बेच दी गई थी।

इन शुरू के महीनो की एक बात से तो मुझे बहुत ज्यादा तकलीफ हुई। यह बात थी कई म्यूनिसिपैलिटियो और सार्वजनिक सस्थाओ द्वारा हमारे राष्ट्रीय झडे का उतारा जाना। खासकर कलकत्ता कार्पोरेशन-द्वारा, जिसके मेम्बरो मे काँग्रेसियों का बहुमत बताया जाता था। झंडे सरकार और पुलिस के दबाव से लाचार होकर उतारे गये थे, क्योकि यह धमकी दी गई थी कि अगर वे न उतारे गये तो सरकार सख्ती से पेश आयगी। यह सख्ती गालिबन म्यूनिसिपैलिटी को तोड़ने या उसके मेम्बरो को सजा देने के रूप मे होती। जो जमाते स्थापित स्वार्थ रखती है वे अक्सर डरपोक होती है और शायद उनके लिए यह लाजिमी था कि वे झडे उतार डालती। फिर भी इस बात से हमे बडा दुख हुआ। वह झंडा हमारे लिए, जिन बातो को हम बहुत प्यार करते है उनका, चिन्ह हो गया था और उसकी छाया में हमने उसके गौरव की रक्षा करने की अनेक प्रतिज्ञाये ली है। खुद अपने ही हाथों से उसे उतार फेकना या अपने हुक्म से उसे उतरवाना सिर्फ अपनी प्रतिज्ञाओ का तोड़ना ही नही बल्कि एक दूषित कर्म-सा मालूम होता था। यह अपनी आत्मा को दबाकर अपने भीतर की सचाई की अवहेलना करना था—ज्यादा शारीरिक बल के मुक़ाबिले मे झूठ को क़ुबूल करना था। और जो लोग इस तरह दब गये उन्होने कौम की बहादुरी को बट्टा लगाया और उसकी इज्जत को नुकसान पहुँचाया।

यह बात नही है कि हम उनसे यह उम्मीद करते थे कि वे वीरों की तरह काम करते और आग मे कूद पड़ते। किसीको इसलिए दोष देना कि वह अगली कतार मे नही है या जेल नही जाता या दूसरी किस्म की तकलीफ़े या नुकसान नही बरदाश्त करता है, गलत और फिजूल है। हरेक को बहुत से फर्ज अदा करने पड़ते है और कई किस्म की जिम्मेदारियाँ उठानी पडती है। और दूसरो को इस बात का कोई हक नही है कि वे उनके जज बनकर बैठे। लेकिन पीछे घरों मे बैठे रहना या काम न करना एक बात है और सच्चाई से या जिसे हम सच्चाई समझते है उससे इन्कार करना बिलकुल दूसरी बात है—और बहुत ही बुरी बात है। जब म्यूनिसिपैलिटी के मेम्बरो से कोई ऐसी बात करने के लिए कही गई जो राष्ट्रीय हितो के ख़िलाफ थी तब उनके लिए यह रास्ता खुला हुआ था कि वे अपनी मेम्बरी से इस्तीफा दे देते। मगर,

इन लोगो ने तो मेम्बर बने रहना ही पसन्द किया। थॉमस मूर ने कहा है—

पुष्पासन पाकर मधु-मक्खी तज देती गुञ्जन सुन्दर,
त्यो कौंसिल-कुर्सी पाते ही चुप हो जाते हैं मेम्बर।[1]

शायद किसीकी उस काम के लिए नुक्ताचीनी करना नाइन्साफी है जो उन्होने एक ऐसे आकस्मिक सकट मे किया जिससे वे बुरी तरह दब गये थे। जैसा कि पिछला ससारव्यापी युद्ध कई बार दिखा चुका है, कभी-कभी बडे-से-बडे बहादुरो के भी छक्के छूट जाते है। उससे भी पहले १९१२ मे टाइटेनिक जहाज सबन्धी जो भारी दुर्घटना हुई थी उसमे ऐसे-ऐसे नामी आदमियो ने, जिनकी बाबत कभी भी यह खयाल नही किया जा सकता था कि वे कायर है, जहाज के कर्मचारियो को रिश्वत देकर अपनी जान बचाई और दूसरे लोगो को डूबता छोड दिया। अभी हाल मे मॉरो कैसिल जो आग लगी उससे बहुत ही शर्मनाक हालात मालूम हुए। कोई नहीं कह सकता कि ऐसा ही सकट आने पर जबकि सहज-स्फूर्ति बुद्धि और सयम को दबा लेती है। तब वे खुद क्या करे। इसलिए हमे किसीको दोष नहीं देना चाहिए। लेकिन इसके मानी यह नहीं है कि हम इस बात पर गौर न करे कि हमने जो कुछ किया वह ठीक नही था और भविष्य मे इस बात का खयाल रक्खे कि कौम की नैया का पतवार ऐसे लोगो के हाथ मे न दिया जाय जो ऐसे वक्त पर जब सबसे ज्यादा धीरज की जरूरत होती है तब कापने लगे और बेकार हो जायँ। अपनी इस नाकामयाबी को ठीक ठहराने की कोशिश करना और उसे ठीक काम बताना तो और भी बुरा है। सचमुच यह तो इस असफलता से भी ज्यादा बडा अपराध है।

लडनेवाली ताकतो की हर एक कश्मकश ज्यादातर दिलेरी और धीरज पर मुन्हसिर होती है। खूनी-से-खूनी लडाई भी इन्ही दो गुणो पर अवलम्बित रहती है। मार्शल फोक ने कहा था—"आखीर मे जाकर लडाई वही जीतता है जो कभी घबडाता नहीं और हमेशा धीरज धरे रहता है।" अहिसात्मक लडाई मे तो कर्तव्य पर डटे रहने और धीरज रखने की और भी ज्यादा जरूरत है। और जो कोई अपने आचरण से राष्ट्र के इस सत्व को हानि पहुँचाता है तथा उसका धीरज छुटाता है वह अपने उद्देश्य को भयकर हानि पहुँचाता है।

महीने गुजरते गये, और हमे हर रोज कुछ अच्छी खबरे मिलती और कुछ बुरी। हम लोग अपनी-अपनी जेलो की अपनी नीरस और एकमी जिन्दगी के आदी हो गये।

१. मूल अंग्रेज़ी पद्य इस प्रकार है:—

"But bees, on flowers alighting, cease their hum—
So, settling upon places, Whigs grow dumb!"

६ अप्रैल से १३ अप्रैल तक राष्ट्रीय सप्ताह आया। हम लोग यह जानते थे कि इस सप्ताह मे बहुत सी नई-नई बाते देखने को मिलेगी। सचमुच उस हफ्ते मे बहुत सी बाते हुई भी। लेकिन मेरे लिए एक घटना के सामने बाकी सब बाते फीकी पड गई। इलाहाबाद मे मेरी मा उस जुलूस मे थी जिसे पुलिस ने पहले तो रोका और फिर लाठियो से मारा। जिस वक्त जुलूस रोक दिया गया था उस वक्त किसीने उनके लिए एक कुर्सी लादी। वह जुलूस के आगे उस कुर्सी पर सडक पर बेठी हुई थी। कुछ लोग, जिनमे मेरे सैक्रेटरी वगैरा शामिल थे और जो खास तौर पर उनकी देख-भाल कर रहे थे, गिरफ्तार करके उनसे अलग कर दिये गये और इसके बाद पुलिस ने हमला किया। मेरी मा को धक्का देकर कुर्सी से नीचे गिरा दिया गया और उनके सर पर लगातार बेंत मारे गये जिससे उनके सर मे घाव हो गया और खून आने लगा और वह बेहोश हो कर सड़क पर गिर गई। सडक से उस वक्त तक जुलूसवाले तथा दूसरे लोग भगा दिये गये थे। कुछ देर के बाद किसी पुलिस अफसर ने उन्हे उठाया और वह उन्हे अपनी मोटर मे विठाकर आनन्द-भवन पहुँचा गया।

उस रात को इलाहाबाद मे एक गलत अफवाह उडगई कि मेरी मा का देहान्त हो गया है। यह सुनते ही क्रोधित लोगो की भीड ने इकट्ठे होकर पुलिस पर हमला कर दिया। वे शान्ति और अहिंसा की बात भूल गये। पुलिस ने लोगो पर गोली चलाई जिससे कुछ लोग मर गये।

इस घटना के कुछ दिन बाद जब इन सब बतो की खबर मेरे पास पहुँची— हमे उन दिनो एक साप्ताहिक अखबार मिलता था—तो अपनी कमजोर बूढी मा को सडक की धूल में खून से लथपथ पड़ने का खयाल मुझे रह रहकर आने लगा। मै यह सोचने लगा कि अगर मैं वहाँ होता तो क्या करता ? मेरी अहिंसा किस हदतक मेरा साथ देती ? मुझे डर है कि वह ज्यादा हदतक मेरा साथ नही देती। क्योकि वह दृश्य मुझे उस सबक को कतई भुला देता जिसे सीखने की कोशिश मैंने बारह बरस से भी ज्यादा वक्त से की थी और मै जाती या कौमी नतीजो की रत्ती भर भी परवा न करता।

धीरे-धीरे वह चंगी हो गई और जब वह दूसरे महीने बरेली जेल मे मुझसे मिलने आईं तब उनके सर पर पट्टी बँधी थी। लेकिन उन्हे इस बात की बडी भारी खुशी और गर्व था कि वह अपने स्वय सेवक लडके और लडकियो के साथ बेतो और लाठियो की मार खाने के विशेष लाभ से महरूम न रही। लेकिन उनका चगापन उतना असली नही था जितना दिखावटी और ऐसा मालूम होता है कि इतनी बडी उमर मे इन्हे जो भारी झकझोरे झेलने पड़े उनसे उनका शरीर अस्तव्यस्त हो गया और उसने उन गहरी तकलीफो को उभाड दिया जिन्होने एक साल बाद भीषण रूप धारण कर लिया।

४३

बरेली और देहरादून जेल में

छः हफ्ते नैनी जेल में रहने के बाद मेरा तबादला बरेली जिला जेल को कर दिया गया। मेरी तन्दुरुस्ती फिर गडबड रहने लगी। मुझे रोज बुखार हो आता था, जो मुझे बहुत नागवार मालूम होता था। चार महीने बरेली में बिताने के बाद, जब गर्मी बहुत सख्त हुई तब फिर मेरा तबादला कर दिया गया। लेकिन इस मर्तबा मुझे बरेली के मुकाबले मे एक ठडी जगह, हिमालय के पैरो तले, देहरादून जेल मे भेजा गया। मै वहाँ कोई साढे चौदह महीने, करीब-करीब अपनी दो साल की सजा के अखीर तक रहा। इस बीच मे मेरा तबादला किसी दूसरी जगह नही हुआ। इसमे कोई शक नही कि जो लोग मुझसे मिलने आते थे उनसे और खतो के तथा उन चुने हुए अखबारो के ज़रिये से, जो मुझे पढने को दिये जाते थे, मेरे पास खबरे पहुँच जाती थी, फिर भी बाहर जो कुछ हो रहा था उससे ज्यादातर मै अपरिचित ही रहा और खास-खास घटनाओ के बारे मे मेरी धारणाये बहुत धुँधली थी।

इसके बाद जब मै छूटा तब अपने जाती मामलो मे और उस राजनैतिक स्थिति को ठीक करने मे, जो मुझे छूटने पर मिली, लगा रहा। कोई पाँच महीने से कुछ ज्यादा की आजादी के बाद मै फिर जेल में बन्द कर दिया गया और अब तक यही हूँ। इस तरह पिछले तीन सालो मे मै ज्यादातर जेल मे ही—और इसीलिए वाकयात से बिलकुल दूर, अलग—रहा हूँ। इस बीच में जो कुछ हुआ उस सबकी तफसीलवर जानकारी हासिल करने का मुझे बहुत ही कम, नही के बराबर, मौका मिला है। जिस दूसरी गोलमेज़-कान्फ्रेन्स मे गाधीजी शरीक हुए थे उसमें परदे के पीछे क्या-क्या हुआ इसकी बाबत मेरी जानकारी अब तक बहुत ही धुँधली है। इस मामले पर गाधीजी से बातचीत करने का अब तक मुझे कोई मौका ही नही मिला और न इसी बात का मौका मिला कि अब तक जो-कुछ हुआ हे उसके बारे मे उनके या दूसरे साथियो के साथ बैठकर विचार करलूँ।

१९३२ और १९३३ के उन सालो के बारे मे मेरी जानकारी इतनी काफी नही है कि मै अपने राष्ट्रीय-सग्राम के विकास का इतिहास लिख सकूँ। लेकिन चूँकि मै रगमच को, उसकी पृष्ठभूमि को और अभिनेताओ को अच्छी तरह जानता था इसलिए जो बहुत-सी छोटी-छोटी बाते भी हुई उनको मै अपने सहज ज्ञान से अच्छी तरह समझ सका। इस तरह मै उस सग्राम की साधारण प्रगति के विषय में ठीक राय

कायम कर सकता हूँ। पहले चार महीने के करीब तो सत्याग्रह की लड़ाई काफी जोर और हल्ले के साथ चली लेकिन उसके बाद धीरे-धीरे वह गिरती गई। बीच-बीच मे वह फिर भड़क उठती थी। सीधी मार की लडाई क्रान्ति की पराकाष्ठा पर तो थोड़ी देर के लिए ही ठहर सकती है। वह एक जगह स्थिर नही रह सकती, वह या तो तेज होगी या नीचे गिरेगी। शुरू के जोश के बाद सत्याग्रह-सग्राम धीरे-धीरे ढीला पडता गया लेकिन उस हालत में भी वह बहुत वक्त तक चलता रहा। यद्यपि कॉंग्रेस गैर-कानूनी करार दे दी गई थी फिर भी अ० भा० कॉंग्रेस का सगठन काफी कामयाबी के साथ अपना काम करता रहा। अपने-अपने सूबे के कार्यकर्ताओ के साथ उसका ताल्लुक बना रहा। वह अपनी हिदायते भेजता रहा, सूबो से रिपोर्ट हासिल करता रहा और कभी-कभी उसने सूबो को आर्थिक मदद भी दी।

कम-ज्यादा कामयाबी के साथ सूबे के सगठन भी अपना काम चलाते रहे। जिन सालो मे मै जेल मे बन्द था उनमें दूसरे सूबो मे क्या हुआ इस बात का मुझे ज्यादा पता नही लेकिन अपने छूटने के बाद मुझे युक्तप्रान्त के काम की बाबत बहुत-सी बाते मालूम हो गई। युक्तप्रान्तीय कॉंग्रेस-कमिटी का दफ्तर १९३२ मे पूरे साल भर और १९३३ के बीच तक नियमित रूप से अपना काम करता रहा। यानी वह उस वक्त तक अपना काम चलाता रहा जब गाधीजी की सलाह मानकर कॉंग्रेस के तत्कालीन कार्यवाहक सभापति ने पहली मर्तबा सत्याग्रह को मुल्तवी किया। इस डेढ़ साल मे जिलो को अक्सर हिदायते भेजी जाती रही। छपी हुई या साइकिलोस्टायल से लिखी हुई पत्रिकाये बाकायदा जारी होती रही। समय-समय पर जिलो के काम की निगरानी होती रही और राष्ट्र-सेवा-सघ के कार्यकर्त्ताओ को भत्ता मिलता रहा। यह काम ज्यादातर ज़रूरतन छिपे तौर पर किया गया। लेकिन सूबा कॉंग्रेस-कमिटी के जो सेक्रेटरी दफ्तर के चार्ज मे थे वह खुलेआम सेक्रेटरी की हैसियत से उस वक्त तक काम करते रहे जबतक उन्हे गिरफ्तार करके हटा न दिया गया। उसके बाद दूसरे ने उनकी जगह ले ली।

१९३० और १९३२ के अपने तजुर्बे से हमे मालूम हुआ कि हिन्दुस्तान-भर मे छिपे-छिपे खबरे लेने-देने के लिए सगठन का जाल-सा बिछाने का काम आसानी से किया जा सकता है। कुछ मुख़ालिफत होते हुए भी, बिना किसी खास कोशिश के बहुत अच्छा नतीजा निकला। लेकिन हममे से बहुतो को इस बात का भी ख़याल था कि छिपे-छिपे काम करने की बात सत्याग्रह की भावना से मेल नही खाती और सार्वजनिक जाग्रति पर उसका बुरा असर पडता है। बड़े और खुले जनता-आन्दोलन के एक छोटे-से जुज के तौर पर यह काम फ़ायदे का था लेकिन उसमे हर वक्त यह

खतरा बना रहता था कि कही छोटे-से और प्राय बेकार के गुप्त काम ही जनता-आन्दोलन की जगह न ले ले । यह खतरा उस वक्त खास तौर पर बढ जाता था जब आन्दोलन गिर रहा हो । जुलाई १९३३ मे गाधीजी ने सब तरह के छिपे कार्य को बुरा बताया ।

किसानो की लगानबन्दी की लडाई युक्तप्रान्त के अलावा, कुछ वक्त तक गुजरात और कर्नाटक मे भी चलती रही । गुजरात और कर्नाटक, दोनो सूबो मे ऐसे बहुत-से किसान थे जिन्होने अपनी जमीन का मालिक होते हुए भी सरकार को मालगुजारी देने से इन्कार कर दिया और इसकी वजह से काफी नुकसान उठाया । बेदखलियो और जायदाद की ज़ब्तियो से किसानो को जो तकलीफ पहुँची उसे कम करने और पीडितो की मदद करने के लिए काँग्रेस की तरफ से कुछ कोशिश की गई लेकिन वह लाजिमी तौर पर नाकाफी थी । युक्तप्रान्त मे तो यहाँ की काँग्रेस-कमिटी ने इस तरह मुसीबतज़दा किसानो की मदद करने के लिए कोई कोशिश नही की । यहाँ का सवाल वहाँ से कही ज्यादा बडा था । आसामी किसानो की तादाद किसान-ज़मीदारो की तादाद से कही ज्यादा है, यहाँ का रकबा भी बहुत बड़ा था, और सूबे की कमिटी के माली साधन भी दूसरे सूबो के मुकाबले मे बहुत ही महदूद थे । लडाई की वजह से जिन बीसियो हज़ार किसानो को नुकसान पहुँचा उनकी मदद करना हमारे लिए बिलकुल गैर-मुमकिन था और इसके अलावा हमारे लिए यह तय करना भी बहुत मुश्किल था कि हम इन्ही लोगो की मदद क्यो करे और इन लोगो मे तथा उन लाखो लोगो मे भेद-भाव कैसे करे जिन्हे हमेशा भूखो मरने का डर बना रहता है । सिर्फ कुछ हजार लोगो को मदद करने से मुसीबत और आपसी रंजिश खडी हो जाती । इसलिए हम लोगो ने यही तय किया कि हम किसीको रुपये-पैसे की मदद न दे । हमने आन्दोलन के शुरू मे ही यह बात सबको बता दी थी और किसान लोग हमारी बात के महत्व को अच्छी तरह समझते थे । किसी प्रकार की शिकायत या ऐतराज किये बिना उन्होने जितनी तकलीफे सही उन्हे देखकर आश्चर्य होता था । जहाँतक हमसे हो सका वहाँतक हमने कुछ व्यक्तियो की अलबत्ते मदद करने की कोशिश की—खासतौर पर उन कार्यकर्ताओ की बीबियो और बच्चो की जो जेल गये थे । इस दुखी मुल्क की गरीबी का यह हाल है कि एक रुपये महीने की मदद भी इन लोगो के लिए ईश्वरीय देन थी ।

युक्त प्रान्तीय काँग्रेस कमिटी गैर कानूनी करार देदी गई थी । फिर भी वह लडाई के दौरान में अपने वैतनिक कार्यकर्ताओ को जो थोडा बहुत भत्ता देती थी बराबर देती रही । और जब वे जेल चले गये,—जेल तो अपनी अपनी बारी आने पर

सभी गये थे—तब उनके परिवारो की मदद करती रही। हमारे बजट मे इस मद का खर्च बहुत बडा था। इसके बाद परचो और पत्रिकाओं को छापने और उनकी कई कापियाँ निकालने का खर्च था। यह खर्च भी बहुत बडा था। सफर खर्च भी खर्च की एक खास मद थी। इसके अलावा जो जिले ज्यादा गरीब थे उन्हे भी कुछ मदद दी जाती थी। एक जबरदस्त और सब तरह से मोर्चाबन्द सरकार के खिलाफ जनता की घमासान लडाई के इस वक्त मे इन सब खर्चो के और दूसरे खर्चो के बावजूद युक्त-प्रान्त की कॉंग्रेस कमिटी का जनवरी १९३२ से लेकर १९३३ के अगस्त के अखीर तक का यानी बीस महीने का कुल खर्च सिर्फ ६३०००) था, यानी करीब-करीब ३१५०) रुपया महीना। इस रकम मे वह खर्च शामिल नही है जो इलाहाबाद, आगरा, कानपुर लखनऊ जैसी ज्यादा आसूदा और ज्यादा मजबूत जिलो की कमिटीयो ने अलग किया। सूबे की हैसियत से १९३२ और १९३३ भर युक्तप्रान्त लड़ाई के मैदान मे आगे ही रहा और मेरा खयाल है कि हमने जो कुछ कर दिखाया उसे देखते हुए यह बात खास तौर पर ध्यान देने लायक है कि उसने कितना कम खर्च किया। इस छोटी सी रकम का मुकाबला उस रकम से करना बडा दिलचस्प होगा जो सूबे की सरकार ने सत्याग्रह को कुचलने के लिए खासतौर पर खर्च की। यद्यपि मुझे ठीक-ठीक तो नही मालूम है फिर भी मेरा खयाल है कि कॉंग्रेस के कुछ दूसरे बड़े-बडे सूबो ने हमारे सूबे से कही ज्यादा खर्च किया। लेकिन बिहार तो, कॉंग्रेस की दृष्टि मे, अपने पड़ौसी युक्तप्रान्त से भी ज्यादा गरीब सूबा था, फिर भी लडाई मे उसने जो हिस्सा लिया वह बहुत ही शानदार था।

इस तरह धीरे-धीरे सत्याग्रह की लड़ाई कमजोर होती गई; लेकिन फिर भी वह चलती रही, मगर बिना विशेषताओ के नही। ज्यो-ज्यो दिन बीतते गये त्यो-त्यो वह आम लोगो की लडाई नही रही। सरकारी दमन की सख्ती के अलावा इस लड़ाई को सबसे पहली जबरदस्त चोट उस वक्त लगी जब सितम्बर १९३२ मे गाधीजी ने पहले-पहल हरिजनो के सवाल पर अनशन किया। इस अनशन ने जनता मे जाग्रति जरूर पैदा की लेकिन उसने उसे दूसरी तरफ मोड़ दिया। जब मई १९३३ में सत्याग्रह की लडाई मुल्तवी की गई तब तो वह व्यावहारिक रूप मे आखिरी तौर पर मर गई। यो उसके बाद वह जारी तो रही लेकिन विचार मे ही, आचार मे नही। इसमे कोई शक नही कि अगर वह मुल्तवी न की जाती तो भी वह धीरे-धीरे खतम हो जाती। हिन्दुस्तान दमन की उग्रता और कठोरता से सुन्न हो गया था। कम-से कम उस वक्त तो तमाम राष्ट्र का धैर्य खत्म हो गया था और नया उत्साह नही आ रहा था। वैयक्तिक रूप मे तो अब भी ऐसे बहुत से लोग थे जो सत्याग्रह करते रह सकते

थे लेकिन उन लोगो को कुछ-कुछ बनावटी वातावरण मे काम करना पडता था।

हम लोगो को जेल मे रहते हुए यह बात अच्छी नही लगती थी कि हमारा महान आन्दोलन इस तरह धीरे-धीरे गिरता जाय। फिर भी हममे से शायद ही कोई यह समझता हो कि हमें झट कामयाबी मिल जायगी। यह जरूर है कि इस बात का कुछ-न-कुछ अवसर हमेशा ही था कि अगर आम लोग इस तरह उठ खडे हो कि उन्हे कोई दबा ही न सके तो चमत्कारिक कामयाबी हो जाती। लेकिन हम ऐसे इत्तफाक पर भरोसा नही कर सकते थे। इसलिए हम लोग तो एक ऐसी लम्बी लड़ाई के लिए ही तैयार थे जो कभी तेज होती, कभी मद्दी पडती और बीच-बीच मे कई भुलावो मे पड जाती। इस लडाई से जनता को अनुशासन सिखाने मे तथा एक विचार धारा का लगातार प्रचार करने मे ज्यादा कामयाबी मिली। १९३२ के उन शुरू के दिनो मे तो मै कभी-कभी इस खयाल से डर जाता था कि कहीं हमे फौरन ही दिखावटी कामयाबी न मिल जाय क्योंकि अगर ऐसा होता तो उसमे लाजिमी तौर पर कोई राजीनामा होता जिसकी बदौलत राज की बागडोर सरकार-परस्त और मौका परस्त लोगो के हाथ मे पहुँच जाती। १९३१ के तजुरबे ने हमारी आँखे खोल दी थी। कामयाबी तो तभी काम की हो सकती है जब वह ऐसे वक्त पर आवे जबकि लोग आमतौर पर उसका फायदा उठाने के लिए काफी मजबूत हो और उसके बारे मे उनके विचार साफ हो। यदि ऐसा न होगा तो आम लोग तो लडेगे और कुर्बानी करेगे और जब कामयाबी का वक्त आवेगा तब ऐन वक्त पर दूसरे लोग बड़ी खूबी से आकर जीत के लाभ हडप लेगे। इस बात का भारी खतरा था क्योंकि खुद कांग्रेस के इस बारे मे निश्चित विचार नही थे कि हम लोगो को किस तरह की सरकार या समाज कायम करना चाहिए। न इस बारे मे लोगो को साफ-साफ कुछ सूझता ही था। सच-मुच कुछ कांग्रेसी तो कभी यह सोचते ही न थे कि सरकार की मौजूदा प्रणाली मे कोई ज्यादा हेर-फेर किया जाय। वे तो महज यह चाहते थे कि मौजूदा सरकार मे ब्रिटिश या विदेशी अश को निकाल कर उसकी जगह स्वदेशी छाप दे दीजाय।

शुद्ध प्रकार के 'सरकार-परस्त' लोगो से तो हमे कुछ डर नही था क्योंकि उनके मजहब की सबसे पहली बात यह थी कि राज की ताकत जिस किसी के हाथ मे हो उसीके सामने सर झुकाया जाय। लेकिन यहाँ तो लिबरलो और प्रतिसहयोगियो तक ने ब्रिटिश सरकार की विचार धारा को करीब-करीब सोलहो आने मंजूर कर लिया था। समय समय पर वे जो थोड़ी-बहुत नुक्ताचीनी कर देते थे वह इसीलिए बिलकुल बेकार और दो कौडी की होती थी। यह बात सबको अच्छी तरह मालूम थी कि ये लोग तो हर हालत मे कानून के पाबन्द थे और उसकी वजह से वे कभी सत्याग्रह का

स्वागत नही कर सकते थे। लेकिन वे तो इससे कही ज्यादा आगे बढ गये और बहुत-कुछ सरकार की तरफ जा खडे हुए। हिन्दुस्तान में सब किस्म की नागरिक आज़ादी का जो दमन हो रहा था उसे प्राय चुप-चाप खडे हुए और कुछ-कुछ डरे हुए दूर से तमाशबीनो की तरह देख रहे थे। असल मे दमन का यह सवाल महज़ सरकार-द्वारा सत्याग्रह का मुकाबला किये जाने और उसके कुचले जाने का ही सवाल नही था। वह तो तमाम राजनैतिक जीवन और सार्वजनिक हलचलो को बन्द करने का सवाल था। लेकिन उसके खिलाफ शायद ही किसीने कोई आवाज उठाई हो। जो लोग मामूली तौर पर इन आजादियो के हामी थे वे सबके सब लडाई में जुटे हुए थे और उन लोगो ने राज की जबरदस्ती के सामनें सर झुकाने से इन्कार करके उसकी सजा भोगी। लेकिन बाकी के लोग तो बुरी तरह दब गये। उन्होने सरकार की नुक्ताचीनी मे चु तक नही की। जब कभी उन्होने बहुत ही नरम टीका-टिप्पणी की भी तो ऐसे लहजे से मानो अपने कुसूर की माफी माग रहे हो और उसके साथ-साथ वे कॉंग्रेस की और उन लोगो की, जो सत्याग्रह की लडाई लड़ रहे थे, बडी निन्दा भी करते थे।

पश्चिमी देशो मे नागरिको की आजादी के पक्ष मे मजबूत लोकमत बन गया है। इसलिए वहाँ ज्योही इनमे कमी की जाती है त्योही लोग बिगडकर उसकी मुखालिफत करते है। (शायद अब यह वहाँ भी इतिहास की पुरानी बात हो गई हैं।) उन मुल्को मे ऐसे लोगो की तादाद बहुत काफी है जो खुद तो कड़ी और सीधी लड़ाई मे हिस्सा लेने को तैयार नही होते लेकिन इस बात का बहुत काफी खयाल रखते है कि बोलने और लिखने की आजादी मे, जलसा करने और सगठन कायम करने की आजादी मे, व्यक्तिगत और छापेखानो की आजादी मे किसी तरह की कमी न होने पावे। इनके लिए वे निरन्तर आन्दोलन करते रहते है और इस तरह सरकार द्वारा उनके भग किये जाने की कोशिशो को रोकने मे मदद करते है। हिन्दुस्तान के लिबरलो का दावा है कि वे लोग कुछ हद तक ब्रिटिश लिबरलो की परम्परा पर चल रहे है हालाकि इन दोनो मे नाम के अलावा और कोई बात एकसी नही है। फिर भी उनसे यह उम्मीद की जासकती थी कि इन आजादियो के इस तरह दबाये जाने पर वे कम-से-कम कुछ बौद्धिक विरोध जरूर करेगे क्योकि दमन का असर उनपर भी पड़ता था। लेकिन उन्होने ऐसी कोई बात नही की। उन्होने वॉल्टेअर की तरह यह नही कहा कि "आप जो कुछ कहते है उससे मै कतई सहमत नही हूँ, लेकिन आपको अपनी बात कहने का हक है और आपके इस हक को मे अपनी जान पर खेलकर बचाऊँगा।"

शायद उनको इस बात के लिए दोष देना मुनासिब नही है क्योकि उन लोगो ने

आज़ादी या लोकतन्त्र के रक्षक होने का दावा कभी नही किया और उन्हे एक ऐसी हालत का सामना करना पडा जिससे एक लफ़्ज़ इधर-उधर होजाने पर वे मुसीबत मे फँस सकते थे। हिन्दुस्तान मे होनेवाले दमन का आज़ादी के उन पुराने आशिको यानी ब्रिटिश लिबरलो और ब्रिटिश मज़दूर-दल के नये साम्यवादियो पर जो असर पडा उसे देखना ज्यादा मुनासिब मालूम होता है। हिन्दुस्तान मे जो कुछ होरहा था वह काफी तकलीफदेह था। लेकिन वे उस सबको काफी मजे के साथ देखते रहे और कभी-कभी तो "मैचेस्टर गार्जियन" नामके अखबार के सवाददाता के शब्दो मे हिन्दुस्तान में "दमन के वैज्ञानिक प्रयोग' की कामयाबी पर उनकी खुशी ज़ाहिर हो जाती थी। हाल ही में ग्रेटब्रिटेन की राष्ट्रीय सरकार ने राजद्रोह का एक बिल पास करने की कोशिश की है। खास तौर पर लिबरलो और मज़दूर दलवालो ने इस बिल के खिलाफ और बातो के साथ इस बिना पर बहुत वावैला मचाया है कि वह बोलने की आज़ादी को कम करता है और मजिस्ट्रेटो को यह अख्त्यार देता है कि वे तलाशी के वारण्ट निकाले। जब-जब मै इन टीका-टिप्पणियो को पढता तो मै उनके साथ हमदर्दी करता था लेकिन साथ ही मेरी आँखो के सामने हिन्दुस्तान की तस्वीर नाच उठती और मुझे यह दिखाई देता कि यहाँ तो वाकई मे जो कानून जारी है वे करीब-करीब उस कानून से सौगुने ज्यादा बुरे है जिसे 'ब्रिटिश-राजद्रोह-बिल' बनाने की कोशिश कर रहा है। मुझे इस बात पर बडा आश्चर्य होता था कि जिनके गले मे इग्लैड में मच्छर भी अटक जाता है वे हिन्दुस्तान मे बिना चू-चपड किये ऊँट को किस तरह निगल जाते है। सचमुच मुझे ब्रिटिश लोगो की इस अद्भुत खूबी पर हमेशा आश्चर्य हुआ है जिससे कि वे अपने नैतिक पैमानो को अपने भौतिक स्वार्थो के अनुकूल बना लेते है और जिन कामो से उनके साम्राज्य बढाने के इरादो को मदद मिलती है उन सबमें उन्हे धर्म-ही-धर्म दिखाई देता है। आज़ादी और लोकतन्त्र के ऊपर मुसोलिनी और हिटलर जो कुछ हमला कर रहे है उसपर उन्हे बडा क्रोध आता है और वे निहायत ईमानदारी के साथ उनकी निंदा करते है लेकिन उतनी ही ईमानदारी के साथ वे हिन्दुस्तान मे आज़ादी का छीना जाना ज़रूरी समझते है और इस बात के लिए ऊँचे-से-ऊँचे नैतिक कारण पेश करते है कि इस आजादी के छीनने के काम मे उनका अपना कोई स्वार्थ कतई नही है। जब हिन्दुस्तान में चारो तरफ आग लग रही थी और मर्दो तथा औरतो की अग्नि-परीक्षा हो रही थी तब यहाँ से बहुत दूर लन्दन मे छँटे-चुने हज़रात हिन्दुस्तान के लिए एक शासन-विधान बनाने को इकट्ठे हुए। १९३३ मे तीसरी गोलमेज़-कान्फ्रेन्स हुई और उसके साथ-साथ कई कमिटियाँ बनी। यहाँ की असेम्बली के बहुत से मेम्बरो ने इन कमिटियो की मेम्बरी के लिए डोरे डाले जिससे

वे निजी आनन्द के साथ सार्वजनिक कर्तव्य का भी पालन करसके। सार्वजनिक खर्चे पर हिन्दुस्तान से लन्दन को काफी भीड गई। बाद को १९३३ मे वह ज्वाइण्ट कमिटी हुई जिसमे हिन्दुस्तानियो ने असेसरो की तरह काम किया और इस मर्तबा भी जो लोग गवाह के तौर पर गये उनको मेहरबान सरकार ने सफर खर्च अपने ख़जाने से दिया। बहुत से लोग फिर, हिन्दुस्तान की सेवा करने के सच्चे भावो से प्रेरित होकर सार्वजनिक खर्च पर समुद्र पार गये और कहा जाता है कि इनमे से कुछ ने तो ज्यादा सफर खर्च मिलने के लिए कश्मकश भी की।

हिन्दुस्तान के जनता-आन्दोलन का अमली-रूप देखकर डरे हुए स्थापित स्वार्थों के इन प्रतिनिधियो को, साम्राज्यवाद की छत्रछाया मे, लन्दन मे इकट्ठा होते देखकर कोई आश्चर्य नही होना चाहिए। लेकिन हमारे अन्दर जो राष्ट्रीयता है उसको यह देखकर जरूर वेदना हुई कि जब मातृभूमि इस तरह की जिन्दगी और मौत की लडाई मे लगी हुई हो तब कोई हिन्दुस्तानी इस तरह की हरकत करे। लेकिन एक दृष्टि से हममे से बहुतो को यह मालूम हुआ कि यह अच्छा ही हुआ, क्योकि उसने हिन्दुस्तान मे प्रतिगामी लोगो को हमेशा के लिए प्रगतिशील लोगो से अलग कर दिया। (उस वक़्त हम यही सोचते थे लेकिन अब मालूम पड़ता है कि हमारा यह खयाल गलत था।) इस छँटनी से जनता को राजनैतिक शिक्षा देने मे मदद मिलती और सब लोगो के लिए यह बात और भी साफ़ हो जाती कि सिर्फ आजादी के जरिये से ही हम सामाजिक मसलो को हल कर सकते है और जनता के सर का बोझ हटा सकते है।

लेकिन इस बात को देखकर अचरज होता था कि इन लोगो ने अपनी रोज-मर्रा की जिन्दगी मे ही नही, बल्कि नैतिक और बौद्धिक दृष्टि से भी अपनेको हिन्दुस्तान की जनता से कितना अलग कर दिया है। ऐसी कोई कडी न थी जो इनको जनता से जोडती। ये न तो जनता को ही समझते थे न उनकी उस भीतरी प्रेरणा को ही जो उन्हे कुर्बानी करने और तकलीफे झेलने के लिए स्फूर्ति दे रही थी। इन नामी राजकाजियो की राय मे असलियत सिर्फ एक बात मे थी। वह थी ब्रिटिश साम्राज्य की वह ताकत जिससे लडकर उसे हराना गैर-मुमकिन है और इसलिए, जिसके सामने हमें खुशी से या बेबसी से अपना सर झुका देना चाहिए। इन लोगो को यह बात सूझती ही न थी कि भारत की जनता के सद्भाव को अपने साथ लिये बिना हिन्दुस्तान के प्रश्न को हल करना या उसके लिए कोई वास्तविक जीवित विधान बनाना बिलकुल गैर-मुमकिन था। मि० जे० ए० स्पेडर ने हाल ही में "हमारे समय का संक्षिप्त इतिहास" (Short History of Our Times) नामक जो किताब लिखी है उसमें १९१० की उस

आइरिश ज्वाइण्ट कान्फ्रेन्स की नाकामयावी की चर्चा की गई है जिसने वैधानिक संकट को खतम करने की कोशिश की थी। उनका कहना है कि जो राजनैतिक नेता सकटकाल के बीच मे विधान तलाश करने की कोशिश करते है उनकी दशा उन लोगो की सी होती है जो जब मकान मे आग लगी हुई है तब उसका बीमा कराने की कोशिश करते है। १९३२ और १९३३ मे हिन्दुस्तान मे जो आग लगी हुई थी वह उस आग से कही ज्यादा थी जो आयर्लैण्ड मे १९१० मे लगी हुई थी और यद्यपि उस आग की ज्वालाये भलेही बुझ जायँ फिर भी उसके सुलगते हुए शोले बहुत दिन तक रहेगे और वे हिन्दुस्तान मे स्वाधीनता के सकल्प की तरह गरम और कभी न बुझनेवाले होगे।

हिन्दुस्तान की शासक-मण्डली मे हिसा-भाव की जो बढती दिखाई देती थी वह चकित कर देनेवाली थी। इस हिसा की परम्परा पुरानी थी, क्योकि ब्रिटिश लोगो ने हिन्दुस्तान पर राज ज्यादातर पुलिस-राज की तरह किया है। मुल्की हाकिमो का भी सबसे जबर्दस्त दृष्टिकोण फौजी ही रहा है। उनकी हुकूमत मे यह बात प्राय हमेशा रही है जो विजित देश पर कब्जा करके पडी हुई गैर-मुखालिफ फौज की हुकूमत मे रहती है। अपनी मौजूदा व्यवस्था को गम्भीर चुनौती मिलते ही उनकी यह मनोवृत्ति और भी ज्यादा बन गई। बगाल मे और दूसरी जगह आतकवादियो ने जो काण्ड किये उनसे इस हिसा को और भी खुराक मिली और शासको को अपने हिसात्मक कार्यो के लिए थोडा-बहुत बहाना मिल गया। सरकार की नीति ने और तरह-तरह के आर्डिनेन्सो ने सरकारी अफसरो और पुलिस को इतने बेहिसाब अख्त्यार दे दिये कि हिन्दुस्तान असल मे एक पुलिस राज ही हो गया, जिसमे पुलिस के लिए न कोई रोक थी न पूछ।

थोडा या बहुत मात्रा मे हिन्दुस्तान के सभी सूबो को इस भीषण दमन की आग मे होकर गुजरना पडा, लेकिन सरहद्दी सूबे और बगाल को सबसे ज्यादा तकलीफे झेलनी पडी। सरहदी सूबा तो हमेशा से मुख्यत फौजी सूबा रहा है। उसका इन्तजाम अर्ध-फौजी कायदो के मुताबिक होता है। युद्ध-कार्य के लिहाज से यो उसका बहुत महत्व पहले ही से था। अब लाल कुर्ती के आन्दोलन से तो सरकार एकदम घबडा गई। इस सूबे मे 'अमन कायम करने के लिए' और 'झगडालू गावो को' दुरुस्त करने के लिए फौजो की टुकडिया छोडी गई थी। हिन्दुस्तानभर मे यह आम रिवाज हो गया था कि सरकार गाँव-के-गाँवो पर जुर्माना ठोक देती थी और कभी-कभी (खास तौर पर बगाल मे) कस्बो पर भी। सजा के तौर पर पुलिस अक्सर गाँवो मे डाल दी जाती थी और जब पुलिस को अनाप-शनाप अख्त्यार हासिल थे और उन्हे रोकनेवाला कोई न था तब पुलिस की ओर से ज्यादतियाँ होना लाजिमी था। हम लोगो

को कानून और व्यवस्था के भग और अव्यवस्था के नमूने खूब देखने को मिले।

बगाल के कुछ हिस्सो में तो बहुत ही गैर मामूली बाते दिखाई देती थी। सरकार तमाम आबादी के—सही बात तो यह है कि हिन्दुओं की आबादी के—साथ दुश्मनो का-सा बर्ताव करती और बारह से लेकर पच्चीस वरस तक के हर शख्स को फिर चाहे वह मर्द हो या औरत, लडका हो या लडकी शनाख्त का कार्ड लेकर चलना पडता था। लोगो के झुड-के-झुड को देश निकाला दिया जाता था या नजर बन्द कर दिया जाता था। उनकी पोशाक पर और उनके स्कूलो का नियमन सरकार करती थी। जब सरकार चाहती स्कूलो को बन्द कर देती। साइकिलो पर चढने की मनाही थी और कही आते-जाते वक्त पुलिस को अपने आने-जाने की इत्तिला देनी पडती थी। इसके अलावा दिन छिपे बाद घर से न निकलने के लिए और रात के लिए तथा दूसरी बातो के लिए कायदे और कानूनो की भरमार थी। फौजे पेट्रोल करती थी, ताजीरी पुलिस तैनात करदी जाती थी और गाँव भर पर जुर्माने होते थे। बडे-बडे रकबे ऐसे मालूम पडते थे मानो उनपर हमेशा के लिए घेरा डाल लिया गया हो। इन कसबो में रहनेवाले औरत-मर्दो की ऐसी कडी निगरानी होती थी कि उनकी हालत उन लोगो से बेहतर न थी जो छुट्टी के टिकिट लिये बिना आ-जा नही सकते। इस बात का फैसला करना मेरा काम नही है कि आया ब्रिटिश सरकार के दृष्टिकोण से यह सब अद्भुत कायदे कानून जरूरी थे या नही। अगर वे जरूरी नही थे तो सरकार पर यह भारी इलजाम आता है कि उसने सारे इलाके की आजादी को बेइज्जत करने, उनपर जुल्म करने और उन्हे भारी नुकसान पहुँचने का भारी कुसूर किया। अगर वे जरूरी थे तो बेशक हिन्दुस्तान मे ब्रिटिश हुकूमत के बाबत यह अखिरी फैसला है जिससे उसकी बुनियाद का पता लग जाता है।

सरकार के हिसा के इस भाव ने जेलो मे भी हमारे लोगो का पीछा किया। कैदियो का अलग-अलग श्रेणियो मे बँटवारा एक फार्स था और अक्सर उन लोगो को बेहद तकलीफ होती थी जो ऊँचे दर्जो मे रक्खे जाते थे। ये ऊँचे दर्जे बहुत ही कम लोगो को मिले और बहुत से मानी तथा मृदुल स्वभाव के मर्दो और औरतो को ऐसी हालत में रहना पड़ा जो लगातार एक यन्त्रणा थी। ऐसा मालूम पडता है कि सरकार की यह निश्चित नीति थी कि वह राजनैतिक कैदियो को मामूली कैदियो से भी ज्यादा बुरी तरह रक्खे। जेलो के इन्सपैक्टर जनरल ने तो यहा तक किया कि सब जेलो का नाम एक गुप्त गश्ती-चिट्ठी जारी की जिसमे यह कहा गया कि सत्याग्रही कैदियो के साथ कडाई का बर्ताव होना चहिए।[1]

१. इस गश्ती चिट्ठी पर ३० जून १९३३ तारीख पड़ी थी और उसमें यह लिखा

बेंतो की सजा जेल की आम सजा हो गई। २७ अप्रैल १९३३ को भारत के उप-सचिव ने कामन-सभा मे कहा कि "सर सेम्युअल होर को यह बात मालूम है कि हिन्दुस्तान मे १९३२ के सत्याग्रह से ताल्लुक रखनेवाले जुर्मो के सिलसिले मे कोई पाँचसौ शख्सो के बेत लगे है।" इसमे यह बात साफ नही है कि आया उसमे वे लोग भी शामिल है जिनको जेलो मे जेल के कायदे तोडने के लिए बेंतो की सजा दी गई। १९३२ मे जेलो मे बेत लगने की खबरे जब हमारे पास अक्सर आने लगी तब मुझे याद आई कि हम लोगो ने दिसम्बर १९३० मे बेंतो की सजा की एक या दो फुटकर मिसालो के विरोध मे तीन दिन तक उपवास किया था। उस वक्त इस सजा की पाश-विकता से मुझे भारी चोट पहुँची थी और इस वक्त भी मुझे बार-बार चोट पहुँचती थी और मेरे दिल मे बडी टीसे उठती थी लेकिन मुझे यह नही सूझा कि इस बार फिर उसके विरोध मे अनशन करना चाहिए क्योकि मैने इस बार इस मामले मे अपने को पहले से कही ज्यादा बेबस पाया। कुछ समय के बाद मन पाशविकता के प्रति जड-सा हो जाता है। किसी बुरी बात को आप ज्यादा देर तक जारी रखिए और दुनिया उसकी आदी हो जायगी।

हमारे आदमियो को जेल मे कडी से कडी मशक्कत दी गई जैसे—चक्की, कोल्हू वगैरा। और उनसे माफी मगवाकर तथा सरकार के सामने यह अहद कराकर, कि हम आइन्दा ऐसा नही करेगे, उन्हे छुडवाने के लिए, जहाँ तक हो सका वहाँ तक उनकी जिन्दगी हराम करने की, कोशिश की गई। कैदियो से इस तरह माफी मगवाना जेल के हाकिमो के लिए बडे गौरव की बात मानी जाती थी। जेल मे ज्यादातर सजाये उन लडको और नौजवानो को भोगनी पडी जो धौंस, दबाव और बेइज्जती बरदाश्त करने को तैयार न थे। ये लडके निहायत अच्छे और जीवटवाले थे। स्वाभिमान, जिन्दादिली तथा साहसी वृत्ति से भरे हुए इगलैड के पब्लिक स्कूलो मे इस तरह के लडको की बेहद तारीफे होती, उन्हे हर तरह की शाबाशी दी जाती। लेकिन यहाँ हिन्दुस्तान मे उनकी युवकोचित आदर्शवादिता और उनके स्वाभिमान ने उनके हथकडियाँ पड़वाई, उन्हे काल-कोठरियो मे बन्द करवाया और उनके बेंत लगवाये।

जेलो मे हमारी महिलाओ की जिन्दगी तो खास तौर पर दुःखमय थी। ऐसी

हुआ था:—"जेल के सुपरिन्टेन्डेन्टों और उसके मातहत कर्मचारियों के लिए इन्सपेक्टर जनरल इस बात पर जोर देते हैं कि सत्याग्रही कैदियों के साथ उनके महज़ सत्याग्रही होने की वजह से रिआयती बर्ताव करने की कोई वजह नहीं है। इस दर्जे के कैदियों को अपनी-अपनी जगहों में रखना चाहिए और उनके साथ खूब सख्ती से पेश आना चाहिए।"

दु खमय कि उसका खयाल करने मे भी तकलीफ होती है । ये स्त्रियाँ ज्यादातर मध्यम श्रेणी की थी जो छत्रछाया के जीवन मे रहने की आदी थी और उन तरह-तरह के दमनो और रिवाजो से सताई हुई, जो मर्दों ने अपने आधिपत्यवाले समाज मे अपने फायदे के लिए बनाये है । इन स्त्रियो के लिए आजादी की पुकार हमेशा दुहरे मानी रखती थी और इस बात मे कोई शक नही कि जिस जोश और जिस ताकत के साथ वे आजादी की लडाई मे कूदी उनका स्रोत उस धुंधली और लगभग अज्ञात लेकिन फिर भी उत्कट आकांक्षा मे था जो उनके मन मे घर की गुलामी से अपने को बचाने के लिए बसी हुई थी। इनमे से बहुत कम को छोडकर बाकी सबको मामूली कैदियो के दर्जे मे रक्खा गया और उनको बहुत ही पतित साथियो के साथ और अक्सर उन्ही-की सी घिनौनी हालत मे रक्खा गया । एक मर्तबा मै एक ऐसी बैरक मे रक्खा गया जो औरतो की बैरक से सटी हुई थी । दोनो के बीच मे एक दीवार ही थी । औरतो के अहाते मे, दूसरी कैदिनो के साथ-साथ कुछ राजनैतिक कैदिने भी थी और इनमे एक स्त्री वह थी जिसके घर मे मै एक मर्तबा ठहरा था और जिसने मेरा आतिथ्य-सत्कार किया था । यद्यपि एक ऊँची दीवार हमे एक दूसरे से अलग कर रही थी तो भी वह उन बातो और गालियो को सुनने से नही रोक पाती थी जो हमारी साथिनो को कैदी-नम्बरदारिनो से सुननी पडती थी । इन्हे सुनकर मुझे बडा रज होता था ।

यह बात खास तौर पर ध्यान देने लायक है कि १९३२ और १९३३ के राजनैतिक कैदियो के साथ जो बर्ताव किया गया वह उससे कही ज्यादा बुरा था जो दो बरस पहले सन् १९३० मे किया गया था । यह बात महज जेल हाकिमो की सनको की वजह से नही हो सकती थी । इसलिए उसकी बाबत एक मात्र माकूल नतीजा यही निकलता है कि यह सब सरकार की निश्चित नीति की वजह से हुआ । राजनैतिक कैदियो के अलावा भी, युक्त प्रान्तीय सरकार के जेल के महकमे की यह तारीफ थी कि वह कैदियो के साथ इन्सानो का-सा बर्ताव करने की हर बात के सख्त खिलाफ होने के लिए मशहूर था । इस बात की ऐसी हमे एक मिसाल मिली जिसके बारे मे कोई शक हो ही नही सकता । एक मर्तबा एक बहुत नामी जेल निरीक्षक हम लोगो के पास जेल मे आये । यह महाशय बागी या हम लोगो की तरह राजद्रोह फैलानेवाले न थे बल्कि वह 'सर' थे । उनको सरकार ने खुश होकर खिताब दिया था। उन्होने हमसे कहा कि "कुछ महीने पहले मैने एक दूसरी जेल निरीक्षण किया था, और अपने निरीक्षण के नोट मे यह लिख दिया था कि जेलर हुकूमत रखते हुए भी इन्सानियत से काम लेता है । उस जेलर ने मुझसे प्रार्थना की कि मेरी इन्सानियत की बाबत कुछ न लिखिए क्योकि सरकार की मण्डली मे इन्सानियत अच्छी निगाह से नही देखी जाती ।

लेकिन मैं अपनी बात पर अडा रहा, क्योकि मैं कभी यह कयास ही नही कर सकता था कि इस बात के पीछे जेलर को कुछ नुकसान पहुँच सकता है। नतीजा यह हुआ कि फौरन ही एक बहुत दूर कही कोने मे पडी हुई एक जेल मे जेलर का तबादला कर दिया गया, जो उसके लिए एक किस्म की सजा ही थी।"

कुछ जेलर खास तौर पर खूँखार थे और न्याय-नीति की परवा न करते थे। उनको खिताब दिये गये तथा उनकी तरक्की की गई। जेलो मे बेईमानी और रिश्वत-खोरी तो इतनी चलती है कि शायद ही कोई उससे पाक-साफ रहता हो। लेकिन मेरा अपना और मेरे बहुत-से दोस्तो का तजुर्बा है कि जेल के कर्मचारियो मे वही लोग सबसे ज्यादा बेईमान और रिश्वतखोर होते है जो आम तौर पर हुकूमत के बहुत जबरदस्त और सख्त हामी बनते है।

जेलो मे और जेल से बाहर मैं खुशकिस्मत रहा हूँ और करीब-करीब जितने लोगो से मेरा वास्ता पडा उन सबने मेरे साथ इज्जत व शराफत का बर्ताव किया, उस हालत मे भी जब कि शायद मैं उसका पात्र न था। लेकिन जेल की एक घटना से मुझे और मेरे परिवारवालो को सख्त तकलीफ हुई। मेरी मा, कमला और मेरी लडकी इदिरा इलाहाबाद जिला जेल मे मेरे बहनोई रणजीत पण्डित से मिलने के लिए गई और वहाँ बिना कुसूर ही जेलर ने उनका अपमान किया और उन्हे जेल से बाहर धकेल दिया। जब मैंने यह बात सुनी तो मुझे बडा रज हुआ और जब मुझे यह मालूम हुआ कि प्रान्तीय सरकार का रुख भी इस मामले मे अच्छा नही है तब मुझे भारी धक्का लगा। अपनी मा को जेल-अधिकारियो द्वारा अपमानित किये जाने की सम्भावना से बचाने के लिए मैंने तय कर लिया था कि मैं किसीसे मुलाकात नही करूँगा। करीब-करीब सात महीने तक, जब मैं देहरादून जेल मे था, मैंने किसीसे मुलाकात नही की।

४४

जेल में मानसिक उतार-चढ़ाव

हममें से दो का, मेरा और गोविन्दवल्लभ पन्त का, तबादला बरेली-जेल से देहरादून को साथ-साथ किया गया। कोई प्रदर्शन न होने पाये, इस बात का बचाव करने के लिए हम लोगो को बरेली मे गाडी पर नही बिठाया गया। बल्कि वहाँ से ५० मील की दूरी पर एक रास्ते के स्टेशन पर ले जाकर वहाँ गाडी मे बिठाया गया। हम लोग रात को चुपचाप मोटर मे लेजाये गये। कई महीने तक अलग जेल में बन्द रहने के बाद रात की उस ठडी हवा मे मोटर के सफर से हमे अनोखा आनन्द आया।

बरेली-जेल से जाने के पहले एक छोटा-सा वाकया हुआ, जिसने उस वक्त तो मेरे दिल पर असर डाला ही लेकिन अबतक भी वह मेरी याद मे तरोताजा है। बरेली-पुलिस का सुपरिन्टेन्डेट जो कि एक अग्रेज था, वहाँ मौजूद था और ज्योही मैं कार मे बैठा त्योही उसने कुछ-कुछ सकुचाते हुए मुझे एक पैकेट दिया जिसमे, उसने मुझे बताया कि, जर्मनी के पुराने सचित्र मासिक पत्रो की कापियाँ थी। उसने कहा कि मैने सुना है कि आप जर्मन सीख रहे है इसलिए मै ये मासिक पत्र आपके लिए ले आया हूँ। इससे पहले मेरी-उसकी मुलाकात कभी नही हुई थी और न उस दिन के बाद मे आजतक उससे कभी मिला। मैं उसका नाम भी नही जानता। लेकिन मेरे दिल पर उसके स्वेच्छा-प्रेरित सौजन्य का और उस कृपा-भाव का, जिसने उसे इसकी प्रेरणा की, बहुत असर पड़ा और अपने मन मे मैं उसके प्रति बहुत ही कृतज्ञ हुआ।

आधी रात के उस लबे सफर मे मै अग्रेजो और हिन्दुस्तानियो, शासको और शासितो, सरकारी और गैर-सरकारी लोगो, सत्ताधारियो और उन लोगो के कि जिन्हे उनके हुक्म मानने पडते है, आपसी ताल्लुकात के बारे मे तरह-तरह की बाते सोचता रहा। इन दोनो वर्गों के बीच मे कैसी गहरी खाई है, और ये दोनो एक-दूसरे पर कितना शक कर रहे है तथा एक-दूसरे को कितना नापसद करते है ? लेकिन इस अविश्वास और नापसदी से भी ज्यादा बडी बात एक दूसरे की बाबत नाजानकारी है। इसी नाजानकारी की वजह से दोनो एक-दूसरे से डरते है और एक-दूसरे की मौजूदगी में हर वक्त चौकन्ने रहते है। हरेक को दूसरा शख्स कुछ अनमना, खिचा हुआ और मित्र-भाव से हीन मालूम होता है और दोनो मे एक भी यह नही महसूस करता कि इस आवरण के अन्दर शिष्टता और सौजन्य भी है। अग्रेज हिन्दुस्तान पर राज करते है

और लोगो को सहायता तथा सहारा देने के साधनों की उन्हे कमी नही हैं। इसलिए उनके पास मौकापरस्त और नौकरियो की तलाश मे गिडगिडाते फिरनेवाले लोगो की भीड़ पहुँचा करती है। हिन्दुस्तान के वारे मे अपनी राय वे इन्ही भद्दे नमूनो से वनाते है। हिन्दुस्तानियो ने अग्रेजो को सिर्फ हाकिमो की ही हैसियत से काम करते देखा है और इस हैसियत से काम करते हुए उनमे सोलहो आने मशीन की-सी हृदयहीनता होती है और वे सव मनोविकार होते हैं जो स्थापित स्वार्थ रखनेवालो मे अपनी रक्षा करने की कोशिश करते वक्त होते हैं। एक व्यक्ति की हैसियत से और अपनी मौज के मुता-विक काम करनेवाले शख्स के वर्ताव मे और उस वर्ताव मे, जिसे एक शख्स हाकिम की या सेना की एक इकाई की हैसियत से करता है, कितना फर्क होता है? फौजी जवान तो अकडकर अटेन्शन होते वक्त अपनी इन्सानियत को फेंक देता है और एक मशीन की तरह काम करते हुए उन लोगो पर निशाना ताककर उन्हे मार गिराता है, जिन्होने उसका कभी कोई नुकसान नही किया। मैंने सोचा कि यही हाल उस पुलिस अफसर का है, जो एक शख्स की हैसियत से वेरहमी का कोई काम करते हुए झिझकेगा लेकिन दूसरे ही दिन वेकुसूर लोगो पर लाठी-चार्ज करा देगा। उस वक्त वह अपनेको एक व्यक्ति के रूप मे नही देखता और न वह उस भीड को ही व्यक्तियो की शक्ल मे देखता है जिन्हे वह डडो से मारता है या जिनपर वह गोली चलाता है।

ज्योंही कोई शख्स दूसरे पक्ष को भीड या समूह के रूप मे देखने लगता है, त्योंही दोनो को मिलानेवाली इन्सानियत की कड़ी गायव हो जाती है। हम लोग यह भूल जाते हैं कि भीड में वही शख्स, मर्द और औरत और वच्चे होते है, जिनमे मुहब्बत और नफरत के भाव होते हैं तथा जो तकलीफ महसूस करते हैं। एक औसत अग्रेज अगर साफ-साफ वात कहे तो यह मजूर करेगा कि हिन्दुस्तानियो मे कुछ आदमी काफी भले भी है, लेकिन ये लोग तो अपवाद-स्वरूप है, और कुल मिलाकर तो हिन्दुस्तानी एक घिनौने लोगो की भीड भर हैं। औसत हिन्दुस्तानी भी यह मजूर करेगा कि कुछ अग्रेज जिन्हे वह जानता है तारीफ के काविल है, लेकिन इन थोडे-से लोगो को छोडकर वाकी के अग्रेज वडे ही घमडी, पाशविक और सोलहो आने वुरे आदमी है। यह वात कैसी अजीव है कि हर शख्स दूसरी कौम की वावत अपनी राय किस तरह वनाता है? उन लोगो के आधार पर नही जिनके वह ससर्ग में आता है, वल्कि उन दूसरे लोगो के आधार पर जिनके वारे मे या तो वह कुछ नही जानता या कुछ नही के वरावर ही जानता है।

ज़ाती तौर पर तो मैं वडा खुशकिस्मत रहा हूँ और करीव-करीव हमेशा ही मेरे साथ सव लोग शराफत से पेश आये हैं, फिर चाहे वे अग्रेज हो या मेरे अपने

देश-भाई । मेरे जेलरों और उन पुलिसमैनों ने भी, जिन्होंने मुझे गिरफ्तार किया था जो मुझे कैदी की हैसियत से एक जगह से दूसरी जगह ले गये, मेरे साथ मेहरबानी का वर्ताव किया और इस इन्सानियत की पुट की वजह से मेरे जेल-जीवन के संघर्ष की कटुता और तीव्रता बहुत कुछ कम हो गई थी । यह कोई अचरज की बात नही है कि मेरे अपने देश-भाइयों ने मेरे साथ अच्छा वर्ताव किया, क्योंकि उनमे तो एक हद तक मेरा नाम हो गया था और मैं उनमे लोकप्रिय था । पर अंग्रेजो के लिए भी मैं एक व्यक्ति था, सिर्फ भीड़ का एक हिस्सा ही नही । मेरा खयाल है कि इस बात ने कि मैंने अपनी तालीम इंग्लैण्ड मे पाई और खास तौर पर इस बात ने कि मैं इंग्लैण्ड के एक पब्लिक स्कूल में रहा, मुझे उनके नजदीक ला दिया और इन कारणो से वे मुझे कम-बढ़ अपने ही नमूने का शाइस्ता आदमी समझे बिना नही रह सकते थे, फिर चाहे उन्हे मेरे सार्वजनिक काम कैसे ही उलटे क्यो न मालूम पडें । जब मैं अपने इस वर्ताव का मुकाबिला उस जिन्दगी से करता हूँ जो मेरे ज्यादातर साथियो को भोगनी पडती थी, तब मुझे अपने साथ होनेवाले इस विशेष अच्छे वर्ताव पर कुछ शर्म और जिल्लत-सी महसूस होती है ।

ये जितने सुभीते मुझे मिले हुए थे उन सबके होते हुए भी जेल जेल ही थी और कभी-कभी तो उसका पीडक वातावरण प्राय असह्य हो जाता था । उसकी हवा खुद हिंसा, कमीनेपन, रिश्वतखोरी और झूठ से भरी हुई थी । वहाँ कोई गालियाँ देता था तो कोई गिडगिडाता था । तुनक-मिजाजवाले हर शख्स को लगातार मानसिक सन्ताप में रहना पडता था, कभी-कभी जरा-जरासी बातों से ही लोग उखड़ जाते । चिट्ठी में कोई खराब खबर आ जाती या अखबार मे ही कोई बुरी खबर निकलती तो हम लोग कुछ देर के लिए गुस्से या फिक्र से बडे परेशान हो जाते थे । बाहर तो हम लोग हमेशा काम मे लगकर अपने दुखो को भूल जाते थे । वहाँ तो तरह-तरह की दिलचस्प बातो और कामो की वजह से शरीर और मन की समतौलता कायम रहती थी । जेल मे ऐसा कोई रास्ता नही था । हम लोग ऐसा महसूस करते थे मानो हम बोतल मे बन्द कर दिये गये हो और दबाकर रख दिये गये हो और इसलिए जो कुछ होता उसकी बाबत लाजिमी तौर पर हमारी राय इकतरफा और कुछ हद तक तोड़ी-मरोड़ी हुई होती थी । जेल मे बीमारी खास तौर से दुःखदायी होती है ।

फिर भी मैंने अपनेको जेल की रोजमर्रा की जिन्दगी का आदी बना लिया, और शारीरिक कसरत तथा कडा मानसिक काम करके मैंने अपनेको ठीक-ठीक रक्खा । काम और कसरत की बाहर कुछ भी कीमत हो, जेल में तो वे लाजिमी थे । क्योकि उनके बिना वहाँ कोई अपने मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य को कायम नही रख

सकता। मैंने अपना एक टाइम-टेबल बना लिया था, जिसका मैं सख्ती के साथ पालन करता था। मिसाल के लिए, अपनेको बिलकुल ठीक रखने के लिए, मैं रोज़ हजामत बनाता था (हजामत के लिए मुझे सैफ्टी रेज़र मिला हुआ था)। मैंने इस छोटी-सी बात का जिक्र इसलिए किया है कि आम तौर पर लोगो ने इन आदतो को छोड दिया और वे कई बातो मे ढीले पड गये थे। दिनभर कडा काम करने के बाद शाम को मैं खूब थक जाता और मजे से नीद का स्वागत करता।

इस तरह दिनो के बाद दिन, हफ्तो के बाद हफ्ते और महीनो के बाद महीने गुज़र गये। कभी-कभी ऐसा मालूम पडता था कि महीना बुरी तरह चिपक गया है और वह खत्म ही नही होना चाहता। और कभी-कभी तो मैं हर चीज और हर शख्स से ऊब जाता, सबपर गुस्सा करता, सबसे खीज उठता, फिर वे चाहे जेल के मेरे साथी हो और चाहे जेल के कर्मचारी। ऐसे वक्त पर मैं बाहर के लोगो पर भी इसलिए खीज उठता था कि उन्होने यह काम क्यो किया या यह काम क्यो नही किया ? ब्रिटिश-साम्राज्य से तो हमेशा ही खीजा रहता था। लेकिन ऐसे वक्त पर औरो के साथ-साथ और सबसे ज्यादा, मैं अपने ऊपर भी खीज उठता था। इन दिनो मैं बहुत चिडचिडा भी हो जाता, और जेल की ज़िन्दगी मे होनेवाली जरा-जरा-सी बातो पर बिगड उठता था। खुशकिस्मती यह थी कि मेरा मिजाज ज्यादा दिनो तक ऐसा नही रहता था।

जेल मे मुलाकात का दिन बडी खुशी का दिन होता था। हम लोग मुलाकात के दिनो की कैसी ख्वाहिश करते थे ? उनके लिए कैसा इन्तजार करते थे तथा उनके लिए दिन गिना करते थे। लेकिन मुलाकात की खुशी के बाद उसकी अनिवार्य प्रतिक्रिया भी होती और फिर शून्यता और अकेलेपन का राज हमारे दिल में छा जाता। अगर, जैसा कि कभी-कभी होता था, मुलाकात कामयाब नही हुई, इसलिए कि मुझे कोई ऐसी खबर मिली जिससे मैं बिगड गया या और कोई अन्य ऐसी ही बात हुई, तो मैं बाद को बहुत ही दुःखी हो जाता था। हाँ, मुलाकात के वक्त जेल के कर्मचारी तो मौजूद रहते ही थे। लेकिन बरेली मे तो दो या तीन मर्तबा उनके साथ-साथ सी० आई० डी० का आदमी भी हाथ मे कागज़ और पेन्सिल लिये मौजूद रहा, जो हमारी बातचीत के करीब-करीब हरेक हरफ को बडे उत्साह से लिख रहा था। यह बात मुझे बहुत ही नागवार मालूम हुई और ये मुलाकाते बिलकुल बेकार गई।

पहले इलाहाबाद-जेल मे मुलाकात करते हुए और उसके बाद सरकार की तरफ से मेरी माँ और पत्नी के साथ जो बर्ताव हुआ था उसकी वजह से मैंने मुलाकाते करना बन्द कर दिया था। करीब-करीब सात महीने तक मैंने किसीसे मुलाकात नही

की। मेरे लिए यह वक्त बहुत ही मनहूस था और जब इस वक्त के बाद मैंने यह तय किया कि मुझे मुलाकात करना शुरू कर देना चाहिए और उसके फलस्वरूप जब मेरे लोग मुझसे मिलने आये तब मै आनन्द से झूमने लगा था। मेरी बहन के छोटे-छोटे बच्चे भी मुझसे मिलने को आये थे। उनमें से एक छोटा सा बच्चा मेरे कन्धो पर चढ़ने का आदी था। यहाँ भी जब उसने मेरे कन्धे पर चढना चाहा तो मेरे भावो का बांध टूट गया। मानवी ससर्ग के लिए एक लम्बी चाह के बाद गृह-जीवन के इस स्पर्श से मै अपने को सम्हाल न सका।

जब मैंने मुलाकात करना बन्द कर दिया था तब घर से या दूसरी जेलो से आनेवाले खत (क्योकि मेरी दोनो बहने जेल मे थी) जो हमें हर पन्द्रहवे दिन मिलते थे और भी कीमती हो गये, और मै उनकी बाट बडी उत्सुकता से देखा करता था। आम मुकर्ररा तारीख को कोई खत न आता तो मुझे बडी चिन्ता सवार हो जाती। लेकिन साथ ही जब खत आते तब मुझे उन्हे खोलते हुए डर-सा लगता था। मै उनके साथ उसी तरह खिलवाड करता जिस तरह कोई इत्मीनान के साथ आनन्द की चीज़ से करता है। साथ ही मेरे मन में कुछ-कुछ यह डर भी रहता था कि कही खत मे कोई ऐसी खबर या बात न हो कि मुझे दु ख हो। जेल मे खतो का आना या जेल मे खत लिखना दोनो ही वहाँ के शान्तिमय और स्थिर जीवन मे खलल डालते थे। वह मन में भावो को जगाकर बेचैनी पैदा करता था और उसके बाद एक या दो दिन तक मन दुचित्ता हो जाता और उसे रोजमर्रा के काम मे जुटाना मुश्किल हो जाता था।

नैनी और बरेली जेल में तो मेरे बहुत-से साथी थे। देहरादून में शुरू-शुरू में हम सिर्फ तीन ही थे। मैं, गोविन्दवल्लभ पन्त और काशीपुर के कुँवर आनन्दसिंह। लेकिन पन्तजी तो कोई दो महीने बाद छोड दिये गये, क्योकि उनकी छ. महीने की सजा खत्म हो गई थी। इसके बाद हमारे दो और साथी हमसे आ मिले थे। लेकिन जनवरी १९३३ लगी ही थी कि मेरे सब साथी चले गये और मैं अकेला ही रह गया। अगस्त के अखीर मे जेल से छूटने तक, करीब-क़रीब आठ महीने तक, देहरादून-जेल मे मै बिलकुल अकेला रहता था। हर रोज कुछ मिनट तक किसी जेल-कर्मचारी के अलावा कोई ऐसा न था जिससे मै बात-चीत भी कर लिया करता। कानून की रू से यह तनहाई न थी। लेकिन वह उससे मिलती-जुलती थी। इसलिए ये बड़ी मनहूसी के दिन रहे। खुश-क़िस्मती से इन दिनो मैंने मुलाकात करना शुरू कर दिया था। उनसे मेरा दुःख कुछ हलका हो गया था। मेरा खयाल है कि मेरे साथ यह खास रिआयत की गई थी जो मुझे बाहर से भेजे हुए ताजे फूल लेने की और कुछ फोटो रखने की इजाज़त थी। इन बातो से मुझे काफी तसल्ली मिलती थी। मामूली तौर पर कैदियो को फूल या

फोटो रखने की इजाजत नही है। कई मौको पर मुझे वे फूल नही दिये गये जो बाहर से मेरे लिए लाये गये थे। अपनी कोठरियो को खुशनुमा बनाने की हमारी कोशिशें रोकी जाती थी। मुझे याद है कि मेरे एक साथी ने, जो मेरे पडौस की कोठरी मे रहता था, अपने शीशे, कघे वगैरा चीजो को जिस तरह सजाकर रक्खा था उसपर जेल के सुपरिन्टेण्डेण्ट ने ऐतराज किया था। उनसे कहा गया कि वह अपनी कोठरी को आकर्षक और 'विलासिता-पूर्ण' नही वना सकते। विलासता की ये चीजे थी—दॉतो का एक ब्रश, दाँतो का एक पेस्ट, फाउण्टेनपेन की स्याही, सिर मे लगाने के तेल की बोतल, एक ब्रश और कघी, और शायद एक या दो छोटी-छोटी चीजे और।

जेल मे हम लोग जिन्दगी की छोटी-छोटी चीजो की कीमत को समझने लगे थे। वहाँ तो हमारा सामान इतना कम होता था और उसे हम न तो आसानी से बढा ही सकते थे न उसकी जगह दूसरी चीजे ही मगा सकते थे, इसलिए हम उसे वडी होशियारी से रखते थे, और ऐसी इक्की-दुक्की छोटी-छोटी चीजो को वटोर कर रखते थे जिन्हे जेल से वाहर की दुनिया में हम रद्दी की टोकरी मे फेंका करते थे। इस प्रकार जव हमारे पास मिलकियत रखने को कोई चीज नही होती तव भी तो जायदाद और मिलकियत का खयाल हमारा पीछा नही छोड़ता।

कभी-कभी जिन्दगी की मुलायम चीजो के लिए शरीर अकुला उठता, शारीरिक सुख-भोग, आनन्दप्रद अडौस-पडौस, दोस्तो के साथ दिलचस्प वातचीत और बच्चो के साथ खेलने की इच्छा जोर पकड जाती थी। किसी अखबार मे किसी तस्वीर या फोटो को देखकर पुराना जमाना सदेह सामने आ खडा होता—उन दिनो की बाते जब जवानी में किसी वात की फिकर न थी। ऐसे वक्त पर घर की याद की वीमारी वुरी तरह जकड लेती और वह दिन वडी वेचैनी के साथ कटता।

मै हर रोज थोडा-बहुत काता करता था, क्योकि मुझे हाथ का कुछ काम करने से तसल्ली मिलने के साथ-साथ बहुत ज्यादा दिमागी काम से कुछ छुट्टी भी मिल जाती थी। लेकिन मेरा खास काम लिखना और पढना ही था। मै जिन-जिन किताबो को पढ़ना चाहता था वे सब तो मुझे मिल नही पाती थी, क्योकि उनपर रोक थी और वे सेसर होती थी। किताबो को सेसर करनेवाले लोग हमेशा अपने काम के योग्य नही होते थे। स्पेंगलर की Decline of the West नामक किताब इसलिए रोक ली गई थी कि उसका नाम खतरनाक और राजद्रोहात्मक मालूम होता था। लेकिन मुझे इस सिलसिले मे किसी किस्म की शिकायत नही करनी चाहिए। क्योकि कुल मिलाकर मुझे तो सभी किस्म की किताबे मिल जाती थी। ऐसा मालूम पडता है कि इस मामले मे भी मेरे साथ खास रिआयत होती थी, क्योकि मेरे बहुत से साथियो को, जो ए०

क्लास में रक्खे गये थे, प्रचलित विषयो पर किताबे मँगाने मे बडी मुश्किलो का सामना करना पडता था। मुझसे कहा गया है कि बनारस की जेल मे तो सरकार का श्वेत-पत्र (White Paper) भी नही दिया गया, जिसमे खुद सरकार की विधान-सम्बन्धी तजवीजे थी, क्योकि उसमे राजनैतिक बाते थी। ब्रिटिश अधिकारी धार्मिक पुस्तको और उपन्यासो की तहेदिल से सिफारिश करते थे। यह बात आश्चर्यजनक है कि धर्म का विषय ब्रिटिश सरकार को कितना प्यारा लगता है और वह हर किस्म के मजहब को कितनी निष्पक्षता के साथ आगे बढाती है!

हिन्दुस्तान मे जब कि मामूली-से-मामूली नागरिक-स्वतंत्रता भी छीन ली गई हो तब कैदियो के हको की बात करना बिलकुल बे-मौजूँ मालूम होता है। फिर भी यह मामला ऐसा है जिसपर गौर किया जाना चाहिए। अगर कोई अदालत किसी आदमी को कैद की सजा दे देती है तो क्या उसके मानी यह है कि उसके शरीर ही नही उसका मन भी जेल मे ठूस दिया जाय? चाहे कैदियो के शरीर भले ही आजाद न रहे पर क्या वजह है कि उनका दिमाग आज़ाद न रहे? हिन्दुस्तान की जेलो का इन्तजाम जिन लोगो के हाथ में है वे तो अवश्य ही इस बात को सुनकर घबरा जावेगे, क्योकि नये खयालातो को हासिल करने और लगातार विचार करने की उनकी शक्ति मामूली तौर पर महदूद हो जाती है। यो तो सेसर का काम हर वक्त बुरा होता है और साथ ही पक्षपात-पूर्ण तथा बेहूदा भी, लेकिन हिन्दुस्तान मे तो वह बहुत-से आधुनिक साहित्य और आगे बढे हुए पत्र-पत्रिकाओ से हमे वचित रखता है। जब्त की हुई किताबो की फेहरिस्त बहुत बडी है और वह दिन-पर-दिन बढती ही जा रही है। इस सबके अलावा कैदी को तो एक और सेसरशिप का भी सामना करना पड़ता है। और इस तरह उसके पास वे बहुत-सी किताबे तथा अखबार भी नही पहुँच पाते जिन्हे वह क़ानून के मुताबिक बाहर खरीदकर पढ सकता है।

कुछ दिनो पहले यह सवाल सयुक्तराज्य अमेरिका के न्यूयॉर्क शहर की मशहूर सिंगसिंग-जेल के सिलसिले मे उठा था। वहाँ कुछ कम्यूनिस्ट अखबार रोक दिये गये थे। अमेरिका के शासकवर्ग मे कम्यूनिस्टो के खिलाफ बहुत जोर के भाव है, लेकिन यह सब होते हुए भी वहाँ की जेल के अधिकारी इस बात के लिए राजी हो गये कि जेल के वाशिन्दे जिस किताब व अखबार को चाहे मगाकर पढ सकते है, फिर चाहे ये अखबार व पत्रिकाये कम्यूनिस्ट मत की ही क्यों न हो? वहाँकी जेल के वार्डन ने सिर्फ कार्टूनो को रोका, जिन्हे वह भड़कानेवाला समझता था।

हिन्दुस्तान की जेलो मे दिमागी आजादी पर गौर करने का यह सवाल कुछ हद तक बेहूदा मालूम होता है जबकि, जैसा कि हो रहा है, ज्यादातर क़ैदियो को कोई भी

अख़बार या लिखने का सामान नही दिया जाता। यहाँ तो सवाल सेन्सरशिप या देख-भाल का नही है बल्कि बिलकुल इनकारी का है। कायदो के मुताबिक तो सिर्फ ए० क्लास के और बगाल मे अव्वल डिवीजन के कैदियो को ही लिखने का सामान दिया जाता है। इनमे से भी सबको रोजाना अखबार नही दिया जाता। जो रोजाना अखबार दिया जाता है वह भी सरकार की पसन्द का है। बी० और सी० क्लास के कैदियो के लिए लिखने के सामान की कोई जरूरत नही समझी जाती, चाहे वे राजनैतिक हो या गैर-राजनैतिक। बी० क्लासवालो को कभी-कभी बहुत ख़ास रिआयत के तौर पर लिखने का सामान दे दिया जाता है और यह रिआयत अक्सर वापस ले ली जाती है। गालिबन दूसरे कैदियो के मुकाबिले मे ए० क्लास के कैदियो की तादाद हज़ार पीछे एक बैठेगी। इसलिए हिन्दुस्तान मे कैदियो की तकलीफो पर गौर करते हुए उनका खयाल न किया जाय तब भी कोई हर्ज नही। लेकिन यह बात याद रखनी चाहिए कि इन ख़ास रिआयतवाले ए० क्लास के कैदियो को भी किताबो और अखबारो के मामले मे उतने हक नही हासिल है जितने कि ज्यादातर सभ्य देशो मे मामूली कैदियो को हासिल है।

बाकी लोगो को—एक हजार मे ९९९ को—एक वक्त मे दो या तीन किताबे ही दी जाती है, लेकिन हालत ऐसी है कि वे इस रिआयत से भी पूरा-पूरा फ़ायदा नही उठा पाते। कुछ लिखना या जो-कुछ किताब पढी जाय उसका नोट लेना तो ऐसा खतरनाक मन-बहलाव समझा जाता है जो उन्हे हरगिज न करना चाहिए। दिमाग़ी तरक्की का इस तरह जान-बूझकर रोका जाना एक अजीब और मजेदार बात है। किसी कैदी को सुधारने और योग्य नागरिक बनाने के ख़याल से तो उसके दिमाग पर ध्यान देकर उसे दूसरी तरफ लगाना उचित है। पढा-लिखाकर उसे कोई धन्धा सिखा देना चाहिए। लेकिन शायद हिन्दुस्तान मे जेल के हाकिमो को यह बात सूझी ही नही। और युक्तप्रान्त मे तो उसका खास तौर पर अभाव ही दिखाई देता है। हाल मे जेलो मे लडको और नौजवानो को थोडा लिखना-पढना सिखाने की कुछ कोशिशे की गई है। लेकिन वे बिलकुल बेकार है और जिन लोगो के सुपुर्द यह काम किया गया है वे उसे पूरा करने के बिलकुल अयोग्य है। कभी-कभी यह कहा जाता है कि कैदी लोग लिखना-पढना पसन्द नही करते। लेकिन मेरा अपना तजुर्बा इसके बिलकुल ख़िलाफ है और कई लोग जो मेरे पास लिखने-पढने की गरज़ से आते थे उनमें मैंने पढने-लिखने का पूरा-पूरा चाव देखा। जो कैदी हमारे पास आ पाते थे उन्हे हम पढाते थे। वे लोग बडी मेहनत से पढ़ते थे, और जब कभी मैं रात में जग पडता तो यह देखकर आश्चर्य करता कि उनमे से एक या दो अपनी बैरक की धुंधली लालटेन के पास बैठे हुए अगले दिन के अपने सबक़ को याद कर रहे है।

मैं अपनी किताबो में ही जुटा रहा। कभी एक किस्म की किताबे पढता तो कभी दूसरे किस्म की। लेकिन आम तौर पर मैं ठोस विषय की किताबे पढता था। उपन्यास पढने से दिमाग मे एक ढीलापन-सा मालूम होने लगता है। इसलिए मैंने ज्यादातर उपन्यास नही पढे। जब-कभी पढते-पढते मेरा जी ऊब उठता, तब मैं लिखने बैठ जाता। अपनी सजा के दो सालो में तो मैं उस ऐतिहासिक पत्रमाला के लिखने मे लगा रहा, जो मैंने अपनी लडकी के नाम लिखी। उन्होने मुझे अपने दिमाग को ठीक-ठीक रखने मे बहुत मदद दी। कुछ हद तक तो मैं उस पुराने ज़माने में रहने लगा, जिसकी बाबत मैं लिख रहा था और इसलिए इन दिनो करीब-करीब यह भूल-सा गया कि मैं जेल के भीतर रह रहा हूँ।

यात्रा-सम्बन्धी पुस्तकों का मैं हमेशा स्वागत करता था, खासतौर पर पुराने यात्रियो के यात्रा-वर्णन का—जैसे ह्यूएनसाग, मार्को पोलो और इब्न बतूता वगैरा। आजकल के यात्रियो की यात्राओ का वर्णन भी अच्छा मालूम होता था—जैसे स्वेन हेडिन ने मध्य-एशिया के जगलो मे जो सफर किया उसका और रोरिक को तिब्बत मे जो अजीब बाते मिली उनका वर्णन। चित्रो की पुस्तकें भी—खासकर पहाडों, हिम-प्रपातो और मरुस्थलो की तस्वीरे भी अच्छी लगती थी, क्योकि जेल मे विशाल मैदानो और समुद्र और पहाडो को देखने की चाह बढ जाती है। मेरे पास माउन्ट ब्लैंक, आल्प्स पर्वत, और हिमालय की कुछ सुन्दर चित्रोवाली पुस्तके थी और अक्सर मैं उन्हे देखा करता था। जब मेरी कोठरी या बैरक की गर्मी एकसौ पन्द्रह डिग्री या उससे भी ज्यादा होती थी, तब मैं हिम-प्रपातो को एकटक होकर देखता। एटलस को देखकर तो बडा जोश पैदा होता था। उसे देखकर सब तरह की पुरानी बातो की याद आ जाती थी—उन जगहो की याद जहाँ हम हो आये हैं और उन जगहो की भी जहाँ हम जाना चाहते थे। और कभी-कभी मन मे यह उत्कण्ठा पैदा होती कि पिछले दिनो मे जिन जगहो को हम देख आये हैं उन्हे फिर देखें। एटलस मे बडे-बडे शहरो को बतानेवाले जितने निशान हैं वे मानो हमको बुला रहे हो और हमे वहाँ जाने की इच्छा होती थी। एटलस मे पहाडो को देखकर और समुद्र के नीले चिन्हो को देखकर भी उन्हे पार करने की इच्छा होती। दुनिया के सौन्दर्य को देखने की, बदलती हुई मनुष्य-जाति के सघर्षो और सग्रामो को देखने की, और खुद भी इन सब कामो को करने की उमगें हमको तग करती और हमारा पल्ला पकड लेती और हम बड़े दु ख के साथ झटपट एटलस को उठाकर रख देते और अच्छी तरह जानी-पहचानी हुई उन दीवारों को देखने लग जाते, जो हमें घेरे हुए थी, और जो नीरस ढर्रा हमें रोज़मर्रा पूरा करना पड़ता था उसमे जुत जाते।

४५

जेल में पशु-पक्षी

कोई साढे चौदह महीने तक मैं देहरादून-जेल की अपनी छोटी-सी कोठरी मे रहा और मुझे ऐसा लगने लगा जैसे मैं उसीका एक हिस्सा हूँ । उसके जर्रे-जर्रे से मैं वाकिफ हो गया । उसकी सफेद दीवारो पर लगे हरेक निशान और खुरदरी फर्श, हरेक खरोच और दबोच को और उसके शहतीरो पर लगे घुन के छेदो को मैं जान गया था । बाहर के छोटे-से आगन मे उगे घास के छोटे-छोटे गुच्छे और पत्थर के टेढे-मेढे टुकडे मुझे पुराने दोस्त-से लगते थे । मैं अपनी कोठरी मे अकेला था सो बात नही । क्योकि वहाँ कितने ही ततैयो और बर्रो के उपनिवेश थे और कितनी ही छिपकलियो ने शहतीरो के पीछे अपना घर बना लिया था, जो शाम को अपने शिकार की तलाश मे बाहर निकला करती । यदि विचार और भावना भौतिक चीजो पर अपने चिन्ह छोड सकती है, तो इस कोठरी की हवा का एक-एक कण उनसे जरूर भरा हुआ था और उस सैकडो जगह में जो-जो भी चीजे थी उन सबपर वे अकित हुए बिना न रहे होगे ।

कोठरी तो मुझे दूसरी जेलो में इससे अच्छी मिली थी, मगर देहरादून मे मुझे एक विशेष लाभ मिला था, जो मेरे लिए बेशकीमत था । असली जेल एक बहुत छोटी जगह थी और हम जेल की दीवारो के बाहर एक पुरानी हवालात मे रक्खे गये थे । लेकिन थी वह अहाते मे ही । यह जगह इतनी छोटी थी कि उसमे आस-पास घूमने को कोई जगह न थी और इसलिए हमको सुबह-शाम फाटक के सामने कोई सौ गज तक घूमने की छुट्टी थी । हम रहते तो थे जेल के अहाते मे ही, लेकिन उन दीवारो के बाहर आ जाने से पर्वतमालाओ, खेतो और कुछ दूर की आम सड़क के दृश्य दिखाई पड जाते थे । यह विशेष लाभ खास मुझे अकेले ही को नही मिला था, बल्कि देहरादून के हरेक ए० क्लास के कैदी को मिलता था । इसी तरह, जेल की दीवार के बाहर लेकिन अहाते के अन्दर, एक और छोटी इमारत थी जिसे यूरोपियन हवालात कहते थे । इसके चारो ओर कोई दीवार न थी, जिससे कोठरी के अन्दर का आदमी पर्वतश्रेणियो और बाहर के जीवन के सुन्दर दृश्य देख सकता था । इसमे जो यूरोपियन कैदी या दूसरे लोग रक्खे जाते थे उन्हे भी जेल के फाटक के पास सुबह-शाम घूमने की इजाजत थी ।

वही कैदी, जो लबे अर्से तक इन ऊची दीवारो के अन्दर कैद रहे हो, इन बाहर सैर करने और खुले दृश्यो के देखने के असाधारण मानसिक मूल्य को पहचान सकते

है। मै इस तरह बाहर घूमने का बड़ा शौक रखता था और बारिश मे भी मैने इस सिलसिले को नही छोडा था, जबकि जोर से पानी की झड़ी लगती थी और मुझे टखने-टखने तक पानी मे चलना पडता था। यो तो किसी भी जगह बाहर सैर करने का मैने सदा ही स्वागत किया होता, लेकिन यहाँ तो अपने पडोसी गगनचुम्बी हिमालय का मनोहर दृश्य और भी हर्ष-वर्द्धक था, जिससे कि जेल की उदासी बहुत-कुछ दूर हो जाती थी। यह मेरी बहुत बड़ी खुशकिस्मती थी कि जब लम्बे अर्से तक मैने कोई मुलाकात नही की थी और जब कितने ही महीने तक अकेला रहा तब मैं इन प्यारे सुहावने पहाडो को एक-टक निहार सकता था। हाँ, अपनी कोठरी से तो मैं इस गिरि-राज के दर्शन नही कर सकता था, मगर मेरे मन मे सदैव ही उसका ध्यान आता था और वह हमेशा नजदीक मालूम होता था और जान पडता था मानो अन्दर-ही-अन्दर हम दोनो के बीच एक घनिष्ठता बढ रही थी।

पक्षि-पुंज ये उड-उड ऊँचे निकल गये है कितनी दूर!
जलद-खँड भी इसी तरह वह नभ-पथ से हो गया विलीन,
एकाकी मैं, सन्मुख मेरे पर्वतशृग खड़ा है शान्त—
मैं उसको, वह मुझे, देखते दोनो ही हम थके कभी न।[१]

मैं समझता हूँ कि कवि ली ताई पो की तरह मैं यह नही कह सकता कि मैं इस नगाधिराज से कभी नही थकता। मगर हाँ, ऐसा तो कभी-कभी ही अनुभव होता था, और आम तौर पर तो में उसकी निकटता से सदा बहुत सुख का अनुभव करता था। उसकी दृढता और स्थिरता मानो लाखो वर्षो के ज्ञान और अनुभव के साथ मुझे गिरी निगाह से देखती है और मेरे मन के तरह-तरह के उतार-चढाव की दिल्लगी उडाती हैं और मेरे अशान्त मन को सान्त्वना देती हैं।

देहरादून मे वसन्त-ऋतु बडी सुहावनी होती है और नीचे के मैदानो की बनिस्बत ज्यादा समय तक रहती है। जाडे ने प्राय सब पेडो का पतझड कर दिया है और वे बिलकुल नग-धडग हो गये है। जेल के फाटक के सामने जो चार विशाल पीपल के पेड हैं, उन्होने भी, आश्चर्य तो देखिए, अपने करीब-करीब सब पत्ते नीचे गिरा दिये है और खंखड और उदास बनकर वे वहाँ खडे है। फिर वसन्त-ऋतु आती है और उसकी

१ मूल अंग्रेजी पद्य इस प्रकार है —

"Flocks of birds have flown high and away;
A solitary drift of cloud, too, has gone, wandering on.
And I sit alone with Ching-ting Peak, towering beyond.
We never grow tired of each-other, the mountain and I."

जीवनमय बयार उन्हे उत्साहित करती है और उनके ठेठ अन्दर के एक-एक जर्रे को जीवन का सदेश भेजती है। तब सहसा, क्या पीपल और क्या दूसरे पेडो मे, एक हलचल होती है और उनके आसपास कुछ रहस्य-सा दिखाई पडता है, जैसे कोई परदे के अदर छिपे-छिपे कोई प्रक्रिया हो रही है और मै तमाम पेडो पर हरे-हरे अखुओ और कोपलो को उझक-उझककर झाकते हुए देखकर चकित रह जाता। वह बडा ही हर्ष-पूर्ण और आनन्ददायी दृश्य था। फिर बडी तेजी के साथ लाखो पत्ते उमड आते, सूर्य की किरणो मे चमकते और हवा के साथ अठखेलिया करते। एक अखुए से लेकर पत्तेतक यह रूपान्तर कितना जल्दी हो जाता है और कितना आश्चर्य-जनक!

मैने इससे पहले कभी नही देखा था कि आम के कोमल पत्ते पहले सुर्खी लिये गेहुँवा रँग के होते है, ठीक वैसे कि जैसे कश्मीर के पहाडो पर शरद् ऋतु मे हलके रँग की छाया छा जाती है, लेकिन जल्दी ही वे अपना रँग बदलकर हरे हो जाते हैं।

वारिश का वहाँ हमेशा ही स्वागत होता था, क्योकि उससे ग्रीष्म-ऋतु की गर्मी का अन्त आ जाता था। लेकिन अच्छी चीज़ की भी आखिर हद होती है। बाद मे वह भी अखरने लगती है। और देहरादून को तो मानो इन्द्र महाराज की प्रिय लीला-भूमि ही समझिए। वारिश शुरू होते ही पाच-छ हफ्तो तक ऐसी झडी लगती है कि कोई पचास-साठ इच पानी वरस जाता है और उस छोटी-सी तग जगह मे खिडकियो से आती हुई बौछारो से अपनेको बचाते हुए सिकुड-मुकुडकर कुप्पा वने बैठे रहना अच्छा नही लगता।

हाँ, शरद्ऋतु मे फिर आनन्द आने लगता है और इसी तरह जाड़ो मे भी, उन दिनो को छोडकर जबकि मेह बरसता हो। एक तरफ बिजली कडक रही है, दूसरी तरफ वारिश हो रही है और तीसरी तरफ चुभती हुई ठडी हवा आ रही है। ऐसी हालत मे हर आदमी को उत्कण्ठा होती है कि रहने को एक अच्छी जगह हो, जिसमे सर्दी से बचाव हो सके और जरा आराम मिले। कभी-कभी वरफ का तूफान आता और बडे-बडे ओले गिरते और वे टीन की छतो पर से गिरते हुए बड़े जोर की आवाज करते, मानो दनादन तोपें छूट रही हो।

एक दिन मुझे खास तौर पर याद है। वह २४ दिसबर १९३२ का दिन था। बडी जोर की बिजली कड़क रही थी और दिनभर पानी बरसता रहा। जाड़ा इतना सख्त कि कुछ मत पूछो। शारीरिक कष्ट की दृष्टि से अपने सारे जेल-जीवन में मुझे बहुत कम ऐसे बुरे दिन देखने पडे है। लेकिन शाम को बादल एकाएक बिखर गये और जब मैने देखा कि पर्वतश्रेणियो पर और पहाड़ो पर बरफ-ही-बरफ जमी हुई है

तो मेरी सारी तकलीफ न जाने कहाँ चली गई । दूसरा दिन क्रिसमस-डे था, बहुत साफ और सुन्दर । और बरफ का पजामा पहने पर्वत-श्रेणिया बहुत ही मनोहर दिखाई देती थी ।

जब साधारण रोजमर्रा के कामो से हम रोक दिये गये तो हमारा ध्यान प्राकृतिक लीला के अवलोकन की ओर ज्यादा गया ! जो-जो जानवर या कीडे-मकोडे हमारे सामने आते उनको हम गौर से देखने लगे । ज्यो-ज्यो मै ज्यादा ध्यान से देखने लगा त्यो-त्यो मैने देखा कि मेरी कोठरी मे और बाहर के छोटे-से आगन मे हर तरह के जीव-जन्तु रहते है । मैने मन मे कहा कि एक ओर मुझे देखो जिसे अकेलेपन की शिकायत है, और दूसरी ओर उस आँगन को देखो जो खाली और सुनसान मालूम होता है, लेकिन जिसमे जीवन उमडा पड़ता है । ये तमाम किस्म के रेगनेवाले, सरकनेवाले और उडनेवाले पशु-पक्षी मेरे काम मे जरा भी दखल दिये बिना अपना जीवन बिताते थे, तो मुझे क्या पड़ी थी कि मै उनके जीवन मे खलल पहुँचाता ? लेकिन हाँ, खटमलो, मच्छरो और कुछ-कुछ मक्खियो से मेरी लडाई बराबर रहती थी । ततैयो और बर्रो को तो मै सह लेता था । मेरी कोठरी मे वे हजारो की तादाद मे थे । हाँ, एक बार उनकी-मेरी झडप हो गई थी, जबकि एक ततैये ने, शायद अनजान मे, मुझे काट खाया था । मैने गुस्से मे आकर उन सबको निकाल देना चाहा, कोशिश भी की, लेकिन अपने चन्दरोजा घरो को भी बचाने के लिए उन्होने खूब डटकर सामना किया । छत्तो मे शायद इनके अडे थे । आखिर को मैने अपना इरादा छोड दिया और तय किया कि अगर वे मुझे न छेडे तो मै भी उन्हे आराम से रहने दूँगा । कोई एक साल तक उसके बाद मै उसी कोठरी मे उन बर्रो और ततैयो के बीच रहा । मगर उन्होने फिर कभी मुझपर हमला नही किया और हम दोनो एक-दूसरे का लिहाज़ रखते रहे ।

हाँ, चमगादडो को मै पसद नही करता था; लेकिन उन्हे मै मन मसोसकर बर्दाश्त करता था । वे शाम के अधेरे मे चुपचाप उडती और आसमान की अधेरी नीलिमा मे उड़ती दिखाई पडती । वे बडे मनहूस जीव थे और मुझे उनसे बडी नफरत और कुछ भय-सा लगता था । वे मेरे चहरे के एक इच दूरी से उड जाती और हमेशा मुझे डर मालूम होता कि कही मुझे झपट्टा न मार दे । ऊपर आकाश मे दूर बडी-बडी चमगादडे उडा करती थी ।

मै चीटियो, दीमको और दूसरे कीडो को घण्टो देखता रहता था । छिपकलियो को भी, जब वे शाम को अपने शिकार चुपके से पकड लेती और अपनी दुम को एक अजीब हँसी आने लायक ढँग से हिलती हुई एक-दूसरे को लपेटती । मामूली तौर पर वे

ततैयो को नही पकडती थी, लेकिन दो बार मैने देखा कि उन्होने निहायत होशियारी और अहतियात से मुँह की तरफ से उसको चुपके से झपटकर पकड़ा। मै नही कह सकता कि उन्होने जान-बूझकर उनके डक को बचाया था या वह एक इत्तिफाक था।

इसके बाद, अगर कही आसपास मे पेड हो तो, झुण्ड के झुण्ड गिलहरियाँ होती थी। वे बहुत ढीठ और नि शक होकर हमारे बहुत पास आ जाती। लखनऊ-जेल मे मै बहुत देर तक एक-सा बैठे-बैठे पढा करता था। एक गिलहरी मेरे पैर पर चढकर मेरे घुटने पर बैठ जाती और चारो तरफ देखा करती। फिर वह मेरी आँखो की ओर देखती, तब समझती कि मै पेड या जो कुछ उसने समझा हो वह नही हूँ। एक लहमे के लिए तो वह सहम जाती, पर फिर दुबककर खिसक जाती। कभी-कभी गिलहरियो के बच्चे पेड से नीचे गिर पडते। उनकी मा उनके पीछे-पीछे आती, लपेटकर उनका एक गोला बनाती और उनको लेजाकर महफूज जगह मे रख देती। कभी-कभी बच्चे खो जाते। मेरे एक साथी ने ऐसे तीन खोये हुए बच्चे सम्हालकर रक्खे थे। वे इतने नन्हे-नन्हे थे कि यह एक सवाल हो गया था कि उन्हे दाना कैसे दे? लेकिन यह सवाल बडी तरकीब से हल किया गया। फाउन्टेनपेन के फिलर मे ज़रा-सी रुई लगा दी। यह उनके लिए बढिया 'फीडिंग बोतल' हो गई।

अलमोडा को छोडकर और सब जेलो मे जहाँ-जहाँ मै गया कबूतर ख़ूब थे—हजारो की तादाद मे, और शाम को उडकर आकाश मे छा जाते थे। कभी-कभी जेल के कर्मचारी उनका शिकार करके उनसे अपना पेट भी भरते थे। और हा, मैनाये भी थी। वे तो सब जगह मिलती है। देहरादून मे उनके एक जोडे ने मेरी कोठरी के दरवाजे के ऊपर ही अपना घोसला बनाया था। मै उन्हे दाना दिया करता। वे बहुत पालतू हो गई थी और जब कभी उनके सुबह या शाम के दाने मे देर हो जाती तो वे मेरे नजदीक आकर बैठ जाती और जोर से चीं-चीं करके खाना माँगती। उनके वे इशारे और उनकी वह अधीर पुकार देखे और सुने ही बनती थी।

नैनी मे हजारो तोते थे। उनमे से बहुतेरे तो मेरी बैरक की दीवार की दरारो मे रहते थे। उनकी प्रणयोपासना और प्रणयो-लीला देखने के लायक होती थी। वह देखनेवाले को मोहित कर लेती थी। कभी-कभी दो तोतो मे एक तोती के लिए बड़े जोर की लडाई होती। तोती शान्ति के साथ उनके झगडे के नतीजे का इन्तजार करती और विजेता पर अपनी प्रणय-वृष्टि करने के लिए प्रस्तुत रहती थी।

देहरादून मे तरह-तरह के पक्षी थे और उनके गाने और जोर-ज़ोर से चिचियाने, चहचहाने और टे-टे करने की तो एक अजीब कवायद होती थी। और सबसे बढकर कोयल की दर्दभरी कूक का तो पूछना ही क्या? बारिश में और उसके ठीक पहले

पपीहा आता । सचमुच उसका लगातार 'पियू-पियू' रटना देखकर दंग रह जाना पडता था । चाहे दिन हो चाहे रात, चाहे धूप हो चाहे बारिश, उसकी रटन नही टूटती थी । इनमे से बहुतेरे पक्षियो को हम देख नही पाते थे, सिर्फ उनकी आवाज सुनाई पडती थी; क्योंकि हमारे छोटे से आँगन मे कोई पेड नही था लेकिन उकाव और चीले बडी धज के साथ आसमान मे ऊँची उडती और उन्हे मै देख सकता था । वे कभी एकदम झपट्टा मारकर नीचे उतर आते और फिर हवा के झोके के साथ ऊपर चढ जाते । कभी-कभी जगली बतख भी हमारे सिर पर मँडराया करते थे । बरेली-जेल मे बंदरो की आबादी खासी थी । उनकी कूद-फाद, मुह बनाना वगैरा हरकतें देखने लायक होती थी । एक घटना का असर मेरे दिल पर रह गया है । एक बन्दर का बच्चा किसी तरह हमारी बैरक के घेरे के अन्दर आ गया । वह दीवार की ऊँचाई तक उछल नही सकता था । वार्डर, कुछ नबरदारो और दूसरे कैदियो ने मिलकर उसे पकड़ा और उसके गले मे एक छोटी-सी रस्सी बाध दी । दीवार पर से उसके (मै समझता हूँ) मा-बाप ने यह देखा और वे गुस्से से लाल हो गये । अचानक उनमे से एक बड़ा बदर नीचे कूदा और सीधा भीड मे उस जगह गिरा जहॉ कि वह बच्चा था । निस्सदेह यह बडी बहादुरी का काम था, क्योकि वार्डर वगैरा सबके पास डडे और लाठिया थी । वे उन्हे चारो तरफ घुमा भी रहे थे और वे काफी तादाद मे थे । लेकिन बेधड़क साहस की फतह हुई और मनुष्यो की वह भीड मारे डर के भाग निकली । उनके डडे और लाठियाँ वही पडी रह गई । बच्चा उनसे छुडा लिया गया ।

अक्सर ऐसे जीव-जन्तु भी दर्शन देते थे जिनसे हम दूर रहना चाहते थे । बिच्छू हमारी कोठरियो मे बहुत आया-जाया करते थे । खासकर तब, जब बिजली जोरो से कड़का करती । ताज्जुब है कि मुझे किसीने भी नही काटा । क्योकि वे अक्सर बेढ़ब जगह मिल जाया करते थे । मेरे बिछौने पर या कोई किताब उठाई तो उसपर भी । मैने एक खास तौर पर काले और जहरीले-से बिच्छू को कुछ दिन तक एक बोतल मे रख छोड़ा था और मक्खियॉ वगैरा उसको खिलाया करता था । फिर मैने उसे एक रस्सी से बाधकर दीवार पर लटका दिया । लेकिन वह किसी तरह भाग निकला । मुझे यह ख्वाहिश नही थी कि वह फिर कही घूमता-फिरता मुझसे मिलने आ जाय । इसलिए मैने अपनी कोठरी को खूब साफ किया और चारो ओर उसे ढूँढा । मगर कुछ पता न चला ।

तीन-चार सांप भी मेरी कोठरी मे या उसके पास निकले थे । एक की खबर जेल के बाहर चली गई और अखबारो मे बड़ी-बड़ी सुर्खी लगाकर छापी गई । मगर सच पूछिए तो मैने उस घटना को पसन्द किया था । जेल-जीवन योंही काफी रूखा

और नीरस होता है और जब भी किसी तरह उसके एकसाँ-पन को कोई चीज भग करती है तो वह अच्छी ही लगती है। यह बात नही कि मैं साँपो को अच्छा समझता हूँ या उनका स्वागत करता हूँ। मगर हाँ, औरो की तरह मुझे उनसे डर नही लगता। बेशक उनके काटने का तो मुझे डर रहता है और यदि किसी साँप को देखूँ तो उससे अपनेको बचाऊँ भी, लेकिन उन्हे देखकर मुझे अरुचि नही होती और न उनसे डरकर भागता ही हूँ। हाँ, कानखजूरे से मुझे बहुत नफरत और डर लगता है। डर तो इतना नही मगर अपने-आप उसे देखकर नफरत होती है। अलीपुर-जेल मे कोई आधी रात को मैं सहसा जग पडा। ऐसा जान पडा कि कोई चीज मेरे पाँव पर रेग रही है। मैंने अपनी टार्च दबाई तो क्या देखा कि एक कानखजूरा बिस्तर पर है। एकाएक और बडी तेजी से बिना आगा-पीछा सोचे मैंने बिस्तर से ऐसे जोर की छलाँग मारी कि कोठरी की दीवार से टकराते हुए बचा। उस समय मैंने अच्छी तरह जाना कि रूस के प्रसिद्ध जीव-शास्त्री पेवलोव के 'रिफ्लेक्सेस'—स्वयँ-स्फूर्त क्रियाये क्या होती है।

देहरादून मे एक नया जन्तु देखा, या यो कहूँ कि ऐसा जन्तु देखा जो मेरे लिए नया था। मैं जेल के फाटक पर खडा हुआ जेलर से बातचीत कर रहा था कि इतने मे बाहर से एक आदमी आया जो एक अजीब जन्तु लिये हुए था। जेलर ने उसे बुलवाया। मैंने देखा कि वह एक गोह और मगर के बीच का कोई जानवर है जो दो फीट लम्बा था। उसके पजे थे और छिलकेदार चमडी। वह भद्दा और कुडौल था और बहुत कुछ जिन्दा था। एक अजीब तरह से उसने गाँठ की तरह एक गोल कुण्डल बना लिया था और लानेवाला उसे एक बाँस मे पिरोकर बडी खुशी से उठाता हुआ लाया था। वह उसे 'बो' कहता था। जब जेलर ने उससे पूछा कि इसका क्या करोगे? तो उसने जोर से हँसकर कहा, भुज्जी—सालन—बनायेगे! वह जगली आदमी था। बाद को एफ० डबल्यू० चेपियन की 'दी जगल इन सनलाइट एण्ड शेडो' पढने से मुझे पता लगा कि वह पेगोलिन था।

कैदियो की, खासकर लम्बी सजावाले कैदियो की, भावनाओ को जेल मे कोई खुराक नही मिलती। कभी-कभी वे जानवरो को पाल-पोसकर अपनी भावनाओ को तृप्त किया करते है। मामूली कैदी कोई जानवर नही रख सकता। नम्बरदारो को उनसे ज्यादा आजादी रहती है और जेल के कर्मचारी उनके लिए ऐतराज नही करते। आम तौर पर वे गिलहरियाँ पालते है और सुनकर ताज्जुब होगा कि नेवले भी। कुत्ते जेल मे नही आने दिये जाते, मगर बिल्ली को, जान पडता है, तरगीब दी जाती है। एक छोटी पुसिया ने मुझसे दोस्ती करली थी। वह एक जेल-अफ़सर की थी, जब उसका तबादला हुआ तो वह उसे अपने साथ ले गया। मुझे उसका अभाव खलता

रहा । हालाकि जेल में कुत्तो की इजाजत नही है, लेकिन देहरादून मे इत्तिफाक से कुत्तो के साथ मेरा नाता हो गया था । जेल-अफसर एक कुतिया लाये थे । बाद को उनका तबादला हो गया और वह उसे वही छोड गये । बेचारी बेघर होकर इधर-उधर घूमती रही और पुलो और मोरियो मे रहती हुई वार्डरो के दिये टुकडे खाकर अपने दिन काटती थी । वह प्राय भूखो मरती थी । मै जेल के बाहर हवालात में रहता था । वह मेरे पास रोटी के लिए आया करती । मैं उसे रोज खाना खिलाने लगा । उसने एक मोरी मे बच्चे दिये । कुछ तो और लोग ले गये मगर तीन बच रहे और मै उन्हे खाना देता रहा । इनमे से एक पिल्ली बीमार हो गई । बुरी तरह छटपटाती थी, जिससे मुझे बड़ी तकलीफ रही । मैंने बडी चिन्ता के साथ उसकी शुश्रूषा की और रात को कभी-कभी तो १०–१२ बार मुझे उठकर उसको सम्हालना पडता था । वह बच गई और मुझे इस बात पर खुशी हुई कि मेरी तीमारदारी काम आ गई ।

बाहर की बनिस्बत जेल में जानवरो से मेरा ज्यादा साबका पडा । मुझे कुत्तो का बड़ा शौक रहा है और घर पर कुछ कुत्ते पाले भी थे, मगर दूसरे कामो मे लगे रहने की वजह से उनकी अच्छी तरह सम्हाल न कर सका । जेल मे मै उनके साथ के लिए उनका कृतज्ञ था । हिन्दुस्तानी आम तौर पर घर में जानवर नही पालते । यह ध्यान देने लायक बात है कि जीवदया के सिद्धान्त के अनुयायी होते हुए भी वे अक्सर उनकी अवहेलना करते है । यहाँतक कि गाय के साथ भी, जो हिन्दुओ को बहुत प्रिय और पूज्य है और जो अक्सर दगो का कारण बनती है, दया का बर्त्ताव नही होता । मानो पूज्यभाव और दयाभाव दोनो का साथ नही हो सकता ।

जुदा-जुदा देशवालो ने अपनी महत्त्वाकाक्षा या अपने चारित्र्य के लिए जुदा-जुदा पशु-पक्षियो को अपना प्रतीक बनाया है । उकाब सयुक्तराज्य अमेरिका और जर्मनी का, सिंह और 'बुलडॉग' इग्लैण्ड का, लड़ते हुए मुर्गे फ्रास का और भालू पुराने रूस का प्रतीक है । सवाल यह है कि ये सरक्षक पशु-पक्षी राष्ट्रीय चारित्र्य को किस तरफ़ ले जायँगे ? इनमें से ज्यादातर तो हमलाई और लडाका जानवर है और शिकारी पशु है । ऐसी दशा मे यह कोई ताज्जुब की बात नही है कि जो लोग इन नमूनों को सामने रखकर अपना जीवन निर्माण करते है वे, जान-बूझकर अपना स्वभाव वैसा ही बनाते है, हमलाई रुख अख्त्यार करते है, दूसरो पर गुर्राते है, और झपट पडते है । और यह भी आश्चर्य की बात नही है कि हिन्दू नरम और अहिंसक है, क्योंकि उनका आदर्श पशु है गाय ।

४६

संघर्ष

बाहर लड़ाई चलती रही, और वीर स्त्रियाँ और पुरुष, यह जानते हुए भी कि वर्त्तमान मे या निकट-भविष्य मे सफलता पाना उनकी किस्मत मे नही है, एक ताकतवर और सुसज्जित सरकार का शान्ति के साथ मुकाबिला करते रहे। निरन्तर तथा अधिक-अधिक तीव्र होता हुआ दमन हिन्दुस्तान मे अग्रेजी शासन के आधार का प्रदर्शन कर रहा था। अब इसमे कोई धोखा-धडी नही थी, और कम-से-कम यही हमारे लिए कुछ तसल्ली की बात थी। सगीने कामयाब हुईं, लेकिन एक बडे योद्धा ने एक बार कहा था कि—"तुम सगीनो से सब कुछ कर सकते हो, लेकिन उन्हीके ऊपर (आधार पर) बैठ नही सकते।" हमने सोचा कि इसके बजाय कि हम अपनी आत्माओ को बेचे और आत्मिक व्यभिचार करे, यही अच्छा है कि हम इसी तरह शासित होना पसन्द करे। जेल मे हमारा शरीर बेबस था, लेकिन हम समझते थे कि वहाँ रहकर भी हम अपने कार्य की सेवा ही कर रहे है और बाहर रहनेवाले कई लोगो से ज्यादा अच्छी सेवा कर रहे है। तो क्या हमे, अपनी कमजोरी के कारण, भारत के भविष्य का बलिदान कर देना चाहिए—इसलिए कि हमारी जान बची रहे? यह तो सच था कि इन्सान की ताकत और सहन-शक्ति की भी हद होती है, और कई व्यक्ति शरीर से बेकार हो गये, या मर गये, या काम से अलग हो गये, गद्दारी तक कर गये; मगर इन बाधाओ के होते हुए भी कार्य आगे बढता ही गया। लेकिन अगर आदर्श स्पष्ट दीखता रहता और हिम्मत ज्यो-की-त्यो बनी रहती तो नाकामयाबी नही हो सकती थी। असली नाकामयाबी तो है अपने उसूलो को छोड़ देना, अपने हक से इन्कार कर देना, और बेइज्जती के साथ बे-इन्साफी के आगे झुक जाना। अपने-आप लगाये हुए जख्म दुश्मन के लगाये हुए जख्मो से ज्यादा देर मे अच्छे होते है।

कभी-कभी अपनी कमजोरियो पर और भटक जानेवाली दुनिया पर हमारा मन उदास हो जाया करता था, मगर फिर भी हमे जितनी सफलता मिली थी उसीपर हमे कुछ अभिमान था। क्योकि हमारे लोगो ने बहुत ही वीरतापूर्ण काम किया था, और उस बहादुर जमात मे हम भी शामिल है, इस खयाल से जी को भला मालूम होता था।

सविनय भग के उन बरसो मे कॉंग्रेस के खुले अधिवेशन करने की दो बार कोशिश की गई, एक दिल्ली मे और दूसरी कलकत्ते मे। यह जाहिर था, कि गैरकानूनी सस्था

मामूली ढँग और शान्ति से अधिवेशन नही कर सकती थी, और खुला अधिवेशन करने की कोशिश का अर्थ था पुलिस के सघर्ष मे आना । वस्तुत: दोनो सम्मेलनो को पुलिस ने लाठियो के बल, जबरदस्ती, तितर-बितर कर दिया, और बहुत लोग गिरफ्तार कर लिये गये । इन सम्मेलनो की विशेषता यह थी कि इन गैरकानूनी मजमो मे प्रतिनिधि बनकर शामिल होने के लिए हिन्दुस्तान के तमाम हिस्सो से हजारो की तादाद में लोग आये थे । मुझे यह जानकर बड़ी खुशी हुई कि इन दोनो अधिवेशनो मे युक्तप्रान्त के लोगो ने एक प्रमुख भाग लिया था । मेरी माताजी ने भी मार्च १९३३ के कलकत्ता-अधिवेशन मे जाने का आग्रह किया । लेकिन वह कलकत्ता जाते हुए, रास्ते मे मालवीयजी और दूसरे लोगो के साथ गिरफ्तार कर ली गई और आसनसोल मे कुछ दिनो तक जेल मे बन्द रक्खी गई । उन्होने जो आन्तरिक उत्साह और जीवन-शक्ति दिखलाई उसे देखकर मै दग रह गया, क्योकि वह कमजोर और बीमार थी । वह जेल की परवा नही करती थी, वह तो उससे भी ज्यादा कडी अग्नि-परीक्षा मे से गुजर चुकी थी । उनका लडका, उनकी दोनो लडकियाँ, और दूसरे भी कई लोग जिन्हे वह बहुत चाहती थी, जेल मे लम्बे-लम्बे अर्से तक रह चुके थे, और वह सूना घर, जिसमे वह रह रही थी, उनके लिए एक डरावनी जगह हो गई थी । जैसे-जैसे हमारी लडाई मन्दी पडने लगी, और उसकी चालू रफ्तार हलकी हो गई, वैसे-वैसे उसमे जोश और उत्साह की कमी आती गई—हाँ, बीच-बीच मे लम्बे अर्से के बाद कुछ उत्तेजना हो जाया करती थी । मेरे खयालात दूसरे मुल्को की तरफ ज्यादा जाने लगे, और जेल मे जितना भी मुमकिन था, मै विश्व-व्यापी मन्दी से ग्रस्त दुनिया की हालत का निरीक्षण और अध्ययन करने लगा । मुझे इस विषय की जितनी भी किताबे मिली उन्हे मै पढता गया, और मै जितना-जितना पढता जाता था उतना-उतना ही उसकी तरफ आकर्षित होता जाता था । मुझे दिखाई दिया कि, हिन्दुस्तान तो अपनी खास समस्याओ और सघर्षो को रखते हुए भी इस जबरदस्त विश्व-नाटक का, राजनैतिक और आर्थिक शक्तियो की उस लडाई का जो कि आज सब राष्ट्रो के अन्दर और सब राष्ट्रो के आपस मे हो रही है, सिर्फ एक हिस्सा ही है । इस लडाई मे मेरी अपनी सहानुभूति कम्यूनिज्म की तरफ ही ज्यादा-ज्यादा होती गई ।

समाजवाद और कम्यूनिज्म की तरफ मेरा बहुत समय से आकर्षण था, और रूस मुझे बहुत पसन्द आता था । रूस की बहुत-सी बाते मुझे नापसन्द भी है—जैसे सब तरह की विरोधी राय का बेदर्दी से दमन कर देना, सबको सैनिक बना डालना, और अपनी कई व्यवस्थाओ को अमल मे लाने के लिए (मेरे मतानुसार) अनावश्यक बल-प्रयोग करना । मगर पूँजीवादी दुनिया मे भी तो बल-प्रयोग और दमन कम नही

है, और मुझे ज्यादा-ज्यादा यह महसूस होने लगा कि हमारे सग्रहशील समाज का और हमारी मिल्कियत का तो आधार और बुनियाद ही बल-प्रयोग है। बल-प्रयोग के बगैर वह ज्यादा दिन टिक नही सकता। जबतक भूखो मरने का डर सब जगह अधिकाश जनता को, थोड़े लोगो की इच्छा के अधीन होने के लिए, हमेशा मजबूर कर रहा है, जिसके फलस्वरूप उन थोडे लोगो का ही धन-मान बढता जाता है, तबतक राजनैतिक स्वतन्त्रता होने के भी वास्तव मे कुछ मानी नही है।

दोनो व्यवस्थाओ मे बल-प्रयोग मौजूद है। पूंजीवादी व्यवस्था का बल-प्रयोग तो उसका अनिवार्य अग ही मालूम होता है। लेकिन रूस के बल-प्रयोग का, यद्यपि वह बुरा ही है, लक्ष्य यह है कि शान्ति और सहयोग पर आधारित और जनता को असली आजादी देनेवाली नई व्यवस्था कायम हो जाय। सोविएट रूस ने कितनी भी भयकर भूले की हो, तो भी वह भारी-भारी कठिनाइयो पर फतह पा चुका है और इस नई व्यवस्था की तरफ लम्बी-लम्बी डग रखता हुआ बहुत आगे बढ गया है। जब ससार के दूसरे मुल्क मन्दी मे जकडे हुए है, कई तरह से पीछे की तरफ जा रहे है, तब सोविएट देश मे, हमारी आँखो के सामने, एक नई ही दुनिया तामीर हो रही है। महान् लेनिन के पदचिन्हो पर चलकर रूस भविष्य की तरफ निगाह रखता है, और केवल इसी बात का विचार करता है कि आगे क्या होना है। लेकिन ससार के दूसरे देश तो भूतकाल के प्रहार से सुन्न हुए पडे है, और गुजरे हुए युग के अनुपयोगी स्मारको को बचाने मे ही अपनी ताकत लगा रहे है। अपने अध्ययन मे मुझपर उन विवरणो का बडा असर पडा, जिनमे सोविएट शासन के पिछडे हुए मध्य-एशियाई प्रदेशो की बडी भारी तरक्की का हाल दिया गया था। इसलिए कुल मिलाकर मेरी राय तो सब तरह रूस के हक मे ही रही; और मुझे सोविएट-तन्त्रो की मौजूदगी और मिसाल, अंधेरी और दु खपूर्ण दुनिया में, एक प्रकाशमय और उत्साह-दायी चीज मालूम हुई।

हालाकि कम्यूनिस्ट राज्य कायम करने के व्यावहारिक प्रयोग के रूप मे सोविएट रूस की कामयाबी या नाकामयाबी का बहुत बडा महत्व है, फिर भी उससे कम्यूनिज्म के सिद्धान्त के ठीक होने या न होने पर कोई असर नही पडता। राष्ट्रीय या अन्तर-राष्ट्रीय कारणो से बोलशेविक लोग बडी-बडी गलतियाँ कर सकते है, या असफल भी हो सकते है, लेकिन फिर भी कम्यूनिज्म का सिद्धान्त सही हो सकता है। उस सिद्धान्त के आधार पर रूस मे जो-कुछ हुआ है, उसकी अन्धे की तरह नकल करना भी मूर्खता ही होगी, क्योकि उसका प्रयोग तो प्रत्येक देश मे उसकी खास परिस्थितियो और उसके ऐतिहासिक विकास की सीमा पर निर्भर है। इसके अलावा, हिन्दुस्तान या दूसरा कोई देश बोलशेविको की कामयाबियो से और अनिवार्य गलतियो से भी सबक

ले सकता है। शायद बोलशेविको ने जरूरत से ज्यादा तेज रफ्तार से जाने की कोशिश की, क्योकि उनके चारो तरफ दुश्मन-ही-दुश्मन थे, और उन्हे बाहरी हमले का भी डर था। शायद इससे धीमी चाल से चला जाता तो देहात मे हुई बहुत-सी तकलीफे बच सकती थी। लेकिन यह सवाल उठता था, कि क्या परिवर्तन की रफ्तार कम कर देने से वास्तव मे मौलिक परिणाम निकल भी सकते थे या नही! किसी नाजुक वक्त पर, जबकि आधार-भूत ढाचा ही बदलना हो, किसी आवश्यक समस्या को सुधार-वाद से हल करना असम्भव होता है, और बाद में रफ्तार चाहे कितनी ही धीमी रहे, लेकिन पहला कदम तो ऐसा उठना चाहिए जिससे कि मौजूदा व्यवस्था से, जो अपना उद्देश्य पूरा कर चुकी हो और अब भविष्य की प्रगति के लिए बाधक बन रही हो, कोई वास्ता न रह जाय।

हिन्दुस्तान मे भूमि और कल-कारखाने दोनो से सम्बन्ध रखनेवाले प्रश्नो का और देश के हर बडे सवाल का हल सिर्फ किसी क्रान्तिकारी योजना से ही हो सकता है। जैसा कि 'युद्ध के सस्मरणो' मे मि० लायड जार्ज कहते है—"किसी खाई को दो छलांगो मे कूदने से बढकर कोई गलती नही हो सकती।"

रूस के अलावा भी, मार्क्सवाद के सिद्धान्त और तत्त्वज्ञान ने मेरे दिमाग को कई विषयो में प्रकाश दिया। मुझे इतिहास मे बिलकुल नया ही अर्थ दिखाई पडने लगा। मार्क्सवाद की अर्थ-शैली ने उसपर बडी रोशनी डाली, और वह मेरे लिए एक के बाद दूसरा दृश्य दिखानेवाला एक नाटक ही हो गया, जिसके घटना-चक्र की बुनियाद मे कुछ-न-कुछ व्यवस्था और उद्देश्य मालूम हुआ, फिर चाहे वह कितना ही अज्ञात क्यो न हो। हालांकि भूतकाल मे और वर्तमान समय मे समय और शक्ति की भयकर बरबादी और तकलीफे रही है और है, लेकिन भविष्य तो आशापूर्ण ही है, चाहे उसके बीच मे कितने ही खतरे आते रहे। मार्क्सवाद मे मौलिक रूप से किसी रूढ-मत का न होना और उसका वैज्ञानिक दृष्टिकोण ही मुझे पसन्द आया। लेकिन यह सही है कि रूस मे और दूसरे देशो मे मान्य कम्यूनिज्म मे बहुत-से रूढ़-मत है, और अक्सर 'काफिरो' यानी मिथ्या-मत-वादियो पर सगठित रूप से धावा बोला जाता है। मुझे यह खेदजनक मालूम हुआ, हालाकि सोविएट प्रदेशो मे भारी-भारी तबदीलियाँ बडी तेजी से हो रही हो और विरोधी लोगो के कारण से बडी मुसीबतो और नाकामयाबी के हो जाने की आशका हो तब ऐसी बात का होना आसानी से समझ मे आ सकता है।

ससार-व्यापी महान् सकट और मन्दी से भी मुझे मार्क्सवादी विश्लेषण सही मालूम हुआ। जबकि दूसरी सब व्यवस्थाये और सिद्धान्त सिर्फ़ अपनी अटकल लगा

रहे थे, तब अकेले मार्क्सवाद ने ही बहुत-कुछ संतोषजनक रूप से उसका कारण बताया और उसका असली हल सामने रक्खा।

जैसे-जैसे मुझमें यह विश्वास जमता गया, वैसे वैसे मैं नये उत्साह से परिपूर्ण होता गया, और सविनय भंग की असफलता की मेरी उदासी बहुत कम हो गई। क्या दुनिया तेजी से इस वाञ्छनीय लक्ष्य या स्थिति की तरफ नही जा रही है? हाँ, महायुद्ध और घोर आपत्ति के बड़े-बड़े खतरे मौजूद है, लेकिन हर हालत मे हम आगे ही बढ रहे है। हम एक ही जगह मे पड़े हुए सड नही रहे। मुझे मालूम हुआ कि हमारे इस बडे सफर के रास्ते मे हमारी राष्ट्रीय लडाई तो एक पडाव मात्र है, और यह अच्छा है कि दमन और कष्ट-सहन से हमारे लोग आगामी लडाइयो के लिए तैयार हो रहे है और उन विचारो पर गौर करने के लिए मजबूर हो रहे है जिनसे दुनिया में खलबली मची हुई है। कमजोर लोगो के निकल जाने से हम और भी ज्यादा मजबूत ज्यादा अनुशासन-युक्त और ज्यादा ठोस बन जायँगे। जमाना हमारे पक्ष मे है।

इस तरह मैंने, रूस, जर्मनी, इग्लैण्ड, अमेरिका, जापान, चीन, फ्रास, इटली, और मध्य-यूरोप मे क्या-क्या हो रहा है, इसका अध्ययन किया, और प्रचलित घटनाओ की गुत्थियो को समझने की कोशिश की। इस मुसीबत को पार करने के लिए हर-एक देश अलग-अलग और सब मिलकर एकसाथ क्या कोशिशे कर रहे है, इसको भी मैंने दिलचस्पी से पढा। राजनैतिक और आर्थिक बुराइयो को दूर करने और नि शस्त्रीकरण की समस्या हल करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कान्फ्रेन्सो की बारबार नाकामयाबी से मुझे अपने यहाँ की साम्प्रदायिक समस्या की—जोकि छोटी-सी लेकिन काफी तकलीफ-देह है—बरबस याद आ गई। अधिक-से-अधिक सद्भावना के होते हुए भी हम अभीतक इस समस्या को हल नही कर सके है, और यह व्यापक विश्वास होते हुए भी कि अगर यूरोप और अमेरिका के राजनीतिज्ञ अपनी समस्याओ को सुलझाने मे विफल होगे तो एक ससार-व्यापी आपत्ति आ जायगी, वे उन्हे हल नही कर पाये है। दोनो उदाहरणो में समस्या को हल करने का तरीका गलत रहा है, और सम्बन्धित लोग सही रास्ते जाने से डरते रहे है।

ससार की मुसीबतो और सघर्षो का विचार करते हुए, मै किसी हद तक अपनी व्यक्तिगत और राष्ट्रीय मुसीबतो को भी भूल गया। कभी-कभी मुझे इस बात पर बडी खुशी होती थी कि ससार के इतिहास के इस क्रान्तिकारी युग मे मै भी जीवित हूँ। शायद दुनिया के इस कोने मे, जहाँ मैं हूँ, मुझे भी उन आनेवाली तबदी-लियो के लाने मे कुछ थोडा-सा हिस्सा लेना पड़ेगा। कभी-कभी मुझे सारी दुनिया मे

सघर्ष और बल-प्रयोग का वातावरण बडा उदास बना देता था। इससे भी खराब यह दृश्य था कि पढे-लिखे स्त्री-पुरुष भी मानवी पतन और गुलामी को देखते-देखते उसके इतने आदी हो गये है कि उनके दिमाग अब कष्ट-सहन, गरीबी और अमानुषिकता का विरोध भी नही करते। दम घोटनेवाले इस नैतिक वातावरण मे शोरगुल मचानेवाला ओछापन और सगठित पाखण्ड फल-फूल रहा है, और भले लोग चुप्पी साधे बैठे है। हिटलर की विजय और उसके बादके 'भूरे आतक-वाद' ने मुझे बडा आघात पहुँचाया, हालाकि मैने अपने दिल को तसल्ली दे ली कि यह सब चन्दरोजा ही हो सकता है। यह देखकर मन मे ऐसी-सी भावना आ जाती थी, कि इन्सान की कोशिशे बेकार है। जबकि मशीन अन्धाधुन्ध चल रही हो, तब उसमें पहिये का एक छोटा-सा दाँत बेचारा क्या कर सकता है?

फिर भी, जीवन-सम्बन्धी कम्यूनिस्ट तत्त्वज्ञान से मुझे शान्ति और आशा मिली। तो इसका हिन्दुस्तान में कैसे प्रयोग हो सकता है? हम तो अभीतक राजनैतिक स्वतन्त्रता की समस्या को भी हल नही कर पाये है, और हमारे दिमागो मे राष्ट्रवाद ही बैठा हुआ है। क्या हम इसके साथ-ही-साथ आर्थिक स्वतन्त्रता की तरफ भी कूद पडे, या इन दोनो को बारी-बारी से हाथ मे ले, फिर चाहे इनके बीच मे अन्तर कितने ही थोडे समय का क्यों न हो? ससार की घटनाये और हिन्दुस्तान के भी वाकयात सामाजिक समस्या को सामने ला रहे है, और मुझे लगा कि अब राजनैतिक आजादी उससे अलहदा नही रक्खी जा सकती।

हिन्दुस्तान मे ब्रिटिश सरकार की नीति का यह नतीजा हुआ है कि राजनैतिक आजादी के मुकाबिले मे सामाजिक प्रतिगामी वर्ग खडे हो गये है। यह लाजिमी ही था, और हिन्दुस्तान मे मुख्तलिफ वर्गो और समुदायो के ज्यादा साफ तौर पर अलग-अलग दिखाई दे जाने को मैने पसन्द किया। लेकिन मै सोचता था कि क्या इसको दूसरे लोग भी अच्छा समझते है? जाहिर है कि बहुत लोग नही। यह सही है कि कई बडे शहरो मे मुट्ठीभर कट्टर कम्यूनिस्ट लोग है, और वे राष्ट्रीय आन्दोलन के विरोधी है और उसकी सख्त नुक्ताचीनी करते है। खासकर बम्बई मे, और कुछ हदतक कलकत्ते मे, सगठित मजदूर भी समाजवादी है, मगर ढीले-ढाले ढग के। उनमें भी फूट पडी हुई है, और वे मन्दी से दु ख पा रहे है। कम्यूनिज्म के और समाजवाद के धुधले-से विचार पढ़े-लिखे लोगो मे, और समझदार सरकारी अफसरो तक मे, फैल चुके है। कॉंग्रेस के नौजवान स्त्री और पुरुष, जो पहले लोकतन्त्र पर ब्राइस और मॉरले, कीथ और मैजिनी के विचार पढ़ा करते थे, अब अगर उन्हें किताबें मिल जाती है तो कम्यूनिज्म और रूस पर साहित्य पढ़ते है। मेरठ-षड्यन्त्र-केस

ने लोगो का ध्यान इन नये विचारो की तरफ फेरने मे बडी मदद दी, और ससार-व्यापी सकट-काल ने इस तरफ ध्यान देने की मजबूरी पैदा करदी। हर जगह प्रचलित सस्थाओ के प्रति शका, जिज्ञासा और चुनौती की नई स्पिरिट दिखाई देती है। मानसिक वायु की साधारण दिशा तो साफ जाहिर हो रही है, लेकिन फिर भी वह हलका-सा झोका ही है जिसको अपने-आप पर अभी कोई विश्वास नही है। कुछ लोग फासिस्ट विचारो के आसपास मँडराते है। लेकिन कोई भी साफ और निश्चित आदर्श नही है। अभीतक तो राष्ट्रीयता ही यहांकी प्रमुख विचारधारा है।

मुझे यह तो साफ मालूम हुआ, कि जबतक किसी हद तक राजनैतिक आजादी न मिल जायगी तबतक राष्ट्रीयता ही सबसे बडी प्रेरक-भावना रहेगी। इसी कारण कॉंग्रेस हिन्दुस्तान मे सबसे ज्यादा ताकतवर सस्था होने के साथ ही सबसे आगे बढी हुई सस्था भी रही है, और अब भी (कुछ खास मजदूर दायरो को छोडकर) है। पिछले तेरह बरसो मे, गाधीजी के नेतृत्व मे, इसने जनता मे आश्चर्यजनक जागृति पैदा कर दी है और इसके अस्पष्ट मध्यम-वर्गी आदर्श के होते हुए भी इसने एक क्रान्तिकारी काम किया है। अबतक भी इसकी उपयोगिता खतम नही हुई है, और हो भी नही सकती, जबतक कि राष्ट्रवादी प्रेरणा की जगह समाज-वादी प्रेरणा न आ जाय। भविष्य की प्रगति—आदर्श-सम्बन्धी भी और कार्य-सम्बन्धी भी—अब भी कॉंग्रेस के द्वारा ही होगी, हालाकि दूसरे रास्तो से भी काम लिया जा सकेगा।

इस तरह मुझे कॉंग्रेस को छोड देना, राष्ट्र की आवश्यक प्रेरक-शक्ति से अलग हो जाना, अपने पास के सबसे जबरदस्त हथियार को कुन्द कर देना, और एक बेकार के साहस में अपनी शक्ति बरबाद करना मालूम हुआ। लेकिन फिर भी, क्या कॉंग्रेस, अपनी मौजूदा स्थिति को रखते हुए, कभी भी वास्तव मे मौलिक सामाजिक हल को अपना सकेगी? अगर उसके सामने ऐसा सवाल रख दिया जाय, तो उसका नतीजा यही होगा कि उसके दो या ज्यादा टुकडे हो जायँगे, या कम-से-कम बहुत लोग उससे अलग हो जायँगे। ऐसा हो जाना भी अवाञ्छनीय या बुरा न होगा, अगर समस्याये ज्यादा साफ हो जायँ, और कॉंग्रेस मे एक दृढ-सगठित दल, चाहे वह बहुमत मे हो या अल्पमत मे हो, एक मौलिक समाजवादी कार्यक्रम को लेकर खडा हो जाय।

लेकिन इस वक्त तो कॉंग्रेस के मानी है गाधीजी। वह क्या करना चाहेगे? विचारधारा की दृष्टि से कभी-कभी वह आश्चर्यजनक रूप से पिछडे हुए रहे है, लेकिन फिर भी काम और व्यवहार के खयाल से वह हिन्दुस्तान मे इस वक्त के सबसे ज्यादा क्रान्तिकारी रहे है। वह एक अनोखे व्यक्ति है, और उन्हे मामूली पैमानो से नापना या उनपर तर्कशास्त्र के मामूली नियम लगाना भी मुमकिन नही है। लेकिन चूँकि

वह तह मे क्रान्तिकारी है और हिन्दुस्तान के लिए राजनैतिक स्वतन्त्रता की प्रतिज्ञा किये हुए है, इसलिए जबतक वह स्वतन्त्रता मिल नही जाती तबतक तो वह इसमे अटल रहकर ही अपना काम करेगे और इसी तरह कार्य करते हुए वह जनता की प्रचण्ड-कार्य शक्ति को जगा देगे, और, मुझे आधी-सी उम्मीद थी कि वह खुद भी सामाजिक ध्येय की तरफ एक-एक कदम आगे बढते चलेगे।

हिन्दुस्तान के और बाहर के कट्टर कम्यूनिस्ट पिछले कई बरसो से गाधीजी और कॉग्रेस पर भयकर हमले करते रहे है, और उन्होने कॉग्रेस-नेताओ पर सब तरह की दुर्भावनाओ के आरोप लगाये है। काँग्रेस की विचार-धारा पर उनकी बहुत-सी सैद्धान्तिक समालोचना योग्यतापूर्ण और स्पष्ट थी, और बाद की घटनाओ से वह किसी हदतक सही भी साबित हुई। हिन्दुस्तान की साधारण राजनैतिक हालत के बारे मे कम्यूनिस्टो के शुरू के कुछ विश्लेषण बहुत-कुछ सही निकले। मगर जब वह आम उसूलो को छोड़कर तफसीलो मे आते है, और खासकर जब वह देश मे काँग्रेस के महत्व पर विचार करते है, तो वे बुरी तरह भटक जाते है। हिन्दुस्तान मे कम्यूनिस्टो की तादाद और असर कम होने का एक सबब यह भी है कि कम्यूनिज्म का वैज्ञानिक ज्ञान फैलाने और लोगो के दिमागो मे उसका विश्वास जमाने की कोशिश करने के बजाय उन्होने दूसरो को गालियाँ देने मे ही ज्यादातर अपनी ताकत लगाई है। इसका उन्ही-पर उलटा असर पड़ा है, और उन्हे नुकसान पहुँचा है। इनमे से ज्यादातर लोग मजदूरो के हलको मे काम करने के आदी है, जहाँ कि मजदूरो को अपनी तरफ मिला लेने के लिए सिर्फ थोड़े-से नारे ही काफी होते है। लेकिन पढे-लिखे लोगो के लिए तो सिर्फ नारे ही काफी नही हो सकते और उन्होने इस बात को महसूस नही किया है कि आज हिन्दुस्तान मे मध्यम-वर्ग का पढा-लिखा दल ही सबसे ज्यादा क्रान्ति-कारी शक्ति है। कट्टर कम्यूनिस्टों के प्राय. कोशिश न करने पर भी कई पढे-लिखे लोग कम्यूनिज्म की तरफ खिच आये है, लेकिन फिर भी उनके बीच मे एक खाई है।

कम्यूनिस्टो की राय के मुताबिक, काँग्रेस के नेताओ का लक्ष्य रहा है, सरकार पर आम लोगो का दबाव डालना और हिन्दुस्तान के पूँजीवादियो और जमीदारो के हित के लिए कुछ औद्योगिक और व्यापारिक सुविधाये हासिल कर लेना। उनका मत है कि काँग्रेस का काम है—"किसानो, निचले मध्यम-वर्ग और कारखानो के मजदूर-वर्ग के आर्थिक और राजनैतिक असंतोष को बम्बई, अहमदाबाद और कलकत्ते के मिल-मालको और लखपतियो की गाड़ी के सामने खडा कर देना।" यह खयाल किया जाता है कि हिन्दुस्तानी पँजीपति टट्टी की ओट में छिपे हुए काँग्रेस-कार्य-समिति को हुक्म

देते है कि पहले तो वह आम तहरीक शुरू करे, और जब वह बहुत व्यापक और भयकर हो जाय तब उसे मुल्तवी करदे, या किसी छोटी-मोटी बात पर खत्म करदे। और, कॉंग्रेस के नेता सचमुच अंग्रेजो का चला जाना पसन्द नही करते, क्योकि भूखी जनता का शोषण करने के लिए आवश्यक नियन्त्रण करने को उनकी जरूरत है, और मध्यम-वर्ग अपने मे यह काम करने की काबलियत नही मानता।

यह ताज्जुब की बात है कि कम्यूनिस्ट इस अजीब विश्लेपण पर यकीन रखते है। लेकिन चूँकि जाहिरा उनका विश्वास इसीपर है इसीलिए, आश्चर्य नही कि, वे हिन्दुस्तान मे इतनी बुरी तरह से असफल हुए है। उनकी बुनियादी गलती यह मालूम होती है कि वे हिन्दुस्तान के राष्ट्रीय आन्दोलन को यूरोपियन मजदूरो के पैमानो से नापते है, और चूँकि उन्हे यह देखने का अभ्यास है कि बार-बार मजदूर-नेता मजदूर-आन्दोलन के साथ गद्दारी करते रहे है, इसलिए वे उसी मिसाल को हिन्दुस्तान पर लगाते है। हिन्दुस्तान का राष्ट्रीय आन्दोलन, जाहिरा ही, कोई मजदूरो या श्रमिको का आन्दोलन नही है। जैसा कि उसके नाम से ही प्रकट होता है, वह एक मध्यम-वर्गी आन्दोलन है और अभीतक उसका मकसद समाज-व्यवस्था को बदलना नही बल्कि राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करना ही रहा है। इसपर कहा जा सकता है कि यह मकसद काफी बडा नही है, और राष्ट्रीयता भी आजकल के जमाने मे पिछड़ा हुआ वाद कहला सकता है। लेकिन आन्दोलन के मौलिक आधार को मानते हुए यह नही कहा जा सकता कि नेता लोग भूमि-प्रणाली या पूंजीवादी निज़ाम को उलट देने की कोशिश ही नही करते। इसलिए वे जनता के साथ विश्वास-घात करते है, क्योकि उन्होने ऐसा करने का कभी दावा ही नही किया। हाँ, कॉंग्रेस मे कुछ लोग ऐसे जरूर है, और उनकी तादाद बढती जा रही है, जो भूमि-प्रणाली और पूंजीवादी व्यवस्था को बदल देना चाहते है, लेकिन वे कॉंग्रेस के नाम पर नही बोल सकते।

यह सच है कि हिन्दुस्तान के पूंजीवादी वर्गो ने (बड़े-बडे जमीदारो या ताल्लुकेदारो ने नही) ब्रिटिश और दूसरे विदेशी माल के बहिष्कार और स्वदेशी के बढावे के कारण राष्ट्रीय आन्दोलन से बडा फायदा उठाया है। लेकिन, यह तो लाजिमी ही था, क्योकि हर राष्ट्रीय आन्दोलन देश के उद्योग-धधो को बढावा देता है, और दूसरो का बहिष्कार कराता है। लेकिन, असल मे, बम्बई के मिल-मालिको ने तो सविनय भग के चालू रहने के वक्त ही और जबकि हम ब्रिटिश माल के बहिष्कार का प्रचार करते रहे थे तभी एक नावाजिब तरीके से लकाशायर से एक समझौता करने का भी दु साहस कर डाला था। कॉंग्रेस की निगाह मे यह राष्ट्र के साथ भारी विश्वासघात था, और यही नाम उसको दिया भी गया था। असेम्बली मे बम्बई के मिल-मालिको के नुमाइन्दो ने,

जबकि हममे से ज्यादातर लोग जेल मे थे, लगातार कांग्रेस और 'अति-वादी' यानी गरम दल के लोगो की निन्दा की थी ।

पिछले कुछ वरसो मे कई पूजीपति-दलो ने हिन्दुस्तान मे जो-जो काम किये है वे कांग्रेस की और राष्टीय दृष्टि से भी कलक-रूप है । ओटावा के समझौते से शायद कुछ लोगो को फायदा हो गया होगा, लेकिन हिन्दुस्तान के सारे उद्योग-धधो की दृष्टि से वह बुरा था, और उससे वे ब्रिटिश पूजी और कारखानो की ज्यादा अधीनता मे आ गये। वह समझौता जनता के लिए हानिकर था, और तब किया गया था जबकि हमारी लडाई चालू थी और कई हजार लोग जेलो मे थे । हर उपनिवेश ने इग्लैण्ड से अपनी सख्त-से-सख्त शर्तें मनवा ली, लेकिन हिन्दुस्तान को तो मानो उससे अपनेको करीब-करीब लुटा देने का सौभाग्य ही मिल गया। पिछले कुछ वरसो मे कुछ बड़े धनियो ने हिन्दुस्तान को नुकसान मे डालकर भी सोने और चांदी का व्यापार किया है ।

और बड़े-बड़े ज़मीदार और ताल्लुकेदार तो गोलमेज़-कान्फ्रेन्स मे कांग्रेस के बिलकुल खिलाफ ही खड़े हो गये थे, और ठीक सविनय भग के दर्म्यान उन्होने खुले तौर पर और आगे बढ़कर अपने-आपको सरकार की तरफ घोषित कर दिया था। इन्ही लोगो की मदद से सरकार ने भिन्न-भिन्न प्रान्तो मे उन दमनकारी कानूनो को पास किया, जिनका समावेश आर्डिनेन्सो मे हो जाता था । और युक्तप्रान्त की कौंसिल मे ज्यादातर जमीदार मेम्बरो ने सविनय भग के कैदियो की रिहाई के खिलाफ राय दी थी ।

यह खयाल भी बिलकुल गलत है कि, गाधीजी ने १९२१ और १९३० मे तेज दीखनेवाले आन्दोलन मजबूरन जनता का जोर पड़ने से ही चालू किये थे । बेशक, आम जनता मे हलचल थी, लेकिन दोनो आन्दोलनो मे कदम गाधीजी ने ही आगे बढ़ाया था । १९२१ मे वह करीब-करीब अकेले ही सारी कांग्रेस की डोर हिलाते थे और उसे असहयोग के रास्ते चढा ले गये थे । १९३० मे भी अगर उन्होने किसी तरह भी विरोध किया होता, तो कोई भी तेज और परिणामकारी सीधी लड़ाई का आन्दोलन हरगिज़ न उठ सकता था ।

यह बडी बदकिस्मती की बात है कि मूर्खतापूर्ण और बिना जानकारी के व्यक्तिगत नुक्ताचीनी की जाती है, क्योकि उससे ध्यान असली सवालो से दूसरी तरफ हट जाता है । गाधीजी की ईमानदारी पर हमला करने से तो अपने-आपका और अपने काम का ही नुकसान होता है, क्योकि हिन्दुस्तान के करोडो आदमियो के लिए तो वह सत्य के ही मूर्त-रूप है, और उन्हे जो कोई पहचानते है वे जानते है कि वह हमेशा सही काम करने के लिए कितने व्याकुल रहते है ।

हिन्दुस्तान मे कम्यूनिस्टो का ताल्लुक बडे शहरो के कारखानो के मजदूरो के साथ ही रहा है। देहाती हलको की जानकारी या सम्पर्क उनके पास नही है। हालाकि कारखानो के मजदूरो का भी एक महत्व है. और भविष्य मे और भी उनका ज्यादा महत्व होगा, लेकिन उनका किसानो के सामने दूसरा ही दर्जा रहेगा, क्योकि हिन्दुस्तान मे आज तो किसानो की समस्या ही मुख्य है। इधर कॉग्रेस-कार्यकर्त्ता उन देहाती हलको मे सब दूर फैल चुके है, और समय पर अपने-आप कांग्रेस किसानो का एक बडा सगठन बन जायगी। अपना निकट-लक्ष्य प्राप्त करने के बाद किसान कभी भी क्रान्तिकारी नही रहते और यह मुमकिन है कि भविष्य मे किसी वक्त शहर बनाम देहात और कारखानो के मजदूर बनाम किसान की सामान्य समस्या हिन्दुस्तान मे भी खडी हो जाय।

मुझे कॉंग्रेस के बहुत-से नेताओ और कार्यकर्त्ताओ के गहरे सम्पर्क मे आने का सौभाग्य मिला है, और इनसे ज्यादा अच्छे स्त्री-पुरुषो की मे ख्वाहिश भी नही कर सकता था। लेकिन फिर भी जरूरी सवालो मे मेरा उनसे मतभेद रहा है, और कई बार मै यह देखकर उक्ता गया हूँ कि जो बात मुझे साफ-सी दिखाई देती है उसकी वे कद्र भी नही कर सकते या उसे समझ भी नही सकते। इसका सबब अक्ल की कमी नही है, बल्कि इसका मतलब यह है कि हम विचारो की अलग अलग पगडडियो पर चल रहे है। मैने महसूस किया कि इन सीमाओ को अचानक पार कर जाना कितना मुश्किल है। इनमे जीवन-सम्बन्धी तत्त्वज्ञान ही भिन्न-भिन्न है, और वह हमे धीरे-धीरे और अनजान मे प्रभावित करता रहता है। परस्पर एक-दूसरे दल को दोष देना फजूल है। समाजवाद के लिए जीवन और उसकी समस्याओ पर एक खास मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण होने की जरूरत है। वह केवल युक्तिवाद से कुछ अधिक है। इसी तरह, दूसरे दृष्टिकोण भी परम्परा, शिक्षण और भूत और वर्तमान परिस्थितियो के अज्ञात प्रभाव पर आधारित है। जीवन की कठिनाइयो और उसके कडुवे अनुभव ही हमे नये रास्तो से चलने को मजबूर करते है, और अन्त मे, जोकि इससे बहुत ज्यादा कठिन काम है, हमारा दृष्टिकोण बदल देते है। सम्भव है इस प्रक्रिया मे हम भी थोडे सहायक हो सके और शायद—

"मनुष्य अपने भवितव्य पर उसी मार्ग से पहुँच जाता है जिसपर वह उससे बचने के लिए चलता है।"[१]

१. ला फौंतेन के निम्नलिखित फ्रेञ्च उद्धरण का यह अनुवाद है:—

"On rencontre sa destine'e
Souvent par les chemins q'on prend pour l'e'viter"

४७

मज़हब क्या है ?

सितम्बर १९३२ के मध्य मे एक अचानक और बडी चिन्ताजनक घटना से जेल के हमारे शान्तिपूर्ण और एक-ढर्रे के जीवन मे खलबली मच गई। ख़बर आई कि मि० रेम्जे मैकडोनल्ड के साम्प्रदायिक 'निर्णय' मे दलित जातियो को जुदागाना चुनाव दिये जाने के विरोध मे गाधीजी ने 'आमरण अनशन' करना तय किया है। लोगो को अचानक आघात देने की उनमे कितनी क्षमता है ? सहसा सभी तरह के खयाल मेरे दिमाग मे आने लगे, सब तरह की होनहार और सम्भावनाये मेरे सामने आने लगी, और उन्होने मेरे चित्त को बिलकुल उद्विग्न कर दिया। दो दिन तक मुझे बिलकुल अँधेरा-ही-अँधेरा दिखाई दिया, और कोई रास्ता नही सूझा। जब मै गाधीजी के काम के कुछ नतीजो का खयाल करता तो मेरा दिल बैठ जाता था। उनके प्रति मेरी व्यक्तिगत भावना काफ़ी प्रबल थी, और मुझे ऐसा लगता था कि अब शायद मै उन्हे नही देख सकूगा। इस खयाल से मुझे बहुत ही पीडा होती थी। आख़िरी दफा करीब एक साल से कुछ ज्यादा पहले मैने उन्हे इग्लैण्ड जाते वक्त जहाज पर देखा था। क्या अब मै उन्हे न देख सकूँगा ?

और फिर मुझे उनपर झुंझलाहट भी आई कि उन्होने अपनी आखिरी कुरबानी के लिए एक छोटा-सा, सिर्फ चुनाव का, मामला लिया है। हमारे आज़ादी के आन्दोलन का क्या होगा ? क्या अब, कम-से-कम थोडे वक़्त के लिए ही सही, बडे सवाल पीछे नही पड़ जायँगे ? और, अगर वह अपनी अभी की बात पर कामयाब भी हो जायँगे, और दलित जातियो के लिए सम्मिलित चुनाव प्राप्त भी कर लेगे, तो क्या इससे एक प्रतिक्रिया न होगी, और यह भावना न फैल जायगी कि कुछ-न-कुछ तो हासिल कर ही लिया गया है, और थोड़े वक़्त तक अब कुछ भी न करना चाहिए ? और क्या उनके इस काम के यह मानी नही है कि वह साम्प्रदायिक 'निर्णय' को मानते और सरकार की तैयार की हुई आम तजवीज को किसी हद तक मजूर करते है ? क्या यह असहयोग और सविनय भग से सुसगत है ? इतने बलिदान और साहस-पूर्ण प्रयत्न के बाद क्या हमारा आन्दोलन इस मामूली प्रश्न पर आकर अटक जायगा ?

उनके राजनैतिक सवाल को धार्मिक और भावुकतापूर्ण दृष्टिकोण से देखने और उसके मुताबिक बारबार ईश्वर का नाम लेने से मुझे उनपर गुस्सा भी आया।

उनके कहने से तो ऐसा मालूम पडता था कि शायद ईश्वर ने उन्हे अनशन की तारीख तक सुझा दी थी। ऐसी मिसाल पेश करना कितना खतरनाक होगा !

और अगर बापू मर गये ! तो, हिन्दुस्तान की क्या हालत हो जायगी ? मुझे भविष्य सूना और उदास दीखने लगा, और जब मैं उसपर विचार करता था तो मेरे दिल मे एक निराशा छा जाती थी।

इस तरह मैं लगातार विचारो ही विचारो मे डूबता रहा। मेरे दिमाग मे गडबडी मच गई, और गुस्सा, निराशा और जिस व्यक्ति ने इतनी बडी उथल-पुथल पैदा कर दी उसके प्रति प्रेम से वह सराबोर हो गया। मुझे नही सूझता था कि मैं क्या करूं, और सबसे ज्यादा अपने-आपके प्रति मैं चिडचिडा और बद-मिजाज हो गया।

और फिर मुझमे एक अजीब बात हुई। मुझपर भावनाओ का ऐसा दौर शुरू हुआ कि एक सकट-काल ही आ उपस्थित हुआ, पर अन्त मे जाकर मुझे कुछ शान्ति मालूम हुई, और भविष्य भी इतना अन्धकार-पूर्ण दिखाई नही दिया। बापू मे ऐन मौके पर ठीक काम कर डालने की अजीब सूझ थी, और मुमकिन है कि उनके इस काम के भी—जो मेरे दृष्टि-बिन्दु मे बिलकुल असमर्थनीय था—कोई बडे नतीजे हो, और वह केवल उसी काम के छोटे-से सीमित क्षेत्र मे नही बल्कि हमारी राष्ट्रीय लडाई के व्यापक स्वरूपो मे भी। और अगर बापू मर भी गये, तो भी हमारी स्वतत्रता की लडाई चलती रहेगी। इसलिए कुछ भी नतीजा हो, इन्सान को हर हालत के लिए तैयार और मुस्तैद रहना चाहिए। अपने दिमाग को गाधीजी की मृत्यु तक बरदाश्त करने के लिए बिना हिचकिचाहट के तैयार करके मैंने शान्ति और धैर्य धारण किया, और दुनिया और दुनिया की हर घटना का सामना करने को तैयार हो गया।

इसके बाद सारे देश मे एक भयकर उथल-पुथल मचने, हिन्दू-समाज मे उत्साह की एक जादूभरी लहर आ जाने की खबरे आईं, और मालूम होने लगा कि अस्पृश्यता का अब खात्मा ही होनेवाला है। मैं सोचने लगा कि यरवडा-जेल मे बैठा हुआ यह छोटा-सा आदमी कितना बडा जादूगर है, और लोगो के दिलो मे खलबली मचा देनेवाली डोर हिलाना वह कितनी अच्छी तरह जानता है !

उनका एक तार मुझे मिला। मेरे जेल आने के बाद यह उनका पहला ही सदेश था, और इतने लम्बे अर्से के बाद उनका यह तार मिलने से मुझे लाभ ही हुआ। इस तार मे उन्होने लिखा —

"इन वेदना के दिनों में मुझे हमेशा तुम्हारा ध्यान रहा है। तुम्हारी राय जानने को मैं बहुत ज्यादा उत्सुक हूँ। तुम्हें मालूम है, मैं तुम्हारी राय

की कितनी क़दर करता हूँ। मैंने इन्दु (और) सरूप के बच्चों को देखा। इन्दु खुश और कुछ तगड़ी दीखती थी। तबीयत बहुत ठीक है। तार से जवाब दो। स्नेह।"

यह एक असाधारण बात थी, लेकिन उनके स्वभाव के अनुसार ही थी, कि उन्होंने अपने अनशन की पीडा और अपने काम-काज के बीच भी मेरी लड़की और मेरी बहन के बच्चो के आने का जिक्र किया, और यह भी लिखा कि इन्दिरा तगडी हो गई है। उस वक्त मेरी बहन भी पूना की जेल म थी, और ये सब बच्चे पूना के स्कूल मे पढते थे। वह जीवन मे छोटी दीखनेवाली बातो को कभी नही भूलते, जिनका वास्तव मे बडा महत्व भी होता है।

ठीक उसी वक्त मुझे यह खबर भी मिली कि चुनाव के सवाल पर कोई समझौता भी हो गया है। जेल के सुपरिन्टेण्डेण्ट ने महरबानी करके मुझे गाधीजी को जवाब भेजने की इजाजत दे दी, और मैंने उन्हे यह तार भेजा —

"आपके तार और यह संक्षिप्त समाचार मिलने से कि कोई समझौता हो गया है, मुझे बड़ी राहत और खुशी हासिल हुई। पहले तो आपके अनशन के निश्चय से मानसिक क्लेश और बड़ी दुविधा पैदा हुई, पर आख़िरमे आशावाद की विजय हुई और मुझे मानसिक शान्ति मिली। पद-दलित वर्गों के लिए बड़े-से-बड़ा बलिदान भी कम ही है। स्वतन्त्रता की कसौटी सबसे छोटे की स्वतन्त्रता से करनी चाहिए, मगर मुझे यह ख़तरा मालूम होता है कि कहीं हमारे एक-मात्र लक्ष्य को दूसरे सवालात ढक न ले। मैं धार्मिक दृष्टिकोण से निर्णय करने में असमर्थ हूँ। यह भी ख़तरा है कि दूसरे लोग आपके तरीकों का दुरुपयोग करेंगे। लेकिन एक जादूगर को मैं कैसे सलाह दे सकता हूँ? स्नेह।"

पूना मे जमा हुए भिन्न-भिन्न लोगो ने एक समझौते पर दस्तखत किये, और ब्रिटिश प्रधानमन्त्री ने उसे चटपट मंजूर कर लिया और उसके मुताबिक अपना पिछला 'निर्णय' बदल दिया, और अनशन तोड दिया गया। मैं ऐसे समझौतो और इकरारनामो को बहुत नापसन्द करता हूँ, लेकिन पूना के समझौते मे क्या-क्या तय हुआ इसका ख़याल न करते हुए भी मैंने उसका स्वागत किया।

उत्तेजना खत्म हो चुकी थी, और हम जेल के अपने मामूली कार्यक्रम मे लग गये। हरिजन-आन्दोलन और जेल मे से गाधीजी की प्रवृत्तियो की ख़बरे हमे मिलती रहती थी। लेकिन उनसे मुझे खुशी नही होती थी। इसमे शक नही कि अछूतपन को मिटाने और दुखी दलित जातियो को उठाने के आन्दोलन को उससे बडे गजब का

बढावा मिला, लेकिन वह समझौते के कारण नही, बल्कि देशभर मे जो एक जेहादी जोश फैल गया था उसके कारण। यह तो अच्छी बात थी। लेकिन इसीके साथ-साथ यह भी साफ जाहिर था कि इससे सविनय भग को नुकसान पहुँचा । देश का ध्यान दूसरे सवालो पर चला गया, और काग्रेस के कई कार्यकर्ता हरिजन-कार्य मे लग गये। शायद उनमे से ज्यादातर लोग कम खतरे के कामो मे लगने का बहाना चाहते ही थे, जिनमे जेल जाने, या इससे भी ज्यादा, लाठी खाने और सम्पत्ति जब्त कराने का डर न हो । यह कुदरती ही था, और हमारे हजारो कार्यकर्ताओ मे से हरेक से यह उम्मीद करना ठीक भी न था कि वह गहरे कष्ट-सहन और अपने परिवार के भग और नाश के लिए हमेशा तैयार रहे। लेकिन हमारे बडे आन्दोलन का इस तरह धीरे-धीरे ह्रास होना देखकर दिल मे दर्द होता था। फिर भी, सविनय भग तो चलता ही रहा, और मौके-मौके पर मार्च-अप्रैल १९३३ की कलकत्ता-काग्रेस जैसे बडे-बडे प्रदर्शन हो ही जाते थे। गाधीजी यरवडा-जेल मे थे, मगर उन्हे लोगो से मिलने और हरिजन-आन्दोलन के मुताबिक हिदायते भेजने की कुछ सुविधाये मिल गई थी। कुछ भी हो, इससे उनके जेल मे रहने की तीक्ष्णता कम हो गई थी। इन सब बातो से मुझे बडी उदासी हुई।

कई महीने बाद, मई १९३३ मे, गाधीजी ने अपना इक्कीस दिन का उपवास शुरू किया। इसकी खबर से भी पहले तो मुझे बडा धक्का लगा, लेकिन होनहार ऐसा ही था, यह समझकर मैंने उसे मजूर कर लिया और अपने दिल को समझा लिया। वास्तव मे मुझे उन लोगो पर ही झूँझल आई जो उनपर उपवास का निश्चय कर लेने और घोषित कर देने के बाद उसे छोड देने का जोर डाल रहे थे । उपवास मेरी तो समझ के बाहर था और निश्चय कर लेने के पहले अगर मुझसे पूछा जाता तो मै जोर से उसके खिलाफ राय देता, लेकिन मै गाधीजी की प्रतिज्ञा का बडा महत्व समझता था, और किसी भी व्यक्ति के लिए मुझे यह गलत मालूम होता था कि वह किसी भी व्यक्तिगत मामले मे, जिसे वह सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण समझते थे, उनकी प्रतिज्ञा को तुडवाने की कोशिश करे। इस तरह हालाकि मै खिन्न था, फिर भी उसको गवारा करता रहा।

अपना उपवास शुरू करने से कुछ दिन पहले उन्होने मुझे अपने खास ढग का एक पत्र भेजा, जिससे मेरा दिल बहुत हिल गया । चूकि उन्होने जवाब माँगा था, इसलिए मैने निम्नलिखित तार भेजा —

"आपका खत मिला । जिन मामलों को मैं नही समझता उनके बारे में मैं क्या कह सकता हूँ ? मैं तो एक बेगाने देश में, जहाँ आप ही एक-

मात्र परिचित मीनार की तरह हैं, अपना कहीं पता ही नहीं पाता हूँ; अँधेरे में अपना रास्ता टटोलता हूँ, लेकिन ठोकर खाकर गिर जाता हूँ। नतीजा जो कुछ हो, मेरा स्नेह और मेरे विचार हमेशा आपके साथ होंगे।"

एक ओर उनके कार्य को मैं बिलकुल नापसन्द करता था, और दूसरी ओर उन्हे आघात न पहुँचाने की भी मेरी इच्छा थी। इस द्वन्द्व का मुझे सामना करना पडा था। मगर फिर भी मैंने महसूस किया कि मैंने उन्हे प्रसन्नता का सदेश नही भेजा, और अब जब कि वह अपनी भयकर अग्नि-परीक्षा मे से, जिसमे उनकी मृत्यु भी हो सकती थी, गुजरने का निश्चय कर ही चुके हैं, तो मुझे चाहिए कि मुझसे जितना बन सके उतना मैं उन्हे प्रसन्न बनाऊँ। छोटी-छोटी बातो का भी मन पर बडा असर होता है, और उन्हे जीवन बनाये रखने के लिए अपना सारा मनोबल लगा देना पडेगा। मुझे ऐसा भी लगा कि अब जो कुछ भी होकर रहे, चाहे दुर्भाग्य से उनकी मृत्यु भी हो जाय तो उसे भी कडे दिल से बरदाश्त कर लेना चाहिए। इसलिए मने उन्हे दूसरा तार भेजा —

"अब तो जब आपने अपना जोखों का काम शुरू कर ही दिया है, तो मैं फिर अपना स्नेह और अभिनन्दन आपको भेजता हूँ, और मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि अब मुझे यह ज्यादा साफ़ तौर पर दिखाई देता है कि जो कुछ होता है वह अच्छा ही होता है, और कुछ भी नतीजा हो, आपकी विजय ही है।"

उनका उपवास पूरा हो गया और वह जीवित रहे। उपवास के पहले ही दिन वह जेल से रिहा कर दिये गये, और उनके कहने से छ हफ्तो के लिए सविनय भग स्थगित कर दिया गया।

मैंने देखा कि उपवास के बीच मे देश मे भावना का फिर एक उभाड़ आया। मै ज्यादा-ज्यादा सोचने लगा कि क्या राजनीति मे यह सही तरीका है ? मुझे तो लगने लगा, कि यह केवल पुनरुद्धार-वाद है और इसके सामने स्पष्ट विचार करने का तरीका बिलकुल नही ठहर सकता। सारा हिन्दुस्तान, या उसका ज्यादातर हिस्सा, सम्मान से महात्माजी की तरफ निगाह गडाये हुए था, और उनसे उम्मीद करता था कि वह चमत्कार-पर-चमत्कार करते चले जायँ, अस्पृश्यता का नाश कर दे, और स्वराज्य हासिल करले, इत्यादि, और खुद कुछ भी न करे। गाधीजी भी दूसरो को विचार करने के लिए प्रोत्साहित नही करते थे, उनका जोर पवित्रता और बलिदान पर था। मुझे लगा कि हालाकि मैं गाधीजी पर बडी भावुकतापूर्ण आसक्ति रखता हूँ फिर भी मानसिक दृष्टि से मैं उनसे दूर होता चला जा रहा हूँ। अक्सर वह

अपनी राजनैतिक हलचलो मे अपनी सहज वृत्ति से, जो गलती नही करती थी, काम लेते थे। अच्छा और फायदेमन्द काम करने का उनमे स्वभावसिद्ध गुण है, लेकिन क्या राष्ट्र को तैयार करने का रास्ता श्रद्धा का ही है ? कुछ वक्त के लिए तो यह फायदेमन्द हो सकता है, मगर अन्त मे क्या होगा ?

और मैं यह नही समझ सका कि वह वर्त्तमान सामाजिक व्यवस्था को, जिसकी बुनियाद हिसा और सघर्ष पर है, कैसे मजूर कर लेते है, जैसाकि वह मजूर करते हुए दीखते है ? मेरे अन्दर जोर से सघर्ष चलने लगा, और मैं दो प्रतिस्पर्द्धी निष्ठाओ की चक्की मे पिसने लगा। मैंने जान लिया कि जब मैं जेल की चहारदीवारी से बाहर निकलूँगा, तब भविष्य मे मेरे सामने मुसीबत ही खडी मिलेगी। मुझे प्रतीत होने लगा कि मैं अकेला और निराश्रय हूँ, और हिन्दुस्तान, जिसे मैंने प्यार किया और जिसके लिए मैंने इतना परिश्रम किया, मुझे एक पराया और हड़बडाहट मे डालनेवाला देश मालूम होने लगा। क्या यह मेरा कुसूर था कि मैं अपने मुल्कवालो की स्पिरिट और विचार-प्रणाली से अपना मेल न बैठा सका ? मुझे मालूम हुआ कि अपने गहरे-से-गहरे साथियो के और मेरे बीच मे एक अप्रत्यक्ष दीवार खडी हो गई है, और उसको पार करने मे अपने-आपको असमर्थ पाकर मैं दु खी हो गया और मन मसोस कर बैठ गया। उन सब पर मानो पुरानी दुनिया ने, पुरानी विचारधाराओ, पुरानी आशाओ और पुरानी इच्छाओ की दुनिया ने अपना आवरण डाल रक्खा था। नई दुनिया का निर्माण होना तो अभी बहुत दूर था।

दो लोको के बीच भटकता,
आश्रय की कुछ आश नहीं,
मरी पडी है एक दूसरे मे
उठने की शक्ति नही।[1]

हिन्दुस्तान, सब बातो से ज्यादा, धार्मिक देश समझा जाता है, और हिन्दू और मुसलमान और सिख और दूसरे लोग अपने-अपने मतो का अभिमान रखते है, और एक-दूसरे के सिर फोडकर उनकी सचाई का सुबूत देते है। हिन्दुस्तान मे और दूसरे मुल्को मे मजहब के, और कम-से-कम मौजूदा रूप मे सगठित मजहब के, दृश्य ने मुझे भयभीत कर दिया है, मैंने उसकी कई बार निन्दा की है, और उसको जड-मूल से

१ मूल अग्रेजी पद्य निम्नप्रकार है :—

"Wandeiing between two worlds, one dead,
The other powerless to be born
With nowhere yet to rest his head"

मिटा देने तक की ख्वाहिश की है। मुझे तो प्रायः-हमेशा यही मालूम हुआ कि अन्ध-विश्वास और प्रतिगामिता, जड़ सिद्धान्त और कट्टरपन, मिथ्या-विचार और शोषण और स्थापित स्वार्थों के सरक्षण का ही नाम मजहब है। मगर यह भी मुझे अच्छी तरह मालूम है कि उसमे और भी कुछ है, उसमे कुछ ऐसी चीज भी है जो इन्सानो की गहरी आन्तरिक आकाक्षा को भी पूरा करती है। वरना उसका इतनी जबरदस्त ताकत बनना जैसाकि वह बना हुआ है कैसे मुमकिन था, और उससे बेशुमार पीडित आत्माओ को शान्ति और विश्राम कैसे मिल सकते थे ? क्या वह शान्ति सिर्फ अन्ध-विश्वास की छाया या शका के अभाव का बहाना ही था ? क्या वह वैसी ही शान्ति थी जैसी खुले समुद्र के तूफानो से बचकर किसी बन्दरगाह मे मिलती है, या उससे कुछ ज्यादा थी ? कुछ बातो मे तो सचमुच वह इससे कुछ ज्यादा ही थी।

लेकिन इसका भूतकाल कैसा भी रहा हो, आजकल का सगठित मजहब तो ज्यादातर एक खाली ढोल ही रह गया है, जिसके अन्दर कोई तत्त्व नही है। श्री जी० के० चेस्टरटन ने इसके लिए (अपने खास तरह के मजहब के लिए नही, मगर दूसरो के लिए !) भूगर्भ मे पाये जानेवाले ऐसे 'फॉसिल' की उपमा दी है, जो किसी ऐसे जानवर या सजीव वस्तु का सिर्फ ढाचामात्र है कि जिसके अन्दर से उसका अपना जीवित तत्त्व तो पूरी तरह से निकल चुका है, लेकिन जिसका ऊपरी पञ्जर रह गया है और जिसके अन्दर कोई बिलकुल दूसरी ही चीज भर दी गई है। और, अगर किसी मजहब मे कोई महत्वपूर्ण चीज रह भी गई है तो, उसपर और दूसरी हानिकर चीजो का आवरण चढ गया है।

मालूम होता है कि यही बात हमारे पूर्वी मजहबो मे, और पश्चिमी मजहबो मे भी, हुई है। चर्च आफ इग्लैण्ड एक ऐसे मजहब की मिसाल है, जो किसी भी मानी मे मजहब नही है। किसी हद तक, यही बात सारे सगठित प्रोटेस्टेण्ट मजहबो के बारे मे सही है, लेकिन इसमे सबसे आगे बढा हुआ चर्च आफ इग्लैण्ड ही है, क्योकि वह बहुत अर्से से एक सरकारी राजनैतिक महकमा बन चुका है।[१]

१. हिन्दुस्तान में चर्च आफ इंग्लैण्ड तो प्रायः सरकार से अलग मालूम ही नहीं होता है। जिस तरह ऊंचे सरकारी मुलाजिम साम्राज्यवादी सत्ता के प्रतीक हैं उसी तरह (हिन्दुस्तान के खजाने से) सरकार की तरफ़ से तनख्वाह पानेवाले पादरी और चेपलेन भी हैं। हिन्दुस्तान की राजनीति में चर्च कुल मिलाकर एक रूढ़िवादी और प्रतिगामी शक्ति रही है और आम तौर पर सुधार या प्रगति के विरुद्ध रही है। सामान्य ईसाई मिशनरी हिन्दुस्तान के पुराने इतिहास और संस्कृति से आम तौर पर बिलकुल

उसके बहुत-से अनुयायियों का चारित्र्य बेशक ऊँचे-से-ऊँचा है मगर यह मार्के की बात है कि किस तरह इस चर्च ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद की गरज को पूरा किया है, और पूँजीवाद और साम्राज्यवाद दोनों को किस तरह नैतिक और ईसाई जामा पहना दिया है। इस मजहब ने एशिया और अफ्रीका में अंग्रेजों की लुटेरी नीति का समर्थन करने की कोशिश की है, और अंग्रेजों में एक गैरमामूली और रश्क करने योग्य भावना भरदी है कि हम हमेशा ठीक ही और सही काम करते हैं। इस बडप्पन-भरी सत्कार्य-भावना को इस चर्च ने पैदा किया है या वह खुद उससे पैदा हुई है, यह मैं नहीं जानता। यूरोपियन महाद्वीप के और अमेरिका के दूसरे देश, जो इंग्लैण्ड के बराबर खुश-नसीब नहीं हुए हैं, अक्सर कहते हैं कि अंग्रेज मक्कार हैं—'परफाईड एलबियन' ना-वाकिफ होते हैं और वे यह जानने की जरा भी तकलीफ़ नहीं उठाते कि वह कैसी थी या कैसी है। ये गैरईसाइयों के पापों और कमजोरियों को दिखाते रहने में ज्यादा दिलचस्पी लेते हैं। बेशक, कई लोग इनमें बहुत ऊँचे अपवाद-रूप हुए हैं। चार्ली एण्डरूज़ से बढ़कर हिन्दुस्तान का दूसरा सच्चा दोस्त नहीं हुआ, जिनमें प्रेम और सेवा की भावना और उमडती हुई मैत्री खूब लबालब भरी हुई है। पूना के क्राइस्ट सेवा संघ में भी कुछ अच्छे अंग्रेज़ हैं जिनके मज़हब ने उन्हें दूसरों को समझना और उनकी सेवा करना, न कि अपना बडप्पन दिखाना, सिखलाया है और जो अपनी सारी बडी-बडी योग्यताओं के साथ हिन्दुस्तान की जनता की सेवा में लग गये हैं। दूसरे भी कई अंग्रेज पादरी हुए हैं, जिनको हिन्दुस्तान याद करता है।

१२ दिसंबर १६३४ को लार्ड-सभा में बोलते हुए केण्टरबरी के धर्माध्यक्ष ने १६१६ के मांटेगु चेम्सफ़ोर्ड-सुधारों की प्रस्तावना का जिक्र करते हुए कहा था कि "कभी-कभी मुझे खयाल आता है कि यह बड़ी घोषणा कुछ जल्दबाजी से कर दी गई है, और मेरा अनुमान है कि महायुद्ध के बाद एक उतावलेपन का और उदारता-पूर्ण प्रदर्शन कर दिया गया है, लेकिन जो ध्येय निश्चित कर दिया गया है उसे वापस नहीं लिया जा सकता।" यह गौर करने लायक़ बात है कि इंग्लिश चर्च का धर्माध्यक्ष हिन्दुस्तान की राजनीति के बारे में ऐसा अनुदार दृष्टिकोण रखता है। जो चीज भारतीय लोकमत के अनुसार बिलकुल ही नाकाफी समझी गई, और इसी कारण जिसके लिए असहयोग और बाद की तमाम घटनायें हुईं, उसको धर्माध्यक्ष साहब 'उतावलेपन का और उदारतापूर्ण' प्रदर्शन कहते हैं। इंग्लैण्ड के शासकवर्ग के दृष्टिकोण से यह एक सन्तोष-प्रद सिद्धान्त है, और इसमें शक नहीं कि अपनी उदारता के सम्बन्ध में उनका यह विश्वास, जो कि अविवेक की हद तक पहुँच जाता है, उनके अन्दर सन्तोष की एक सात्विक ज्योति पैदा किये बिना न रहता होगा।

यह एक पुराना ताना है। लेकिन शायद यह इलजाम तो अंग्रेजो की कामयाबी पर हसद के सबब से लगाया जाता है, और निश्चय ही कोई दूसरे मुल्क भी इंग्लैण्ड के दोष नही निकाल सकते, क्योकि उनके भी कारनामे इतने ही खराब है। जो राष्ट्र जानता हुआ भी मक्कारी करता है, उसके पास हमेशा इतना शक्ति-सग्रह नही रह सकता, जैसा कि अंग्रेजों ने बार-बार दिखलाया है; और इसमे उसके खास तरह के 'मजहब' ने जहाँ अपना स्वार्थ सधता हो वहाँ नीति-अनीति की चिन्ता करने की भावना को भोथरा करके उसे मदद दी है। दूसरी जातियो और राष्ट्रो ने अक्सर अंग्रेजो से भी बहुत खराब काम किये है, लेकिन अंग्रेजो की बराबर वे अपनी स्वार्थ-साधना को गुण बनाने मे कामयाब नही हुए है। हम सभीके लिए यह बहुत आसान है कि हम दूसरो के तिल के बराबर दोष को ताड के बराबर बता दे, लेकिन शायद इस करतब मे भी अंग्रेज ही सबसे ज्यादा बढकर है।[१]

प्रोटेस्टेण्ट-मत ने नई परिस्थिति के मुताबिक बन जाने की कोशिश की, और दोनो दुनिया का ही ज्यादा-से-ज्यादा फायदा उठाना चाहा। जहाँतक इस दुनिया का ताल्लुक था वहाँतक तो वह खूब ही कामयाब हुआ, लेकिन मजहब की दृष्टि से वह सगठित मजहब के रूप मे न घर का रहा न घाट का। और धीरे-धीरे मजहब की जगह भावुकता और व्यवसाय आ गया। रोमन केथोलिक मत इस नतीजे से बच गया। क्योकि वह पुरानी जड को ही पकडे रहा, और जबतक वह जड़ कायम रहेगी तबतक वह भी फलता-फूलता रहेगा। पश्चिम मे आज वही एक अपने सीमित अर्थ मे जिन्दा मजहब है। एक रोमन केथोलिक दोस्त ने जेल मे मेरे पास केथोलिक-मत पर कई पुस्तके और धार्मिक पत्र भेज दिये थे, और मैने उन्हे बडी दिलचस्पी से पढा था। उन्हे पढने पर मुझे लगा कि अब भी बहुत लोगो पर उसका बडा प्रभाव है। इस्लाम और प्रचलित हिन्दू-धर्म की तरह ही उससे भी सन्देह और मानसिक द्वन्द्व से राहत

१. चर्च आफ इंग्लैण्ड हिन्दुस्तान की राजनीति पर किस तरह अपना अप्रत्यक्ष असर डालता है, इसकी हाल ही में एक मिसाल मेरे देखने में आई है। ७ नवम्बर १९३४ को कानपुर में युक्तप्रान्तीय हिन्दुस्तानी ईसाई कान्फ्रेन्स में स्वागताध्यक्ष श्री ई० डी० डेविड ने कहा था कि "ईसाई की हैसियत से, हमारा यह धार्मिक कर्तव्य है कि हम सम्राट् के राजभक्त रहे, जो कि हमारे 'धर्म के संरक्षक' हैं।" लाज़िमी तौर पर इसका मतलब है हिन्दुस्तान में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का समर्थन। श्री डेविड ने आई० सी० एस०, पुलिस और सारे प्रस्तावित विधान के बारे में, जिससे उनके विचारानुसार हिन्दुस्तान के ईसाई मिशन ख़तरे में पड़ सकते हैं, इंग्लैण्ड के 'कट्टर' अनुदार लोगों की राय के साथ भी अपनी सहानुभूति ज़ाहिर की थी।

मिल जाती है और भविष्य के जीवन के बारे मे एक आश्वासन मिल जाता है, जिससे इस जीवन की कसर पूरी हो जाती है ।

मगर, मेरा खयाल है कि, इस तरह की सुरक्षितता चाहना मेरे लिए तो नामुमकिन है । मै तो खुले समुद्र को ही ज्यादा चाहता हूँ, जिसमे चाहे जितनी आँधियाँ और तूफान हो, न मुझे पर-लोक की या मौत के बाद क्या होता है इसके बारे में मुझे कोई दिलचस्पी नही है । इस जीवन की समस्याये ही मेरे दिमाग को भर देने के लिए काफी मालूम होनी है । चीनियो की परम्परागत जीवन-दृष्टि, जो कि मूलत नैतिक है लेकिन फिर भी गैर-मजहबी या नास्तिकता का रग लिये हुए है, मुझे पसन्द आती है, हालाँकि जिस तरह वह अमल मे लाई जा रही है वह मुझे पसन्द नही है । मुझे तो 'ताओ' यानी मार्ग या जीवन के पथ मे दिलचस्पी है, मै चाहता हूँ कि जीवन को समझा जाय, उसका त्याग नही बल्कि उसको अगीकार किया जाय, उसके अनुसार चला जाय, और उसको उन्नत बनाया जाय । मगर आम मजहबी दृष्टिकोण इस दुनिया से ताल्लुक नही रखता । मुझे वह स्पष्ट विचार का दुश्मन मालूम होता है, क्योकि उसकी बुनियाद सिर्फ कुछ स्थिर और अपरिवर्तनीय मतो और सिद्धान्तो को बिना चूँ-चपड किये स्वीकार कर लेने पर ही नही है, बल्कि वह मानसिक प्रवृत्ति, भावना और भावुकता पर भी आधारित है । वह, मै जिन्हे आध्यात्मिकता और आत्मा-सम्बन्धी बाते समझता हूँ, उनसे बहुत दूर है, और वह, जान-बूझकर या अनजान मे इस डर से कि शायद असलियत पूर्व-निर्धारित विचारो से मेल न खाय, असलियत से भी आँखे बन्द कर लेता है । वह सकुचित है, और दूसरी तरह की रायो या खयालात को बरदाश्त नही करता । वह आत्म-मर्यादित और अहकारपूर्ण है, और अक्सर खुदगर्जो और मौका-परस्तो को अपनेसे बेजा फायदा उठाने देता है ।

इसके मानी यह नही है कि मजहब को माननेवाले अक्सर ऊँचे-से-ऊँचे नैतिक और रूहानी ढग के लोग नही हुए है, या अभी भी नही है । लेकिन इसके यह मानी जरूर है कि अगर नैतिकता और आध्यात्मिकता को दूसरी दुनिया के पैमाने से न नापकर इसी दुनिया के पैमाने से नापना हो तो मजहबी दृष्टिकोण अवश्य ही राष्ट्रो की नैतिक और आध्यात्मिक प्रगति मे सहायता नही देता बल्कि बाधा तक डालता है । आम तौर पर, मजहब ईश्वर या परमतत्त्व की अ-सामाजिक या व्यक्तिगत खोज का विषय बन जाता है, और मजहबी आदमी समाज की भलाई की बनिस्बत अपने-आपकी मुक्ति की ज्यादा फिक्र करने लगता है । रहस्यवादी अपने अहकार से छुटकारा पाने की कोशिश करता है, और इस कोशिश मे अक्सर अहकार की ही बीमारी उसके पीछे लग जाती है । नैतिक पैमानो का ताल्लुक समाज की जरूरतो से नही रहता,

लेकिन उनका आधार पाप के निहायत गूढ आध्यात्मिक उसूलो पर हो जाता है। और, सगठित मजहब तो हमेशा स्थापित स्वार्थ ही बन जाता है, और इस तरह लाजिमी तौर पर परिवर्तन और प्रगति के लिए एक विरोधी प्रतिगामी शक्ति बनता है।

यह सुप्रसिद्ध है कि शुरू के दिनो मे ईसाई मजहब ने गुलाम लोगो को अपना सामाजिक दर्जा सुधारने मे मदद नही दी थी। ये गुलाम ही योरप के मध्यकालीन युग मे, आर्थिक परिस्थितियो के कारण, भू-स्वामियो के क्रीत-दास बन गये। मजहब का रुख, दो सौ वर्ष पहले तक (१७२७ मे), क्या था, यह अमेरिका के दक्षिणी उपनिवेशो के दास-स्वामियो को लिखे हुए बिशप आफ लन्दन के एक पत्र पर से मालूम पड सकता है।[१]

बिशप ने लिखा था कि, "ईसाई-धर्म और बाइबिल को मान लेने से नागरिक सम्पत्ति या नागरिक सम्बन्धो से उत्पन्न हुए कर्त्तव्यो मे जरा भी तबदीली नही आती, मगर इन मामलो में 'व्यक्ति' उसी 'अवस्था' में रहते हैं जिस अवस्था मे वे पहले थे। ईसाई-धर्म जो मुक्ति देता है, वह मुक्ति 'पाप' और 'शैतान के बन्धन से' और मनुष्यो के 'काम', 'क्रोध' और तीव्र 'वासना' के प्रदेश से है। मगर, उनकी बाहरी हालत बपतिस्मा दिये जाने और ईसाई बनाने से पहले जैसी गुलाम या आजाद थी उसमे वह किसी भी तरह की तबदीली नही करता।"

आज कोई भी सगठित मजहब इतने साफ ढग से अपने खयालात जाहिर न करेगा, लेकिन मिल्कियत और मौजूदा समाज-व्यवस्था की तरफ उसका रुख मुख्यत. यही होगा।

यह सभी जानते हैं कि शब्द तो अर्थ-बोध कराने के बहुत ही अपूर्ण साधन हैं, और उनका भाव अक्सर बहुत जुदा-जुदा समझा जाता है। किसी भी भाषा में भिन्न-भिन्न लोग किसी भी दूसरे शब्द का इतना भिन्न-भिन्न भावार्थ नही समझते जितना कि मजहब का (या उन भिन्न-भिन्न भाषाओ मे इसके समान किसी शब्द का)। 'मजहब' शब्द को पढने या सुनने से शायद किन्ही भी दो मनुष्यो के मन मे एक-से ही विचार या भाव-समूह पैदा नही होगे। इन विचारो या भावो मे, रिवाजो या रस्मो के, धर्म-ग्रन्थो के, मनुष्यो के एक समुदाय-विशेष के, कुछ निश्चित सिद्धान्तो के और नीति-नियमो, आदर, प्रेम, भय, घृणा, दान, त्याग, वैराग्य, उपवास, भोज, प्रार्थना,

१. यह पत्र रेनहोल्ड नेबुहर की लिखी हुई पुस्तक 'मॉरल मैन एण्ड इम्मॉरल सोसाइटी' (पृष्ठ ७८) में दिया हुआ है। यह किताब बड़ी ही दिलचस्प और विचार-प्रेरक है।

पुराने इतिहास, शादी गमी, परलोक, दगो और सिर-फुटौवल, इत्यादि अनेक बातो के विचार और भाव शामिल है। इन असख्य प्रकार के खयालो और अर्थो के कारण दिमाग मे जबरदस्त गडबडी तो पैदा हो ही जायगी, लेकिन हमेशा एक तेज भावुकता भी उमड पडेगी, जिससे अलिप्त ओर अनासक्त रूप से विचार करना नामुमकिन हो जायगा। 'मजहब' शब्द का ठीक और निश्चित अर्थ (अगर कभी था, तो) अब विलकुल नही रहा है, और जब अक्सर विलकुल ही भिन्न-भिन्न अर्थो मे उसका इस्तैमाल होता है तब तो वह सिर्फ गडबडी ही उत्पन्न करता है और उससे बहस और बातचीत का कभी खात्मा ही नही हो सकता। बहुत ज्यादा अच्छा यह हो कि इस शब्द का इस्तैमाल ही कतई छोड दिया जाय, और उसके बजाय ज्यादा महदूद मानी रखनेवाले लफ्ज इस्तैमाल किये जायँ, जैसे ईश्वर-विज्ञान, दर्शन-विज्ञान, नीति नियम, नीति-शास्त्र, आत्म-वाद, आध्यात्मिक-शास्त्र, कर्तव्य, लोकाचार वगैरा। यो तो ये शब्द भी काफी अस्पष्ट है, लेकिन ये 'मजहब' की बनिस्बत बहुत परिमित अर्थ रखते है। इनमे यह बडी सहूलियत है कि अभीतक इन शब्दो के साथ उतनी भावुकता और भावना नही लग पाई है जितनी कि 'मजहब' के साथ लग चुकी है।

तो, मजहब (इस लफ्ज की जाहिरा हानियो के बावजूद इसीका इस्तैमाल करे, तो) क्या चीज है ? शायद वह है व्यक्ति की आन्तरिक उन्नति और एक खास दिशा मे, जो अच्छी समझी जाती है, उसकी चेतना का विकास। वह दिशा कौन-सी होनी चाहिए यह भी एक विवाद-ग्रस्त विषय ही होगा। लेकिन जहाँतक मै समझता हूँ, मजहब इसी आन्तरिक परिवर्तन पर जोर देता है, और बाहरी परिवर्तन को इस भीतरी विकास का ही एक अग या रूप मानता है। इसमे शक नही हो सकता कि इस आन्तरिक उन्नति का बाहरी हालत पर बडा जबरदस्त असर पडता है। मगर, इसके साथ ही यह भी जाहिर है कि बाहरी हालत का आन्तरिक प्रगति पर भी भारी असर पडता है। दोनो का एक-दूसरे पर प्रभाव पडता है और प्रतिक्रिया भी होती रहती है। यह सब जानते है कि पश्चिम के आधुनिक औद्योगिक देशो मे आन्तरिक विकास से बाहरी विकास बहुत ज्यादा हुआ है, लेकिन इससे यह नतीजा नही निकलता, जैसा कि पूर्वीय देशो के कई लोग शायद खयाल करते है, कि चूँकि हम कल-कारखानो मे पीछे है और हमारा बाहरी विकास धीमा रहा है, इसलिए हमारा आन्तरिक विकास उनसे ज्यादा हो गया है। यह एक मिथ्या-विचार है जिससे हम अपनेको तसल्ली दे लेते है, और अपने छोटे-पन की भावना पर हावी होने की कोशिश करते है। यह हो सकता है कि कुछ व्यक्ति अपनी परिस्थिति और हालतो से ऊपर

उठ सके, और ऊँचे आन्तरिक विकास पर पहुँच सके। लेकिन बहुत लोगो और राष्ट्रो के लिए तो, आन्तरिक विकास होने से पहले, किसी हद तक बाहरी विकास के होने की जरूरत है। जो आदमी आर्थिक परिस्थितियो का शिकार है, और जो जीवन-सघर्ष की बदिशो और रुकावटो से घिरा हुआ है, वह शायद ही किसी ऊँचे दरजे की आत्म-चेतनता प्राप्त कर सके। जो वर्ग पददलित और शोषित होता है, वह आन्तरिक रूप से कभी प्रगति नही कर सकता। जो राष्ट्र राजनैतिक और आर्थिक रूप से दूसरे के पराधीन है और बन्धनो मे पड़ा परिस्थितियो से मजबूर और शोपित हो रहा है, वह कभी आन्तरिक उन्नति मे कामयाब नही हो सकता। इस तरह आन्तरिक उन्नति के लिए भी बाहरी आजादी और अनुकूल परिस्थिति की जरूरत होती है। इस बाहरी आजादी के हासिल करने, और परिस्थिति को इस तरह बदलने के लिए कि जिससे आन्तरिक प्रगति की सब रुकावटे हट जायँ, यह वाञ्छनीय है कि साधन ऐसे इस्तेमाल किये जायँ जिनसे असली उद्देश्य ही न नष्ट हो जाय। मै समझता हूँ कि जब गाधीजी कहते है कि उद्देश्य से साधन ज्यादा महत्त्वपूर्ण है, तो उनका भाव कुछ ऐसा ही प्रतीत होता है। मगर साधन ऐसे जरूर होने चाहिए जो कि उस उद्देश्य तक पहुँचा दे, नही तो उनसे सारी शक्ति ही बरबाद होगी, और उससे शायद भीतरी और बाहरी दोनो तरह का पतन ही ज्यादा होगा।

गाधीजी ने कही लिखा है कि—"कोई भी आदमी धर्म के बगैर जिन्दा नही रह सकता। कुछ ऐसे लोग है जो अपनी अक्ल की शेखी मे कहते है कि हमे धर्म से कोई ताल्लुक नही है। मगर यह ऐसी बात हुई कि कोई आदमी सास तो लेता हो लेकिन कहता हो कि मेरे नाक नही है।" फिर वह कहते है—"सत्य के प्रति मेरी लगन ने मुझे राजनीति के मैदान मे ला खीचा है। और मै बगैर किसी हिचकिचाहट के, लेकिन पूरी नम्रता के साथ, कह सकता हूँ, कि वे लोग जो यह कहते है कि धर्म का राजनीति से कोई ताल्लुक नही हे, वह समझते ही नही कि धर्म का क्या अर्थ है।" शायद अगर वह ऐसा कहते कि, ज्यादातर वे लोग जो जीवन और राजनीति मे से मजहब को निकाल डालना चाहते है 'मजहब' शब्द से उसके अर्थ से बहुत भिन्न कोई दूसरा अर्थ निकालते है, तो यह ज्यादा सही होता। यह साफ जाहिर है कि वह 'मजहब' शब्द को उसके समालोचको की बनिस्बत बहुत भिन्न भाव मे—शायद और किसी अर्थ की अपेक्षा नैतिक अर्थ में अधिक—ग्रहण कर रहे है। एक ही शब्द को भिन्न-भिन्न अर्थों मे इस तरह इस्तैमाल करने से एक-दूसरे को समझना और भी मुश्किल हो जाता है।

मजहब की एक और बहुत ही आधुनिक परिभाषा, जिससे कि मजहबी लोग

सहमत न होंगे, प्रोफेसर जॉन डेवी ने की है। उनकी राय मे मजहब "वह चीज है जो जीवन या अस्तित्व के एक-एक करके और बदलते रहनेवाले प्रसगो या घटनाओ को समझने की शुद्ध दृष्टि देता है", या दूसरी तरह से कहे तो, "जो प्रवृत्ति उसके व्यापक और स्थायी महत्त्व के विश्वास के कारण बाधाओ के विरोध मे भी और व्यक्तिगत नुकसान होने की आशका होने पर भी एक आदर्श लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जारी रक्खी जाती है, वह धार्मिक स्वरूप की है।" अगर मजहब यही चीज है, तब तो निश्चय ही उसपर किसीको भी ऐतराज नही हो सकता।

रोम्याँ रोलाँ ने भी मजहब का ऐसा मतलब निकाला है जिससे शायद सगठित मजहब के कट्टर लोग खौफ खा जायँगे। परमहस 'रामकृष्ण के जीवनचरित्र' मे वह लिखते है —

" ......बहुत-से व्यक्ति ऐसे है जो सभी तरह के मजहबी विश्वास से बरी है, या उनका खयाल है कि वे बरी है, लेकिन दर-असल वे एक अति-बौद्धिक चेतना की हालत मे डूबे रहते है, जिसे वे समाजवाद, कम्यूनिज्म, जीव-दया-वाद, राष्ट्रीयता, या बुद्धिवाद भी कहते है। विचार की वस्तु से नही, किन्तु विचार की उच्चता या गुण से उसका उद्‌गम निश्चित होता है। और हम यह तय कर सकते है कि वह मजहब से उत्पन्न होता है या नही। अगर वह विचार हर तरह की मुसीबत सहकर, एकनिष्ठ लगन और हर तरह के बलिदान की तैयारी के साथ, सत्य की खोज की तरफ निर्भयता-पूर्वक जाता है, तो मै उसे मजहबी ही कहूँगा। क्योकि, मजहब के अन्दर यह विश्वास शामिल ही है कि इन्सानी कोशिश का उद्देश्य मौजूदा समाज के जीवन से ऊँचा, और सारे मानव-समाज के जीवन से भी ऊँचा है। नास्तिकता भी, जब वह सोलहो आना सच्ची बलवती प्रकृतियो से निकलती है, और जब वह कमजोरी का नही बल्कि ताकत का एक मूर्तरूप होती है, तो वह भी धार्मिक आत्मा की महान् सेना के मार्च मे शामिल हो जाती है।"

मै नही कह सकता कि मै रोम्याँ रोलाँ की इन शर्तो को पूरा करता ही हूँ, लेकिन इन शर्तो पर तो इस महान् सेना का एक नम्र अनुयायी बनने को मै तैयार हूँ।

४८

ब्रिटिश सरकार की 'दो-रुखी नीति'

यरवडा-जेल से, और बाद मे बाहर से, गाधीजी के नेतृत्व मे हरिजन-आन्दोलन चल रहा था। मन्दिर-प्रवेश की अडचने दूर करने के लिए बडा भारी आन्दोलन खडा हो गया था, और इसी उद्देश्य का एक बिल असेम्बली मे भी पेश किया गया था। और फिर एक अनोखा दृश्य दिखाई दिया कि काग्रेस के एक बडे नेता दिल्ली मे असेम्बली के मेम्बरो के घर-घर जाकर मन्दिर-प्रवेश बिल के पक्ष मे राये माँग रहे थे। खुद गाधीजी ने भी उनके जरिये असेम्बली के मेम्बरो के नाम एक अपील भेजी थी। फिर भी सविनय भग तो चल ही रहा था और लोग जेल जा रहे थे, कॉग्रेस ने असेम्बली का बहिष्कार कर रक्खा था और हमारे मेम्बर उसमे से निकलकर चले आये थे। जो मेम्बर वहाँ बच गये, और वे लोग जो खाली हुई जगहों मे चुनकर आ गये थे, उन्होने इस सकट-काल मे काग्रेस की मुखालिफत करके और सरकार का साथ देकर नाम कमा लिया था। आर्डिनेन्सो की असाधारण धाराओ को कुछ काल के लिए स्थायी दमनकारी कानून की शक्ल मे पास कर देने मे इन लोगो के बहुमत ने सरकार को मदद दी थी। उन्होने ओटावा का समझौता मजूर कर लिया था; और दिल्ली, शिमला और लन्दन मे बड़े प्रभुओ के साथ दावतें उड़ाई थीं। वे हिन्दुस्तान मे अग्रेजो की हुकूमत की प्रशसा करने मे शामिल हो गये थे, और हिन्दुस्तान मे 'दो-रुखी' नामक नीति की कामयाबी की प्रार्थना करते थे।

उस समय की परिस्थिति मे गाधीजी के अपील निकालने से मै हैरत मे पड़ गया। और इससे भी ज्यादा मै राजगोपालाचार्य की भारी कोशिशो से चकित हुआ, जो कि कुछ ही हफ्ते पहले कॉंग्रेस के स्थानापन्न प्रेसीडेण्ट थे। निश्चय ही इन कामो से सविनय भग को नुकसान पहुँचा, लेकिन मुझे तो इसके नैतिक पहलू से ज्यादा चोट पहुँची। मेरी निगाह मे गाधीजी या किसी भी काग्रेस के नेता का ऐसी कार्रवाई करना अनैतिक था, और जो बहुसख्यक लोग जेल मे थे या लड़ाई चला रहे थे, उनके साथ करीब-करीब विश्वासघात ही था। लेकिन मै जानता था कि उनका दृष्टिकोण दूसरा है।

उस वक्त और बाद मे मन्दिर-प्रवेश बिल की तरफ सरकार का रुख आखे खोल देनेवाला था। उसने उसके समर्थको के रास्ते मे हर तरह की कठिनाइयाँ डाली। वह उसको मुल्तवी करती चली गई, और उसके विरोधियो को प्रोत्साहन देती गई,

और अखीर में उसपर अपना विरोध जाहिर करके उसका खात्मा कर दिया। हिन्दुस्तान मे सामाजिक सुधार की सभी कोशिशो की तरफ किसी-न-किसी हद तक उसका यही रुख रहा है, और मजहब मे दखल न देने के बहाने उसने सामाजिक उन्नति को रोका है। मगर यह कहने की जरूरत नही कि इससे वह हमारी सामाजिक बुराइयो की नुक्ताचीनी करने या इसके लिए दूसरो को प्रोत्साहित करने से बाज नही आई। एक इत्तफाक से ही शारदा का बाल-विवाह-निरोधक बिल कानून बन गया था, लेकिन इस बदकिस्मत कानून के बाद के इतिहास से ही सबसे ज्यादा यह जाहिर हो गया कि इस तरह के कानूनो की पाबन्दी कराने मे सरकार कितनी अनिच्छा रखती है। जो सरकार रातो-रात आर्डिनेन्स पैदा कर सकती थी, जिनमे अजीब-अजीब अपराध ईजाद किये गये और जिनमे एक के कुसूरो के लिए दूसरो को सजायें दी जा सकती थी और जिनके भग करने के कारण वह हजारो लोगो को जेल भेज सकती थी, वही सरकार शारदा एक्ट सरीखे अपने नियमित कानून की पाबन्दी कराने के ख़याल से स्पष्टत दुबकने लगी। इस कानून का नतीजा पहले तो यह हुआ कि वह जिस बुराई की रोक के लिए बनाया गया था वही बुराई बेहद बढ गई। क्योकि लोगो ने छ महीने की मिली हुई मोहलत से, जो कि कानून मे बहुत ही बेवकूफी से रख दी गई थी, फायदा उठाने की एकदम जल्दी की। और फिर यह मालूम हो गया कि कानून तो बहुत कुछ एक मजाक ही है, और आसानी से उसका भग हो सकता है और सरकार उसमे कोई भी कार्रवाई न करेगी। सरकार की तरफ से उसके प्रचार की जरा भी कोशिश नही की गई, और देहात के ज्यादातर लोगो को यह भी पता न लगा कि यह कानून क्या है। उन्होने हिन्दू और मुसलमान प्रचारको से, जो खुद भी सही वाकयात शायद ही जानते हो, उसका तोडा-मरोडा हुआ हाल सुना।

जाहिर है कि हिन्दुस्तान मे सामाजिक बुराइयो के प्रति ब्रिटिश सरकार ने सहिष्णुता की यह जो असाधारण वृत्ति दिखाई है, वह उन बुराइयो के लिए किसी पक्षपात के कारण नही है। यह तो सही है कि वह इनको दूर करने की ज्यादा परवा नही करती, क्योकि ये बुराइयाँ उनके हिन्दुस्तान पर हुकूमत करने और उसका सब तरह शोषण करने के कार्य मे रुकावट नही डालती। लेकिन सुधारो की योजना करने से भिन्न-भिन्न समुदाय के नाराज हो जाने का भी डर रहता है, और राजनैतिक क्षेत्र मे काफी रोष और क्रोध का सामना होते रहने के कारण ब्रिटिश सरकार की यह इच्छा नही है कि वह अपनी मुसीबतो को और बढाले। मगर इन पिछले दिनो से समाज-सुधारको की दृष्टि से स्थिति और भी खराब होती जा रही है, क्योकि अग्रेज लोग इन बुराइयो के ज्यादा-ज्यादा मौन आश्रयदाता होते जा रहे है। यह उनके हिन्दुस्तान

के सबसे प्रतिगामी लोगो के गहरे सम्बन्ध मे आने के कारण हो रहा है । ज्यो-ज्यो उनकी हुकूमत के प्रति मुखालिफत बढती जाती है, त्यो-त्यो उन्हे अजीब-अजीब साथी ढूँढने पडते है । आज हिन्दुस्तान मे अग्रेजी हुकूमत के सबसे जबरदस्त हिमायती उग्र सम्प्रदायवादी और मज़हबी प्रतिगामी और जागृति-विरोधी लोग है । मुस्लिम साम्प्रदायिक सगठन तो राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, हर दृष्टि से प्रतिगामी मशहूर ही है । उसका मुकाबिला हिन्दू-महासभा करती है, लेकिन मुसलमानो को भी इस पीछे जाने की दौड़ मे मात करनेवाले सनातनी है, जिनमे मजहबी दकियानूसीपन बहुत तेज है, और उसके साथ-ही-साथ दमकती हुई या कम-से-कम बुलन्द आवाज से चिल्लाई जाने वाली ब्रिटिश-राजभक्ति भी है ।

अगर ब्रिटिश-सरकार सुस्त थी, और उसने शारदा-कानून का प्रचार करने और उसकी पाबन्दी कराने की कोई कार्रवाई न की, तो कॉंग्रेस या दूसरी गैरसरकारी सस्थाओं ने उसके पक्ष मे प्रचार क्यो नही किया ? अग्रेज और दूसरे समालोचको ने अक्सर यह सवाल किया है । जहाँतक कॉंग्रेस का ताल्लुक है, वह तो पिछले पद्रह साल से, खासकर १९३० से , ब्रिटिश हुकूमत से राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए जीवन-मरण की भीषण लडाई लड रही है । दूसरी सस्थाओ मे असली ताकत या जनता तक पहुँच नही है । आदर्श और चरित्रबल और जनता पर असर रखनेवाले स्त्री-पुरुष तो कॉंग्रेस मे आ गये थे, और ब्रिटिश जेलखानो मे जीवन बिता रहे थे ।

दूसरी सस्थाये कुछ चुने हुए लोगो द्वारा, जो जनता के सम्पर्क से डरते थे, प्रस्ताव पास कर देने से आगे प्राय नही बढी । वे शरीफाना तरीके से, या अखिल-भारतीय महिला-सघ की तरह जनाने तरीके से ही, काम करती थी, और उनमे आक्रामक प्रचार की वृत्ति नही थी । इसके अलावा, वे भी आर्डिनेन्सो और उनके बाद के कानूनो द्वारा सब तरह की सार्वजनिक प्रवृत्तियो के भयकर दमन से कुछ भी नही कर सकती थी । फौजी कानून क्रान्तिकारी प्रवृत्ति को कुचल सकता है, लेकिन उसके साथ ही वह सभ्यता को और निहायत सभ्य प्रवृत्तियो को भी निर्जीव-सा कर देता है ।

मगर कॉंग्रेस और दूसरे गैर-सरकारी सगठन क्यो ज्यादा सामाजिक सुधार नही कर सकते, इसका असली सबब और भी गहरा है । हमारे अन्दर राष्ट्रीयता की बीमारी हो गई है, और उसीपर हमारा सारा ध्यान लग जाता है, और जबतक हमे राजनैतिक आजादी न मिलेगी तबतक वह उसीमे लगता भी रहेगा । जैसा कि बर्नार्ड शॉं ने कहा है—"पराजित राष्ट्र नासूर के बीमार की तरह होता है; वह और किसी बात का खयाल नही कर सकता''''''। वास्तव मे किसी भी राष्ट्र मे राष्ट्रीय आन्दोलन से बढकर कोई अभिशाप नही होता, जोकि दबाई हुई प्राकृतिक क्रिया का

एक दु खदायी लक्षण मात्र होता है। पराजित राष्ट्र दुनिया की दौड मे अपना स्थान खो बैठते हैं, क्योकि वे इसके सिवा और कुछ नही कर सकते कि अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को प्राप्त करके अपने राष्ट्रीय आन्दोलनो से छुटकारा पाने की कोशिश करे।"

पिछला तजुर्बा भी हमे बताता है कि मौजूदा हालतो मे चुने हुए मिनिस्टरो के हाथ मे जाहिरा तौर पर कुछ महकमो के बदल दिये जाने के बावजूद प्राय हम कुछ भी सामाजिक प्रगति नही कर सकते। सरकार की जबरदस्त अकर्मण्यता रूढि-प्रेमियो के लिए हमेशा मददगार होती है, और पिछली पीढियो मे ब्रिटिश सरकार ने लोगो की खुद काम करने की आदत को कुचल दिया है, और वह एक तत्री ढग से, या जैसा कि वह अपने-आप कहती है, मा-बाप की तरह से हुकूमत करती है। गैर-सरकारी व्यक्तियो द्वारा किसी भी बडे काम का किया जाना वह पसन्द नही करती, और उसमे छिपे इरादो का शक करती है। हरिजन-आन्दोलन के सगठनकर्त्ताओ ने हालाँकि हर तरह एहतियात से काम लिया है, लेकिन फिर भी वे वक्तन फवक्तन सरकारी कर्मचारियो के सघर्ष मे आ ही गये है। मुझे यकीन है कि अगर कांग्रेस साबुन ज्यादा इस्तैमाल करने का राष्ट्र-व्यापी आन्दोलन उठाये, तो वह भी कई जगहो पर सरकार के सघर्ष मे आ जायगा।

मेरा खयाल है कि अगर शासन सामाजिक सुधार के मामले को हाथ मे लेले, तो जनता को उसके माफिक बना लेना मुश्किल नही है। मगर विदेशी हाकिमो पर हमेशा ही शक किया जाता है, और दूसरो को अपनी राय का बनाने मे वे ज्यादा कामयाब नही हो सकते। अगर विदेशी तत्त्व दूर कर दिया जाय, और आर्थिक परिवर्तन पहले कर दिये जाये, तो एक उत्साही और क्रियाशील शासन आसानी से बड़े-बडे सामाजिक सुधार जारी कर सकता है।

मगर जेल मे हमारे दिमागो मे सामाजिक सुधार और शारदा-कानून और हरिजन-आन्दोलन के ही विचार नही भरे हुए थे, सिवा इस हद तक कि मैं हरिजन-आन्दोलन के सविनय भग के रास्ते मे आ जाने के कारण उससे कुछ चिढ गया था। मई १९३३ के शुरू मे सविनय भग छ हफ्तो के लिए मुल्तवी कर दिया गया था, और आगे क्या होता है यह देखने की उत्सुकता मे हम रहे। इस मुल्तवी होने से तो आन्दोलन पर आखिरी प्रहार ही हो गया, क्योकि राष्ट्रीय लडाई के साथ उठक-बैठक का खेल नही खेला जा सकता, न वह जब मर्जी आवे तब चालू और जब मर्जी आवे तब बन्द की जा सकती है। मुल्तवी होने से पहले भी आन्दोलन के नेतृत्व मे बहुत ही कमजोरी और प्रभावहीनता आ गई थी। कई छोटी-छोटी कान्फ्रेन्से हो रही थी,

और तरह-तरह की अफवाहे फैल रही थी, जिनसे सक्रिय कार्य होने मे रुकावट पडती थी। कॉंग्रेस के कई स्थानापन्न प्रेसीडेण्ट बडे सम्मानित लोग थे, लेकिन उनको सक्रिय लडाई के सेनापति बनाना उनके साथ ज्यादती करना था। उनके लिए बार-बार इस बात का इशारा किया जाता था कि वे थक गये है और इस मुश्किल स्थिति से निकलना चाहते है। इस अस्थिरता और अनिश्चय के खिलाफ ऊँचे हलको मे कुछ बेचैनी थी, लेकिन उसको सगठित रूप से जाहिर नही किया जा सकता था, क्योकि सभी कॉंग्रेसी सस्थाये गैर-कानूनी थी।

इसके बाद गाधीजी का इक्कीस दिन का उपवास, उनका जेल से छूटना, और छ हफ्ते तक सविनय भग का मुल्तवी किया जाना यह सब हुआ। उपवास खत्म हो गया, और बहुत धीरे-धीरे वह फिर तन्दुरुस्त हुए। जून के मध्य मे सविनय भग की मौकूफी की मोहलत छ हफ्ते के लिए और बढा दी गई। इस बीच सरकार ने अपना दमन कुछ भी कम न किया। अण्डमान द्वीपो मे राजनैतिक कैदी (बगाल मे जिन्हे क्रान्तिकारी हिसा के लिए सजा दी जाती थी वे वहॉं भेजे जाते थे) जेल-वर्ताव के सवाल पर भूख-हडताल कर रहे थे, और उनमे से एक या दो तो भूखे रह-रहकर मर भी गये थे। हिन्दुस्तान मे जिन लोगो ने अण्डमान मे जो कुछ हो रहा था उसके विरुद्ध सभाओ मे भाषण दिये थे, वे भी खुद गिरफ्तार कर लिये गये और उन्हे सजाये दे दी गई। भले ही कैदी, भूख-हडताल के सिवा विरोध जाहिर करने का दूसरा रास्ता न मिलने पर, भूख की भयकर अग्नि-परीक्षा मे से गुजरते हुए मर जायँ, लेकिन हमे सिर्फ तकलीफे ही बरदाश्त नही करना चाहिए था, बल्कि हमे शिकायत भी नही करनी चाहिए थी। कुछ महीने बाद सितम्बर १९३३ मे (जबकि मै जेल से बाहर था) बहुत-से दस्तखतो से एक अपील निकली थी, जिसमे अण्डमान के कैदियो के साथ ज्यादा मनुष्योचित्त बर्ताव करने और उनको हिन्दुस्तान मे बदल दिये जाने की प्रार्थना की गई थी, और जिसमे रवीन्द्रनाथ ठाकुर, सी० एफ० एण्डरूज और दूसरे कई मशहूर लोगो के भी दस्तखत थे, जिनमे ज्यादातर कॉंग्रेस से कुछ भी सम्बन्ध न रखनेवाले लोग थे। इस बयान पर भारत-सरकार के होम मेम्बर ने बडी नाराजगी जाहिर की, और कैदियो के साथ हमदर्दी जाहिर करने के लिए उसपर दस्तखत करनेवालो की बडी सख्त समालोचना की। बाद मे, जहॉंतक मुझे याद आता है, बगाल मे ऐसी हमदर्दी जाहिर करना भी एक जुर्म करार दे दिया गया।

सविनय भग की छ हफ्ते की मौकूफी की दूसरी मोहलत पूरी होने से पहले, देहरादून-जेल मे, हमे खबर मिली कि गाधीजी ने पूना मे एक अनियमित कान्फ्रेन्स बुलाई थी। वहाँ दो-तीन सौ व्यक्ति इकट्ठा हुए, और गाधीजी की सलाह से सामूहिक

सविनय भग बिलकुल मुल्तवी कर दिया गया, और व्यक्तिगत सविनय भग की इजाजत खुली रक्खी गई, और सब तरह के गुप्त तरीके बन्द कर दिये गये। ये निश्चय कोई बहुत स्फूर्तीदायक नही थे, लेकिन इनके स्वरूप को देखते हुए मुझे उनपर खास ऐतराज नही हुआ। सामूहिक सविनय भग को बन्द करना तो मौजूदा हालत को स्वीकार कर लेना और स्थिर कर देना ही था, क्योकि वस्तुत उन दिनो सामूहिक सविनय भग था ही नही। और, गुप्त काम भी इसका एक बहाना-मात्र था कि हम अपना काम जारी रख रहे है, और अक्सर उससे अपने आन्दोलन के रूप को देखते हुए साहस-हीनता भी पैदा होती थी। किसी हद तक तो, हिदायते भेजने और सम्पर्क बनाये रखने के लिए वह जरूरी भी था, लेकिन खुद सविनय भग तो गुप्त कैसे रक्खा जा सकता था ?

मुझे जिस बात से ताज्जुब और दुख हुआ, वह यह थी, कि पूना मे मौजूदा परिस्थिति और हमारे लक्ष्य के बारे मे कोई असली चर्चा नही हुई। कॉंग्रेसवाले करीब दो साल की भीषण लडाई और दमन के बाद एक जगह इकट्ठा हुए थे, और इस बीच सारी दुनिया मे और हिन्दुस्तान मे बहुत-सी घटनाये हुई थी, जिनमे 'व्हाइट पेपर' का प्रकाशित होना भी शामिल था, जिसमे ब्रिटिश सरकार की वैधानिक सुधार-सम्बन्धी योजना दी हुई थी। इस अर्से मे हमे तो मजबूरन चुप रहना पडा था, और दूसरी तरफ असली सवालो को छिपाने के लिए लगातार और झूठा प्रचार होता रहा था। न सिर्फ सरकार के हिमायतियो ने ही, बल्कि लिबरल और दूसरे लोगो ने भी, अक्सर यह कहा था कि कॉंग्रेस ने स्वाधीनता का अपना लक्ष्य छोड़ दिया है। मेरे खयाल से हमे कम-से-कम इतना तो करना ही चाहिए था कि हम अपने राजनैतिक ध्येय पर जोर देते, हम उसे फिर साफ कर देते, और अगर मुमकिन होता तो उसमे सामाजिक और आर्थिक लक्ष्य भी बढा देते। इसके बजाय बहस शायद सिर्फ इसी बात पर होती रही कि सामूहिक सविनय भग अच्छा है या व्यक्तिगत, और गुप्तता रखना ठीक है या नही। सरकार से 'सुलह' करने की भी कुछ विचित्र चर्चा हुई थी। जहॉंतक मुझे याद है, गॉंधीजी ने वाइसराय से मुलाकात मागने के लिए एक तार भेजा, जिसका जवाब वाइसराय की तरफ से इन्कारी मे आया, और फिर गाधीजी ने एक दूसरा तार भेजा जिसमे कि 'सम्मान-युक्त सुलह' की कोई बात कही गई थी। लेकिन जिस मायाविनी सुलह को लोग चाहते थे वह थी कहॉं, जबकि सरकार राष्ट्र को कुचलने मे कामयाब हो रही थी और अण्डमान मे लोग भूखे रह-रहकर अपनी जाने दे रहे थे ? लेकिन मै जानता था कि, नतीजा कुछ भी हो, गाधीजी का यह तरीका रहा है कि वह हमेशा अपनी तरफ से समझौते का पूरा मौका देते है।

दमन पूरे जोरो पर था, और सार्वजनिक प्रवृत्तियो को दबानेवाले सारे विशेष कानून लागू थे। फरवरी १९३३ मे मेरे पिताजी की मृत्यु की सालाना यादगार मे की जानेवाली एक सभा को पुलिस ने मना कर दिया, हालाकि वह गैर-कॉग्रेसी मीटिंग थी और उसका सभापतित्व करनेवाले थे सर तेजबहादुर सप्रू जैसे अच्छे मॉडरेट। और मानो भविष्य मे मिलनेवाले उपहारो की पूर्व-सूचना देने के लिए हमे 'व्हाइट पेपर' की सौगात दी जा रही थी।

यह एक अनोखा कागज था, जिसको पढकर चकित रह जाना पडता था। इसके मुताबिक, हिन्दुस्तान एक बढ़ी-चढ़ी हिन्दुस्तानी रियासत बना दी जायगी, और सघ मे देशी-राज्यो के प्रतिनिधियो का ही ज्यादा बोलबाला रहेगा। लेकिन खुद रियासतो में कोई भी बाहरी दख़ल बरदाश्त न किया जायगा, और पूरी तरह से एकतन्त्री सत्ता वहाँ जारी रहेगी। साम्राज्य की असली कडियाँ, कर्जे की जजीरे, हमें हमेशा लन्दन शहर के साथ बाँधे रहेगी, और एक रिजर्व बैंक के जरिये मुद्रा की और आर्थिक नीति भी बैंक आफ इग्लैण्ड के नियन्त्रण मे रहेगी। सब स्थापित स्वार्थों की हिफाजत के लिए अटूट दीवारे खडी हो जायँगी, और और भी नये स्थापित स्वार्थ पैदा कर दिये जायगे। इन स्थापित स्वार्थों के फायदे के लिए हमारी राष्ट्रीय आय पूरी तरह से रहन रक्खी गई थी। हमें स्व-शासन की अगली किस्तो की तालीम देने के लिए साम्राज्य के ऊँचे पदो पर, जिनको हम इतना चाहते है, हमारा कोई नियन्त्रण न रहेगा। प्रान्तीय स्वाधीनता तो मिलेगी, लेकिन गवर्नर हमको व्यवस्था मे रखनेवाला एक दयालु और सर्व-शक्तिमान डिक्टेटर रहेगा। और सबसे ऊपर रहेगा सबसे बडा डिक्टेटर वाइसराय, जिसे जो मर्जी मे आवे सो करने और जिस बात को चाहे रोकने की पूरी-पूरी सत्ता होगी। सच है, उपनिवेशो की हुकूमत के लिए अग्रेज शासक-वर्ग ने इतनी प्रतिभा का परिचय कभी नही दिया था। अब तो हिटलर और मुसोलिनी जैसे लोग उनकी भी खूब स्तुति कर सकते है, और हिन्दुस्तान के वाइसराय को भी ईर्ष्या की दृष्टि से देख सकते है।

ऐसा विधान तैयार करके, कि जिसमे हिन्दुस्तान के हाथ-पैर पूरी तरह से बाँध दिये गये थे, उसमे कुछ जायद हथकड़ियो के तौर पर 'खास जिम्मेदारियाँ' और सरक्षण भी रख दिये गये, जिससे कि यह बदकिस्मत मुल्क एक ऐसे कैदी के मानिन्द हो गया कि जो जरा भी हिल-डुल न सके। जैसा कि श्री नेविल चेम्बरलेन ने कहा था, "उन्होने सारी ताकत लगाकर योजना मे ऐसे सब सरक्षण रख दिये थे जिनकी कल्पना मनुष्य के दिमाग मे आ सकती थी।"

इसके बाद, हमे यह भी कहा गया कि इन उपहारो के लिए हमे भारी खर्चा

देना पडेगा—शुरू मे एक-मुश्त कुछ करोड, और फिर सालाना रकम। स्वराज का वरदान हमे काफी रकम दिये वगैर नही मिल सकता था। हम तो इस धोखे मे ही पडे हुए थे कि हिन्दुस्तान एक दरिद्रता-ग्रस्त देश है और अव भी उसपर बहुत भारी बोझा रक्खा हुआ है, और उसे कम करने के लिए ही हम आजादी की तलाश मे थे। आजादी के लिए जनता इसी प्रेरणा से तैयार हुई थी। लेकिन अव तो मालूम हुआ कि वह बोझा और भी भारी होने को है।

हिन्दुस्तानी समस्या का यह अण्टशण्ट हल हमे सच्ची अग्रेजो जैसी ही वजादारी के साथ दिया गया, और हमसे कहा गया कि हमारे हाकिम कितने फय्याज-दिल है। किसी भी साम्राजवादी हुकूमत ने इससे पहले अपनी रैयत के लिए अपनी खुशी से ऐसे अख्त्यारात और मौके नही दिये थे। और इग्लैण्ड मे इसके देनेवालो में और इस-पर ऐतराज करनेवालो मे, जो इस भारी फय्याज-दिली से खौफ खा रहे थे, वडी भारी वहस-वाजी हुई। तीन साल मे हिन्दुस्तान और इग्लैण्ड के बीच वारवार बहुत लोगो के आने और जाने का, तीन गोलमेज-कान्फ्रेन्सो का, और वेशुमार कमिटियो और मशविरो का यह नतीजा था।

मगर, इग्लैण्ड की यात्राये तो अव भी खत्म नही हुई थी। ब्रिटिश पार्लमेण्ट की ज्वाइण्ट सिलेक्ट कमिटी 'व्हाइट पेपर' पर फैसला देने के लिए वैठी हुई थी, और हिन्दुस्तानी उसमे असेसरो या गवाहो की तरह से गये। लन्दन मे और भी कई तरह की कमिटियाँ वैठ रही थी, और इन कमिटियो की मेम्वरी, जिसके मानी थे इग्लैण्ड जाने और लन्दन मे ठहरने का मुफ्त खर्चा मिलना, हासिल करने के लिए भीतर-भीतर वडी भद्दी छीना-झपटी हुई थी। वड़े-वड़े दिलेर लोगो ने, जिनके हौसले 'व्हाइट पेपर' की निराशापूर्ण तजवीज़ो से भी ठण्डे नही पडे थे, अपनी सारी वक्तृत्व-कला और लुभा लेने की शक्ति से 'व्हाइट-पेपर' की तजवीजो को वदलवाने की कोशिश करने के लिए, समुद्र-यात्रा या आकाश-यात्रा की मुसीवतो का और लन्दन शहर मे ठहरने के और भी ज्यादा खतरो का मुकाविला करने के लिए कमर कस ली। वे जानते थे और कहते थे कि प्रयत्न मे कुछ दम तो दिखाई नही देता, लेकिन वे हिम्मत हारनेवाले न थे, और चाहे उनकी कोई न सुने तो भी वह अपनी वात तो वरावर कहते ही रहेगे। उनमे से एक व्यक्ति, जोकि प्रति-सहयोगियो का एक नेता था, सवके चले जाने पर भी ठेठ अन्त तक टिका ही रहा, और शायद यह असर डालने के लिए कि वह क्या-क्या राजनैतिक परिवर्तन चाहता है, वह लन्दन के सत्ताधीशो से मुलाकात-पर-मुलाकात लेता रहा, और उनके साथ दावत-पर-दावत उड़ाता रहा। और आखिरकार जव वह अपने देश मे लौटा तव प्रतीक्षा करनेवाले लोगो से

उसने कहा कि मराठो की प्रसिद्ध दृढता को कायम रखते हुए मैने अपना काम-धधा छोड दिया और बिलकुल अन्त तक भी अपनी बात कहने के लिए मैं लन्दन मे ठहरा रहा।

मुझे याद है कि मेरे पिताजी अक्सर शिकायत करते थे कि प्रति-सहयोगी मित्रो मे मजाक का गुण नही होता। अपनी कुछ मजाक-भरी बातों से, जो प्रति-सहयोगियो को बिलकुल पसन्द नही आती थी, उनका उनसे (प्रति-सहयोगियो से) अक्सर झगडा हो जाता था, और फिर उन्हे उनको समझाना पडता था और तसल्ली देनी पड़ती थी, जोकि एक बडा थका देनेवाला काम था। मैंने सोचा कि मराठो मे लडने की कितनी बढ़िया स्पिरिट रही है, जो सिर्फ भूतकाल मे ही नही बल्कि वर्तमान मे भी हमारी राष्ट्रीय लडाइयो मे प्रकट हो रही है, और महान् निर्भीक तिलक की भी मुझे याद आती थी, जो टूक-टूक भले ही हो जायँ लेकिन झुकना न जानते थे।

लिबरल व्हाइट-पेपर को बिलकुल नापसन्द करते थे। हिन्दुस्तान मे दिन-ब-दिन जो दमन हो रहा था उसे भी वे पसन्द नही करते थे, और कभी-कभी, हालाकि बहुत कम बार, उन्होने इसका विरोध भी किया था, लेकिन साथ-साथ वे यह भी स्पष्ट कर देते थे कि वे कॉग्रेस और उसके सारे कार्य की भी निन्दा करते हैं। सरकार को मौके-बेमौके वे यह भी सुझाते रहते थे कि वह किसी बडे कॉग्रेसी को जेल से रिहा करदे। वे तो जिन-जिन व्यक्तियो को जानते थे उन्हीके विषय मे सोच सकते थे। लिबरलो और प्रति-सहयोगी लोगो की दलील यह होती थी कि चूँकि अब सार्वजनिक शान्ति के लिए कोई खतरा नही है इसलिए अब अमुक-अमुक व्यक्ति को छोड़ देना चाहिए। और अगर फिर भी वह व्यक्ति बेजा काम करे तो सरकार उसको दुबारा गिरफ्तार कर ही सकती है, और फिर सरकार का उसे गिरफ्तार करना अधिक औचित्य-पूर्ण होगा। इग्लैण्ड मे भी कुछ लोगो ने इसी दलील की बिना पर कार्य-समिति के कुछ मेम्बरो या खास व्यक्तियो की रिहाई की पैरवी करने की महरबानी दिखाई थी। जब हम जेलो मे पडे हुए थे। तब हमारे मामलो मे जिन्होने दिलचस्पी ली, उनके प्रति हम अहसानमन्द हुए बिना नही रह सकते। लेकिन कभी-कभी हमे यह भी महसूस होता था कि अगर ये भले आदमी हमे हमारे ही ऊपर छोड़ दें तो अच्छा हो। उनकी सद्भावना मे हमे शक न था, लेकिन यह जाहिर था कि उन्होने ब्रिटिश सरकार की विचार-धारा को ही ग्रहण कर रक्खा था, और उनके और हमारे बीच बहुत अन्तर था।

हिन्दुस्तान मे जो कुछ हो रहा था वह लिबरलो को ज्यादा पसन्द न था। उससे उन्हे दु.ख होता था, लेकिन फिर भी वे क्या कर सकते थे? सरकार के खिलाफ कोई भी कारगर कदम उठाने का तो वे खयाल तक नही कर सकते थे। सिर्फ अपने

समुदाय को अलग बनाये रखने के लिए उन्हे जनता से और सक्रिय लोगो से दूर-दूर ही हटना पडा, उन्हे नरम बनते-बनते इतना पीछे हटना पडा कि उनकी और सरकार की विचार-धारा मे फर्क जानना मुश्किल हो गया। तादाद मे कम और जनता पर असर न होने के कारण, उनकी वजह से आम लडाई में कोई फर्क न पड सका। मगर उनमे कुछ प्रतिष्ठित और प्रसिद्ध लोग भी थे, जिनकी जाती तौर पर इज्जत होती थी। लेकिन इन्ही नेताओ ने, और लिबरल और प्रति-सहयोगी दलो ने भी मजमुई तौर पर, सरकारी नीति को नैतिक समर्थन देकर एक कठिन सकट के समय में ब्रिटिश सरकार की अपार सेवा की। सरकार के बल-प्रयोगो को और कानून को बालायताक रख देने की कार्रवाई को भी लिबरलो के द्वारा कारगर समालोचना के आभाव मे और मौके-ब-मौके उनकी तरफ से उसे दी गई मान्यता और समर्थन से फायदा मिला। इस तरह ऐसे समय मे जबकि सरकार को अपने भीषण और अभूतपूर्व बलप्रयोग को मुनासिब बताना मुश्किल हो रहा था, उसको लिबरलो और प्रति-सहयोगियो ने नैतिक बल दे दिया।

लिबरल नेताओ ने कहा कि व्हाइट-पेपर खराब है—बहुत ही खराब है, लेकिन अब उसके लिए करे क्या? अप्रैल १९३३ मे कलकत्ता मे लिबरल फेडरेशन का जो जलसा हुआ उसमे श्री श्रीनिवास शास्त्री ने, जोकि लिबरलो के सबसे प्रख्यात नेता है, समझाया कि वैधानिक-परिवर्तन कितने भी असतोष-जनक क्यो न हो, हमे उनको काम मे लाना ही चाहिए। उन्होने कहा कि "यह ऐसा वक्त नही है जबकि हम एक ओर खडे रहे और अपने सामने सब कुछ योही हो जाने दे।" जाहिर है कि, उनके खयाल मे सिर्फ यही 'कार्य' आ सकता था कि जो कुछ भी मिले उसे ले लिया जाय और उसीको काम में लाया जाय। अगर यह न हो तो, दूसरा कार्य था चुपचाप बैठे रहना। आगे उन्होने कहा—"अगर हममे समझदारी, अनुभव, नरमी, दूसरे को माइल करने और चुपचाप असर डालने की कुव्वत और असली कार्यदक्षता है, अगर हममे ये गुण है, तो उन्हे पूरी तरह से दिखलाने का यही अवसर है।" इस वक्तृत्वपूर्ण अपील पर कलकत्ता के 'स्टेट्समैन' की राय थी कि ये बडे "प्रभावपूर्ण शब्द" थे।

श्री शास्त्री हमेशा लम्बे-चौड़े भाषण देते है, और वक्ताओ की तरह सुन्दर शब्दो के और उनके सुरीले उपयोग का उन्हे शौक है। मगर वह अपने उत्साह मे बह भी जाते है, और शब्दो का जो इन्द्रजाल वह खड़ा करते हैं वह उनका मतलब दूसरो के लिए और शायद खुद उनके लिए भी धुंधला कर देता है। उन्होने अप्रैल १९३३ में, कलकत्ता में, सविनय भग के चालू रहते हुए, जो यह अपील की थी उसकी जरा जांच करनी चाहिए। मौलिक सिद्धान्त और लक्ष्य की बात जाने भी दें, तो भी

उसमें दो बाते गौर के काबिल दिखाई देती है। पहली बात तो यह कि कुछ भी क्यो न हो, ब्रिटिश सरकार के द्वारा हमारी कितनी भी तौहीन, दमन, अपमान, रक्त-शोषण क्यो न होता हो, हमे उसको मानना ही चाहिए। ऐसी कोई मर्यादा नही बनाई जा सकती जिसके बाहर हम हरगिज न जावे। एक जरा-सा कीडा भलेही एक बार मुकाबिला करने पर अमादा हो जाय, लेकिन श्री शास्त्री की सलाह पर चले तो हिन्दुस्तानी ऐसा कभी नही कर सकते। उनकी राय के मुताबिक इसके सिवा कोई रास्ता ही नही है। इसका मतलब यह है कि जहाँतक उनका ताल्लुक है, ब्रिटिश सरकार के फैसले के सामने झुक जाना और उसे मजूर कर लेना उनका धर्म (अगर मै इस अभागे शब्द का प्रयोग कर सकूँ) हो गया है। और हम चाहे या न चाहे, हमारी किस्मत में उसको मान लेना ही बदा है

यह ग़ौर करने की बात है कि वह किसी निश्चित और जानी हुई परिस्थिति पर अपनी राय नही दे रहे थे। 'वैधानिक परिवर्तन' तो अभी बन ही रहे थे, हालाकि सबको यह काफी तौर पर मालूम था कि वे बहुत बुरे होगे। अगर उन्होने यह कहा होता कि, "हालाकि 'व्हाइट-पेपर की तजवीज़े' खराब है, लेकिन सारी परिस्थिति को देखते हुए अगर इन्हीको कानून का रूप दे दिया जाय तो मै उनको काम मे लाने के हक मे हूँ," तो उनकी सलाह चाहे अच्छी होती या बुरी, पर मौजूदा वाकयात से सबद्ध तो होती। लेकिन श्री शास्त्री तो बहुत आगे बढ गये और उन्होने कहा कि आनेवाले वैधानिक परिवर्तन चाहे कितने भी असन्तोष-जनक हो, फिर भी उनकी सलाह तो वही रहेगी। राष्ट्र की दृष्टि मे जो सबसे ज्यादा जरूरी बात थी, उसके बारे मे वह ब्रिटिश सरकार को बिलकुल कोरा चेक देने को तैयार थे। मेरे लिए यह समझना जरा मुश्किल है कि कोई भी व्यक्ति या पार्टी या दल जबतक कि वह किसी भी उसूल या नैतिकता या राजनैतिक आदर्श से बिलकुल खाली न हो और शासको के फरमानो की हमेशा ताबेदारी करना ही उसका ध्येय और नीति न हो, तब-तक वह अज्ञात भविष्य के लिए कोई वचन कैसे दे सकता है ?

दूसरी जिस बातकी तरफ़ मेरा ध्यान जाता है, वह है शुद्ध युक्ति-कौशल की। नये सुधारो के कानून बनने की लम्बी मज़िल मे व्हाइट-पेपर तो सिर्फ़ एक सीढी ही थी। सरकार की निगाह में वह एक जरूरी सीढी थी, लेकिन अभी तो कई सीढियां बाकी थी, और मंज़िले-मकसूद तक जाते-जाते मुमकिन था उसमे आगे, अच्छी या बुरी, कई तबदीलिया हो जाती। इन तबदीलियो का आधार जाहिरा यह था कि ब्रिटिश सरकार और पार्लमेण्ट पर भिन्न-भिन्न स्वार्थ अपना कितना-कितना दबाव डाल सकते थे। इस रस्साकशी में यह समझा जा सकता था कि हिन्दुस्तान के लिबरलो को

अपनी तरफ मिलाने की इच्छा से सरकार पर कुछ असर पडता और उससे वह योजनाओ को जरा और उदार बनाती या कम-से-कम उसमे कोई कमी तो न करती। लेकिन नये सुधारो की मजूरी या नामजूरी, या उन्हे काम मे लाने या न लाने का सवाल उठने से बहुत पहले ही श्री शास्त्री की जोरदार घोषणा ने सरकार को यह साफ बता दिया कि उसे हिन्दुस्तान के लिबरलो की परवा नही करनी चाहिए। अब उन्हे अपनी तरफ मिलाने का सवाल ही नही रहा। चाहे उन्हे धक्का देकर भी बाहर निकाल दिया जाय, तो भी वे सरकार का साथ न छोडेंगे। इस मामले मे, भरसक लिबरल दृष्टिकोण से ही विचार करने पर भी, मुझे तो यही मालूम होता है कि श्री शास्त्री का कलकत्तेवाला भाषण अत्यन्त भद्दे युक्ति-कौशल का परिचायक था, और उससे लिबरल-पक्ष को भी नुकसान पहुँचा।

मैने श्री शास्त्री के पुराने भाषण पर इस कारण इतना ज्यादा लिखने की धृष्ठता नही की है कि वह भाषण या लिबरल फेडरेशन का जलसा असल मे कोई महत्व रखते थे, लेकिन इसलिए कि मै समझना चाहता हूँ कि लिबरल नेताओ की मनोवृत्ति और विचार कैसे है। वे सुयोग्य और आदरणीय लोग है, फिर भी मै यह नही समझ पाया हूँ कि वे ऐसे काम क्यो करते है। श्री शास्त्री के एक और भाषण का भी, जिसे मैने जेल मे पढा था, मुझपर बहुत असर पडा। जून १९३३ मे वह पूना मे भारत-सेवक-समिति के, जिसके वह अध्यक्ष है, सामने बोल रहे थे। कहा जाता है कि उन्होने बतलाया कि अगर हिन्दुस्तान से अचानक अग्रेजी प्रभाव हट जाय, तो यह खतरा हो सकता है कि राजनैतिक हलचलो की एक पार्टी दूसरी पार्टी के प्रति तीव्र घृणा रक्खे, उसे सताव और उसपर जुल्म करे। लेकिन इसके बरखिलाफ ब्रिटिश राजनैतिक जीवन मे हमेशा सहिष्णुता की खासियत रही है, इसलिए हिन्दुस्तान का भविष्य ब्रिटेन के साथ-साथ रहते हुए जितना बन सकेगा, उतनी ही ज्यादा हिन्दुस्तान मे सहिष्णुता जारी रहने की सम्भावना रहेगी। जेल मे रहने के कारण श्री शास्त्री के भाषण का जो मुख्तसर हाल कलकत्ता के 'स्टेट्समैन' द्वारा मिला है मुझे तो उसीको मानना पडता है। 'स्टेट्समैन' ने उसपर आगे लिखा है, कि 'यह सुन्दर सिद्धान्त है, और हम देखते है कि डाक्टर मुजे के भाषणो मे भी यही भाव रहा है।' कहा जाता है कि श्री शास्त्री ने बताया कि रूस, इटली और जर्मनी म भी स्वतन्त्रता का दमन हो रहा है, और वहा बडी अमानुषिकता और जगलीपन से काम लिया जाता है।

जब मैने यह हाल पढा तो मुझे ध्यान आया कि ब्रिटेन और हिन्दुस्तान के सम्बन्ध मे ब्रिटेन के 'कट्टर' अनुदार व्यक्ति से श्री शास्त्री का दृष्टिकोण कितना मिलता-जुलता है। दोनो मे तफसील के बारे मे बेशक फर्क है। लेकिन मूलत विचार-धारा एक ही

हैं । श्री विन्स्टन चर्चिल भी, अपने विश्वासो के साथ किसी-किस्म की ज्यादती न करते हुए ठीक ऐसी ही भाषा मे अपने ख़यालात जाहिर कर सकते थे । फिर भी, श्री शास्त्री लिबरल-पार्टी मे उग्र विचार के समझे जाते है, और उसके सबसे ज्यादा-योग्य नेता है ।

श्री शास्त्री के इतिहास के अध्ययन या ससार के प्रश्नो पर उनकी राय से मै सहमत नही हूँ, खासकर ब्रिटेन और हिन्दुस्तान-विषयक उनकी सम्मति को मानने मे मै बिलकुल असमर्थ हूँ। शायद कोई विदेशी भी, जो अग्रेज न होगा, उससे सहमत न होगा। और शायद उन्नत विचारो के कई अग्रेज भी उनकी राय को न मानेगे । अग्रेज़ी शासको के रगीन चश्मो से दुनिया और अपने देश को देखना, यह उन्हीकी खुश-किस्मती है। फिर भी, यह गौर करने लायक बात है कि पिछले अठारह महीनों से जो गैर-मामूली वाक़यात हिन्दुस्तान मे रोजाना हो रहे थे, और जो उनके भाषण के वक्त भी हो रहे थे, उनका उन्होने इसमे जिक्र तक नही किया । उन्होने रूस, इटली, जर्मनी का नाम तो लिया, लेकिन उनके देश मे ही जो भयकर दमन और स्वतन्त्रता का दलन हो रहा था उसका नाम तक नही लिया । मुमकिन है उन्हे वे सारे खौफनाक वाकयात न मालूम हो जो सीमा-प्रान्त मे हुए थे और बंगाल मे हुए थे—जिनको राजेन्द्र बाबू ने हाल मे कॉंग्रेस के अपने अध्यक्ष-पद से दिये गये भाषण मे 'बग-भूमि पर बलात्कार' कहा है—क्योकि सेन्सर के परदे ने सब वाकयात को छिपा रक्खा था । लेकिन क्या उन्हे भारत-भूमि का दु ख और जबरदस्त मुखालिफ के मुकाबिले मे हिन्दुस्तान के लोग जो जीवन और स्वतन्त्रता की लड़ाई लड़ रहे थे वह भी याद न रही ? क्या उन्हे पुलिस-राज का, जो बडे-बडे हिस्सो मे छाया हुआ था, फौजी कानून जसी परिस्थिति का, आर्डिनेन्सो, भूख-हडतालों और जेल के दूसरे कष्टों का हाल मालूम न था ? क्या उन्होने यह महसूस न किया कि जिस सहिष्णुता और स्वतन्त्रता के लिए वह ब्रिटेन की तारीफ करते थे, उसीको ब्रिटेन ने हिन्दुस्तान मे कुचल डाला है ?

वह कॉंग्रेस से सहमत थे या नही, इसकी परवा नही । उन्हे कॉंग्रेस की नीति की समालोचना और निन्दा करने का पूरा अख्त्यार था । लेकिन एक हिन्दुस्तानी के नाते, एक स्वाधीनता-प्रेमी के नाते, एक भावुक व्यक्ति के नाते, उनके देशवासी स्त्री और पुरुष जो अद्भुत साहस और बलिदान दिखा रहे थे उसके प्रति उनके क्या विचार थे ? जब हमारे शासक हिन्दुस्तान के हृदय पर कुल्हाडी चला रहे थे, तब क्या उन्हे दुःख और कष्ट नही मालूम होता था ? हजारो आदमी एक मगरूर साम्राज्य की जिस्मानी ताकत के सामने झुकने से इन्कार कर रहे थे, और अपनी आत्मा को झुकाने के बजाय अपने शरीरों का कुचला जाना, अपने परिवारो का बरबाद हो जाना, और प्यारो का

कष्ट उठाना ज्यादा पसन्द कर रहे थे । क्या वह इसका महत्व कुछ नही समझते थे ? हम जेलो मे और बाहर हिम्मत रक्खे हुए थे, और हम हँसते थे और खुश थे, लेकिन हमारी प्रसन्नता तो आँसुओ मे से होकर निकलती थी और हमारा हँसना कभी-कभी रोने के बराबर था ।

एक बहादुर और उदार अग्रेज श्री वेरियर एलविन हमे बताते है कि उनके दिल पर इसका क्या असर हुआ । १९३० के बारे मे वह कहते है कि "वह एक अद्भुत दृश्य था जब सारा राष्ट्र गुलामी के दिमागी बन्धनो को दूर कर रहा था, और अपनी सच्ची शान से निडर निश्चय प्रकट करता हुआ उठ रहा था ।" और फिर "सत्याग्रह की लडाई मे ज्यादातर काँग्रेसी स्वय-सेवको ने आश्चर्यजनक अनुशासन बताया था, ऐसा अनुशासन कि जिसकी एक प्रान्तीय गवर्नर ने भी उदारता के साथ तारीफ की है····· ।"

श्री श्रीनिवास शास्त्री एक योग्य और भावुक आदमी है, जिनकी उनके देशवासी बडी इज्जत करते है, और यह नामुमकिन मालूम होता है कि ऐसी लडाई मे उनके भी ऐसे ही विचार न हो और उन्हे भी अपने देशवासियो से सहानुभूति न हो । उनसे यह उम्मीद हो सकती थी कि वह सरकार द्वारा सब तरह की नागरिक स्वतन्त्रता और सार्वजनिक प्रवृत्तियो के दमन की निन्दा मे अपनी आवाज उठाते । उनसे यह भी उम्मीद हो सकती थी कि वह और उनके साथी सबसे ज्यादा दबाये हुए प्रान्तो—बगाल और सीमा-प्रान्त—मे खुद जाते, इसलिए नही कि किसी भी तरह काँग्रेस या सविनय भग मे मदद दे, बल्कि अधिकारियो और पुलिस की ज्यादतियो को जाहिर करने और इस तरह उन्हे रोकने के लिए । दूसरे देशो मे आजादी और नागरिक स्वतन्त्रता के प्रेमी अक्सर ऐसा करते है । लेकिन ऐसा करने के बजाय, सरकार जब हिन्दुस्तान के स्त्री-पुरुषो को पैरो-तले रौंद रही थी, और जब उसने रोजमर्रा की आज़ादी को भी कुचल दिया था, तब उसको रोकने के बजाय, और क्या घटनाये हो रही है, कम-से-कम यही तलाश करने के बजाय, उन्होने ठीक ऐसे वक्त मे अग्रेजो को सहिष्णुता और आजादी के प्रमाण-पत्र दे देना पसन्द किया जबकि हिन्दुस्तान के अग्रेजी शासन मे ये दोनो गुण बिलकुल ही नही रह गये थे । उन्होने सरकार को अपना नैतिक सहारा दे दिया, और दमन के कार्य मे उनका हौसला बढाया और प्रोत्साहन दिया ।

मुझे पूरा यकीन है कि उसका यह तात्पर्य नही रहा होगा, या उन्हे यह खयाल नही रहा होगा कि इसका क्या परिणाम हो सकता है । मगर उनके भाषण का यही असर हुआ होगा इसमे तो शक नही हो सकता । तो, इस तरह उन्हे विचार और कार्य क्यो करना चाहिए था ?

मुझे इस सवाल का ठीक जवाब सिवा इसके और नही मिला है कि लिबरल

नेताओ ने अपने-आपको अपने देशवासियो और समस्त आधुनिक विचारो से बिलकुल दूर कर लिया है। जिन पुराने ढग की किताबो को वे पढते है, उन्होने उनकी निगाह से हिन्दुस्तान की जनता को ओझल कर दिया है और उनमे एक तरह से अपनी ही खूबियो पर मरने की आदत पैदा हो गई है। हम लोग जेलो मे गये और हमारे शरीर कोठरियो मे बन्द रहे, लेकिन हमारे दिमाग आजाद फिरते थे और हमारा हौसला दबा नही था। लेकिन उन्होने तो अपने ढग का दिमागी कैदखाना खुद ही बना लिया था, जहाँ वे अन्दर-ही-अन्दर चक्कर काटा करते थे और उससे निकल नही सकते थे। वे 'मौजूदा हालात' के ही ईश्वर की पूजा करते थे; और जब हालात बदल गये, जैसाकि इस परिवर्तनशील दुनिया में होता ही रहता है, तो उनके पास न पतवार रहा न कम्पास; दिमाग और जिस्म दोनो बेकार हो गये, न उनके पास आदर्श रहे न नैतिक नाप। इन्सान को या तो आगे जाना पड़ेगा या पीछे हटना पडेगा। हम इस गतिशील ससार मे एक ही जगह खडे नही रह सकते। परिवर्तन और प्रगति से डरने के कारण, लिबरल अपने आस पास के तूफानो को देखकर भयभीत हो गये; हाथ-पैरो से कमजोर होने के कारण आगे न बढ सके, और इसलिए वे लहरो मे इधर-उधर उछलते रहे, और जो भी तिनका उन्हे मिल जाता था उसीका सहारा लेने की वे कोशिश करते रहे। वे हिन्दुस्तान की राजनीति के हैमलेट बन गये; 'तरह-तरह के विचारो की चिन्ता से पीले और बीमार-से पड गये', हमेशा सदेह, हिचकिचाहट और अनिश्चय मे पडे रहे।

अय ईर्ष्यारत दुष्ट! मेल का समय कहाँ अब;
लगा सदा मैं रहा ठीक ही करने में सब![1]

'सर्वेण्ट आफ इण्डिया' नामक एक लिबरल अखबार ने सविनय भग-आन्दोलन के आखिरी दिनो मे काँग्रेसी लोगो पर यह आरोप लगाया था कि वे पहले तो जेल जाना चाहते है, और जब वहाँ पहुँच जाते है तब फिर बाहर आना चाहते है। उसने कुछ चिढते हुए कहा कि यही एकमात्र काँग्रेस की नीति है। स्पष्टत:, इसके बदले मे लिबरलो का रास्ता होता ब्रिटिश मन्त्रियो की सेवा मे इग्लैण्ड डेप्यूटेशन भेजना, या इग्लैण्ड मे शासक-दलो के परिवर्तन का इन्तज़ार करना और उसके लिए दुआये माँगना।

किसी हद तक यह सच था कि उन दिनो काँग्रेस की नीति खासकर यही थी

१. मूल अंग्रेज़ी पद्य इस प्रकार है :—

"The time is out of joint O cursed spite!
That ever I was born to set it right,"

कि आर्डिनेन्स और दूसरे दमनकारी कानूनो को तोडा जाय, और इसकी सजा जेल थी। यह भी सच था कि कॉंग्रेस और राष्ट्र लम्बी लडाई के वाद थक गये थे, और सरकार पर कोई कारगर दवाव नही डाल सकते थे। लेकिन हमारे सामने एक व्यावहारिक और नैतिक दृष्टि थी।

नगा वल-प्रयोग, जैसा कि हिन्दुस्तान मे किया जा रहा था, शासको के लिए वडा खर्चीला मामला होता है। उनके लिए भी यह एक दु खदाई और घवरा देनेवाली अग्नि-परीक्षा होती है, और वे अच्छी तरह जानते है कि अन्त मे इससे भी उनकी वुनियाद कमजोर पड जाती है। इससे जनता के सामने और सारी दुनिया के सामने उनकी हुकूमत का असली रूप हमेशा प्रकट होता रहता है। इसके वनिस्वत वह यह वहुत ज्यादा पसन्द करते है कि अपने फौलादी पजे को छिपाने के लिए हाथ पर मखमली दस्ताना पहने रहे। जो लोग सरकार की इच्छाओ के सामने झुकना नही चाहते, फिर चाहे उसका परिणाम कुछ भी हो, उनसे मुकाविला करने से वढकर रोषोत्पादक और अन्त मे हानिकर वात किसी भी शासन के लिए दूसरी नही है। इसलिए दमनकारी कानूनो का कभी-कभी भग होता रहना भी एक महत्व रखता था। उससे जनता की ताकत वढती थी, और सरकार के नैतिक वल की वुनियाद ढहती थी।

नैतिक दृष्टि तो इससे भी ज्यादा जरूरी थी। एक प्रसिद्ध स्थान पर थोरो ने लिखा है कि, "ऐसे समय मे जवकि स्त्री और पुरुष अन्यायपूर्वक जेल मे डाले जाते हो, तव न्यायी स्त्री-पुरुषो का स्थान भी जेल ही है।" यह सलाह शायद लिवरल और दूसरे लोगो को न जँचे, लेकिन हममे से कई लोग ऐसा महसूस करते है कि मौजूदा हालत मे, जव कि सविनय भंग के अलावा भी हमारे कई साथी हमेशा जेल मे रक्खे जाते है, और जवकि सरकार का वल-प्रयोजक तन्त्र निरन्तर हमारा दमन और हमारी वेइज्जती कर रहा है और हमारे लोगो के शोपण मे मदद दे रहा है, तव किसी के लिए नैतिक जीवन विताना सम्भवनीय नही है। अपने ही देश मे हम सदिग्ध होकर आते-जाते है। हमपर निगरानी रक्खी जाती है और हमारा पीछा किया जाता है। हमारे शब्दो को इसलिए नोट किया जाता है कि वे कही राजद्रोह के व्यापक कानून को तोडते तो नही है, हमारी खतो-कितावत खोली और पढी जाती है, और हमेशा यह सम्भावना वनी रहती है कि सरकार हम पर किसी तरह की मुमानियत लगा देगी या हमें गिरफ्तार कर लेगी। ऐसी हालत में हमारे सामने दो ही रास्ते है—या तो सरकारी ताकत के मुकाविले मे हमारे सिर बिलकुल झुक जायँ, हमारा आत्मिक पतन हो जाय, हमारे अन्दर जो सचाई है उससे इन्कार कर दिया जाय, और जिन प्रयोजनो को हम वुरा समझते है उनके लिए हमारा नैतिक दुरुपयोग हो, या

उसका मुकाबिला किया जाय, और उसका जो कुछ नतीजा हो वह बरदाश्त किया जाय। कोई भी शख्स योंही जेल जाना या मुसीबत बुलाना नहीं चाहता। मगर, अक्सर, दूसरे रास्तो की बनिस्बत जेल जाना ही ज्यादा अच्छा होता है। जैसा कि बर्नार्ड शॉ ने लिखा है, "जीवन मे असली दु ख की बात सिर्फ यही है कि जिन उद्देश्यो को तुम पतन-पूर्ण समझते हो उन्हींके लिए स्वार्थी लोगो द्वारा तुम्हारा उपयोग हो। इसके सिवा और जो कुछ है वह तो सिर्फ बदकिस्मती या मृत्यु है, और एकमात्र यही तो मुसीबत, गुलामी और दुनिया का दोजख है।"

४६

लम्बी सज़ा का अन्त

मेरी रिहाई का वक्त नज़दीक आ रहा था। मुझे 'नेकचलनी' की मामूली छूट मिली थी, और इससे मेरी दो साल की मियाद मे से साढे तीन महीने कम हो गये थे। मेरी मानसिक शान्ति मे, या जेल-जीवन से जो आम दिमागी सुस्ती पैदा हो जाती है उसमे, रिहाई के खयाल ने खलल पैदा कर दिया। बाहर जाकर मुझे क्या करना चाहिए? यह एक मुश्किल सवाल था, और इसके जवाब की हिचकिचाहट ने बाहर जाने की मेरी खुशी कम करदी। लेकिन वह भी क्षणिक भाव था, और मेरी लम्बे अर्से से दबी हुई क्रियाशीलता फिर उमडने लगी और मैं बाहर निकलने को उत्सुक हो गया।

जुलाई १९३३ के अन्त मे एक बहुत ही दर्दनाक और बेचैनी पैदा करनेवाली खबर मिली—जे० एम० सेनगुप्त की अचानक मृत्यु हो गई। हम दोनो कई साल से कार्य-समिति मे सिर्फ गहरे साथी ही नही थे, बल्कि उनसे मुझे केम्ब्रिज के अपने शुरू के दिनो की भी याद आ जाया करती थी। हम दोनो सबसे पहले केम्ब्रिज मे ही मिले थे—मैं तो नया दाखिल हुआ था और उन्होने उसी समय अपनी डिग्री हासिल की थी।

सेनगुप्त का देहान्त नजरबन्दी की हालत मे हुआ। १९३२ के शुरू मे जब वह योरप से लौटे थे, तो बम्बई मे जहाज पर ही वह शाही कैदी बना लिये गये थे। तभीसे वह कैदी या नजरबन्द रहे, और उनकी तन्दुरुस्ती खराब हो गई। सरकार ने उन्हे कई तरह की सहूलियते दी, लेकिन वह बीमारी की रफ्तार को न रोक सकी। कलकत्ता मे उनकी अन्त्येष्टि के समय जनता ने खूब प्रदर्शन किया और उनके प्रति सम्मान प्रकट किया, ऐसा दिखाई देता था कि बगाल की लम्बे अर्से से रुकी और कष्ट पाती हुई आत्मा को कम-से-कम थोडी देर के लिए प्रकट होने को मार्ग मिल गया है।

इस तरह सेनगुप्त तो चल बसे। दूसरे शाही क़ैदी सुभाष बोस को, जिनकी तन्दुरुस्ती भी बरसो नजरबन्दी और कैद से बर्बाद हो गई थी, आखिरकार सरकार ने इलाज के लिए योरप जाने की इजाजत दे दी। लेकिन और भी कितने लोग जेल-जीवन और बाहर की लगातार हलचलो की शारीरिक थकावट को बरदाश्त न कर सकने के कारण तन्दुरुस्ती खो बैठे थे, या मर चुके थे। और कितने लोगो के, हाला-

कि ऊपर से उनमे बडी तबदीली दिखाई न देती थी, दिमागो मे उस गैर-मामूली जिन्दगी के कारण जो उन्हे जेल मे बितानी पडी थी गहरी मानसिक अव्यवस्था और विषमताये पैदा हो गई थी ।

सेनगुप्त की मृत्यु से बहुत साफ तौर पर मुझे मालूम होने लगा कि सारे देश-भर मे कितना भयकर और मौन कष्ट-सहन हो रहा है, और मै निराश और उदास-सा हो गया । यह सब किसलिए हो रहा है ? आखिर किसलिए ?

अपनी तन्दुरुस्ती के बारे मे मै खुशकिस्मत था, और कॉंग्रेस की प्रवृत्तियो की मेहनत ओर अनियमित जीवन के होते हुए भी मै कुल मिलाकर अच्छा ही रहा । मेरे खयाल से, इसका कुछ कारण तो यह था कि मुझे पैतृक रूप से ही अच्छा शरीर मिला था, और कुछ कारण यह भी था कि मैने अपने शरीर की फिक्र रक्खी थी । बीमारी और कमजोरी और ज्यादा मुटापा मुझे बहुत भद्दा मालूम पडा, और कसरत, ताजा हवा और साधारण भोजन की मदद से मै उनसे बच सका । मेरा अपना तजुर्बा यह है कि हिन्दुस्तान के मध्यम वर्गो की बहुत-सी बीमारियॉं तो गलत भोजन से होती है । वे तरह-तरह के पक्वान्न और सो भी ज्यादा मिकदार मे खाते है । (यह बात उन्ही-पर लागू होती है जिनकी ऐसी फजूलखर्च आदते रखने की हैसियत होती है ।) लाड-प्यार करनेवाली माताये बच्चे को मिठाइयॉं और दूसरी बढिया कही जानेवाली चीजे ज्यादा खिला-खिलाकर जिन्दगीभर के लिए बदहजमी की पक्की नीव डाल देती है । बच्चे को कपडे भी बहुत-से पहना दिये जाते है । हिन्दुस्तान मे अग्रेज लोग भी बहुत ज्यादा खाते है, हालॉंकि उनके खाने मे इतने पक्वान्न नही होते । शायद उन्होने पिछली पीढी से, जो गरम-गरम और तेज भोजन अधिक मात्रा में किया करते थे उसमे, अब कुछ सुधार कर लिया है ।

मैने शौकिया चीजे खाने की या भोजन-सबन्धी प्रयोग करने की तरफ कोई ध्यान नही दिया, और सिर्फ ज्यादा मिकदार और पकवानो से बचता रहा । करीब-करीब सभी कश्मीरी ब्राह्मणो की तरह हमारा परिवार भी मासाहारी परिवार था, और बचपन से मै हमेशा मास खाता रहा था, हालॉंकि मुझे उसका बहुत शौक कभी नही रहा । पर १९२० मे असहयोग के वक्त से मैने मास छोड दिया, और मै शाकाहारी बन गया । इसके छ. साल बाद योरप जाने पर मै फिर मास खाने लगा । मगर फिर हिन्दुस्तान आने पर मै शाकाहारी बन गया, और तबसे मै बहुत-कुछ शाकाहारी ही रहा हूँ । मास-भोजन मुझे अच्छी तरह माफिक पडता है, लेकिन मुझे उससे अरुचि हो गई है, और तबीयत उसके खाने से कुछ कचवाती है ।

मेरी बीमारियो के दौरान मे, खासकर १९३२ मे जेल मे जबकि कई महीनो

तक रोजाना मुझे हरारत हो आया करती थी, मुझे बड़ा गुस्सा-सा आता था, क्योंकि उससे मेरी अच्छी तन्दुरुस्ती के गर्व को ठेस पहुँचती थी। और मुझमें जीवन और शक्ति होने की अपनी सदा की धारणा के विरुद्ध, मैं पहली ही बार सोचने लगा, और मुझे खयाल आया, कि मेरी तन्दुरुस्ती धीरे-धीरे गिरती जा रही है और मैं घुलता जा रहा हूँ, और इससे मैं भयभीत हो गया। मेरा खयाल है कि मैं मौत से खास तौर पर डरता नही हूँ। लेकिन शरीर और मस्तिष्क से धीरे-धीरे घुलते जाना तो दूसरी ही बात थी। मगर मेरा डर जरूरत से ज्यादा था और मैं अपनी अस्वस्थता से छूटने और अपने शरीर को काबू मे लाने मे कामयाब हुआ। जाड़े मे बडी देर तक धूप मे बैठे रहने से मैं फिर अपनेको तन्दुरुस्त महसूस करने लगा। जबकि जेल के मेरे साथी अपने कोटो और दुशालो मे लिपटे हुए काँपा करते थे, मैं खुले बदन सूर्य-किरणो मे बैठ जाया करता था। ऐसा जाडे के दिनो मे सिर्फ उत्तर हिन्दुस्तान मे ही हो सकता था, क्योंकि दूसरी जगहो पर तो धूप अक्सर बहुत तेज होती है।

मेरी कसरतो मे मुझे खासकर शीर्षासन बहुत पसन्द आता था। मैं दोनो हाथो के पजो को जोडकर उनपर सिर का पिछला हिस्सा रखकर और कोहनियो को ज़मीन पर टिकाकर बदन को सिर के बल उलटा करके खड़ा हो जाता था। मेरा खयाल है कि शारीरिक दृष्टि से यह कसरत बडी अच्छी है, और मुझपर हुए उसके मानसिक प्रभाव के कारण भी मैं उसे पसन्द करता था। इस कुछ-कुछ बेतुके आसन से मेरी तबीयत खुश हो जाती थी, और मैं मनुष्य की ऐसी तरह-तरह की तरंगो के प्रति ज्यादा सहनशील हो गया था।

उदासी के दौरो को, जोकि जेल-जीवन मे लाज़िमी तौर पर आते ही है, पार करने के लिए मेरी आम तौर पर अच्छी तन्दुरुस्ती ने और अच्छा स्वास्थ्य होने की शारीरिक-भावना नें बडी सहायता की। इनसे मुझे जेल की या बाहर की बदलती हुई हालतो के मुताबिक अपने-आपको बना लेने मे भी मदद मिली। मेरे दिल को कई बार धक्के लगे है, जिनसे उस वक्त तो मैं बहुत ही बेहाल हो जाता था, लेकिन मुझे ताज्जुब हुआ कि मै अपनी उम्मीद से भी जल्दी उनसे बरी हो जाता था। मेरी राय मे, मेरी मूलभूत शान्तता और स्वस्थता का एक सुबूत यह है कि मुझे कभी तेज सिर-दर्द नही हुआ और न मुझे कभी नीद न आने की शिकायत हुई। मैं सभ्यता की इन आम बीमारियो से और आँख की कमजोरी से भी बच गया हूँ, हालाँकि मैं पढने और लिखने मे और कभी-कभी तो जेल की खराब रोशनी मे भी आँखो का बहुत ज्यादा इस्तैमाल करता रहा। पिछले साल एक आँखो के डाक्टर ने मेरी अच्छी दृष्टि-

शक्ति पर बडा आश्चर्य प्रकट किया था। आठ साल पहले उसने भविष्यवाणी की थी कि मुझे एक या दो साल मे ही चश्मा लगाना पडेगा। उसका कहना बहुत गलत निकला, और मैं अब भी बगैर चश्मे के अच्छी तरह काम चला रहा हूँ। हालाँकि इन बातो से मैं शान्त और स्वस्थ होने की नामवरी पा सकता हूँ, लेकिन मैं यह भी कह देना चाहता हूँ कि मैं उन लोगो से बहुत खौफ खाता हूँ जो जब देखो तब हमेशा ही एक-से शान्त और गम्भीर बने रहते हैं।

जबकि मैं जेल से अपनी रिहाई का इन्तजार कर रहा था, उस समय बाहर व्यक्तिगत सविनय भग का नया स्वरूप शुरू हो रहा था। गाधीजी ने इसमे सबसे पहले मिसाल पेश करने का फैसला किया, और अधिकारियो को पूरी तरह नोटिस देने के बाद वह १ अगस्त को गुजरात के किसानो मे सविनय भग का प्रचार करने के लिए रवाना हुए। वह फौरन गिरफ्तार कर लिये गये, उन्हे एक साल की सजा देदी गई और वह यरवडा की अपनी कोठरी मे फिर भेज दिये गये। मुझे खुशी हुई कि वह वापस वहाँ चले गये। लेकिन जल्दी ही एक नई पेचीदगी पैदा हो गई। गाधीजी ने जेल से हरिजन-कार्य करने की वही सहूलियते माँगी जो उन्हे पहले मिली थी। सरकार ने उन्हे देने से इन्कार कर दिया। अचानक हमने सुना कि गाधीजी ने फिर उपवास शुरू कर दिया है। ऐसी जबर्दस्त कार्रवाई के लिए हमे वह बहुत ही छोटा कारण मालूम हुआ। उनके निर्णय के रहस्य को समझना मेरे लिए बिलकुल नामुमकिन था, चाहे सरकार के सामने उनकी दलील बिलकुल सही भी हो। मगर हम कुछ नही कर सकते थे। असमंजस मे पड़े हुए हम देखते रहे।

उपवास के एक हफ्ते बाद उनकी हालत तेजी से गिरने लगी। वह एक अस्पताल मे पहुँचा दिये गये थे, लेकिन वह कैदी ही रहे और सरकार हरिजन-कार्य के लिए सहूलियते देने के मामले मे न झुकी। उन्होने जीवन की आशा (जोकि पिछले उपवासो मे कायम रही थी) छोड़ दी, और अपनी तन्दुरुस्ती को गिरने दिया। उनका अन्त नजदीक दीखने लगा। उन्होने लोगो से बिदाई लेली, और अपने पास पड़ी हुई अपनी थोड़ी-सी चीजो को भी इस-उसको बॉट देने का इन्तजाम कर दिया, जिनमे से कुछ नर्सो के लिए रही। लेकिन सरकार यह नही चाहती थी कि उनकी मौत की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले, इसलिए उसी शाम को वह अचानक रिहा कर दिये गये। इससे वह मरते-मरते बच गये। एक दिन और हो जाता, तो फिर उनका बचना मुश्किल था। इस प्रकार उन्हे बचाने का बहुत कुछ श्रेय सम्भवत. सी० एफ० एण्ड्रूज को है, जो गांधीजी के मना करने पर भी हिन्दुस्तान जल्दी से आ गये थे।

इस बीच, २३ अगस्त को, मैं देहरादून-जेल से बदल दिया गया, और दूसरी जेलो

मे करीब-करीब डेढ साल रहने बाद फिर ननी-जेल मे आ गया। ठीक उसी वक्त मेरी माताजी के अचानक बीमार हो जाने और अस्पताल ले जाये जाने की खबर मिली। ३० अगस्त १९३३ को मै नैनी से रिहा कर दिया गया, क्योकि मेरी मा की हालत खतरनाक समझी गई। मामूली तौर पर मै अपनी मियाद खतम होने पर ज्यादा-से-ज्यादा १२ सितम्बर को रिहा हो जाता। इस तरह मुझे प्रान्तीय सरकार ने तेरह दिन की छूट और दे दी।

५०

गांधीजी से मुलाक़ात

जेल से रिहा होते ही मै अपनी बीमार मा के पास लखनऊ पहुँचा और कुछ दिन उनके पास रहा। मै काफी लम्बे अर्से के बाद जेल से बाहर निकला था और मुझे लगा कि मै आस-पास के हालात से बिलकुल अपरिचित और अलग-सा हो गया हूँ। मैने यह अनुभव किया और उससे मेरे दिल को कुछ धक्का भी लगा जैसा कि आमतौर पर होता ही है, कि जब मै जेल मे पडा-पडा सड रहा था, तो दुनिया आगे चली जा रही थी और बदलती जा रही थी। बच्चे और लडकियाँ और लड़के बडे होते जा रहे थे, शादिया, पैदाइशे और मौते हो रही थी। प्रेम और घृणा, काम और खेल, दु ख और सुख सब हो रहे थे। जीवन मे दिलचस्पी पैदा करनेवाली नई-नई बाते हो गई थी, बातचीत के विषय नये हो गये थे, मै जो कुछ देखता और सुनता था, सबपर मुझे कुछ-न-कुछ आश्चर्य होता था। मुझे लगा कि मुझे एक खाडी मे छोडकर दुनिया का जहाज आगे बढ गया था। यह भावना सब तरह सुखदायिनी नही थी। जल्दी ही इस स्थिति के माफिक मै अपनेको बना सकता था, लेकिन ऐसा करने की मुझे प्रेरणा नही होती थी। मेरे दिल ने कहा कि जेल के बाहर सैर करने का मुझे यह तो थोडा-सा मौका मिला है और जल्दी फिर मुझे जेल मे ही जाना पड़ेगा; इसलिए जिस जगह से जल्दी चल ही देना है, उसके अनुकूल अपनेको बनाने की झझट क्यो मोल ली जाय ?

राजनैतिक दृष्टि से हिन्दुस्तान खामोश था। सार्वजनिक प्रवृत्तियो पर ज्यादातर सरकार ने नियन्त्रण और दमन कर रक्खा था और गिरफ्तारिया कभी-कभी हो जाया करती थी। मगर हिन्दुस्तान की उस वक्त की खामोशी बहुत मानी रखती थी। वह वैसी अशुभ खामोशी थी, जैसी कि भयकर दमन के अनुभव के बाद थक जाने से आ जाती है; जो खामोशी अक्सर प्रभाव के साथ बोलती है, लेकिन उसे दमन करनेवाली सरकार नही सुन सकती। सारा हिन्दुस्तान एक आदर्श पुलिस-राज्य बन गया था और शासन के सब कामो मे पुलिस-मनोवृत्ति व्याप्त हो गई थी। जाहिरा तौर पर हर तरह की कार्रवाई, जो सरकार की इच्छा के माफिक न हो, दबा दी जाती थी और देशभर मे खुफिया और छिपे कारिन्दो की बड़ी भारी फौज फैली हुई थी। लोगो मे आम तौर पर पस्तहिम्मती आ गई थी और चारो-ओर आतक छा गया था। कोई भी राजनैतिक प्रवृत्ति, खासकर देहाती हलको मे हो तो, फौरन कुचल दी

जाती थी और भिन्न-भिन्न प्रान्तीय सरकारे म्युनिसिपैलिटियो और लोकल बोर्डो मे से ढूंढ-ढूंढकर कॉंग्रेसवालो को निकालने की कोशिश कर रही थी। हर शख्स, जो सविनय कानून भग करके जेल गया था, सरकार की राय मे म्युनिसिपल स्कूलो मे पढाने या म्युनिसिपैलिटी मे और भी कोई काम करने के अयोग्य था। म्युनिसिपैलिटी आदि पर वडा भारी दवाव डाला गया और ये धमकियाँ दी गई कि अगर कॉंग्रेसवाले निकाले न जायँगे तो सरकारी इमदाद वन्द कर दी जायगी। इस वल-प्रयोग की सवसे वदनाम मिसाल कलकत्ता-कार्पोरेशन मे हुई। आखिरकार, मेरा खयाल है, सरकार ने एक कानून ही वना दिया कि कार्पोरेशन ऐसे व्यक्तियो को मुलाजिम नही रख सकता, जो राजनैतिक अपराधो पर सजा पा चुके हो।

जर्मनी मे नाजियो की ज्यादतियो की खबरो का हिन्दुस्तान के ब्रिटिश अफसरो और उनके अखवारो पर एक विचित्र प्रभाव पडा। उन ज्यादतियो से उन्हे हिन्दुस्तान मे उन्होने जो कुछ किया था उस सबको उचित वताने का कारण मिल गया और उन्होने मानो अपनी इस भलाई के अभिमान के साथ हमे वताया, कि अगर यहा नाजियो की हुकूमत होती, तो हमारा हाल कितना ज्यादा खराब हुआ होता। नाज़ियो ने तो विलकुल नये पैमाने कायम कर दिये है, उन्होने नई व्यवस्था ही लिख डाली है और उनका मुकाविला करना निश्चय ही आसान नही था। सम्भव है कि हमारा हाल ज्यादा खराव होता, लेकिन इसका निर्णय करना मेरे लिए मुश्किल है, क्योकि पिछले पाँच वर्षो मे हिन्दुस्तान मे क्या-क्या हुआ, इसके सारे वाकयात मेरे पास नही है। हिन्दुस्तान की ब्रिटिश सरकार ऐसे पुण्य मे विश्वास रखती है कि बाये हाथ से जो काम किया जाय उसका पता दाहिने हाथ को भी न लगना चाहिए, और इसलिए उसने निष्पक्ष जाँच कराने की हर तजवीज को नामजूर कर दिया, हालाँकि ऐसी जाँचो का पलडा हमेशा सरकारी पक्ष मे ही भारी हुआ करता है। मेरे खयाल से, यही सच है कि औसत अग्रेज वे-रहमी से नफरत करता है और मै ऐसे अग्रेजो की कल्पना नही कर सकता, जो नाजियो की तरह से "ब्रूतैलितात" (पशुता या बेरहमी) लफ्ज को खुले तौर पर कहने और उसे प्रेमपूर्वक दोहराने में शान मानते हो। जब वे ऐसा काम कर भी डालते है, तो उससे कुछ-कुछ शर्मिन्दा भी होते है। लेकिन चाहे हम जर्मन हो या अग्रेज हो या हिन्दुस्तानी हो, मेरा खयाल है कि सभ्यातापूर्ण व्यवहार का हमारा खोल इतना पतला है कि जव हमे रोष चढ आता है तो वह खुरचकर निकल जाता है और उसके भीतर से हमारा वह स्वरूप प्रकट होता है जिसे देखना अच्छा नही लगता। महायुद्ध ने मनुष्यजाति को भयकर रूप से पाशविक बना दिया है, और उसके बाद ही हमने यह दृश्य देखा कि सन्धि हो जाने के वाद भी जर्मनी का भयकर द्वाराव-

रोध करके उसे भूखों मारा गया। एक अंग्रेज लेखक ने लिखा है कि "यह एक सबसे अधिक निरर्थक, पाशविक और घृणित जुल्म था, जैसा कि शायद ही किसी राष्ट्र ने कभी किया हो।" १८५७ और १८५८ के वाकयात हिन्दुस्तान भूला नही है। जब हमारे स्वार्थ खतरे मे पड जाते है, तब हम अपने सारे समाज-व्यवहार और और सारी शराफत को भूल जाते हैं और झूठ ही 'प्रचार' का रूप धारण कर लेता है, पशुता ही 'वैज्ञानिक दमन' और 'कानून और व्यवस्था' की रक्षा बन जाती है।

यह किन्ही व्यक्तियो या किसी खास जाति का दोष नही है। वैसी ही परिस्थितियो मे थोडा-बहुत हर कोई वैसा ही बर्ताव करता है। हिन्दुस्तान मे, और विदेशी हुकूमत के मातहत हर मुल्क मे, हुकूमत करनेवाली शक्ति के खिलाफ हमेशा एक सुप्त चुनौती खडी रहती है और वक्तन-फवक्तन वह ज्यादा प्रकट और तेज भी होती रहती है। इस चुनौती से शासकवर्ग मे हमेशा फौजी गुण और दोष पैदा हो जाया करते है। पिछले कुछ सालो मे हिन्दुस्तान मे हमे इन फौजी गुण-दोषो का दृश्य बहुत ही ज्यादा मिकदार में देखने को मिला, क्योकि हमारी चुनौती जोरदार और कारगर हो गई थी। लेकिन हिन्दुस्तान मे हमे तो हमेशा ही फौजी मनोवृत्ति (या उसके अभाव) को सहन करना पडता है। साम्राज्य की स्थापना का यह एक नतीजा है और इससे दोनो पक्षो का पतन होता है। हिन्दुस्तान का पतन तो साफ़ दीखता ही है, लेकिन दूसरे पक्ष का ज्यादा सूक्ष्म है, सकट-काल मे वह प्रकट हो जाता है। और एक तीसरा पक्ष भी है, जिसे बदकिस्मती से दोनो तरह का पतन भोगना पडता है।

जेल मे मुझे ऊँचे-ऊँचे अफसरो के भाषण, असेम्बली और कौसिलो मे उनके जवाब और सरकारी बयानात पढने की काफी फुरसत मिली। पिछले तीन सालो में, मैंने देखा कि उनमे एक स्पष्ट तबदीली हो रही है, और यह तबदीली अधिक-अधिक प्रकट होती गई है। उनमें डराने और धमकाने का रुख ज्यादा-ज्यादा बढता गया है और वह रुख ऐसा हो गया था मानो कोई सार्जेण्ट मेजर अपने मातहतो से बोल रहा हो। इसकी एक ध्यान देने योग्य मिसाल थी, नवम्बर या दिसम्बर १९३३ में, शायद मिदनापुर डिवीजन के कमिश्नर का भाषण। इन सारे भाषणो मे 'हम विजयी हैं, हम जो चाहे वह करेगे' की भावना लगातार रहती थी। गैर-सरकारी यूरोपियन तो, खासकर बगाल मे, सरकारी लोगो से भी आगे बढ जाते है और उनके भाषणो और कार्यो दोनो मे उन्होने बहुत निश्चित फासिस्ट मनोवृत्ति दिखलाई है।

इसके भी अलावा, पाशविकता की एक और नगी मिसाल थी हाल मे ही सिन्ध मे कुछ मृत्युदण्ड पाये हुए मुजरिमो को खुली फासी देना। क्योकि सिन्ध मे जुर्म बढ़ रहे थे, इसलिए अधिकारियो ने तय किया कि इन मुजरिमो को सबके सामने फासी

दी जाय, ताकि दूसरे भी आगाह हो जायँ। इस भयकर दृश्य को आकर देखने के लिए पब्लिक को हर तरह की सुहूलियत दी गई और कहा जाता है कि कई हज़ार लोग गये भी थे।

जेल से रिहा होने के बाद, मैंने हिन्दुस्तान मे राजनैतिक और आर्थिक हालत का मुआयना किया और मुझे उन्हे देखकर जरा भी उत्साह मालूम न हुआ। मेरे कई साथी जेल मे थे, नई गिरफ्तारियाँ जारी थी, सारे आर्डिनेन्स अमल मे आ रहे थे, सेन्सर-शिप से अखबारो का गला घुटा हुआ था और हमारे पत्र-व्यवहार की व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गई थी। मेरे एक साथी रफीअहमद किदवई को अपने पत्रो पर सेन्सर की लहरो के कारण बडा गुस्सा आया। उनके खत रोक लिये जाते थे या देर मे आते थे या गुम ही हो जाते थे और इससे उनके काम-काज मे बडी रुकावट हो जाती थी। वह अपने पत्रो के बारे मे ज्यादा एहतियात से काम लेने की अपील सेन्सर से करना चाहते थे, लेकिन वह लिखते किसको ? सेन्सर करनेवाला कोई सार्वजनिक अधिकारी नही था। शायद वह कोई सी० आई० डी० अफसर था, जो अपना काम गुप्त रूप से करता था, जिसका कि अस्तित्व और कार्य प्रकट रूप से मजूर भी नही किया गया था। रफीअहमद ने इस मुश्किल को इस तरह हल किया कि उन्होने सेन्सर के नाम एक खत लिखा, लेकिन उसपर खुद अपना पता लिखकर डाल दिया। निश्चय ही खत अपने ठीक मुकाम पर पहुँच गया और बाद में रफीअहमद के पत्र-व्यवहार के बारे मे कुछ सुधार हो गया।

मै फिर वापस जेल जाना नही चाहता था। उससे मेरा पेट काफी भर गया था, लेकिन मुझे नही सूझता था कि मै उससे कैसे बच सकता था, जबतक कि मै सब तरह की राजनैतिक प्रवृत्ति ही न छोड दूं। मेरा यह इरादा न था, इसलिए मुझे लगा कि मुझे सरकार के सघर्ष मे आना ही पडेगा। किसी वक्त भी मुझको ऐसा हुक्म मिल सकता था कि मै कोई खास काम न करूँ, और मेरी सारी प्रकृति किसी खास काम के लिए मजबूर किये जाने के खिलाफ बगावत किया करती है। हिन्दुस्तान के लोगो को डराने और दबाने की कोशिश की जा रही थी। मै लाचार था और बडे क्षेत्र मे कुछ नही कर सकता था, लेकिन कम-से-कम मै जाती तौर पर डराये और दबाये जाने से इन्कार तो कर ही सकता था।

जेल वापस जाने से पहले मै कुछ मामले निबटा डालना चाहता था। सबसे पहले तो मुझे अपनी मा की बीमारी की तरफ ध्यान देना था। उनकी हालत बहुत धीरे-धीरे सुधरती गई, लेकिन वह इतनी धीरे-धीरे सुधरी कि एक साल तक वह चारपाई पर ही रही। मै गाधीजी से भी मिलने को उत्सुक था, जोकि पूना मे पड़े अपने

हाल के ही उपवास से स्वास्थ्य-सुधार कर रहे थे। दो साल से ज्यादा अर्से से मैं उनसे नही मिला था। ज्यादा-से-ज्यादा मैं अपने प्रान्तीय साथियो से भी मिलना चाहता था, ताकि उनसे न सिर्फ हिन्दुस्तान की मौजूदा राजनैतिक स्थिति पर ही बल्कि ससार की परिस्थिति पर और उन सब विचारो पर बातचीत करूँ, जो मेरे दिमाग मे भरे हुए थे। उस वक्त मेरा खयाल था कि दुनिया बडी तेजी से एक महान् राजनैतिक और आर्थिक विपत्ति की तरफ जा रही है और अपने राष्ट्रीय कार्यक्रमो को बनाते वक्त हमे इसका ध्यान रखना चाहिए।

अपने घर के मामलो की तरफ भी मुझे ध्यान देना था। अभीतक मैंने उनकी तरफ कतई ध्यान नही दिया था और पिताजी की मृत्यु के बाद मैंने उनके कागजात की देख-भाल भी नही की थी। हमने अपना खर्चा बहुत कम कर दिया था, लेकिन ताहम वह हमारी शक्ति से बहुत अधिक था। फिर भी हम जबतक उस मकान मे रहते, तबतक उसे और कम करना मुश्किल था। हम मोटर नही रख रहे थे, क्योकि उसका खर्च हम उठा नही सकते थे, और एक सबब यह भी था कि सरकार उसे कभी भी कुर्क कर सकती थी। इन आर्थिक कठिनाइयो के बीच मे, मेरे पास आर्थिक सहायता मांगनेवाले बहुत पत्र आते थे, जिनसे मेरा ध्यान उधर भी खिच जाता था। (सेन्सर ये पत्र मेरे पास ढकेल देता था।) एक बड़ा आम और गलत खयाल, खास-कर दक्षिण भारत मे, यह फैला हुआ था कि मैं कोई बड़ा दौलतमन्द आदमी हूँ। मेरी रिहाई के बाद फौरन ही मेरी छोटी बहन कृष्णा की सगाई हो चुकी थी और मैं चिन्तित था कि जल्दी ही शादी जाय—इससे पहले कि मुझे जेल जाना पडे। कृष्णा खुद भी एक सालतक जेल काटकर कुछ ही महीने पहले छूटी थी।

जैसे ही मा की बीमारी से मैंने छुट्टी पाई, मैं गाधीजी से मिलने पूना चला गया। उनसे मिलकर और यह देखकर मुझे खुशी हुई कि हालाकि वह कमजोर थे, लेकिन वह अच्छी प्रगति कर रहे थे। हमारे बीच लम्बी-लम्बी बातचीते हुईं। यह साफ जाहिर था कि जीवन, राजनीति और अर्थशास्त्र के हमारे दृष्टिकोणो मे काफी फर्क था, लेकिन मैंने उनका अहसान माना कि उनसे जहाँतक बना उन्होने उदारता-पूर्वक मेरे दृष्टिकोण से अधिक-से-अधिक नजदीक आने की कोशिश की। हमारे पत्र-व्यवहार मे, जो बाद मे प्रकाशित भी हो गया था, मेरे दिमाग मे भरे हुए कुछ अधिक व्यापक प्रश्नो पर विचार किया गया था, और हालाकि उनका ज़िक्र कुछ गोलमोल भाषा मे हुआ था, लेकिन दृष्टिकोण का सामान्य भेद तो साफ दीखता था। मुझे खुशी हुई कि गाधीजी ने यह घोषित कर दिया कि स्थापित स्वार्थो को अस्थापित कर देना चाहिए, हालाकि उन्होने इस बात पर ज़ोर दिया कि यह काम बल-प्रयोग से

नही, वल्कि हृदय-परिवर्त्तन से होना चाहिए। चूकि मेरे खयाल से, उनके हृदय-परिवर्त्तन के तरीके भी नम्रता और विचार-पूर्ण वल-प्रयोग से अधिक भिन्न नही है, इसलिए मुझे मतभेद ज्यादा न लगा। उस वक्त, पहले की ही तरह, मेरी उनके विपय में यह धारणा थी कि यद्यपि वह गोलमोल सिद्धान्तो पर विचार नही किया करते, तो भी घटनाओ के तार्किक परिणामो को देखकर, कदम-व-कदम, वह आमूल सामाजिक परिवर्तन की अनिवार्यता को मान लेगे। वह एक अजीव चीज है—श्री वेरियर एलविन के शब्दो में वह 'मध्यकालीन कैथलिक साधुओ के ढग के आदमी' है—लेकिन साथ ही, वह एक व्यावहारिक नेता भी है और उनकी नब्ज का सम्बन्ध हमेशा हिन्दुस्तान के किसानो के साथ है। सकट-काल मे वह किस दिशा में मुड जायेंगे, यह कहना मुश्किल था, लेकिन दिशा कोई भी हो, उसका परिणाम जवरदस्त होगा। सम्भव है कि हमारे विचार से वह गलत रास्ते जावे, लेकिन हमेशा वह सीधा रास्ता ही होगा। उनके साथ काम करना तो अच्छा ही था, लेकिन अगर जरूरत होगी, तो अलग-अलग रास्तो से भी जाना पडेगा।

उस वक्त, मेरा खयाल था कि, यह सवाल नही उठता था। हम अपनी राष्ट्रीय लडाई के मध्य मे थे, और अभीतक सविनय भग ही सिद्धान्तत काँग्रेस का कार्यक्रम था, हालाकि व्यक्तियो तक ही उसकी सीमा बाँध दी गई थी। हमारी लडाई जारी रहे और साथ ही समाजवादी विचार लोगो मे और खासकर अधिक राजनैतिक मनोवृत्ति रखनेवाले कांग्रेसी कार्यकर्त्ताओ मे फैलाने की कोशिश करनी चाहिए, ताकि जव नीति की घोपणा का दूसरा मौका आवे तो हम काफी आगे कदम वढाने को तैयार मिले। इस बीच कांग्रेस तो गैर-कानूनी सगठन था और ब्रिटिश सरकार उसे कुचलने की कोशिश कर रही थी। हमे उस हमले का सामना करना था।

गाधीजी के सामने जो खास सवाल था, वह था व्यक्तिगत। उन्हे खुद क्या करना चाहिए? वह वडी उलझन मे थे। अगर वह फिर जेल गये, तो हरिजन-कार्य की सहूलियतो का वही सवाल फिर उठेगा, और बहुत मुमकिन था कि सरकार न झुके और वह फिर उपवास करे। तो क्या वही सारा क्रम फिर दोहराया जायगा? ऐसी चूहे-विल्लीवाली नीति के सामने उन्होने झुकने से इन्कार कर दिया, और कहा कि 'अगर मुझे उन सहूलियतो के लिए उपवास करना पडा, तो रिहा कर दिये जाने पर भी मैं उपवास जारी रक्खूंगा।' इसके मानी थे आमरण उपवास।

दूसरा रास्ता उनके सामने यह था कि वह अपनी सजा की मियाद तक (जिसमे से अभी साढे दस महीने वाकी थे) अपनी गिरफ्तारी न करवाये और सिर्फ हरिजन-कार्य में ही अपने-आपको लगा दे, लेकिन साथ ही, वह कांग्रेस-कार्यकर्त्ताओ से मिलते रहे, और जव जरूरत हो तव उन्हे सलाह भी दे।

उन्होने मुझे एक तीसरा रास्ता भी सुझाया, कि वह कुछ अर्से के लिए कांग्रेस से बिलकुल अलग हो जायँ और उसे (उनके ही शब्दो मे) 'नई पीढी' के हाथो मे छोड दे ।

पहले रास्ते की, जिसका अन्त उपवास-द्वारा प्राणान्त कर देना मालूम होता था, हममे से कोई भी सिफारिश नही कर सकता था । तीसरा रास्ता भी, जब कि कांग्रेस एक गैर-कानूनी सस्था थी, ठीक मालूम नही हुआ । इस रास्ते का नतीजा यह होता कि सविनय भग और सब तरह की 'सीधी लडाई' फौरन वापस ले ली जाती और फिर कानूनी और वैध प्रवृत्ति पर लौटना पडता, या कांग्रेस गैर-कानूनी और सबसे, अब तो गाधीजी तक से, अकेली छोडी जाकर सरकार द्वारा और भी ज्यादा कुचली जाती । इसके अलावा, एक गैर-कानूनी सस्था के, जो मीटिंग करके किसी नीति पर विचार नही कर सकती थी, किसी दल के कब्जे मे आने का सवाल ही नही पैदा होता था । इस तरह और रास्तो को छोडते हुए हम उनके सुझाये दूसरे उपाय पर आ गये । हममे से ज्यादातर लोग उसे नापसन्द करते थे और हम जानते थे कि उससे बचे-खुचे सविनय भग को एक भारी आघात पहुँचेगा । अगर नेता ही लडाई मे से हट जायगा, तो यह सभव नही था कि बहुत उत्साही कांग्रेसी-कार्यकर्त्ता आग मे कूद पडे, लेकिन उलझन मे से निकलने का और कोई रास्ता ही न था, और इसीके अनुसार गाधीजी ने अपनी घोषणा कर दी ।

गाधीजी और मै, दोनो इस बात पर सहमत थे, हालाँकि हमारे कारण अलग-अलग थे, कि सविनय भग को वापस लेने का अभी वक्त नही आया है और चाहे आन्दोलन धीरे चले, लेकिन उसे जारी रखना ही चाहिए । और, कुछ भी हो, मै लोगो का ध्यान समाजवादी सिद्धान्तो और ससार की परिस्थिति पर भी खीचना चाहता था ।

लौटते वक्त मैने कुछ दिन बम्बई मे बिताये । मेरी खुशकिस्मती से उदयशकर उन दिनो वही थे । मैने उनका नृत्य देखा । मैने इस मनोरजन से, जिसका पहले से कोई खयाल नही था, बड़ा आनन्द उठाया । नाटक, सिनेमा, टॉकी, रेडियो, ब्रॉडकास्टिग— यह सब पिछले कई वर्षो से मै देख ही न सका था, क्योकि स्वतत्र रहने के वक्त भी मै दूसरी प्रवृत्तियो मे बहुत ज्यादा लगा रहता था । अभीतक मै सिर्फ एक बार ही टॉकी देख पाया हूँ, और बडे-बड़े अभिनेताओ के मै सिर्फ नाम ही सुनता हूँ । मुझे नाटक देखने का अभाव खास तौर पर अखरता है और विदेशो मे नये-नये खेलो के तैयार होने का वर्णन मै बडे रश्क से पढता रहता हूँ । उत्तर हिन्दुस्तान मे, जेल से बाहर होने की हालत में भी, अच्छे खेल देखने का कोई मौका न था, क्योकि मै मुश्किल से उनतक पहुँच पाता था । मेरा खयाल है कि बगाली, गुजराती और मराठी नाटक-

साहित्य ने कुछ प्रगति की है, लेकिन हिन्दुस्तानी रंग-मंच ने, जो कि निहायत भद्दा और कला-हीन है, या था, क्योंकि मुझे हाल की प्रगति का हाल नहीं मालूम, कुछ भी प्रगति नहीं की। मैंने यह भी सुना है कि हिन्दुस्तानी फिल्मे, मूक और सवाक्, दोनों मे कला का प्राय अभाव ही रहता है। उनमें आम तौर पर सुरीले गानो या गजलो की ही प्रधानता रहती है और उनका कथाभाग हिन्दुस्तान के पुराने इतिहास या पुराणो मे से लिया हुआ होता है।

मेरे खयाल से, इनमें वह सब चीज मिल जाती है जिसकी शहर के लोग कद्र करते है। इन भद्दे और दु खदायी प्रदर्शनों मे और साधारण जनता के अब भी बचे-खुचे सगीत, नृत्य और देहाती नाटको तक की कला मे अन्तर साफ दिखाई देता है। बंगाल मे, गुजरात में और दक्षिण मे कभी-कभी यह देखकर बडा आश्चर्य और आनद होता है, कि मूलत , लेकिन अनजान मे, देहात के लोग कितने कलामय है। लेकिन मध्यम-वर्गो का हाल ऐसा नही है। उनकी तो मानो जडो का ही पता नही है, और उनके पास सौंदर्य या कला की कोई परम्परा नहीं रही है, जिसे वे पकडे रहे। वे जर्मनी और ऑस्ट्रिया मे बहुतायत से बने हुए सस्ते और बीभत्स चित्रो को रखने मे ही अपनी शान समझते है, और ज्यादा किया तो कभी-कभी रवि वर्मा के चित्र रख लेते है। सगीत मे उनका प्यारा बाजा हारमोनियम है। (मुझे आशा है कि स्वराज-सरकार के शुरुआती कामो मे एक यह भी होगा कि वह इस भयानक वाद्य पर प्रतिबन्ध लगा दे।) लेकिन दर्दनाक भद्दापन और कला के सब सिद्धान्तो के भग की पराकाष्ठा तो शायद लखनऊ और दूसरी जगह के बडे-बडे ताल्लुकेदारो के घरो में दिखाई देती है। उनके पास खर्च करने को पैसा होता है और और दिखावा करने की ख्वाहिश, और ऐसा ही वे करते भी है, और जो लोग उनके यहाँ जाते है, उन्हे उनकी इस अभिलाषा की पूर्ति का दु खी गवाह बनना पडता है।

हाल मे ही प्रतिभाशाली ठाकुर-परिवार के नेतृत्व में कुछ कला-जागृति हुई है और उसका प्रभाव सारे हिन्दुस्तान पर दिखाई देता है, लेकिन जबकि देश के लोगो पर जगह जगह रुकावटे और बन्धन डाले जाते है और उन्हे दबाया जाता है और वे दहशत के वातावरण मे रहते है, तब कोई भी कला किसी बडे पैमाने पर कैसे फल-फूल सकती है?

बम्बई में मै कई दोस्तो और साथियो से मिला, जिनमे से कुछ तो हाल मे ही जेल मे निकले थे। समाजवादी लोगो की तादाद वहाँ ज्यादा थी और कांग्रेस के ऊपरी तह के लोगो की हाल की घटनाओ पर वहा बडा रोष था। गांधीजी राजनीति मे जो आध्यात्मिक दृष्टिकोण लगाया करते थे, उसकी सख्त आलोचना होती थी। अधिकाश

आलोचना से मैं सहमत था, लेकिन मेरी साफ राय थी कि हमारी उस वक्त की परिस्थिति मे और कोई चारा न था और हमे अपना काम जारी ही रखना था। सविनय भग को वापस लेने की कोशिश भी की जाती, तो उसमे भी हमें कोई राहत न मिलती, क्योकि सरकार का आक्रमण तो जारी रहता और कुछ भी कारगर काम किया जाता तो उसका नतीजा जेलखाना ही होता। हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन ऐसी हालत मे पहुँच गया था कि सरकार को उसे दबा ही देना पडा, वरना ब्रिटिश सरकार को हमारी इच्छा माननी पडती। इसके मानी यह थे कि वह ऐसी हालत मे आ गया था कि जब उसका हमेशा ही गैर-कानूनी करार दिया जाना मुमकिन था और आन्दोलन के रूप मे, चाहे सविनय भग भी बन्द कर दिया जाय तो भी, वह पीछे नही हट सकता था। असल मे, सविनय भग के जारी रहने से कोई फर्क नही पडता था, लेकिन असली महत्व था चुनौती के काम का ही। लडाई के बीच नये विचारो का फैलाना उस वक्त की बनिस्बत आसान था, जबकि लडाई बन्द कर दी गई हो और लोगो का हौसला पस्त पड़ने लगा हो। लडाई के अलावा दूसरा रास्ता सिर्फ यही था कि ब्रिटिश ताकत के साथ समझौते की मनोवृत्ति स्वीकार की जाय और कौसिलो मे जाकर वैध कार्य किया जाय।

वह एक कठिन स्थिति थी, लेकिन कोई भी रास्ता ढूँढना आसान न था। अपने साथियो के मानसिक सघर्षों को मैं समझ सकता था, क्योकि खुद मुझे भी उनका सामना करना पडा था। लेकिन, जैसा कि हिन्दुस्तान मे दूसरी जगह भी पाया गया है, वहा मुझे ऐसे लोग दिखाई दिये, जो ऊँचे समाजवादी सिद्धान्त के बहाने कुछ भी न करना चाहते थे। इस बात से मुझे कुछ चिढ होती थी कि जो लोग खुद कुछ न करे, वे उन दूसरे लोगो को, जिन्होने लडाई के मैदान की धूल और धूप मे सारा भार उठाया, प्रतिगामी बताकर उनकी आलोचना करे। ये आराम-कुरसीवाले समाजवादी लोग गाँधीजी पर खास तौर पर जोर का वार करते हुए उन्हे प्रतिगामियो के सिरताज बताते है और ऐसी-ऐसी दलीले देते हैं, जिनमे तर्क की दृष्टि से कोई कसर नही रहती है, लेकिन सीधी-सी बात तो यह है कि यह "प्रतिगामी" व्यक्ति हिन्दुस्तान को जानता और समझता है और किसान-हिन्दुस्तान का करीब-करीब मूर्तिमान् स्वरूप बन गया है और इसने इस कदर हिन्दुस्तान मे हलचल पैदा करदी है जैसी क्रातिकारी कहे जाने-वाले किसी भी व्यक्ति ने नही की है। उनके सबसे ताजे हरिजन-सम्बन्धी कार्यों ने भी, हलके-हलके लेकिन अबाध रूप से, हिन्दू कट्टरता का प्रभाव कम कर दिया है और उसकी बुनियाद हिला दी है। सारे कट्टर-पन्थी लोग उनके खिलाफ उठ खडे हुए है और उन्हे सबसे खतरनाक दुश्मन समझते है, हालाकि वह उनके साथ सोलहों आना

शिष्टता और सम्मान ही का व्यवहार करते है। अपने खास ढग से जबरदस्त ताकतो को जागृत करके छोड देने का उनमे स्वभावसिद्ध गुण है, जो कि पानी की लहरो की तरह चारो ओर फैल जाती है और लाखो आदमियो पर अपना असर डालती है। चाहे वह प्रतिगामी हो या क्रान्तिकारी, उन्होने हिन्दुस्तान की सूरत तबदील कर दी है। उस जनता मे, जो हमेशा हाथ जोडती और डरती रहती थी, स्वाभिमान और चरित्र-बल भर दिया है। उन्होने आम लोगो मे शक्ति और चेतनता पैदा की है और हिन्दुस्तान की समस्या को ससार की समस्या बना दिया है। इस बात को जुदा रखते हुए कि अहिंसात्मक असहयोग या सविनय भग के आध्यात्मिक परिणाम क्या-क्या है, यह सही है कि वह हिन्दुस्तान और दुनिया के लिए उनकी एक अनोखी देन है और इसमें कोई शक नही हो सकता कि वह हिन्दुस्तान की परिस्थिति के लिए खास तौर पर उपयुक्त सिद्ध हुआ है।

मेरे खयाल से यह ठीक है कि हम सच्ची आलोचना को प्रोत्साहित करे और अपनी समस्याओ पर जितना भी सार्वजनिक वाद-विवाद हो सके करे। बदकिस्मती से गाधीजी की सर्वोपरि स्थिति के कारण भी किसी हदतक इस प्रकार के वाद-विवाद में रुकावट पड गई है। उनके ऊपर अवलम्बित रहने और निर्णय का काम उन्हीपर छोड देने की प्रवृत्ति हमेशा रही है। स्पष्टत यह गलत बात है और राष्ट्र तो उद्देश्यो और साधनो को बुद्धिपूर्वक ग्रहण करके ही बढ सकता है और जब उन्हीके आधार पर, न कि अन्ध-आज्ञा-पालन पर, सहयोग और अनुशासन स्थापित होगा, तभी देश की प्रगति होगी। कोई व्यक्ति कितना भी बडा क्यो न हो, आलोचना से परे नही होना चाहिए, लेकिन जब आलोचना निष्क्रियता का बहाना-मात्र बन जाती है, तो उसमे कुछ-न-कुछ बिगाड समझना चाहिए। अगर समाजवादी लोग इस तरह का काम करेगे, तो वे जनता की निन्दा के पात्र बन जायँगे, क्योकि जनता तो काम से आदमी की परख करती है। लेनिन ने कहा है कि "जो आदमी भविष्य के आसान कामो के स्वप्नो के नाम पर वर्तमान के सख्त कामो को करना छोड देता है, वह मौकापरस्त बन जाता है। सिद्धान्त-रूप से इसका मतलब है असली जीवन मे इस समय होनेवाली घटनाओ पर अपना आधार रखने मे विफल होना, ताकि स्वप्नो के नाम पर उनसे अपने-आपको अलग रख सके।"

हिन्दुस्तान के समाजवादी और कम्यूनिस्ट लोग अपने खयालात ज्यादातर उस साहित्य पर से बनाते है, जो औद्योगिक मजदूर-वर्ग की बाबत है। कुछ खास हलको मे, जैसे बबई मे या कलकत्ते के पास, कारखानो के मजदूर बडी तादाद मे है, लेकिन हिन्दुस्तान का बाकी हिस्सा तो किसानो का ही है और कारखानो के मजदूरो के

दृष्टिकोण से हिन्दुस्तान की समस्या का कारगर हल नहीं मिल सकता। यहाँ तो राष्ट्रवाद और ग्रामीण सुव्यवस्था ही सबसे बडे सवाल है और योरप का समाजवाद इनके बारे मे शायद ही कुछ जानता हो। रूस मे महायुद्ध से पहले की हालत हिन्दुस्तान से बहुत-कुछ मिलती-जुलती थी, मगर वहाँ तो बहुत ही असाधारण और गैर-मामूली घटनाये हो गई और वैसी ही घटनाये फिर दूसरी जगह हो यह उम्मीद करना बेवकूफी होगी। लेकिन इतना मै जरूर जानता हूँ कि कम्यूनिज्म के तत्त्वज्ञान से किसी भी देश की मौजूदा परिस्थिति को समझने और उसका विश्लेषण करने मे सहायता मिलती है और आगे प्रगति का रास्ता मालूम होता है, लेकिन उस तत्त्वज्ञान के साथ यह जबरदस्ती और बेइन्साफी होगी कि उसे वाकयात और हालात का मुनासिब खयाल न रखते हुए अधे की तरह हर जगह लागू कर दिया जाय।

कुछ भी हो, जीवन एक बडा पेचीदा मामला है और जीवन के सघर्षो और विरोधो से कभी-कभी आदमी कुछ निराश-सा हो जाता है। इसमे कोई ताज्जुब की बात नही कि लोगो मे मतभेद पैदा हो जाय या वे साथी, जो समस्याओ पर एक ही दृष्टिकोण से देखते है, अलग-अलग नतीजो पर पहुँचे, लेकिन वह आदमी, जो अपनी कमज़ोरी को बडे-बडे वाक्यो और ऊँचे-ऊँचे उसूलो के परदे मे छिपाता है, जरूर सदेह का पात्र बन सकता है। जो शख्स सरकार को इकरारनामे और वादे लिखकर या और किसी सदेहास्पद व्यवहार से जेल जाने से अपने-आपको बचाता है और फिर दूसरो की आलोचना करने का दुःसाहस करता है, वह अपने कार्य को नुकसान पहुँचाने की सभावना पैदा करता है।

बम्बई बडा शहर है और उसमे सब जगह के लोग रहते है। वहाँ सभी तरह के लोग मौजूद थे। लेकिन एक प्रमुख नागरिक ने तो अपने राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक दृष्टिकोण मे बडी मार्के की उदारता दिखाई। मजदूर नेता की हैसियत से वह समाजवादी थे, राजनीति में वह आम तौर पर अपनेको डिमोक्रेट (लोकतन्त्रवादी) कहते थे, हिन्दू-सभा भी उन्हे बहुत चाहती थी। उन्होने वादा किया कि मै पुराने धार्मिक और सामाजिक रीति-रिवाजो की रक्षा करूँगा और उनमे कौसिल को दखल देने न दूँगा, मगर चुनाव के वक्त मे वह सनातनियो की तरफ से उम्मीदवार हुए, जोकि प्राचीन रहस्यो के महान् पुजारी होते है। इस भिन्न-भिन्न प्रकार के बदलनेवाले जीवन से जब वह न थके, तो उन्होने अपनी शेष शक्ति काँग्रेस की आलोचना करने और गाधीजी को प्रतिगामी बतानें मे लगाई। कुछ और लोगो के सहयोग से उन्होने काँग्रेस डिमोक्रेटिक—लोकतन्त्रात्मक—पार्टी शुरू की, जिसका लोकतन्त्रवाद से कोई भी ताल्लुक न था और जो काँग्रेस से इतना ही सम्बन्ध रखती

थी कि उस महान् सस्था पर हमला करे। इससे भी ज्यादा प्रवृत्तियो मे हाथ डालने की दृष्टि से, वह मजदूरो के प्रतिनिधि की हैसियत से जेनेवा-मज़दूर-कान्फ्रेन्स मे भी शरीक हुए। किसीको प्राय यह भी खयाल होता था कि शायद वह इग्लैण्ड के ढग की हिन्दुस्तान की 'राष्ट्रीय' सरकार के प्रधान-मन्त्री बनने की योग्यता प्राप्त कर रहे है।

इतने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणो और प्रवृत्तियो का लाभ शायद बहुत थोडे लोग उठा सकते थे, लेकिन फिर भी कांग्रेस के समालोचको मे ऐसे कई लोग थे, जिन्होने भिन्न-भिन्न क्षेत्रो का अनुभव किया था, और जो कई जगहो मे अपनी टॉग अडाते थे। इनमे से कुछ लोग अपने-आपको समाजवादी कहते थे और उनके कारण समाजवाद उलटा बदनाम होता था।

५१

लिबरल दृष्टिकोण

गांधीजी से मिलने जब मैं पूना गया था, तो एक दिन शाम को मैं उनके साथ 'सर्वेण्ट्स आफ इण्डिया सोसाइटी' के भवन मे चला गया। करीब एक घण्टेतक सोसाइटी के कुछ सदस्य उनसे राजनैतिक मामलो पर सवालात करते रहे और वह उनका जवाब देते रहे। न तो उस वक्त वहां सोसाइटी के प्रेसीडेण्ट श्री श्रीनिवास शास्त्री थे और न पण्डित हृदयनाथ कुजरू ही, जो कि शायद बाकी के सदस्यो मे सबसे ज्यादा योग्य है, लेकिन कुछ सीनियर मेम्बर मौजूद थे। हममे से कुछ लोग, जो उस वक्त वहाँ उपस्थित थे, बडे अचरज से सब कुछ सुनते रहे, क्योकि सवाल बिलकुल ही छोटी-छोटी घटनाओ के बारे मे पूछे जा रहे थे। वे ज्यादातर वाइसराय से मुलाकात की पुरानी दरख्वास्त और उनके इन्कार के बारे मे थे। जब-कि खुद उनका ही देश आजादी की अच्छी करारी लडाई लड रहा था और सैकडो सस्थाये गैर-कानूनी करार दी जा रही थी, तब क्या केवल अनेक समस्याओ से भरी हुई दुनिया मे यही एक विषय उनकी चर्चा के लिए रह गया था? किसान नाजुक वक्त से गुजर रहे थे ओर औद्योगिक मन्दी चल रही थी, जिससे कि व्यापक बेकारी फैल रही थी। बगाल, सीमा-प्रान्त और हिन्दुस्तान के दूसरे हिस्सो मे भयकर घटनाये घट रही थी, विचार, भाषण, लेखन और सभाओ की स्वतन्त्रता दबाई जा रही थी और दूसरी भी कई राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याये मौजूद थी। लेकिन सवालात सिर्फ महत्त्वशून्य घटनाओ के बारे मे या इस बारे मे पूछे गये कि अगर गाधीजी वाइसराय से फिर मिलना चाहे तो वाइसराय और भारत-सरकार क्या करेगी?

मुझे बडे जोरों से कुछ ऐसा महसूस होने लगा मानो मैं किसी धार्मिक मठ मे आ घुसा हूँ, जिसके रहनेवालो का बाहरी दुनिया के साथ किसी तरह का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही रहा है। फिर भी हमारे दोस्त 'एक्टिव' (क्रियाशील) राजनीतिज्ञ थे, जिनकी सार्वजनिक सेवा और कुर्बानी का लम्बा रिकार्ड था। उन्हीसे और कुछ और लोगो से मिलकर लिबरल-पार्टी की मूल ताकत बनी हुई थी। बाकी की पार्टी तो बे सिर-पैर की थी जिसमे ऐसे-ऐसे आदमी थे, जो कभी-कभी राजनीति से सम्बन्ध जोडने का मजा लेना चाहते थे। इनमे से कुछ लोग तो—खासकर बम्बई और मद्रास मे—ऐसे थे, जिनमे और सरकारी अधिकारियो मे शायद ही कुछ फर्क था।

जिस तरह के प्रश्न एक देश पूछा करता है, उसी हदतक उसकी राजनैतिक

प्रगति मालूम होती है। अक्सर उस देश की नाकामयाबी का कारण भी यही होता है कि उसने अपने-आपसे ठीक तरह का सवाल नही पूछा। जिस हदतक हम कौंसिलो की सीटो के बँटवारे पर अपना वक्त और ताकत व अपना मिजाज बिगाडा करते है, या जिस हदतक हम साम्प्रदायिक निर्णय पर पार्टियाँ बनाया करते है और उसपर फजूल का वाद-विवाद इतना करते है कि उससे जरूरी सवालात ही छूट जाते है, उसी हदतक हमारी पिछडी हुई राजनैतिक हालत मालूम हो जाती है। इसी तरह उस दिन गाधीजी से 'सर्वेन्ट्स आफ इण्डिया सोसाइटी' के भवन मे जो-जो सवालात पूछे गये थे, उनसे ही उस सोसाइटी और लिबरल-पार्टी की अजीब मनोदशा प्रतिबिम्बित होती थी। ऐसा मालूम होता था कि उनके न तो कोई राजनैतिक या आर्थिक उसूल है, न कोई व्यापक दृष्टि है। उनकी राजनीति तो रईसो के दीवानखानो या दरबारो की-सी चीज दिखाई देती थी। मानो, उनकी यही जानने की इच्छा रहा करती कि हमारे उच्च अधिकारी क्या करेगे, या क्या नही करेगे।

'लिबरल-पार्टी' नाम से भी धोखा हो सकता है। दूसरे मुल्को मे और खासकर इग्लैण्ड मे, इस लफ्ज से एक खास आर्थिक नीति का—मुक्त और अनियत्रित व्यापार आदि—और व्यक्तिगत आजादी तथा नागरिक स्वतन्त्रताओ के एक खास आदर्शवाद का मतलब समझा जाता था। इग्लैण्ड की लिबरल-परम्परा की बुनियाद आर्थिक थी। व्यापार मे आजादी की और राजा के एकाधिकारो और मनमाने टैक्सो से छुटकारा मिलने की इच्छा से ही राजनैतिक स्वतन्त्रता की ख्वाहिश पैदा हुई। मगर हमारे हिन्दुस्तान के लिबरलो का ऐसा कोई आधार नही है। मुक्त व्यापार मे उनका विश्वास नही, क्योकि वे करीब-करीब सभी सरक्षणवादी है और जैसा कि हाल की घटनाओ ने बता दिया है, वे नागरिक स्वतन्त्रताओ का भी कोई महत्त्व नही समझते। अर्ध-माण्डलिक और एकतन्त्री देशी रियासतो के साथ, जहाँ कि प्रजातन्त्रवाद और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की भी मामूली रूप-रेखा नही है, उनका गहरा सम्बन्ध रहना और उनका सामान्य रूप से समर्थन करना साबित करता है कि वे यूरोपियन टाइप के लिबरलो से बहुत भिन्न है। सचमुच हिन्दुस्तान के लिबरल किसी मानी मे भी लिबरल नही है, या वे सिर्फ कही-कही और किसी-किसी अश मे ही लिबरल है। वे क्या है, यह कहना मुश्किल है। उनके विचारो का कोई एक निश्चित दृढ आधार नही है, और हालाकि उनकी तादाद थोडी ही है, लेकिन आपस मे भी उनके विचार नही मिलते। वे नकारात्मक रूप मे ही दृढता दिखाते है। हर जगह उन्हे गलती-ही-गलती दिखाई देती है। उससे बचने की वे कोशिश भी करते रहते है और आशा यह करते है कि इसी तरह वे सचाई को हासिल कर लेगे। उनकी निगाह मे सचाई सिर्फ दो

अतियो के बीच ही हुआ करती है । हर ऐसी चीज की निन्दा करके, जिसे वे पराकाष्ठा मानते है, वे समझते है कि वे गुणवान, समझदार और नेक आदमी है । इस तरीके से वे विचारो के कष्ट-प्रद और कठिन तौर-तरीके से तथा रचनात्मक विचारो को पेश करने की आफत से बच जाते है । उनमे से कुछ लोग अस्पष्ट रूप से महसूस करते है कि पूँजीवाद योरप मे पूरी तरह कामयाब नही हुआ है और सकट मे पडा हुआ है, और दूसरी तरफ, समाजवाद तो जाहिरा तौर पर ही खराब है, क्योकि उससे स्थापित स्वार्थो पर हमला होता है । शायद भविष्य मे कोई रहस्यवादी उपाय, कोई बीच का मुकाम मिल ही जायगा । इस दर्म्यान, स्थापित स्वार्थो की रक्षा होनी ही चाहिए । अगर इस बावत बातचीत की जाय कि जमीन चपटी है या गोल, तो शायद वह इन दोनो ही पराकाष्ठाओ के विचारो की निन्दा करेगे और आरजी तौर पर यही सुझायँगे कि वह शायद चौकोर या अण्डाकार है ।

बहुत छोटे-छोटे और बेवजनी मामलो पर भी वे बहुत भडक जाते है और इतना होहल्ला और शोर-गुल मचा देते है कि कुछ पूछिए नही । जान मे या अनजान मे वे मौलिक सवालो को हाथ नही लगाते, क्योकि ऐसे सवालो के लिए मौलिक इलाज और विचार और कार्य के साहस की जरूरत होती है । इसलिए लिबरलो की सफलता या असफलता का कोई नतीजा नही होता । उनका किसी सिद्धान्त से सम्बन्ध नही होता । इस पार्टी की बडी विशेषता और खास लक्षण, अगर उसे लक्षण कहा जा सके, यह है कि हर अच्छी और बुरी बात मे मातदिल रहना । यही इनके जीवन का दृष्टिकोण है और इनका पुराना नाम—मॉडरेट—ही शायद सबसे ठीक था ।

"माडरेट होने मे ही हम फूले नही समाते है,
नरम गरम हमको कहते, औ' गरम नरम बतलाते है ।"[१]

लेकिन माडरेट-वृत्ति कितनी भी अच्छी क्यो न हो, वह कोई तेज-पूर्ण और ओजस्वी गुण नही है । यह वृत्ति तेजोहीनता पैदा करती है और इसलिए हिन्दुस्तान के लिबरल बदकिस्मती से एक 'तेजोहीन दल' बन गये है—वे चेहरे से मद-तेज और सजीदा, लेखो और बातचीत मे उत्साहहीन होते है और विनोद-प्रियता से खाली रहते है । निश्चय ही, इनमे कुछ अपवाद भी है और एक सबसे बडे अपवाद है सर तेजबहादुर सप्रू, जिनका व्यक्तिगत जीवन निश्चय ही विनोद-रहित नही है, बल्कि जो अपने विरुद्ध मजाक मे भी रस लेते है । लेकिन कुल मिलाकर लिबरल-दल मध्यम-वर्गशाही

१. एलेक्ज़ेण्डर पोप का मूल अग्रेजी पद्य इस प्रकार है:—

"In moderation placing all my glory
While Tories call me Whig and Whigs a Tory."

की पराकाष्ठा का साकार रूप है, और उसमें ऐसा ठोसपन है,जो सुस्ती या मदी का दूसरा नाम है। इलाहाबाद के 'लीडर' ने, जो कि प्रमुख लिबरल अखबार है, पिछले साल अपने एक अगलेख मे लिबरल मनोवृत्ति को बहुत स्पष्टता से प्रकट कर दिया था। उसने बताया था कि बडे और असाधारण लोगो ने दुनिया को हमेशा ही मुसीबतो मे डाला है। इसलिए उसकी राय थी कि, मामूली औसत दरजे के लोग ही ज्यादा अच्छे होते है। बडे ही नाजुक और साफ ढग से इस अखबार ने औसतपने के साथ अपने झडे का गठ-बन्धन कर लिया।

मर्यादा के अन्दर रहना, रूढि-प्रियता और खतरो तथा अचानक परिवर्तनो से बचने की इच्छा बुढापे के अनिवार्य साथी है। ये बाते नौजवानो को बिलकुल नही सोहती। लेकिन हमारा तो देश भी पुरातन और बूढा है, कभी-कभी इसके बच्चे भी पैदाइश से ही कमजोर और थके हुए दिखाई देते है और उनमे तेजहीनता और बुढापे के चिन्ह होते है। लेकिन जो तबदीली हो रही है, उसकी ताकतो से ऐसा पुरातन देश भी अब हिल उठा है और नरम दृष्टिकोण रखनेवाले भी इसे देखकर घबरा-से गये है। पुरानी दुनिया गुजर रही है, और लिबरल लोग कितनी भी योग्यता से बुद्धिमत्ता-पूर्ण काम करने की मीठी सलाह दे, उससे कोई फर्क नही पडता। तूफान या बाढ या भूकम्प को समझाने से कही रोका जा सकता है ? उनकी पुरानी धारणाये टिकती नही है, और नई-नई तरह के विचार और काम की उनमे हिम्मत नही। यूरोपियन परम्परा के बारे मे डाक्टर ए० एन० व्हाइटहेड कहते है—"यह सारी परम्परा इस दूषित धारणा से आच्छादित है कि हर पीढी बहुत-कुछ उन्ही परिस्थितियो मे जीवन बितायगी, जिन्होने उसके पुरखो के जीवन का निर्माण किया था, और वही परिस्थितियाँ आगे भी उतने ही बल से उनकी सन्तान के जीवन को बनायँगी। हम मनुष्य-जाति के इतिहास-युग के पहले चरण मे रह रहे है, जिसके लिए कि यह धारणा बिलकुल गलत है।" डा० व्हाइटहेड ने भी अपने इस विश्लेषण मे थोडी नरमी दिखलाने की गलती की है, क्योकि शायद वह धारणा हमेशा ही गलत रही है। अगर योरप की परम्परा वही पुरानी लकीर पीटती रही है, तो फिर हमारी परम्परा का तो हिसाब लगाइए, उसकी क्या हालत होगी ? लेकिन इतिहास को घडनेवाले, जब तबदीली का वक्त आ जाता है तब, इन परम्पराओ की तरफ जरा भी ध्यान नही देते। हम लाचारी से देखते रह जाते है और अपनी योजनाओ की असफलताओ का दोष दूसरो के मत्थे मढ देते है। और जैसा कि श्री जेराल्ड हर्ड बतलाते है, "सबसे ज्यादा बरबादी करनेवाला वहम यही खयाल है, कि मनुष्य दिल मे यह मान बैठे कि उसकी योजना उसकी विचार-पद्धति की गलती से नही बल्कि किसी दूसरे के जानबूझकर बाधा डालने से असफल हुई है।"

इस भयकर वहम के शिकार हम सभी है। मै कभी-कभी सोचता हूँ कि गाधीजी भी इससे बरी नही है। मगर हम कम-से-कम कुछ-न-कुछ काम तो करते ही है, जीवन के सम्पर्क मे तो आने की कोशिश करते है और तजुर्बे और गलतियो के ज़रिये भी हम इस वहम की ताकत को कम कर देते है, और लुढकते हुए भी किसी तरह आगे बढते तो जाते है, लेकिन इन लिबरलो मे यह दोष अधिक गहरा है। क्योकि इस डर से कि कही हमसे कोई गलत काम न हो जाय, वे काम ही नही करते, और गिर या फिसल जाने के डर से वे आगे कदम ही नही बढाते। जनता के साथ वे अच्छा हार्दिक सम्पर्क पैदा करने से दूर ही रहते है, और अपने ही विचारो की तग कोठरियो मे मोहित और समाधिस्थ-से बैठे रहते है। डेढ साल पहले श्री श्रीनिवास शास्त्री ने अपने सगी-साथी लिबरलो को आगाह किया था कि उन्हे चुपचाप खडे देखते न रहना चाहिए और घटनाओ को यो ही गुजरने न देना चाहिए। उस आगाही मे वह जितनी सचाई समझते थे, उससे कही ज्यादा सचाई थी। सरकार क्या कर रही है इस दृष्टि से हमेशा विचार करने के कारण, वह उन विधान-सम्बन्धी परिवर्तनो की तरफ इशारा कर रहे थे, जिन्हे भिन्न-भिन्न सरकारी कमिटियाँ बना रही थी, लेकिन लिबरलो की बदकिस्मती यह थी कि जब उनके ही देशवासी आगे बढ रहे थे, तब वे चुपचाप खडे-खड़े तमाशा देख रहे थे और घटनाओ को योही गुज़रने दे रहे थे। वे अपने ही लोगो से डरते थे और हमारे शासको से अलहदा होने के बजाय उन्होने इन आम लोगो से दूर रहना ही ज्यादा अच्छा समझा। फिर इसमे आश्चर्य ही क्या था कि वे अपने ही मुल्क मे अजनबी-से बन गये। दुनिया आगे बढ गई और उन्हे वही-का-वही छोड गई। जब लिबरलो के देशवासी जिन्दगी और आजादी के लिए भयकर लडाइयाँ लड रहे थे, तब इसमे कोई शुबहा नही था कि लिबरल मोर्चेबदी के किस तरफ खडे थे। मोर्चेबदी की दूसरी तरफ से वे हमे नेक सलाह दे रहे थे और बडी-बड़ी नैतिक बाते करते थे, और इस चिपचिपे रोगन की तह-पर-तह हमारे ऊपर चढ़ाते जाते थे। गोलमेज-कान्फ्रेन्सो और कमिटियो मे जो सहयोग उन्होने दिया, वह सरकार के हक मे बड़ी महत्वपूर्ण नैतिक चीज थी। अगर यह सहयोग न दिया जाता, तो बडा फर्क पड जाता। यह ध्यान देने की बात है कि एक कान्फ्रेन्स मे ब्रिटिश मजदूर-पार्टी तक अलग रही, लेकिन हमारे लिबरल साहबान तो उसमे भी अलग नही रहे और कुछ अग्रेज सज्जनो ने उनसे न जाने की अपील की तो भी वे वहाँ चले ही गये।

यो तो हमारे जुदे-जुदे मकसदो के लिहाज से हम सब नरम या गरम है। फर्क सिर्फ मात्रा का है। जिस बात के बारे मे हमे अधिक चिन्ता हो, उसके विषय मे हमारी भावना भी तीव्र हो जाती है, और हम उसके सम्बन्ध मे 'गरम' हो जाते है, नही तो हम

दयादर्शक सहनशीलता धारण कर लेते है, एक प्रकार की दार्शनिक सौम्यता अख्त्यार कर लेते है. जोकि, असल मे, कुछ हद तक हमारी उदासीनता को ढक लेती है । मैंने नरम-से-नरम माडरेटो को बहुत उग्र और गरम होते हुए देखा है, जब उनके सामने देश से कुछ स्थापित स्वार्थो को उडा देने की बात रक्खी गई । हमारे लिबरल मित्र कुछ हद तक धनी-मानी और समृद्ध लोगो का प्रतिनिधित्व करते है । स्वराज के लिए उन्हे बहुत दिनो तक इन्तजार करना पुसा सकता है और इससे उसके लिए उन्हे व्यग्र या उत्तेजित हो उठने की जरूरत नही । लेकिन जहाँ कोई आमूल सामाजिक परिवर्तन का प्रश्न आया कि उनमे खलबली मची । तब वे न तो उसके विषय मे माडरेट ही रह जाते है और न उनकी वह सुन्दर समझदारी ही कायम रहती है । इस तरह उनकी नरमी ब्रिटिश सरकार के प्रति उनके रुख तक ही मर्यादित है और वे यह आशा लगाये बैठे है, कि यदि वे काफी आदर-भाव दिखाते रहे और समझौते से काम लेते रहे, तो मुमकिन है कि उनके इस सलूक के पुरस्कार मे उनकी बात सुन ली जाय । इसलिए वे ब्रिटिश दृष्टिकोण से देखे बिना रह ही नही सकते । 'ब्ल्यू बुक' उनके गभीर अध्ययन की वस्तु बनती है । इरसकिन मे की 'पार्लमेण्टरी प्रेक्टिस' और ऐसी ही किताबे उनकी जीवन-सगिनी होती है । नई सरकारी रिपोर्टे उनके तैश और तर्क-वितर्क का विषय बनती है । इग्लैण्ड से लौटनेवाले लिबरल नेता ह्वाइट-हॉल के देवताओ के कारनामो के बारे मे रहस्यमय वक्तव्य देते है, क्योकि, ह्वाइट-हॉल लिबरलो, प्रतिसहयोगियो और ऐसे ही दूसरे दलो की दृष्टि मे सूरमाओ का स्वर्ग है । पुराने जमाने मे यह कहा जाता था कि जब कोई भद्र अमेरिकन मर जाता, तो उसकी आत्मा पेरिस जाती थी । इसी तरह यह कहा जा सकता है कि अच्छे लिबरलो की प्रेतात्मा ह्वाइट-हॉल की चहारदिवारी का कभी-कभी चक्कर लगाती रहती है ।

यहाँ लिखा तो मैने लिबरलो के बारे मे है, लेकिन यही बात बहुतेरे कॉग्रेसियो पर भी लागू होती है और प्रतिसहयोगियो पर तो और भी ज्यादा लागू होती है, क्योकि नरमी मे तो उन्होने लिबरलो को भी मात कर दिया है । औसत दरजे के कॉग्रेसी मे बडा फर्क है । मगर इस सम्बन्ध मे विभाजक रेखा न तो साफ ही है, न निश्चित ही । जहाँतक विचार-धारा से सबध है, आगे बढे हुए लिबरल और नरम कॉग्रेसी मे कोई ज्यादा फर्क मालूम नही होता । मगर भला हो गाधीजी का, जो हरेक कॉग्रेसी ने अपने देश और देश के लोगो के साथ थोडा-बहुत सपर्क रक्खा है और वह काम भी करता रहता है और इसीकी बदौलत वह एक धुंधली और अधूरी विचार-धारा के परिणामो से बच गया है । मगर लिबरलो की बात ऐसी नही है । उन्होने

पुराने और नये दोनो ही विचार के लोगो से अपना नाता तोड लिया है। एक जमात की हैसियत से वे उन लोगो के प्रतिनिधि है, जो मिटते जा रहे है।

मैं खयाल करता हूँ कि हममे से बहुतो की वह पुरानी व्यक्तिपूजा की भावना नष्ट हो चुकी है, लेकिन नई अतर्दृष्टि प्राप्त नही हुई है। न तो हमे समुद्र से उछलते हुए प्रोटियस[१] के दर्शन सुलभ है और न हमारे कान बूढे ट्रिटन[२] की पुष्प-माला-विभूषित श्रृगी की मधुर ध्वनि ही सुन पाते हैं। हममे से बहुत कम लोग इतने भाग्यशाली हैं जो—

"पिड मे ब्रह्माण्ड को अवलोकते,
वन-सुमन मे स्वर्ग को है देखते,
अजली मे बाँधते निस्सीम को,
एक पल से नापते चिरसीम को।"[३]

दुर्भाग्य से, हममे से बहुतेरे प्रकृति के रहस्यपूर्ण जीवन की अनुभूति से दूर है। वह रहस्य-ध्वनि हमारे कानो के पास तो गूँजती है, लेकिन हम सुन नही पाते। उसके स्पर्श के मधुर कपन का सुख नही उठाते। वे दिन अब चले गये, लेकिन चाहे अब हम पहले की तरह प्रकृति की दिव्यता का दर्शन न कर सके, तो भी मानवजाति के गौरव और कारुण्य मे, उसके बडे-बडे स्वप्नो और आन्तरिक तूफानो मे, उसकी पीडाओ और विफलताओ मे, उसके सघर्षो और विपत्तियो मे, और इन सबसे बढ़कर एक महान् उज्ज्वल भविष्य की आशा मे तथा उन महत्त्वाकाक्षाओ की प्राप्ति मे हमने उसे पाने का प्रयत्न किया है। जो कष्ट और क्लेश इस खोज मे हमे उठाने पडे है, वे बिलकुल ही व्यर्थ नही है। इस खोज ने समय-समय पर हमे जीवन की तुच्छता से

१. **प्रोटियस**— प्राचीन काल का एक जलदेवता, जो चाहे जब अपने मनचाहा रूप धारण कर सकता था। बदलती रहनेवाली किसी चीज या व्यक्ति लिए भी, अक्सर इस शब्द का प्रयोग होता है।

२. **ट्रायटन**—पोसिडन का पुत्र और एक ऐसा जलदेवता, जो अर्द्ध-मनुष्य और अर्द्ध-मत्स्य था। इसका खास काम शख-ध्वनि द्वारा सागर-तरगों को कम-ज्यादा करते हुए उनपर नियंत्रण रखना था।

३ मूल अंग्रेज़ी पद्य इस प्रकार है :—

"To see a World in a Grain of Sand
And a Heaven in a Wild Flower,
Hold Infinity in the palm of your hand
And Eternity in an hour"

ऊँचा उठाया है। लेकिन बहुतो ने इस शोध का प्रयत्न ही नही किया है और पुराने तरीको से अपनेको बिलकुल अलहदा कर रक्खा है, लेकिन वर्तमान मे उनको कोई रास्ता नही मिल रहा है। न तो उनकी भावनाये ही ऊँची है, न कुछ वे करते ही है। वे फ्रास की महान् राज्यक्राति या रूसी राज्यक्राति-जैसे मानवी उथलपुथल का मर्म नही समझते। चिरकाल से दबी हुई मानवी अभिलाषाओ के जटिल तेज और निठुर स्फोटो या उभाडो से वे भयभीत हो जाते है। उनके लिए बेस्टिली (फ्रास) का किला अभी सर नही हुआ है।

बडे रोष के साथ अक्सर यह कहा जाता है कि 'देश-भक्ति का ठेका कुछ कांग्रेस-वालो ने ही नही ले रक्खा है।' यही शब्द बारबार दोहराये जाते है, जिनमे कोई नवीनता नही दिखाई देती। यह देखकर कुछ दु ख होता है। मै समझता हूँ, अपने लिए इस भावना के एक अश का भी कभी किसी कांग्रेसी ने दावा नही किया होगा। अवश्य ही, मै नही समझता कि कांग्रेस ने ही इसका ठेका ले रक्खा है और मै बडी खुशी के साथ जिस किसीको चाह हो उसे इसकी भेट करने को तैयार हूँ। यह तो अवसर से फायदा उठानेवालो और सुखी और निश्चित जीवन चाहनेवालो के लिए अक्सर एक ढाल का काम देता है और हर तरह की रुचियो, स्वार्थों और वर्गो के अनुकूल उसके कई रूप है। अगर आज 'जूडस' जीवित होता तो वह भी, इसमे कोई शक नही, इसीके नाम पर काम करता। लेकिन अब तो देश-भक्ति ही काफी नही है, अब तो हमे कोई उससे ज्यादा ऊँची, व्यापक और श्रेष्ठ चीज चाहिए।

और नरमी स्वत ऐसी कोई चीज नही है, जो काफी समझी जाय। हाँ, सयम एक अच्छी चीज है और वह हमारी सस्कृति का एक पैमाना है, मगर कोई चीज भी तो हो, जिसका हम सयम और निग्रह करे। मनुष्य सदा से पचतत्त्वो पर शासन करता आ रहा है, बिजली पर सवारी गाँठता आ रहा है, लपकती हुई आग और वेगयुक्त और गिरते-पडते हुए पानी को अपने काम मे लाता रहा है और यह सब वह अब भी करता है, लेकिन उसके लिए इन सबसे ज्यादा मुश्किल हुआ है उसको खाये डालनेवाले विकारो का निग्रह करना या उन्हे सयम मे रखना। जबतक वह इन्हे अपने काबू में नही कर लेता, तबतक वह अपनी मनुष्यता की विरासत को पूरी तरह नही पा सकता। पर क्या हम उन पैरो को रोक रक्खें, जो हिलते ही नही है या उन हाथो को, जिन्हे लकवा मार गया है?

इस प्रसग पर मै रॉय केम्पबेल की चार पक्तियाँ देने का लोभ सवरण नही कर सकता, जो उन्होने दक्षिण अफ्रीका के किसी उपन्यासकार के सबध मे लिखी थी

"विश्व आपके दृढ सयम का गाता है यश-गान,
मै भी उसमे देता उसका साथ आज, मतिमान !
खूब जानते आप खीचना और मोडना बाग
पर कमबख्त कहाँ वह घोडा, है इसका कुछ ध्यान ?"[१]

हमारे लिबरल मित्र हमसे कहते है कि वे श्रेयस्कर माध्यमिकता के सकीर्ण पथ पर चलते है और एक तरफ कॉग्रेस और दूसरी तरफ सरकार दोनो की अतियाँ बचाकर अपना रास्ता निकालते है। वे दोनो की कमिया बतानेवाले मुसिफ बनते है और इस बात के लिए अपने-आपको बधाई देते है कि वे इन दोनो की बुराइयो से बरी है। मेरी समझ मे आँखो पर पट्टी बाँधकर वे निष्पक्ष बनने की कोशिश करते है। कही यह मेरी खब्त ही तो नही है जो, आज मेरे कानो मे सदियो पुरानी वह मशहूर पुकार आ रही है—"स्क्राइब्स[२] और फेरिसियो[३].........ओ अंधे पथ-प्रदर्शको ! तुम हाथी को तो निगल जाते हो और दुम से परहेज करते हो !"

१. मूल अंग्रेज़ी पद्य इस प्रकार है :—

"They praise the firm restraint with which you write.
I'm with you there, of course.
You use the snaffle and the curb all right,
But where's the bloody horse ?"

२. स्क्राइब्स—यहूदी स्मृतिकार और उनके आचार-विचार के व्याख्याता।

३. फ़ेरिसी—प्राचीन यहूदियों के एक दल वालों का नाम, जो प्रचलित रस्म-रिवाजों पर दृढ़ता से जमे रहने के लिए मशहूर थे। इसीलिए रूढ़िवादी, धर्मध्वजी और पाखण्डी लोगों के लिए भी इस शब्द का प्रयोग होता है।

५२

डोमीनियन स्टेटस और आज़ादी

पिछले सत्रह वर्षों से जिन लोगो ने कॉंग्रेस की नीति का निर्माण किया है उनमे से ज्यादातर मध्यम-श्रेणी के लोग है। चाहे वे लिबरल हो चाहे कॉंग्रेसी, आये है सब उसी श्रेणी से और एक-सी परिस्थितियो मे उन सबका विकास हुआ है। उनका सामाजिक जीवन, उनका रहन-सहन, उनके मेल-मुलाकाती और इष्ट-मित्र सब एक-से रहे है और शुरू मे जिन दो किस्मो के मध्यमवर्गी आदर्शों का वे प्रतिपादन करते थे, उनमें ऐसा कोई कहनेलायक अतर न था। स्वभावगत और मानसिक भेदो ने उनको जुदा करना शुरू किया और वे मुख्तलिफ दिशाओ मे देखने लगे। एक दल तो सरकार और धनी लोगो—ऊपरी मध्यमवर्ग के लोगो—की तरफ और दूसरा निम्न मध्यमवर्गियो की तरफ। विचारधारा अब भी दोनो की एक-सी थी और ध्येय मे भी कोई फर्क नही था। लेकिन इस दूसरे दल के पीछे अब साधारण पेशेवर और बेकार पढे-लिखे लोगो का समुदाय आने लगा। इससे उसका स्वर बदल गया। उसमे वह अदब और शायस्तगी न रही, बल्कि उसका लहजा करारा और हमलावर हो गया। कारगर ढग से काम करने की ताकत तो थी नही, सो कडी जबान मे उसे कुछ राहत मिल गई। इस नई परिस्थिति को देखकर माडरेट लोग कॉंग्रेस से खिसक गये और अकेले रहने मे ही उन्होने अपनेको महफूज समझा। फिर भी ऊपरी मध्यमवर्गियो का उसमे जोर था, हालाँकि, तादाद मे छोटे मध्यमवर्गियो का प्राधान्य था। वे अपने राष्ट्रीय सग्राम मे महज कामयाबी की ख्वाहिश से ही नही आये थे, बल्कि इसलिए कि उस सग्राम मे ही उन्हे सच्चा सतोष मिल जाता था। वे उसके द्वारा अपने खोये हुए स्वाभिमान और आत्म-सम्मान को फिर से प्राप्त करना और अपने तहस-नहस हुए गौरव को फिर से पूर्व पद पर प्रतिष्ठित करना चाहते थे। यो तो एक राष्ट्रवादी के मन मे सदा से ही ऐसी प्रेरणा उठती आई है और हालाँकि सभीके मन मे उठती है, तो भी यही से नरम और गरम दोनो की स्वभावगत भिन्नता सामने आ गई। धीरे-धीरे कॉंग्रेस मे निम्न मध्यमवर्गियो की प्रधानता होती गई और आगे चलकर किसानो ने भी उसे प्रभावित किया।

ज्यो-ज्यो कॉंग्रेस ग्रामीण-जनता की अधिकाधिक प्रतिनिधि बनती गई त्यो-त्यो उसके और लिबरलो के बीच की खाई और-और चौडी होती गई और लिबरलो के लिए कॉंग्रेस के दृष्टिकोण को समझना या उसकी कदर करना नामुमकिन हो गया।

उच्चवर्ग के दीवानखाने के लिए छोटी कुटिया या कच्चे झोपडे को समझना आसान नही है। फिर भी, इन मतभेदो के रहते हुए भी, दोनो की विचार-धारा राष्ट्रीय और मध्यमवर्गीय थी, जो कुछ फर्क था वह मात्रा का था, प्रकार का नही। कांग्रेस मे आखिर तक कितने ही ऐसे लोग रहे जो नरम दल मे बड़े मजे से खपते और रहते।

कई पीढियो से ब्रिटिश लोग हिन्दुस्तान को अपने खास मौज व आराम का घर समझते आये है। वे ठहरे भद्र कुल के और उस घर के मालिक—उसके आवश्यक हिस्सो पर अपना कब्जा किये हुए—इधर हिन्दुस्तानियो के हवाले नौकरो की कोठरियाँ, सामान-घर और रसोई-घर वगैरा किये गये। एक सुव्यवस्थित घर की तरह वहाँ नौकरो के कई दर्जे बधे हुए है—खानसामा, जमादार, रसोइया, कहार वगैरा-वगैरा—और उनमे छोटे-बडे का पूरा-पूरा खयाल रक्खा जाता है। लेकिन मकान के ऊपर और नीचे के हिस्सो मे एक ऐसी जबरदस्त सामाजिक और राजनैतिक आड लगादी है जिसे पार करके कोई इधर-से-उधर जा ही नही सकता। ब्रिटिश सरकार का इस व्यवस्था को हमारे सिर पर लादे रहना तो किसी तरह आश्चर्यजनक नही है। मगर यह जरूर आश्चर्य की बात है कि हम या हममे से बहुतो ने खुद उसके सामने इस तरह से सिर झुका दिया है, गोया वह हमारे जीवन या भाग्य की कोई स्वाभाविक और अवश्यम्भावी व्यवस्था हो। हमने मकान के एक अच्छे नौकर का-सा अपना दिमाग बना लिया। कभी-कभी हमारी बडी इज्जत करदी जाती है—दीवानखाने में चाय का एक प्याला हमे दे दिया जाता है। हमारे हौसलो की उडान होती है सम्मानित बनने तक, व्यक्तिगत रूप से ऊँचे दर्जे में चढ़ा दिय जाने तक। सचमुच हथियारो और कूटनीति के द्वारा प्राप्त की गई विजय से ब्रिटिशों की हिन्दुस्तान पर यह मानसिक विजय कही बढकर है। पुराने समझदारो ने कहा ही है कि 'गुलाम गुलाम की-सी ही बात सोचने लगता है।'

अब ज़माना बदल गया और अब न इग्लैण्ड मे और न हिन्दुस्तान मे विश्रान्ति-भवन की वह नमूनेदार सभ्यता राजी-खुशी से मानी जाती है। मगर फिर भी हममे ऐसे लोग है जो उन्ही नौकरो की कोठरियो मे पड़े रहने की ख्वाहिश रखते है और अपनी सुनहरी चपरासो, पट्टो, वर्दियो और बिल्लो पर नाज करते है। दूसरे कुछ लोग लिबरलो की तरह, उस सारे भवन को तो ज्यो-का-त्यो कायम रहने देना चाहते है, उसकी कारीगरी और उसकी सारी रचना की स्तुति करते है, लेकिन इस बात के लिए उत्सुक है कि धीरे-धीरे उसके मालिको की जगह खुद उन्हे मिल जाय। वे उसे 'भारतीयकरण' कहते है। उनके लिए शासको का रग बदल जाना या अधिक-से-अधिक नये शासक-मण्डल का बन जाना काफी है। वे एक नई राज्य-व्यवस्था की भाषा में कभी नही सोचते।

उनके लिए स्वराज के मानी है—और सब बाते ज्यो-की-त्यो चलती रहे, सिर्फ उसका काला रग और गहरा कर दिया जाय। वे तो महज़ ऐसे ही भविष्य की कल्पना कर सकते है, जिसमे वे या उनके जैसे लोग सूत्र-सचालक रहे और अग्रेज हाकिमो की जगह ले ले—जिसमे कि उसी तरह की नौकरियाँ, महकमे, धारा-सभाये, व्यापार, उद्योग और सिविल सर्विस अपना काम करती रहे। राजा-महाराजा अपनी जगह बरकरार रहे, कभी-कभी जर्क-बर्क पोशाक और जवाहरात से सजकर रिआया पर रौब गाँठते हुए दर्शन दिया करे, जमींदार एक तरफ विशेष रूप से अपना रक्षण चाहे और दूसरी तरफ काश्तकारो को परेशान करते रहे, साहूकार की तिजोरी भरी रहे, जो ज़मींदार और काश्तकार दोनो को तग करता रहे, वकील अपना मेहनताना पाते रहे और ईश्वर की ज्योति स्वर्गपुरी मे जगमगाती रहे।

हाँ, तो उनका दृष्टिकोण आवश्यक रूप से इसी बात पर आधार रखता है कि वर्तमान व्यवस्था चलती रहे। जो कुछ तबदीलियाँ वे चाहते है वे व्यक्तिगत परिवर्तन कहे जा सकते है, और वे इन परिवर्तनो को ब्रिटिशो की सद्भावना से बूँद-बूँद करके कराना चाहते है। उनकी सारी राजनीति और अर्थनीति की बुनियाद ब्रिटिश साम्राज्य की स्थिरता और दृढता पर है। वे देखते है कि इस साम्राज्य की नीव हिल नही सकती, कम-से-कम बहुत समय तक, तो फिर वे उसके माफिक अपने-को बनाते है और न केवल उसकी राजनैतिक और आर्थिक विचार धारा को ही ग्रहण करते है, बल्कि बहुत हद तक उसके उन नैतिक आदर्शो को भी अपनाते है, जोकि ब्रिटिश प्रभुत्व को कायम रखने के लिए बनाये गये है।

लेकिन कॉंग्रेस का रुख मूल से ही भिन्न है, क्योकि वह एक नई राज्य-व्यवस्था का निर्माण करना चाहती है, न कि महज एक दूसरा शासक-मण्डल बनाना। उस नई व्यवस्था का क्या स्वरूप होगा इसका स्पष्ट खयाल एक औसत कॉंग्रेसी के दिमाग मे आज नही है और इसके बारे मे राये भी अलग-अलग हो सकती है। मगर कॉंग्रेस मे शायद माडरेट विचार के सब लोग इस बात को मानते है, कुछ इने-गिने लोगो को छोडकर, कि मौजूदा अवस्था और तरीके कायम नही रह सकते और न रहने चाहिएँ और बुनियादी तबदीलियाँ लाजिमी है। यही फरक है डोमीनियन स्टेटस—औपनिवेशिक स्वराज—और पूर्ण स्वाधीनता मे। पहला उसी पुराने ढाँचे को दृष्टि मे रखता है, जो हमे ब्रिटिश अर्थ-व्यवस्था के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष बहुतेरे बन्धनो से बाँधे हुए है, और दूसरा हमे अपने हालात के माफिक एक नया ढाचा खडा करने की स्वतत्रता देता है, या उसे देना चाहिए।

यह इग्लैण्ड या अग्रेज लोगो से अटल शत्रुता रखने का या हर तरह से उनसे

सम्बन्ध हटा लेने का सवाल नहीं है। परन्तु जो कुछ हो चुका है उसीकी तरह अगर इंग्लैण्ड और हिन्दुस्तान में वैमनस्य बना रहा तो उसका कुदरती नतीजा यही होगा। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर कहते हैं कि "सत्ता का अनाड़ीपन ताले की कुंजी को तो खराब कर देता है और फिर उसकी जगह गेंती से काम लेता है।" हाँ, हमारे दिलों की कुंजी तो कभी की टूट-फूट चुकी है और गेंतियों का जो भरपूर उपयोग हमपर किया गया है उसने हमें अंग्रेजों का तरफदार नहीं बनाया। लेकिन यदि हम भारतवर्ष और मानव-जाति के व्यापक हितों की सेवा करने का दावा करते हैं, तो हम अपनेको क्षणिक विकारों और भावनाओं में नहीं बहने दे सकते, और अगरचे हम उस तरफ झुक भी जायँ तो गांधीजी ने जो १५ साल तक हमको कड़ी तालीम दी है वह हमें उससे रोक लेगी। यह मैं एक ब्रिटिश जेलखाने में बैठकर लिख रहा हूँ, महीनों से मेरा दिमाग चिन्ताकुल है और इधर मुझपर जेल में जो कुछ बीती है उससे कहीं ज्यादा मैंने इस तनहाई में कष्ट सहे हैं। कई घटनाओं के अवसरों पर गुस्से और नाराजगी से मेरा दिल अक्सर भर गया है, लेकिन फिर भी यहाँ बैठा हुआ जब मैं अपने दिल और दिमाग की गहराई को टटोलता हूँ तो उसमें कहीं भी इंग्लैंड या अंग्रेजों के प्रति-रोष या द्वेष नहीं दिखाई पड़ता। हाँ, मैं ब्रिटिश साम्राज्यवाद को नापसन्द करता हूँ और हिन्दुस्तान पर उसके लाद दिये जाने से मैं नाराज हूँ। मुझे पूँजीवादी प्रणाली नापसन्द है। ब्रिटेन के शासकवर्ग हिन्दुस्तान का जिस तरह शोषण कर रहे हैं उसे मैं ज़रा भी पसन्द नहीं करता और उसपर मुझे रोष है। मगर मैं कुल मिलाकर इंग्लैण्ड या अंग्रेजों को इसके लिए जिम्मेदार नहीं ठहराता, और अगर मैं ऐसा करूँ भी तो उससे कोई ज्यादा फर्क नहीं पड़ता, क्योंकि सारी जाति पर नाराज़ होना या उसकी निन्दा करना जरा बेवकूफी की ही बात है। वे भी उसी तरह परिस्थितियों के शिकार बन गये हैं जैसे कि हम।

मैं खुद तो अपनी मनोरचना के लिए इंग्लैण्ड का बहुत ऋणी हूँ। इतना कि उसके प्रति जरा भी शत्रुता का भाव नहीं रख सकता और मैं जो चाहूँ करूँ, लेकिन मैं अपने मन के उन संस्कारों से और दूसरे देशों के और आम तौर पर जीवन के बारे में विचार करने की पद्धतियों और आदर्शों से, जो मैंने इंग्लैण्ड के स्कूल और कालेजों में प्राप्त किये हैं, मुक्त नहीं हो सकता। राजनैतिक योजना को छोड़ दें, तो मेरा सारा पूर्वानुराग इंग्लैण्ड और अंग्रेज लोगों की ओर दौड़ता है, और अगर मैं हिन्दुस्तान में अंग्रेजी शासन का 'कट्टर विरोधी' बन गया हूँ तो मेरी अपनी स्थिति ऐसी होते हुए भी ऐसा हुआ है।

हम जिसपर ऐतराज करते हैं और जिसके साथ हम कभी राजी-खुशी से समझौता

नही कर सकते वह अग्रेजो का शासन है, आधिपत्य है, न कि अग्रेज लोग। हम शौक से अग्रेजो से और दूसरे विदेशियो से घनिष्ठ सम्पर्क बांधे। हम हिन्दुस्तान मे ताजी हवा चाहते है, ताजा और चेतनामय विचार और निर्मल सहयोग चाहते है, क्योकि हम जमाने से बहुत पीछे पड गये है। लेकिन अगर अग्रेज शेर बनकर यहां आते है तो वे हमसे दोस्ती या सहयोग की कोई उम्मीद नही रख सकते। साम्राज्यवाद के शेर का तो यहां प्राण-पण से मुकाबला किया जायगा और आज हमारे देश का उसी महान् क्रूर पशु से पाला पड़ा है। जगल के उस क्रुद्ध शेर को पाल लेना और वशीभूत कर लेना सभव हो सकता है, लेकिन पूंजीवाद और साम्राज्यवाद को, जब कि ये दोनो मिलकर एक अभागे देश पर टूट पडे है, पालतू बना लेना किसी भी तरह मुमकिन नही है।

किसीके लिए यह कहना कि वह या उसका देश किसीसे समझौता नही करेगा, एक तरह से बेवकूफी की बात है, क्योकि जीवन हमेशा हमसे समझौता करवाता है, और जब दूसरे देश या वहां के लोगो पर यह बात लागू की जाती हो तब तो यह बिलकुल ही बेवकूफी की बात है। लेकिन जब यह किसी प्रणाली या किन्ही खास हालतो के लिए कहा जाता है तो उसमे कुछ सचाई होती है और ऐसी दशा मे समझौता करना मनुष्य की शक्ति के बाहर हो जाता है। भारतीय स्वाधीनता और ब्रिटिश साम्राज्यवाद ये दोनो परस्पर बेमेल है और न तो फौजी कानून और न दुनियाभर की ऊपरी चिकनी-चुपडी बाते ही उन्हे एकसाथ मिला सकती है। सिर्फ ब्रिटिश-साम्राज्यवाद का हिन्दुस्तान से हट जाना ही एक ऐसी चीज है जिससे सच्चे भारत-ब्रिटिश-सहयोग के अनुकूल अवस्थाये पैदा हो सकेगी।

हमसे कहा जाता है कि आज की दुनिया मे स्वाधीनता एक सकुचित ध्येय है, क्योकि दुनिया अब दिन-दिन परस्पराश्रित होती जा रही है। इसलिए मुकम्मिल आजादी का मतालबा करके हम घडी का कांटा पीछे घुमा रहे है। लिबरल और शातिवादी, यहांतक कि ब्रिटेन के समाजवादी कहलानेवाले भी, इस दलील को पेश करके हमे अपने सकुचित उद्देश पर लताडते है और साथ ही यह कहते है कि पूर्ण राष्ट्रीय जीवन का मार्ग तो 'ब्रिटिश राष्ट्र-सघ' मे से होकर गुजरता है। यह अजीब-सी बात है कि इग्लैण्ड मे तमाम रास्ते, लिबरलवाद, शातिवाद, समाजवाद वगैरा, साम्राज्य को कायम रखने की ओर ही ले जाते है। ट्राटस्की कहता है—"शासक-राष्ट्र की प्रचलित व्यवस्था को कायम रखने की अभिलाषा अक्सर 'राष्ट्रवाद' से श्रेष्ठ होने का जामा पहन लेती है, ठीक उसी तरह, जैसे विजेता राष्ट्र की अपनी लूट के माल को न छोडने की अभिलाषा आसानी से शातिवाद का रूप धारण कर लेती है। इस तरह

मैकडानल्ड गाधी के मुकाविले मे ऐसा महसूस करता है मानो वह कोई अन्तर्राष्ट्रीयता का हामी है।"

मै नही जानता हूँ कि हिन्दुस्तान जब राजनैतिक दृष्टि से आजाद हो जायगा तो किस तरह का होगा और वह क्या करेगा। लेकिन मै इतना जरूर जानता हूँ कि उसके लोग जो आज राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के हामी है, वे व्यापक-से-व्यापक अन्तर्राष्ट्रीयता के भी हिमायती है। एक समाजवादी के लिए राष्ट्रीयता का कोई अर्थ ही नही है, लेकिन वहुतेरे कांग्रेसी, जो समाजवादी नही है लेकिन आगे वढे हुए है, वे पक्की अन्तर्राष्ट्रीयता के उपासक है। स्वाधीनता हम इसलिए नही चाहते कि हमे सवसे कटकर अलग-सलग रहने की ख्वाहिश है। इसके वखिलाफ हम तो विलकुल राजी है कि और देशो के साथ-साथ अपनी स्वाधीनता का भी कुछ हिस्सा छोड़ दे कि जिससे सच्ची अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था वन सके। कोई भी साम्राज्य-प्रणाली चाहे उसका नाम कितना ही वडा रख दिया जाय ऐसी व्यवस्था की दुश्मन ही है और ऐसी प्रणाली के द्वारा विश्वव्यापी सहयोगिता या शाति कभी स्थापित नही हो सकती।

इधर हाल में जो घटनाये हुई है उन्होने सारी दुनिया को वता दिया है कि कैसे विभिन्न साम्राज्यवादी प्रणालियाँ स्वाश्रयी सत्ता और आर्थिक साम्राज्यवाद के द्वारा अपने-आपको सवसे जुदा कर रही है। अन्तर्राष्ट्रीयता की वढती के वजाय हम उसका उलटा ही देख रहे है। इसके कारणो को खोजना मुश्किल नही है। वे मौजूदा अर्थ-व्यवस्था की वढती हुई कमजोरी को जाहिर करते है। इस नीति का एक नतीजा यह हुआ है कि एक ओर जहाँ वह स्वाश्रयी सत्ता के क्षेत्र के अन्दर ज्यादा सहयोग पैदा करती है तहाँ दूसरी ओर वह दुनिया के दूसरे हिस्सो से अपनेको अलग कर लेती है। हिन्दुस्तान को ही लीजिए। हमने ओटावा-सम्वन्धी तथा दूसरे निर्णयो से यह देख लिया है कि दूसरे देशो से हमारा सपर्क और रिश्ता दिन-दिन कम होता चला जा रहा है। हम पहले से भी ज्यादा ब्रिटिश उद्योग-धन्धो के आश्रित हो रहे है और, इससे कई वातो में जो तात्कालिक नुकसान हुए है उनको अलग रखदे तो भी, इस नीति से पैदा होने-वाले खतरे स्पष्ट है। इस प्रकार 'डोमिनियन स्टेटस' हमे व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय सपर्क की ओर ले जाने के वजाय दुनिया से अलग पटकता हुआ दिखाई देता है।

लेकिन हमारे हिन्दुस्तानी लिवरल दोस्त दुनिया को और खास करके खुद अपने मुल्क को असली नीले रंग के ब्रिटिश चश्मे से देखने की एक विलक्षण सहज शक्ति रखते है। इस वात को समझने की कोशिश किये वगैर ही कि कांग्रेस क्या कहती है और वह ऐसा क्यो कहती है, वे उसी पुरानी ब्रिटिश दलील को दोहराते रहते है कि डोमिनियन स्टेटस की अपेक्षा पूर्ण स्वाधीनता का आदर्श कही संकीर्ण और नैतिक

उत्थान की दृष्टि से कम हितकारी है। उनके नजदीक तो अन्तर्राष्ट्रीयता के मानी ह्वाइट-हॉल होते है, क्योकि उनको दूसरे देशो का तो कुछ पता ही नही है। इसका कुछ कारण तो भाषा-सम्बन्धी दिक्कत है, मगर उससे भी ज्यादा कठिनाई यह है कि उन्हे उनकी उपेक्षा करने मे ही सन्तोष है। और हिन्दुस्तान मे तो वे किसी भी किस्म की उग्र राजनीति या 'सीधे हमले' के खिलाफ है। मगर यह देखकर कुतूहल होता है कि उनके कुछ नेताओ को, अगर दूसरे देशो मे ये तरीके अख्त्यार किये जायँ, तो कोई ऐतराज नही होता। वे दूर रहकर ही उनकी कदर और इज्जत कर सकते है और पश्चिमी देशो के कुछ मौजूदा डिक्टेटरो को तो उनका मानसिक पूजा-सत्कार भी प्राप्त है।

नामो से धोखा हो सकता है। मगर हमारे सामने हिन्दुस्तान मे तो असली सवाल यह है कि हम एक नई राज्य-रचना करना चाहते है, या सिर्फ एक नया शासक-मडल बनाना चाहते है? लिबरलो का जवाब स्पष्ट है। वे पिछली बात से ज्यादा कुछ नही चाहते और वह भी उनके लिए तो एक दूरवर्ती और क्रम-क्रम से प्राप्त होनेवाला आदर्श है। 'डोमिनियन स्टेटस' का जिक्र अबतक कई बार किया गया है। मगर उसका असली उद्देश्य फिलहाल तो 'केन्द्रीय उत्तरदायित्व' इन गूढ शब्दो-द्वारा प्रकट किया गया है। सत्ता, स्वाधीनता, आजादी, स्वतन्त्रता आदि उनके जोरदार शब्द उनके लिए नही है। उन्हे तो ये खतरनाक मालूम होते है। एक वकील की भाषा और तरीके उन्हे ज्यादा जँचते है—चाहे भले ही बहुजन-समाज को वे उत्साहित न करते हो। इतिहास मे ऐसी बेशुमार मिसाले मिलती है कि जहाँ व्यक्तियो और समूहो ने अपने सिद्धान्तो और अपनी आजादी के लिए खतरो का मुकाबिला किया है और अपनी जान जोखिम मे डाली है। मगर यह सन्देहास्पद दिखाई देता है कि 'केन्द्रीय उत्तरदायित्व' या ऐसे किसी दूसरे कानूनी शब्दो के लिए कोई जान-बूझकर एक दफा खाना छोड देगा या अपनी नीद हराम करेगा।

यह तो है उनका मकसद और इसको भी हासिल करना है 'सीधे हमले' या और किसी उग्र उपाय से नही, मगर जैसा कि श्री श्रीनिवास शास्त्री ने कहा है—'समझदारी, अनुभव, नरमी, समझाने-बुझाने की शक्ति, चुपचाप प्रभाव और असली कार्यदक्षता' का परिचय देकर। यह आशा की जाती है कि हमारे इस सद्व्यवहार और सत्कार्य के द्वारा हम अन्त मे जाकर अपने शासको को इस बात के लिए राजी कर सकेगे कि वे अपने अधिकार छोड दे। दूसरे शब्दो मे वे हमारा विरोध इसीलिए करते है कि या तो वे हमारे आक्रमणात्मक रुख से चिढे हुए है या उन्हे हमारी क्षमता पर शक है, या इन दोनो बातो के कारण। 'साम्राज्यवाद और हमारी मौजूदा स्थिति

नये-नये आर्डिनेन्स या नये-नये क़ानून नये-नये जुर्मों को पैदा करते हैं। उनके अनुसार किसी सभा में जाना जुर्म हो सकता है; इसी तरह साइकल पर सवार होना, ख़ास क़िस्म के कपड़े पहनना, शाम के बाद घर से बाहर निकलना, पुलिस को रोज़ अपनी रिपोर्ट न देना. ये सब तथा दूसरी कई बातें आज हिन्दुस्तान के कुछ हिस्सों में जुर्म समझी जाती हैं। एक ख़ास देश के एक हिस्से में जुर्म समझा जाता है और दूसरे में नहीं। जब एक ग़ैर-ज़िम्मेदार कार्यकारिणी के द्वारा ऐसे क़ानून बहुत थोड़े-से-थोड़े नोटिस पर बना दिये जा सकते हैं, तब 'क़ानूनी' शब्द के मानी कार्यकारिणी की इच्छा के सिवा और क्या हो सकते हैं? मामूली तौर पर तो इस इच्छा का पालन ही किया जाता है, चाहे राज़ी से हो चाहे ग़ैरराज़ी से। क्योंकि उसके भंग करने का परिणाम दुखदायी होता है। पर किसी शख़्स के लिए यह कहना कि मैं सदा ही उसका पालन करता रहूँगा, मानों तानाशाही या ग़ैरज़िम्मेदार हुकूमत के सामने सब तरह से सिर झुका देना है, अपनी आत्मा को गिरो रख देना है और अपनी प्रकृतियों के लिए आज़ादी को असम्भव बना देना है।

हरेक लोकतंत्री देश में सहज इस बात पर विवाद खड़ा हो रहा है कि मौजूदा वैधानिक तंत्र के द्वारा मामूली तौर पर आमूल आर्थिक परिवर्तन किये जा सकते हैं या नहीं? बहुत-से लोगों की राय है कि ऐसा नहीं हो सकता, इसके लिए कोई-न-कोई असाधारण और क्रान्तिकारी उपाय काम में लाना होगा। लेकिन जहाँतक हमारे हिन्दुस्तान का ताल्लुक़ है, इस प्रश्न पर बहस करना कोई अर्थ नहीं रखता। ऐसा वैधानिक साधन ही नहीं है जिसके बल पर हम अपनी इच्छा का परिवर्तन करा सकें। यदि श्वेत-पत्र या वैसा ही कोई चीज़ क़ानून बन गई तो बहुत-सी दिशाओं में वैधानिक प्रगति बिल्कुल रुक जायगी। ऐसी दशा में सिवा क्रान्ति या ग़ैरक़ानूनी कार्रवाई के और कोई चारा ही नहीं रह जाता। तब हमें करना क्या चाहिए? क्या परिवर्तन की सब आशाओं को तिलाञ्जलि देकर भाग्य के भरोसे बैठे रहें?

हिन्दुस्तान में तो आज हालत और भी असाधारण हो गई है। कार्यकारिणी हर क़िस्म के सार्वजनिक कामों को रोक सकती है, और उनपर बंदिश लगा देती है। जो भी काम उसकी राय में उसके लिए ख़तरनाक है वह मना कर दिया जाता है। इस तरह हरेक असरदार सार्वजनिक काम बन्द कर दिया जा सकता है, जैसा कि पिछले तीन साल तक बन्द कर दिया गया था। इसको मानने के मानी हैं तमाम सार्वजनिक कामों को छोड़ देना। और यह मान लेना तो किसी तरह मुमकिन नहीं है।

यह कोई नहीं कह सकता कि वह हमेशा और बिला नाग़ा क़ानून के मुताबिक़

ही काम करेगा। लोकतन्त्री राज्य मे भी ऐसे मौके पैदा हो सकते है जब किसीकी अन्तरात्मा उसके खिलाफ चलने के लिए मजबूर करदे और उस देश मे जहाँ स्वेच्छाचारी या निरकुश शासन हो, ऐसे मौके ओर भी वारबार आ सकते है। यकीनन् ऐसे राज्य मे कानून के लिए कोई नैतिक आधार नही रह जाता है।

लिवरल लोग कहते हैं—"सीधा हमला तानाशाही से मेल खाता है, न कि लोकतन्त्र से, और जो लोकतन्त्र की विजय चाहते है उन्हे सीधे हमले से दूर ही रहना चाहिए।" यह तो एक प्रकार का गलत सोचना और गलत लिखना हुआ। आज वक्त सीधा हमला—जैसे मजदूरो की हडताल—भी कानूनी हो सकता है। मगर यहाँ उनकी मन्शा शायद राजनैतिक काम से है। जर्मनी मे, जहाँ कि हिटलर का बोलवाला है, आज क्या किया जा सकता है? या तो चुपचाप सिर झुका दो, या गैरकानूनी और क्रान्तिकारी काम करो। वहाँ लोकतन्त्र से काम कैसे चल सकता है?

हिन्दुस्तानी लिवरल अक्सर लोकतन्त्र का नाम लिया करते है, लेकिन उनमे से अधिकाश उसके पास जाने की इच्छा नही रखते। सर पी० एस० शिवस्वामी ऐयर ने, जो एक बहुत बडे लिबरल नेता है, मई, १९३४ मे कहा था—"विधानकारिणी सभा के आयोजन की पैरवी करते हुए कॉंग्रेस जन-समूह की समझदारी पर जरूरत से ज्यादा भरोसा रखती है और उन लोगो की सचाई और योग्यता के साथ बहुत कम इन्साफ करती है, जिन्होने कि भिन्न-भिन्न गोलमेज-कान्फ्रेन्सो मे भाग लिया है। मुझे तो इस बात मे बडा शक है कि विधानकारिणी सभा का नतीजा इससे अच्छा हुआ होता।" इस तरह सर शिवस्वामी ऐयर की लोकतन्त्र-सबधी धारणा 'जन-समूह' से कुछ अलग है, और ब्रिटिश सरकार के नामजद 'सच्चे और योग्य' लोगो के जमघट मे ज्यादा अच्छी तरह बैठ जाती है। आगे चलकर वह श्वेत-पत्र को अपना आशीर्वाद देते है, क्योकि, यद्यपि वह उससे 'पूरी तरह' सतुष्ट नही है, तथापि "देश के लिए उसका सोलहो आना विरोध करना समझदारी का काम न होगा।" तो अब ऐसा कोई सबब नही दिखाई देता कि क्यो न ब्रिटिश सरकार और सर पी० एस० शिवस्वामी ऐयर मे पूरा-पूरा सहयोग हो।

कॉंग्रेस के द्वारा सविनय भग के वापस लिये जाने का स्वागत् लिबरलो की ओर से होना कुदरती ही था। और इसमे भी कोई ताज्जुब की बात नही है जो वे इस बात मे अपनी समझदारी माने कि उन्होने इस "मूर्खतापूर्ण और गलत आन्दोलन" से अपनेको अलग रक्खा। वे हमसे कहते है—"क्या हमने पहले ही ऐसा नही कहा था?" लेकिन यह एक अजीब दलील है। क्योकि जब हम कमर कसकर खडे हुए

और एक करारी लडाई लडी तो हम नीचे गिरा दिये गये; इसपर से हमे यह नसीहत दी जाती है कि खडा होना ही गलत था। पेट के बल रेगना ही सबसे अच्छी और निरापद बात है। क्योकि, उस पडे रहने की हालत से गिरना या गिरा दिया जाना बिलकुल नामुमकिन है।

५३

हिन्दुस्तान—पुराना और नया

यह स्वाभाविक और लाजिमी बात थी कि हिन्दुस्तान मे राष्ट्रवाद विदेशी हुकूमत का विरोधी हो। मगर फिर भी यह कितने कुतूहल की बात है कि हमारे बहु-सख्यक पढे-लिखे लोग १९ वी सदी के अन्ततक, जान मे या अनजान मे, साम्राज्य के ब्रिटिश आदर्श मे विश्वास करते थे। वही उनकी दलीलो का आधार होता था और उसके कुछ बाहरी अलामात पर ही वे नुक्ताचीनी करके सतुष्ट हो जाते थे। स्कूलो और कॉलेजो मे इतिहास, अर्थशास्त्र या जो भी दूसरे विषय पढ़ाये जाते थे वे ब्रिटिश साम्राज्य के दृष्टिकोण से लिखे होते थे और उनमे हमारी पिछली और मौजूदा बहुतेरी बुराइयो और अग्रेजो के सद्गुणो और उज्ज्वल भविष्य पर जोर दिया रहता था। हमने उनके इस तोडे-मरोडे वर्णन को ही कुछ हद तक मान लिया और अगर कही हमने उसका सहज स्फूर्ति से प्रतिकार किया तो भी उसके असर से हम न बच सके। पहले-पहल तो हमारी बुद्धि उसमे से निकल ही नही सकती थी, क्योकि हमारे पास न तो दूसरे वाकयात थे और न दलीले। इसलिए हमने धार्मिक राष्ट्रवाद और इस विचार की शरण ली, कि कम-से-कम धर्म और तत्त्वज्ञान के क्षेत्र मे कोई जाति हमसे बढकर नही है। हमने अपनी इस बदबख्ती और गिरावट मे भी इस बात से तसल्ली की कि यद्यपि हमारे पास पश्चिम की बाहरी चमक-दमक नही है तो भी हमारे पास अन्दर की चीज है जो कि उससे कही ज्यादा कीमती और रखने लायक निधि है। विवेकानन्द और दूसरो ने तथा पश्चिमी विद्वानो ने हमारे पुराने दर्शनशास्त्रो मे जो दिलचस्पी ली उसने हमे कुछ स्वाभिमान प्रदान किया और अपने भूतकाल के प्रति अभिमान का जो भाव मुरझा गया था उसे फिर से लहलहा दिया।

धीरे-धीरे हमारी पुरानी और मौजूदा अवस्था के सम्बन्ध मे अग्रेजो के बयानो पर हमे शक होने लगा और हम बारीकी से उनकी छान-बीन करने लगे। मगर तब भी हम उसी ब्रिटिश विचारावली के घेरे मे ही सोचते और काम करते थे। अगर कोई चीज खराब होती तो वह अ-ब्रिटिश कहलाती थी। यदि किसी अग्रेज ने हिन्दुस्तान मे खराब बर्त्ताव किया तो वह उसका कुसूर समझा जाता था, उस प्रणाली का नही। लेकिन इस छान-बीन के द्वारा हिन्दुस्तान मे ब्रिटिश-शासन-सम्बन्धी जो सामग्री हाथ लगी और जो सग्रह हुआ उसने, लेखको का दृष्टिकोण माडरेट रहते हुए भी, एक क्रान्तिकारी हेतु को सिद्ध किया और हमारे राष्ट्रवाद को राजनैतिक और

आर्थिक पाये पर खड़ा कर दिया। इस तरह दादाभाई नौरोजी की 'पावर्टी एण्ड अन-ब्रिटिश रूल इन इंडिया' और रमेशचन्द्र दत्त, विलियम डिग्बी आदि की किताबो ने हमारे राष्ट्रीय विचारो के विकास मे एक क्रान्तिकारी काम किया। भारत के प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में आगे चलकर जो और खोज हुई उसने तो बहुत प्राचीन काल की उच्च सभ्यता के उज्ज्वल युगो का वर्णन हमारे सामने ला दिया और हम बडे संतोष के साथ उन्हे पढते है। हमे यह भी पता लगा कि अंग्रेजों के लिखे इतिहासो से हिन्दुस्तान मे अंग्रेजों के कारनामो के बारे मे हमारे मन मे जो धारणा बन गई थी उससे उलटे ही उनके कारनामे है।

हम इतिहास, अर्थशास्त्र और भारत मे उनकी शासन-व्यवस्था-सम्बन्धी उनके वर्णनो को उत्तरोत्तर चुनौती देने लगे। मगर फिर भी हम काम तो उन्हींकी विचार-धारा के घेरे में करते थे। १९ वी सदी के आखिर तक हिन्दुस्तानी राष्ट्रवाद की कुल मिलाकर यही हालत रही। आज लिबरल दल का, दूसरे और छोटे-छोटे दलो का और कुछ नरम कॉंग्रेसियो का भी, जो भावुकता में कभी-कभी आगे बढ जाते है लेकिन विचार की दृष्टि से अभी भी १९ वी सदी मे रह रहे है, यही हाल है। यही सबब है कि एक लिबरल हिन्दुस्तान की आजादी के भाव ग्रहण करने मे असमर्थ है, क्योंकि ये दोनो चीजे मूलत अनमेल है। वह सोचता है कि कदम-ब-कदम मै ऊँचे पदो पर पहुँचता चला जाऊँगा और बडी-बडी तथा महत्त्व की फाइलो पर कार्रवाई करूँगा। सरकारी मशीन पहले की ही तरह आराम से चलती रहेगी, सिर्फ वह उसका एक धुरा बन जायगा और ब्रिटिश फौज जरूरत के वक्त उसकी रक्षा करने के लिए, बिना ज्यादा दखल दिये, किसी कोने मे पडी रहेगी। साम्राज्यान्तर्गत औपनिवेशिक स्वराज्य—डोमिनियन स्टेटस—से उसका यही मतलब है। यह एक बिलकुल वाहियात बात है जो कभी पार नही पड सकती, क्योंकि अंग्रेजो-द्वारा रक्षित होने की कीमत है हिन्दुस्तान की गुलामी। यदि यह मान भी ले कि एक विशाल देश के आत्म-सम्मान को यह गिराने-वाला न हो तो भी हम दही और मही दोनो एकसाथ नही खा सकते। सर फ्रेडरिक व्हाइट, जिन्हें भारतीय राष्ट्रवाद का पक्षपाती नही कह सकते, अपनी एक नई किताब 'दी फ्युचर ऑफ ईस्ट एण्ड वेस्ट' में लिखते है—"वह (हिन्दुस्तानी) अब भी यह मानता है कि जब कभी सर्वनाश का दिन आयगा तो इग्लैण्ड उसके और तबाही के बीच मे आकर खड़ा हो जायगा, और जबतक वह इस धोखे मे है तबतक वह खुद अपने स्वराज की भी बुनियाद नही डाल सकता।" जाहिर है कि उनकी मन्शा उन लिबरल या दूसरे प्रतिगामी और साम्प्रदायिक ढंग के हिन्दुस्तानियो से है जिनसे उनका साबका हिन्दुस्तान की असेम्बली के अध्यक्ष की हैसियत से पडा होगा। कॉंग्रेस का ऐसा विश्वास नही

है। तब और आगे बढी हुई दूसरी जमातो का तो जरूर ही नही हो सकता। मगर हाँ, वे सर फ्रेडरिक की इस बात से सहमत है कि, जबतक यह भ्रम हिन्दुस्तान में मौजूद है—और अगर उसकी तकदीर मे कोई तबाही लिखी ही हो और वह उसका मुकाबिला करने के लिए अकेला न छोड दिया जाय--तबतक हिन्दुस्तान को आजादी नही मिल सकती। जिस दिन हिन्दुस्तान से ब्रिटिश फौज का दौर-दोरा मुकम्मिल तौर पर हट जायगा उसी दिन हिन्दुस्तान की आजादी का श्रीगणेश होगा।

यह कोई ताज्जुब की बात नही है कि १९ वी सदी के पढे-लिखे हिन्दुस्तानी ब्रिटिश विचार-धारा के प्रभाव मे आ जायँ, लेकिन बडे ताज्जुब की बात तो यह है कि बीसवी सदी के परिवर्तनो और दिल हिलादेनेवाली घटनाओ के होने पर भी कुछ लोग अभीतक उसी भ्रम मे पडे हुए हो। १९वी सदी मे ब्रिटिश शासकवर्ग दुनिया के उन कुलीन वर्गो मे से था, जिनके पास काफी धन-दौलत, हुकूमत और सफलताये थी। इस लम्बी जिन्दगी और तालीम ने उनमें कुछ श्रीमतशाही के सद्गुण भी पैदा किये और कुछ दुर्गण भी। हम हिन्दुस्तानी इस बात मे सुख मान सकते है कि हमने पिछले लगभग पौने दो सौ बरसो मे उन्हे इस उच्च स्थिति पर पहुँचाने और ऐसी तालीम दिलाने की साधन-सामग्री जुटाने में उन्हे काफी मदद की। वे अपनेको—जैसा कि कितनी ही जातियो और राष्ट्रो ने किया है—ईश्वर के लाडले और अपने साम्राज्य को पृथ्वी पर का स्वर्ग समझने लगे। यदि आप उनके इस खास दर्जे और रुतबे को मानते रहे और उनकी उच्चता को चुनौती न दी जाय तो वे बडे मेहरबान रहेगे और आपकी खातिर करेगे, बशर्ते कि उससे उनका कुछ नुकसान न हो। लेकिन उनकी मुखालिफत करना मानो ईश्वरी व्यवस्था का विरोध करना है और इसलिए वह ऐसा पाप है जिसको हर तरह से दबाना ही उचित है।

एम० आद्रे सीगफ्रीद ने ब्रिटिश मनोविज्ञान के इस पहलू पर मजेदार प्रकाश डाला है—

"परम्परा से शक्ति के साथ-साथ धन पर भी अधिकार रखने की जो आदत पडी हुई थी उसने अन्त मे (अग्रेज जाति मे) रहन-सहन का ऐसा ढग पैदा कर दिया जो रईसाना था और जिसपर अपने-आपको दैवी अधिकार-प्राप्त मनुष्य जाति समझने के भावो का एक अजीब-सा रग पड़ा हुआ था। यहाँतक कि ब्रिटिश सत्ता को चुनौती दिये जाने पर भी यह ढग वास्तव मे अधिकाधिक स्पष्ट रूप से प्रकट होने लगा। सदी के अन्त का नवयुवक-समुदाय स्वभाव से ही यह विश्वास करने लगा कि यह सफलता उसका हक है।

"घटनाओ (के रहस्य) को समझने के इस ढग पर जोर देना इसलिए दिल-

चस्पी की बात है कि इन घटनाओ के द्वारा, खासकर इस नाजुक विषय मे, ब्रिटिश मनोवृत्ति की प्रतिक्रियाये स्पष्ट हो जाती है। कोई भी व्यक्ति इस नतीजे पर पहुँचे बिना नही रह सकता कि अग्रेज जाति इन कठिनाइयो का कारण बाहरी घटनाओ मे ही ढँढने का प्रयत्न करती है। उसके मतानुसार शुरुआत सदा किसी दूसरे के कुसूर से होती है और अगर वह (कुसूरवार) व्यक्ति अपना सुधार करने के लिए राजी हो जाय तो इग्लैंड फिर अपने नष्ट वैभव को प्राप्त करले' '' '(अग्रेज जाति की) सदा यह प्रवृत्ति रही है कि खुद तो न बदले, लेकिन दूसरे बदल जायँ।"

सारे जगत् के प्रति अग्रेजो का यदि यह आम रवैया है तो हिन्दुस्तान मे तो यह और भी ज्यादा प्रकट है। अग्रेज लोग हिन्दुस्तान के मसलो को जिस तरह हल करना चाहते है, वह है तो कुछ आकर्षक मगर है भडकानेवाला। शाति के साथ आश्वासन देते हुए उनका यह कहना कि हमने जो कुछ किया है वह सही किया है और हमने अपनी जिम्मेदारी को बहुत योग्यता के साथ निबाहा है, अपनी जाति की भवितव्यता पर और अपने नमूने के साम्राज्यवाद पर श्रद्धा, और यदि कोई उस सच्ची श्रद्धा की बुनियाद पर सवाल उठाये तो ऐसे नास्तिको और पापियो पर क्रोध और घृणा—इन भावो की तह मे एक किस्म का धार्मिक जोश-सा दिखाई देता था। मध्यकालीन रोमन केथोलिक धर्म-विचारको की तरह वे हमारी इच्छा या अनिच्छा की परवा न करते हुए हमारे उद्धार के लिए तुले हुए थे। भलाई के इस व्यापार मे रास्ते चलते उनको भी कुछ लाभ हो गया और इस तरह वे 'ईमानदारी ही सबसे अच्छी व्यवहार-नीति है' इस पुरानी कहावत को चरितार्थ कर दिखाने लगे। हिन्दुस्तान की उन्नति का अर्थ, देश को शाही योजनाओ के अनुकूल बनाना और कुछ चुने हुए हिन्दुस्तानियो को ब्रिटिश साचे मे ढालना हो गया। जितना ही ज्यादा हम ब्रिटिश आदर्शो और ध्येयो को मानते जायँगे उतना ही ज्यादा हम स्वराज या स्वशासन के अधिक योग्य समझ लिये जायँगे। ज्योही हम इस बात की गैरटी दे दे और यह दिखला दें कि हम अग्रेजो की इच्छा के अनुसार ही अपनेको मिली हुई आजादी का उपयोग करेगे, त्योही आजादी हमारे पास आ जायगी।

लेकिन मुझे भय है कि हिन्दुस्तान मे ब्रिटिश शासन के इस कच्चे चिट्ठे पर हिन्दुस्तानी और अग्रेज एकमत न होगे। और, शायद, यह स्वाभाविक भी है। जब बडे-बडे ब्रिटिश अफसर, यहाँतक कि भारत-मत्री भी, हिन्दुस्तान के भूत और वर्तमान का कल्पित चित्र खीचते है और ऐसी बातें कहते है जिनकी वास्तव मे कोई बुनियाद ही नही होती, तो एक बडा धक्का लगता है। यह कितने आश्चर्य की बात है कि कुछ विशेषज्ञों और दूसरे लोगो को छोड़कर अग्रेज लोग हिन्दुस्तान के बारे मे

असाधारण रूप से बेखबर है। जबकि हकीकते ही उनको धोखा दे जाती है तब हिन्दुस्तान की स्पिरिट तो उनकी पहुँच के कितने परे होगी ? उन्होने उसके शरीर को जोर-जबरदस्ती से पकडकर अपने कब्जे मे कर तो लिया है, लेकिन वे न तो उसकी आत्मा को ही समझते है और न समझने की कोशिश ही करते है। उन्होने कभी उसकी आँख मे आँख नही मिलाई। वह मिलाते भी कैसे ? क्योकि उनकी तो आँखें फिरी हुई थी और उसकी शर्म व जिल्लत से झुकी हुई थी। सदियो के इतने सम्पर्क के बाद भी जब वे एक-दूसरे के सामने आते है, तो अब भी अजनबी-से बने हुए है और दोनो के मन मे एक-दूसरे के प्रति अरुचि के भाव भरे हुए है।

अपने इस घोर अध पतन और दरिद्रता के बावजूद, हिन्दुस्तान काफी शरीफ और महान् है। और हालाकि वह पुरानी परपरा और मौजूदा मुसीबतो से काफी दबा हुआ है और उसकी पलके थकान से कुछ भारी मालूम होती है, फिर भी "अन्दर से निखरती हुई सौन्दर्य-कान्ति उसके शरीर पर चमकती है। उसके अणु-परमाणु मे अद्भुत विचारो, स्वच्छद कल्पनाओ और उत्कृष्ट मनोभावो की झलक दिखाई देती है। उसके जीर्ण-शीर्ण शरीर मे अब भी आत्मा की भव्यता झलकती है। अपनी इस लम्बी यात्रा मे वह कई युगो मे से होकर गुजरा है, और रास्ते मे उसने बहुत ज्ञान और अनुभव सचित किया है, दूसरे देश-वासियो से देन-लेन किया है, उन्हे अपने बड़े कुनबे मे शामिल कर लिया है, उत्थान और पतन, समृद्धि और ह्रास के दिन देखे है, बडी-बडी जिल्लते उठाई है, महान् दुख झेले है और कई अद्भुत दृश्य देखे है, लेकिन अपनी इस सारी लबी यात्रा मे उसने अपनी अति प्राचीन सस्कृति को नही छोडा। उससे उसने बल और जीवन-शक्ति प्राप्त की है और दूसरे देश के लोगो को उसका स्वाद भी चखाया है। घडी के लटकन की तरह वह कभी ऊपर गया और कभी नीचे आया है। अपने साहसिक विचारो से स्वर्ग और ईश्वर तक पहुँचने की उसने हिम्मत की है, उसके रहस्य खोलकर प्रकट किये है और उसे नरक-कुण्ड मे गिरने का भी कटु अनुभव हुआ है। दुखदाई वहमो और पतनकारी रस्म-रिवाजो के बावजूद, जोकि उसमे घुस आये है और जिन्होने उसे नीचे गिरा दिया है, उसने उस स्फूर्ति और जीवन को अपने हृदय से कभी नही भुलाया, जो उसकी कुछ अनुभवी सन्तानो ने इतिहास के उस काल मे उसे दी है और जो उपनिषदो मे सचित है। उनकी कुशाग्रबुद्धि सदा खोज मे लीन रहती थी, नवीनता को पाने की कोशिश करती थी और सत्य की शोध मे व्याकुल रहती थी। वह जड सूत्रो को पकडकर नही बैठी रही और न मुर्दा विधि-विधानो, ध्येय-वंचनो और निरर्थक कर्म-काण्डो मे डूबी रही। न तो उन्होने इस लोक मे खुद अपने लिए कष्टो से छुटकारा चाहा, न उस लोक में स्वर्ग

की इच्छा की। बल्कि उन्होंने ज्ञान और प्रकाश माँगा। 'मुझे असत् से सत् की ओर ले जा, मुझे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जा, मुझे मृत्यु से अमरता की ओर ले जा।'[१] अपनी सबसे प्रसिद्ध प्रार्थना—गायत्री-मंत्र—में जिसका लाखों लोग आज भी नित्य जप करते हैं, ज्ञान और प्रकाश के लिए ही प्रार्थना की गई है।

हालांकि राजनैतिक दृष्टि से अक्सर उसके टुकडे-टुकड़े होते रहे हैं, लेकिन उसकी आध्यात्मिकता ने सदा ही उसकी सर्व-सामान्य विरासत की रक्षा की है और उसकी विविधताओ मे हमेशा एक विलक्षण एकता रही है[२]। तमाम पुराने मुल्को की तरह इसमे भी अच्छाई और बुराई का एक अजीब मिश्रण था। मगर अच्छाई तो छिपी हुई थी और उसे खोजना पडता था; लेकिन ह्रास की बदबू जाहिर थी और सूरज की कडी और निठुर धूप ने उसकी उस बुराई को दुनिया के सामने लाकर रख दिया।

इटली और भारतवर्ष में कुछ समता है। दोनो प्राचीन देश है और दोनो की सस्कृति भी पुरानी है, हालाँकि हिन्दुस्तान के मुकाबिले मे इटली जरा नया है और हिन्दुस्तान उससे बहुत विशाल। राजनैतिक दृष्टि से दोनो के टुकडे-टुकडे हो गये है। लेकिन इटैलियनो की यह भावना कि हम 'इटैलियन' है, हिन्दुस्तानियो की तरह कभी नही मिटी और उसकी तमाम विविधता और विरोधो मे एकता ही मुख्य रही। इटली में वह एकता अधिकाश मे रोमन एकता थी, क्योकि उस विशाल नगर का उस देश मे बहुत प्रभुत्व रहा और वह एकता का स्रोत और प्रतीक रहा है। हिन्दुस्तान मे ऐसा कोई एक केन्द्र या प्रधान नगर नही रहा। हालाँकि काशी को पूर्वी देशो की मोक्षपुरी कह सकते है—हिन्दुस्तान के ही लिए नही बल्कि पूर्वी एशिया के लिए भी, लेकिन रोम की तरह काशी ने कभी साम्राज्य या लौकिक सत्ता के फेर मे पड़ने की कोशिश नही की। सारे हिन्दुस्तान मे भारतीय सस्कृति इतनी फैली हुई थी कि किसी भी एक भाग को सस्कृति का केन्द्र नही कह सकते। कन्याकुमारी से लेकर

१ 'असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमय।'
—बृहदारण्यक उपनिषद् १-३-२७।

२. "हिन्दुस्तान में सबसे बड़ी परस्पर-विरोधी बात यह है कि इस विविधता के अन्दर एक भारी एकता समाई हुई है। यों सरसरी तौर पर वह नहीं दिखाई देती, क्योंकि किसी राजनैतिक एकता के द्वारा सारे देश को एक सूत्र में बाँधने के रूप में इतिहास में उसने अपनेको प्रकट नहीं किया, लेकिन वास्तव में यह एक ऐसी असलियत है और इतनी शक्तिशाली है कि हिन्दुस्तान की मुस्लिम दुनिया को भी यह कुबूल करना पड़ता है कि उसके प्रभाव में आने से उसपर भी गहरा असर हुए बिना नहीं रहा है"—'दि फ्यूचर आफ़ ईस्ट एण्ड वेस्ट' में सर फ्रेडरिक व्हाइट।

हिमालय मे अमरनाथ और बदरीनाथ तक और द्वारका से जगन्नाथपुरी तक एक ही विचारो का प्रचार था और यदि किसी एक जगह मे विचारो का विरोध होता तो उसकी आवाज देश के दूर-दूर हिस्सोतक पहुँच जाती थी ।

इटली ने जिस प्रकार पश्चिमी योरप को धर्म और सस्कृति की भेट दी उसी प्रकार हिन्दुस्तान ने पूर्वी एशिया को सस्कृति और धर्म प्रदान किया, हालाकि चीन भी उतना ही पुराना और आदरणीय है जितना कि भारतवर्ष । और तब, जबकि इटली राजनैतिक दृष्टि से निर्वल होकर चित पड गया था, उसकी सस्कृति का योरप मे बोलवाला था ।

मेटरनिक ने कहा था कि इटली तो एक 'भौगोलिक शब्द' है, और कितने ही दूसरे मेटरनिको ने इसी शब्द का व्यवहार हिन्दुस्तान के लिए भी किया है । यह भी एक अजीब-सी बात है कि दोनो देशो की भौगोलिक स्थिति में भी समता है । लेकिन इग्लैण्ड और आस्ट्रिया की तुलना तो इससे भी ज्यादा दिलचस्प है । क्योकि बीसवी सदी के इग्लैण्ड की तुलना उन्नीसवी सदी के मगरूर, हठी और प्रतापी उस आस्ट्रिया के साथ की गई है जो था तो प्रतापी, मगर जिन जड़ो ने उसे ताकत दी थी वे सिकुड रही थी और उस जबर्दस्त वृक्ष मे ह्रास के कीटाणु घुसकर उसे खोखला बना रहे थे ।

यह एक अजीव बात है कि देश को देवी-देवता के रूप मे मानने की प्रवृत्ति को कोई रोक ही नही सकता । हमारी आदत ही ऐसी पड़ गई है और पहले के सस्कार भी ऐसे ही हैं । हिन्दुस्तान 'भारत-माता' हो जाती है—एक सुन्दर स्त्री, बहुत ही वृद्ध होते हुए भी दीखने मे युवती, जिसकी आँखो में दु ख और शून्यता भरी हुई, विदेशी और बाहरी लोगो के द्वारा अपमानित और प्रपीडित और अपने पुत्र-पुत्रियो को अपनी रक्षा के लिए आर्त्तस्वर से पुकारती हुई । इस तरह का कोई चित्र हजारो लोगो की भावनाओ को उभाड देता है और उनको कुछ करने और कुर्बान हो जाने के लिए प्रेरित करता है । लेकिन हिन्दुस्तान तो मुख्यत उन किसानो और मजदूरो का देश है, जिनका चेहरा खूबसूरत नही है, क्योकि गरीबी खूबसूरत नही होती । क्या वह खूबसूरत महिला जिसका हमने काल्पनिक चित्र खडा किया है, नगे बदन और झुकी हुई कमरवाले, खेतो और कारखानो मे काम करनेवाले किसानो और मजदूरो की भावनाओ को प्रकट करती है ? या वह उन थोडे से लोगो के समूह का प्रतिनिधित्व करती है, जिन्होने युगो से जनता को कुचला और चूसा है, उनपर कठोर-से-कठोर रिवाज लाद दिये हैं और उनमे से बहुतो को अछूत तक करार दे दिया है ? हम अपने कल्पना-निर्मित जीवो को खडा करके सत्य को ढकने की कोशिश करते हैं और असलियत से अपनेको बचाकर सपने की दुनिया मे विचरने का प्रयत्न करते हैं ।

मगर इन अलग-अलग जात-पात और उनके आपसी सघर्षों के बावजूद उन सबमे एक ऐसा सूत्र रहता है जो हिन्दुस्तान को एकसाथ बाँधे हुए है, और उसके आग्रह, दृढता और सहिष्णुता को देखकर दातो अगुली दबानी पडती है। इस ताकत का क्या कारण है ? वह केवल निष्क्रिय शक्ति, जडता और परम्परा का प्रभाव ही नही है, हालाकि यो तो इनकी भी महत्ता कुछ कम नही है। वह तो एक सक्रिय और पोषक तत्त्व है, क्योकि उसने जोरदार बाहरी प्रभावो का सफलतापूर्वक प्रतिकार किया है और जो-जो भीतरी ताकते उसके मुकाबिले के लिए उठ खड़ी हुई उन्हे आत्म-सात् कर लिया । और फिर भी, इस सारी ताकत के रहते हुए भी, वह राजनैतिक सत्ता को कायम न रख सका या राजनैतिक एकता को सिद्ध करने की कोशिश न कर सका । ऐसा जान पडता है कि ये दोनो बाते इतनी तरददुद करने लायक नही जान पडी। उनके महत्व की मूर्खतापूर्ण अवहेलना की गई और इससे हमे बडी हानि उठानी पडी है। सारे इतिहास मे भारत के प्राचीन आदर्श मे कही भी राजनैतिक या सैनिक विजय का गुणगान नही किया गया । वह धन-सपत्ति को और धन कमानेवाले वर्गो को हिकारत की दृष्टि से देखता था, सम्मान और धन-सम्पत्ति दोनो एकसाथ नही रहते थे, और सम्मान तो, कम-से-कम सिद्धान्त मे, उसको मिलता था जो जाति की सेवा करता था और वह भी आर्थिक पुरस्कार की आशा न रखते हुए ।

यो तो पुरानी सस्कृति ने बहुतेरे भीषण तूफानो और बवण्डरो का मुकाबिला करके भी अपनेको जीवित रक्खा है, लेकिन यद्यपि उसने अपना बाहरी रूप कायम रख छोडा है फिर भी वह अपना भीतरी असली सत्त्व खो चुकी है। आज वह चुपचाप और जी-जान लगाकर एक नई और सर्वशक्तिमान् प्रतिद्वन्द्विनी-पश्चिम की बनिया सस्कृति से लड रही है। यह नवआगन्तुक वाणिज्य उसपर हावी हो जायगा, क्योकि पश्चिम के पास विज्ञान है और विज्ञान लाखो भूखो को भोजन देता है। मगर पश्चिम इस एक-दूसरे का गला काटनेवाली सभ्यता की बुराइयो का इलाज भी अपने साथ लाया है—साम्यवाद का, सहयोग का, सबके हित के लिए जाति या समाज की सेवा करने का सिद्धान्त । यह भारत के पुराने ब्राह्मणोचित सेवा के आदर्श से बहुत भिन्न नही है, लेकिन इसका अर्थ है तमाम जातियो, वर्गो और समूहो को ब्राह्मण बना देना (अवश्य ही धार्मिक अर्थ में नही) और जाति-भेद को मिटा देना। हो सकता है कि जब भारत इस लिबास को पहनेगा, और वह जरूर पहनेगा, क्योकि पुराना लिबास तो चिथडे-चिथड़े हो गया है, तो उसे उसमे इस तरह काट-छाट करनी पडेगी जिससे वह मौजूदा अवस्थाये और पुराने विचार दोनो का मेल साध सके । जिन विचारो को वह ग्रहण करे वे अवश्य ऐसे हो जाने चाहिए जो उसकी भूमि के समरस हो जावे ।

५४

ब्रिटिश शासन का कच्चा चिट्ठा

हिन्दुस्तान मे ब्रिटिश शासन का इतिहास कैसा रहा है? मुझे यह सम्भव नही मालूम होता कि कोई भी हिन्दुस्तानी या अग्रेज इस लम्बे इतिहास पर निष्पक्ष और निर्लिप्त रूप से विचार कर सकता हो। और यह सम्भव भी हो तो मनोवैज्ञानिक तथा अन्य सूक्ष्म घटनाओ को तौलना और जाचना तो और भी कठिन होगा। हमसे कहा जाता है कि ब्रिटिश शासन ने "भारतवर्ष को वह चीज दी है जो सदियो मे भी उसे हासिल नही हुई—अर्थात् ऐसी सरकार, जिसकी सत्ता इस उप-महाद्वीप के कोने-कोने मे मानी जाती है,"[१] इसने कानून का राज्य और एक न्यायोचित तथा निपुणतापूर्ण शासन-व्यवस्था स्थापित की है, इसने हिन्दुस्तान को पार्लमेण्टरी शासन की कल्पना तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता प्रदान की है, और "ब्रिटिश भारत को एक सगठित एकछत्र राज्य मे परिवर्तित करके भारतवासियो मे परस्पर राजनैतिक एकता की भावना को जन्म दिया है", और इस प्रकार राष्ट्रीयता के अकुर का पोषण किया है।[१] अग्रेजो का यही दावा है और इसमे बहुत-कुछ सचाई भी है, हालांकि न्याययुक्त शासन और व्यक्तिगत स्वातत्र्य बहुत वर्षों से नजर नही आ रहे हैं।

इस युग का भारतीय सिंहावलोकन अन्य कई बातो को महत्त्व देता है और उस आर्थिक तथा आध्यात्मिक क्षति का दिग्दर्शन कराता है जो विदेशी शासन के कारण हमको पहुँची है। दोनो के दृष्टि-कोण मे इतना अन्तर है कि कभी-कभी जिस बात की अग्रेज लोग तारीफ करते है उसी बात की हिन्दुस्तानी लोग निन्दा करते है। जैसा कि डॉक्टर आनन्द कुमारस्वामी ने लिखा है—"भारत मे अग्रेजी राज्य की एक सबसे ज्यादा विलक्षण बात यह रही है कि हिन्दुस्तानियो को पहुँचाई जानेवाली बडी-से-बडी हानि भी बाहर से भलाई ही मालूम होती है।"

सच तो यह है कि पिछले सौ या कुछ ज्यादा बरसो मे हिन्दुस्तान में जो परिवर्तन हुए है वे ससारव्यापी है, और वे पूर्व व पश्चिम के अधिकाश देशो मे समान रूप से हुए है। पश्चिमी योरप मे, और इसके बाद बाकी के देशो में भी, उद्योगवाद के विकास के परिणामस्वरूप सब जगह राष्ट्रीयता और सुदृढ एकछत्र राज्य-सत्ता का

१. ये उद्धरण भारतीय शासन-सुधार सम्बन्धी-ज्वाइन्ट पार्लमेन्टरी कमिटी (१९३४) की रिपोर्ट से लिये गये हैं।

उदय हुआ । अग्रेज लोग इस बात का श्रेय ले सकते है कि उन्होने पहली बार भारतवर्ष का पश्चिम के साथ सम्बन्ध जोडा और उसे पश्चिमी उद्योगवाद तथा विज्ञान का एक हिस्सा प्रदान किया । परन्तु इतना कर चुकने पर वे इस देश के अधिकतर औद्योगिक विकास का गला घोटते रहे, जबतक कि परिस्थिति ने इससे बाज आने के लिए उन्हे मजबूर नही कर दिया । हिन्दुस्तान तो पहले ही दो सस्कृतियो का सम्मिलन-क्षेत्र था, एक तो पश्चिमी एशिया से आई हुई इस्लाम की सस्कृति और दूसरी स्वय उसकी पूर्वी सस्कृति जो सुदूर-पूर्व तक फैल गई थी । और अब सुदूर-पश्चिम से एक तीसरी और अधिक जोरदार लहर आई, और भारतवर्ष भिन्न-भिन्न पुराने तथा नये विचारो का आकर्षण-केन्द्र तथा युद्धक्षेत्र बन गया । इसमें शक नही कि यह तीसरी लहर विजयी हो जाती और हिन्दुस्तान के बहुत-से पुराने सवालो को हल कर देती, लेकिन अग्रेजो ने, जो खुद इस लहर को लाने मे सहायक हुए थे, इसकी प्रगति को रोकने का प्रयत्न किया । उन्होने हमारी औद्योगिक तरक्की को रोक दिया और इस तरह हमारी राजनैतिक उन्नति मे बाधा डाल दी, और जितनी असामयिक माडलिकशाही या या दूसरी पुरानी रूढियाँ उन्हे यहाँ मिली उन सबका उन्होने पोषण किया । उन्होने हमारे परिवर्तन-शील, और कुछ हदतक प्रगति-शील, कानूनो और रिवाजो तक को भी जिस स्थिति मे पाया उसी स्थिति मे जमा दिया और हमारे लिए उनकी जजीरो से छुटकारा पाना मुश्किल कर दिया । हिन्दुस्तान मे मध्यमवर्ग का उदय कोई इन लोगो की सद्भावना या सहायता से नही हुआ । परन्तु रेल और उद्योगवाद के दूसरे उपकरणो का प्रचार करने के बाद वे परिवर्त्तन की गति को बद नही कर सके, वे तो उसे केवल रोकने और धीमी करने मे ही समर्थ हुए और इससे उन्हे स्पष्ट रूप से लाभ हुआ ।

"भारतीय शासन की शाही इमारत इसी पुख्ता नीव पर खड़ी की गई है और बडे भरोसे के साथ यह दावा किया जा सकता है कि १८५८ से, जबकि ईस्टइडिया-कम्पनी के सारे प्रदेश पर सम्राट् की हुकूमत मानी गई, आजतक हिन्दुस्तान की शिक्षा-सबन्धी और माली तरक्की उससे कही ज्यादा हुई है जितनी अपने लम्बे और उतार-चढाव के इतिहास के किसी भी काल मे हासिल करना उसके लिए सम्भव था ।"[१] लेकिन यह बात ऐसी नही मालूम होती जैसी कि बताई गई है और यह बार-बार कहा गया है कि अग्रेजी राज्य का उदय होने से साक्षरता मे तो दरअसल कमी आ गई है, लेकिन यह कथन बिलकुल सच भी हो तो उसका मतलब है आधुनिक औद्योगिक युग की प्राचीन युगो से तुलना करना । विज्ञान और उद्योगवाद के कारण दुनिया के करीब-

१. ज्वाइन्ट पार्लमेन्टरी कमिटी १९३४ की रिपोर्ट ।

करीब सभी देशो मे, पिछली सदी मे, बडी भारी तालीमी और माली तरक्की हुई है, और ऐसे किसी भी देश के बारे मे यह यकीनन कहा जा सकता है कि इस तरह की उन्नति "उससे कही ज्यादा हुई है जितनी अपने लम्बे और उतार-चढाव के इतिहास के किसी भी काल मे हासिल करना उसके लिए सम्भव था।", हालाकि शायद उस देश का इतिहास भारत के इतिहास के मुकाबिले मे पुराना न हो। अगर हम यह कहे कि इस तरह की औद्योगिक उन्नति हमको इस औद्योगिक युग मे ब्रिटिश शासन के न होने पर भी हासिल हो सकती थी, तो क्या यह फजूल का ही झगडा या जिद है? और सचमुच मे अगर हम बहुत-से दूसरे देशो की हालत से अपनी हालत का मुकाबिला करे तो क्या हम यह कहने का साहस न करे कि इस प्रकार की उन्नति और भी ज्यादा होती? क्योकि हमे अग्रेजो के उस प्रयत्न से भी तो भिडना पडा है जो उन्होने इस उन्नति का गला घोटने के लिए किया। रेल, तार, टेलीफोन, बेतार के तार आदि अग्रेजी राज्य की अच्छाई और भलाई की कसौटी नही माने जा सकते। ये वाञ्छनीय और आवश्यक थे, और चूँकि अग्रेज लोग सयोगवश इनको सबसे पहले लेकर आये, इसलिए हमे उनका शुक्रगुजार होना चाहिए। लेकिन उद्योगवाद के ये चोबदार भी हमारे पास खास तौर पर ब्रिटिश राज्य को मजबूत करने के लिए लाये गये। ये तो नसे और नाडिया थी जिनमे होकर राष्ट्र के खून को गर्दिश करनी चाहिए थी, जिससे व्यापार की तरक्की होती, पैदावार एक जगह से दूसरी जगह पहुँचाई जाती, और करोडो मनुष्यो को नई जिन्दगी और धन हासिल होता। यह सही है कि आखिरकार इस तरह का कोई-न-कोई नतीजा निकलता ही, लेकिन इन्हे जमाने और काम मे लाने का मकसद ही दूसरा था—साम्राज्य के पजे को मजबूत करना और अग्रेजी माल को बाजार मे खपाना—जिसके पूरा करने मे ये लोग कामयाब भी हो गये। मै औद्योगीकरण और माल को दिसावर भेजने के नये-से-नये तरीको के बिलकुल पक्ष मे हूँ, लेकिन कभी-कभी, हिन्दुस्तान के मैदान मे सफर करते हुए, मुझे यह जीवनदायी रेल भी लोहे के बन्धनो के समान मालूम पडी है, जो भारतवर्ष को जकडे हुए और बन्दी बनाये हुए है।

हिन्दुस्तान मे अग्रेजो ने अपने शासन का आधार जिस कल्पना पर रक्खा है, वह वैसी ही है जैसी कि एक पुलिस-राज्य की होती है। शासन का काम तो सिर्फ सरकार की रक्षा करना था और बाकी सब काम दूसरो पर थे। उसके सार्वजनिक राजस्व का सम्बन्ध फौजी खर्च, पुलिस, शासन-व्यवस्था और कर्जे के ब्याज से था। नागरिको की आर्थिक जरूरतो पर कोई ध्यान नही दिया जाता था और वे ब्रिटिश हितो पर कुर्बान कर दी जाती थी। जनता की सास्कृतिक और दूसरी आवश्य-

कता, कुछ थोडी-सी को छोडकर, बिलकुल बालाये ताक रखदी जाती थी। सार्वजनिक राजस्व की परिवर्त्तनशील धारणाये, जिनके फलस्वरूप अन्य देशो मे नि शुल्क और देशव्यापी शिक्षा, जनता के स्वास्थ्य की उन्नति, निर्धन और बुद्धिहीन व्यक्तियो का पालन, श्रमजीवियो का बीमारी, बुढापे तथा बेकारी के लिए बीमा, वगैरा जारी हुए, लगभग सरकार की कल्पना से बाहर की बाते थी। वह इन खर्चीले कामो मे नही पड सकती थी, क्योकि उसकी कर-प्रणाली अत्यन्त प्रगतिविरोधी थी, जिसके द्वारा कम आमदनीवालो से ज्यादा आमदनीवालो की बनिस्बत ज्यादा वसूल किया जाता था, और रक्षा और शासन के कामो पर उसका इतना अधिक खर्च था कि यह करीब करीब सारी आमदनी को चट कर जाता था।

अग्रेजी शासन की सबसे मुख्य बात यह थी कि सिर्फ ऐसी ही बातो पर ध्यान दिया जाय जिनसे कि मुल्क पर उनका राजनैतिक और आर्थिक कब्जा मजबूत हो। बाकी सब बाते गौण थी। अगर उन्होने एक शक्तिशाली केन्द्रीय शासन-व्यवस्था और एक होशियार पुलिस-फोर्स की रचना कर डाली तो इस सफलता के लिए वे श्रेय ले सकते है, लेकिन भारतवासी इसके लिए अपने-आपको भाग्यशाली शायद ही कह सके। एकता चीज अच्छी है, लेकिन पराधीनता की एकता कोई गर्व करने की वस्तु नही है। एक स्वेच्छाचारी शासन का बल ही जनता के ऊपर एक बडा भारी बोझ बन सकता है, और पुलिस की शक्ति, अनेक दिशाओ मे निस्सन्देह उपयोगी होते हुए भी, जिन लोगो की वह रक्षक मानी जाती है उन्हीके खिलाफ खडी की जा सकती है, और बहुत बार की भी गई है। बर्ट्रेन्ड रसल ने आधुनिक सभ्यता की तुलना ग्रीस की प्राचीन सभ्यता से करते हुए हाल ही मे लिखा है—"हमारी सभ्यता के मुकाबिले मे ग्रीस की सभ्यता की खाली यही विचारणीय श्रेष्ठता थी कि उसकी पुलिस अयोग्य थी, जिसके कारण ज्यादातर भले आदमी अपने-आपको उसके चगुल से बचा सकते थे।"

भारत मे अग्रेजो के आधिपत्य से हमे अमन-चैन मिला है। हिन्दुस्तान को मुगल-साम्राज्य के पतन के पीछे होनेवाली तकलीफो और कम्बख्तियो के बाद अमन-चैन की जरूरत भी थी इसमे शक नही। अमन-चैन एक बडी कीमती चीज है जो किसीभी तरह की तरक्की के लिए जरूरी है, और जब वह हमको मिली तो हमने उसका स्वागत किया। लेकिन उसकी कीमत की भी एक हद होनी चाहिए। अगर वह किसी भी कीमत पर खरीदी जायगी तो उससे हमे जो शान्ति मिलेगी वह स्मशान-शान्ति होगी। और उसके जरिये हमे जो हिफाजत मिलेगी वह होगी पिंजरे या जेलखाने की-सी हिफाजत। या वह अमन ऐसे लोगो की बेकस मायूसी हो सकता है, जो अपनी बहबूदी करने के काबिल

न रहे हो। विदेशी विजेता की जबरन कायम की हुई शान्ति मे वे विश्रामप्रद और शान्तिदायक गुण मुश्किल से पाये जाते हैं जो सच्ची शान्ति मे होते हैं। युद्ध बडी भयकर चीज है और इससे बचना चाहिए, लेकिन मनोवैज्ञानिक विलियम जेम्स के कथनानुसार यह निस्सन्देह कुछ गुणो को प्रोत्साहन देता है, जैसे एकनिष्ठा, मिलकर रहने की शक्ति, दृढता, वीरता, आत्मविश्वास, शिक्षा, मौलिकता, मितव्ययिता, शारीरिक स्वस्थता और पौरुष। इसी कारण जेम्स ने युद्ध का एक ऐसा नैतिक रूप तलाश करने की कोशिश की जो युद्ध की भयकरता के बिना ही किसी जाति मे ऊपर के इन गुणो को उत्तेजन दे। अगर उन्हे असहयोग और सविनय-भग का ज्ञान होता तो शायद उनको मनोवाञ्छित वस्तु, अर्थात् युद्ध का नैतिक और शान्तिमय सादृश्य मिल गया होता।

इतिहास की 'अगर-मगर' और सम्भावनाओ पर विचार करना फजूल है। मेरा विश्वास है कि हिन्दुस्तान का विज्ञानशील और उद्योगवान योरप के सम्पर्क मे आना अच्छा ही हुआ। विज्ञान पश्चिम की एक बडी भारी देन है और हिन्दुस्तान मे इसकी कमी थी, इसके बिना उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी भी थी। लेकिन जिस तरह हमारा उससे सम्बन्ध स्थापित हुआ वह दुर्भाग्यपूर्ण था। मगर फिर भी, शायद सिर्फ जोर-जोर की लगातार टक्करे ही हमे गहरी नीद से जगा सकती। इस दृष्टि से प्रोटेस्टेन्ट, व्यक्तिवादी, ऐंग्लो-सेक्सन अग्रेज लोग इस काम के लिए उपयुक्त थे, क्योकि अन्य पश्चिमी जातियो की बनिस्बत उनमे और हमारे मे बहुत ज्यादा फर्क था और वे हमे अधिक जोर की ठोकर लगा सकते थे।

उन्होने हमे राजनैतिक एकता दी, जो एक वाञ्छनीय वस्तु थी, पर हमारे अन्दर यह एकता होती या न होती तो भी भारतीय राष्ट्रीयता तो बढती ही और इस प्रकार की एकता का तकाजा भी करती। आजकल अरब बहुत-सी मुख्तलिफ रियासतो मे बटा हुआ है, जो स्वतन्त्र, परतन्त्र, रक्षित इत्यादि है। लेकिन उन सबमे एक अरबी राष्ट्रीयता की भावना दौड रही है। इसमे कोई शक नही कि अगर पश्चिमी साम्राज्यवादी शक्तियाँ उसके मार्ग मे बाधक न हो तो अरबी राष्ट्रीयता बहुत हद तक इस एकता को प्राप्त कर ले। लेकिन जैसा कि हिन्दुस्तान मे किया जा रहा है, इन शक्तियो का इरादा यही रहता है कि झगडालू प्रवृत्तियो को प्रोत्साहन दिया जाय और अल्प-मत की समस्याये पैदा कर दी जायँ जिससे राष्ट्रीयता का जोश ठडा पड जाय और कुछ अश तक रुक जाय, तथा साम्राज्यवादी शक्ति को बने रहने और निष्पक्ष पच होने का दावा करने का बहाना मिल जाय।

हिन्दुस्तान की राजनैतिक एकता गौण रूप से साम्राज्य की बढोतरी के घुणाक्षर-

न्याय से प्राप्त हुई है। बाद मे जब यह एकता राष्ट्रीयता के साथ मिल गई और विदेशी राज्य को चुनौती देने लगी तो हमारे सामने फूट डालने और फिरकेवदी के जान-बूझकर वढाये जाने के दृश्य आने लगे और ये दोनो वाते हमारी भावी उन्नति के मार्ग मे बडे जबरदस्त रोड़े है।

अग्रेजो को यहाँ आये हुए कितना लम्बा अर्सा हो गया और उन्हे शक्तिशाली हुए भी पौने दो सौ वर्ष हो गये! स्वेच्छाचारी शासको की भाति वे मनचाही करने मे स्वतन्त्र थे, और हिन्दुस्तान को अपनी मर्जी के मुताबिक ढालने का उनके पास काफ़ी सुन्दर मौका था। इन वर्षो मे ससार बिलकुल ही बदल गया है—इग्लैण्ड,योरप, अमेरिका, जापान आदि सब बदल गये है। अठारहवी सदी के अटलाण्टिक महासागर के किनारे पर स्थित छोटे-मोटे अमेरिकन उपनिवेश आज मिलकर सबसे धनवान, सबसे शक्तिशाली और कला-विज्ञान मे सबसे अधिक उन्नत राष्ट्र बन गये है, जापान मे थोडे से ही समय मे आश्चर्यजनक परिवर्तन हो गया है, रूस का विशाल प्रदेश, जहाँ अभी कल तक ही जार के शासन का फौलादी पजा सब प्रकार की उन्नतियो का गला दबा रहा था, आज नवजीवन से परिप्लावित हो रहा है और हमारे सामने एक नई दुनिया खडी कर रहा है। हिन्दुस्तान मे भी बड़े भारी परिवर्तन हुए है और यह देश उससे बहुत भिन्न है जो अठारहवी शताब्दी मे था—रेले, नहरे, कारखाने, स्कूल और कॉलेज, वडे-वड़े सरकारी दफ्तर, आदि बन गये है।

और फिर, बावजूद इन परिवर्त्तनो के, आज हिन्दुस्तान की क्या हालत है? वह एक गुलाम देश है, जिसकी महान् शक्ति पिंजडे मे बन्द करदी गई है जो खुलकर सास लेने की भी हिम्मत नही कर सकता, जो दूर देश मे रहनेवाले विदेशियो द्वारा शासित है, जिसके निवासी नितान्त निर्धन, थोड़ी उम्र मे मरनेवाले और रोगो तथा महामारियो से अपने-आपको बचाने मे असमर्थ है, जहाँ अशिक्षा चारो ओर फैली हुई है, जहाँके बहुत-से बडे-बडे प्रदेश हर तरह की सफाई या चिकित्सा के साधनो से रहित है और जहाँ मध्यमवर्ग और जनता दोनो मे बडे भारी पैमाने पर बेकारी है। हमसे कहा जाता है कि स्वाधीनता, जनसत्तावाद, समाजवाद, वर्गवाद, आदि अव्यावहारिक आदर्शवादियो, सिद्धान्तवादियो और धोखेबाजो की पुकार है; असली कसौटी तो सारी जनता की भलाई को समझना चाहिए। यह वास्तव में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कसौटी है, लेकिन इस कसौटी पर भी आज हिन्दुस्तान बहुत ही हलका उतरता है। हम अन्य देशो मे होनेवाली बेकारी कम करने तथा कष्टो को दूर करने की बडी-बड़ी योजनाओ की बाते पढते हैं, लेकिन हमारे यहाँ के करोड़ो बेकारो और चारो ओर फैले हुए स्थायी घोर कष्टो को कौन पूछता है? हम दूसरे देशो की गृह-योजनाओ के विषय

मे भी सुनते है, हमारे यहाँ के करोडो मनुष्यों के, जो कच्ची झोपड़ियो मे रहते है या जिनके पास रहने तक को जगह नही, मकान कहाँ है ? क्या हमे दूसरे देशो की हालत से ईर्ष्या न होगी जहाँ शिक्षा, सफाई, चिकित्सा-प्रबन्ध, सास्कृतिक सुविधायें, और पैदावार बड़ी शीघ्रता से तरक्की कर रही है, जबकि हम लोग जहाँ थे वही खड़े हुए है या बडी दिक्कत के साथ जूँ की तरह रेग रहे है ? रूस ने बारह साल के थोडे-से समय मे ही आश्चर्यजनक प्रयत्नो से अपने विशाल देश की अशिक्षा का करीब-करीब अन्त कर दिया है, और शिक्षा की ऐसी सुन्दर और नई-से-नई प्रणाली का विकास किया है जो जनता के जीवन से सम्पर्क रखती है। पिछडे हुए टर्की नें अतातुर्क मुस्तफा कमाल के नेतृत्व में देश-व्यापी शिक्षा-प्रसार के मार्ग मे बहुत लम्बा कदम बढाया है। फासिस्ट इटली ने अपने जीवन के आरम्भ मे ही जोरो से अशिक्षा पर आक्रमण किया। शिक्षा-सचिव जेन्टाइल ने आवाज उठाई कि "निरक्षरता पर सामने से हमला होना चाहिए। यह प्लेग का फोड़ा, जो हमारे राजनैतिक शरीर को सडा रहा है, गरम लोहे से दाग दिया जाना चाहिए।" घर मे बैठकर बाते करने मे ये शब्द भले ही कठोर और भद्दे मालूम हो, लेकिन इनके द्वारा इस विचार की तह मे रहने-वाली दृढता और शक्ति प्रकट होती है। हम लोग अधिक विनम्र है और बहुत चिकने-चुपडे वाक्यो का प्रयोग करते है। हम लोग खूब फूँक-फूँककर कदम रखते है और अपनी तमाम शक्तियो को कमीशनो और कमिटियो मे बरबाद कर देते है।

हिन्दुस्तानियो पर यह दोषारोप किया जाता है कि वे बाते तो बहुत ज्यादा करते है पर काम जरा भी नही। यह आरोप ठीक भी है। लेकिन क्या हम अग्रेजो की ऐसी कमिटियो और कमीशनो की अथक क्षमता पर आश्चर्य प्रकट न करे जिनमे से हरेक, बडे परिश्रम के बाद, एक विद्वत्तापूर्ण रिपोर्ट—"एक महान् सरकारी खरीता"—तैयार करता है, जो बाकायदा तारीफ किये जाने के बाद दाखिल-दफ्तर कर दी जाती है। और इस तरह से हमको आगे बढने का, तरक्की का, भास तो होता है लेकिन हम रहते वही-के-वही है। मान भी रह जाता है और हमारे स्थापित स्वार्थ भी अछूते और सुरक्षित बने रहते है। दूसरे देश यह सोचते है कि किस तरह आगे बढे, हम रुकावटो, अटकावो और सरक्षणो का विचार करते है कि कही जरूरत से ज्यादा तेज न चलने लगे।

"शाही शान-शौकत रिआया की ग़रीबी का नाप बन गई"—मुगल साम्राज्य के बारे मे यह बात हमको (ज्वाइन्ट पार्लमेण्टरी कमिटी १९३४ के द्वारा) बतलाई जाती है। यह बात ठीक है, लेकिन क्या हम उसी नाप को आज काम मे नही ला सकते ? आज यह वाइसराय की शान-शौकत और तडक-भडकवाली नई दिल्ली और

प्रान्तीय गवर्नर और उनकी नुमायशी टीम-टाम आखिर क्या है ? और इन सबके पीछे है हैरत में डालनेवाली हद दरजे की गरीबी। यह भिन्नता दिल को चोट पहुँचाती है और यह कल्पना करना कठिन है कि कोमल हृदय के लोग इसको किस तरह बरदाश्त कर सकते हैं। तमाम शाही वैभववाली इस ऊँची दूकान के पीछे आज हिन्दुस्तान का एक बड़ा दैन्यपूर्ण और शोकमय चित्र है। जोड़-तोड़ मिलाकर और दिखावटी बातों से शाही शान-शौकत बढ़ादी गई है, लेकिन इसके पीछे निम्न मध्यमवर्ग के कम्बख्त लोग है, जो ज़माने की हालतो से पिसते ही चले जा रहे है। इनके पीछे श्रमजीवी लोग है, जो पीस डालनेवाली गरीबी में कम्बख्ती की जिन्दगी बसर कर रहे है और इनके बाद किसान लोग है जो हिन्दुस्तान का वह नमूना है जिनकी किस्मत मे "अनन्त अधकार मे रहना" ही लिखा है।

"आह ! कितनी सदियों के भार से दबा हुआ वह झुका खड़ा है—
झुका हुआ है अपने फावड़े के सहारे पर, और देख रहा है जमीन की ओर,
उसके चेहरे पर शून्यता का यह आलेखन तो देखो,
और उसकी जर्जरित पीठ पर यह दुनिया भर का बोझ है।
× × × ×
युगों की पीड़ाये झाक रही है इस भयावने हड्डियो के पिंजड़े मे से।
वह झुका है या यह महाकाल की दु:खान्त पीडा है,
जगत की निर्मातृ शक्तियो के आगे मानवता रो रही है—
अपना दु:ख सुना रही है इन हड्डियो के झरोखो से वह मानवता—
ठगी हुई, लुटी हुई और अधिकार पद से उतारी हुई,
उसका यह विरोध-रोदन भविष्यवाणी भी तो है।"[1]

१. ये उद्धरण अमेरिका के कवि ई० मारखम की "The man with the Hoe" नामक कविता से लिये गये हैं। मूल अंग्रेज़ी कविता इस प्रकार है:—

"Bowed by weight of centuries he leans
Upon his hoe and gazes on the ground,
The emptiness of ages on his face,
And on his back the burden of the world
× × × ×
"Through this dread shape the suffering ages look
Time's tragedy is in that aching stoop,
Through this dread shape humanity betrayed,
Plundered, profaned and disinherited,
Cries protest to the powers that made the world,
A protest that is also prophecy"

हिन्दुस्तान की सारी तकलीफो का दोष अग्रेजो के सिर मढना ठीक नही होगा। इसकी जिम्मेदारी तो हमको अपने ही कधो पर लेनी पडेगी और उससे हम बच भी नही सकते, अपनी कमजोरी के अनिवार्य परिणामो के लिए दूसरो को दोष देना अच्छा नही मालूम होता। एक हाकिमाना शासन-प्रणाली, खासकर एक विदेशी शासन-प्रणाली, जरूर गुलाम मनोवृत्ति को प्रोत्साहन देगी और रिआया के दृष्टिकोण और दृष्टि-क्षेत्र को सीमित रखने का प्रयत्न करेगी। उसे तो नवयुवको की सबसे सुन्दर प्रवृत्तियो—उद्योग, जोखिम उठाने की भावना, मौलिकता, बल-वीर्य—को पीस डालना और जी चुराना, लकीर के फकीर बने रहना और अफसरो की कदमबोसी और चापलूसी करने की इच्छा आदि को प्रोत्साहन देना ही अभीष्ट है। इस प्रकार की प्रणाली से सच्ची सेवा-वृत्ति, सार्वजनिक सेवा या आदर्श की लगन, उत्पन्न नही होती, यह तो ऐसे लोगो को छाँट लेती है जिनमे सेवा के भाव बहुत कम हो और जिनका एकमात्र उद्देश्य मौज से जिन्दगी बसर करना हो। हम देखते है कि हिन्दुस्तान मे अग्रेज लोग कैसे व्यक्तियो को अपनी ओर आकर्षित करते है। इनमे से कुछ तो कुशाग्रबुद्धि और अच्छा काम करने लायक होते है। ये लोग दूसरी जगह मौका न मिलने के कारण सरकारी या नीम-सरकारी नौकरियो मे पड़कर धीरे-धीरे नरम हो जाते है और उस बडी मशीन के पुर्जे मात्र बन जाते है, उनके दिमाग काम के सुस्त ढर्रे मे कैद हो जाते है। वे नौकरशाही के गुण—"क्लर्की करने का खूब अच्छा ज्ञान और दफ्तर चलाने का कौशल"—प्राप्त कर लेते है। सार्वजनिक सेवा मे ज्यादा-से-ज्यादा उनकी मौखिक भक्ति होती है। उबलता हुआ जोश वहाँ न तो होता है और न हो सकता है। विदेशी सरकार के राज्य मे यह सम्भव ही नही है।

लेकिन इनके अलावा, छोटे-मोटे अफसरो मे भी अधिकतर किसी तारीफ के काबिल नही होते। क्योकि उन्होने तो सिर्फ अपने बडे अफसरो की कदमबोसी करना और अपने मातहतो को डाटना ही सीखा है। इसमे उनका कुसूर नही है। यह शिक्षा तो उन्हे शासन-प्रणाली से मिलती है। अगर चापलूसी और रिश्तेदारो के साथ रिआयत फूलती-फलती है, जैसा कि अक्सर होता है, तो इसमे ताज्जुब ही क्या है? नौकरी मे उनका कोई आदर्श नही रहता, उनके पीछे तो बेकारी और उसके परिणामस्वरूप भूखो मरने के डर का भूत लगा रहता है, और उनकी खास नीयत यह रहती है कि अपनी नौकरी से चिपके रहे और अपने रिश्तेदारो और दोस्तो के लिए और दूसरी नौकरियाँ प्राप्त करे। जहाँ भेदिया, और सबसे ज्यादा घृणित जीव मुखबिर, हमेशा पीछे-पीछे लगे फिरते रहते है, वहाँ लोगो मे अधिक वाञ्छनीय गुणो की वृद्धि होना कठिन है।

हाल की घटनाओ ने तो भावुक और सार्वजनिक सेवा के भावोवाले व्यक्तियो के लिए सरकारी नौकरी मे घुसना और भी मुश्किल कर दिया है। सरकार तो उनको चाहती नही और वे उससे उस समय तक घनिष्ठ सम्बन्ध रखना नही चाहते जबतक कि वे आर्थिक परिस्थिति से मजबूर न हो जायँ।

लेकिन, जैसा कि सारी दुनिया जानती है, साम्राज्य का भार गोरो पर है, कालो पर नही। साम्राज्य की परम्परा जारी रखने के लिए तरह-तरह की शाही नौकरियाँ और उनके विशेष अधिकारो को सुरक्षित रखने के लिए सरक्षणो की हमारे यहाँ भरमार है, और कहा जाता है कि ये सब है हिन्दुस्तान के ही हित के लिए। यह ताज्जुब की बात है कि हिन्दुस्तान का हित किस तरह से इन ऊँची नौकरियो के स्पष्ट हितो और उन्नति के साथ बँधा हुआ है। हमसे कहा जाता है कि अगर भारतीय सिविल सर्विस का कोई अधिकार या कोई ऊँचा ओहदा छीन लिया गया तो उसका नतीजा बदइन्तजामी और रिश्वतखोरी आदि होगा। अगर भारतीय मेडिकल सर्विस की रिजर्व की हुई नौकरियाँ कम करदी गई तो यह बात "हिन्दुस्तान की तन्दुरुस्ती के लिए खतरनाक" हो जाती है। और हाँ, अगर फौजो में अग्रेजो की सख्या को हाथ लगाया गया तो दुनियाभर के भयकर खतरे हमारे सामने आ जाते है।

मेरा खयाल है कि इस बात मे कुछ सचाई है कि अगर ऊँचे अफसर यकायक चले गये और अपने महकमो को मातहतो के भरोसे छोड गये तो इन्तजाम मे कमी जरूर आयगी। लेकिन यह तो इसलिए होगा कि सारी प्रणाली ही इस तरह की बनाई गई है, और मातहत लोग किसी हालत मे भी कोई बहुत लायक नही है, न उनके कन्धो पर कभी जिम्मेदारी का बोझ डाला गया है। मुझे विश्वास होता है कि हिन्दुस्तान मे अच्छी सामग्री बहुतायत से पडी हुई है और वह थोडे ही समय मे मिल भी सकती है, बशर्ते कि ठीक-ठीक उपाय काम मे लाये जायँ। लेकिन इसका अर्थ है हमारे शासन और समाज-सम्बन्धी दृष्टिकोण मे आमूल परिवर्तन, जिसका अर्थ है एक नई राज्य-व्यवस्था।

अभी तो हमसे यही कहा जाता है कि शासन-विधान मे चाहे जो परिवर्तन हमारे सामने आवे, हमारी देखरेख करनेवाला और हमे आश्रय देनेवाला बड़ी-बडी नौकरियो का मजबूत ढाचा ज्यो-का-त्यो बना रहेगा। सरकारी मन्दिर के गूढतम रहस्यो को जानने और दूसरो को उनका अधिकारी बनानेवाले ये पण्डे लोग उसकी रक्षा करेगे और अनधिकारी लोगो को उस पवित्र प्रागण मे न घुसने देगे। क्रम-क्रम से जैसे-जैसे हम अपनेको उसके योग्य बनाते जायँगे, वैसे-वैसे वे एक के बाद दूसरे परदे को हमारे सामने से उठाते जायँगे, और इस तरह अन्त मे किसी सुदूर भविष्य

मे अन्तर्कपाट खुलेगे और हमारी आश्चर्यभरी तथा श्रद्धायुक्त आँखो के सामने वह पवित्रतम देवमूर्ति खड़ी दिखाई देगी ।

इन शाही नौकरियो मे सबसे ऊँचा स्थान भारतीय सिविल सर्विस का है और हिन्दुस्तान की सरकार के ठीक-ठीक चलते रहने की शाबाशी या लानत ज्यादातर इसीको मिलनी चाहिए । हमको अक्सर इस सर्विस के अनेक गुण बतलाये जाते है । साम्राज्य की योजना मे इसका महत्त्व एक सिद्धान्त-सा बन गया है। हिन्दुस्तान मे इसकी सर्वमान्य अधिकारपूर्ण स्थिति और उससे उत्पन्न स्वेच्छाचारिता और पर्य्याप्त परिमाण मे मिलनेवाली तारीफ और वाहवाही, यह सब किसी भी व्यक्ति या समुदाय के दिमाग को स्थिर रखने के लिए बहुत अच्छी चीजे नही हो सकती । इस सर्विस के लिए प्रशसा के भाव रखते हुए भी मुझे सकोच के साथ स्वीकार करना पडता है कि व्यक्तिगत और सामूहिक दोनो ही तरह यह पुरानी लेकिन कुछ-कुछ नवीन बीमारी—उन्माद—की विलक्षण रूप से शिकार हो सकती है ।

इण्डियन सिविल सर्विस की अच्छाइयो से इन्कार करना फजूल है, क्योकि हमे इनको भूलने ही नही दिया जाता । लेकिन इस सर्विस के बारे मे इतनी निरर्थक बाते कही गई और कही जाती है कि मुझे कभी-कभी लगता है कि उसकी थोड़ी-सी कलई खोल देना भी हितकर होगा । अमेरिकन अर्थशास्त्री वेबलेन ने विशेष अधिकार-प्राप्त वर्गो को 'सुरक्षित वर्ग' कहा है । मेरे खयाल से, इण्डियन सिविल सर्विस और दूसरी शाही नौकरियो को भी 'सुरक्षित नौकरियां' कहना उतना ही युक्ति-युक्त होगा । यह एक बडी महँगी ऐयाशी है ।

मेजर डी० ग्रैहम पोल ने, जो पहले ब्रिटिश पार्लमेण्ट के लेबर मेम्बर रह चुके है और हिन्दुस्तान के मामलो मे बहुत दिलचस्पी लेते है, कुछ दिन हुए, 'माडर्न रिव्यू' मे एक लेख लिखा था, जिसमे उन्होने बताया था कि "अभीतक इस बात पर किसीने आपत्ति नही की कि इण्डियन सिविल सर्विस एक बहुत योग्य और होशियार कारगर चीज है ।" चूँकि इस प्रकार की बाते इग्लैण्ड मे अक्सर कही जाती है और उन-पर विश्वास किया जाता है, इसलिए इसकी परीक्षा करना लाभकर होगा । ऐसे पक्के और निश्चयात्मक बयान देना, जो सहज ही मे काटे जा सके, हमेशा खतरनाक होता है और मेजर ग्रैहम पोल की यह कल्पना बिलकुल गलत है कि इस बात पर कभी किसी-ने ऐतराज नही किया । इसको तो बारबार चुनौती दी गई है और ठीक नही माना गया है, और काफी अर्सा हुआ जब श्री गोपालकृष्ण गोखले तक ने इण्डियन सिविल सर्विस के बारे में बहुत-सी कडुवी बाते कही थी । औसत दर्जे का हिन्दुस्तानी—वह कांग्रेसमैन हो या न हो—मेजर ग्रैहम पोल से इस विषय पर निश्चय ही कदापि सहमत नहीं हो

सकता। फिर भी यह सम्भव है कि दोनो कुछ अंश तक ठीक हो और भिन्न-भिन्न गुणों को मद्देनज़र रखकर सोचते हो। आखिर योग्यता और होशियारी का पैमाना क्या है? अगर यह योग्यता और होशियारी हिन्दुस्तान में ब्रिटिश राज्य को मजबूत बनाये रखने और देश को चूसने में उसे सहायता देने की दृष्टि से नापी जाय, तो इण्डियन सिविल सर्विस ज़रूर बहुत अच्छा काम करने का दावा कर सकती है। लेकिन अगर भारतीय जनता की भलाई की कसौटी पर रखकर देखा जाय, तो कहना होगा कि ये लोग बुरी तरह से नाकामयाब हुए हैं, और इनकी नाकामयाबी तब और भी ज्यादा ज़ाहिर हो जाती है जबकि हम उस बड़े भारी अन्तर को देखते हैं जो आमदनी और रहन-सहन के ढग के लिहाज़ से इनको उस जनता से अलग कर देता है जिसकी सेवा करना इनका फर्ज़ है और दरअसल जिसके पास से इनकी इतनी लम्बी-चौड़ी तनख्वाह आदि निकलती है।

यह बिलकुल ठीक है कि आम तौर पर इस सर्विस ने अपना एक खास स्टैण्डर्ड बना लिया है, हालाँकि वह स्टैण्डर्ड लाजमी तौर पर बहुत नीचे दर्जे का रहा है। कभी-कभी इसमें से असाधारण व्यक्ति भी निकले है। ऐसी किसी सर्विस से ज्यादा उम्मीद भी नही की जा सकती। इसके अन्दर लाज़िमी तौर पर अन्दर से अपनी अच्छाइयो और बुराइयो को लिये हुए इंग्लैंड के पब्लिक स्कूलो की भावना भरी हुई थी (हालाँकि इडियन सिविल सर्विस के बहुत-से अफसर इन पब्लिक स्कूलो मे पढे हुए नही है)। हालाँकि यह एक अच्छा स्टैण्डर्ड बनाये रही, फिर भी इसने अपनी लीक छोडना कभी पसन्द नही किया, और व्यक्तिगत रूप से इसके मेम्बरों के खास गुण रोज़मर्रा के नीरस काम-काजो मे, और कुछ इस डर में कि कही दूसरो से भिन्न न नजर आने लगें, विलीन हो गये। इसमे बहुत-से उत्साही लोग भी थे, और बहुत-से ऐसे भी थे जिनमें सेवा के भाव थे, लेकिन वह सेवा सबसे पहले साम्राज्य की थी और हिन्दुस्तान तो गिरते-पड़ते कही दूसरे नम्बर मे आता था। जिस तरह की तालीम उन्हे मिली थी और जैसी उनकी परिस्थिति थी उसके अनुसार तो वे सिर्फ ऐसा ही कर सकते थे। चूँकि उनकी तादाद कम थी और वे एक विदेशी और अक्सर बे-मेल वातावरण से घिरे रहते थे, इसलिए वे अपने ही मे रमे रहते और अपना एक खास स्टैण्डर्ड बनाये रखते थे। जाति और पद की प्रतिष्ठा का यही तकाजा था। और चूँकि उनको मनमानी करने के खूब अधिकार थे, इसलिए वे आलोचना से नाराज होते थे और उसे बड़ा भारी पाप समझते थे। वे दिन-पर-दिन असहिष्णु तथा स्कूल-मास्टर की मनोवृत्तिवाले होते जाते थे, और गैर-जिम्मेदार राज्य-शासको के बहुत-से दुर्गुण अपने अन्दर भरते जाते थे। वे अपने ही में सतुष्ट रहते और किसी

दूसरे की कुछ दरकार नही समझते थे। उनके दिमाग सकीर्ण और घडे-घडाये थे, जो परिवर्तनशील ससार मे भी अपरिवर्तित रहते तथा प्रगतिशील वातावरण के बिलकुल अनुपयुक्त थे। जब उनसे अधिक योग्य और स्थिति को अच्छी तरह समझनेवाले हिन्दुस्तान की समस्या को हल करने की कोशिश करते, तो वे लोग नाराज होते, उन्हे खरीखोटी सुनाते, उनको दबाते और उनके मार्ग में सब तरह के रोड़े अटकाते। जब युरोपीय महायुद्ध के बाद होनेवाले परिवत्तनो ने गतिशील परिस्थिति उत्पन्न कर दी, तो ये लोग एकदम बौखला गये और अपने आपको उसके अनुकूल न बना सके। उनकी परिमित और सकीर्ण शिक्षा ने उन्हे ऐसी सकटापन्न और नवीन परिस्थितियो के योग्य नही बनाया था। लम्बे अर्से तक गैर-जिम्मेदारी के साथ काम करते-करते वे बिगड चुके थे। समुदाय-रूप से तो उनको करीब-करीब बिलकुल निरकुश प्रभुता मिली हुई थी, जिसपर सिर्फ सिद्धान्त-रूप से ब्रिटिश पार्लमेण्ट का नियन्त्रण था। लार्ड एक्टन ने लिखा है—"प्रभुता हमे बिगाड देती है, और पूर्ण प्रभुता तो पूर्णरूप से बिगाड देती है।"

मामूली तौर से, ये लोग अपने परिमित दायरे मे विश्वासपात्र अफसर होते थे, जो अपना रोजमर्रा का काम काफी होशियारी के साथ करते, लेकिन उसमें प्रवीणता नही होती थी। उनकी तो तालीम ही ऐसी होती थी कि कोई बिलकुल अचानक हो जानेवाली घटना उन्हे घबरा देती थी। हालाँकि उनका आत्म-विश्वास, उनकी कायदे के साथ काम करने की आदतें और उनका आपसी भ्रातृ-भाव, उनको तात्कालिक कठिनाइयो पर विजय पाने में सहायता देते थे। मैसेपोटेमिया मे की हुई मशहूर गडबड ने भारतीय ब्रिटिश सरकार की अयोग्यता और जडता का भडा-फोड कर दिया था, लेकिन ऐसी बहुत-सी गडबडे जाहिर ही नही होने पाती है। सविनय-भग से जो प्रतिक्रिया इनपर हुई वह भी भोडी थी। गोली चलाने और लाठी मारने से थोडी देर के लिए दुश्मनो से छुटकारा भले ही मिल जाय, लेकिन इससे कोई मसला हल नही होता। और उच्चता की जिस भावना की रक्षा करने के लिए यह काम किया जाता है उसीकी जड पर इससे कुठाराघात होता है। अगर उन्होने एक बढनेवाले और तेज-तर्रार राष्ट्रीय आन्दोलन का मुकाबिला करने के लिए हिंसा का सहारा लिया तो इसमे कोई ताज्जुब की बात नही थी, यह तो अनिवार्य ही था, क्योकि साम्राज्यो का आधार हिंसा ही है और विरोध का मुकाबिला करने के लिए उन्हें दूसरा तरीका ही नही सिखाया गया था। लेकिन अतिशय और अनावश्यक रूप से हिंसा का प्रयोग किया जाना ही इस बात का सबूत था कि स्थिति पर उनका बिलकुल काबू नही रहा था, और उनमें वह आत्म-सयम और निग्रह नही रह गया था जो साधारण अवस्थाओ में

उनमे रहता था। अक्सर उनके हाथ-पैर फूल जाते थे और उनके सार्वजनिक वक्तव्यो मे भी फजूल बकवास-सी नजर आती थी। मामूली तौर पर रहनेवाला गहरा विश्वास जाता रहा था। खतरा बडी बेरहमी से हम सबकी पोल खोल देता है और हमारी अन्दरूनी कमजोरियो का भडा-फोड कर देता है। सविनय भग एक ऐसा ही खतरा और ऐसी ही परीक्षा थी, और लडनेवाले दोनो दलो—कांग्रेस या सरकार—मे से कोई भी इस परीक्षा मे पूरा नही उतरा। मि० लाइड जार्ज कहते है कि खतरे के समय मे ऊँचे दर्जे की दिमागी ताकत रखनेवाले पुरुष और स्त्रियो की सख्या बहुत कम मिलती है, और "बाकी लोगो की खतरे मे कोई गिनती नही। छोटी-छोटी पहाड़ियाँ, जो सूखे मौसम मे उभरी हुई-सी दिखाई पडती है, जोर की बाढ़ मे फौरन डूब जाती है, जबकि सिर्फ सबसे ऊँची चोटियाँ ही पानी की सतह के ऊपर नजर आती है।"

जो कुछ भी हुआ, उसके लिए इडियन सिविल सर्विस के लोग दिल और दिमाग से तैयार न थे। उनमे से बहुतो की आरम्भिक शिक्षा पुराने शाही जमाने की थी, जिसकी वजह से उनमे कुछ सस्कृति और आकर्षण बना हुआ था। यह तो पुरानी दुनिया का रुख था, जो विक्टोरियन युग के उपयुक्त था, लेकिन आधुनिक अवस्थाओ मे जिसके लिए कोई स्थान न था। वे लोग अपने सकुचित और गूलर के समान 'ऐग्लो-इडिया' ससार मे निवास करते थे जो न इग्लैण्ड था और न हिन्दुस्तान। तात्कालिक समाज मे जो शक्तियाँ काम कर रही थी उनकी कदर वे कर ही नही सकते थे। भारतीय जनता के अभिभावक और ट्रस्टी होने की अपनी मजेदार धारणा के बावजूद वे इसके बारे मे कुछ नही जानते थे, और नये उग्रमतवादी मध्यमवर्ग के बारे मे तो इससे भी कम जानते थे। वे हिन्दुस्तानियो की योग्यता का अन्दाजा उन चापलूसो और नौकरी के उम्मीदवारो से करते थे जो उनको घेरे रहते थे, और बाकी लोगो को वे आन्दोलनकारी और धोखेबाज कहकर उडा देते थे। लडाई के बाद होनेवाले संसार-व्यापी और खासकर आर्थिक क्षेत्र के परिवर्तनो का उन्हे बहुत थोडा ज्ञान था और वे ऐसी गहरी लीक मे फँस गये थे कि परिवर्तनशील परिस्थितियो के अनुकूल अपनेको बना नही सकते थे। वे इस बात को महसूस नही करते थे कि जिस श्रेणी के वे प्रतिनिधि थे वह मौजूदा हालतो मे पुरानी पड़ चुकी थी, और यह कि वे समुदाय-रूप से धीरे-धीरे उस जाति के निकट पहुँच रहे थे जिसका वर्णन टी० एस० इलियट ने अपने 'दि हॉलो मैन' मे किया है।

लेकिन इतने पर भी यह वर्ग जबतक ब्रिटिश साम्राज्यवाद है तबतक कायम रहेगा और यह अभीतक काफी शक्तिशाली है और अब भी उसमे योग्य और कुशल नेता है। भारत में अंग्रेजी-राज्य एक सडते हुए दाँत के समान है जो अभीतक

मजबूती से जमा हुआ है। वह दर्द करता है, लेकिन आसानी से निकाला नही जा सकता। यह दर्द सम्भवत' जारी रहेगा और बढता भी रहेगा, जबतक कि दाँत निकाला न जाय या खुद गिर न पडे।

पब्लिक स्कूलवालो के दिन इग्लैण्ड मे भी पूरे हो गये और अब उनकी वैसी प्रतिष्ठा नही है जैसी पहले थी, हालांकि सार्वजनिक मामलो मे वे अब भी प्रमुख है। हिन्दुस्तान में तो यह और भी ज्यादा गैरमौजू है और उग्र राष्ट्रीयता के साथ न तो उसका मेल बैठ सकता है और न उसके साथ सहयोग ही हो सकता है, सामाजिक परिवर्तन के लिए कोशिश करनेवालो का साथ देना तो बहुत दूर की बात है।

इण्डियन सिविल सर्विस मे अनेक बढिया आदमी भी है, अग्रेज भी और हिन्दुस्तानी भी, लेकिन जबतक मौजूदा शासन-प्रणाली कायम है तबतक उनकी प्रवीणता ऐसे उद्देश्यो के पूरा करने मे खर्च होती रहेगी जिनसे हिन्दुस्तानियो को कुछ फायदा नही है। सर्विस के कुछ हिन्दुस्तानी अफसर इस पब्लिक स्कूल की भावना के इतने गुलाम है कि वे अपनेको सम्राट् से भी ज्यादा शाही समझते है। मुझे याद है कि मेरी मुलाकात सिविल सर्विस के एक ऐसे नौजवान अफसर से हुई थी जो अपने लिए बडी ऊँची राय रखता था लेकिन जिससे दुर्भाग्यवश मै सहमत नही हो सकता था। उसने मेरे सामने अपनी सर्विस के बहुत-से गुण गाये और अन्त मे ब्रिटिश साम्राज्य के पक्ष मे यह लाजवाब दलील पेश की कि क्या यह रोमन साम्राज्य और चगेजखा तथा तैमूर के साम्राज्यो से बेहतर नही है?

इण्डियन सिविल सर्विसवालो की मुख्य भावना यह है कि वे अपना फर्ज बडी होशियारी के साथ अदा करते है, और इसलिए वे अपने दावो पर जोर दे सकते है, और उनके दावे भी बहुत-से और तरह-तरह के है। अगर हिन्दुस्तान गरीब है तो यह कुसूर उसके सामाजिक रीति-रिवाजो का, महाजनो और रुपया उधार देनेवालो का, और सबसे ज्यादा उसकी बडी भारी आबादी का है। लेकिन सबसे बडी 'बनिया' ब्रिटिश सरकार को आसानी से भुला दिया जाता है। और इस आबादी के बारे मे वे क्या करना चाहते है यह मै नही जानता, क्योकि अकालो, महामारियो और आम तौर पर बडी तादाद मे मौतो से बहुत-कुछ मदद मिलने पर भी यहाँ की आबादी अभीतक बहुत ज्यादा है। सतति-निग्रह की सलाह दी जाती है, और मै तो यद्यपि बिलकुल इसके पक्ष मे हूँ कि सतति-निग्रह के ज्ञान और तरीको का प्रचार किया जाय। लेकिन खुद इन तरीको का प्रयोग ही जनता के रहन-सहन का एक काफी ऊँचा ढग, कुछ हदतक मामूली शिक्षा और सारे देश मे असख्य चिकित्सालयो की आवश्यकता रखता है। मौजूदा हालत मे सतति-निग्रह के तरीके साधारण जनता की

पहुँच से बिलकुल बाहर है। मध्यम वर्ग के लोग इनसे फायदे उठा सकते है और मै समझता हूँ कि वे लोग अधिकाधिक परिमाण मे ऐसा कर भी रहे है।

लेकिन जरूरत से ज्यादा जन-सख्या-सम्बन्धी यह दलील और भी गौर किये जाने के काबिल है। आज सारी दुनिया मे सवाल यह नही है कि खाने की या दूसरी जरूरी चीजो की कमी है, बल्कि दरअसल कमी है खानेवालो की, या दूसरे शब्दो में, कमी है उन लोगो के लिए खाना वगैरा खरीदने की शक्ति की कि जो भूखों मर रहे है। अकेले हिन्दुस्तान को भी खाने की कोई कमी नही है, हालाँकि आवादी बढ गई है, खाने का सामान भी बढ गया है, और आबादी के मुकाबिले मे ज्यादा मिकदार मे बढ़ सकता है। फिर हिन्दुस्तान की आबादी की बढोतरी का जिस कदर ढिंढोरा पीटा जाता है उसकी गति (सिवाय पिछले दस वर्षो के) ज्यादातर पश्चिमी देशो से बहुत नीची है। यह सच है कि भविष्य में यह फर्क बढता जायगा, क्योंकि पश्चिमी देशो मे आवादी की बढोतरी को कम करने या रोक तक देने के लिए तरह-तरह की शक्तियाँ काम कर रही है। लेकिन हिन्दुस्तान मे भी सीमित करनेवाले कारण शायद जल्दी ही आबादी की बढोतरी को रोक देंगे।

जब कभी भारत स्वतन्त्र होगा और कभी इस स्थिति मे होगा कि वह अपनेको जिस तरह बनाना चाहे बना सके तो इस काम के लिए उसे जरूर अपने सबसे अच्छे पुत्रो और पुत्रियो की आवश्यकता होगी। ऊँचे दर्जे के मनुष्य हमेशा बड़ी मुश्किल से मिलते है और हिन्दुस्तान मे तो मिलना और भी मुश्किल है, क्योकि हमे ब्रिटिश राज्य मे उन्नति करने का मौका ही नही मिला। हमे सार्वजनिक कार्यो के अनेक विभागो मे विदेशी विशेषज्ञो की सहायता की आवश्यकता होगी, खासकर ऐसे कामो के लिए, जिनमे खास तौर पर औद्योगिक और वैज्ञानिक ज्ञान की जरूरत हो। जो लोग इडियन सिविल सर्विस या दूसरी शाही नौकरियो मे रह चुके है उनमे बहुत-से ऐसे हिन्दुस्तानी और विदेशी होगे जिनकी जरूरत नई व्यवस्था के लिए होगी और उनका स्वागत किया जायगा। लेकिन एक बात का तो मुझे पूरा यकीन है कि जबतक हमारे राज्य-शासन और सार्वजनिक नौकरियो मे सिविल सर्विस की भावना समाई रहेगी तबतक हिन्दुस्तान मे किसी नई व्यवस्था की रचना नही की जा सकती। यह शासन-मनोवृत्ति साम्राज्यवाद की पोषक है और स्वतन्त्रता और यह दोनो साथ-साथ नही रह सकती। या तो यह स्वतन्त्रता को पीस डालने में सफल होगी, या स्वय उखाड़ फेंकी जायगी। सिर्फ एक तरह की राज्य-प्रणाली मे इसकी दाल गल सकती है, और वह है फ़ासिस्ट प्रणाली। इसलिए मुझे यह निहायत जरूरी मालूम देता है कि, पेश्तर इसके कि हम नई व्यवस्था का कोई असली काम शुरू करे, सिविल सर्विस और

इस तरह की दूसरी शाही सर्विसो का खात्मा हो जाना चाहिए। इन सर्विसो के अलग-अलग व्यक्ति, अगर वे नई नौकरी के लिए राजी हो और योग्य हो, खुशी के साथ आवे, लेकिन सिर्फ नई शर्तो पर। यह तो कल्पना ही नही की जा सकती कि उनको वही फजूल की मोटी-मोटी तनख्वाहे और भत्ते मिलेगे जो आज उन्हे दिये जा रहे है। नवीन हिन्दुस्तान को ऐसे सच्चे और योग्य कार्यकर्त्ताओ की सेवाये चाहिएँ जिन्हे उस हित मे हार्दिक विश्वास हो जिसके लिए वे कार्य कर रहे हो, जो सफलता प्राप्त करने पर तुले हो, और जो बडी-बडी तनख्वाहो के लोभ से नही, बल्कि सेवा-जनित आनन्द और गौरव के लिए काम करते हो। रुपया मिलने की नीयत को घटाकर कम-से-कम कर देना चाहिए। विदेशी सहायको की बहुत ज्यादा जरूरत पडेगी, लेकिन मेरे खयाल से ऐसे राज-काज चलानेवालो की जरूरत सबसे कम होगी जिनको औद्योगिक ज्ञान न हो। ऐसे आदमियो का तो हिन्दुस्तान में कुछ अभाव न होगा।

मै पहले लिख चुका हूँ कि भारत के नरम दलवालो और उनके समान अन्य दलवालो ने किस प्रकार भारत के शासन के विषय मे अंग्रेजी विचार-सरणि को स्वीकार कर लिया है। सर्विसो के सम्बन्ध मे तो यह बात और भी साफ जाहिर हो जाती है, क्योकि उनकी पुकार 'भारतीयकरण' के लिए है, सर्विसो के रूप और भावना और राज्य-व्यवस्था की रचना मे आमूल परिवर्तन के लिए नही। यह एक ऐसा मौलिक तत्त्व है जिसपर कोई समझौता हो ही नही सकता, क्योकि भारत की स्वतत्रता न केवल ब्रिटिश फौज और सर्विसो के वापस हटा लिये जाने पर ही अवलम्बित है बल्कि उसके लिए उनके दिमागो मे घुसी हुई शासक-मनोवृत्ति के निकाले जाने और उनकी मोटी-मोटी तनख्वाहो और रिआयतो को समता पर लाने की भी आवश्यकता है। शासन-विधान-रचना के इस काल मे सरक्षणो की बहुत बातचीत हो रही है। अगर ये सरक्षण हिन्दुस्तान के हित मे रक्खे जायँ, तो उनमे दूसरे बातो के अलावा यह विधान होना चाहिए कि सिविल सर्विस वगैरा का उनके वर्तमान रूप मे तथा उनको मिली हुई शक्तियो और विशेष अधिकारो के साथ अन्त हो जाय, और नये विधान से उनका कुछ भी सरोकार न रहे।

हमारी रक्षा के नाम पर स्थापित फौजी सर्विसो का हाल तो और भी रहस्यमय और भयकर है। हम न तो उनकी आलोचना कर सकते है, न उनके बारे में कुछ कह ही सकते है, क्योकि ऐसे मामलो मे हम समझते ही क्या है? हमारा काम तो सिर्फ मोटी-मोटी तनख्वाह चुकाते रहने का है—बिना कोई चू-चपड किये। कुछ दिन हुए, सितम्बर १९३४ मे, हिन्दुस्तान के जगी लाट (कमाण्डर-इन-चीफ) सर फिलिप चेटवुड ने शिमला में कौंसिल-ऑफ़-स्टेट मे बोलते हुए चुभती हुई फौजी

भाषा मे हिन्दुस्तान के राजनीतिज्ञो से कहा था कि वे लोग अपने काम से काम रक्खे, हमारे काम मे दखल न दे। किसी प्रस्ताव पर एक सशोधन पेश करनेवाले की ओर इशारा करते हुए उन्होने कहा था—"क्या वह और उनके मित्र यह खयाल करते है कि बहुत सी लड़ाइया लडी हुई और युद्ध-प्रवीण अंग्रेज-जाति, जिसने अपना साम्राज्य तलवार के ज़ोर से जीता है और तलवार के ही ज़ोर से जिसकी अबतक रक्षा की है, उस अनुभव से प्राप्त किये हुए अपने युद्ध-सम्बन्धी ज्ञान को कुरसियाँ तोडनेवाले आलोचको से सीखेगी ?" उन्होने और भी बहुत-सी मजेदार बाते कही थी, और कही हम यह ख़याल न करने लगे कि उन्होने तैश मे आकर ऐसा कह डाला था, इसलिए हमे बतलाया गया था कि उन्होने अपना भाषण बडे विचारपूर्वक लिखा था और उसी हस्तलिपि को पढ़कर सुनाया था।

किसी साधारण आदमी का फौजी मामलो पर एक जगी लाट से भिड पड़ना दरअसल गुस्ताख़ी है, लेकिन शायद एक कुरसी तोड़नेवाला आलोचक भी कुछ कहने का अधिकारी हो सकता है। यह बात समझ मे आ सकती है कि जिन्होने साम्राज्य को तलवार के ज़ोर से कब्जे मे कर रक्खा है और जिनके सिर के ऊपर यह चमचमाता हथियार हमेशा लटका रहता है, उनके हित शायद एक दूसरे से भिन्न हो। यह सम्भव है कि हिन्दुस्तानी फौज हिन्दुस्तान के हितो या साम्राज्य के हितो के लिए काम मे लाई जाय और इन दोनो हितो मे भिन्नता ही नही बल्कि परस्पर-विरोध भी हो। एक राजनीतिज्ञ और कुरसी तोड़नेवाले आलोचक को यह भी आश्चर्य हो सकता है कि यूरोपीय महायुद्ध के अनुभवो के बाद भी प्रमुख सेनानायको का यह दावा कि उनके कामों मे दख़ल न दिया जाय कहाँतक जायज़ है। उस समय उनको बहुत अशो तक स्वतन्त्र क्षेत्र मिला था और, जहाँतक मालूम हुआ है, उन्होने सारी सेनाओ मे—अंग्रेज़ी, फ्रासीसी, जरमन, आस्ट्रियन, इटैलियन, रूसी—करीब-करीब तमाम बातो मे एक बड़ी भयंकर गड़बड़ पैदा करदी थी। मशहूर अंग्रेज फौजी इतिहासज्ञ और युद्ध-विद्या-विशारद कैप्टन लिडैल हार्ट ने अपनी 'हिस्ट्री आफ दी वर्ल्ड वार' में लिखा है कि महायुद्ध मे एक बार जब अंग्रेज सिपाही दुश्मनो से लड़ रहे थे, उसी समय अंग्रेज़ फौजी अफसर आपस मे लड रहे थे। ऐसे राष्ट्रीय ख़तरे के वक्त मे भी वे लोग विचारो और कार्यों मे एकता न ला सके। वह फिर लिखते है, "महायुद्ध ने, अपने आराध्य-देवो के प्रति हमारे श्रद्धा और आदर के इन भावो को नष्ट कर दिया है कि महान् पुरुष उस मिट्टी के बने हुए नही होते जिसके साधारण मनुष्य होते है। नेताओ की अब भी आवश्यकता है, और शायद ज्यादा आवश्यकता है, लेकिन हममें इस भाव का पैदा हो जाना कि वे भी साधारण मनुष्यो की तरह है, हमको उनसे बहुत ज्यादा

आशा रखने या उनपर बहुत ज्यादा विश्वास करने के खतरो से बचा लेगा।"

महान् राजनीतिज्ञ मि० डेविड लाइड जार्ज ने अपनी 'वार-मेमॉयर्स' नामक पुस्तक मे महायुद्ध के जल और स्थल सेनानायको की गलतियो का—ऐसी गलतियो का, जिनके कारण लाखो आदमियो की जाने गई—बडा भयकर चित्र खीचा है। इग्लैण्ड और उसके सहायको ने महायुद्ध मे विजय तो प्राप्त की, लेकिन यह "विजय पर एक रक्त-रजित प्रहार था।" ऊचे अफसरो-द्वारा फौजो और परिस्थितियो के मूर्खतापूर्ण और अविवेकयुक्त उपयोग ने इग्लैण्ड को लगभग सर्वनाश के किनारे ला पटका था और उसकी और उसके सहायको की रक्षा अधिकतर उनके शत्रुओ की ऐसी भूलो के कारण हुई जिनके होने का सहज ही विश्वास नही हो सकता। इग्लैण्ड का महायुद्ध के समय का महान् प्राइम मिनिस्टर इस प्रकार लिखता है और वह बतलाता है कि किस प्रकार उन्हे लार्ड जेलीको के दिमाग मे कुछ बाते बिठाने के लिए, खासकर पथ-रक्षक-प्रणाली के प्रस्ताव के बारे मे, उनके साथ सख्ती से पेश आना पडा था। फ्रासीसी मार्शल जॉफर के बारे मे तो उनका यह विचार मालूम होता है कि उनका सबसे बडा गुण एक दृढता-सूचक चेहरा था जो हृदय मे दृढता की भावना को पैदा करता था। "यही चीज है जो त्रस्त लोग सकट के समय मे खोजते है। वे यह समझने की भूल करते है कि चतुरता किसी चेहरे मे निवास करती है।"

लेकिन मि० लाइड जार्ज का मुख्य आरोप तो खास ब्रिटिश सेना के नायक पर ही, कमाण्डर-इन-चीफ फील्ड-मार्शल हेग पर, है। उन्होने यह सिद्ध किया है कि किस प्रकार लार्ड हेग ने अपने ख्वामख्वाह के घमण्ड और राजनीतिज्ञो इत्यादि की बाते सुनने से इन्कार करके खास ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल से ही महत्त्वपूर्ण बातो को छिपाया, जिसके कारण फ्रास मे अग्रेजी फौज को बडी भारी हानि उठानी पड़ी और इतने पर भी, जबकि असफलता सामने नजर आरही थी, वे आखिर तक अपनी जिद पर अडे रहे, और अपने मूर्खतापूर्ण युद्ध को पैसूशन्डेल तथा कैम्ब्राई की भयकर दलदलो मे कई महीने तक चलाते रहे, यहाँतक कि सत्रह हजार तो अफसर ही वहाँ काम आ गये और चार लाख वीर अग्रेज सिपाही हताहत हो गये। सन्तोष की बात इतनी ही है कि आज भी 'बेनाम सिपाही' का उसकी मृत्यु के बाद सम्मान किया जाता है, जब कि अपने जीवन-काल मे उसका जीवन बहुत सस्ता था और उसकी कोई पूछ नही थी।

अन्य लोगो की तरह राजनीतिज्ञ भी अक्सर गलतियाँ करते है, लेकिन जन-सत्ता-वादी राजनीतिज्ञो को जनता के रुख और घटनाओ पर ध्यान देकर उनसे प्रभावित होना पडता है और वे आम तौर पर अपनी गलतियो को स्वीकार करके उन्हे दुरुस्त

करने की कोशिश करते है। पर सिपाही का शिक्षण एक भिन्न वातावरण मे होता है, जहाँ हुकूमत का साम्राज्य होता है और आलोचना के लिए कोई स्थान नही होता। इसलिए वह दूसरो की सलाह से बुरा मानता है और अगर वह गलती करता है तो पूरी तरह से करता है और उस गलती को किये ही जाता है। उसके लिए दिल और दिमाग की बनिस्बत कठोर मुख-मुद्रा अधिक महत्वपूर्ण है। हिन्दुस्तान मे हमे एक मिश्रित श्रेणी उत्पन्न करने का मौका मिला है, क्योकि खुद मुल्की शासन ही हुकूमत और स्वाश्रय के अर्द्धसैनिक वातावरण मे पला और निवास करता है और इस कारण बहुत अंशों तक सिपाहियाना रौबदाब आदि विशेषतायें उसमें मौजूद है।

हमसे कहा जाता है कि सेना का 'भारतीयकरण' आगे बढ़ाया जा रहा है और अगले तीस या अधिक बरसो मे एक हिन्दुस्तानी जनरल भी शायद हिन्दुस्तान मे पैदा हो जायँ। यह मुमकिन है कि सौ वर्ष से कुछ ही ज्यादा बरसो मे भारतीयकरण बहुत-कुछ उन्नति कर ले। यह सुनकर आश्चर्य हो सकता है कि खतरे के समय मे इग्लैण्ड ने किस तरह एक-दो साल के अर्से मे ही लाखों की फ़ौज खड़ी करदी। अगर उसके पास ऐसे ही सलाहकार होते, जैसे कि हमको मिले हुए है, तो शायद वह बड़ी चौकसी और होशियारी से फूक-फूंककर आगे कदम बढ़ाता और यह बिलकुल सम्भव था कि उस दशा में इस सुसगठित सेना के तैयार होने के बहुत पहले ही युद्ध खतम हो जाता। हमको रूस की सोवियट सेनाओं का भी विचार होता है, जो बिना किसी प्रकार के पूर्व साधनो के ही अकस्मात् तैयार हो गई और शत्रु की प्रचण्ड सेनाओ से लोहा लेती हुई उन्हे हराने लगी। आज इन सेनाओ की संसार की सबसे अधिक कुशल युद्धशक्तियो मे गणना की जाती है। शायद इनके पास सलाह देने के लिए 'संग्राम लड़े हुए और युद्ध-प्रवीण" सेनापति नही थे !

हमारे यहाँ देहरादून मे एक फौजी शिक्षणालय है, जहा शिक्षार्थियो को फौजी अफ़सर बनने की तालीम दी जाती है। वे बड़ी चतुरता से परेड करते है और कहा जाता है कि बेशक वे बडे अच्छे अफ़सर बनकर निकलेंगे। लेकिन मुझे कभी-कभी आश्चर्य होता है कि इस तालीम से क्या फायदा है, जबतक कि उसके साथ युद्ध की कुछ व्यावहारिक शिक्षा न दी जाय ? पैदल और घुड़सवार सेनाये आज-कल उतने ही काम की है जितनी रोमन फ़ौजे होतीं; और हवाई युद्ध, गैस के बम, टैंक और प्रचंड तोपो के युग में बन्दूक तीर-कमान से ज्यादा कारगर नही है। इसमे शक नही कि उनके शिक्षक और सलाहकार इस बात को महसूस करते है।

हिन्दुस्तान मे अंग्रेजी राज्य का इतिहास कैसा रहा है ? हम उसकी खामियो के बारे मे शिकायत करनेवाले होते कौन है, जबकि ये खामियां हमारी ही कमजोरियो के

फलस्वरूप हैं ? अगर हम परिवर्तन की धारा से सम्बन्ध छोड दे और दलदल मे फँस जायँ, एकागी और स्वय-सतोषी बन जायँ और शुतुर्मुर्ग की तरह अपने चारो ओर की घटनाओ से आँख मूद ले, तो इसमे हमारा ही नुकसान है। अग्रेज लोग हमारे यहाँ ससार-सागर की एक नये जोश की लहर के साथ आये और ऐसी महान् ऐतिहासिक शक्तियो को लाये जिनका खुद उनको भी अनुभव न था। क्या हम उस तूफान की शिकायत करे जो हमे उखाडकर इधर-उधर फेक देता है, या उस ठडी हवा की जो हमे कप-कपा देती है ? हमे तो भूतकाल और उसके झगडे-टटो को तिलाजलि ही दे देनी चाहिए और भविष्य का मुक़ाबिला करना चाहिए। हमे एक महान् भेट के लिए अग्रेजो का कृतज्ञ होना चाहिए, जिसे कि वे लेकर आये। यह भेट है विज्ञान और उसके सुन्दर फल। साथ ही, ब्रिटिश सरकार के उन प्रयत्नो को भी भूल जाना या शान्ति के साथ बरदाश्त करना मुश्किल है जो उन्होने देश के झगडालू, प्रतिक्रियावादी, विरोधक, जातिगत तथा मौके से लाभ उठानेवाले लोगो को प्रोत्साहन देने के लिए किये। शायद यह भी हमारे लिए एक जरूरी परीक्षा और चुनौती है, और पेश्तर इसके कि हिन्दुस्तान नया जन्म धारण करे, उसे बार-बार उस आग मे तपना पडेगा जो शुद्ध और दृढ़ बनाती है और जो दुर्बल पतित और आचार-भ्रष्टो को जलाकर खाक कर देती है।

५५

अन्तर्जातीय विवाह और लिपि का प्रश्न

सितम्बर १९३३ के बीच मे करीब एक हफ्ता बम्बई और पूना मे रहने के बाद मैं लखनऊ लौट आया। मेरी मा अभीतक अस्पताल मे थी, और उनकी हालत धीरे-धीरे सुधर रही थी। कमला भी लखनऊ मे, खुद तन्दुरुस्त न होते हुए भी, माताजी की सेवा करने मे तत्पर थी। हर सप्ताह के आखिरी दिनो मे मेरी बहने भी इलाहाबाद से आती रहती थी। लखनऊ मे मै दो-तीन हफ्ते रहा। वहाँ इलाहाबाद के मुकाबिले मे ज्यादा फुर्सत मिली थी। मेरा खास काम दिन मे दो बार अस्पताल जाना था। मैंने अपना यह फुरसत का समय अखबार के लिए लेख लिखने मे लगाया और ये सब लेख देश के लगभग सभी अखबारो मे छपे। 'हिन्दुस्तान किधर ?' शीर्षक लेखमाला पर जनता का काफी ध्यान गया। इस लेखमाला मे मैंने दुनिया की हलचलो पर, हिंदुस्तान के साथ उनके सबन्ध को ध्यान मे रखकर, विचार किया था। मुझे बाद मे मालूम हुआ कि इन लेखो का फारसी मे तर्जुमा हुआ था और वह तेहरान और काबुल मे भी छापे गये थे। आजकल के पश्चिमी विचारो और हलचलो से जानकारी रखनेवालो के लिए इन लेखो मे कोई ऐसी नई या अद्भुत बात नही थी। मगर हिन्दुस्तान मे लोग अपने घरेलू मामलों मे ही इतने व्यस्त रहते हैं कि दूसरी जगह क्या हो रहा है इसपर वे ज्यादा ध्यान नही दे सकते। मेरे लेखो का जो स्वागत हुआ उससे और दूसरे आसारो से मालूम पडा कि लोगो का दृष्टिकोण व्यापक हो रहा है।

माताजी अस्पताल मे पडी-पडी ऊबती-सी जा रही थी, इसलिए हमने उन्हे इलाहाबाद वापस ले आने का निश्चय कर लिया। वापस लाने के दूसरे कारणो मे से एक कारण मेरी बहन कृष्णा की सगाई हो जाना भी था, जो इन्ही दिनो मे घोषित की गई थी। पेश्तर इसके कि मैं फिर से जेल मे ठूस दिया जाऊँ, हम चाहते थे कि जल्दी-से-जल्दी विवाह हो जाय। मुझे कुछ ख़याल न था कि मै कितने समय तक बाहर रहने दिया जाऊँगा। क्योकि सविनय-भग कॉग्रेस का बाकायदा कार्यक्रम था और स्वय काग्रेस और दूसरी बीसियो सस्थाये गैर-कानूनी थी।

हमने अक्तूबर के तीसरे सप्ताह मे इलाहाबाद मे विवाह करने का निश्चय किया। यह विवाह 'सिविल मैरिज एक्ट' के मुताबिक होनेवाला था। मै इस बात से खुश था, हालाँकि सच पूछो तो इसके सिवा हमारे पास और कोई उपाय भी न था।

क्योकि यह विवाह दो मुख्तलिफ बिरादरीवालो मे, ब्राह्मण और अ-ब्राह्मण, के बीच, होनेवाला था, और हिन्दुस्तान के मौजूदा कानून के मातहत ऐसा विवाह कैसी भी धार्मिक विधि से क्यो न किया जाय, जायज नही हो सकता। खुशकिस्मती से उन्ही दिनो मे पास हुआ सिविल मैरिज एक्ट हमारी मदद को मिल गया। इस तरह के दो कानून थे, जिनमे से दूसरा कानून, जिसके मातहत मेरी वहन की शादी हुई, हिन्दुओ और हिन्दू-धर्म से सम्बद्ध दूसरे धर्मवालो के लिए था—जैसे सिक्ख, जैन, बौद्ध। लेकिन वर-वधू मे से कोई एक भी जन्मत या वाद मे धर्म-परिवर्तन करके इन धर्मों मे से किसी एक को भी माननेवाला न हो, तो यह दूसरा कानून उसपर लागू नही होता। ऐसी हालत मे पहले कानून का ही आश्रय लेना पडता है। इस पहले कानून के अनुसार दोनो को सभी मुख्य धर्मो का परित्याग करना पडता है, या उन्हे कम-से-कम यह तो कहना ही पडता है कि हममे से कोई किसी भी धर्म को नही मानता है। इस प्रकार का अनावश्यक ऐलान वडा वाहियात है। वहुत-से ऐसे लोगो को भी, जिनका कि मजहव की तरफ कोई रुझान नही है, इस ऐलान पर ऐतराज है और इस तरह वे इस कानून से फायदा नही उठा सकते। मुख्तलिफ मजहवो के कट्टर लोग ऐसी सव तवदीलियो का विरोध करते है जिनसे अन्तर्जातीय विवाहो के होने मे आसानी हो। इससे जो लोग इस कानून के मातहत विवाह करना चाहे, उन्हे या तो धर्म-परित्याग का ऐलान करना पडता है, या जिन धर्मवालो को उसके मुताबिक अन्तर्जातीय विवाह करने की छूट है उनमे से किसी धर्म को झूठ-मूठ के लिए अपनाना पडता है। जाती तौर पर मै अन्तर्जातीय विवाहो को प्रोत्साहन देना पसन्द करूँगा, लेकिन उन्हे प्रोत्साहन दिया जाय या नही, एक ऐसे अनुमतिदायक अन्तर्जातीय विवाह-कानून का बनना तो निहायत जरूरी है जो आम तौर पर सब धर्मवालो पर लागू हो और जिससे विवाह करने के लिए उन्हे मजहब छोडने या वदलने की जरूरत न पडे।

मेरी वहन की शादी मे कोई धूमधाम नही हुई, सारा काम बड़ी सादगी से हुआ। हिन्दुस्तानी विवाहो मे जो धूमधाम हुआ करती है, मामूली तौर पर, वह मुझे पसन्द भी नही है। फिर माताजी की बीमारी के कारण और उससे भी अधिक इस बात से कि सविनय-भग अभी भी जारी था और हमारे वहुत-से साथी जेलो मे पडे सड रहे थे, दिखावे के रूप मे कोई भी वात करना था भी विलकुल वेमौजूँ। इसलिए सिर्फ थोडे रिश्तेदारो और स्थानीय मित्रो को ही निमन्त्रित किया गया। पिताजी के बहुत-से पुराने मित्रो को इससे सदमा भी पहुँचा। क्योकि उन्हे यह लगा, हालाँकि वह था गलत, कि मैने जान-बूझकर उनकी उपेक्षा की है।

विवाह के लिए जो छोटा-सा निमन्त्रण-पत्र हमने भेजा था वह लेटिन अक्षरो व हिन्दुस्तानी भाषा मे छापा था। यह एक बिलकुल नई बात थी। अबतक इस तरह के निमन्त्रण-पत्र आम तौर पर नागरी या फारसी लिपि मे ही लिखे जाते थे। फौज या ईसाई मिशनवालो के सिवाय कही भी हिन्दुस्तानी भाषा लैटिन अक्षरो मे नही लिखी जाती थी। मैने रोमन लिपि का इस्तैमाल केवल यह देखने के लिए किया था कि इसका मुख्तलिफ किस्म के लोगो पर क्या असर होता है। इसे कुछने पसन्द किया, कुछने नही। ज्यादा सख्या नापसन्द करनेवालो की ही थी। बहुत कम लोगो के पास यह निमत्रण भेजा गया था, और, अगर ज्यादा लोगो के पास भेजा जाता तो इसका असर और भी ज्यादा खिलाफ होता। गाधीजीने भी इसे पसन्द नहीं किया।

मैने रोमन लिपि इसलिए इस्तैमाल नही की थी कि मै उसके पक्ष मे हो गया था, हालाँ कि उसने मुझे बहुत दिनो से अपनी ओर आकर्षित कर रक्खा था। टर्की और मध्य-एशिया मे रोमन लिपि की सफलता ने मुझे प्रभावित किया था। रोमन के पक्ष में जो दलीले है उसमे काफी वजन है, फिर भी मै भारतवर्ष के लिए रोमन् लिपि के पक्ष मे नही हो गया था। अगर मै उसके पक्ष मे हो भी जाता तो भी मै अच्छी तरह जानता था कि वर्त्तमान भारत मे उसके अपनाये जाने की रत्तीभर भी सम्भावना न थी। राष्ट्रीय, मजहबी, हिन्दू-मुस्लिम, नये-पुराने सब दलो की ओर से इसका बहुत सख्त विरोध होता, और यह मै मानता हूँ कि यह विरोध महज भावुकतावश ही नही होता। किसी भी भाषा के लिए, जिसका पुराना जमाना उज्ज्वल रहा हो, लिपि का बदलना बहुत बडी तबदीली है, क्योकि लिपि का उस साहित्य से बहुत गहरा सम्बन्ध रहता है। लिपि बदल दीजिए तो सामने कुछ और ही शब्द-चित्र नजर आयँगे, ध्वनि बदल जायगी, भाव बदल जायँगे। पुराने और नये साहित्य के बीच एक अटूट दीवार उठ खड़ी होगी। पुराना साहित्य एकदम किसी विदेशी भाषा मे लिखा हुआ-सा जान पड़ेगा, ऐसी भाषा मे जो मर चुकी हो। लिपि बदलने का जोखिम उसी भाषा मे लेना चाहिए, कि जिसका कोई उल्लेखनीय साहित्य न हो। हिन्दुस्तान मे तो मै ऐसे रद्दो-बदल का खयाल भी नही कर सकता हूँ। क्योकि हमारा साहित्य केवल समृद्ध और अनूठा ही नही, बल्कि हमारे इतिहास और विचार-परम्परा से सम्बद्ध है और हमारी सर्वसाधारण जनता के जीवन के साथ उसका बडा गहरा सम्बन्ध रहा है। हमारे देश पर इस तरह का परिवर्त्तन लाद देना एक क्रूर विच्छेद के समान होगा और सार्वजनिक शिक्षा के रास्ते मे बाधक होगा।

लेकिन् आज तो हिन्दुस्तान मे रोमन लिपि का प्रश्न सार्वजनिक चर्चा का विषय ही नही है। मेरी समझ मे लिपि-सुधार की दृष्टि से जो अगला कदम होना

चाहिए, वह है संस्कृत भाषा से उत्पन्न चारो सहोदरा—हिन्दी, बगला, मराठी, गुजराती—भाषाओ के लिए एक-सी लिपि बनाना। इन चारो भाषाओ की लिपियो का उद्‌गम एक ही है और इनमें एक-दूसरे से भिन्नता भी विशेष नही है और इसलिए इन सबके लिए एक ही लिपि तैयार करने मे कोई खास दिक्कत नही होनी चाहिए। इससे ये चारो भाषाये एक-दूसरे के नजदीक आ जायँगी।

हमारे अंग्रेजी शासको ने हमारे देश के बारे मे जो भ्रमपूर्ण बाते ससारभर मे फैला रक्खी है, उनमे से एक यह भी है कि हिन्दुस्तान मे कईसौ भाषायें बोली जाती है। मुझे उनकी ठीक तादाद याद नही है। प्रमाण के लिए मर्दुमशुमारी को लिया जाता है। यह एक विचित्र बात है कि इन कईसौ भाषाओ के देश मे सारा जीवन बिताने पर भी बहुत कम अंग्रेज एक भाषा से मामूली जानकारी हासिल कर पाते हैं। इन सब भाषाओ को 'वर्नाक्युलर' नाम से पुकारते हैं, जिसका अर्थ है गुलामो की भाषा (लैटिन verna का अर्थ घर मे पैदा हुआ गुलाम है)। हममे से बहुतो ने बिना समझे-बूझे इस नामकरण को स्वीकार कर लिया है। यह एक आश्चर्य की बात है कि सारी जिन्दगी इस देश मे रहकर भी अंग्रेज लोग यहाँ की भाषा सीखे बिना किस तरह अपना काम चला लेते है। अपने खानसामा व आयाओ की मदद से उन्होने एक कर्णकटु काम-चलाऊ नई हिन्दुस्तानी खिचडी भाषा ईजाद करली है, जिसको वे असली भाषा समझ बैठे है। जैसे वे भारतीय जीवन के हालात अपने नौकरो व जीहुजूरो से मालूम करते है उसी तरह वे हिन्दुस्तानी भाषा के बारे मे अपने विचार अपने घरू नौकरो से बनाते है। साहब लोगो से वे अपनी इस 'कामचलाऊ खिचडी भाषा' मे ही बोलते है, क्योकि उन्हे डर है कि वे और कोई भाषा समझेगे भी नही। वे इस बात से बिलकुल अपरिचित मालूम पड़ते है कि हिन्दुस्तानी और दूसरी भारतीय भाषाओ का साहित्य बहुत ऊँचा और बहुत विस्तृत है।

अगर मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट हमे यह बताती है कि हिन्दुस्तान मे दो सौ या तीनसौ भाषाये है, तो जर्मनी की मर्दुमशुमारी भी यह बताती है कि वहां पर भी लगभग ५०-६० भाषाये है। मुझे खयाल नही कि कभी किसीने इसके कारण ही जर्मनी मे असमानता या आपसी फूट साबित करने की कोशिश की हो। सच तो यह है कि मर्दुमशुमारी मे सब प्रकार की छोटी-मोटी भाषाओ का भी जिक्र किया जाता है, चाहे इन भाषाओ के बोलनेवाले कुछ हजार ही व्यक्ति क्यो न हो, और अक्सर थोड़ा-थोडा भेद होने पर भी वैज्ञानिक भेद बताने के लिए भाषाओ को अलग-अलग मान लिया जाता है। हिन्दुस्तान के क्षेत्रफल को देखते हुए इतनी थोडी भाषाओ का होना ताज्जुब की बात मालूम होती है। योरप के इतने भाग को लेकर

मुकाबिला करे तो भाषा की दृष्टि से हिन्दुस्तान मे इतने भेद नही मिलेगे। लेकिन हिन्दुस्तान मे आम जनता मे शिक्षा का फैलाव न होने के कारण यहाँ भाषाओ का समान-स्टैण्डर्ड नही बन पाया और कई बोलियाँ बन गई। बर्मा को छोडकर हिन्दुस्तान की मुख्य भाषाये ये हैं—हिन्दुस्तानी (हिन्दी और उर्दू किस्म की) बगला, गुजराती, मराठी, तामिल, तेलुगु, मलायालम और कन्नड। इनमे अगर आसामी, उडिया, सिंधी, पश्तो और पजाबी को भी शामिल कर दिया जाय, तो सिवा कुछ पहाडी और जगली हिस्सो को छोडकर सारे देश की भाषाये इनमे आ जाती हैं। इनमे से भारतीय आर्यभाषाये जो उत्तर, मध्य और पश्चिम भारत मे प्रचलित है आपस मे बहुत मिलती-जुलती है और दक्षिणी द्राविडी भाषाये भिन्न होते हुए भी सस्कृत से काफी प्रभावित हुई हैं और उनमे संस्कृत शब्दो की बहुतायत है।

इन मुख्य आठ भाषाओ मे पुराना बहुमूल्य साहित्य है और ये भाषाये देश के काफी बडे हिस्से मे बोली जाती हैं। इनका क्षेत्र निश्चित और स्पष्ट है। इस तरह बोलनेवालो की सख्या की दृष्टि से देखे तो ये भाषाये ससार की प्रमुख भाषाओ मे आ जाती हैं। बगला बोलनेवालो की सख्या साढे पाँच करोड है। जहाँतक हिन्दुस्तानी से सम्बन्ध है, मेरे पास यहाँ सख्याये नही है, लेकिन मेरे खयाल मे वह अपने सभी रूपो सहित १४ करोड़ भारतवासियो मे बोली जाती है। इसके अलावा हिन्दुस्तान के अन्य भाषा बोलनेवाले लोग भी हिन्दुस्तानी समझ लेते है।[1] साफ तौर पर ऐसी

[1]. हिन्दुस्तानी के समर्थक नीचे दिये आँकड़े पेश करते हैं। मैं नहीं कह सकता कि ये सख्याये १६३१ की मर्दुमशुमारी के मुताबिक हैं या १६२१ के। मेरे ख़याल में तो १६२१ की गणना के मुताबिक़ हैं। इसलिए १६३१ की सख्या तो जरूर इससे कहीं ज्यादा होगी।

	भाषा	संख्या
१	हिन्दुस्तानी (जिसमें पश्चिमी हिन्दी, पजाबी राजस्थानी शामिल है)	१३६.३ लाख
२	बगला	४६.३ ,,
३	तेलुगु	२३.६ ,,
४	मराठी	१८.८ ,,
५	तामिल	१८.८ ,,
६	कन्नड	१०.३ ,,
७	उड़िया	१०.१ ,,
८	गुजराती	९.६ ,,

पश्तो, आसामी, बर्मी आदि कुछ भाषाये जो भाषा-विज्ञान तथा क्षेत्र के लिहाज से बिलकुल अलग हैं, इस सूची में शामिल नहीं की गई हैं।

भाषा की उन्नति की आशा बहुत अधिक है, वह सस्कृत की मजबूत नीव पर जमी हुई है और फारसी का भी उसपर काफी असर है। इस तरह वह दो सम्पन्न स्रोतो से अपना शब्द-कोष ले सकती है और पिछले कुछ वर्षो से वह अग्रेजी से भी शब्द ले रही है। दक्षिण का द्राविडी प्रदेश ही एक ऐसा हिस्सा है जहाँ हिन्दुस्तानी एक विदेशी भाषा के समान नजर आती है। लेकिन वहाँ के निवासी इसे सीखने की पूरी कोशिश कर रहे है। दो बरस पहले, १९३२ मे, मैने एक सस्था के आँकडे देखे थे। यह सस्था दक्षिण मे हिन्दी-प्रचार करने के लिए कुछ मित्रो ने खोली थी। उसके काम शुरू करने के बाद से अबतक, पिछले १४ बरसो मे, अकेली उस सस्था की कोशिश मे मद्रास प्रान्त मे लगभग ५५,००० लोगो ने हिन्दी सीखली है। एक ऐसी सस्था के लिए, जिसे सरकारी मदद कुछ भी नही मिलती, यह सफलता अनोखी है। वहाँ हिन्दी सीखनेवालो मे से अधिकतर खुद भी इस कार्य के प्रचारक बन जाते है।

मुझे इसमे कुछ भी शक नही है कि हिन्दुस्तानी ही भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा बनेगी। दरअसल रोजमर्रा के काम-काज के लिए वह एक बडी हद तक आज भी राष्ट्रभाषा-सी बनी हुई है। लिपि नागरी हो या फारसी, इस निरर्थक वाद-विवाद ने इसकी तरक्की को रोक दिया है और दोनो दलो की इस कोशिश ने भी इसकी प्रगति मे रुकावट खडी करदी है कि भाषा को सस्कृत-प्रधान बनाया जाय या फारसी-प्रधान। लिपि का प्रश्न उठते ही इतने झगड़े पैदा हो जाते है कि इस कठिनाई को हल करने का इसके सिवाय और कोई उपाय ही मालूम नही होता कि दोनो लिपियो को अधिकृत रूप से मान लिया जाय और लोगो को इनमे से किसीको भी काम मे लाने की छूट देदी जाय। सस्कृत व फारसी के शब्दो को ज्यादा काम मे लाने की जो बेजा प्रवृत्ति चल पडी है उसे रोकने के लिए पूरी कोशिश करनी चाहिए और सामान्य व्यवहार मे बोली जानेवाली सरल भाषा के ढग पर एक साहित्यिक भाषा बना लेनी चाहिए। जनता मे जैसे-जैसे शिक्षा बढती जायगी, वैसे-वैसे अपने-आप ऐसा होता जायगा। इस समय मध्यमश्रेणी के छोटे-छोटे दल साहित्यिक रुचि और शैली के निर्णायक बने हुए है और ये लोग अपने-अपने ढग से बहुत ही सकुचित हृदय के अनुदार और अपरिवर्त्तनवादी है। ये अपनी भाषाओ के पुराने निर्जीव रूप से चिपटे रहना चाहते है और अपने देश की साधारण जनता और ससार के साहित्य से इनका बहुत ही कम सम्पर्क है।

हिन्दुस्तानी की वृद्धि और प्रसार को भारत की दूसरी बडी भाषाओ—बंगला, गुजराती, मराठी, उडिया और दक्षिण की द्राविडी—के सतत व्यवहार और समृद्धि मे न तो बाधक बनना चाहिए और न वह बनेगा। इनमे से कुछ भाषाये तो अब

भी हिन्दुस्तानी की बनिस्बत बहुत अधिक जागरूक और बौद्धिक दृष्टि से सतर्क है और इसलिए अपने-अपने क्षेत्र मे शिक्षा के माध्यम और अन्य व्यवहारो के लिए अधिकृत रूप से अवश्य स्वीकार कर लेनी चाहिए। सिर्फ इन्हीके जरिये साधारण जनता मे शिक्षा और सस्कृति तेजी के साथ फैल सकती है।

कुछ लोगो का खयाल है कि बहुत करके अग्रेजी ही भारत की आम भाषा हो जायगी, लेकिन ऊँचे दर्जे के गिने-चुने पढे-लिखो को छोडकर साधारण जनता इसे अपनायगी, यह धारणा मुझे एक असम्भव कल्पना के समान दिखाई देती है। साधारण जनता की शिक्षा और सस्कृति के प्रश्न के साथ इसका कोई सरोकार नही है। यह हो सकता है, जैसा कि आजकल कुछ हद तक है भी, कि औद्योगिक, वैज्ञानिक और तिजारती कामो मे, विशेषकर अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारो मे, अग्रेजी ज्यादा इस्तैमाल मे आने लगे। हममे से बहुतो के लिए विदेशी ज़बानो का सीखना व जानना बहुत जरूरी है, ताकि ससार के विचारो व प्रगतियो से हमारी जानकारी होती रहे, और इस बात को ध्यान मे रखते हुए मैं तो पसन्द करूँगा कि हमारी यूनिवर्सिटियो मे अग्रेजी के अलावा फ्रेंच, जरमन, रूसी, स्पेनिश और इटैलियन भाषाये सीखने के लिए विद्यार्थियो को प्रोत्साहित किया जाय। इसका यह मतलब नही है कि अग्रेजी की अवहेलना की जाय, लेकिन अगर हमे ससार की हलचलो को निष्पक्ष दृष्टि से देखना है तो हमे अपनेको अग्रेजी सीखने तक ही सीमित नही रखना चाहिए। केवल अग्रेजी शिक्षा ने हमारी मानसिक दृष्टि को अभीसे एकागी और सकुचित कर दिया है। इसका कारण हमारे विचारो का एक ही दृष्टि और मत की ओर झुका रहना है। हमारे कट्टर-से-कट्टर राष्ट्रवादी भी शायद ही इस बात का अन्दाजा लगा सकते है कि अपने देश के सम्बन्ध मे उनके दृष्टि-बिन्दु पर अग्रेजी विचार-सरणि का कितना गहरा असर है।

लेकिन हम विदेशी भाषाओ को सीखने के लिए कितना ही प्रोत्साहन क्यो न दे, बाहरी दुनिया से हमारा सम्बन्ध अग्रेजी भाषा द्वारा ही रहेगा। इसमे कुछ हर्ज भी नही है। हम कई पीढियो से अग्रेजी सीखने की कोशिश कर रहे है और इसमे हमे काफी कामयाबी मिली है। इस सब किये-कराये को मिटा देना सरासर बेवकूफी होगी। इतने अर्से की मेहनत से हमें लाभ उठाना चाहिए। निस्सन्देह अग्रेजी आज ससार की सबसे ज्यादा व्यापक और महत्त्वपूर्ण भाषा है, और दूसरी भाषाओ पर वह अपना सिक्का जमाती जा रही है। यह सम्भव है कि अब राष्ट्रीय व्यवहारो मे और रेडियो आदि के लिए वह माध्यम-भाषा का रूप धारण करले, बशर्ते कि 'अमरेकिन' उसकी जगह न लेले। इसलिए हमे अग्रेज़ी भाषा के ज्ञान का प्रसार अवश्य जारी रखना

चाहिए। अग्रेजी को जितनी अच्छी तरह सीख सके उतना ही अच्छा है, लेकिन मुझको इसकी जरूरत नही मालूम होती कि अग्रेजी की बारीकियो को सीखने मे हम लोग अपना वक्त लगाये, जैसा कि आज कल हममे से बहुत-से करते है। कुछ व्यक्ति तो ऐसा कर सकते है, लेकिन बहुसख्यक लोगो के सामने इस बात को आदर्श रूप मे रखना उनपर अनावश्यक बोझ डालना और दूसरी दिशाओ मे प्रगति करने से रोकना होगा।

इधर कुछ दिनो मे मूल अग्रेजी (Basic English) ने मुझे अपनी ओर काफी आकर्षित किया है और ऐसा मालूम होता है कि ज्यादा-से-ज्यादा सरल बनाई हुई इस अग्रेजी का भविष्य बहुत उज्ज्वल है। स्टैण्डर्ड अग्रेजी तो विशेषज्ञो तथा कुछ और विद्यार्थियो के लिए छोड देनी चाहिए और हिन्दुस्तान की सर्वसाधारण जनता मे इस मूल अग्रेजी का ही व्यापक प्रचार करना चाहिए।

मै खुद इस बात को पसन्द करूँगा कि हिन्दुस्तानी अग्रेजी व दूसरी विदेशी भाषाओ से बहुत-से शब्द अपने मे लेले। इस बात की जरूरत है, क्योकि आजकल जो नई चीजे निकली है हमारी भाषा में उनके अर्थ-प्रदर्शक शब्द नही, इसलिए यही बेहतर है कि सस्कृत फारसी या अरबी से नये और मुश्किल शब्द गढने के बजाय हम उन्ही सुप्रचलित शब्दो को काम मे लावे। भाषा की पवित्रता के हामी विदेशी शब्दो के इस्तैमाल का विरोध करते है, लेकिन मेरा ख्याल है कि वे गलती करते है। वास्तव मे किसी भाषा को समृद्ध बनाने का तरीका यही है कि वह इतनी लचीली रक्खी जाय, कि दूसरी भाषाओ के भाव और शब्द उसमे शामिल होकर उसीके हो जायँ।

अपनी बहन की शादी के बाद ही मुझे अपने पुराने दोस्त और साथी श्री शिवप्रसाद गुप्त से मिलने के लिए बनारस जाने का इत्तिफाक हुआ। गुप्तजी एक बरस से भी ज्यादा अर्से से बीमार थे। जब वह लखनऊ-जेल मे थे, अचानक उनपर लकवे का वार हुआ और अब वह धीरे-धीरे अच्छे हो रहे है। बनारस की इस यात्रा के मौके पर मुझे हिन्दी-साहित्य की एक छोटी-सी सस्था की ओर से मानपत्र दिया गया और वहाँ उसके सदस्यो से दिलचस्प बातचीत करने का मुझे मौका मिला। मैने उनसे कहा कि जिस विषय का मेरा ज्ञान बहुत अधूरा है, उसपर बोलते हुए मुझे हिचक होती है, लेकिन फिर भी मैने उन्हे थोडी-सी सूचनाये दी। आजकल हिन्दी में जो कठिन और आलकारिक भाषा इस्तैमाल की जाती है उसकी मैने कडी आलोचना की। उसमे कठिन, बनावटी और पुरानी शैली के सस्कृत शब्दो की भरमार रहती है। मैने यह कहने का भी साहस किया कि यह थोडे-से लोगो के काम मे आने-वाली दरबारी शैली अब छोड़ देनी चाहिए और हिन्दी लेखको को अब यह कोशिश

करनी चाहिए कि वे हिन्दुस्तान की आम जनता के लिए लिखे और ऐसी भाषा मे लिखें जिसे लोग समझ सके। आम जनता के ससर्ग से भाषा मे नया जीवन और असली ओजस्विता आ जायगी। इससे उनकी अनुभूति बढ जायगी और वे अधिक अच्छा लिख सकेगे। साथ ही मैंने यह भी कहा कि हिन्दी लेखक पश्चिमी विचारो व साहित्य का अध्ययन करे तो उससे उन्हे बड़ा लाभ होगा। यह और भी अच्छा होगा कि योरप की भाषाओ के पुराने अमर साहित्य और नवीन विचारो के ग्रथो का हिन्दी मे अनुवाद कर डाला जाय। मैंने यह भी कहा कि सम्भव है कि आज का गुजराती, बगला और मराठी साहित्य इन बातो मे आजकल के हिन्दी-साहित्य से अधिक उन्नत हो, और यह तो मानी हुई बात है कि पिछले वर्षो मे हिन्दी की अपेक्षा बगला मे कही अधिक उत्पादक साहित्य लिखा गया है।

इन विषयो पर हम लोग मित्रतापूर्ण बातचीत करते रहे और उसके बाद मैं चला गया। मुझे इस बात का जरा भी खयाल न था कि मैंने जो कुछ कहा वह अखबारो में दे दिया जायगा, लेकिन वहाँ उपस्थित लोगो मे किसीने हमारी उस बातचीत को हिन्दी अखबारो मे प्रकाशित करवा दिया।

फिर क्या था, हिन्दी अखबारो मे मेरे और हिन्दी-सम्बन्धी मेरी आलोचना के खिलाफ बड़ा भारी बावैला मच गया। लोगो को मेरी यह धृष्टता खास तौर पर अखरी कि मैंने हिन्दी को वर्त्तमान बगला, गुजराती और मराठी से हीन क्यो कहा। मुझे अनजान—इस विषय मे मैं सचमुच था भी अनजान—कहा गया। मुझे कुचलने व दबाने के लिए बहुत-से कठोर शब्द काम मे लाये गये। मुझे इस वाद-विवाद मे पडने की फुरसत ही न थी, लेकिन मुझे बताया गया है कि यह झगडा कई महीनो चलता रहा—तबतक, जबतक कि मैं फिर जेल मे नही चला गया।

यह घटना मेरे लिए आँखे खोलनेवाली थी। उसने बतलाया कि हिन्दी के साहित्यिक और सम्पादक कितने ज्यादा तुनकमिजाज हैं। मुझे पता लगा कि वे अपने शुभचिन्तक मित्र की सद्भावनापूर्ण आलोचना भी सुनने को तैयार नही थे। साफ ही यह मालूम होता था कि इस सबकी तह मे अपनेको छोटा समझने की भावना ही काम कर रही थी। आत्म-आलोचना की हिन्दी मे पूरी कमी है और आलोचना का स्टैण्डर्ड बहुत ही नीचा है। लेखक और उसके टीकाकारो के लिए एक-दूसरे के व्यक्तित्व पर गाली-गलौज शुरू कर देना हिन्दी मे कोई असाधारण बात नही है। यहाँ का सारा दृष्टिकोण बहुत सकुचित और दरबारी-सा है और ऐसा मालूम होता है, मानो हिन्दी का लेखक और पत्रकार एक-दूसरे के लिए और एक बहुत ही छोटे-से दायरे के लिए लिखते हो। उन्हे आम जनता और उसके हितो से मानो कोई सरोकार

ही नही है। हिन्दी का क्षेत्र इतना विशाल और आकर्षक है कि उसमे इन त्रुटियो का होना मुझे अत्यन्त खेदजनक और हिन्दी लेखको का प्रयत्न शक्ति का अपव्यय-सा जान पड़ा।

हिन्दी-साहित्य का भूतकाल बड़ा उज्ज्वल रहा, लेकिन वह सदा के लिए उसी के बल पर तो जिन्दा नहीं रह सकता। मुझे पूरा यकीन है कि उसका भविष्य भी काफी उज्ज्वल है, और मैं यह भी जानता हूँ कि किसी दिन देश मे हिन्दी के अखबार एक जबरदस्त ताकत बन जायँगे, लेकिन जबतक हिन्दी के लेखक और पत्रकार पुरानी रूढ़ियो व बन्धनो से अपने आपको बाहर नही निकालेंगे और आम जनता को साहस के साथ सम्बोधित करना न सीखेंगे तबतक उनकी अधिक उन्नति न हो सकेगी।

५६

साम्प्रदायिकता और प्रतिक्रिया

मेरी बहन की शादी के करीब, योरप मे श्रीयुत् विट्ठलभाई पटेल के इन्तकाल की खबर आई। वह बहुत दिनो से बीमार थे और सेहत खराब होने की वजह से ही वह हिन्दुस्तान मे जेल से छोडे गये थे। उनकी मृत्यु एक दुखद घटना थी। हमारे बुजुर्ग नेताओ का इस तरह हमारे बीच से, लडाई के बीच मे ही, एक के बाद एक का उठकर चले जाना हमारे लिए असाधारण निराशाजनक बात थी। विट्ठलभाई को बहुत-सी श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पण की गई जिनमे से अधिकतर मे उनके कुशल पार्लमेण्टेरियन होने और उस सफलता पर, जो असेम्बली के प्रेसीडेट की हैसियत से उन्होने हासिल की थी, जोर दिया गया था। यह बात थी तो बिल्कुल उचित, मगर इस बात के बार-बार दोहराये जाने से मुझे कुछ चिढ-सी मालूम होने लगी। क्या हिन्दुस्तान मे कुशल पार्लमेण्टेरियन लोगो की कमी थी, या ऐसे लोगो की कमी थी जो स्पीकर (असेम्बली के अध्यक्ष) का आसन योग्यता के साथ निबाह सके? केवल यही तो एक काम है जिसके लायक वकालत की शिक्षा ने हमें बनाया है। लेकिन इसके अलावा विट्ठलभाई मे और भी कही अधिक गुण थे। वह हिन्दुस्तान की आजादी के लिए एक जबरदस्त और निडर योद्धा थे। १९३३

जब नवम्बर मे मै बनारस गया तो उस मौके पर मुझे हिन्दू यूनिवर्सिटी के विद्यार्थियो के सामने व्याख्यान देने के लिए निमन्त्रित किया गया। मैने बडी खुशी से इस निमन्त्रण को मजूर कर लिया और एक बडे मजमे मे मैने भाषण दिया, जिसके सभापति यूनिवर्सिटी के वाइस-चान्सलर पण्डित मदनमोहन मालवीय थे। अपने व्याख्यान मे मैने साम्प्रदायिकता के बारे मे बहुत कुछ कहा और जोरदार शब्दो मे उसकी मलामत की, खासकर हिन्दू-महासभा के काम की तो मैने कडी निंदा की। ऐसा हमला करने का मेरा पहले ही से इरादा रहा हो सो बात नही; बल्कि सच बात तो यह थी कि सभी फिरको के सम्प्रदायवादी लोगो की बढती हुई सुधार-विरोधी हरकतो के लिए मुद्दत से मेरे दिमाग मे गुस्सा भरा हुआ था और जब मै अपने विषय पर जरा जोश से बोलने लगा तो इस गुस्से का कुछ भाग उफनकर बाहर निकल पडा। मैने जानबूझकर सम्प्रदायवादी हिन्दुओ के दकियानूसीपने पर जोर दिया, क्योकि हिन्दुओ की जमात के सामने मुसलमानो पर टीका-टिप्पणी करने का कोई मतलब न था। उस वक्त यह बात तो मेरे ध्यान ही मे नही आई कि जिस

सभा के सभापति हिन्दू-महासभा के स्तम्भ मालवीयजी हो उसमें हिन्दू-महासभा पर टीका-टिप्पणी करना बहुत मौजूं न था। मैंने इस बात का विचार ही नही किया, क्योंकि मालवीयजी का कुछ दिनो मे हिन्दू-महासभा से बहुत सम्बन्ध नही था और करीब-करीब ऐसा मालूम होता था कि महासभा के नये कट्टर नेताओ ने मालवीयजी जैसे व्यक्ति के लिए उसमे कोई स्थान ही नही रहने दिया था। जबतक महासभा की बागडोर उनके हाथ मे रही तबतक साम्प्रदायिकता के रहते हुए भी वह राजनैतिक दृष्टि से उन्नति के मार्ग मे रोडा अटकानेवाली नही थी। लेकिन कुछ दिनो से यह नई प्रवृत्ति बहुत उग्र हो गई थी और मुझे यकीन था कि मालवीयजी का उससे कोई सम्बन्ध नही होगा, बल्कि उन्होने उसको नापसद भी किया होगा। फिर भी मेरे लिए यह बात जरा अनुचित तो थी कि मैंने ऐसे विचार प्रकट करके, जिससे उनकी स्थिति खराब हो, उनके निमत्रण का अनुचित लाभ उठाया। इस बात का मुझे पीछे जाकर अनुभव हुआ और मुझे इसके लिए अफसोस भी हुआ।

उस मूर्खतापूर्ण भूल के लिए भी मुझे खेद है जिसमे कि मैं फँस गया था। किसीने हमको डाक मे एक ऐसे प्रस्ताव की नकल भेजी जो अजमेर मे हिन्दू युवको की एक सभा मे पास हुआ बतलाया गया था। वह प्रस्ताव बहुत आपत्तिजनक था, जिसका मैंने अपने बनारस के भाषण मे जिक्र किया था। असल मे ऐसा प्रस्ताव किसी सस्था द्वारा पास ही नही हुआ था और हम एक धोखे ही के शिकार हो गये थे।

मेरी बनारस की स्पीच की रिपोर्ट सक्षेप में प्रकाशित हुई। इसपर बडा होहल्ला मचा। हालाकि मैं ऐसी चिल्ल-पुकार सुनने का आदी था, लेकिन हिन्दू-महासभा के नेताओ के जबरदस्त हमलो से मैं सकते मे आ गया। ये हमले ज्यादातर व्यक्तिगत थे और असली विषय से तो प्राय सम्बन्ध ही नही रखते थे। वे हद से बाहर चले गये और मुझे इस बात से खुशी हुई कि उनकी वजह से मुझे भी उस विषय पर अपनी बात कहने का मौका मिल गया। इस बात पर तो मैं कई महीनो मे, यहातक कि जेल मे भी, भरा हुआ बैठा था, लेकिन मेरी समझ मे नही आता था कि उस विषय को किस तरह छेडूँ। वह एक बर्र का छत्ता था और हालाकि मुझे बर्र के छत्तो मे हाथ डालने की आदत है लेकिन मुझे ऐसे विवादो मे पडना पसद नही था जो बाद मे तू-तू मैं-मैं पर आ जावे। लेकिन अब मेरे सामने दूसरा कोई रास्ता ही न रह गया और फिर मैंने हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता पर एक विचारपूर्ण लेख लिखा, जिसमे मैंने यह बताया कि दोनो ओर की साम्प्रदायिकता सच्ची साम्प्रदा-यिकता नही थी, बल्कि साम्प्रदायिक आवरण में ढकी हुई ठेठ सामाजिक और राजनै-

तिक सकीर्णता थी। इतिफाक से मेरे पास कई अखबारो के कटिंग थे, जो मैने जेल मे इकट्ठे किये थे। इनमे साम्प्रदायिक नेताओ के हर तरह के भाषण और वक्तव्य थे। सचमुच मेरे पास इतना मसाला इकट्ठा हो गया था कि मेरे लिए यह मुश्किल हो गया कि मै किस तरह एकसाथ उसे एक लेख मे घुसेड दूँ।

मेरे इस लेख को हिन्दुस्तान के अखबारो मे खूब प्रकाशन मिला। यद्यपि उसमे हिन्दू और मुसलमान सम्प्रदायवादियो के सम्बन्ध मे बहुत-कुछ बाते थी, फिर भी आश्चर्य है कि उसका हिन्दू-मुसलमान दोनो की ओर से कोई उत्तर न मिला। हिन्दू-महासभा के जितने नेताओ ने मुझे बड़ी जोरदार और तरह-तरह की भाषा मे आडे हाथो लिया था, वे भी चुप्पी साधे रहे। मुसलमानो की तरफ से सर मुहम्मद इकबाल ने गोलमेज-परिषद् सम्बन्धी मेरी कुछ बातो मे सुधार करने की कोशिश की, लेकिन मेरी दलीलो के सम्बन्ध मे तो उन्होने कुछ भी नही कहा। उनके जवाब ही मे मैने यह मत प्रकट किया था कि विधान-विधायक सभा (कन्स्टीट्यूएण्ट असेम्बली) द्वारा ही राजनैतिक और साम्प्रदायिक दोनो विषयो का निर्णय होना चाहिए। इसके बाद मैने सम्प्रदायवाद पर एक या दो लेख और भी लिखे।

इन लेखो का जैसा स्वागत हुआ और समझदार व्यक्तियो पर प्रकट रूप से जो-कुछ उनका प्रभाव पडा उससे मेरा उत्साह बहुत-कुछ बढ गया।

असल मे मैने इस बात का तो अनुमान ही नही किया था कि साम्प्रदायिक भावना की तह मे जो जोश छिपा रहता है मै उसे हटा सकूँगा। मेरा उद्देश तो यह बताना था कि किस तरह साम्प्रदायिक नेता हिन्दुस्तान और इग्लैण्ड के घोर प्रतिक्रियावादी फिरको से मिले रहते है और वे असल मे राजनैतिक और उससे भी अधिक सामाजिक प्रगति के विरोधी है। उनकी सभी माँगो का जन-साधारण से कोई भी सम्बन्ध नही है। उनका उद्देश यही रहता है कि सार्वजनिक क्षेत्र मे आगे आये हुए कुछ छोटे-छोटे दलो का भला हो जाय।

मेरा इरादा था कि इस पुर-दलील हमले को जारी रक्खूँ, लेकिन जेल ने फिर मुझे खीच लिया। हिन्दू-मुस्लिम-एकता के लिए आयेदिन जो अपील होती रहती है, उसके निस्सन्देह फायदेमन्द होते हुए भी वह मुझे तबतक बिलकुल फजूल मालूम होती है, जबतक कि मतभेद के कारणो को समझने के लिए कुछ कोशिश न की जाय। मगर कुछ लोगो का यह खयाल मालूम होता है कि इस मन्त्र को बारबार रटने से अन्त मे एकता जादू की तरह आ टपकेगी।

सन् १८५७ के गदर से अबतक साम्प्रदायिक प्रश्न पर अंग्रेजो की जो नीति रही है उसपर सिलसिलेवार नजर डालना दिलचस्प बात होगी। दरअसल और

जरूरी तौर पर ब्रिटिश नीति यही रही है कि हिन्दू-मुसलमान मिलकर न चले, और आपस मे एक-दूसरे से लडते रहे। सन् १८५७ के बाद अग्रेजो का वार हिन्दुओ की बनिस्बत मुसलमानो पर गहरा रहा। मुसलमानो का कुछ ही समय पहले हिन्दुस्तान पर राज्य था। इस बात की याददाश्त उनमे ताजी थी। इस वजह से अग्रेज उनको ज्यादा उग्र, लडाकू और खतरनाक समझते थे। फिर मुसलमान नई तालीम से भी दूर-दूर रहे और सरकारी नौकरियो मे भी उनकी तादाद कम थी। इन सब कारणो से अग्रेज लोग उन्हे सन्देह की दृष्टि से देखते थे। हिन्दुओ ने अग्रेजी भाषा और सरकारी नौकरियो को बहुत अधिक तत्परता से अपना लिया और अग्रेजो को ये ज्यादा सुसाध्य मालूम हुए।

इसके बाद नई राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न हुई। इसका उदय उच्चवर्ग के अग्रेजी-दा शिक्षितो मे हुआ। इस भावना का हिन्दुओ तक महदूद रहना स्वाभाविक ही था, क्योकि मुसलमान लोग शिक्षा के लिहाज से बहुत पिछडे हुए थे।

इस राष्ट्रीयता का रूप बडा विनम्र और दब्बू था, पर फिर भी सरकार इसको न देख सकी और उसने यह निश्चय किया कि मुसलमानो की पीठ ठोकी जाय और उनको इस नई राष्ट्रीयता की लहर से दूर रक्खा जाय। मुसलमानो के लिए तो अग्रेजी शिक्षा का न होना ही एक काफी रुकावट थी। लेकिन इस रुकावट का धीरे-धीरे दूर होना लाजिमी था। अग्रेजो ने बडी दूरदेशी से आगे के लिए इन्तजाम कर लिया और इस काम मे उन्हे सर सैयदअहमदखा की जोरदार हस्ती से बहुत बडी मदद मिली।

सर सैयद इस बात से दु खी थे कि उनकी जाति पिछडी हुई है, खासकर शिक्षा के क्षेत्र मे, और इस बात से उनके दिल मे दर्द होता था कि उनकी जाति पर न तो अग्रेजो की कृपा-दृष्टि थी और न उनकी नजरो मे मुसलमानो का कुछ प्रभाव ही था। उस जमाने के बहुत-से दूसरे लोगो की तरह वह भी अग्रेजो के बहुत बडे प्रशसक थे और मालूम होता है कि उनपर योरप-यात्रा का और भी जबरदस्त असर पडा था।

उन्नीसवी सदी के आखिरी जमाने मे योरप, या यो कहो कि, पश्चिमी योरप की सभ्यता का सितारा बहुत बुलन्दी पर था। योरप उस समय ससार का एकछत्र अधिपति था और उसमे वे सब गुण भलीभाति प्रकट हो रहे थे जिनके कारण उसे महत्ता प्राप्त हुई थी। उच्चवर्ग के लोग अपनी पैतृक सम्पत्ति को सुरक्षित समझते थे और उसे बढा रहे थे, क्योकि उनको यह डर नही था कि कोई उनसे मुकाबिला करके कामयाब हो सकेगा। वह जमाना प्रगतिशील प्रजातन्त्रीय सुधारवादियो का था, जिनका अपने उज्ज्वल भविष्य मे दृढ विश्वास था। इसलिए कोई ताज्जुब नही कि जो

हिन्दुस्तानी उधर गये वे वहाँ का शानदार नजारा देखकर मोहित हो गये। शुरू-शुरू मे हिन्दू लोग ही ज्यादा गये और वे योरप और इग्लैण्ड के प्रशसक बनकर वापस लौटे। धीरे-धीरे वे इस तडक-भडक और चमक-दमक के आदी हो गये और जो ताज्जुब पहले-पहल उनको होता था वह दिल से निकल गया। लेकिन सर सैयदअहमद को पहली ही बार वहाँ की तडक-भडक से जो विस्मय और आकर्षण हुआ, वह साफ जाहिर है। वह सन् १८६९ मे इग्लैण्ड गये थे। उस समय उन्होने घर को जो पत्र लिखे उनमे उन्होंने वहाँके सम्बन्ध मे अपने खयालात जाहिर किये थे। इनमे से एक पत्र मे उन्होने लिखा था—"इस सबका नतीजा यह निकलता है कि हालाकि अग्रेज लोग जिस तरह हिन्दुस्तान मे शिष्टता का व्यवहार नही करते और हिन्दुस्तानियो को जानवरो के समान हेच, नीच और घृणित समझते है इसके लिए उनको बख्शा नही जा सकता, फिर भी मेरा खयाल है कि वे इस तरह का बरताव इसीलिए करते है कि वे हम लोगो को समझ नही पाते है। और मुझे डरते-डरते यह बात माननी पड़ती है कि उन्होने जो राय हमारे बारे मे कायम की है वह ज्यादा गलत नही है। मै अग्रेजो की झूठी तारीफ नही कर रहा हूँ, यदि मै सचमुच यह कहूँ कि हिन्दुस्तान के लोग चाहे वे ऊँच हो या नीच, बडे व्यापारी हो या छोटे दूकानदार, पढे-लिखे हो या अपढ, अग्रेजो की तालीम, तमीज और ईमानदारी के मुकाबिले मे ऐसे है जैसे किसी काबिल और खूबसूरत आदमी के मुकाबिले मे एक गन्दा जानवर। अग्रेज लोग अगर हम हिन्दुस्तानियो को निरा जगली समझे तो उनके पास इसकी वजह है।' ''' "मै रोजमर्रा जो-कुछ देख रहा हूँ वह एक हिन्दुस्तानी के कयास के बिलकुल बाहर की बात है' 'परलोक और इस लोक दोनो लोको की सारी सुन्दर वस्तुये, जो इन्सान मे होनी चाहिएँ, खुदा ने योरप को, खासकर इग्लैण्ड को, बख्श दी है।"[१]

कोई भी आदमी अग्रेजो की और योरप की इससे ज्यादा तारीफ नही कर सकता। और यह स्पष्ट है कि सर सैयद बहुत अधिक प्रभावित हुए थे। यह भी मुमकिन है कि उन्होने ऐसी जोरदार भाषा और अतिशयोक्तिपूर्ण तुलना का प्रयोग अपने देशवासियो को गाढी नीद से जगाने और उनको आगे कदम बढाने के लिए उकसाने की नीयत से किया हो। उनका यह विश्वास था कि यह कदम पश्चिमी शिक्षा की तरफ बढ़ना चाहिए। बिना उस तालीम के उनकी जाति ज्यादा पिछड़ती और कमजोर होती जायगी। अग्रेजी तालीम का मतलब था सरकारी नौकरियाँ, हिफाजत, दबदबा और इज्जत। इसलिए उन्होने अपनी सारी ताकत इस तालीम के लिए लगादी

१. यह उद्धरण हेन्स कोहन की "हिस्ट्री आफ नेशनलिज्म इन दि ईस्ट" से लिया गया है।

और सदा यही कोशिश करते रहे कि उनकी जाति के लोग भी उनके हम-खयाल हो जावे। मुसलमानो की सुस्ती और झिझक का दूर करना बडा मुश्किल काम था, इसलिए वह यह नही चाहते थे कि उनके रास्ते मे कही बाहर से कोई बाधा या रुकावटे आवे। मध्यम-वर्ग के हिन्दुओ-द्वारा चलाई हुई राष्ट्रीयता को उन्होने इस प्रकार की रुकावट समझा और इसीलिए उन्होने इसका विरोध किया। शिक्षा मे ५० वर्ष आगे वढे हुए होने के कारण हिन्दू लोग सरकार की आलोचना खुशी से कर सकते थे, लेकिन सर सैयद ने तो अपने शिक्षा-सम्बन्धी प्रयत्नो मे सरकार की पूरी महायता पर आँखे गडा रक्खी थी और वे कोई ऐसा जल्दवाजी का काम नही करना चाहते थे जिससे उन्हे इस मार्ग मे जोखम उठाना पडे। इसलिए उन्होने नवजात राष्ट्रीय महासभा को वता वताई। ब्रिटिश सरकार तो उनके इस रवय्ये पर उनकी पीठ ठोकने के लिए तैयार वैठी ही थी।

मुसलमानो को पश्चिमी शिक्षा दिये जाने पर विशेष जोर देने का सर सैयद का निर्णय दरअसल वहुत ठीक था। उसके विना मुसलमान लोगो के लिए नये प्रकार की राष्ट्रीयता के निर्माण म कारगर हिस्सा ले सकना असम्भव था और उनको लाजिमी तौर पर हिन्दुओ के स्वर-मे-स्वर मिलाकर ही रहना पडता, क्योकि हिन्दुओ मे शिक्षा भी ज्यादा थी और उनकी माली हालत भी ज्यादा अच्छी थी। ऐतिहासिक घटना-चक्र और विचार-आदर्श की दृष्टि से मुसलमान मध्यमवर्गीय राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए तैयार नही थे, क्योकि उनमे हिन्दुओ की तरह कोई मध्यम-वर्ग नही वन सका था। इसलिए सर सैयद की कार्रवाइयाँ ऊपर से भले ही नरम दीखती हो, लेकिन वे दरअसल सीधी क्रांति की ओर ले जानेवाली थी। मुसलमान अभीतक प्रजातन्त्रविरोधी जागीरदाराना विचारादर्श मे जकड़े हुए थे, जब कि प्रगतिशील मध्यमश्रेणी के हिन्दू अग्रेज प्रजातन्त्रीय सुधार-वादियो के-से विचार रखने लग गये थे। दोनो ठेठ नरम नीति को पालनेवाले और ब्रिटिश राज्य पर भरोसा रखनेवाले थे। सर सैयद की नरम नीति उस जागीरदार-वर्ग की नरम नीति थी, जिसमे मुट्ठी-भर धन-वान मुसलमान शामिल थे। उधर हिन्दुओ की नरम नीति थी उस होशियार पेशेवर या व्यापारी की नरम नीति, जो उद्योग-धधो और व्यापार मे धन लगाने का साधन ढूँढता हो। इन हिन्दू राजनीतिज्ञो की नजर हमेशा इग्लैण्ड के उदार दल के सुविख्यात रत्न ग्लेडस्टन, ब्राइट इत्यादि पर रहती थी। मुझे शक है कि मुसलमानो ने कभी ऐसा किया हो। शायद वे लोग अनुदार दल और इग्लैण्ड के जागीरदार-वर्ग के प्रशसक थे। टर्की और आरमीनियनो के कत्ल की बार-बार खूब निन्दा करने के कारण ग्लेडस्टन तो उनके लिए सचमुच घृणा का पात्र बन गया था। लेकिन चूकि डिस-

रेली का टर्की की तरफ कुछ ज्यादा झुकाव था, इसलिए वे लोग—अर्थात्, वास्तव मे वे मुट्ठीभर लोग जो ऐसे मामलो मे दिलचस्पी रखते थे—कुछ हद तक उसे चाहते थे।

सर सैयदअहमद के कुछ व्याख्यानो को अगर आज पढा जाय तो बडे अजीब-से मालूम होगे। सन् १८८७ के दिसम्बर मे उन्होने लखनऊ मे उस अवसर पर एक भाषण दिया था जब कॉग्रेस का सालाना जलसा वहाँ हो रहा था। उसमे उन्होने कॉग्रेस की बहुत नरम माँगो की भी निन्दा और आलोचना की थी। उन्होने कहा था—"अगर सरकार अफगानिस्तान से लडे या बर्मा को जीते तो उसकी नीति की आलोचना करना हमारा काम नही है। सरकार ने कानून बनानें के लिए कौसिल बना रक्खी है। उस कौसिल के लिए वह सभी प्रान्तो से उन अधिकारियो को चुनती है जो राज-काज और जनता की हालत से बहुत अच्छी तरह वाकिफ है, और कुछ रईसो को भी चुनती है जो समाज मे अपने ऊचे रुतबे की वजह से असेम्बली मे बैठने के काबिल है। कुछ लोग पूछ सकते है कि उनका चुनाव इसलिए क्यो किया जाय कि वे रुतबेवाले है ? काबलियत का खयाल क्यो न रक्खा जाय ? ··· मै आपसे पूछता हूँ, क्या आपके मालदार घराने के लोग यह पसन्द करेगे कि छोटी जाति और ओछे खानदान के लोग, चाहे वे बी० ए० या एम० ए० ही क्यो न हो और जरूरी योग्यता रखते हो, उनपर हकूमत करे और उनकी जानोमाल के मुतल्लिक कानून का भेद बनाने की ताकत रक्खे ?'

"वाइसराय ऐसा कभी नही कर सकता कि सिवाय ऊँचे खानदान के आदमी के किसी और को अपना साथी कबूल करे, या उसके साथ भाईचारे का बर्ताव रक्खे या उसे ऐसी दावतो मे निमन्त्रण दे जिनमे उसे इग्लैण्ड के अमीर-उमरा के साथ दस्तरखान पर बैठना पडता हो। ······क्या हम कह सकते है कि कानून बनाने के लिए जो तरीके सरकार ने अख्त्यार किये हैं, वे लोगो की मर्जी का खयाल रक्खे बिना ही किये गये है? क्या हम कह सकते है कि कानून बनाने मे हमारा कुछ भी हाथ नही है ? बेशक हम ऐसा नही कह सकते।"[1]

ये थे भाव उस व्यक्ति के जो भारत मे 'लोकसत्तात्मक इस्लाम' का नेता और प्रतिनिधि था। इसमे शक है कि अवध के ताल्लुकेदार या आगरा, बिहार या बगाल प्रान्त के बडे-बड़े जमीदार भी आज इस तरह बोलने का साहस कर सकेगे। लेकिन सर सैयद मे ही यह निरालापन हो सो बात नही है। कॉग्रेस के भी बहुत-से व्याख्यान अगर आज पढे जायॅ तो ऐसे ही अजीब मालूम होगे। लेकिन

१. हैन्स कोहन की 'हिस्ट्री इन दी ईस्ट' से उद्धृत।

यह तो साफ मालूम होता है कि हिन्दू-मुस्लिम सवाल का राजनैतिक व आर्थिक रूप उस वक्त यह था कि प्रगतिशील और आर्थिक दृष्टि से आसूदा मध्यम श्रेणी के (हिन्दू) लोगो का पुराने ढग का कुछ जागीरदार वर्ग (मुसलमान) विरोध करता था और उसकी प्रगति को रोकता था।

हिन्दू जमीदारो का सम्बन्ध अक्सर मध्यमवर्ग के साथ था। इसलिए वे मध्यमवर्ग की माँगो के विषय मे या तो तटस्थ रहते थे या उनसे सहानुभूति रखते थे और इन माँगो के बनाने मे भी अक्सर उनका हाथ रहता था। अंग्रेज लोग हमेशा की तरह जमीदारो का साथ देते थे। दोनो ओर की साधारण जनता और दोनो निम्नश्रेणी के मध्यमवर्ग की ओर तो किसीका कुछ ध्यान ही न था।

सर सैयद की प्रभावशाली और जोरदार हस्ती का मुसलमानो पर बहुत असर पडा और अलीगढ-कॉलेज उनकी उम्मीदो और ख्वाहिशो का एक प्रत्यक्ष नमूना साबित हुआ। सक्रमणकाल मे अक्सर ऐसा होता है कि तरक्की की तरफ ले जानेवाला जोश बहुत जल्द अपना मकसद पूरा कर लेने के बाद एक रुकावट बन जाता है। हिन्दुस्तान का नरम दल इसकी एक जाहिरा मिसाल है। ये लोग अक्सर हमको इस बात की याद दिलाते रहते है कि काग्रेस की पुरानी परम्परा के असली वारिस ये ही है और हम लोग, जो बाद मे उसमे शामिल हुए है, सिर्फ दाल-भात मे मूसलचन्द है। ठीक है। लेकिन वे लोग इस बात को तो भूल ही जाते है कि दुनिया बदलती रहती है और कॉग्रेस की वह पुरानी परम्परा समय के गर्भ मे विलीन होकर अब सिर्फ एक यादगार भर रह गई है। इसी तरह सर सैयद की आवाज भी उस जमाने के लिए मौजू और जरूरी थी, लेकिन वह एक उन्नतिशील जाति का अन्तिम आदर्श नही हो सकती थी। यह सम्भव है कि अगर वह एक पीढी और रहे होते तो उन्होने खुद ही अपने सदेश को एक दूसरी ही सूरत दे दी होती। या दूसरे नेता उनके पुराने सदेश को नई तरह से जनता को समझाते और उसे बदली हुई हालत के माफिक बना देते। लेकिन सर सैयद को जो सफलता मिली और उनके नाम के साथ जो श्रद्धा जुडी रह गई उसने दूसरो के लिए पुरानी लकीर को छोड देना मुश्किल कर दिया। दुर्भाग्य से हिन्दुस्तान के मुसलमानो मे ऐसी ऊची काबलियत के लोगो का बहुत बुरी तरह से अभाव था जो कोई नया रास्ता दिखला सकते। अलीगढ़-कॉलेज ने बडा अच्छा काम किया और उसने एक बडी तादाद मे अच्छे काबिल आदमी तैयार करके समझदार मुसलमानो का सारा रुख ही बदल दिया। लेकिन जिस साँचे मे वह ढाला गया था उससे वह न निकल सका—उसके ऊपर जमीदाराना खयालात का असर बना ही रहा और साधारण विद्यार्थी का उद्देश सिर्फ सरकारी नौकरी ही रहा। हिम्मत

के साथ जीवन-सग्राम में उतरने या किसी ऊँचे लक्ष्य को पाने का प्रयत्न करने की इच्छा उसमे नही थी। वह तो अगर उसे कही डिप्टी कलक्टरी मिल गई, तो इसीमे अपनेको धन्य समझता था। उसका गर्व सिर्फ इस बात की याद दिलाने से ठंडा हो जाता था कि वह इस्लाम की महान् लोकसत्ता का एक अग है। इस भाईचारे के प्रमाण-स्वरूप वह अपने सिर पर बडी शान के साथ एक लाल टोपी पहनता था, जिसे टर्किश फैज कहते है और जिसको खुद तुर्कों ने ही बाद मे बिलकुल उतार फेंका। जहाँ उसे अपने अमिट लोकसत्तात्मक अधिकार का विश्वास हुआ—जिसके कारण वह अपने मुसलमान भाइयो के साथ भोजन और प्रार्थना कर सकता था—कि फिर वह इस बात के सोचने की झझट में नही पडता था कि हिन्दुस्तान मे राजनैतिक लोकसत्ता की कोई हस्ती है या नही।

यह तग दृष्टि और सरकारी नौकरियो के पीछे दौडना सिर्फ अलीगढ या दूसरी जगह के मुसलमान विद्यार्थियो तक ही महदूद न था। हिन्दू विद्यार्थियो मे भी—जो स्वभाव से ही खतरो से घबराते थे—यह उसी परिमाण मे पाया जाता था। लेकिन परिस्थिति ने इनमें से बहुतो को इस गड्ढे से निकाल दिया। उनकी सख्या तो थी बहुत ज्यादा और मिलनेवाली नौकरियाँ थी बहुत कम। नतीजा यह हुआ कि इन वर्गहीन विचारक लोगो की एक ऐसी जमात बन गई, जो राष्ट्रीय क्रान्तिकारी आन्दोलनो की जान हुआ करती है।

सर सैयदअहमदखा के राजनैतिक सदेश के गलाघोटू असर से हिन्दुस्तान के मुसलमान अच्छी तरह निकलने भी न पाये थे कि बीसवी सदी की आरम्भिक घटनाओ ने ऐसे साधन उपस्थित कर दिये जो ब्रिटिश सरकार को मुसलमानो और राष्ट्रीय आन्दोलन के (जो उस समय तक काफी जोर पकड चुका था) बीच खाई चौडी करने मे सहायक हो गये। सर वेलेन्टाइन शिरोल ने १९१० मे 'इडियन अनरेस्ट' नामक पुस्तक मे लिखा था—"यह बडे विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि आज से पहले भारत के मुसलमानो ने सामूहिक रूप से कभी अपने हितो और आकाक्षाओ को ब्रिटिश राज के सगठन और स्थायित्व के साथ इतनी घनिष्ठता से नही मिलाया। राजनीति की दुनिया मे भविष्यवाणियाँ करना खतरनाक होता है। सर वेलेन्टाइन की पुस्तक प्रकाशित होने के बाद, पाँच वर्ष के भीतर ही, समझदार मुसलमान उन बेड़ियो को, जो उनको आगे बढने से रोक रही थी, तोडने और कॉंग्रेस का साथ देने की जी-जान से कोशिश करने लगे। दस साल के अन्दर ही ऐसा मालूम होने लगा कि मुसलमान तो कॉंग्रेस से भी आगे बढ गये और सचमुच उसका नेतृत्व भी करने लगे। पर ये दस बरस बडे महत्वपूर्ण थे। इन्ही दस बरसो मे यूरोपीय महायुद्ध शुरू भी हुआ

और खतम भी हो गया और अपनी विरासत में एक नष्ट-भ्रष्ट ससार छोड गया ।

लेकिन फिर भी सर वेलेन्टाइन शिरोल जिन नतीजो पर पहुँचे जाहिरा तौर पर तो उनके कारण साधारणतया ठीक ही थे । आगाखा मुसलमानो के नेता के रूप मे प्रकट हुए और यह घटना ही इस बात का काफी सबूत था कि मुसलमान लोग अभी-तक अपनी जागीरदाराना परम्परा से चिपके हुए थे, क्योकि आगाखा कोई मध्यम-वर्ग के नेता नही थे । वह एक अत्यन्त धनवान् राजा और एक फिरके के धार्मिक गुरु थे । ब्रिटिश राजसत्ता से घनिष्ठ सम्बन्ध रखने के कारण, अग्रेजो के लिए वह अपने आदमी बन गये थे । बडे शाइस्ता और एक धनी जागीरदार और खिलाडी की भाति ज्यादातर योरप मे ही पडे रहनेवाले । इस कारण व्यक्तिगत रूप मे वह मजहबी या फिरकेवाराना मामलो मे सकीर्ण विचारो से बहुत दूर थे । उनका मुसलमानो का नेतृत्व करने का अर्थ यह था कि मुस्लिम जमीदार और बढते हुए मध्यमवर्ग के लोग सरकार के हिमायती बन जायँ; साम्प्रदायिक समस्या तो एक गौण बात थी, और वह भी मुख्य उद्देश को सिद्ध करने के अभिप्राय से ही इतने जोरो के साथ जाहिर की जाती थी । सर वेलेन्टाइन शिरोल ने लिखा है कि आगाखा ने उस वक्त के वाइसराय लार्ड मिन्टो को यह सुझाया था कि "बग-भग से पैदा होनेवाली राजनैतिक स्थिति के बारे मे मुसलमानो की क्या राय है ताकि जल्दबाजी मे हिन्दुओ को कही ऐसी राजनैतिक सुविधाये न दे दी जायँ जो हिन्दू बहुमत को प्रोत्साहन दे—जो बहुमत ब्रिटिश राज की दृढता और मुस्लिम अल्पमत के हितो के लिए, जिसकी राजभक्ति मे किसीको सदेह नही हो सकता था, समान रूप से खतरनाक था ।"

लेकिन ब्रिटिश सरकार की इन जाहिरा हिमायती ताकतो के सिवा और दूसरी तरह की शक्तियाँ भी काम कर रही थी । नया मुस्लिम मध्यमवर्ग मौजूदा परिस्थिति मे दिन-दिन लाजिमी तौर पर असतुष्ट होता जाता था और राष्ट्रीय आन्दोलन की तरफ खिचता जा रहा था । आगाखाँ को भी खुद ही इस ओर ध्यान देना पडा और उन्हे अग्रेजो को एक खास ढग की चेतावनी भी देनी पडी । जनवरी १९१४ (यूरोपीय महायुद्ध से बहुत पहले) के 'एडिनबरा रिव्यू' के अक मे उन्होने एक लेख लिखा, जिसमे सरकार को यह सलाह दी कि हिन्दू-मुसलमानो को लडाने की नीति का परित्याग कर दिया जाय और दोनो सम्प्रदायो के नरम खयाल के लोगो को एक झडे के नीचे इकट्ठा किया जाय, जिससे कि तरुण भारत की हिन्दू और मुसल-मान दोनो जातियो की शुद्ध राष्ट्रीय प्रवृत्तियो से टक्कर लेनेवाली एक शक्ति पैदा हो जाय । इसलिए यह साफ है कि आगाखाँ हिन्दुस्तान की राजनैतिक तबदीली को रोकने में जितनी ज्यादा दिलचस्पी रखते थे, मुसलमानो के साम्प्रदायिक हितो मे उतनी नही ।

लेकिन राष्ट्रीयता की ओर मध्यमवर्ग के मुसलमानो की अनिवार्य प्रगति को न तो आगाखाँ और न ब्रिटिश सरकार ही रोक सकते थे। ससारव्यापी महायुद्ध ने इस क्रिया को और भी तेज कर दिया और जैसे-जैसे नये-नये नेता पैदा होने लगे वैसे-ही-वैसे आगाखाँ का प्रभाव भी कम होता हुआ मालूम होने लगा। यहाँतक कि अलीगढ-कॉलेज का भी रुख बदल गया। नये नेताओ मे सबसे अधिक जोरदार अली-बन्धु निकले, ये दोनो ही उस कॉलेज से निकले हुए थे। डॉक्टर मुख्तारअहमद असारी, मौलाना अबुलकलाम आजाद आदि मध्यम-वर्ग के दूसरे कई नेता अब मुसलमानो के राजनैतिक मामलो मे महत्त्वपूर्ण भाग लेने लगे। इसी तरह लेकिन कुछ कम परिमाण मे मि० जिन्ना भी भाग लेते थे। गाधीजी ने इनमे से अधिकाश नेताओ (मि० जिन्ना को छोड़कर) और आम तौर से मुसलमानो को भी अपने असहयोग-आन्दोलन मे घसीट लिया, और १९१९-२३ के दिनो मे इन लोगो ने हमारी लडाई मे खासा प्रमुख भाग लिया।

इसके बाद प्रतिक्रिया शुरू हुई ओर हिन्दू और मुसलमान दोनो कौमो के साम्प्रदायिक और पिछडे हुए लोग, जो सार्वजनिक क्षेत्र से बरबस पीछे हट चुके थे, अब फिर आगे आने लगे। यह क्रिया धीमी तो थी, पर थी लगातार। हिन्दू-महासभा ने पहली ही बार कुछ ख्याति प्राप्त की, खासकर साम्प्रदायिक तनाव के कारण। मगर राजनैतिक दृष्टि से वह काग्रेस पर कुछ अधिक असर न डाल सकी। मुसलमानो की साम्प्रदायिक सस्थाये मुस्लिम जनता मे अपनी खोई हुई पुरानी प्रतिष्ठा को कुछ अश तक फिर प्राप्त करने मे अधिक सफल रही। फिर भी मुस्लिम नेताओ का एक जबरदस्त गिरोह सदा काँग्रेस के साथ रहा। उधर ब्रिटिश सरकार ने मुस्लिम साम्प्रदायिक नेताओ को, जो राजनैतिक दृष्टि से पूरे प्रतिक्रियावादी थे, प्रोत्साहन देने मे कोई कसर नही रक्खी। इन प्रतिक्रियावादियो की सफलता को देखकर हिन्दू-महासभा के मुँह मे भी पानी आ गया और उसने भी ब्रिटिश सरकार की कृपा प्राप्त करने की आशा से प्रतिक्रिया मे इनके साथ होड़ लगाना शुरू कर दिया। महासभा के उन्नतिशील विचारोवाले बहुतसे लोग या तो निकाल दिये गये या खुद ही निकल गये और मध्यमश्रेणी के उच्चवर्ग—विशेषकर महाजन और साहूकार—की ओर महासभा अधिकाधिक झुकने लगी।

दोनो ओर के साम्प्रदायिक राजनीतिज्ञ, जो निरन्तर कौंसिलो की सीटो के बारे मे बहस किया करते थे, केवल उसी कृपा का विचार करते रहते थे जो सरकारी क्षेत्रो मे प्रभाव होने से हासिल होती है। यह तो मध्यमवर्ग के पढे-लिखे लोगो के लिए नौकरियो की लडाई थी। यह स्पष्ट है कि नौकरियाँ इतनी तो हो ही नही सकती थी

जो सबको मिल जाती, इसलिए हिन्दू और मुसलमान सम्प्रदायवादी इन्हींके बारे मे लडते-झगडते थे। हिन्दू लोग अपने बचाव की फिक्र मे थे, क्योंकि ज्यादातर नौकरियाँ उन्हीने घेर रक्खी थी और मुसलमान लोग सदा "और-और" की रट लगाये रहते थे। इस नौकरियो की लडाई के पीछे एक और भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण कशमकश चल रही थी, जो ठेठ साम्प्रदायिक तो नही थी लेकिन जिसका असर साम्प्रदायिक समस्या पर पड जरूर रहा था। पजाब, सिन्ध और बगाल मे हिन्दू लोग सब तरह से ज्यादा मालदार, साहूकार और शहरी थे। इन प्रान्तो के मुसलमान गरीब, कर्जदार, और देहाती थे। इसलिए इन दोनो की टक्कर अक्सर आर्थिक होती थी, पर उसको हमेशा साम्प्रदायिक रग दे दिया जाता था। पिछले महीनो मे प्रान्तीय धारा-सभाओ मे पेश किये गये देहाती कर्ज के भार को घटानेवाले मुख्तलिफ बिलो पर, खासकर पजाब मे, जो बहसे हुई है उनसे यह बात बिलकुल साफ हो जाती है। हिन्दू-महासभा के प्रतिनिधियो ने इन युक्तियो का दृढता के साथ विरोध किया है और सदा साहूकार-वर्ग का साथ दिया है।

मुसलमानो की साम्प्रदायिकता पर हिन्दू-महासभा जब कभी आक्षेप करती है तो वह सदा अपनी निर्दोष राष्ट्रीयता का राग अलापती है। यह तो हरेक को जाहिर है कि मुस्लिम सस्थाओ ने अपना एक बिलकुल अजीब साम्प्रदायिक रूप प्रकट किया है। महासभा की साम्प्रदायिकता इतनी स्पष्ट नही है, क्योंकि वह राष्ट्रीयता का नकली चोगा पहने हुए फिरती है। परीक्षा का मौका तो तभी आता है जब राष्ट्रीय और सर्वसाधारण के हित का कोई ऐसा निर्णय होता हो, जिससे उच्च श्रेणी के हिन्दुओ का हित-विरोध होता हो और वह उसकी मुखालफत न करती हो। लेकिन जब कभी ऐसे मौके आये है, हिन्दू-महासभा इस परीक्षा मे बार-बार नाकामयाब रही है। अल्पमत के आर्थिक हितो के विचार से और बहुमत की उद्घोषित इच्छाओ के खिलाफ हिन्दुओ ने सिन्ध के पृथक्करण का हमेशा विरोध ही किया है।

लेकिन हिन्दू और मुसलमान दोनो ही दलो के सम्प्रदायवादियो द्वारा राष्ट्र-विरोधी प्रवृत्तियो की सबसे अजीब नुमाइश तो गोलमेज कान्फ्रेन्स मे हुई। ब्रिटिश-सरकार उसके लिए केवल ऐसे ही मुसलमानो को नामजद करने पर तुली हुई थी जो हर तरह सम्प्रदायवादी थे। और आगाखा के नेतृत्व मे तो ये लोग इतने नीचे उतर गये थे कि इग्लैण्ड के सार्वजनिक जीवन के सबसे अधिक प्रतिक्रियावादी और भारत ही नही बल्कि सभी उन्नतिशील सम्प्रदायो की दृष्टि से सबसे खतरनाक व्यक्तियो तक के साथ मिलने को उतारू हो गये थे। आगाखा और उनके गिरोह का लार्ड लायड और उनकी पार्टी के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध एक बड़ी असाधारण-सी बात थी। इतना ही

नही, इन लोगो ने गोलमेज परिषद मे गये हुए यूरोपियन असोसियेशन के प्रतिनिधियो तक से समझौता कर लिया था। यह बडे दुख और निराशा की बात थी, क्योकि यूरोपियन असोसियेशन भारत की स्वतन्त्रता का सबसे कट्टर और जोरदार विरोधी रहा है, और अब भी है।

हिन्दू-महासभा के प्रतिनिधियो ने इसका जवाब इस तरह से दिया कि उन्होने, खासकर पजाब के लिए, स्वतन्त्रता के मार्ग मे ऐसे-ऐसे प्रतिबन्ध मांगे जो अग्रेजो के हक मे सरक्षण थी। उन्होने ब्रिटिश सरकार के साथ सहयोग करने के प्रयत्नो मे मुसलमानो को भी मात देने की कोशिश की। इससे उनको मिला तो कुछ भी नही, उलटे अपने पक्ष को ही उन्होने नुकसान पहुँचाया और स्वतन्त्रता के पक्ष के साथ विश्वास-घात किया। मुसलमानो के बोलने के ढग मे कम-से-कम कुछ शान तो थी, लेकिन हिन्दू सम्प्रदायवादियो के पास तो यह भी न था।

मुझे तो यह बात मालूम पडती है कि दोनो तरफ के साम्प्रदायिक नेता एक छोटे-से उच्चवर्गीय प्रतिक्रियावादी गिरोह के प्रतिनिधि होने के सिवा और कुछ नही है। ये लोग जनता के धार्मिक जोश का अपने स्वार्थ-साधन के लिए दुरुपयोग करते है और उससे बेजा फायदा उठाते है। दोनो ओर आर्थिक प्रश्नो को टालने और दबाने की भरसक कोशिश की जाती है। वह वक्त जल्दी ही आनेवाला है, जबकि इन प्रश्नो को दबाया जा सकना असम्भव हो जायगा, और तब दोनो दलो के साम्प्रदायिक नेता निस्सदेह आगाखा की बीस बरस पहले की चेतावनी को दोहरायेंगे कि नरम विचारवालो को युग-परिवर्तनकारी प्रवृत्तियो के विरुद्ध मिलकर जिहाद बोल देना चाहिए। कुछ हद तक तो अब यह बात जाहिर हो ही चुकी है कि हिन्दू और मुसलमान सम्प्रदायवादी जनता के सामने एक-दूसरे को चाहे जितना बुरा-भला कहे, मगर असेम्बली और अन्य ऐसी ही जगहो मे सरकार को राष्ट्र-विरोधी कानून पास करने मे सहायता देने के लिए दोनो ही मिल जाते है। ओटावा एक ऐसा ही सूत्र था जिसने तीनो को एकसाथ ला मिलाया था।

साथ-ही-साथ, यह मजेदार बात भी ध्यान मे रखने की है कि आगाखाँ का अनुदार पार्टी के सबसे अधिक कट्टर पक्ष के साथ अभीतक घनिष्ठ सम्बन्ध चला आता है। १९३४ के अक्तूबर में आप ब्रिटिश नेवी लीग के सहभोज मे, जिसके सभापति लार्ड लायड थे, एक सम्मानित मेहमान की हैसियत से सम्मिलित हुए थे। वहाँ आपने लार्ड लायड के उन प्रस्तावो का हृदय से समर्थन किया था जो उन्होने ब्रिस्टल की कजरवेटिव कान्फ्रेन्स मे ब्रिटिश जहाजी बेडे की शक्ति को और अधिक मजबूत बनाने की दृष्टि से किये थे। इस तरह हिन्दुस्तान के एक नेता ब्रिटिश सत्ता की

रक्षा और इग्लैण्ड की हिफाजत के लिए इतने आतुर थे कि वह इग्लैण्ड की फौजी ताकत बढाने के काम मे मि० बाल्डविन या उनकी 'नेशनल' सरकार से भी आगे बढ़ जाने को तैयार थे। और निस्सन्देह यह सब किया जा रहा था शान्ति-रक्षा के नाम पर!

दूसरे ही महीने, यानी नवम्बर १९३४ मे, यह खबर लगी कि लन्दन मे, खानगी तौर पर, एक फिल्म दिखलाई गई है, जिसका उद्देश था मुसलमानो को अग्रेजी बादशाहत के साथ सदा के लिए मित्रता के सूत्र मे बाँध देना। हमको यह भी पता लगा कि इस अवसर पर आगाखा और लार्ड लायड सम्मानित मेहमान होकर पधारे थे। ऐसा मालूम पडता है कि शाही मामलो मे आगाखा और लार्ड लायड दोनो इस तरह एक जान दो कालिब है जैसे हमारे राष्ट्रीय राजनैतिक क्षेत्र मे सर तेजबहादुर सप्रू और मि० जयकर। यह बात भी गौर करने के काबिल है कि इन महीनो मे, जबकि ये दोनो एक-दूसरे मे इतनी अधिकता से घुल-मिल रहे थे, ठीक उसी वक्त लार्ड लायड नेशनल सरकार और उसके पक्ष के अनुदार नेताओ के विरुद्ध इसलिए एक अत्यत कटु और कठोर आक्रमण का नेतृत्व कर रहे थे कि उन्होने हिन्दुस्तान को बहुत अधिक अधिकार देने की कथित कमजोरी दिखलाई थी।[1]

इधर पिछले दिनो कुछ मुसलमान साम्प्रदायिक नेताओ के व्याख्यानो और वक्तव्यो मे एक मजेदार तबदीली हुई है। इसका कुछ वास्तविक महत्त्व नही है, लेकिन मुझे शक है कि और लोगो की शायद यह राय न हो। फिर भी, यह बात साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के रूप को प्रकट करती है और इसे प्रधानता भी खूब दी गई है। हिन्दुस्तान मे 'मुस्लिम राष्ट्र', 'मुस्लिम सस्कृति' और हिन्दू और मुस्लिम सस्कृतियो की घोर असम्बद्धता पर खूब ज़ोर दिया जा रहा है। इसका परिणाम लाजिमी तौर से यही निकलता है (हालाकि वह इतने खुले तौर पर नही रक्खा गया है) कि न्याय करने और दोनो सस्कृतियो में बीच-बचाव करने के लिए हिन्दुस्तान में अग्रेजो का अनन्तकाल तक बना रहना बहुत जरूरी है।

कुछेक हिन्दू साम्प्रदायिक नेता भी इसी विचार-धारा मे बह रहे है। फर्क सिर्फ इतना ही है कि उन्हे यह आशा है कि चूकि उनका बहुमत है इसलिए अन्त मे उन्हीकी 'सस्कृति' का बोलबाला होगा।

हिन्दू और मुस्लिम 'सस्कृतिया' और 'मुस्लिम राष्ट्र'—ये शब्द पुराने इतिहास तथा वर्तमान् और भविष्य की कल्पना के कैसे मनोमोहक दृश्य उपस्थित कर देते है!

१ अभी हाल ही में कुछ अंग्रेज़ लार्डों और भारतीय मुसलमानों ने एक कौंसिल बनाई है, जिसका उद्देश इन दोनों घोर प्रतिक्रियावादी दलों के सम्बन्ध को बढ़ाना और पुख्ता करना है।

हिन्दुस्तान मे मुस्लिम राष्ट्र—राष्ट्र के भीतर एक राष्ट्र, वह भी ठोस नही बल्कि डावाँडोल, बिखरा हुआ और अनिश्चित। राजनैतिक दृष्टि से यह विचार बिलकुल वाहियात है, आर्थिक दृष्टि से शेखचिल्लियाना है, यह तो ध्यान मे लाने लायक भी नही है। लेकिन फिर भी इसके पीछे जो मनोवृत्ति छिपी है, उसके जरिये थोड़ा-बहुत उसे समझने मे सहायता मिलती है।

मध्यवर्ती युग मे, और उसके बाद भी, ऐसी कई जुदी-जुदी और आपस मे न मिल सकनेवाली जातियाँ एकसाथ मिलकर रहती थी। टर्की के सुलतानो के आरम्भ-काल मे भी कुस्तुन्तुनिया मे ऐसी हरेक 'जाति'—लेटिन, ईसाई, कट्टर ईसाई, यहूदी वगैरा—अलग-अलग रहती थी और उनमे से कुछ तो स्वाधिकार भी रखती थी। यह उस देशेतर भावना का प्रारम्भ था जो, अबमे कुछ ही काल पहले, बहुत-से पूर्वी देशो का हौवा बन गई थी। इसलिए 'मुस्लिम राष्ट्र' की बात चलाने का अर्थ यह है कि राष्ट्र कोई चीज नही है, केवल एक धार्मिक सूत्र है। इसका अर्थ यह है कि किसी भी राष्ट्र (आधुनिक परिभाषा मे) को बढने न दिया जाय। दूसरा यह अर्थ है कि वर्तमान सभ्यता को धता बताई जाय और हम सब मध्यकाल के रस्म-रिवाज अख्त्यार करले। इसका मतलब है या तो तानाशाही सरकार, या विदेशी सरकार, अन्त मे मस्तिष्क की एक भावुक स्थिति और असलियतो से, खासकर आर्थिक असलियतो से, मुँह छिपाने की एक ज्ञात या अज्ञात इच्छा के सिवा इसका और कुछ अर्थ नही है। भाव-वृत्तियाँ कभी-कभी तर्क का भी तख्ता उलट देती है और हम उनको सिर्फ इस बिना पर दरगुजर नही कर सकते कि वे हमे इतनी तर्क रहित मालूम होती है। मगर यह मुस्लिम राष्ट्रवाली भावना कुछेक कल्पनाशील व्यक्तियो की केवल कल्पनामात्र है, और अगर अखबारो मे इसका इतना शोर न मचता तो शायद यह सुनने मे भी न आती। भले ही बहुत-से लोग इसमे विश्वास रखते हो, लेकिन फिर भी वास्तविकता का स्पर्श होते ही वह गायब हो जायगी।

हिन्दू और मुस्लिम 'सस्कृति' की भावना भी इसी किस्म की है। अब तो राष्ट्रीय भावनाओ का भी जमाना तेजी के साथ जा रहा है और सारा ससार एक सास्कृतिक इकाई बन रहा है। विभिन्न राष्ट्र बहुत दिनोतक अपनी-अपनी विशेषताओ, भाषा, रस्म-रिवाज, विचार-धारा आदि को चाहे न छोडे, और शायद बहुत कालतक छोडे भी नही, मगर मशीनो का युग और विज्ञान—जिसके उपकरण हवाई जहाज, अखबार, टेलीफोन, रेडियो, सिनेमा वगैरा है—इन विशेषताओ को अधिकाधिक एकरूप बना देगे। इस अवश्यम्भावी प्रवृत्ति का विरोध कोई नही कर सकता, और वर्तमान सभ्यता को नष्ट-भ्रष्ट कर देनेवाला ससार-व्यापी विप्लव ही

इसको रोक सकता है। हिन्दुओ और मुसलमानो के जीवन-सम्बन्धी परम्परागत विचारो मे जरूर काफी भारी मत-भेद है। पर अगर हम दोनो की तुलना वर्तमान युग के जीवन के वैज्ञानिक और औद्योगिक पहलू से करे, तो यह मत-भेद करीब-करीब लुप्त हो जाता है, क्योकि इस दृष्टि-कोण और जीवन के उपर्युक्त विचारो मे भी आकाश-पाताल का अन्तर है। हिन्दुस्तान मे इस समय असली झगड़ा हिन्दू-सस्कृति और मुस्लिम-सस्कृति का नही, बल्कि इन्ही जीवन के विचारादर्श तथा आधुनिक सभ्यता की विजयी वैज्ञानिक सस्कृति के बीच है। जो 'मुस्लिम-सस्कृति' की, जैसी जो कुछ भी वह हो, रक्षा करना चाहते है, उन्हे हिन्दू-सस्कृति से घबराने की जरूरत नही, लेकिन उन्हे पश्चिमी दैत्य का मुकाबिला करना चाहिए। व्यक्तिगत रूप से मुझे इसमे कुछ भी सन्देह नही मालूम होता है कि हिन्दुओ या मुसलमानो के, आधुनिक वैज्ञानिक और औद्योगिक सभ्यता का विरोध करने के, सब प्रयत्न पूरी तरह से निष्फल साबित होगे और इस निष्फलता को देखकर मुझे कुछ भी अफसोस न होगा। जिस समय रेल वगैरा ने हमारे यहाँ प्रवेश किया उसी समय हमने अज्ञात रूप से और खुद-ब-खुद इस बात को स्वीकार कर लिया था। सर सैयदअहमद ने भी अलीगढ-कॉलेज की स्थापना करके भारत के मुसलमानो के लिए जोरो से इसी मार्ग को चुन लिया था।

लेकिन जिस तरह डूबते हुए मनुष्य के लिए सिवाय ऐसी चीज को पकडने के और कोई चारा नही रह जाता जिससे उसकी जान बच जाय, उसी तरह असल मे हममे से किसीके लिए उसके सिवा और कोई मार्ग न था।

लेकिन यह 'मुस्लिम सस्कृति' आखिर चीज क्या है ? क्या यह अरबी, फारसी, तुर्की वगैरा के महान् कार्यों की कोई जातीय स्मृति है ? या भाषा है ? या कला और सगीत है ? या रस्मोरिवाज है ? मुझे याद नही पडता कि किसीने आधुनिक मुस्लिम कला या सगीत का जिक्र किया हो। हिन्दुस्तान मे मुस्लिम विचार-धारा पर अरबी और फारसी दो भाषाओ का, और खासकर फारसी का, प्रभाव पडा है। लेकिन फारसी के प्रभाव मे धर्म का कोई निशान नही है। फारसी भाषा, और बहुत-सी फारसी रीति-रस्म और परम्पराये हजारो वर्षो के समय मे हिन्दुस्तान मे आई और सारे उत्तरी हिन्दुस्तान पर इनका जोरदार असर पडा। फारस तो पूर्व का फ्रास था, जिसने अपनी भाषा और सस्कृति अपने पास-पडोस सब देशो मे फैलादी। यह हम सब भारतीयो की एक-समान और अनमोल विरासत है।

मुसल्मान जातियो और देशो के पुराने कारनामो का गर्व मुसलमानो को एक-साथ बाँधनेवाले सूत्रो मे शायद सबसे अधिक मजबूत सूत्र है। क्या किसीको इन

जातियो के गौरवपूर्ण इतिहास के कारण मुसलमानो से हसद है ? जबतक वे इसे याद करे और दिल से उसका पोषण करना चाहे तबतक इसे कोई भी उनसे छीन नही सकता। सच तो यह है कि यह पुराना इतिहास बहुत करके हम सभीके लिए समान रूप से गौरव की चीज है, क्योंकि शायद हम लोग एशिया-निवासी होने के कारण यह अनुभव करे कि योरप के आक्रमण के विरुद्ध हमको एकता के सूत्र मे बाँध देने-वाली यही चीज है। मै जानता हूँ कि जब कभी मैंने स्पेन मे या क्रूसेड[१] के वक्त मे अरब लोगो के साथ हुए झगडो का हाल पढा है तो मेरी हमदर्दी हमेशा अरबो के साथ रही है। मै निष्पक्ष और बेलौस होने की कोशिश करता हूँ पर मै चाहे जितनी कोशिश करूँ, फिर भी, जब कभी एशिया के निवासियों का प्रश्न आता है, तो मेरा एशियाईपन मेरी विचार-धारा पर प्रभाव डाले बिना नही रहता।

मैंने यह समझने की हरचन्द कोशिश की है कि आखिर यह 'मुस्लिम सस्कृति' है क्या चीज। लेकिन मुझे स्वीकार करना पडता है कि मैं इसमे सफल नही हुआ। मै देखता हूँ कि उत्तरी हिन्दुस्तान मे ऐसे मध्यम-वर्गी मुसलमानो और हिन्दुओ की एक नगण्य-सी सख्या है जिनपर फारसी भाषा और परम्पराओ की छाप पडी हुई है। और अगर सर्वसाधारण जनता के रहन-सहन को देखा जाय तो 'मुस्लिम-सस्कृति के सबसे अधिक स्पष्ट चिन्ह नजर आते है। एक खास तरह का पायजामा, न ज्यादा लम्बा न ज्यादा छोटा, डाढी का बढाया जाना और मूँछो के बनाने का एक खास तरीका, और एक खास तरह का टोटीदार लोटा। इस तरह से हिन्दुओ के भी इसी ढग के रस्मो-रिवाज है। धोती पहनना, चोटी रखना, और एक भिन्न प्रकार का लोटा रखना। सच तो यह है कि ये भिन्नताये भी ज्यादातर शहरी है और अब कम होती जा रही है। मुसलमान किसान और मजदूर और हिन्दू किसान और मजदूरो मे कोई भेद नही मालूम पडता। मुसलमानो के शिक्षितवर्ग मे डाढी के लिए बहुत कम प्रेम रह गया है, हालाकि अलीगढ मे लाल रग की तुर्रेदार तुर्की टोपी अब भी पसद की जाती है (यह तुर्की ही कहलाती है, हालाकि तुर्को ने इससे अब कुछ भी सम्बन्ध नही रक्खा है), मुसलमान स्त्रियाँ साडी को अपनाने लगी है और धीरे-धीरे परदे से भी बाहर निकल रही है। मेरी अपनी रुचि तो इनमे से कुछ तौर-तरीको को पसन्द नही करती और डाढी, मूछ या चोटी से मुझे कुछ भी प्रेम नही है, लेकिन मै अपनी रुचि-सम्बन्धी धारणाओ को दूसरो के गले नही मढना चाहता। हाँ, डाढियो के विषय मे मै यह

१. मुसलमानों से अपने धर्मस्थान वापस लेने के लिए ईसाई शक्तियों ने ग्यारहवीं सदी से तेरहवीं सदी तक उनपर जो फ़ौजी हमने किये थे, उन्हें क्रूसेड—धर्म-युद्ध—कहा जाता है।

मानता हूँ कि जब अमानुल्ला ने इनको एक सिरे से उडाना शुरू किया था तो मुझे बडी खुशी हुई थी।

मुझे यह कहना पडता है कि उन हिन्दुओ और मुसलमानो को देखकर मुझे बडी दया आती है जो हमेशा पुराने जमाने का रोना रोया करते है और उन चीजो को पकडने की कोशिश करते रहते है जो उनके हाथ से खिसकती जा रही है। मै प्राचीन काल की न तो निन्दा ही करना चाहता हूँ और न उसे बिलकुल छोड ही देना चाहता हूँ, क्योकि हमारे अतीत मे बहुत-सी ऐसी बाते है जो सुन्दरता मे अनुपम है। ये सदा रहेगी, इसमे मुझे सन्देह ही नही है। पर ये लोग इन सुन्दर वस्तुओ को तो नही पकडते, बल्कि .ऐसी चीजो को पकडने दौडते है जो अक्सर निकम्मी और हानिकर होती है।

पिछले कुछ वर्षो मे मुसलमानो को बार-बार हादसे पहुँचे है और उनके अनेक चिरपोषित विचार नष्ट-भ्रष्ट हो गये है। इस्लाम के बानी उस टर्की ने खिलाफत को ही खतम नही कर दिया जिसके लिए हिन्दुस्तानी लोग १९२० मे बडी बहादुरी से लडे थे, बल्कि वह तो मजहब से भी दूर-दूर कदम हटाता चला जा रहा है। टर्की के नये विधान मे एक धारा यह है कि टर्की मुस्लिम राज्य है, परन्तु कोई खाम-खयाली पैदा न हो जाय इसलिए कमालपाशा ने १९२७ मे कहा था—"विधान मे यह धारा कि टर्की एक मुस्लिम राज्य है केवल समझौते के तौर पर रखली गई है और पहला मौका मिलते ही निकाल दी जानेवाली है।" मुझे विश्वास है कि आगे चलकर उन्होने इस चेतावनी के अनुसार काम भी किया। मिश्र भी, बहुत अधिक सावधानी से ही सही, इसी मार्ग पर अग्रसर हो रहा है और अपनी राजनीति को मज़हब से बिलकुल अलग रक्खे हुए है। इसी तरह अरब के देश भी कर रहे है, सिवा ख़ास अरब के, जो बहुत पिछडा हुआ है। फारसवाले सांस्कृतिक स्फूर्ति के लिए अब पूर्व-मुस्लिम काल की याद कर रहे है। हर जगह मज़हब पीछे हटता जा रहा है और राष्ट्रीयता उग्र रूप मे प्रकट हो रही है। और इस राष्ट्रीयता के पीछे और भी कई 'वाद' है जो सामाजिक और आर्थिक दृष्टियो को लिये हुए है। इस 'मुस्लिम-राष्ट्र' और 'मुस्लिम-संस्कृति' का क्या होगा? भविष्य मे क्या वे सिर्फ अंग्रेजो के कृपा-शासन की छत्रछाया मे मस्त पडे हुए उत्तर-भारत मे ही मिलेगे?

उन्नति अगर इसी बात मे है कि हरेक व्यक्ति राजनीति के मूल आधार पर दृष्टि रक्खे तो यह कहना पडेगा कि हमारे सम्प्रदायवादियो का और हमारी सरकार का भी उद्देश, इरादतन और हमेशा, इससे उलटा यानी संकुचित दृष्टि से देखने का रहा है।

५७

दुर्गम घाटी

दुबारा गिरफ्तार होने और सजा पाने की सम्भावना हमेशा मेरे सामने बनी रहती थी। उस समय देश में आर्डिनेन्स वगैरा का दौर-दौरा था, और खुद कॉंग्रेस भी तब गैर-कानूनी जमात थी, इसलिए यह सम्भावना और भी ज्यादा थी। ब्रिटिश-सरकार ने जैसा रुख अख्त्यार कर रक्खा था और मेरा स्वभाव जैसा था उसको देखते हुए मुझपर प्रहार होना अनिवार्य मालूम होता था। हमेशा सिर पर सवार रहनेवाली इस सम्भावना का मेरी गति-विधि पर भी असर पड़े बिना न रहा। मै जमकर कोई काम नही कर सकता था और मुझे यह जल्दी रहती थी कि जितना कुछ हो सके कर डालूँ।

फिर भी, मेरी इच्छा गिरफ्तारी मोल लेने की नही थी और जहाँतक हो सकता था मै ऐसी कार्रवाइयो से बचता था जो मेरी गिरफ्तारियो का कारण बने। अपने प्रान्त मे और प्रान्त के बाहर भी, दौरा करने के लिए मेरे पास कितनी ही जगहो से निमन्त्रण आ रहे थे। मैने सबसे इन्कार कर दिया, क्योकि मै जानता था कि कोई भी व्याख्यानो का दौरा तूफानी हलचल के सिवा और कुछ नही हो सकता था, और वह सरकार द्वारा कभी भी यकायक बन्द कर दी जा सकती थी। उस समय मेरे लिए कोई बीच का मार्ग हो ही नही सकता था। जब कभी मै किसी दूसरे काम से किसी जगह जाता--जैसे गाधीजी या वर्किंग कमिटी के सदस्यो से सलाह-मशविरा करने के लिए—तो मै सार्वजनिक सभाओ मे भाषण देता और खूब खुलकर बोलता। जबलपुर मे एक बहुत बडी सभा हुई और बडा शानदार जुलूस निकाला गया, दिल्ली की सभा मे तो इस कदर भीड़ थी जितनी मैने पहले कभी वहाँ देखी ही नही। वास्तव मे इन सभाओ की सफलता से ही यह स्पष्ट हो चला था कि सरकार ऐसी सभाओ का बारबार होना कभी सहन नही करेगी। दिल्ली मे, सभा के बाद ही, बडे जोरो की अफवाह फैली कि मेरी गिरफ्तारी होनेवाली है, लेकिन मै बच गया और इलाहाबाद लौट आया। रास्ते मे मै अलीगढ ठहरा, जहाँ मैने मुस्लिम यूनिवर्सिटी के विद्यार्थियो के सामने एक भाषण दिया।

ऐसे समय मे, जब कि सरकार तमाम सक्रिय राजनैतिक कामो को दबाने का प्रयत्न कर रही थी, मुझे यह विचार बिलकुल पसन्द नही था कि राजनीति से इतर कार्यो मे भाग लिया जाय।

कॉंग्रेसवालो में मुझे एक जोरदार प्रवृत्ति यह नजर आई कि उग्र राजनैतिक कार्यो से बचकर ऐसे मामूली कामो मे पड जाना जो लाभकारी तो थे पर जिनका हमारे आन्दोलन से कोई सम्बन्ध नही था। यह प्रवृत्ति स्वाभाविक थी, पर मुझे ऐसा लगा कि उस समय इसको प्रोत्साहन नहीं दिया जाना चाहिए था।

अक्तूबर १९३३ के मध्य मे हमने इलाहाबाद मे, परिस्थिति पर विचार करने और आगे का कार्यक्रम निश्चत करने के लिए, युक्तप्रान्त के काग्रेसी कार्यकर्त्ताओ की मीटिंगे की। प्रान्तीय काग्रेस कमिटी एक गैर-कानूनी सस्था थी, और चूकि हमारा उद्देश कानून की अवज्ञा करने का नही बल्कि आपस मे मिलने का था, इसलिए हमने इस कमिटी को बाकायदा नहीं बुलाया। हमने उसके उन सब सदस्यो को, जो उस समय जेल से बाहर थे, और दूसरे चुने हुए कार्यकर्त्ताओ को खानगी तौर पर विचार-विनिमय की नीयत से बुलाया था। हमारी मीटिंगे खानगी तो होती थी, पर उनकी कार्रवाई को गुप्त रखने का प्रयत्न नही किया जाता था। इसलिए आखिरी दमतक हमे इस बात का पता नहीं लगता था कि सरकार हस्तक्षेप करेगी या नही। इन मीटिगो मे हम लोग ससार की स्थिति—घोर मन्दी, नाजीवाद, समाजवाद वगैरा पर बहुत ध्यान देते थे। हम चाहते थे कि हमारे साथी, बाहर जो कुछ हो रहा है उसकी दृष्टि से भारत के स्वतन्त्रता-आन्दोलन को देखे। इस कान्फ्रेन्स ने अन्त मे एक समाजवादी प्रस्ताव पास किया, जिसमे भारतवासियो के लक्ष्य का बयान और सविनय भग के बन्द किये जाने का विरोध किया गया था। इस बात को तो सब लोग अच्छी तरह जानते थे कि अब देश-व्यापी सविनय भग की कोई सम्भावना नही थी और व्यक्तिगत सविनय भग भी या तो शीघ्र ही खतम हो जानेवाला था या एक बहुत ही सकुचित रूप मे जारी रह सकता था। लेकिन उसके बन्द किये जाने से हमारी स्थिति मे कोई फर्क नही पडता था, क्योकि सरकार का हमला और आर्डिनेन्स का शासन तो बरकरार था। इसलिए बाकायदा सविनय भग जारी रखने का जो निश्चय हमने किया, वह कहने ही के लिए था। असल मे तो हमारे कार्यकर्त्ताओ को यह आदेश था कि जान-बूझकर व्यर्थ ही गिरफ्तार न हो। उनको हिदायत थी कि अपना काम हस्बमामूल करते रहे और अगर काम के दौरान मे गिरफ्तारी हो जाय तो उसे खुशी के साथ मजूर करले। उनसे खासकर यह कहा गया था कि देहात से अपना सम्बन्ध फिर स्थापित करे और यह जानने की कोशिश करे कि लगान मे छूट और सरकार की दमन-नीति इन दोनो के परिणामस्वरूप किसानो की क्या अवस्था है। उस वक्त लगानबन्दी के आन्दोलन का तो कोई प्रश्न ही न था। पूना-कान्फ्रेन्स के बाद ही वह तो नियमानुसार स्थगित किया जा चुका था

और यह साफ जाहिर था कि मौजूदा परिस्थिति मे उसे पुनर्जीवित नही किया जा सकता था।

यह कार्यक्रम बिलकुल नम्र और निर्दोष था और इसमे वस्तुत कोई गैरकानूनी बात नही थी, लेकिन फिर भी हम जानते थे कि इससे गिरफ्तारियाँ तो होगी ही। जैसे ही हमारे कार्यकर्ता गाँवो मे पहुँचते, वे गिरफ्तार कर लिये जाते और उनपर करबन्दी-आन्दोलन का प्रचार करने का, जोकि आर्डिनेन्स के मातहत एक जुर्म बना दिया गया था, बिलकुल झूठा जुर्म लगाया जाता और सजा देदी जाती। अपने बहुत-से साथियो की गिरफ्तारियो के बाद मेरा इरादा भी था कि मै इन देहाती क्षेत्रो मे जाऊँ। लेकिन कई और जरूरी कामो मे लग जाने के कारण मुझे अपना जाना स्थगित करना पडा, और बाद मे तो इसके लिए मौका ही न रहा।

इन महीनो मे वर्किंग कमिटी के सदस्य सारे देश की स्थिति पर विचार करने के लिए दो बार इकट्ठे हुए। कमिटी का खुद तो कोई अस्तित्व ही न था— इसलिए नही कि वह गैरकानूनी थी, लेकिन इसलिए कि पूना के बाद, गाधीजी के आदेश से, सारी कॉग्रेस कमिटियाँ और कॉग्रेस दफ्तर अस्थायी तौर पर बन्द कर दिये गये थे। मेरी स्थिति एक अजीब तरह की हो रही थी, क्योकि जेल से छूटकर आने पर मैने इस आत्म-घातक आर्डिनेन्स को स्वीकार करने से इन्कार किया और अपने-आपको काग्रेस का जनरल सेक्रेटरी कहने का आग्रह किया। लेकिन मेरा अस्तित्व भी शून्य मे था। उस समय न तो कोई ठीक दफ्तर था, न कोई कर्मचारी, न कोई स्थानापन्न सभापति, और गाधीजी यद्यपि सलाह-मशविरे के लिए मौजूद थे, पर वह भी इस बार हरिजन-कार्य के लिए अपने एक बडे भारी अखिल-भारतीय दौरे मे मशगूल थे। हमने उनको दौरे के बीच मे जबलपुर और दिल्ली मे पकड़ पाया और वर्किंग कमिटी के मेम्बरो के साथ सलाह-मशविरे किये। इन मशविरो ने यह काम किया कि भिन्न-भिन्न मेम्बरो के मतभेद को साफ तौर से सामने लाकर रख दिया। बस, यही गाड़ी अटक गई और कोई ऐसा रास्ता नही नजर आता था जो सबको पसन्द हो। दोनो पक्षो, सत्याग्रह जारी रखने और बन्द करनेवालो, के बीच गाधीजी ही ऐसे व्यक्ति थे जिनका निर्णय सर्वमान्य हो सकता था। और चूकि वह बन्द करने के पक्ष मे नही थे इसलिए जो रफ्तार चल रही थी वही चलती रही।

कॉग्रेस की ओर से लेजिस्लेटिव असेम्बली का चुनाव लड़ने के प्रश्न पर भी कॉग्रेस के लोग कभी-कभी विचार कर लेते थे, हालॉकि इस समय तक वर्किंग कमिटी के सदस्यो की इस तरफ कोई दिलचस्पी नही थी। यह प्रश्न अभी उठता ही नही था, इसके लिए अभी समय भी नही आया था। 'सुधार' कम-से-कम दो-तीन साल

तक असली सूरत मे आनेवाले नही थे और उस समय असेम्बली के नये चुनाव का कोई जिक्र ही न था। अपनी जाती राय मे तो मुझे चुनाव लडने मे सिद्धान्त-रूप से कोई आपत्ति नही थी और मुझे यह भी विश्वास था कि समय आने पर कॉग्रेस को इस मार्ग पर चलना ही पडेगा। लेकिन उस समय इस प्रश्न को उठाना हमारे ध्यान को दूसरी ओर फेर देना था। मुझे आशा थी कि आन्दोलन के जारी रहने से बहुत-से प्रश्न, जो हमारे सामने आ रहे थे, हल हो जायँगे और समझौते की प्रवृत्तिवाले लोग परिस्थिति पर हावी न हो सकेगे।

इस दर्मियान मै लगातार लेख और वक्तव्य अखबारो मे भेजता रहा। कुछ हद तक मुझे अपने लेखो को नरम करना पडता था, क्योंकि वे प्रकाशन की नीयत से लिखे जाते थे, और उस समय सेन्सर और दूसरे भाति-भाति के कानूनो का घातक जाल दूर तक फैला हुआ था। मै कुछ खतरा उठाने के लिए अगर तैयार भी हो जाता, तो भी मुद्रक, प्रकाशक और सम्पादक तो ऐसा करने के लिए तैयार नही थे। वैसे तो सब अखबार मेरी खातिर रखते थे और बहुत-सी बातो मे मेरे हक मे रिआयत भी कर जाते थे। लेकिन हमेशा नही। कभी-कभी वक्तव्य और लेखाश रोक दिये जाते थे, और एक बार तो एक लम्बा लेख, जिसको मैने बडी मेहनत से तैयार किया था, प्रकाशित ही न होने पाया। जनवरी १९३४ मे, जब मै कलकत्ते मे था, एक प्रमुख दैनिक के सम्पादक मुझसे मिलने आये। उन्होने मुझे बतलाया कि मेरा एक वक्तव्य कलकत्ते के तमाम समाचारपत्रो के सम्पादक-शिरोमणि के पास मशविरे के लिए भेज दिया गया था, और चूकि इस सम्पादक-शिरोमणि ने उसे नामजूर कर दिया, इसलिए वह प्रकाशित न हो सका। यह 'सम्पादक-शिरोमणि' और कोई नही थे सिवा कलकत्ते के सरकारी प्रेस-सेन्सर महोदय के।

अखबारो को दी गई कुछ मुलाकातो और वक्तव्यो मे मैने कई दलो और व्यक्तियो की बडी कडी आलोचना करने की धृष्ठता की थी। इससे लोग बहुत नाराज हुए। इस नाराजी का एक कारण था कांग्रेस की उलटकर जवाब न देने की वृत्ति—जिसके प्रसार मे गाधीजी का भी हाथ था। खुद गाधीजी ने इसका उदाहरण प्रस्तुत किया था और प्रमुख कांग्रेसियो ने भी कुछ घट-बढ मात्रा मे उनके मार्ग का अनुसरण किया, हालाँकि हमेशा ऐसा नही होता था। हम लोग अधिकतर अस्पष्ट और सद्भावनायुक्त वाक्यो का प्रयोग करते थे, जिससे हमारे आलोचको को गलत तर्क और समय-साधक चालो को काम मे लाने का मौका मिल जाता था। असली प्रश्नो को दोनो दल बचा जाते थे, और ईमानदारी के साथ जब-तब जोश-खरोश के साथ ऐसा वाद-विवाद शायद ही कभी होता जिसमे तनातनी और जोश-खरोश की

नौबत आय, जैसाकि उन देशो को छोडकर, जहाँकि फासिज्म का बोलबाला है, पश्चिम के दूसरे सब देशो में होता रहता है।

एक महिला मित्र ने, जिनकी राय की मैं कद्र करता था, मुझे लिखा कि मेरे कुछेक वक्तव्यो की तेजी पर उनको थोडा-सा आश्चर्य हुआ—इसलिए कि मैं करीब-करीब 'खिसियानी बिल्ली' बन गया था। क्या यह मेरी आशाओ पर 'पानी फिर जाने' का परिणाम था ? मुझे भी ताज्जुब हुआ। कुछ हद तक यह सही भी था, क्योकि राष्ट्रीयता की दृष्टि से हम सब टूटी हुई आशाओ को लिये बैठे है। व्यक्तिगतरूप से भी, कुछ हद तक, शायद यह बात ठीक रही हो। लेकिन फिर भी मुझे ऐसी किसी भावना का खयाल नही होता था, क्योकि खुद मुझे किसी तरह की भी पराजय या असफलता महसूस नही हो रही थी। जबसे गाधीजी मेरे राजनैतिक मानसपटल पर आये, मैने कम-से-कम एक बात उनसे सीखी। वह यह कि परिणामो के डर से अपने हृदयगत भावो को कभी न दबाया जाय। इस आदत ने—राजनैतिक क्षेत्र मे पालन किये जाने पर (दूसरे क्षेत्रो मे इसका पालन करना ज्यादा मुश्किल और खतरनाक हो जाना सम्भव है)—मुझे अक्सर कठिनाई मे डाल दिया है, लेकिन साथ ही मुझे बहुत-कुछ सतोष भी प्रदान किया है। मैं समझता हूँ, केवल इसी कारण हममे से बहुत-से लोग हृदय की कटुता और घोर पराजय के भावो से बरी रहे है। यह खयाल भी, कि लोगो की एक बहुत बडी तादाद किसी व्यक्ति के प्रति प्रेम-भाव रखती है, उस व्यक्ति के हृदय को बहुत सात्वना पहुँचाता है, और पस्तहिम्मती और पराजय की भावना के विष को दूर करनेवाली एक अमोघ औषधि का काम करता है। अकेला रह जाने या दूसरो से भुला दिये जाने का खयाल, मैं समझता हूँ, सब खयालो से ज्यादा असह्य है।

लेकिन इतने पर भी, इस विचित्र और दु खमय ससार मे मनुष्य पराजय की भावना से कैसे बच सकता है ? कितनी ही बार हरेक बात बिगडती हुई मालूम होती है और, यद्यपि हम आगे बढते जाते है फिर भी, जब हम अपने चारो ओर रहने-वाले लोगो को देखते है तो तरह-तरह की शकाये आ घेरती है। मुझे भय है, कि मुख़्तलिफ घटनाओ और परिवर्त्तनो, यहाँतक कि व्यक्तियो और दलो पर भी मुझे बार-बार गुस्सा और खीझ हो आती है। और पिछले कुछ दिनो से तो मैं ऐसे लोगो पर बहुत ज्यादा भिन्नाने लगा हूँ जो जीवन की समस्याओ पर सजीदगी से विचार नही करते, जिसके कारण वे महत्त्वपूर्ण प्रश्नो को भूल जाते है और उनका जिक्र करना भी बेजा समझते है, क्योकि इन प्रश्नो का असर उनके पैसो या उनकी चिरपोषित धारणाओ पर पडता है। लेकिन मैं समझता हूँ कि इस रोष, इस पराजय,

और इस खिसियाहट के बावजूद मैने अपनी और दूसरो की बेवकूफियो पर हँसने की अपनी सहज प्रवृत्ति को नही खोया है ।

परमात्मा की कृपालुता मे लोगो की जो श्रद्धा है उसपर मुझे कभी-कभी आश्चर्य होता है। किस प्रकार यह श्रद्धा चोट-पर-चोट खाकर भी जीवित है और किस तरह घोर विपत्ति और कृपालुता का उलटा सबूत भी इस श्रद्धा की दृढता की परीक्षाये मान ली जाती है। जेरार्ड हॉपकिन्स की ये सुन्दर पक्तियाँ अनेक हृदयो मे गूँजती है —

"सचमुच तू न्यायी है स्वामी, यदि मै करूँ विवाद,
किन्तु नाथ, मेरी भी है यह न्याय युक्त फरियाद।
फलते और फूलते है क्यो पापी करकर पाप ?
मुझे निराशा देते है क्यो सभी प्रयत्न-कलाप ?
हे प्रिय बन्धु ! साथ तू मेरे करता यदि रिपु का व्यवहार—
तो इससे क्या अधिक पराजय औ' बाधा का करता वार ?
अरे, उठाईगीर वहाँ वे मद्य और विषयो के दास,
भोग रहे वे पड़े मौज मे है जीवन के विभव-विलास !
और, यहाँ मै तेरी खातिर काट रहा हूँ जीवन नाथ !
हाँ, जो तेरे पथ पर स्वामी घोर निराशाओ के साथ।"[१]

विश्वास—उन्नति मे, शुभकार्यो मे, आदर्शों मे, मानवी सज्जनता मे और मानव भविष्य की उज्ज्वलता मे। क्या ये सब परमात्मा की श्रद्धा के साथ मिलते-जुलते नही है ? यदि हम इनको बुद्धि और तर्क से साबित करना चाहे तो तुरन्त हम कठिनाई मे पड जायँगे। पर हमारे अन्तस्तल मे कोई ऐसी वस्तु है, जो इस आशा, इस विश्वास से चिपटी हुई है, अन्यथा इनके बिना जीवन एक जलाशय-हीन मरुस्थल के समान हो जाय।

१ मूल अंग्रेजी पद्य इस प्रकार है :—

"Thou art indeed just, Lord, if I contend
With thee, but, sir, so what I plead is just
Why do sinners' ways prosper ? and why must
Disappointment all I endeavour end?
Wert thou my enemy, O thou my friend,
How wouldst thou worse, I wonder, than thou dost
Defeat, thwart me ? Oh, the sots and thralls of lust
Do in spare hours more thrive than I that spend,
Sir, life upon thy cause ."

मेरे समाजवादी प्रचार के प्रभाव ने वर्किंग कमिटी के कुछ सहयोगियों तक को घबरा दिया। वे लोग बिना शिकायत किये मेरे साथ काम करते रहते, जैसा कि पिछले कई वर्षों में इस प्रकार का प्रचार करते रहने पर भी अभीतक वे करते रहे थे, लेकिन अब तो ऐसा खयाल किया जाने लगा कि कुछ हद तक मैं स्थापित स्वार्थों को भडका रहा हूँ, और मेरी गति-विधि अहानिकर नहीं कही जा सकती थी। मैं जानता था कि मेरे कुछ सहयोगी समाजवादी नही है, लेकिन मैं यह हमेशा खयाल करता रहा कि कॉंग्रेस की कार्यकारिणी का सदस्य होने की हैसियत में मुझे, बिना कॉंग्रेस को जवाबदेह ठहराये, समाजवादी प्रचार करने की पूर्ण स्वतन्त्रता है। जब मैंने यह महसूस किया कि वर्किंग कमिटी के कुछ सदस्य मेरी इस स्वतन्त्रता को स्वीकार नहीं करते, तो मुझे बडा आश्चर्य हुआ। मैं उनको एक विकट परिस्थिति में डाल रहा था और इसपर उन्होंने अपनी नाराजगी जाहिर की। लेकिन मैं करता भी तो क्या? जिस चीज को मैं अपने कार्य का सबसे महत्त्वपूर्ण अग समझता था उसे छोड देने के लिए मैं कभी तैयार नही था। अगर दोनों मे झगडा होता तो मैं वर्किंग कमिटी से इस्तीफा दे देना इससे कही बेहतर समझता। लेकिन जब कि कमिटी गैरकानूनी थी, और उसका कोई अस्तित्व ही न था, तो मैं उससे इस्तीफा कैसे देता? (हस्ताक्षर)

यह कठिनाई कुछ दिन बाद एक बार फिर मेरे सामने आई। मेरा खयाल है, यह दिसम्बर के अन्त की बात है, जब गांधीजी ने मद्रास से मुझे एक पत्र भेजा था। उन्होंने मेरे पास 'मद्रास मेल' का एक कटिंग भेजा, जिसमे उनकी दी हुई एक इंटरव्यू का वर्णन था। इंटरव्यू करनेवाले ने उनसे मेरे विषय मे प्रश्न किये थे और उन्होंने जो उत्तर दिया था उसमें उन्होंने मेरे कार्य-कलापों पर कुछ खेद-सा प्रकट किया था और मेरे सुधर जाने की दृढ आशा प्रकट की थी, और यह भी कहा था कि मैं कॉंग्रेस को इन नवीन मार्गों मे नही घसीटूंगा। अपने बारे मे इस तरह का जिक्र मुझे कुछ अच्छा न लगा, लेकिन इससे ज्यादा जिस बात ने मुझे विचलित कर दिया वह थी—इसी इंटरव्यू मे आगे दी हुई—जमींदारी-प्रथा के लिए गांधीजी की वकालत। उनका यह विचार मालूम होता था कि देहाती और राष्ट्रीय व्यवस्था का यह एक बहुत जरूरी अंग है। इसने मुझे बहुत हैरत मे डाल दिया, क्योंकि बडी-बडी जमींदारियों या ताल्लुकेदारियों की वकालत करनेवाले आज बहुत कम मिलेंगे। सारे ससार मे ये प्रथायें नष्ट हो चुकी है और हिन्दुस्तान में भी बहुत-से लोग इस बात को महसूस करने लगे है कि इनका अन्त दूर नहीं है। खुद ताल्लुकेदार और जमींदार लोग भी इस प्रथा के अन्त का स्वागत करेंगे, बशर्ते कि इसके लिए उनको काफी मुआवजा मिल जाय।[१]

१. सर्व-बंगाल जमींदार कान्फरेन्स की स्वागत-कारिणी के सभापति श्री पी०

यह प्रथा तो दरअसल खुद ही अपने पापो के बोझ से डूबी जा रही है। लेकिन फिर भी गाधीजी इसके पक्ष मे थे और ट्रस्टीशिप इत्यादि की वाते करते थे। मैने फिर सोचा कि उनका दृष्टिकोण मेरे दृष्टिकोण से कितना भिन्न है, और मै ताज्जुब करने लगा कि भविष्य मे मै कहाँतक उनके साथ सहयोग कर सकूँगा। क्या मैं वर्किंग कमिटी का सदस्य बना रहूँ ? उस समय इस उलझन से निकलने का कोई रास्ता ही न था, और कुछ हफ्तो वाद तो, मेरे जेल चले जाने के कारण, यह प्रश्न अप्रासगिक ही हो गया।

घरेलू झगडो मे मेरा वहुत-सा समय खर्च हो जाता था। मेरी मा का स्वास्थ्य सुधर तो रहा था, मगर बहुत धीरे-धीरे। वह अभीतक रोगशय्या पर पडी थी, पर उनके जीवन का कोई खतरा नही मालूम होता था। मैने अब अपना ध्यान अपने आर्थिक मामलो की ओर फेरा, जिनकी इधर वहुत दिनो से परवा नही की गई थी और जो वडी गडवड मे पड गये थे। हम लोग अपने बूते से ज्यादा खर्च कर रहे थे और खर्च कम करने की जाहिरा तौर पर कोई तरकीब ही नजर नही आती थी। मुझे घर का खर्च चलाने की तो कोई खास फिक्र न थी। मैं तो करीव-करीब उस वक्त के इन्तजार मे था जब मेरे पास कुछ भी न बचता। वर्तमान ससार मे धन और सम्पत्ति बडी उपयोगी चीजे है, लेकिन जिस मनुष्य का उद्देश बहुत ऊँचा हो उसके लिए तो ये अक्सर भार-रूप बन जाती है। धनवान आदमियो के लिए ऐसे कामो मे हाथ डालना बहुत कठिन हो जाता है जिनमे कुछ खतरा हो, उनको सदा अपने धन-दौलत के चले जाने का भय रहता है। लेकिन धन-सम्पत्ति किस काम की, अगर सरकार अपनी मर्जी के मुताबिक उसपर अधिकार कर सकती हो या उसे जब्त कर सकती हो ? इसलिए जो थोडा-बहुत मेरे पास था उससे भी मै छुटकारा पाना चाहता था। हमारी आवश्यकताये बहुत थोडी थी और मुझे जरूरत के मुताबिक कमा लेने की अपनी शक्ति मे विश्वास था। मुझे सबसे वडी चिन्ता यह थी कि मेरी माताजी को उनके जीवन की इस साध्यवेला मे तकलीफ न उठानी पडे या उनके रहन-सहन के

एन० टैगोर ने, २३ दिसम्बर १९३४ को, अपने भाषण में कहा था—"जाती तौर पर मुझे उस दिन कोई अफसोस न होगा जिस दिन ज़मींदारों को पर्याप्त मुआवज़ा देकर उनकी ज़मीन का राष्ट्रीयकरण हो जायगा, जैसा कि आयर्लैंण्ड में किया गया है।" यह बात याद रखने की है कि दायमी-बन्दोबस्त (Permanent Settlement) के मातहत होने के कारण बगाल के ज़मींदार अस्थायी बन्दोबस्तवाली ज़मीनों के ज़मींदारों से ज्यादा आसूदा हैं। राष्ट्रीयकरण के बारे में श्री टैगोर के विचार अस्पष्ट मालूम होते हैं।

ढग मे कोई खास कमी न आने पावे। मुझे यह भी फिक्र थी कि मेरी लड़की की शिक्षा में कोई बाधा न पड़े, जिसके लिए मैं उसका योरप मे रहना आवश्यक समझता था। इन सबके अलावा मुझे या मेरी पत्नी को रुपये की कोई खास जरूरत नही थी। कम-से-कम हमारा खयाल ऐसा ही था, क्योंकि हमे कभी रुपये की सच्ची कमी का तजुर्बा नही हुआ था। मुझे यकीन है कि अगर कभी ऐसा समय आया जबकि हमे रुपये की कमी महसूस करनी पडी तो मुझे निश्चय है कि हमे दुःख ही होगा। एक खर्चीली आदत जिसका छोडना मेरे लिए मुश्किल होगा, वह है किताबे खरीदना।

उस वक्त की बिगडी हुई आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए हमने यह निश्चय किया कि मेरी पत्नी के जेवर, हमारी सोने-चाँदी की चीजे और छोटा-मोटा गाड़ियो सामान बेच दिया जाय। कमला को अपने जेवर बेचने का खयाल पसन्द नही आया, हालाँकि करीब १२ साल से उसने उन्हे नही पहना था और वे बैक मे पडे हुए थे। लेकिन वह किसी दिन उनको अपनी लडकी को देने का विचार करती थी।

१९३४ का जनवरी महीना था। इलाहाबाद जिले के गाँवो मे हमारे कार्य कर्त्ता कोई गैर कानूनी कार्रवाइयाँ नही कर रहे थे, फिर भी उनकी लगातार गिरफ्तारियाँ हो रही थी। इन गिरफ्तारियो का तकाजा था कि हम लोग उनका अनुकरण करे और उन गाँवो मे जायँ। युक्तप्रान्तीय कॉंग्रेस कमिटी के हमारे महान् प्रभावशाली मत्री रफीअहमद किदवाई भी गिरफ्तार हो चुके थे। २६ जनवरी का स्वतत्रता-दिवस नजदीक आ रहा था। उसे दरगुजर नही किया जा सकता था। १९३० से यह दिवस हर साल, देश के कोने-कोने मे, आर्डिनेसो और पाबन्दियो के बावजूद, नियमित रूप से मनाया जाता रहा था। लेकिन अब इसका अगुआ कौन बनता? किस तरह से इसे आगे बढाया जाता? मेरे सिवा आल इडिया कॉंग्रेस कमिटी के किसी पदाधिकारी का सिद्धान्त-रूप से कोई भी अस्तित्व न था। मैने कुछ मित्रो से सलाह की तो करीब-करीब सब इस बात पर सहमत हुए कि कुछ करना चाहिए, लेकिन यह 'कुछ' क्या होना चाहिए, इसपर कोई राय कायम न हो सकी। मुझे आम तौर पर लोगो मे ऐसे कामो से दूर रहने की प्रवृत्ति नजर आई कि जिनके फलस्वरूप बहुत-से लोग पकडे जा सकते थे। आखिरकार मैने स्वतत्रता-दिवस को उचित प्रकार से मनाने की एक छोटी-सी अपील निकाली, पर उसे मनाने का ढग हर जगह के स्थानीय लोगो के निश्चय पर छोड दिया। इलाहाबाद मे हमने सारे जिले मे काफी विस्तार के साथ मनाने की योजना तैयार की।

हमारा खयाल था कि इस स्वतत्रता-दिवस के सयोजक उसी दिन गिरफ्तार हो जायँगे। लेकिन मै दुबारा जेल जाने से पहले बगाल का एक दौरा करना चाहता था।

इसका कुछ-कुछ उद्देश्य तो पुराने साथियो से मिलना था, पर असल मे यह बगालियो के प्रति, उनकी गत वर्षो की असाधारण मुसीबतो के लिए, श्रद्धाञ्जलि थी। मै भलीभाति जानता था कि मै उनकी कुछ भी सहायता नही कर सकता था। सहानुभूति और भाईचारा किसी मर्ज की दवा नही थे, मगर फिर भी इनका स्वागत ही किया गया होता—और खासकर बगाल तो उस समय एक जुदापन-सा महसूस कर रहा था और इस बात से दु खी हो रहा था कि जरूरत के वक्त बाकी हिन्दुस्तान ने उसे छोड दिया। यह भावना न्यायोचित तो नही थी, पर फिर भी यह थी।

मुझे कमला के साथ कलकत्ता इसलिए भी जाना था कि अपने डाक्टरो से उसकी बीमारी के बारे मे सलाह लूँ। उसका स्वास्थ्य बहुत गिर गया था, पर हम दोनो ने कुछ हदतक इसे दरगुजर करने की और ऐसे इलाज को टालने की कोशिश की, जिसके कारण हमको कलकत्ते मे या किसी और जगह बहुत दिनो तक ठहरना पड़ता। जेल से मेरे बाहर रहने के थोडे समय मे हम दोनो यथासभव एकसाथ ही रहना चाहते थे। मैने सोचा कि जब मै जेल चला जाऊँगा तो इसको डाक्टरो और इलाज के लिए चाहे जितना समय मिल जायगा। अब चूँकि गिरफ्तारी नजदीक नजर आ रही थी, इसलिए मैने इरादा किया कि यह सलाह-मशविरा कलकत्ते मे कम-से-कम मेरी मौजूदगी मे हो जाय, बाकी बाते तो बाद मे भी तय की जा सकती थी।

इसलिए हम दोनो ने—कमला ने और मैने—१५ जनवरी को कलकत्ते जाने का निश्चय कर लिया। स्वतत्रता-दिवस की सभाओ से हम पहले ही लौट आना चाहते थे।

५८

भूकम्प

१५ जनवरी १९३४ का तीसरा पहर था। इलाहाबाद मे अपने मकान के बरामदे मे खडा किसानो के एक गिरोह को मै कुछ बाते बतला रहा था। माघ मेला आरम्भ हो गया था और सारे दिन हमारे यहाँ मिलने-जुलनेवालो का ताँता लगा रहता था। यकायक मेरे पैर लडखडाने लगे ओर सम्हलना मुश्किल हो गया। मैने पास के एक खम्भे का सहारा ले लिया। दरवाजो के किवाड भडभडाने लगे और बराबर के स्वराज-भवन से, जिसके खपरे छत मे नीचे खिसक रहे थे, एक गड़गडाहट की आवाज आने लगी। मुझे भूकम्पो का कुछ अनुभव नही था। इसलिए पहले तो मै यह न समझ सका कि क्या हो रहा है, लेकिन मैने जल्दी ही महसूस कर लिया। इस अनोखे अनुभव से मुझे कुछ विनोद और दिलचस्पी हुई। मैने किसानो से बातचीत जारी रक्खी और उन्हे भूचालो के बारे मे बतलाने लगा। मेरी बूढी चाची ने कुछ दूर से चिल्लाकर मुझसे मकान के बाहर दौड आने के लिए कहा। यह विचार मुझे बिलकुल बेहूदा मालूम हुआ। मैने भूकम्प को कोई गभीर बात नही समझा, और कुछ भी हो, मै ऊपर की मजिल मे अपनी माता को खाट पर पडी हुई, और वही अपनी पत्नी को, जो शायद सामान बाँध रही थी, छोड जाने और अपनी रक्षा का इन्तजाम करने के लिए कभी तैयार न था। ऐसा अनुभव हुआ कि भूचाल के धक्के काफी देर तक जारी रहे और बाद मे बन्द हो गये। उन्होने चन्द मिनटो की बात-चीत के लिए मसाला पैदा कर दिया और लोग उन्हे जल्दी ही करीब-करीब भूल-से गये। उस वक्त हम नही जानते थे, और न इसका अन्दाज ही कर सकते थे, कि ये दो-तीन मिनट बिहार और अन्य स्थानो के लाखो आदमियो के लिए कितने घातक साबित हुए होगे।

उसी शाम को कमला और मै कलकत्ते के लिए रवाना हो गये और हम, बिलकुल बेखबर, अपनी गाडी मे बैठे हुए उसी रात को भूकम्प-प्रदेश के दक्षिण हिस्से मे होकर गुजरे। अगले दिन भी कलकत्ते में भूकम्प-जनित घोर अनर्थ के बारे में कोई खबर नही थी। दूसरे दिन इधर-उधर से समाचार आने शुरू हुए। तीसरे दिन हमको इस वज्रपात का कुछ-कुछ आभास मिलने लगा।

हम अपने कलकत्ते के प्रोग्राम में लग गये। अनेक डाक्टरो से बारबार मिलना पडा और अन्त मे यह निश्चित हुआ कि एक-दो महीने बाद कमला फिर कलकत्ते

आकर इलाज कराये। इसके अलावा बहुत-से मित्र और सहयोगी भी थे जिनसे हम बहुत अर्से से नही मिले थे। चारो तरफ दमन के कारण लोगो के दिलो मे जो डर बैठ गया था उसका, जबतक मैं वहा रहा, मुझे काफी अनुभव हुआ। लोग किसी तरह का भी काम करने से डरते थे, कि कही उनपर आफत न आ जाय, वे बहुत आफते झेल चुके थे। अखबार भी, वहाँ के, अन्य प्रान्तो के अखबारो से अधिक फूक-फूककर पैर रखते थे। भविष्य के कार्य के विषय मे भी वैसी ही शका और उलझनें थी, जैसी हिन्दुस्तान के अन्य भागो मे। वास्तव मे यह शका ही थी, भय उतना नही, जो सब प्रकार के प्रभावोत्पादक राजनैतिक कार्यो मे बाधा डाल रही थी। फासिस्ट प्रवृत्तियाँ बहुत जोरो से उदय हो रही थी, और सोशलिस्ट और कम्यूनिस्ट प्रवृत्तियाँ कुछ-कुछ ऐसे अस्पष्ट रूप मे और आपस मे इतनी घुली-मिली-सी सामने आ रही थी कि इन गिरोहो मे भेद-निर्णय करना कठिन था। आतकवादी आन्दोलन के बारे मे, जिसपर सरकारी हलको का बहुत ज्यादा ध्यान खिचा हुआ था और जिसके सम्बन्ध मे उसकी ओर से खूब विज्ञापन किया जा रहा था, ज्यादा पता लगाने की न तो मुझे फुरसत थी और न कोई मौका ही। जहातक मुझे मालूम हुआ, इसमे कोई राजनैतिक महत्ता नही रह गई थी और न आतकवादी दल के पुराने सदस्यो की इसमे कुछ श्रद्धा थी। उनकी विचार-धारा ही बदल गई थी। सरकारी कार्रवाई के विरुद्ध उत्पन्न रोष ने कुछ इक्के-दुक्के व्यक्तियो का सयम छुडा दिया था और उससे बदला लेने के लिए उकसा दिया था। दरअसल दोनो तरफ बदला लेने का यह भाव बहुत प्रबल मालूम होता था। व्यक्तिगत आतकवादियो की तरफ से तो यह काफी स्पष्ट था। सरकार की तरफ से भी यही रुख ज्यादातर प्रकट हो रहा था कि कभी-कभी, बदला ले-लेकर, लडाई जारी रक्खी जाय, बजाय इसके कि शान्ति के साथ समाज के लिए एक अनिष्टकर घटना का मुकाबिला करके उसे रोका जाय। आतकवादी कार्यो से साबका पडने पर कोई भी सरकार उनका मुकाबिला किये बिना और उनको दबाने की कोशिश किये बिना नही रह सकती। लेकिन शान्ति और गभीरता के साथ नियत्रण करना सरकार के लिए अधिक गौरव की बात है, बनिस्बत ऐसे अतिरजित अनाचारो के जो अपराधियो और निरपराधो पर अन्धाधुन्धी से किये जायँ—खासकर निरपराधो पर, क्योकि इनकी संख्या जरूर ही बहुत ज्यादा होती है। शायद ऐसे खतरे के समय मे गभीर और धीर रहना आसान नही है। आतकवादी घटनाये बहुत कम होती जा रही थी, लेकिन उनकी सम्भावना सदा बनी रहती थी, और यह बात उन लोगो के धैर्य्य को डावाडोल करने के लिए काफी थी जिनपर व्यवस्था का भार था। यह बिलकुल स्पष्ट है कि ये घटनाये खुद कोई बीमारी नही है, बल्कि बीमारी का एक लक्षण

है। जो रोग है उसका इलाज न करके लक्षणो का उपचार करना बिलकुल बेकार है।

मेरा विश्वास है कि बहुत-से नवयुवक और नवयुवतिया, जिनका आतकवादियो से सम्बन्ध माना जाता है, दरअसल गुप्त कार्य की मोहकता से आकर्षित हो जाते है। साहसी नवयुवको का गुप्तमत्रणा और खतरे की तरफ हमेशा झुकाव हो जाता है, उनकी इच्छा जानकार बनने की रहती है, वे पता लगाना चाहते है कि यह सब हल्ला-गुल्ला किसलिए है और इन मामलो की तह मे कौन-कौन लोग है। दुनिया मे कुछ अद्भुत और साहसपूर्ण कार्य कर दिखाने की महत्त्वाकाक्षा का यह तकाजा है। इन लोगो की कुछ करने-धरने की इच्छा नही होती—आतकवादी कार्य करने की तो किसी हालत मे भी नही,—लेकिन इनका उन लोगो से, जिनपर पुलिस की सन्देह-दृष्टि है, सिर्फ मिलना-जुलना ही इनको भी पुलिस का सन्देह-भाजन बना देने के लिए काफी होता है। अगर इनकी किस्मत मे कुछ ज्यादा बुराई न लिखी हो तो भी इस बात की तो सम्भावना रहती ही है कि ये लोग बहुत जल्दी नजरबन्दो की जमात मे या नजरबन्दों की किसी जेल मे धर दिये जायँ।

न्याय और व्यवस्था भारत मे ब्रिटिश-राज्य की गौरव-पूर्ण सफलताओ मे गिने जाते है। मै खुद भी सहज-स्वभाव से उनका समर्थक हूँ। मुझे जीवन मे अनुशासन पसद है और अराजकता, अशान्ति और ढीला-ढालापन नापसद। लेकिन कटु अनुभव ने ऐसे न्याय और व्यवस्था की उपयोगिता के विषय मे मेरे हृदय मे शका पैदा करदी है जिनको राज्य और सरकारे किसी राष्ट्र पर जबरन लाद देती है। कभी कभी उनके लिए आवश्यकता से अधिक मूल्य चुकाना पडता है, और न्याय तो केवल प्रबल राजनैतिक दल की इच्छा होती है और व्यवस्था एक सर्वव्यापी आतक का प्रतिबिम्ब। कभी-कभी तो, जो चीज न्याय और व्यवस्था कही जाती है, दरअसल, उसे न्याय और व्यवस्था का अभाव कहना अधिक उपयुक्त मालूम होता है। कोई सफलता, जो चारो ओर छाये हुए आतक पर निर्भर रहती है, कभी वाञ्छनीय नही हो सकती, और ऐसी 'व्यवस्था' जिसका आधार राज्य का बल-प्रयोग हो और जो इसके बिना जीवित ही न रह सके, अधिकतर फौजी शासन के समान है, कानूनी शासन नही। कल्हण कवि के हजार वर्ष पुराने 'राजतरगिणी' नामक कश्मीर के ऐतिहासिक महाकाव्य मे न्याय और व्यवस्था के लिए जो शब्द बारबार प्रयुक्त हुए है और जिनकी स्थापना शासक और राज्य का कर्त्तव्य था, वे है 'धर्म' और 'अभय'। न्याय सिर्फ कानून से कुछ बेहतर चीज थी और व्यवस्था लोगो की निर्भयता थी। निर्भयता सिखलाने की यह भावना सशकित जनता को जबरन व्यवस्था का पाठ पढाने से कितनी अधिक वाञ्छनीय है!

हम साढे तीन दिन कलकत्ता ठहरे और इस अर्से मे मैंने तीन सार्वजनिक सभाओ मे भाषण दिये। जैसा कि मैंने पहले कलकत्ते मे किया था, मैंने (इस बार भी) आतकवादी कार्यो की निन्दा की और उनकी हानियाँ बतलाई, और इसके बाद मैं उन तरीको पर भी बोला जो सरकार ने बगाल मे अख्त्यार किये थे। मैं काफी जोश के साथ बोला, क्योकि इस प्रान्त की घटनाओ के विवरणो से मैं बहुत अधीर हो गया था। जिस बात ने मुझे सबसे अधिक चोट पहुँचाई वह था वह तरीका जिसके जरिये सारी जनता का अन्धाधुन्ध दमन कर मानव-सम्मान पर बलात्कार किया गया था। इस मानवता के प्रश्न के आगे राजनैतिक प्रश्न ने, अत्यन्त आवश्यक होते हुए भी, गौण स्थान प्राप्त कर लिया था। बाद मे, कलकत्ते मे मुझपर जो मुकदमा चला उसमे मेरे यही तीनो भाषण मेरे विरुद्ध तीन आरोप बनाये गये और मेरी यह पिछली सजा इन्हीका परिणाम है।

कलकत्ता से हम कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर से भेंट करने के लिए शान्ति-निकेतन पहुँचे। कवि से मिलना हमेशा आनन्ददायक था। इतने नजदीक आकर हम उनसे बिना मिले कैसे जा सकते थे? मैं तो पहले दो बार शान्ति-निकेतन हो आया था, लेकिन कमला का यह पहली बार आना था, और वह इस स्थान को देखने के लिए खास तौर पर आई थी, क्योकि हम अपनी लड़की को वहाँ भेजना चाहते थे। इन्दिरा कुछ ही दिनो बाद मैट्रिक्युलेशन की परीक्षा देनेवाली थी और उसकी आगे की शिक्षा का प्रश्न हमे परेशान कर रहा था। मै इसके बिलकुल खिलाफ था कि वह सरकारी या नीम-सरकारी यूनिवर्सिटियो मे दाखिल हो, क्योकि मै उन्हे नापसन्द करता था। इनके चारो ओर का वातावरण सरकारी, गलाघोटू और हुकूमतपरस्ती का होता है। बेशक, इनमे से पहले भी ऊँचे दर्जे के पुरुष और स्त्रियाँ निकली है और आगे भी निकलते रहेगे। पर ये थोडे-से अपवाद यूनिवर्सिटियो को, नौजवानो की उदात्त प्रवृत्तियो को दबाने और मृतप्राय बनाने के आरोप से नही बचा सकते। शान्ति-निकेतन ही एक ऐसी जगह थी जहाँ इस घातक वातवरण से बचा जा सकता था। इसलिए हमने वही उसे भेजने का निश्चय किया, हालाकि कुछ बातो मे वह अन्य यूनिवर्सिटियो की मानिन्द बिलकुल अप-टू डेट' और सब तरह के सामानो से पूर्ण नही थी।

लौटते हुए, हम राजेन्द्र बाबू के साथ भूकम्प-पीडितो की सहायता के प्रश्न पर विचार करने के लिए पटना ठहरे। जेल से छूटकर वह अभी आये ही थे और लाजिमी तौर पर उन्होने पीडितो की सहायता के गैर-सरकारी काम मे सबसे आगे कदम रक्खा। हमारा वहाँ पहुँचना बिलकुल अकस्मात् ही हुआ, क्योकि हमारा कोई भी तार

उन्हे नही मिला था। कमला के भाई के जिस मकान मे हम ठहरना चाहते थे वह टूटा-फूटा पडा था, पहले वह ईंटो की एक वडी भारी दुमंजिला इमारत थी। इसलिए और बहुत-से लोगो की तरह हम भी खुले मे ही ठहरे।

दूसरे दिन मैं मुजफ्फरपुर गया। भूकम्प हुए पूरे सात दिन हो चुके थे, पर अभीतक, सिवाय कुछ वडे रास्तो के, कही भी मलवा उठाने के लिए कुछ भी नही किया गया था। इन रास्तो को साफ करते वक्त बहुत-सी लाशे निकली थी। इनमे कुछ तो विचित्र भाव-प्रदर्शक अवस्थाओ मे थी, जैसे किसी गिरती हुई दीवार या छत मे बचने की कोशिश कर रही हो। इमारतो के खडहरो का दृश्य बडा मार्मिक और रोमाचकारी था। जो लोग बच गये थे, वे अपने दिल दहलानेवाले अनुभवो के कारण बिलकुल घबराये हुए और भयभीत हो रहे थे।

इलाहाबाद लौटते ही धन और सामान इकट्ठा करने के काम का फौरन प्रबन्ध किया गया और सब लोग, जो कॉंग्रेस मे थे वे भी और जो नही थे वे भी, मुस्तैदी के साथ इसमे जुट गये। मेरे कुछ सहयोगियो की यह राय हुई कि भूकम्प के कारण स्वतन्त्रता-दिवस के जलसे रोक दिये जायँ। लेकिन दूसरे साथियो को, और मुझे भी, कोई कारण नही नजर आता था कि भूकप से भी हमारे प्रोग्राम मे क्यो खलल पड़े? बहुत-से लोगो का खयाल था कि शायद पुलिस दस्तन्दाजी और गिरफ्तारियाँ कर बैठे और उसकी तरफ से कुछ मामूली दस्तन्दाजी हुई भी। मगर मीटिंग कर चुकने के बाद जब हम लोग बच गये तो हमें बहुत ताज्जुब हुआ। हमारे यहाँ के कुछ गाँवो मे और कुछ दूसरे शहरो में गिरफ्तारियाँ की गई।

बिहार से लौटने के कुछ ही दिन बाद मैंने भूकम्प के सम्बन्ध मे एक वक्तव्य निकाला, जिसके अन्त मे धन के लिए अपील की गई थी। इस वक्तव्य मे मैंने बिहार-सरकार की उस अकर्मण्यता की आलोचना की, जो भूकम्प के बाद शुरू के कुछ दिनो तक उसने बताई थी। मेरा इरादा भूकम्प-ग्रसित इलाको के अफसरो की आलोचना करने का नही था, क्योकि उनको तो एक ऐसी महाकठिन परिस्थिति का सामना करना पडा था जिससे वडे-से-बडे दिलेरो के भी दिल हिल जाते। और मुझे इसका अफसोस हुआ कि मेरे कुछ शब्दो से ऐसा आशय निकाला जा सकता था। लेकिन मैंने यह तो जरूर बडे जोरो से महसूस किया कि शुरू मे बिहार-सरकार के प्रमुख अधिकारियोने कुछ ज्यादा कारगुजारी नही दिखलाई, खासकर मलबा हटाने मे, जिससे बहुत-सी जाने बच जाती। खाली मुगेर शहर में ही हजारो की जाने गई, और तीन हफ्ते बाद भी मैंने देखा कि मलबे का पहाड-का-पहाड ज्यो-का-त्यो पडा था, हालाकि कुछ ही मील दूर जमालपुर मे हजारो रेलवे-कर्मचारी बसे हुए थे, जिनको भूकम्प

के पीछे कुछ ही घण्टो मे इस काम मे लगाया जा सकता था। भूकम्प के बारह दिन बाद तक भी जिन्दा आदमी खोदकर निकाले गये थे। सरकार ने सम्पत्ति की रक्षा का तो फौरन इन्तजाम कर दिया था, लेकिन जो लोग दब गये थे उनकी जान बचाने मे उसने तत्परता नही दिखाई। इन इलाको मे म्यूनिसिपैलिटियां तो रही ही नही थी।

मै समझता हूँ कि मेरी आलोचना न्यायोचित थी और बाद मे मुझे पता लगा कि भूकम्प-ग्रसित इलाको के ज्यादातर लोग मुझसे सहमत थे। लेकिन न्यायोचित हो या न हो, वह सच्चे हृदय से की गई थी, और सरकार पर दोषारोपण करने की नीयत से नही बल्कि उसको तेजी से काम करने के लिए प्रेरित करने की नीयत से की गई थी। इस बारे मे किसीने भी सरकार पर यह दोष नही लगाया कि उसने जान-बूझकर कोई गलत कार्रवाई की या कोई कार्रवाई करने मे आनाकानी की। यह तो एक अजीब और पस्तहिम्मत कर देनेवाली परिस्थिति थी और इसमे होनेवाली भूले क्षम्य थी। जहाँतक मुझे मालूम है (क्योकि मै जेल मे हूँ), बिहार सरकार ने बाद मे भूकम्प से हुई क्षति को पूरा करने के लिए बडी तेजी और मुस्तैदी से काम किया।

लेकिन मेरी आलोचना से लोग नाराज हुए, और तुरन्त कुछ ही दिनो बाद बिहार के कुछ लोगो ने मेरी आलोचना के तुर्की-ब-तुर्की जवाब के तौर पर सरकार की प्रशसा करते हुए एक वक्तव्य प्रकाशित किया। भूकम्प और उससे सम्बन्ध रखनेवाले सरकारी कर्त्तव्य करीब-करीब दूसरे दर्जे की बात बना दी गई। यह बात ज्यादा महत्त्वपूर्ण थी कि सरकार की आलोचना की गई है, इसलिए राजभक्त रिआया को उसके पक्ष का समर्थन करना ही चाहिए।

हिन्दुस्तान में फैले हुए उस रवैये का यह एक मजेदार नमूना था जो सरकार की आलोचना को—पश्चिमी देशो मे जो एक बहुत मामूली चीज समझी जाती है—पसन्द नही करता। यह फौजी मनोवृत्ति है जो आलोचना को सहन नही कर सकती। सम्राट् की तरह भारत की ब्रिटिश सरकार और उसके ऊँचे हाकिम-हुक्काम, कोई गलती नही कर सकते। ऐसी किसी बात का इशारा भी करना घोर राजद्रोह है।

इसमे विचित्रता यह है कि शासन मे असफलता और अयोग्यता का आरोप बहुत ज्यादा बुरा खयाल किया जाता है, बनिस्बत कठोर शासन या निर्दयता का दोष लगाने के। निर्दयता का दोष लगानेवाला, बहुत मुमकिन है, जेल मे डाल दिया जाय, मगर सरकार इसकी आदी हो गई है और असल मे इसकी परवा भी नही करती।

आखिर, एक तरह से, प्रभुता-प्राप्त जाति के लिए यह करीब-करीब एक वाहवाही की बात समझी जा सकती है। लेकिन नालायक और कमजोर कहा जाना उनके आत्म-सम्मान की जड पर कुठाराघात करता है; इससे हिन्दुस्तान के अंग्रेज हाकिमों की अपने-आपको उद्धारक समझने की धारणा पर प्रहार होता है। ये लोग उस अंग्रेज पादरी की तरह हैं जो ईसाई-धर्म के विरुद्ध आचरण के आरोप को तो चुपचाप बरदाश्त करने के लिए तैयार था लेकिन अगर उसे कोई बेवकूफ या नालायक कहे तो वह गुस्सा होकर मारने को दौडता था।

अंग्रेज लोगो में एक आम विश्वास फैला हुआ है, जो अक्सर इस तरह बयान किया जाता है मानो कोई अकाट्य सिद्धान्त हो, कि अगर हिन्दुस्तान के शासन मे कोई ऐसी तबदीली हो जाय जिससे ब्रिटिश-प्रभाव कम हो जाय या निकल जाय, तो यहाँ का शासन और भी ज्यादा खराब और निकम्मा हो जायगा। इस विश्वास को रखते हुए भी, लेकिन अपने जोश में उदारता का भाव रखनेवाले, उग्रमतवादी और उन्नतिशील विचारोंवाले अंग्रेज यह कहते हैं कि सु-राज स्व-राज का स्थानापन्न नही हो सकता, और अगर हिन्दुस्तानी लोग गड्ढे में गिरना ही चाहते हैं तो उनको गिरने दिया जाय। मै नही जानता कि ब्रिटिश-प्रभाव के निकल जाने पर हिन्दुस्तान की क्या हालत होगी। यह बात इसपर बहुत कुछ निर्भर है कि अंग्रेज लोग किस तरह से निकलकर जायँ और उस समय भारत में किसका अधिकार हो, इसके अलावा, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय कई विचारणीय बाते और भी है।

हाँ, अंग्रेजो की सहायता से स्थापित ऐसी अवस्था की भी मैं अच्छी तरह कल्पना कर सकता हूँ जो वर्तमान मे सम्भव होनेवाली किसी हालत से कही बदतर और ज्यादा निकम्मी होगी, क्योंकि उसमें मौजूदा प्रणाली के दोष तो सब होगे और गुण एक भी नही। इससे भी ज्यादा आसानी से मै उस दूसरी अवस्था की कल्पना कर सकता हूँ जो, भारतवासियों के दृष्टिकोण से, किसी भी ऐसी अवस्था से अधिक योग्य और लाभकारी होगी जिसकी हमे आज मिलने की सम्भावना हो सकती है। यह मुमकिन है कि राज्य की बल-प्रयोग करने की शक्ति इतनी कारआमद न हो और शासन-विधान इतना भडकदार न हो, लेकिन पैदावार, खपत और जनता के शारीरिक, आध्यात्मिक और सास्कृतिक आदर्श को ऊँचा उठानेवाले कार्य अधिक योग्यता से होगे। मेरा विश्वास है कि स्वराज किसी भी देश के लिए लाभकारी है। लेकिन मैं स्वराज तक को वास्तविक सु-राज देकर लेने के लिए तैयार नही हूँ। स्वराज अपने-आपको न्यायोचित तभी कह सकता है जब उसका ध्येय वास्तव मे जनता के लिए सु-राज हो। चूंकि मेरा विश्वास है कि भारत मे ब्रिटिश सरकार,

भूतकाल मे उसका दावा चाहे जो कुछ रहा हो, आज जनता के लिए सु-राज या उन्नत आदर्श प्रदान करने के बिलकुल अयोग्य है, इसलिए मै महसूस करता हूँ कि भारत मे उसकी उपयोगिता जो कुछ भी थी वह नष्ट हो चुकी है। भारत की स्वतत्रता का सच्चा औचित्य इसीमे है कि उसे सु-राज मिले, उसकी जनता की स्थिति ऊँची हो, उसकी औद्योगिक और सास्कृतिक प्रगति हो और भय और दमन का वह वातावरण दूर हो जाय जो विदेशी साम्राज्यवादी शासन का अनिवार्य परिणाम होता है। ब्रिटिश सरकार और इडियन सिविल सर्विस भारत मे मनमानी करने की ताकत भले ही रखते हो, पर वे भारत के तात्कालिक प्रश्नो को हल करने के बिलकुल अयोग्य और निकम्मे है। भविष्य के प्रश्नो के लिए तो और भी कम। क्योकि इनके मूल सिद्धान्त और धारणाये बिलकुल गलत है और वास्तविकता से उनका सम्बन्ध टूट चुका है। कोई सरकार या शासक-वर्ग जो पूर्णतया योग्य नही है या जो पतनशील व्यवस्था का प्रतिनिधि है, ज्यादा दिनोतक मनमानी नही कर सकता।

इलाहाबाद की भूकम्प-सहायता कमिटी ने मुझे भूकम्प-पीडित इलाको मे जाने के लिए और वहाँ भूकम्प-पीडितो की सहायता के लिए जो ढग अख्त्यार किया गया था उसकी रिपोर्ट देने के लिए नियुक्त किया। मै फौरन अकेला ही चल पडा और दस दिन तक उन फटे हुए और नष्ट-भ्रष्ट इलाको मे घूमा।

इस दौरे मे बडा श्रम करना पडा और इन दिनो मुझे सोने को बहुत कम मिला। सुबह के पाँच बजे से लगभग आधी रात तक हम लोग चलते ही रहते थे—कभी दरारोवाली टूटी-फूटी सडको पर मोटर मे जा रहे है, तो कभी छोटी-छोटी डोगियो के द्वारा ऐसे स्थानो मे उतर रहे है जहाँ पुल गिर पडे थे या जहाँ ज़मीन की सतह मे फर्क आने से सडके पानी मे डूब गई थी। शहरो मे ढेर-के-ढेर खडहरो और टूटी हुई, या मानो किसी देव के द्वारा मरोडी हुई, या दोनो ओर के मकानो की कुर्सी से ऊपर उठी हुई, सडको का दृश्य बडा हृदय-स्पर्शी था। इन सडको की बडी-बडी दरारो मे से पानी और बालू-रेत ने फूट फूटकर मनुष्यो और जानवरो को बहा दिया था। इन शहरो से भी ज्यादा उत्तर बिहार के मैदानो पर—जिनको बिहार का बाग कहा जाता था—उजाड़ और विनाश की छाप लगी हुई थी। मीलो तक फैली हुई बालू-रेत, पानी के बड़े-बडे तालाब और विशालकाय दरारे और असंख्य छोटे-छोटे ज्वालामुखी के-से मुँह थे जिनमे से यह बालू-रेत और पानी निकले थे। इस इलाके के ऊपर हवाई जहाज मे बैठकर उड़नेवाले कुछ अग्रेज अफसरो ने कहा था, कि यह कुछ-कुछ लडाई के जमाने के और उसके कुछ बाद के उत्तरी फ्रान्स के युद्ध-क्षेत्र से मिलता-जुलता था।

यह एक बडा भयानक अनुभव हुआ होगा। भूकम्प जोरदार, इधर-उधर दोनों ओर की गति से, शुरू हुआ, जिसमे खडे हुए मनुष्य गिर पडे। इसके बाद ऊपर-नीचे की गतियाँ हुई और एक ऐसी गडगडाहट करती और गूँजती हुई भयकर आवाज हुई जैसे तोपे चल रही हो या आकाश मे सैकडो हवाई जहाज उड रहे हो। अगणित स्थानो पर बडी-बडी दरारो और गड्ढो मे से पानी फूट निकला और उसकी धारे दस-बारह फुट तक ऊँची उछली। यह सब शायद तीन या चार मिनट रहा होगा, मगर ये तीन मिनट ही महाभयकर थे। जिन लोगो ने इन घटनाओं को होते हुए देखा, आश्चर्य नही यदि उन्हे यह कल्पना हुई हो कि दुनिया का अन्त आ गया। शहरो मे मकानो के गिरने का शोर था, पानी बडी जोर से बहकर आ रहा था और सारे वायुमण्डल मे धूल भर गई थी, जिससे कुछ ही गज आगे की चीजे भी नजर नही आती थी। देहातो मे इतनी धूल नही थी और दूर तक दिखलाई देता था, लेकिन वहाँ कोई शान्ति से देखनेवाले ही नही थे। जो लोग जिन्दा बचे वे भयकर त्रास के कारण जमीन पर लेट गये या इधर-उधर लुढकने लगे।

मेरे खयाल से, मुजफ्फरपुर मे एक बारह बरस का लडका भूकम्प के दस दिन बाद खोदकर जीवित निकाला गया। वह बडा चकित था। टूट-टूटकर गिरने-वाले ईट-चूने ने जब उसे धराशायी करके दबा लिया तो उसने कल्पना की कि प्रलय हो गया है और अकेला वही जीवित बचा है।

मुजफ्फरपुर मे ही ऐन भूकम्प के मौके पर, जबकि मकानात गिर रहे थे और चारो तरफ सैकड़ो आदमी मर रहे थे, एक बच्ची पैदा हुई। उसके अनुभव-हीन माता-पिता को यह न सूझा कि क्या करना चाहिए और पागल-से हो गये। मगर मैंने सुना कि माता और बच्चा दोनो की जाने बच गई और वे मजे मे थे। भूकम्प की यादगार मे बच्ची का नाम 'कम्पोदेवी' रक्खा गया।

हमारे दौरे का आखिरी शहर मुगेर था। हम लोग बहुत घूम चुके थे और करीब-करीब नेपाल की सीमा तक पहुँच गये थे और हमने अनेक हृदय-विदारक दृश्य देखे थे। हम लोग एक बडे भारी पैमाने पर खडहर और विध्वस देखने के आदी हो गये थे। लेकिन फिर भी जब हमने मुगेर को और इस धन-सम्पन्न नगर की अत्यन्त विनाश-पूर्ण अवस्था को देखा तो उसकी भयकरता से हमारा दम फूलने लगा और हमे कँपकँपी आने लगी। मै उस महाभयकर दृश्य को कभी नही भूल सकता।

भूकम्प के तमाम इलाकों मे, क्या शहरो और क्या देहातों मे, वहाँ के निवासियो मे स्वावलम्बन का बडा शोचनीय अभाव नजर आया। शायद शहरो के मध्यम वर्ग में इसका सबसे अधिक अभाव था। वे लोग इस इन्तजार मे थे कि कोई सरकारी

या गैरसरकारी भूकम्प-सहायक समिति आकर काम करे और उन्हे सहायता दे। जो दूसरे लोग सेवा करने को आगे आये, उन्होने समझा कि काम करने का अर्थ है लोगो पर हुक्म चलाना। यह निस्सहायता की भावना कुछ तो निस्सदेह भूकम्प के आतक से पैदा हुई मानसिक दुर्बलता के कारण थी और वह धीरे-धीरे ही कम हुई होगी।

बिहार के दूसरे हिस्सों और दूसरे प्रान्तो से बडी सख्या मे आनेवाले मददगारो का जोश और उनकी कार्यशक्ति इसकी तुलना मे एक बिलकुल अलग ही चीज नजर आती थी। इन नवयुवको और नवयुवतियो की, मुस्तैदी के साथ सेवा करने की भावना को देखकर चकित होना पडता था। और हालाँकि अनेक भिन्न-भिन्न सहायक-सस्थाये काम कर रही थी, फिर भी इनमे आपस मे बहुत कुछ सहयोग था।

मुगेर मे खोदने और मलबा हटाने की स्वावलम्बी भावना को बढाने के लिए मैने नाटक-सा किया। इसे करने मे मुझे कुछ हिचकिचाहट तो हुई, पर इसका परिणाम बडा सफलतापूर्ण निकला। सहायक सस्थाओ के तमाम नेता टोकरियाँ और फावडे लेलेकर निकले और इन्होने दिनभर खुदाई की और हमने एक लडकी की लाश बाहर निकाली। मै तो उसी दिन मुगेर से चला आया, लेकिन खुदाई का काम जारी रहा और बहुत-से स्थानीय व्यक्तियो ने उसे बडी सफलता पूर्वक किया।

जितनी गैर-सरकारी सहायक सस्थाये थी उन सबमे सेन्ट्रल रिलीफ कमिटी, जिसके अध्यक्ष बाबू राजेन्द्रप्रसाद थे, सबसे अधिक महत्वपूर्ण थी। यह सर्वथा कॉग्रेसी सस्था नही थी। शीघ्र ही यह बढकर भिन्न-भिन्न दलो और दानदाताओ के प्रतिनिधि-स्वरूप एक अखिल भारतीय सस्था बन गई। इससे सबसे बडा लाभ यह था कि देहातो की कॉंग्रेस कमिटियो की सहायता इसे मिल सकती थी। गुजरात और युक्त-प्रान्त के कुछ जिलो को छोडकर कही के कॉंग्रेसी कार्यकर्त्ता किसानो के इतने अधिक सम्पर्क मे नही थे जितने यहाँ के। दरअसल ये कार्यकर्त्ता खुद ही किसान-वर्ग के थे। बिहार भारत का सबसे मुख्य कृषक-प्रदेश है और उसके मध्यमवर्ग तक का किसानो से घनिष्ठ सबन्ध है। कभी-कभी, जब मै कॉंग्रेस के मत्री की हैसियत से बिहार-प्रान्तीय कॉंग्रेस कमिटी के दफ्तर का निरीक्षण करने जाता था तो मुझे नजर आनेवाले निकम्मेपन और दफ्तर के काम मे ढीलम-ढाल की मै बडे कडे शब्दो मे आलोचना किया करता था। वहाँ खडे रहने के बजाय बैठ जाने की और बैठने की अपेक्षा लेट जाने की प्रवृत्ति थी। दफ्तर भी मेरे अबतक देखे हुए तमाम दफ्तरो मे सबसे अधिक साधनहीन था, क्योकि वे लोग दफ्तर के लिए मामूली तौर पर जरूरी लवाजमे के बिना ही काम चलाने की कोशिश करते थे। लेकिन दफ्तर की आलोचना के बावजूद, मै खूब अच्छी तरह जानता था कि कॉंग्रेस के लिहाज से यह प्रान्त देश के सबसे

ज्यादा उत्साही और लगन के साथ काम करनेवाले प्रान्तो मे से था। यहाँ की कॉंग्रेस मे ऊपरी तडक-भडक नही थी, पर सारा कृषक-वर्ग सामूहिक रूप से उसके पीछे था। आल-इडिया कॉंग्रेस कमिटी मे भी बिहार के प्रतिनिधियो ने शायद ही कभी किसी मामले मे उग्र रुख अख्तियार किया हो। वे तो अपने-आपको वहाँ देखकर कुछ ताज्जुब-सा करते थे। लेकिन सविनय-भग के दोनो आन्दोलनो मे बिहार ने बडे ऊँचे दर्जे का नमूना पेश किया। यहाँतक कि बाद के व्यक्तिगत सविनय-भग के आन्दोलन मे भी उसने अच्छा काम कर दिखलाया।

रिलीफ कमिटी ने किसानो तक पहुँचने के लिए इस सुन्दर सगठन से लाभ उठाया। देहात मे कोई भी साधन, यहाँतक कि सरकार भी, इतने उपयोगी नही हो सकते थे। और रिलीफ कमिटी और बिहार कॉंग्रेस कमिटी दोनो के प्रधान थे राजेन्द्र बाबू, जो निर्विवाद रूप से सारे बिहार के नेता थे। देखने मे एक किसान के समान, बिहार-देश के सच्चे सुपुत्र राजेन्द्र बाबू का व्यक्तित्व, जबतक कि कोई उनकी तेज और निष्कपट आँखो और गम्भीर मुख-मुद्रा पर गौर न करे, शुरू-शुरू मे देखने पर कुछ प्रभावशाली नही मालूम पडता। वह मुद्रा और वे ऑखे भुलाई नही जा सकती, क्योकि उनमे होकर सचाई आपकी ओर झाँकती है और उनपर आप सदेह कर ही नही सकते। किसान-स्वभाव होने के कारण उनका दृष्टिकोण शायद जरा सीमित है और नई रोशनी की दृष्टि से देखने पर कुछ सीधे-सादे दीखते हैं। पर उनकी ज्वलत योग्यता, उनकी शुद्ध निष्कपटता, उनकी शक्ति, और भारत की स्वतन्त्रता के लिए उनकी लगन, ये ऐसे गुण है जिन्होने उनको अपने ही प्रान्त का नही बल्कि सारे भारत का प्रेम-पात्र बना दिया है। जैसी सर्वमान्य नेतृत्व की स्थिति राजेन्द्र बाबू को बिहार मे प्राप्त है वैसी भारत के किसी भी प्रान्त मे किसी भी व्यक्ति को प्राप्त नही। उनके सिवा, गाधीजी के वास्तविक सदेश को इतनी पूर्णता से अपनानेवाले, कोई हो भी, तो विरले ही होगे।

यह बडे सद्भाग्य की बात थी कि राजेन्द्र बाबू जैसे व्यक्ति बिहार मे सहायता के कार्य का नेतृत्व करने के लिए मौजूद थे, और उनमे लोगो की जो श्रद्धा थी उसीका यह परिणाम था कि सारे भारत से विपुल धन-राशि खिची चली आई। स्वास्थ्य खराब होने पर भी वह सहायता के कार्य मे पिल पडे। वह अपनी शक्ति से अधिक काम करने लगे, क्योकि वह सारी कार्रवाइयो का केन्द्र बन गये थे और सलाह के लिए सब उन्हीके पास आते थे।

जिस समय मै भूकम्प के इलाको मे दौरा कर रहा था, या शायद वहाँ आने से पहले, मुझे गाधीजी का यह वक्तव्य पढकर बडी चोट लगी कि यह भूकम्प अस्पृश्यता

के पाप का दड था। यह वक्तव्य बडी हैरत मे डालनेवाला था। मैंने रवीन्द्रनाथ ठाकुर के उत्तर का स्वागत किया और मैं उससे पूर्णतया सहमत भी था। वैज्ञानिक दृष्टिकोण का इससे अधिक विरोध करनेवाली किसी और चीज की कल्पना करना कठिन है। कदाचित् विज्ञान भी आज प्रकृति पर चित्तवृत्तियो और मनोवैज्ञानिक घटनाओ के प्रभाव के विषय मे इस तरह सर्वथा निश्चयात्मक रूप से कोई बात नही कह सकेगा। मानसिक चोट के परिणामस्वरूप किसी व्यक्ति को अजीर्ण या इससे भी अधिक और कोई खराबी का हो सकना भले ही सम्भव हो, लेकिन यह कहना कि किसी मानवी रिवाज या कर्तव्य-हीनता की प्रतिक्रिया पृथ्वी-तल की गति पर पड़े, एक हैरत मे डाल देनेवाली बात है। पाप और ईश्वरीय कोप का विचार और ब्रह्माण्ड की घटनाओ मे मनुष्य की सापेक्ष स्थिति, ये ऐसी बाते है जो हमको कई सौ वर्ष पीछे ले जाती है, जबकि योरप मे धार्मिक अत्याचारो का बोलबाला था, जिसने वैज्ञानिक कुफ्र के कारण गियोडीनो ब्रूनो को जलवा डाला तथा कितनी ही डाकिनियो को सूली पर चढा दिया। अठारहवी सदी मे भी, अमेरिका मे बोस्टन के प्रमुख पादरियो ने मैसाचुसेट्स के भूकम्पो का कारण बिजली गिरने से रोकने के लिए लगाये गये खम्भो की अपवित्रता बतलाया था।

और अगर भूकम्प पापो का दैवी दड भी हो, तो भी हम यह कैसे मालूम करे कि हमको कौन से पाप का दड मिल रहा है? क्योकि दुर्भाग्यवश हमे तो बहुतसे पापो का फल भोगना है। हरेक व्यक्ति अपनी-अपनी पसद का कारण बता सकता है। शायद हम लोगो को एक विदेशी राज सत्ता कबूल करने का या एक अनुचित सामाजिक प्रणाली को सहन करने का दड मिला हो। आर्थिक दृष्टि से दरभगा महाराज, जो बड़ी लम्बी-चौड़ी जागीरो के मालिक है, भूकम्प के कारण सबसे अधिक नुकसान उठानेवालो मे से थे। इसलिए हम ऐसा भी कह सकते है कि यह जमीदारी प्रथा के विरुद्ध फैसला है। ऐसा कहना ज्यादा ठीक होगा, बनिस्बत यह कहने के कि बिहार के करीब-करीब निरपराध निवासी, दक्षिण भारत के लोगो के अस्पृश्यता के पाप के बदले मे त्रस्त किये गये। भूकम्प खुद अस्पृश्यता के देश मे ही क्यो नही आया? या ब्रिटिश सरकार भी तो इस विपत्ति को सविनय-भग के लिए दैवी दड कह सकती है, क्योकि, यदि वास्तव मे देखा जाय तो, उत्तरी बिहार ने, जिसको भूकम्प के कारण सबसे अधिक नुकसान पहुँचा, आजादी की लड़ाई मे बडा प्रमुख भाग लिया था।

इस तरह हम अनन्त कल्पनाये कर सकते है। और फिर यह प्रश्न भी तो उठता है, कि हम लोग परमात्मा की दैवी आज्ञाओ के प्रभाव को अपने मानवी प्रयत्नो से कम करने की कोशिश करके उसके कार्यो मे क्यो हस्तक्षेप करे? और हमे इसपर

भी ताज्जुब होता है कि ईश्वर ने हमारे साथ ऐसी निर्दयतापूर्ण दिल्लगी क्यो की—कि, पहले तो हमको त्रुटियो से पूर्ण बनाया, हमारे चारो ओर जाल और गड्ढे बिछा दिये, हमारे लिए एक कठोर और दु खपूर्ण ससार की रचना कर दी, चीता भी बनाया और भेड भी, और फिर हमको सजा भी देता है।

"जब तारो ने अपनी झिलमिल किरणे डाली जगती पर,
और गगन-मडल से उतरी बूदे रिमझिम धरती पर,
देख-देख कृति अपनी कैसे स्मिति ओठो पर ला सकता!
मेष-वत्स रचनेवाला क्या भीषण सिह बना सकता ?"[१]

पटना ठहरने की आखिरी रात को मैं बडी रात तक बहुतसे मित्रो और सहयोगियो से बाते करता रहा, जो जुदा-जुदा प्रान्तो से सहायता-कार्य मे अपनी सेवाये देने के लिए आये थे। युक्तप्रान्त का अच्छा प्रतिनिधित्व था और हमारे कई चुनीदा कार्यकर्त्ता वहाँ थे। हम इस प्रश्न पर विचार कर रहे थे, जो हमे बडा हैरान कर रहा था, कि हम लोग किस हद तक अपने-आपको भूकम्प-पीड़ितो की सहायता के काम मे लगावे ? इसका अर्थ यह था कि उस हद तक हम अपनेको राजनैतिक कार्य से अलग हटा रहे थे। सहायता का काम बडा कठिन था और ऐसा हम कर नही सकते थे कि जब-जब हमे फुरसत मिले तब तो उसे करे और फुरसत न हो तो न करे। इसमे लग जाने से क्रियात्मक राजनैतिक क्षेत्र से बहुत दिनो तक गैरहाजिर रहने की सभावना थी और राजनैतिक दृष्टि से हमारे प्रान्त पर इसका प्रभाव बुरा पडे बिना नही रह सकता था। यद्यपि काग्रेस मे बहुत-से लोग थे, फिर भी करने—धरनेवालो की सख्या तो परिमित ही थी और उनको छुट्टी नही दी जा सकती थी। इधर भूकम्प के तकाजे की भी अवहेलना नही की जा सकती थी। अपनी ओर से तो मेरा खाली सहायता के ही काम मे लग जाने का इरादा न था। मैंने महसूस किया कि इस कार्य के लिए लोगो की कमी न होगी, अलबत्ता अधिक खतरे के कामो को करनेवाले लोग बहुत थोडे थे।

इसलिए हम बहुत रात तक बातचीत करते रहे। हमने पिछले स्वतत्रता-दिवस पर भी विचार किया कि किस प्रकार हमारे कुछ सहयोगी तो उस मौके पर गिरफ्तार कर लिये गये थे पर हम लोग बच गये थे। मैंने मजाक मे उन लोगो से कहा कि

१. मूल अंग्रेज़ी पद्य इस प्रकार है :—

"When the stars threw down their spears
And water'd heaven with their tears,
Dare he laugh his work to see ?
Dare he who made the lamb make thee ?"

मुझे तो पूरी सुरक्षा के साथ उग्र राजनैतिक कार्य करने के रहस्य का पता लग गया है।

मै ११ फरवरी को, दौरे के कारण बिलकुल थका-मादा, इलाहाबाद मे अपने घर पहुँचा। कडी मेहनत के दस दिनो ने मेरी शारीरिक अवस्था बडी भयानक बनादी थी और मेरे कुटुम्ब के लोग मेरी शकल देखकर चकित हो गये। मैने इलाहाबाद रिलीफ कमिटी के लिए अपने दौरे की रिपोर्ट लिखना शुरू किया, लेकिन नीद ने मुझे आ घेरा। अगले २४ घटो मे से मैने कम-से-कम १२ घटे नीद मे बिताये।

दूसरे दिन, शाम के वक्त, कमला और मै चाय पीकर बैठे थे और पुरुषोतमदास टडन हमारे पास आये ही थे। हम लोग बरामदे में खडे हुए थे। इतने मे एक मोटर आई और पुलिस का एक अफसर उसमे से उतरा। मै फौरन समझ गया कि मेरा वक्त आ गया है। मैने उसके पास जाकर कहा—"बहुत दिनो से आपका इतजार था।" वह जरा माफी-सी माँगने लगा और कहने लगा कि कुसूर उसका नही है। वारट कलकत्ता से आया था।

मै पाच महीने और तेरह दिन बाहर रहा। और अब मै फिर तखलिया और तनहाई मे भेज दिया गया। लेकिन दु.ख का असली भार मुझपर न था। वह तो हमेशा की तरह औरतो पर ही था—मेरी रोगाक्रान्त माता पर, मेरी पत्नी पर और मेरी बहन पर।

५६

अलीपुर-जेल

"फैंक यकायक कहाँ दिया है इतनी दूर मुझे लाकर !
कवतक यो टकराना होगा इन अदृष्ट की लहरो पर ?
किधर खीच ले जावेगे अव झोको के यह उलझे तार;
दिखता नही प्रदीप, न जाने कहाँ लगेगी किश्ती पार !"[1]

उसी रात को मै कलकत्ता ले जाया गया। हावड़ा स्टेशन से लालवाजार पुलिस-थाने तक मुझे एक बडी काली मोटर-लॉरी मे विठाकर ले गये। कलकत्ता-पुलिस के इस मशहूर हेड-क्वार्टर के वारे मे मैने वहुत-कुछ पढ रक्खा था। अत मै उस जगह को बडे चाव से देखने लगा। वहाँ अग्रेज सार्जेन्ट और इन्स्पेक्टर इतनी वडी तादाद मे मौजूद थे, जितने उत्तर-भारत के किसी वडे पुलिस-थाने मे नही है। वहाँके सिपाही अक्सर सभी विहार और सयुक्तप्रान्त के पूर्वी जिलो के थे। अदालत से जेल या एक जेल से दूसरी जेल जाने के लिए मुझे कई वार जेल की लारी मे जाना पड़ता था और हर दफा इनमे से कई सिपाही लारी के भीतर मेरे साथ जाते थे। वे जरूर ही कुछ दुखी मालूम होते थे। उनको यह काम पसन्द न था और स्पष्टत वे मेरे साथ बडी हमदर्दी-सी रखते थे। मैने देखा कि कई बार उनकी आँखो मे आँसू चमक पडते थे।

मुझे शुरू मे प्रेसिडेन्सी जेल मे रक्खा गया और वहीसे मुझे अपने मुकदमे के लिए चीफ प्रेसिडेन्सी मजिस्ट्रेट की अदालत मे ले जाया जाता था। यह अदालत मेरे लिए एक नया तजुर्बा था। अदालत का कमरा और इमारत साधारण अदालत के-से नही बल्कि एक घिरे हुए क़िले के जैसे थे। सिवा कुछ अखबारवालो और वहीके वकीलो के बाहर का कोई आदमी उसके आस-पास भी नही फटक सकता था। पुलिस वहाँ काफी तादाद मे जमा थी। यह सब बन्दोबस्त कोई मेरे लिए नया नही किया गया

१. रॉबर्ट ब्राउनिंग की मूल कविता इस प्रकार है :—

"Already how am I so far
Out of that minute? Must I go
Still like the thistle-ball, no bar,
Onward wherever light winds blow,
Fixed by no friendly star?"

था, यह तो वहाँका हमेशा का ही दस्तूर है। अदालत के कमरे मे जाने के लिए मुझे दूसरे कमरे मे होते हुए एक लम्बे रास्ते से जाना पडता था, जिसके ऊपर और दोनो बाजुओ मे जाली पडी हुई थी, मानो किसी पिंजडे मे से निकल रहे हो। मुलजिम का कटघरा हाकिम की कुर्सी से कुछ दूर था। कमरा पुलिसवालो और काले कोट और चोगेवाले वकीलो से भरा हुआ था।

मुझे अदालती मुकदमो से काफी वास्ता पड चुका है। मेरे पहले के कई मुकदमे जेल के भीतर हो चुके हैं, परन्तु उन सब मौको पर मेरे साथ दोस्त, रिश्तेदार और पहचानवाले रहते थे इस कारण वहाँ का वातावरण मेरे लिए कुछ सरल जान पडता था। पुलिस अधिकतर गौणरूप मे होती थी और वहाँ पिंजडे वगैरा नजर न आते थे। यहाँ तो बात ही दूसरी थी, चारो तरफ अजनबी और बिना जान-पहचान की शकले नजर आती थी, जिनमे और मुझमे कुछ भी साम्य नही दीखता था। वे लोग मुझे बहुत पसद भी नही आये। चोगाधारी वकीलो की जमात मुझे तो देखने मे सुन्दर नही मालूम होती, और खासकर पुलिस की अदालत के वकीलो का नजारा तो जरूर ही अप्रिय मालूम होता है। आखिर उस काली जमात मे एक जान-पहचान का वकील निकल तो आया, लेकिन वह भी उस झुण्ड मे मिलकर कही गायब हो गया।

मुकदमा शुरू होने के पहले जब मै बाहर झरोखे मे बैठा रहता था, तब भी मुझे अकेलापन और सूनसान मालूम पडता था। मेरी नब्ज जरूर तेज हो गई होगी और मेरा दिल इतना शान्त नही था जैसा पहले के मुकदमो के समय मे रहता था। मुझे तब खयाल आया कि जब इतने मुकदमो और सजाओ का तजुर्बा होते हुए भी मुझपर परिस्थिति की अजीब प्रक्रिया का असर हुए बिना न रहा तो ऐसी हालत मे नातजुर्बेकार नौजवानो पर परिस्थिति का कितना बड़ा भार पडता होगा ?

कटघरे मे मेरा चित्त बहुत-कुछ शान्त मालूम हुआ। हमेशा की तरह कोई सफाई पेश नही की गई, और मैने अपना एक मुख्तसिर-सा बयान पढकर सुना दिया। दूसरे दिन अर्थात् १६ फरवरी को मुझे दो बरस की सजा हो गई, और यो मेरी सातवी सजा शुरू हुई।

मेरी साढे पॉच महीने की रिहाई के समय का बाहरी जीवन मुझे सतोषप्रद मालूम हुआ। इस अर्से में मैं काम मे काफी लगा रहा और कई उपयोगी काम पूरे कर सका। मेरी माता की बीमारी ने पलटा खा लिया था और अब वह खतरे से बच निकली थी। मेरी छोटी बहन कृष्णा की शादी हो चुकी थी, मेरी लडकी की आगे की शिक्षा का सिलसिला ठीक बैठ गया था। मैंने भी अपनी घर-गृहस्थी की और आर्थिक कई मुश्किलो को हल कर लिया और कई घरेलू मामले, जिनको मै अर्से से भुला रहा

था, सुलझा लिये थे। और सार्वजनिक मामलो मे तो, मै जानता था कि, उस समय किसी के लिए भी कुछ विशेष कर लेना सहज न था। हाँ, मैने कॉंग्रेस की ताकत को मजबूत कर उसका रुख सामाजिक और आर्थिक विचारो के मार्ग की ओर मोडने मे ज़रूर कुछ मदद की। गाधीजी के साथ मेरी पूना की खतो-किताबत और बाद मे अखबारों मे निकले मेरे लेखो ने हालत को कुछ बदल दिया था। साम्प्रदायिक मसले पर भी मेरे लेखो ने कुछ ही असर किया। इसके अलावा, मै दो बरस से ज्यादा अर्से के बाद गाँधीजी और दूसरे मित्रो और साथियो से भी मिल लिया और आगे काम करने के लिए दिली व दिमागी शक्ति सग्रह करली थी।

पर मेरे मन को दु खी करनेवाली एक घटा तो अब भी बाकी थी और वह थी कमला की बीमारी। मुझे उस वक्त तक उसकी बीमारी की गहराई का अन्दाजा न था, क्योकि उसकी आदत थी कि जबतक वह चारपाई पकड़ न लेती तबतक काम मे अपनी बीमारी को धकेलती ही रहती। लेकिन मुझे बड़ी फिक्र थी। इसपर भी मुझे उम्मीद थी कि अब मेरे जेल मे चले जाने पर तो वह मन लगाकर अपना इलाज करायगी। मेरे बाहर रहने पर यह कुछ कठिन था, क्योकि वह मुझे ज्यादा समय के लिए अकेला छोडने को सहसा तैयार नही होती थी।

लेकिन एक और बात का भी मुझे दु ख रह गया था। वह यह था कि इलाहाबाद जिले के गाँवो मे मै एक बार भी दौरा न कर सका था। मेरे कई नवयुवक साथी हमारी नीति पर कार्य करते हुए गिरफ्तार हो गये थे। इस कारण उनके बाद गाँवो की खबर न लेना मुझे एक तरह से उनके प्रति बेवफा-सा होना मालूम होता था।

लेकिन काली मोटर-लारी ने मुझे फिर जेल में पहुँचा दिया। रास्ते मे कई फौजी सिपाही मशीनगन और फौजी गाडी (आरमर्ड कार) के साथ मार्च करते हुए मिले। जेल की लारी के छोटे सुराखो मे से मैने उनकी ओर देखा। मेरे दिल मे ख़याल आया कि फौजी गाडी (आरमर्ड कार) और टैंक कितने भद्दे होते है। उन्हे देखकर मुझे इतिहास से पूर्व-कालिक दानवो, अजगरो इत्यादि का स्मरण हो आया।

मेरा तबादला प्रेसिडेन्सी जेल से अलीपुर सेन्ट्रल जेल मे हो गया और वहाँ मुझे एक दस फुट लम्बी और नौ फुट चौड़ी छोटी-सी कोठरी दी गई। इस कोठरी के सामने एक बरामदा और छोटा-सा सहन था। सहन की चहारदीवारी नीची, करीब सात फुट की, थी और उसपर से झाककर देखने पर मेरे सामने एक अजीब नजारा दिखाई दिया। सब तरह की बेढगी इमारते, इकमञ्जली, दुमजली, गोल, चौकोर और अजीब छतोवाली खडी थी। कई तो एक के ऊपर दूसरी नजर आती थी। ऐसा मालूम होता था कि ये सब इमारते बेतरतीब, ज़मीन का एक-एक कोना-कोना भरने

के लिए बनाई गई थी। यह बनावट मुझे तो किसी घरोंदे की भूल-भुलैयाँ या किसी भविष्यवादी की हवाई रचना-सी मालूम होती थी। मुझे बताया गया कि ये इमारतें बड़े सिलसिले से बनी हुई है, बीच मे एक मीनार है (जो ईसाई कैदियो का गिर्जा है) और उसके चारो तरफ घरो की लाइने है। चूँकि यह जेल शहर मे था, इस वजह से जमीन बहुत परिमित थी और उसका छोटे-से-छोटा टुकडा भी काम मे लाये बिना छोडा नही जा सकता था।

मैं अभी शुरुआत के इस भौंडे नजारे को देखकर नजर हटा ही रहा था, कि मुझे एक दूसरा खौफनाक नजारा दीख पडा। मेरी कोठरी और सहन के ठीक सामने दो चिमनियाँ खडी दिखाई दी, जिनमें से हमेशा गहरा काला धुआँ निकल रहा था, जिसको हवा कभी-कभी मेरी तरफ फेंककर मेरा दम घोटने लगती थी। ये जेल के बावर्चीखानो की चिमनियाँ थी। मैंने बाद मे जेल के सुपरिण्टेण्डेण्ट को सलाह दी कि इस मुसीबत से मुझे बचाने के वास्ते चिमनियो पर जाली ढक दे।

यह शुरुआत ही अच्छी न थी और न इसके आइन्दा अच्छा होने की ही उम्मीद थी—वही अलीपुर-जेल की अपरिवर्तनीय लाल ईंटो की इमारतो का दृश्य और वही बावर्चीखानो की चिमनियो का धुआँ रात-दिन साँस और मुँह मे जाना, सामने था। मेरे सहन मे दरख्त या सब्जी कुछ न थे। वह यो तो पत्थरो का पक्का और साफ बना हुआ था, पर रोज-रोज धुआँ जम जाने की वजह से बडा भद्दा और बदनुमा मालूम होता था। वहीसे पड़ौसवाले सहनो के एक-दो दरख्तो के ऊपर के सिरे कुछ-कुछ नज़र आते थे। मेरे जेल मे पहुँचने पर वे दरख्त बिला पत्ते और फूलो के ठूठ-से खडे थे, पर धीरे-धीरे उनमे एक अजीब तबदीली होना शुरू हुई और सब शाखो मे हरी-हरी कोपले निकलने लगी। कोपलो में से पत्ते निकले और बडी जल्दी बढकर उन्होने नगी शाखो को खुशनुमा हरियाली से ढक दिया। यह तबदीली बडी सुखद मालूम हुई और अलीपुर-जेल भी बडी खुशनुमा हो गई।

इनमे से एक दरख्त मे चील का घोसला था। इसमे मुझे दिलचस्पी पैदा हुई और मै बडे चाव से उसे देखने लगा। छोटे-छोटे बच्चे बढ-बढकर उडने की अपनी पैतृक कला सीख गये। कभी-कभी तो ऐसी हैरत में डालनेवाली होशियारी से उडकर झपटते कि सीधे किसी कैदी के हाथ या मुँह मे से रोटी का टुकडा झपट लेते।

करीब-करीब शाम से सुबह तक हमे अपनी कोठरी मे बन्द रहना पडता था और जाडे की लम्बी राते काटे न कटती थी। घण्टो पढते-पढते थककर मैं अपनी कोठरी मे चहलकदमी शुरू कर देता। चार-पाँच कदम आगे बढकर फिर लौटना पडता। उस वक्त मुझे चिडियाघर के रीछ के अपने पिंजरे मे इधर-उधर चक्कर काटने का दृश्य

याद आ जाता था। कभी-कभी जब मैं बहुत ऊब उठता तो अपना प्रिय शीर्षासन करने लगता था।

रात का शुरू का हिस्सा तो काफी शान्त होता था, केवल शहर की मुख्तलिफ आवाजें—ट्राम, ग्रामोफोन या दूर से किसीके गाने की लहर—धीरे-धीरे पहुँचती थी। इस दूर से आते हुए धीमे गान की आवाज खुशनुमा मालूम होती थी। पर रात मे चैन नही था, क्योकि जेल के पहरेदार इधर-उधर टहलते रहते थे और हर घण्टे कोई-न-कोई मुआयना होता रहता था। लालटेन हाथ मे लिये कोई अफसर यह देखने आता कि कोई कैदी भाग तो नही गया है। हररोज तीन बजे तडके बडा शोर-गुल मचता और बर्तन घिसने व माजने की आवाज आती। उस वक्त बावर्चीखाने मे काम शुरू हो जाता था।

प्रेसिडेन्सी जेल के माफिक अलीपुर-जेल मे भी एक कसीर तादाद वार्डरो, पहरेदारो, अफसरो और क्लर्को की थी। इन दोनो जेलो की आबादी मिलाकर नैनी-जेल की आबादी (२२००-२३००) के बराबर थी, परन्तु कर्मचारियो की तादाद इन हरेक जेल मे नैनी-जेल से दुगुनी से भी ज्यादा थी। इनमे कई अंग्रेज वार्डर और पेन्शनयाफ्ता फौजी अफसर भी थे। इससे यह एक बात तो साफ ज़ाहिर होती थी कि अंग्रेज़ी-शासन युक्त-प्रान्त के बजाय कलकत्ता मे ज्यादा कठोर और ख़र्चीला है। किसी बडे अफसर के पहुँचने पर जो नारा सब कैदियो को लगाना पड़ता था वह साम्राज्य की ताकत का एक चिन्ह और याददिहानी था। यह नारा था "सरकार सलाम", जो लम्बी आवाज में और बदन की कुछ खास हरकत के साथ लगाना पडता था। मेरे सहन की चहारदीवारी पर से कैदियो के इस नारे की आवाज दिन मे कई मर्त्तबा, और खासकर सुपरिण्टेण्डेण्ट के मुआयने पर हमेशा, आती थी। मेरे सहन की ७ फुट ऊँची दीवार पर से मै उस 'शाही छत्र' के ऊपरी भाग को देख सकता था जिसके साये मे सुपरिण्टेण्डेण्ट गश्त लगाता था।

मै हैरत मे आकर सोचने लगता कि क्या यह अजीब नारा 'सरकार सलाम' और उसके साथ की जानेवाली बदन की यह हरकत किसी पुराने जमाने की यादगार है या किसी मनचले अंग्रेज अफसर की ईजाद ? मुझे पता तो नही, पर मेरा कयास है कि यह अंग्रेजो की ईजाद है। इसमे एक खास किस्म के एंग्लो-इडियनपन की बू आती है। खुश-किस्मती से इस नारे का रिवाज सिवा बगाल और आसाम के युक्तप्रान्त या हिन्दुस्तान के दूसरे सूबो मे नही है। सरकार की शान को कायम रखने के लिए जिस तरीके से इस सलामी पर जोर दिया जाता है, वह मुझे हकीकत मे ज़लील करनेवाला मालूम होता है।

अलीपुर-जेल मे एक नई बात देखकर तो मुझे खुशी हुई। यहाँ के साधारण कैदियो का खाना युक्तप्रान्त के जेलो के खाने से कही अच्छा था। जेल के खाने के मामले मे तो युक्तप्रान्त दूसरे कई सूबो से पिछडा हुआ है।

सुहावनी शरद्-ऋतु जल्द बीत गई, विमल वसन्त भी भागता हुआ-सा निकल गया, और गर्मी आ गई। दिन-दिन गर्मी बढती गई। मुझे कलकत्ते की आबहवा कभी पसन्द न थी, और चन्द दिनो के वहाँ रहने ने ही मुझे निस्तेज और उत्साह-हीन बना दिया। जेल मे तो हालत कुदरती तौर पर और भी बुरी होती है। समय बीतता गया और मेरी हालत मे कोई उन्नति न हुई। शायद कसरत के लिए जगह की कमी होने और ऐसी आबहवा मे कई घटो कोठरी बन्द रहने से मेरी सेहत कुछ गिर गई और मेरा वजन तेजी से घटने लगा। मुझे तालो, चटखनियो, सीखचो और दीवारो से नफरत-सी होने लग गई।

अलीपुर मे एक महीना रहने के बाद मुझे अपने सहन के बाहर कुछ वर्जिश करने की सहूलियत दी गई। यह तबदीली मुझे पसन्द आई और मै सुबह-शाम जेल की बडी दीवार के सहारे घूमने लगा। धीरे-धीरे मै अलीपुर-जेल और कलकत्ता की आबहवा का आदी हो गया और बावर्चीख़ाना भी, मय उसके धुंए और शोर-गुल के, बर्दाश्त करने लायक बुराई हो गई। इस अर्से मे मेरे लिए नये-नये मसले खडे हुए और नई-नई परेशानियाँ तग करने लगी। बाहर की खबरे भी अच्छी नही थी।

६०

पूरब और पच्छिम में लोकतन्त्र

अलीपुर-जेल मे जब मुझे यह मालूम हुआ कि सजा होने के बाद मुझे कोई रोजाना अखबार नही मिलेगा, तब मुझे बडा अचम्भा हुआ। जबतक मेरा मुकदमा चलता रहा तबतक तो मुझे कलकत्ते का रोजाना अखबार 'स्टेट्समैन' मिलता रहा, लेकिन मुकदमा खत्म होने के बाद दूसरे ही दिन से वह बन्द कर दिया गया। युक्तप्रान्त में तो १९३२ से 'ए' क्लास या पहले डिवीजन के कैदियो को सरकार की मर्जी का एक रोजाना अखबार हमेशा मिलता था। ज्यादातर बाकी के दूसरे सूबो मे भी यही बात है। और मैं बिलकुल इसी खयाल मे था कि यही कानून बगाल के लिए भी लागू होगा। लेकिन वहाँ मुझे रोजाना 'स्टेट्समैन' के बजाय साप्ताहिक 'स्टेट्समैन' दिया गया। साफ जाहिर है कि यह अखबार तो उन अग्रेजो के लिए निकलता है जो हिन्दुस्तान मे हाकिमी या रोजगार करने के बाद वापस इग्लैण्ड पहुँच जाते है। इसलिए इस अखबार मे हिन्दुस्तान की उन खबरो का सार रहता है, जिनमे उनकी दिलचस्पी होती है। इस हफ्तेवार अखबार में विलायतो की खबरे तो बिलकुल नही होती थी। उनका न होना मुझे बहुत ही अखरता था, क्योकि मै उनको सिलसिलेवार पढ़ते रहना चाहता था। खुशकिस्मती से मुझे हफ्तेवार 'मैन्चेस्टर गार्जियन' अखबार भी मिल जाता था, जिसकी वजह से मुझे योरप के और अन्तर्राष्ट्रीय मामलो की जानकारी हो जाती थी।

फरवरी मे जब मै गिरफ्तार हुआ और जब मुझपर मुकदमा चला तभी योरप में बडी उथल-पुथल और झगडे हुए। फ्रान्स मे भारी खलबली मची, जिसमे फासिस्टो ने दगे किये और उसकी वजह से राष्ट्रीय सरकार कायम हुई। इससे भी बुरी बात यह थी कि आस्ट्रिया का चान्सलर डॉलफस मजदूरो पर गोलियाँ चलवा रहा था, और सामाजिक लोकतन्त्र के विशाल भवन को ढा रहा था। आस्ट्रिया में होनेवाली खून-खराबी की खबर सुनकर मुझे बड़ा दुःख हुआ। यह दुनिया कैसी बुरी और खूनी जगह है और इन्सान भी अपने स्थापित स्वार्थों की हिफाजत के लिए कैसा बर्बर हो जाता है? ऐसा मालूम पडता था कि तमाम योरप और अमेरिका में फासिज्म का जोर बढता जाता है। जब जर्मनी मे हिटलर का आधिपत्य हुआ तब मुझे यह मालूम होता था कि उसकी हुकूमत ज्यादा दिनो तक नही चल सकेगी, क्योकि उसने जर्मनी की आर्थिक कठिनाइयो का कोई हल पेश नही किया था। इसी

तरह जब दूसरी जगह भी फासिज्म फैला तब भी, मैंने अपने मन को यह सोचकर तसल्ली दी कि यह प्रतिक्रिया की आखिरी मजिल है, इसके बाद सब बन्धन टूट जायँगे। लेकिन मैं अब यह सोचने लगा, कि मेरा यह खयाल कही मेरी ख्वाहिश से ही तो नही पैदा हुआ? क्या सचमुच यह बात इतनी साफ दिखाई देती है कि फासिज्म की यह लहर इतनी आसानी से या इतनी जल्दी पीछे लौट जायगी? यदि ऐसी हालत पैदा हो गई, जो फासिस्ट डिक्टेटरो के लिए असह्य हो, तो क्या वे 'सरे तसलीम खम' करने की जगह अपने देशो को सत्यानाशी लडाई मे न जुटा देगे? ऐसी लडाई का नतीजा क्या होगा?

इस बीच मे फासिज्म कई किस्मो और तरह-तरह की शक्लो में फैलता गया। 'ईमानदार लोगो का नया प्रजातन्त्र' यानी स्पेन, जो सरकारो का खास 'मैन्चेस्टर गार्जियन' था, बहुत पीछे जाकर प्रतिक्रिया के गड्ढे मे जा पडा था। स्पेन के लिबरल नेताओ के मनोहर शब्द और भली-भली बाते देश की अधोगति को न रोक सकी। हर जगह मौजूदा हालतो का मुकाबिला करने में लिबरल-नीति बिलकुल बेकार साबित हुई है। यह दल शब्दो और वाक्यो से चिपटा रहता है और समझता है कि बाते काम की जगह ले सकती है। इसीलिए जब कभी नाजुक वक्त आता है तब वह उसी तरह आसानी से गायब हो जाता है जैसे सिनेमा के अन्त मे तसवीर।

आस्ट्रिया के दु खान्त नाटक के बारे में 'मैन्चेस्टर गार्जियन' के अग्रलेखो को मै बडी दिलचस्पी के साथ पढता था और उनकी कद्र भी करता था। "और इस खूनी लडाई के बाद किस रूप मे आस्ट्रिया हमारे सामने आया? एक ऐसा आस्ट्रिया जिसपर योरप का सबसे ज्यादा प्रतिक्रियावादी दल राइफलो और मशीनगनो से हुकूमत कर रहा है।" "अगर इग्लैण्ड आजादी का हामी है तो उसके प्रधान मन्त्री का मुँह इतना बन्द क्यो है? डिक्टेटरशाहियो की उन्होने जो तारीफे की है वे हमने सुनी है, हमने उन्हे यह कहते हुए भी सुना है कि डिक्टेटरी 'कौम की आत्मा को जिन्दा रखती है' और 'एक नया जलवा और नई ताकत पैदा करती है।' लेकिन इग्लैण्ड के प्रधान मन्त्री को उन जुल्मो की बाबत भी तो कुछ कहना चाहिए, जो चाहे वे किसी भी देश मे हो, यद्यपि जाहिरा शरीर का नाश करते है, किन्तु उससे कही अधिक बार आत्मा को बुरी मौत मारते है।"

लेकिन अगर 'मैन्चेस्टर गार्जियन' आजादी का ऐसा हामी है, तो क्या वजह है कि जब हिन्दुस्तान मे आजादी को कुचला जाता है तब उसका मुंह बन्द हो जाता है? हम लोगो को भी तो न सिर्फ शारीरिक तकलीफे उठानी पडी है बल्कि उससे भी बदतर आत्मा के कष्ट भी भोगने पड़े है।

"आस्ट्रिया का लोक-तन्त्र नष्ट कर दिया गया है, यद्यपि उसके लिए यह बात हमेशा गौरव की रहेगी कि वह मरते दम तक लडा और इस तरह उसने एक ऐसी कहानी पैदा कर दी, जो आगे आनेवाले वरसो मे किसी दिन यूरोपीय आजादी की आत्मा को फिर जगा देगी।"

"उस योरप ने जो कि आजाद नही है, सास लेना वन्द कर दिया है, अव उसमे स्वस्थ भावनाओ का आवागमन नही होता, धीरे-धीरे उसका दम घुटने लगा है और उसकी जो मानसिक वेहोशी नजदीक आ रही है उसे सिर्फ उग्र झकझोरो या भीनरी दौरो और दाहिने-वाये हर तरफ धडाधड़ वार करने से ही वचाया जा सकता है······। राइन नदी से लेकर यूराल पर्वत तक योरप एक वडा जेलखाना वना हुआ है।"

ये वाक्य कैसे हृदय-ग्राही थे! मेरे दिल मे इनकी प्रतिध्वनि होती थी, लेकिन साथ ही मै सोचता, कि हिन्दुस्तान की वावत क्या है? यह कैसे हो सकता है कि 'मैन्चेस्टर गार्जियन' या इग्लैण्ड मे जो वहुत-से आजादी के दीवाने है वे हमारी हालत की वावत इतने उदासीन रहते है? दूसरी जगह जिन वातो की वे इतने जोरो से निन्दा करते है, जव वही वाते हिन्दुस्तान मे होती है, तो उनकी तरफ वे क्यो नही देखते? वीस वरस पहले, महायुद्ध शुरू होने से कुछ ही पहले, अंग्रेजो के एक बडे लिवरल नेता ने, जो १९वी सदी की परम्परा मे पले थे, स्वभाव से फूँक-फूँककर कदम रखते थे और अपनी भाषा पर सयम रखते थे, यह कहा था कि "इससे पहले कि कानून पर ताकत की दुःखदायी जीत को मै चुपचाप देखूँ, मै यह देखना पसन्द करूँगा कि हमारा यह मुल्क इतिहास के पन्ने से मिटा दिया जाय।" कितना वहादुराना खयाल है, और कैसे धारा-प्रवाह ढग से कहा गया है! इंग्लैण्ड के वहादुर नौजवान लाखो की तादाद में इस खयाल को पूरा करने के लिए लडाई के मैदान मे गये। लेकिन अगर कोई हिन्दुस्तानी मि० एसक्विथ के समान वयान देने की हिम्मत करे, तो उसका क्या हाल होगा?

राष्ट्रीय मनोवृत्ति वहुत ही जटिल होती है। हममे से ज्यादातर लोग यह समझते है कि हम बडे इन्साफ-पसन्द और निष्पक्ष है। हमेशा गलती दूसरा शख्स या दूसरा मुल्क ही करता है। हमारे दिमाग मे कही-न-कही यह इत्मीनान छिपा रहता है कि हम वैसे नही है जैसे दूसरे लोग है, हममे और दूसरो मे जरूर फर्क है—यह दूसरी बात है कि शराफत की वजह से हम बारबार उस वात को न कहे। अगर खुशकिस्मती से हम किसी ऐसी शाही कौम के होते जो दूसरे मुल्को के भाग्य की विधाता हो, तब तो हमारे लिए यह इत्मीनान न करना भी मुश्किल हो जाता कि हमारी सर्वोत्तम दुनिया में सभी बाते सर्वोच्च है, और जो लोग क्रान्ति के लिए

आन्दोलन करते हैं वे केवल खुदगर्ज और मुगालते मे पडे हुए बेवकूफ ही नही है बल्कि हमारे लिए अनेक लाभ प्राप्त करके भी अहसानफरामोशी करनेवाले है ।

अग्रेज कौम टापू मे रहनेवाली मुतास्सिम कौम है और इतनी मुद्दत तक की कामयाबी और खुशहाली ने उसे इतना घमण्डी बना दिया है कि अग्रेज करीब-करीब दूसरी सब कौमो को हिकारत की नजर से देखते हैं। जैसा कि किसीने कहा है, उनकी राय मे इग्लैण्ड के समुद्र से आगे हवशी-ही-हवशी रहते है। लेकिन यह तो एक बिलकुल साधारण बात है। शायद ब्रिटिश कौम के ऊँचे दर्जे के लोग दुनिया को ऊँच-नीच के हिसाब से इस तरह बाँटेगे—(१) सबसे पहले ब्रिटेन, इसके बाद बहुत दूर तक कुछ नही, फिर (२) ब्रिटिश उपनिवेश—इनमे भी सिर्फ सफेद चमडीवाले और अमेरिका (महज एग्लो-सेक्शन अमेरिका—डागो, इटैलियन वगैरा नही), (३) पश्चिमी योरप, (४) बाकी योरप, (५) दक्षिणी अमेरिका (लेटिन कौम), और फिर बहुत दूर तक कोई नही। इसके बाद और सबसे नीचे के नम्बर पर एशिया और अफ्रीका की काली-पीली कौमो के आदमी, जो कम-बढकर सब एक ही बोरे मे भर दिये जा सकने योग्य समझे जाते है।

इन दर्जो मे आखिरी दर्जे के हम लोग उस ऊँचाई से कितनी दूर है, जिसपर हमारे शासक रहते है ? ऐसी हालत मे क्या यह कोई अचरज की बात है कि जब वे उतनी ऊँचाई से हमारी तरफ देखते है तब उनकी नजर धुधली हो जाती है, और जब हम लोकतत्र और आजादी की बाते करते है तब वे हमसे चिढते है ? ये शब्द हमारे इस्तैमाल के-लिए थोडे ही घडे गये थे। क्या यह बात एक बडे लिबरल राज-नीतिज्ञ जॉन मार्ले ने नही कही थी, कि वह बहुत दूर के धुधले भविष्य मे भी इस बात की कल्पना तक नही कर सकते कि हिन्दुस्तान मे लोकतत्रीय सस्थाये कायम होगी ? हिन्दुस्तान के लिए लोकतत्र ऐसा ही है, जैसा कनाडा के लिए फरो का बहुत गरम कोट (यानी उसकी आबोहवा के खिलाफ)। और इसके बाद उस मजदूर दल ने जो समाजवाद का झण्डा लिये फिरता था, सब पददलित लोगो का हिमायती बनता था, अपनी जीत की पहली खुशी मे हमे सन् १९२४ के बगाल-आर्डिनेन्स को फिर से जारी करने का इनाम दिया, और उनके दूसरे शासन-काल मे हमारा हाल और भी बुरा रहा। मुझे इस बात का पूरा भरोसा है कि उनमे से कोई हमारा बुरा नही चीतता और जब वे लोग हमे अपने, व्याख्याता के, सर्वोत्तम ढग से 'बहुत ही प्यारे भाई' कहकर पुकारते है तब वे अपनी कर्त्तव्यपरायणता पर अपनेको कृतकृत्य समझते है। लेकिन उनकी राय मे हम उतने ऊँचे नही है, जितने कि वे खुद है, अत उनके विचार मे दूसरे पैमानो से ही हमारी जांच होनी चाहिए। भाषा और सास्कृतिक भेद-भावो

के कारण अंग्रेज और फ्रांसीसी के लिए यह काफी मुश्किल है कि वे एक ही तरह से सोचे। ऐसी हालत में एक एशियाई मे और एक अंग्रेज में तो और भी ज्यादा फर्क होगा।

हाल ही मे, हाउस ऑफ लार्ड्स मे, हिन्दुस्तान को दिये जानेवाले शासन-सुधारो के प्रश्न पर बहसे हो रही थी और अनेक सम्माननीय लॉर्डो ने उस बहस में बहुत-से विचारपूर्ण व्याख्यान दिये। इनमे एक थे लॉर्ड लिटन, जो हिन्दुस्तान के एक सूबे मे गवर्नर रह चुके थे और कुछ समय के लिए जिन्होने वाइसराय की हैसियत से भी काम किया था। अक्सर कहा जाता है कि वह एक उदार और हिन्दुस्तान से सहानुभूति रखनेवाले गवर्नर थे। उनके व्याख्यान की रिपोर्ट के अनुसार, उन्होने कहा कि "भारत-सरकार सारे हिन्दुस्तान की कही अधिक प्रतिनिधि है बनिस्वत कॉंग्रेसी नेताओ के। वह हिन्दुस्तान के हाकिमो की, फौज की, पुलिस की, राजाओ की, लडनेवाले रेजीमेण्टो की और हिन्दू तथा मुसलमान दोनो की तरफ से बोल सकती है, जबकि कॉंग्रेस के नेता हिन्दुस्तान की बडी कौमो मे से किसी एक कौम की तरफ से भी नही बोल सकते।" इतना कहने के बाद उन्होने आगे चलकर अपना आशय और भी स्पष्ट किया—"जब मै हिन्दुस्तानियो की बात कहता हूँ, तब मैं उन लोगो का खयाल करता हूँ, जिनके सहयोग का मुझे भरोसा करना पडा था और जिनके सहयोग पर भावी गवर्नरो और वाइसरायो को भरोसा करना पडेगा।"[१]

उनके इस भाषण से दो दिलचस्प बाते निकलती है—एक तो यह कि उनके विचार मे जो हिन्दुस्तान किसी गिनती मे है वह तो वही है जो ब्रिटिश सरकार की मदद करता है; और दूसरे, ब्रिटिश सरकार हिन्दुस्तान मे सबसे ज्यादा प्रातिनिधिक और इसलिए सबसे ज्यादा लोकतन्त्रीय सस्था है। इस दलील का इतनी सजीदगी से दिया जाना यह जाहिर करता है कि अंग्रेजी के शब्द स्वेज नहर से पार होते ही अपना अर्थ बदल देते है। इस तरह की दलील का दूसरा और साफ मतलब यह होगा कि स्वेच्छाचारी सरकार ही सबसे ज्यादा प्रातिनिधिक और लोकतन्त्रीय स्वरूप की होती है, क्योकि बादशाह सबका प्रतिनिधित्व करता है। इस तरह हम फिर लौट-फिरकर बादशाह के ईश्वरीय अधिकार पर पहुँच जाते है।

सच बात तो यह है कि हाल मे विशुद्ध स्वेच्छाचार को भी एक नामी समर्थक मिल गया है। इण्डियन सिविल सर्विस के आभूषण सर माल्कम हेली ने, ५ नवम्बर १९३४ को बनारस मे युक्तप्रान्त के गवर्नर की हैसियत से बोलते हुए, कहा था कि देशी रियासतो मे स्वेच्छाचारिता ही रहनी चाहिए। इस सलाह की ऐसी

१. हाउस आफ लार्ड्स, १७ दिसम्बर १९३४।

कोई जरूरत न थी, क्योकि कोई भी हिन्दुस्तानी रियासत अपनी खुशी से स्वेच्छा-चारिता को नही छोडेगी। इसी कोशिश मे एक और दिलचस्प तरक्की यह हुई है कि, योरप मे लोकतत्र के नाकामयाब होने की बिना पर इस स्वेच्छाचारिता को कायम रखने की बात कही जाती हैं। मैसूर के दीवन सर मिर्जा इस्माइल ने इस बात पर अपना आश्चर्य प्रकट किया, कि "एक तरफ जबकि हर जगह पार्लमेण्टरी लोकतत्र नाकामयाब हो रहा है, दूसरी तरफ इनकलाबी सुधारो की वकालत की जाती है।" "मुझे विश्वास है कि हमारे राज्य की अन्तरात्मा यह महसूस करती है कि हमारा मौजूदा विधान करीब-करीब असली कामो के लिए काफी लोकतत्रीय है।"[१] मेरे ख़याल मे मैसूर की 'अन्तरात्मा' वहाँके शासक और दीवान की दार्शनिक भावना है। मैसूर मे इन दिनो जो लोकतत्र जारी है, वह स्वेच्छाचार से किसी कदर भिन्न नही है।

अगर लोकतत्र हिन्दुस्तान के लिए मौजूँ नही है, तो ऐसा मालूम पड़ता है कि वह मिश्र के लिए भी उतना ही बेमौजूँ है। इन दिनो जेल मे मुझे रोजाना 'स्टेट्समैन', दिया जाता है। उसमे मैंने मिश्र की राजधानी कैरो से भेजा हुआ खरीता अभी हाल ही पढा है।[२] उस खरीते मे कहा गया है कि वहाँ के प्रधान-मत्री नसीमपाशा के "इस ऐलान ने कि उन्हे 'यह उम्मीद है कि तमाम राजनैतिक पार्टियॉ, खास तौर पर वफ्द-पार्टी, एक हो जायँगी, और एक होकर या तो राष्ट्रीय परिषद् करके या विधान-विधायक असेम्बली का चुनाव करके उनके जरिये नया विधान तैयार करायँगी', जिम्मेदार लोगो मे कुछ कम भय पैदा नही किया है, क्योकि आखिर इसके मानी यही होते हैं कि लोकतत्रीय सरकार फिर से कायम हो जाय, जो, इतिहास जाहिर करता है, मिश्र के लिए हमेशा खतरनाक साबित हुई है, क्योकि उसकी प्रवृत्तियाँ पिछले जमाने मे हमेशा हुल्लड़पन से दब जाने की रही है। मिश्र की आन्तरिक राजनीति और उसकी प्रजा की जानकारी रखनेवाले किसी भी शख्स को क्षणभर के लिए भी इस बात मे कोई शक नही हो सकता कि चुनाव का नतीजा यह होगा कि फिर वफ्द-पार्टी का बहुमत हो जाय। इसीलिए इस कारंवाई को रोकने का बहुत जल्द प्रयत्न न किया गया तो हमपर बहुत जल्दी ऐसा शासन आ जायगा जो घोर उग्र लोकतत्रीय, विदेशियो का विरोधी और क्रान्तिकारी होगा।"

यह भी कहा गया है कि चुनाव मे "वफ्द् पार्टी का मुकाबिला करने के लिए" शासको को प्रभाव डालना चाहिए, लेकिन बदकिस्मती यह है कि "प्रधान मत्री को कानून की पाबन्दी का बहुत ख़याल रहता है।" इसलिए हमसे कहा गया है कि

१. मैसूर २१ जून १९३६। पृष्ठ ६४३ का भी नोट देखिए।

२. १९ दिसम्बर १९३४।

अब सिर्फ एक ही रास्ता रह जाता है और वह यह कि ब्रिटिश सरकार दस्तन्दाज़ी करे और "यह बात सबको जाहिर करदे कि वह इस किस्म के शासन का फिर से कायम होना बर्दाश्त नही करेगी।"

ब्रिटिश सरकार क्या करेगी या क्या नही करेगी और मिश्र मे क्या होगा, मुझे कुछ पता नही।[१] लेकिन गालिवन आजादी के दीवाने एक अग्रेज द्वारा पेश की गई दलील से हमे मिश्र और हिन्दुस्तान की हालत की जटिलता को समझने मे थोडी मदद जरूर मिलती है। जैसा कि 'स्टेट्समैन' ने एक अग्रलेख मे कहा है—"मूल बुराई तो यह है कि जिन्दगी के जिस तरीके से और दिमाग के जिस रुख से लोकतत्र का विकास होता है उससे साधारण मिश्री वोटर की जिन्दगी के तरीके और उसके दिमाग के रुख का मेल नही मिलता।" इस मेल के न मिलने की मिसाल भी आगे दी गई है: "योरप मे अक्सर लोकतत्र इसलिए नाकामयाब हुआ है, क्योकि वहाँ बहुत-से दल कायम हो गये है। लेकिन मिश्र की मुश्किल तो यह है कि वहाँ सिर्फ एक वफ्द-पार्टी ही है।"

हिन्दुस्तान मे हमसे कहा जाता है कि हमारा साम्प्रदायिक भेदभाव हमारी लोकतत्र की तरक्की का रास्ता रोकता है और इसीलिए अकाट्य तर्क के साथ इन भेदभावो को हमेशा स्थायी बनाया जाता है। हमसे यह भी कहा जाता है कि हम लोगो मे काफी एका नही है। मिश्र मे किसी किस्म का साम्प्रदायिक भेदभाव नही है और ऐसा मालूम पड़ता है कि वहाँ पूर्ण राजनैतिक एका मौजूद है। लेकिन वहाँ यही एकता उसके लोकतत्र और उसकी स्वाधीनता के रास्ते का रोड़ा बन जाती है। सचमुच लोकतत्र का रास्ता सीधा और तग है। पूर्वी देशो के लिए लोकतंत्र के सिर्फ एक ही मानी है, और वह यह कि साम्राज्यवादी शासक-सत्ता जो हुक्म दे उसे बजा लाया जाय और उसके किसी भी स्वार्थ मे हाथ न डाला जाय। इन शर्तो के मान लेने पर लोकतत्रीय स्वाधीनता वहाँ भी बे-रोक-टोक फूल-फल सकती है।

१. नवम्बर १९३४ में मिश्र पर अंग्रेज़ों के अधिकार के ख़िलाफ मुल्कभर में दंगे हुए थे

६१

नैराश्य

"अब तो यही लालसा है मा, जाऊँ आकुल लेट वहाँ
ठडा-ठडा हरा सुमजुल मधुर घास हो बिछा जहाँ,
मा वसुधे! चरणो पर तेरे निपट निराश-अधीन,
परिश्रान्त इस बालक के वे स्वप्न सभी हो गये विलीन।"[१]

अप्रैल आ गया। अलीपुर मे. मेरी कोठरी मे, मेरे पास बाहर की घटनाओ की बावत अफवाहे पहुँची—ऐसी अफवाहे जो दु खदायी और बेचैनी पैदा करनेवाली थो। एक दिन जेल मे सुपरिण्टेण्डेण्ट ने मुझे इत्तिला दी कि गाधीजी ने सत्याग्रह की लडाई वापस लेली है। मुझे इससे ज्यादा कुछ मालूम नही होसका। मुझे यह खबर अच्छी नही लगी और जिस चीज को मै इतने बरसो से इतना चाहता था उसको इस तरह वापस ले लिये जाने पर मुझे रज हुआ। फिर भी मैंने अपने को समझाया कि उसका अन्त होना तो लाजिमी था। अपने मन मे मै यह जानता था कि कम-से-कम कुछ वक्त के लिए सत्याग्रह की लडाई कभी-न-कभी बन्द करनी ही पडेगी। मुमकिन है कि कुछ शख्स नतीजो की परवा न करके अनिश्चित काल तक लडते रहे लेकिन राष्ट्रीय सस्थायें ऐसा नही करती। मुझे इस बात मे कोई शक न था कि गाधीजी ने देश की स्थिति और अधिकाश कॉंग्रेसवादियो के मनोभावो को ठीक तरह समझ लिया था और यद्यपि जो कुछ हुआ वह अच्छा नही मालूम होता था फिर भी मैंने अपने आपको नवीन परिस्थिति के अनुकूल बनाने की कोशिश की।

अस्पष्ट रूप मे यह चर्चा भी मुझे सुनाई दी कि कौंसिलो मे जाने की गरज से पुरानी स्वराज पार्टी को फिर से जिन्दा करने की नई कोशिश की जा रही है। यह बात भी मुझे अनिवार्य मालूम होती थी और मेरी तो बहुत दिनो से यह राय थी कि कॉंग्रेस अगले चुनावो से अलग नही रह सकती। जब मैं पॉच महीने जेल से बाहर था, तब मैंने कौंसिलो की तरफ बढनेवाली इस प्रवृत्ति को रोकने की कोशिश की थी, क्योकि मैं समझता था कि अभी वह वक्त से पहले थी, और उसकी वजह से न सिर्फ सीधी लड़ाई

१ मूल अग्रेजी पद्य इस प्रकार है —
"And I yearn to lay my head
Where the grass is cool and sweet
Mother, all the dreams are fled
From the tired child at thy feet"

में ही लोगों का ध्यान हटता था बल्कि सामाजिक इनकलाब के उन नये खयालों के विकास से भी बाधा पड़ती थी जो कॉंग्रेसवालों के दिलों में घर करते जा रहे थे। मैं समझता था कि यह संकट जितने दिन ज्यादा बना रहेगा, उतने ही ज्यादा ये खयाल हमारे यहाँ सर्वसाधारण और पढ़े-लिखे लोगों में फैलेंगे और हमारी राजनैतिक और माली हालत की तह में जो असलियत है वह जाहिर हो जायगी। जैसा कि लैनिन ने कहा है—"कोई भी और हरेक राजनैतिक संकट उपयोगी है, क्योंकि वह छिपी हुई चीजों को रोशनी में ले आता है, राजनीति की तह में जो वास्तविक शक्तियाँ काम कर रही हैं उन्हें दिखा देता है, वह झूठ का, भ्रम पैदा करनेवाले शब्द-जाल का और गपोड़ों का भण्डाफोड़ कर देता है, वह असली बातों को पूरी तरह दिखा देता है, और तथ्य क्या है इस बात को समझने के लिए लोगों को मजबूर कर देता है।" मुझे उम्मीद थी कि इस क्रिया का परिणाम यह होगा कि इससे कॉंग्रेसवालों का दिमाग साफ हो जायगा और कॉंग्रेस एक निश्चित ध्येयवाले लोगों की मजबूत जमात हो जायगी। गालिबन उसके कुछ कमजोर हिस्से उसे छोड़ जायँगे। लेकिन इससे कोई हर्ज न होगा और जब कभी उमूली सीधी लड़ाई का मोर्चा खत्म करने और वैधानिक व कानूनी तरीकों के नाम से पुकारे जानेवाले साधनों से काम लेने का वक्त आयगा, तब कॉंग्रेस के आगे बढ़े हुए, वास्तव में क्रियाशील पक्ष के, लोग इन तरीकों का भी, हमारे अन्तिम लक्ष्य की व्यापक दृष्टि से, इस्तैमाल करेंगे।

जाहिरा तौर पर मालूम होता था कि वह वक्त आ गया है। लेकिन मुझे यह देखकर बड़ी परेशानी हुई कि जो लोग दरअसल सत्याग्रह की लड़ाई और कॉंग्रेस के कारगर कामों के आधारस्तम्भ रहे हैं वे पीछे को हट रहे हैं और दूसरे लोग जिन्होंने ऐसा कोई काम नहीं किया अपनी हुकूमत जमाने लगे हैं।

इसके कुछ दिनों के बाद मेरे पास हफ्तेवार स्टेट्समेन आया और उसमें मैंने वह वक्तव्य पढ़ा जो गांधीजी ने सत्याग्रह को वापस लेते हुए दिया था। उसे पढ़कर मुझे बड़ी हैरत हुई और मेरा दिल बैठ गया। मैंने उसे बार-बार पढ़ा, और सत्याग्रह और दूसरी ज्यादातर बातें मेरे दिमाग से गायब हो गईं और उनकी जगह शक और संघर्ष से मेरा दिमाग भर गया। गांधीजी ने लिखा था—"इस वक्तव्य की प्रेरणा सत्याग्रह-आश्रम के साथियों से हुई एक आपसी बातचीत का परिणाम है।.....इसका मुख्य कारण वह आँखें खोलनेवाली खबर थी जो मुझे अपने एक बहुत पुराने और बहुमूल्य साथी के सम्बन्ध में मिली थी। वह जेल का काम पूरा करने को राजी न थे और उसके बजाय किताबें पढ़ना पसन्द करते थे। यह सब कुछ सत्याग्रह के नियमों के सर्वथा विरुद्ध था। इस बात से इस मित्र की, जिसेकि मैं बहुत अधिक

प्यार करता था, दुर्बलताओ की अपेक्षा मुझे अपनी दुर्बलताओ का अधिक बोध हुआ। मित्र ने कहा कि उनका ख़याल था कि मै उनकी दुर्बलता को जानता हूँ लेकिन मै अन्धा था। नेता मे अन्धापन एक अक्षम्य अपराध है। मैने फौरन यह भाँप लिया कि कम-से-कम इस समय के लिए तो मै अकेला ही सक्रिय सत्याग्रही रहूँगा।"

अगर गाधीजी के मित्र मे यह दुर्बलता या दोष था—अगर वह सचमुच दुर्बलता थी—तो भी यह एक मामूली-सी बात थी। मै यह स्वीकार करता हूँ कि मै अक्सर इस जुर्म का अपराधी रहा हूँ और मुझे उसपर रत्तीभर भी अफसोस नही है। लेकिन अगर वह मामला बहुत भारी भी होता तो भी क्या वह महान् राष्ट्रीय सग्राम, जिसमे बीसियो हजार प्रत्यक्ष रूप से और लाखो आदमी अप्रत्यक्ष रूप से लगे हुए है, महज इसलिए कि किसी एक शख्स ने कोई गलती कर डाली यकायक रोक दिया जाना चाहिए? यह बात मुझे बहुत भयकर और हर तरह अनीतिमय मालूम हुई। मै इस बात की धृष्टता तो नही कर सकता कि मै यह बताऊँ कि सत्याग्रह क्या है और क्या नही है लेकिन अपने साधारण तरीके पर मैने भी कुछ आचार-सम्बन्धी आदर्शो के पालन करने का प्रयत्न किया है। गाधीजी के इस वक्तव्य से मेरे उन सब आदर्शों को धक्का लगा और वे सब गडबड हो गये। मै यह जानता हूँ कि गाधीजी आम तौर पर सहज-ज्ञान के मुताबिक काम करते है। गाधीजी उसे अपनी अन्तरात्मा की प्रेरणा या प्रार्थना का प्रतिफल कहते है, लेकिन मै उसे सहज-ज्ञान कहना ही पसन्द करता हूँ, और अक्सर ज्यादातर उनका यह सहज-ज्ञान सही निकलता है। उन्होने बराबर यह दिखा दिया है कि जनता की मनोवृत्ति को समझने और उपयुक्त समय पर काम करने की उनमे कैसी विलक्षण सूझ है। काम कर डालने के बाद उस काम को ठीक ठहराने के लिए वह पीछे से जो कारण पेश करते है वे आमतौर पर काम कर बैठने के बाद के सोचे हुए खयालात होते है और उनसे शायद ही कभी किसीको पूरी तसल्ली होती हो। सकटकाल मे नेता या कर्मवीर पुरुष करीब-करीब हमेशा किसी अज्ञात-प्रेरणा से काम करते है और फिर उसके लिए कारण ढूढने लगते है। मैने यह भी महसूस किया कि सत्याग्रह को मुल्तवी करके गाधीजी ने ठीक ही किया। लेकिन उसे मुल्तवी करने के जो कारण उन्होने बताये है वे बुद्धि के लिए अपमानजनक और एक राष्ट्रीय आन्दोलन के नेता के लिए बहुत ही हैरत-अगेज मालूम होते थे। इस बात का तो उन्हे पूरा हक था कि वह अपने आश्रम मे रहनेवालो के साथ जैसा चाहते बर्ताव करते, क्योकि उन लोगो ने सब तरह की प्रतिज्ञाये ले रक्खी थी और एक तरह का निश्चित अनुशासन स्वीकार कर रक्खा था। लेकिन काँग्रेस ने ऐसी कोई बात नही की थी। मैने ऐसी कोई बात नही की थी। फिर हमे उन सब

कारणो के लिए, जो हमे आध्यात्मिक और रहस्यमय मालूम होते थे, ओर जिनमे हमे कोई दिलचस्पी नही थी, कभी इधर और कभी उधर क्यो फेंका जाता था ? क्या कभी ऐसे आधारो पर किसी राजनैतिक आन्दोलन के चलाये जाने की कल्पना की जा सकती है ? मै यह मानता हूँ कि सत्याग्रह के नैतिक पहलू को अपनी समझ के मुताबिक मैने एक हद तक स्वीकार कर लिया था। उसका वह बुनियादी पहलू मुझे पसन्द था और उससे ऐसा मालूम होता था कि वह राजनीति को अधिक उच्च और श्रेष्ठ पद पर पहुँचा देगा। मै यह भी मानने के लिए तैयार था कि महज उद्देश अच्छा होने से उसे हासिल करने के लिए काम मे लाये जानेवाले सब प्रकार के उपाय अच्छे नही है। लेकिन यह नई तरक्की या नई व्याख्या उससे कही ज्यादा दूर जाती थी और उससे कुछ नई बातें उठ खड़े होने की सम्भावना थी, जिन्होने मुझे विचलित कर दिया।

उस पूरे वक्तव्य ने तो मुझे बहुत ज्यादा विचलित और परेशान किया। उसके अन्त मे गाधीजी ने कॉंग्रेसवालो को जो सलाह दी वह यह थी—"उन्हे आत्मत्याग और स्वेच्छापूर्वक ग्रहण की गई दरिद्रता की कला और सुन्दरता को समझना होगा, उन्हे राष्ट्र-निर्माण के काम मे लग जाना चाहिए, उन्हें स्वय हाथ से कात-बुनकर खद्दर का प्रचार करना चाहिए, उन्हे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे एक दूसरे के साथ निर्दोप सम्पर्क स्थापित करके लोगो के हृदयो मे साम्प्रदायिक ऐक्य का बीज बोना चाहिए, स्वय अपने उदाहरण द्वारा अस्पृश्यता का प्रत्येक रूप मे निवारण करना चाहिए और नशेबाजो के साथ सम्पर्क स्थापित करके और अपने आचरण को पवित्र रखकर मादक चीजो के त्याग का प्रसार करना चाहिए। ये सेवाये है जिनके द्वारा गरीबो की तरह निर्वाह हो सकता है। जो लोग गरीबी मे न रह सकते हो., उन्हे किसी छोटे राष्ट्रीय धन्धे मे पड जाना चाहिए, जिससे वेतन मिल जाय।"

यह था वह राजनैतिक कार्यक्रम, जिसे पूरा करने के लिए हमसे कहा गया था। ऐसा मालूम पडता था कि एक बहुत बडा अन्तर मुझे उनसे अलग कर रहा है। अत्यन्त तीव्र वेदना के साथ मैने यह महसूस किया कि भक्ति के वे सूत्र, जिन्होने इतने वर्षो से उनसे बाँध रक्खा था, टूट गये है। बहुत दिनो से मेरे भीतर एक मानसिक द्वद्व हो रहा था। गाधीजी नें जो बाते की उनमे से बहुत-सी बाते न तो मेरी समझ मे ही आई, न वे मुझे पसन्द ही पडी। सत्याग्रह की लडाई जारी रहते हुए, उसी बीच मे जबकि उनके साथी लडाई की मँझधार मे थे, उनके उपवास और दूसरी बातो मे अपनी ताकत लगाना, उनकी निजी और स्वय-निर्मित उलझने जिन्होने उन्हे इस असाधारण स्थिति मे ला डाला कि जेल से बाहर रहते हुए भी उन्हे अपने लिए यह प्रतिज्ञा करनी पड़ी कि वह राजनैतिक आन्दोलन मे भाग नही लेगे, उनकी नई-नई

निष्ठाये और नई प्रतिज्ञाये, जिन्होने उनकी पुरानी निष्ठाओ और प्रतिज्ञाओ और कामो को, जो उन्होंने बहुत-से अपने साथियो के साथ लिये थे, और जो अबतक पूरे न हो हो सके थे, पीछे ढकेल दिया। इन सबने मुझे बहुत ही परेशान किया। मै चन्द दिन जो जेल से बाहर रहा, उस समय मैंने इन और दूसरे मतभेदो को बहुत ही महसूस किया। गाधीजी ने कहा था कि हमारे मतभेदो का कारण स्वभावो की भिन्नता है। लेकिन शायद बात इससे और भी आगे बढी हुई थी। मैंने यह अनुभव किया कि बहुत-से मामलो मे मेरे साफ और निश्चित विचार है और वे उनके विचारो से नही मिलते। और फिर भी अबतक मै इस बात की कोशिश करता रहा कि जहाँतक हो सके, राष्ट्रीय आजादी के जिस ध्येय के लिए कांग्रेस कोशिश कर रही थी और जिसके प्रति मेरी अत्यन्त भक्ति थी उसके सामने, मै अपने खयालो को दबाये रखूँ। अपने नेता और अपने साथियो के प्रति वफादार और विश्वासपात्र बनने की मैंने हमेशा कोशिश की क्योकि मेरे आध्यात्मिक दृष्टिबिन्दु से ध्येय के प्रति निष्ठा और अपने साथियो के प्रति वफादारी का स्थान बहुत ऊँचा है। जब-जब मैंने यह महसूस किया कि मुझे अपने आध्यात्मिक विश्वास के लगर से दूर खीचा जा रहा है, तब-तब मुझे अपने मन मे बड़े-बडे अन्तर्द्वन्द्व लडने पडे है, लेकिन उस वक्त मैंने किसी-न-किसी तरह समझौता कर लिया। शायद ऐसा करके मैंने गलती की, क्योकि यह तो किसीके लिए ठीक नही हो सकता कि वह अपने आध्यात्मिक लगर को छोड दे। लेकिन आदर्शो की इस टक्कर मे मै अपने साथियो के प्रति वफादारी के आदर्श से चिपटा रहा और यह आशा करता रहा कि घटनाओ की रेल-पेल और हमारी लडाई का विकास उन सब मुश्किलो को दूर कर देगा जो मुझे दुःख दे रही है और मेरे साथियो को मेरे दृष्टिकोण के नजदीक ले आयगा।

और अब तो यकायक मुझे अलीपुर की उस जेल मे बड़ा अकेलापन मालूम होने लगा। जीवन बहुत ही दुःखमय, जैसे भयावना सूनापन हो। जीवन मे मैंने जो कितने ही कठोर सत्य अनुभव किये है, उनमे सबसे अधिक कठोर और दुखदायी सत्य इस समय मेरे सामने था, और वह यह था कि महत्वपूर्ण विषयो पर किसीका भरोसा करना उचित नही है। हरेक आदमी को अपनी जीवन-यात्रा मे अपने ऊपर ही भरोसा रखना चाहिए, दूसरो पर भरोसा करना ज़बर्दस्त निराशा और आफतो को न्यौता देना है।

मेरे इस रुके हुए क्रोध का कुछ हिस्सा धर्म और धार्मिक दृष्टिकोण पर टूट पडा। मैंने सोचा यह दृष्टिकोण विचारो की स्पष्टता और उद्देश्य की स्थिरता का कितना भारी दुश्मन है? क्या उसका आधार भावुकता और मनोविकार नही है? यह दृष्टि-

कोण दावा तो करता है आध्यात्मिकता का, लेकिन असली आध्यात्मिकता और आत्मा की चीजो से वह कितनी दूर है ? हमेशा दूसरी दुनिया की बातें सोचते-सोचते मानव-स्वभाव, सामाजिक रूप और सामाजिक न्याय का उमे कुछ पता ही नही रहता। अपनी पूर्वकल्पित धारणाओ के कारण धर्म जान-बूझकर उस डर से वास्तविकता से अपनी आँखे मूँद लेना है कि शायद उनसे मेल न खाय। वह अपनी बुनियाद सचाई पर बनाता है फिर भी उसे सत्य को—सपूर्ण सत्य को पा लेने का इतना विश्वास हो जाता है कि वह इस बात के जानने का कष्ट नही करता कि उसे जो कुछ मिला है वह असल मे सत्य है यह नही ? वह तो दूसरो को उसके विषय मे कह देना भर ही अपना काम समझता है। सत्य को ढूँढने का सकल्प और विश्वास की भावना दोनो जुदी-जुदी चीजे है। धर्म बातें तो शाति की करता है लेकिन उन प्रणालियो और व्यवस्थाओ का समर्थन करता है जो विना हिंसा के जिन्दा नही रह सकती। वह तलवार से की जानेवाली हिंसा की तो बुराई करता है लेकिन उस हिंसा का क्या जो अक्सर शाति का लबादा ओढे चुप-चाप आती है और लोगो को भूखो तडपाती और जान से मार डालती है या जो इससे भी ज्यादा बुरा काम यह करती है कि बिना किसी प्रकार के जाहिरा शरीरिक कष्ट पहुँचाये मन पर बलात्कार करती है, आत्मा को कुचलती है और हृदय के टुकडे-टुकडे कर डालती है ?

और इसके बाद मैं फिर उसी शख्स की बाबत सोचने लगा जिसने कि मेरे मन मे यह खलबली पैदा की। आखिर गाधीजी कैसे आश्चर्यजनक आदमी है। उनकी मोहकता कितनी हैरत अगेज और सर्वथा अबाध है और लोगो पर उनका कैसा अजीब काबू है। उनकी बातें और उनके लेख उनकी वास्तविकता का बहुत कम परिचय करा पाते हैं। इनसे उनके विषय मे लोग जितनी कल्पना कर सकते है, उनका व्यक्तित्व उससे कही ऊँचा है। और भारत के लिए उनकी सेवाये कितनी महान् है। उन्होने भारत की जनता मे साहस और मर्दानगी फूँक दी है, अनुशासन और कष्ट-सहन, ध्येय पर खुशी-खुशी कुर्बान हो जाने की और पूर्ण नम्रता के साथ स्वाभिमान की भावना पैदा कर दी है। उन्होने कहा है कि चरित्र की वास्तविक नीव साहस ही है। बिना साहस के न तो सदाचार ही सध सकता है, न धर्म और न प्रेम ही। "जब तक कोई भय का शिकार रहता है तबतक वह न तो सत्य का पालन कर सकता है, न प्रेम ही कर सकता है।" हिंसा को वह बहुत ही बुरा समझते है, फिर भी उन्होने हमको यह बताया है कि "कायरता तो एक ऐसी चीज है जो हिंसा से भी बुरी है।" और "अनुशासन इस बात की प्रतिज्ञा और गैरटी है कि आदमी जिस काम को हाथ मे ले रहा है उसे करना चाहता है। बलिदान, अनुशासन

और आत्म-सयम के बिना न तो मुक्ति ही हो सकती है, न कोई आशा ही पूरी हो सकती है।" शायद ये कोरे शब्द या सुन्दर वाक्य और खाली उपदेश ही हो। लेकिन इन शब्दो के पीछे ताकत थी, और हिन्दुस्तान यह जानता है कि यह छोटा-सा व्यक्ति जो कहता है, ईमानदारी से पूरा करना चाहता है।

आश्चर्यजनक रूप मे वह हिन्दुस्तान के प्रतिनिधि बन गये और इस प्राचीन और पीडित भूमि की अन्तरात्मा को प्रकट करने लगे। एक प्रकार से वह खुद भारत के प्रतिबिम्ब थे-और उनमे जो त्रुटियाँ थी, वे भारत की त्रुटियाँ थी। उनका अपमान शायद ही व्यक्तिगत अपमान समझा जाता हो, वह तो सारे राष्ट्र का अपमान था और वाइसराय और दूसरे लोग जो ऐसी घृणित हरकते कर रहे थे यह नही जानते थे कि वे कैसी खतरनाक फसल वो रहे है। दिसम्बर १९३१ मे जब गाधीजी गोलमेज कान्फ्रेस से लौट रहे थे, तब यह जानकर कि पोप ने गाधीजी से मिलने से इन्कार कर दिया है मुझे कितना दुख हुआ था वह मुझे याद है। मुझे यह अपमान हिन्दुस्तान का अपमान प्रतीत हुआ और इसमे तो कोई शक ही नही कि इन्कार तो जान-बूझकर किया गया था। यह बात दूसरी है कि ऐसा करते समय शायद अपमान करने की कल्पना न रही हो। कैथोलिक मतानुयायी अपने फिरके से बाहर सन्त और महात्मा का होना स्वीकार नही करते और क्योकि प्रोटेस्टेन्ट मत के कुछ लोगो ने गाधीजी को सच्चा ईसाई और बडा धर्मात्मा बताया इसलिए रोम के लिए यह और भी जरूरी हो गया कि वह इस कुफ्र से अपने को अलग रक्खे।

अप्रैल १९३४ मे, अलीपुर-जेल में करीब-करीब इसी समय मैंने बर्नार्ड शा के नये नाटक पढे और 'ऑन दि रॉक्स्' (शिला पर) नाम के नाटक की वह भूमिका, जिसमे ईसामसीह और पाइलेट की बहस भी है, मुझे बहुत अच्छी लगी। आज जबकि एक साम्राज्य दूसरे धार्मिक व्यक्ति का मुकाबिला कर रहा है मुझे यह भूमिका इस समय के लिए सार्थक प्रतीत हुई। इसमे ईसामसीह ने पाईलेट से कहा है—"मै तुमसे कहता हूँ कि डर छोड दो। रोम की महत्ता के बारे में मुझसे व्यर्थ की बाते मत करो। जिसे तुम रोम की महत्ता कहते हो वह डर के सिवा और कुछ नही है। भूत का डर, भविष्य का डर, गरीबो का डर, अमीरो का डर, उच्चमठाधीशो का डर, उन यहूदियो और यूनानियो का डर जो विद्वान् है, उन गॉल निवासियो, गोथो और हूणो का डर जो जगली है, उस कार्थेज का, जिसके डर से अपनेको बचाने के लिए तुमने उसे बरबाद कर दिया, और अब पहले से भी ज्यादा बुरा डर शाही सीजर की उस मूर्ति का, जो तुम्हीने बनाई है और मुझ-सरीखे कौडीहीन दर-दर के भिखारी का, ठुकराये जानेवाले का, उपहास किये जानेवाले का डर और ईश्वर के राज्य को छोड

कर बाकी सब चीजों का डर। खून-खराबी और धन-दौलत के सिवा और किसी वस्तु में श्रद्धा नही। तुम जो रोम के हिमायती हो, जगत-उजागर कायर हो और मै जो ससार मे ईश्वरीय सत्ता का हामी हूँ, प्राणपन की बाजी लगा चुका हू, सर्वस्व तक गवाँ चुका हूँ और इस प्रकार अमर साम्राज्य विजय कर चुका हूँ।"

लेकिन गाधीजी की महत्ता, भारत के प्रति उनकी महान् सेवाये या मेरे प्रति उनकी महान् उदारताये, जिनके लिए मै उनका ऋणी हूँ, इनका कोई प्रश्न ही नही है। इस सब बातो के होते हुए भी वह बहुत-सी बातो मे, बुरी तरह गलती कर सकते हैं। आखिर उनका मकसद क्या है? इतने वर्षों तक उनके नजदीक-से-नजदीक रहने पर भी मुझे खुद अपने दिमाग मे यह बात साफ-साफ नही दिखाई देती कि उनका ध्येय आखिर क्या है। मुझे तो इस बात मे भी शक है कि इस मामले मे खुद उनका दिमाग कहाँतक साफ है। वह कहते है कि मेरे लिए तो एक ही कदम काफी है, और वह भविष्य की तरफ देखने की, अपने सामने कोई सुनिश्चित ध्येय रखने की कोशिश नही करते। वह यह कहते-कहते कभी नही थकते कि हम अपने साधनो की चिता रक्खे तो साध्य अपने आप ठीक हो जायगा। अपने निजी जीवन मे पवित्र बने रहो तो बाकी सब बाते अपने आप ठीक हो जायँगी। यह दृष्टि न तो राजनैतिक है, न वैज्ञानिक, और शायद यह तो नैतिक भी नही है। यह तो सकुचित आचार दृष्टि है, जो इस प्रश्न का, कि सदाचार क्या वस्तु है, पहले से ही निर्णय कर लेती है। क्या वह केवल एक व्यक्तिगत वस्तु है या सामाजिक विषय? गान्धीजी चरित्र पर ही सब जोर लगा देते है, और मानसिक शिक्षा और विकास को बिलकुल महत्व नही देते। यह ठीक है कि चरित्र के बिना बुद्धि खतरनाक साबित हो सकती है, लेकिन बुद्धि के बिना चरित्र मे क्या रह जाता है? सचमुच, आखिर चरित्र का विकास कैसे होता है? गान्धीजी की तुलना मध्यकालीन ईसाई सन्तो से की गई है और वह जो कुछ कहते है उसका अधिकाश इसके अनुकूल भी है। लेकिन वह आजकल मनोवैज्ञानिक अनुभव और तरीके से कतई मेल नही खाता।

लेकिन यह कुछ भी हो, ध्येय की अस्पष्टता तो मुझे अत्यन्त खेदजनक प्रतीत होती है। किसी भी कार्य की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि उसका ध्येय सुनिश्चित और सुस्पष्ट हो। जीवन केवल तर्कशास्त्र नही है और यद्यपि उसकी सफलता के लिए समय-समय पर हमे अपने आदर्श बदलने पडते हों, फिर भी हमे कोई-न-कोई स्पष्ट आदर्श तो अपने सामने रखना ही होगा।

मेरा खयाल है कि ध्येय के सम्बन्ध मे गाधीजी के विचार उतने अस्पष्ट नही है जितने वह कभी-कभी मालूम होते है। वह किसी एक खास दिशा मे जाने के लिए

बहुत अधिक उत्सुक है। लेकिन उस तरफ जाना आजकल के खयालो और आजकल की परिस्थितियो के बिलकुल खिलाफ है, और अवतक वह इन दोनो का एक दूसरे से मेल नही मिला पाये है, न कोई बीच की वे सब पगडण्डियाँ ही खोज पाये है जो उन्हे अपने निश्चित स्थान पर पहुँचा दे। यही उनके ध्येय की अस्पष्टता और उसके स्पष्टीकरण के अभाव का कारण है। लेकिन कोई पचास वरस से, उस वक्त से, जवसे उन्होने दक्षिण अफ्रीका मे अपने जीवन-सिद्धान्त निश्चित करना शुरू किये तवसे उनका साधारण दृष्टिकोण कैसा रहा है यह साफ जाहिर है। मुझे पता नही कि उनके वे शुरू के लेख, अव भी उनके विचारो के द्योतक है या नही। वे उनके विचारो को पूरी तरह व्यक्त करते है मुझे तो इस वात मे शक है, लेकिन फिर भी उनसे हमे उनके विचारो की तह मे जो भावनाये काम करती रही है उनके समझने मे मदद मिलती है।

१९०९ मे उन्होने लिखा था—"हिन्दुस्तान का उद्धार इसीमें है कि उसने पिछले पचास साल मे जो कुछ भी सीखा है उसे भूल जाय। रेलवे, तार या अस्पताल, वकील, डाक्टर और इस तरह की सभी चीजे मिट जानी चाहिएँ, और ऊँची कही जाने-वाली जातियो को स्वेच्छापूर्वक धर्म-भाव से और निश्चित रूप से किसानो का सादा जीवन विताना सीखना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार का जीवन ही सच्चा सुख देने-वाला है।" और "जब-जब मै रेल या मोटर मे वैठता हूँ, मुझे ऐसा महसूस होता है कि जिस बात को मै ठीक समझता हूँ उसीके साथ मै ज्यादती कर रहा हूँ।" "इतनी अधिक कृत्रिम और तेजी से चलनेवाली चीजो से दुनिया का सुधार करने की कोशिश कतई गैरमुमकिन है।"

ये सब मुझे बिलकुल गलत और नुकसान पहुँचानेवाली वाते मालूम होती है जिनका पूरा हो सकना असम्भव है। कष्ट-सहन और तपस्वी जीवन के प्रति गाधीजी का जो प्रेम और आदर है वही उक्त सब वातो का कारण है। उनके मत से उन्नति और सभ्यता इस वात मे नही है कि हम अपनी आवश्यकताओ को वढाते चले जायँ और अपने रहन-सहन का ढग ज्यादा खर्चीला करले, वल्कि इस वात मे है कि "अपनी जरूरतो को स्वेच्छा से और प्रसन्नतापूर्वक हम कम करले, क्योंकि ऐसा करने से सच्चा सुख और सन्तोष मिलता है और सेवा करने की शक्ति बढ़ती है।" अगर हम एक बार इन उपपत्तियो को मानले तो गाधीजी के बाकी के विचारो और उनके कार्य-कलापो को समझना आसान हो जाता है। लेकिन हममें से ज्यादातर लोग इनको नही मानते और जब हम यह देखते है कि उनके काम हमारी पसन्द के मुताविक नही है, तब हम उनकी शिकायत करने लगते है।

व्यक्तिगत रूप से मुझे गरीबो की और तकलीफ झेलने की तारीफ करना पसन्द

नही है । मैं यह नही समझता कि वे किसी प्रकार वाछनीय है, बल्कि मेरी राय में तो उन्हे मिटा देना चाहिए । न मैं सामाजिक आदर्श की दृष्टि से तपस्वी-जीवन को पसन्द करता हूँ, चाहे कुछ व्यक्तियो के लिए वह ठीक ही हो । मैं सादगी, समानता और आत्म-सयम चाहता हूँ और उसकी कद्र भी करता हूँ, लेकिन शारीरिक दमन करने के पक्ष मे नही हूँ । मेरा विश्वास है कि जैसे खिलाडी या पहलवान के लिए अपने शरीर की साधना जरूरी है वैसे ही इस बात की भी जरूरत है कि हम अपने मन और अपनी आदतो को साधे और उन्हे अपने नियन्त्रण मे रक्खे । यह आशा करना तो बेहूदगी होगा कि जो व्यक्ति अत्यधिक विलासमय जीवन मे फँसा हुआ है, वह सकट के दिन आने पर ज्यादा तकलीफ बर्दाश्त कर सकेगा या असाधारण आत्म-सयम दिखा सकेगा या वीरोचित व्यवहार कर सकेगा । नैतिक दृष्टि से उच्च रहने के लिए भी साधना की कम-से-कम उतनी ही जरूरत है जितनी कि शरीर को अच्छी हालत मे रखने के लिए । लेकिन सचमुच इसके मानी न तो सीमारहित सयम है और न आत्मपीडन ही है ।

'किसानो की-सी सादा जिन्दगी' का आदर्श मुझे जरा भी अच्छा नही लगता । मैं तो करीब-करीब उससे घबडाता-सा हूँ और खुद उनकी सी जिन्दगी बर्दाश्त करने के बदले मैं तो किसानो को भी उस जिन्दगी मे से खीचकर बाहर निकाल लाना चाहता हूँ—उन्हे शहरी बनाकर नही बल्कि देहातो मे शहरो की सास्कृतिक सुविधाये पहुँचा कर । किसानो की सी यह सादा जिन्दगी मुझे सुख तो कतई नही देती, वह तो मुझे करीब-करीब उतनी ही बुरी मालूम होती है जितना कि जेलखाना । आखिर "फावडेवाले आदमियो" मे ऐसी क्या बात है कि उसे अपना आदर्श बनाया जाय ? असख्य युगो से इस पद-दलित और शोषित प्राणी में और उन पशुओ मे जिनके साथ वह रहता है, कोई अन्तर नही रह गया है ।

"किसने यो कर दिया उसे है मृत-सा हर्ष-निराशा से ?
व्याकुल नहीं शोक से होता, और प्रफुल्लित आशा से ।
स्तब्ध, मूक, जडरूप खडा वह, करे शिकायत क्या किससे ?
मानव है या वृषभ सहोदर उपमा इसकी दे जिससे ।"[१]

मानव-बुद्धि से काम न लेकर पुराने जगलीपन की स्थिति मे, जहाँ बौद्धिक विकास के लिए कोई स्थान नही था, पहुँचने की बात मेरी समझ मे बिलकुल नही

१ मूल अंग्रेज़ी पद्य इस प्रकार है .—

"Who made him dead to rapture and despair,
A thing that grieves not and that never hopes,
Stolid and stunned, a brother to the ox?'

आती । स्वय उस वस्तु को, जो मानवप्राणी के लिए उसकी विजय और गौरव की बात है, बुरा बताया जाता है और अनुत्साहित किया जाता है और वह भौतिक स्थिति, जो दिमाग के लिए भाररूप है और उसकी तरक्की को रोकती है, वाछनीय समझी जाती है। वर्तमान सभ्यता बुराइयो से भरी हुई है, लेकिन उसमे अच्छाइयाँ भी भरी पडी है, और उसमे वह ताकत भी है जिससे वह अपनी बुराइयो को दूर कर सके। उसको जड-मूल से बरबाद करना, उसकी इस ताकत को भी बरबाद करना होगा और फिर उसी नीरस प्रकाशहीन और दु खमय स्थिति की ओर पहुँचना होगा। यदि ऐसा करना वाछनीय हो, तो भी वह एक अनहोनी बात है। हम परिवर्तन की नदी को रोक नही सकते, न अपने को उसके बहाव से निकाल सकते है, और मनोविज्ञान की दृष्टि से हममे से जिन लोगो ने वर्तमान सभ्यता का स्वाद चख लिया है वे उसे भूलकर पुरानी जगलीपन की स्थिति मे जाना पसन्द नही कर सकते।

इस बात को समझना मुश्किल है, क्योकि ये दोनो दृष्टिकोण बिलकुल जुदे है। गाधीजी हमेशा व्यक्तिगत मुक्ति और पाप की भाषा मे सोचते है, जब कि हममे से अधिकाश लोगो के मन मे समाज की भलाई सबसे ऊपर है। मेरे लिए पाप की कल्पना को समझ सकना मुश्किल मालूम पडता है और शायद इसीलिए मैं गाधीजी के साधारण दृष्टिकोण को नही समझ पाता हूँ। वह समाज या सामाजिक ढाचे को बदलना नही चाहते, वह तो व्यक्तियो मे से पाप की भावना को नष्ट कर देना चाहते है। उन्होने लिखा है कि "स्वदेशी का माननेवाला कभी दुनिया को सुधारने के निरर्थक प्रयत्न मे हाथ नही डालेगा, क्योकि उसका विश्वास है कि दुनिया उन्ही नियमो से चलती आई है और चलती रहेगी, जो ईश्वर ने बना दिये है।" फिर भी दुनिया को सुधारने के प्रयत्नो मे वह काफी आगे बढ जाते है। पर वह जो सुधार करना चाहते है वह है व्यक्तिगत सुधार, जिसके मानी है इन्द्रियो पर और उनका उपभोग करने की पापमयी इच्छा पर, विजय प्राप्त करना। फासिज्म पर लिखनेवाले एक योग्य रोमन कैथोलिक लेखक ने आजादी की जो परिभाषा की है, शायद गाधीजी उससे सहमत होगे। वह परिभाषा यह है—"आजादी पाप के बन्धन से छुटकारा पाने के सिवाय और कुछ नही है।" दो सौ बरस पहले लन्दन के बिशप ने जो शब्द लिखे थे उनसे यह कितना मिलता-जुलता है। वे शब्द ये थे—"ईसाई धर्म जो आजादी देता है वह है पाप और शैतान के बन्धनो से और मनुष्य की बुरी कामनाओ, वासनाओ और असाधारण इच्छाओ के जाल से मुक्ति।"[1]

१. यह उद्धरण जिस पत्र से लिया गया है वह ४५६ पृष्ठ पर दिया जा चुका है

अगर एक बार इस दृष्टिकोण को समझ लिया जाय तो स्त्री-पुरुष के सहवास के बारे मे गाँधीजी का जो रुख है और जोकि आजकल के औसत आदमी को गैर-मामूली-सा मालूम होता है वह भी कुछ-कुछ समझ मे आ सकता है। उनकी राय मे "जब सन्तान की इच्छा न हो तब स्त्री-पुरुष को आपस मे सहवास करना पाप है।" और "सन्तति-निग्रह के कृत्रिम साधनो को काम मे लाने का परिणाम नपुसकता और स्नायविक ह्रास होता है।" "अपने कामो के परिणामो से बचने की कोशिश करना गलत और पापमय है। यह बुरा है कि पहले तो जरूरत से ज्यादा पेट भरले और फिर कोई टानिक या दूसरी दवा लेकर उसके नतीजो से बचने की कोशिश करे। और यह तो और भी बुरा है कि कोई शख्स पहले तो अपने पाशविक मनोविकारो को तृप्त करे और फिर उसके परिणामो से बचे।"

जाती तौर पर मै गाधीजी के इस रुख को बिलकुल अस्वाभाविक और भयावह पाता हूँ और अगर गाधीजी की बात सही है तो मै तो उन पापियो मे से हूँ जो नपुसकता और स्नायविक ह्रास के नजदीक पहुँच चुके है। रोमन कैथोलिको ने भी बडे जोरो से सन्तति-निग्रह की मुखालिफत की है। लेकिन वे अपनी दलीलो को उस आखिरी दर्जे तक नही ले गये जिस दर्जे तक गाधीजी ले गये है। उसे वे इन्सानी-फितरत समझते है, उसके साथ उन्होने कुछ समझौता कर लिया है और समयानुसार छूट देदी है।[1] लेकिन गाधीजी तो अपनी दलील की आखिरी हद तक पहुँच गये है और वह तो सन्तान पैदा करने के सिवा और किसी भी समय स्त्री-पुरुष के प्रसग को जरूरी या जायज नही समझते। वह इस बात को मानने से इन्कार करते है कि स्त्री-पुरुषो मे परस्पर एक दूसरे की तरफ कुदरती खिचाव होता है। उनका कहना है—"लेकिन मुझसे कहा जाता है कि यह आदर्श तो असम्भव कल्पना है और स्त्री-पुरुषो में जो एक-दूसरे के लिए स्वाभाविक आकर्षण होता है उसे मै ध्यान मे नही रखता। मै यह मानने से इन्कार करता हूँ कि जिस आकर्षण का सकेत किया गया वह किसी भी हालत मे प्राकृतिक माना जा सकता है, और अगर वह ऐसा ही है तो

१ ईसाइयों के विवाह के बारे में ११ वें पायस पोप ने ३१ दिसम्बर १६३१ को जो धर्माज्ञा दी है उसमें कहा है—"अगर विवाहित लोग अपने हक़ों का गम्भीर और प्राकृतिक कारणों से उपयोग करें तो यह नहीं माना जाना चाहिए कि वे प्रकृति की व्यवस्था के ख़िलाफ़ काम कर रहे हैं, फिर चाहे समय की परिस्थिति या किसी ख़राबी के कारण उनके बच्चे पैदा हो या न हों!" समय की परिस्थिति से मतलब ज़ाहिरा तौर पर 'सुरक्षित समय कहे जानेवाले' उस वक्त से है, जब गर्भाधान सम्भव नहीं समझा जाता।

सर्वनाश को बहुत निकट समझना चाहिए। पुरुष और स्त्री मे जो स्वाभाविक सम्बन्ध है वह वही आकर्षण है जो भाई और बहिन मे, मा और बेटे मे, बाप और बेटी मे होता है। यही वह स्वाभाविक आकर्षण है, जो दुनिया को कायम रक्खे हुए है।" और आगे चलकर इससे भी ज्यादा जोर से कहते है—"नही, अपनी पूरी ताकत के साथ कहना चाहिए कि पति-पत्नि का ऐन्द्रिक आकर्षण भी अप्राकृतिक है।"

ऑडीपस कॉम्प्लेक्स[1] और फ्रूड के विचारो और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के इस युग मे किसी विश्वास को इतने जोरदार शब्दो मे प्रकट करना आश्चर्यजनक और असामयिक मालूम होता है। यह तो श्रद्धा का सवाल है, तर्क का नही। इसे आप माने या न माने। इसके बारे मे कोई बीच का रास्ता नही है। अपनी तरफ से तो मैं कह सकता हूँ कि इस मामले मे गाधीजी बिलकुल गलती पर है। कुछ लोगो के लिए उनकी सलाह ठीक हो सकती है, लेकिन एक व्यापक नीति के रूप मे तो इसका नतीजा यही होगा कि लोग ध्वजभग, मृगी वगैरा तरह-तरह के शारीरिक और स्नायविक बीमारियो के शिकार हो जायँगे। विषय-भोग मे सयम जरूर होना चाहिए, लेकिन मुझे इस बात मे शक है कि गाधीजी के उसूलो से यह सयम किसी बडी हद तक हो सकेगा। वह सयम बहुत अधिक कडा है, और ज्यादातर लोग यही समझते है कि वह उनकी ताकत के बाहर है, और इसलिए आमतौर पर अपने मामूली तरीके पर चलते रहते है और अगर नही चलते तो पति-पत्नी मे खटपट हो जाती है। स्पष्टत. गाधीजी यह समझते है कि सन्तति-निग्रह के साधनो से निश्चित रूप से लोग अत्यधिक मात्रा मे काम-तृप्ति मे लग जायँगे और अगर स्त्री और पुरुष का यह इन्द्रिय-सम्बन्ध मान लिया जाय, तो हर मर्द हर औरत के पीछे दौडेगा और इसी तरह हर स्त्री हर पुरुष के पीछे। उनके

१ ऑडीपस थेबीज़ के राजा लेइस का लड़का था। इसके जन्म के समय यह भविष्यवाणी हुई थी कि लेइस अपने लड़के के हाथों मारा जायगा। इसपर लेइस ने उसे एक चरवाहे को दे दिया, और उसने कॉरिन्थ के बादशाह पॉलिबस को दे दिया। उसने उसे अपना दत्तक पुत्र बना लिया। जब ऑडीपस बडा हुआ और जब उसे इस भविष्यवाणी का पता लगा कि वह अपने बाप को मार डालेगा अपनी मा से शादी कर लेगा, तो घर छोडकर चल दिया। रास्ते में उसे उसका बाप लेइस और मा जोकेस्टा मिली। वह उन्हे पहचानता न था, अतः बात-ही-बात में उत्तेजना बढ़ जाने पर उसने लेइस को मार डाला और जोकेस्टा से शादी कर ली। उससे उसके तीन बच्चे हुए। अतः मन.शास्त्री फ्रूड के मतानुसार 'ऑडीपस कॉम्प्लेक्स' का अर्थ है, वह चित्तवृत्ति जिसके अनुसार लड़के की अपनी मा के प्रति और लडकी का अपने पिता के प्रति कामुक आकर्षण हो।

कभी-कभी वह अपनेको समाजवादी भी कहते है, लेकिन वह समाजवाद शब्द का प्रयोग एक ऐसे अनोखे अर्थ मे करते है जो खुद उनका अपना लगाया हुआ है और जिसका उस आर्थिक ढांचे से कोई सरोकार नही है जो आम तौर पर समाजवाद के नाम से पुकारा जाता है। उनकी रहनुमाई मे पीछे-पीछे चलते हुए कुछ नामी-गरामी कॉंग्रेसी भी उन्हीके अर्थ मे समाजवाद शब्द का इस्तैमाल करने लगे है, लेकिन उस समाजवाद से उनका मतलब 'खुदा के बन्दो की एक किस्म की गोलमटोल खिदमत से होता है। इस गोलमटोल राजनैतिक शब्दावली का प्रयोग करने मे वह जो गलती करते है उसमे बडे-बडे नामी शख्स उनके साथ है, क्योकि वह तो सिर्फ ब्रिटिश नेशनल सरकार के प्रधान मन्त्री की मिसाल के पीछे ही चल रहे है।[1] मै यह जानता हूँ कि गाधीजी समाजवाद से नावाकिफ नही है क्योकि उन्होने अर्थशास्त्र, समाजवाद और मार्क्सवाद पर भी बहुत-सी किताबे पढी है और इन विषयो पर दूसरो के साथ वाद-विवाद भी किया है, लेकिन मेरे मन मे यह विश्वास घर करता जाता है कि अत्यन्त महत्व के मामलो मे अकेला दिमाग बजात खुद हमे ज्यादा दूर तक नही ले जाता। विलियम जेम्स ने कहा है कि—"अगर आपका दिल नही चाहता तो इतमीनान रखिए कि आपका दिमाग आपको कभी भी विश्वास नही करने देगा।" हमारे मनोविकार हमारी आम निगाह पर शासन करते है और मन उनके काबू मे रहता है। हमारी बातचीत फिर चाहे वह धार्मिक हो या राजनैतिक या आर्थिक, असल मे तो सहज ज्ञान या मनोभावो पर ही निर्भर रहती है। शौपेनहर ने कहा है कि—"मनुष्य जिस बात का सकल्प करे, उसे वह पूरा कर सकता है, लेकिन वह जिस बात का सकल्प करना चाहे उसका सकल्प नही कर सकता।'

दक्षिण अफ्रीका मे अपने शुरू के दिनो मे गाधीजी मे बहुत जबरदस्त तबदीली हुई। इससे वह एक दम हिल गये और जीवन के बारे मे उनकी विचार-दृष्टि बदल गई। तबसे उन्होने अपने तमाम खयालो के लिए एक बुनियाद बना ली और अब वह किसी सवाल पर उस बुनियाद से हटकर स्वतन्त्र रूप से विचार नही कर सकते। जो लोग उनको कई बाते सुझाते है उनकी बातो को वह बडे भारी धीरज और ध्यान से सुनते है, लेकिन उनसे बाते करनेवाले पर यह असर पडता है कि वह जो

१. जनवरी, सन् ३५ में एडिनबरा में अनुदार और यूनियनिस्टों के एसोसियेशन के संघ को एक सन्देश देते हुए मि० रेमजे मेकडोनेल्ड ने कहा था कि—"समय की कठिनाइयाँ हरेक मुल्क के लोगों के लिए यह लाज़िमी बना रही हैं कि वे एक होकर अपनी तमाम ताक़त से काम करें। यही सच्चा समाजवाद है, और यही सच्ची राष्ट्रीयता भी है और सच बात तो यह है कि सच्चा व्यक्तिवाद भी यही है।"

शराफत व दिलचस्पी दिखा रहे हैं उस सबके बावजूद उन बातों के लिए उनके मन का दरवाज़ा बन्द है। कुछ ख़यालात से उनका लगर ऐसा बंध गया है कि और सब बाते उन्हे महत्त्व की नही मालूम होती। उनकी राय मे दूसरी और अ-प्रधान बातो पर जोर देने से ज्यादा बडी योजना से ध्यान हट जायगा और उसका रूप विकृत हो जायगा। अगर हम उस लगर को पकडे रहे तो नतीजा यह होगा कि दूसरे सभी काम जरूरी तौर पर अपने-आप वाजिब तरीके से ठीक हो जायँगे। अगर हमारे साधन ठीक है तो साध्य भी लाजिमी तौर पर ठीक हो जायगा।

मेरे ख़याल से उनके विचारो का आधार यही है। वह समाजवाद को और उससे भी ज्यादा खास तौर पर मार्क्सवाद को सदेह की दृष्टि से देखते है, क्योकि वह हिसा से सम्बन्धित है। "वर्ग-युद्ध" शब्द मे ही उन्हे लडाई और हिसा की बू आती है, और इसलिए वह उसे नापसन्द करते है। इसके अलावा वह यह भी नही चाहते कि आम लोगो के रहन-सहन को एक बहुत मामूली पैमाने से ज्यादा ऊँचा बढाया जाय, क्योकि अगर लोग ज्यादा आराम से और फुर्सत मे रहेगे तो उससे भोग-विलास और पाप की वृद्धि होगी। यही क्या कम बुरा है कि मुट्ठीभर अमीर लोग भोग-विलास मे लगे रहते है, अगर ऐसे लोगो की तादाद और भी बढा दी गई तब तो बहुत ही बुरा हो जायगा। १९२६ मे उन्होने जो एक खत लिखा था उससे हम ऐसे कुछ नतीजे निकाल सकते है। इग्लैण्ड मे उन दिनो कोयले की खानो मे मजदूरो ने बहुत बडी हडताल कर दी थी, और खानो के मालिको ने खाने बन्द कर दी थी। इस कशमकश के दौरान मे उनके पास जो खत आया था, उसके जवाब में उन्होने यह खत लिखा था। जिन साहब ने उन्हे खत भेजा था, उन्होने उसमें यह दलील पेश की थी कि इस लडाई मे मजदूर हार जायेगे, क्योकि उनकी तादाद बहुत ज्यादा है। इसलिए उन्हे चाहिए कि वह कृत्रिम साधनो से मदद लेकर ज्यादा सन्तान पैदा करना बन्द कर दे और इस तरह अपनी तादाद घटा ले। इस खत का जवाब देते हुए गाधीजी ने लिखा था—"आखिरी बात यह है कि अगर खानो के मालिक गलत रास्ते पर होने पर भी जीत जायेगे, तो उनकी यह जीत महज इसलिए नही होगी कि मजदूर ज्यादा सन्तान पैदा करते है, बल्कि इसलिए होगी, कि मजदूरो ने जिन्दगी मे हर तरफ सयम से काम लेना नही सीखा। अगर खानो के मजदूरो के बच्चे न हो तो उन्हे अपनी हालत बेहतर बनाने की कोई प्रेरणा ही नही रहेगी, और फिर वे यह बात भी कैसे साबित कर दिखायेगे कि उनकी मजदूरी बढ़ाई जाने की ज़रूरत है? उनको शराब पीने, जुआ खेलने और सिगरेट पीने की कोई ज़रूरत है? क्या इसके जवाब मे यह कहना ठीक होगा कि खानो के मालिक भी तो यह सब काम करते है, और फिर भी वे चैन की बसी बजाते

है ? अगर मजदूर इस बात का दावा नही कर सकते कि वे कुछ बात मे पूजीपतियो मे बेहतर है तो फिर उन्हे दुनिया की हमदर्दी हासिल करने का क्या हक है ? क्या इसलिए कि वे पूजीपतियो की तादाद बढावे और पूजीवाद को मजबूत करे ? हमसे कहा जाता है कि हम लोकतन्त्र के सामने अपने सिर झुका दे,क्योकि वादा यह किया जाता है कि जब लोकतन्त्र की पूरी हुकूमत होगी तब दुनिया की हालत बेहतर हो जायगी। पूजीवाद और पूजीपतियो के सिर हम जिन बुराइयो को थोपते है, वे ही खुद हमे और भी ज्यादा बडे पैमाने पर पैदा नही करनी चाहिएँ।"[1]

जब मैने इसे पढ़ा, तब खानो मे काम करनेवाले अंग्रेज मजदूरों और उनकी औरतो व बच्चो के भूख से उतरे हुए और पिचके हुए चेहरे मेरी आँखो के सामने आ गये, जो मैने १९२६ की गर्मियो मे देखे थे। वे गरीब मजदूर उस समय उन्हें कुचलनेवाली पैशाचिक प्रणाली के खिलाफ लड रहे थे। इस लडाई मे वे बिल्कुल असहाय थे और उनकी हालत पर रहम आता था। गाधीजी ने जो बाते लिखी है, वे पूरी तरह सही नही है, क्योकि खानो के मजदूर मजदूरी बढवाने के लिए नही लड रहे थे, वे तो इस बात के लिए लड रहे थे कि जो मजूरी उन्हे मिलती है उसमे कमी न की जाय, और जो खाने बन्द करदी गई थी वे खोल दी जायँ। लेकिन इस वक्त हमे इन बातो से कोई ताल्लुक नही। न हमारा ताल्लुक इसी बात से है कि मजदूर लोग कृत्रिम साधनो की मदद लेकर सन्तान पैदा करना रोके या न रोके, यद्यपि मालिको और मजदूरो के लडाई-झगडे को निबटाने के लिए यह एक निराला-सा सुझाव था। मैने तो गाधीजी के जवाब मे से इतनी बात यहाँ इसलिए दी है कि जिससे हम लोगो को यह बात समझने मे मदद मिले कि मजदूरो के रहन-सहन के ढग को ऊँचा बनाने की आम माँग के मामले मे और मजदूरो के दूसरे मामलो मे गाधीजी का दृष्टिकोण क्या है। उनका यह दृष्टिकोण समाजवादी दृष्टिकोण से—और समाजवादी दृष्टिकोण ही से क्यो, सच बात तो यह है कि पूजीवादी दृष्टिकोण से भी—काफी दूर है। गाधीजी को इस बात मे ज्यादा दिलचस्पी नही है कि अगर स्वार्थी समुदाय रास्ते के रोडे न बनें तो यह बात करके दिखाई जा सकती है कि विज्ञान और धन्धो की कला के जरिये हम आज तमाम लोगो को अबसे कही ज्यादा बड़े पैमाने पर खाने-पहनने और रहने को दे सकते है और उनके रहन-सहन के ढग को बहुत ज्यादा ऊँचा कर सकते है। असल बात यह है कि एक निश्चित हद से आगे वह इन बातो के लिए बहुत उत्सुक नही है। इसीलिए समाजवाद से होनेवाले लाभ की आशा उनके लिए आकर्षक नही है

१. गांधीजी ने, 'अनीति की राह पर' नाम की जो किताब लिखी है उसमें यह खत दिया गया है।

और पूजीवाद भी महज कुछ हद तक ही बरदाश्त किया जा सकता है—और यह भी इसलिए कि वह बुराई को सीमित रखता है। वह पूजीवाद और समाजवाद दोनो ही को नापसन्द करते है, लेकिन पूजीवाद को फिलहाल की बुराई समझकर उसे बरदाश्त कर लेते है। इसके अलावा वह पूजीवाद को इसलिए भी बरदाश्त करते हैं, क्योकि वह तो पहले ही से मौजूद है और उससे आँखे नही मूँदी जा सकती।

शायद उनके मत्थे ये विचार मढने मे मै गलती पर होऊँ, लेकिन मेरा यह खयाल जरूर है कि वह इसी तरह सोचते मालूम पडते है, और उनके कथनो मे हमे जो विरोधाभास और अस्तव्यस्तता परेशान करती है उसका असली कारण यह है कि उनके तर्क के आधार बिलकुल भिन्न है। वह यह नही चाहते कि लोग हमेशा बढते जानेवाले आराम व फुर्सत को अपने जीवन का लक्ष्य बनावे। वह तो यह चाहते है कि लोग नैतिक जीवन की बाते सोचे, अपनी बुरी लते छोड़ दे, शारीरिक भोगो को रोज-ब-रोज कम करते जायँ और इस तरह अपनी भौतिक और आध्यात्मिक उन्नति करे, और जो लोग आम लोगो की खिदमत करना चाहते हैं उनका काम यह नही है कि वे उन लोगो की माली हालत को ऊँचा उठाये, बल्कि उन्हे चाहिए कि खुद उनकी तह पर नीचे चले जायँ और उनके साथ बराबरी की हैसियत से मिले। ऐसा करते हुए वे लाज़िमी तौर पर कुछ हद तक उनकी हालत बेहतर करने मे मदद दे सकेगे। उनकी राय के मुताबिक यही सच्चा लोकतन्त्र है। १७ सितम्बर १९३४ को उन्होने जो वक्तव्य दिया था, उसमे उन्होने लिखा है कि, "बहुत-से लोग मेरा विरोध करने मे निराश हैं। मेरे लिए यह बात जलील करने जैसी है, क्योकि मै तो जन्म से ही लोकतन्त्री हूँ। गरीब-से-गरीब इन्सान के साथ बिलकुल उसीका-सा हो जाना जिस हालत मे वह रहता है उससे बेहतर हालत मे रहने की ख्वाहिश छोड देना, और अपनी पूरी ताकत के साथ उसकी तह तक पहुँचने की कोशिश हमेशा स्वेच्छापूर्वक करते रहना। अगर ये ऐसी बाते है कि जिनकी बुनियाद पर किसीको यह दावा करने का हक मिल सकता है, तो मै यह दावा करता हूँ।"

इस हद तक तो गाधीजी की बात को सभी लोग मानेंगे कि अपनेको आम लोगो से बिलकुल अलग कर लेना और अपनी विलासिता और लोगो के रहन-सहन के ढग से कही ज्यादा ऊँचे ढगो की नुमाइश उन लाखो लोगो के सामने करना जिनके पास जरूरी-से-ज़रूरी चीज़ो की भी कमी है, बहुत ही बेजा और शर्मनाक है। लेकिन इसके अलावा गाधीजी की बाकी दलीलो और उनके दृष्टिकोण से आजकल का कोई भी लोकतन्त्री, पूँजीवादी या समाजवादी सहमत नही हो सकता। मगर जिन लोगो का दृष्टिकोण पुराना धार्मिक दृष्टिकोण है, वे इन बातो से कुछ हद तक

सहमत हो सकते है, क्योकि इन लोगो की भावुकता भी अतीत से बँधी हुई है और ये लोग हमेशा हर बात को अतीत की दृष्टि से ही देखा करते है। वे 'है' या 'होगा' की बाबत इतना नही सोचते, जितना कि 'था' की बाबत। भूतकालिक और भविष्य-कालिक मनोवृत्तियो मे जमीन और आस्मान का फर्क है। पुराने ज़माने मे तो इस बात का सोचा जाना भी मुश्किल था कि आम लोगो की माली हालत को ऊँचा किया जाय। उन दिनो गरीब हमारे समाज के अभिन्न अग बने हुए थे। उस वक्त तो मुट्ठीभर अमीर लोग थे। वे सामाजिक ढाँचो के मुख्य अग थे। वे उत्पादन-प्रणाली के जरूरी हिस्से थे, इसीलिए सदाचारी सुधारक और परदुखकातर सभी लोगो ने उनकी सत्ता स्वीकार करली थी, लेकिन साथ ही, उनको यह बात सुझाने की कोशिश करते रहते थे कि वे अपने गरीब भाइयो के प्रति अपने कर्तव्य को न भूले। वे लोग गरीबो के ट्रस्टी होकर रहे, दानी बने, यह उनका उपदेश होता था। इस प्रकार यह दान-पुण्य का एक मुख्य अँग हो गया। राजा-महाराजाओ, बड़े-बड़े ज़मीदारो और पूँजीपतियो के लिए गाधीजी ट्रस्टी बनने के इस आदर्श पर हमेशा जोर देते रहते है। वे इस विषय मे उन अनेक धार्मिक पुरुषो की परम्परा पर चल रहे है, जो समय-समय पर यही कह गये है। पोप ने ऐलान किया है कि "अमीरो को यही खयाल करना चाहिए कि वे सर्वशक्तिमान के ऐसे सेवक और उसकी सम्पत्ति के ऐसे सरक्षक और बाँटनेवाले है, जिनके हाथ मे गरीबो का भाग्य ईसामसीह ने खुद सौंप रक्खा है।" जनसाधारण के हिन्दू-धर्म और इस्लाम मे भी यही खयाल मौजूद है। वे हमेशा पैसेवालो से यह कहते रहते है कि दान-पुण्य करो, और पैसेवाले भी मन्दिर या मस्जिद या धर्मशालाये बनवाकर या अपनी धन-दौलत मे से गरीबो को कुछ ताँबे-चाँदी के गोल-गोल टुकडे देकर उनका हुक्म बजा लाते है और यह सोचने लगते है कि हम लोग बड़े धर्मात्मा ै।

तेरहवे पोप लियो ने मई १८९१ मे जो मशहूर धर्माज्ञा निकाली थी, उसमे पुरानी दुनिया का इस मज़हबी रुख को दरसानेवाला एक ज्वलन्त वाक्य है। पोप ने कहा था :—

"इसीलिए इन्सान के भाग्य मे यही बदा है कि वह धीरज के साथ दु.खो को सहन करता जाय। इन्सान चाहे जितनी कोशिश करे, उसकी जिन्दगी को जो बीमारियाँ और तकलीफे रात-दिन परेशान किये रहती है, उन्हे हटाने मे कोई भी ताकत या तदबीर कारगर नही हो सकती। अगर कोई शख्स ऐसे है जो कहते है कि यह बात नही है, और जो बुरी तरह दु खी लोगो को दु ख और वेदना से छुटकारा या उनको शान्ति, आराम और हमेशा भोग की उम्मीद दिलाते है, तो वे लोगो को

सरासर धोखा देते है। और उनके ये झूठे वादे उन बुराइयो को दुगुना कर देनेवाले है। इससे ज्यादा फायदे की बात और कुछ नही है कि हम दुनिया को वैसी ही शक्ल मे देखे, जैसी कि वह है, और साथ ही दुनिया जिन तकलीफो मे फँसी हुई है उनके इलाज के लिए दूसरी जगह तलाश करे।"

इसके आगे हमे यह बताया गया है कि यह "दूसरी जगह" कहाँ है—

"जो जीवन आनेवाला है और जो जीवन शाश्वत है उसको ध्यान मे लाये बिना इस दुनिया को न तो हम अच्छी तरह समझ ही सकते है न उसकी कीमत ही आँक सकते है...प्रकृति से हम जिस बडी सचाई का सबक सीखते है वह ईसाई धर्म का भी सर्वमान्य सिद्धान्त है—यह कि वास्तव मे हमारे जीवन का आरभ इस लोक को पार करने के बाद ही होगा। ईश्वर ने हमे दुनिया मे अनित्य और क्षणभगुर चीजो के लिए नही पैदा किया है, बल्कि उन चीजो के लिए पैदा किया है जो दिव्य और नित्य है। यह दुनिया तो ईश्वर ने हमे देश-निकाले की जगह की बतौर दी है, न कि हमारे अपने देश की तरह। रुपया और वे दूसरी चीजे जिन्हे लोग अच्छी और चाहनेलायक कहते है उनकी बहुतायत भी हो सकती है और अभाव भी हो सकता है—जहाँतक शाश्वत सुख से सम्बन्ध है, उनका होना न होना बराबर है . .... ।"

यह मजहबी रुख उस प्राचीन काल से बँधा हुआ है जब मौजूदा मुसीबतो से बचने का एकमात्र रास्ता परलोक की शरण लेना था। यद्यपि तबसे लोगो की आर्थिक अवस्था मे कल्पनातीत उन्नति हो चुकी है, फिर भी उस गुजरे हुए जमाने की फाँसी हमारे गले मे पडी हुई है और अब भी कुछ ऐसी आध्यात्मिक बातो पर जोर दिया जाता है जो गोल-मोल है और ऊटपटाग-सी है और जिनकी नापजोख नही हो सकती। कैथोलिक लोगो की निगाह बारहवी और तेरहवी सदी की तरफ दौडती है। दूसरे लोग जिसे अधकार-युग कहते है उसीको ये ईसाई-धर्म का 'स्वर्ण-युग' कहते है। जब साधुओ की भरमार थी, जब ईसाई राज धर्मयुद्धो के लिए कूच करते थे और गौथिक ढगो पर गिरजाघरो का निर्माण होता था, उनकी राय मे वह जमाना सच्चे ईसाई लोकतन्त्र का जमाना था। उन दिनो मध्यकालीन सघो के शासन में उसकी इतनी उन्नति हुई जितनी न पहले हुई थी न फिर बाद मे। मुसलमानो की हसरत की निगाह उस प्रारम्भकाल के खलीफाशाही की ओर दौडती है। उनकी दृष्टि मे इस्लामी लोकतन्त्र यही था, क्योकि उन खलीफाओ ने दूर-दूर देशो मे अपनी विजय-पताका फहराई थी। इसी तरह हिन्दू भी वैदिक और पौराणिक काल की बाते सोचते है और रामराज्य के सपने देखते है। फिर भी तमाम तवारीखे हमसे यह कहती है कि उन दिनो की अधिकाश जनता बडी मुसीबत मे रहती थी। उनके लिए तो

अन्न-वस्त्र तक का घोर अभाव था। हो सकता है कि उन दिनो चोटी के कुछ मुट्ठीभर लोग आध्यात्मिक आनन्द का उपभोग करते हो, क्योकि उनके पास उसके लिए फ़ुर्सत भी थी और साधन भी थे, लेकिन दूसरो के लिए तो यह सोचना भी मुश्किल है कि वे महज़ पेट पालने मे दिन-रात जुटे रहने के अलावा और कुछ करते होगे। जो शख्स भूखो मर रहा है, वह सास्कृतिक और आध्यात्मिक उन्नति कैसे कर सकता है? वह तो इसी फ़िक्र मे लगा रहता है कि खाने का इन्तजाम कैसे हो?

उद्योग-धन्धो का ज़माना अपने साथ ऐसी बहुत-सी बुराइयाँ लाया है, जो घनीभूत होकर हमारी नज़रो के सामने घूमती रहती है। लेकिन हम भूल जाते है कि समस्त ससार और खासकर उन हिस्सो मे, जहाँ उद्योग-धन्धे बहुतायत से छा गये है, इसने भौतिक प्रगति की ऐसी बुनियाद डाल दी है, जो बहुजनसमाज के लिए सास्कृतिक और आध्यात्मिक प्रगति को अत्यन्त सुगम कर देती है। यह बात हिन्दुस्तान मे या दूसरे औपनिवेशिक देशो में साफ ज़ाहिर नही दिखाई देती है, क्योकि हम लोगो ने उद्योगवाद से फायदा नही उठा पाया है। हम लोगो का तो उलटा उद्योगवाद ने शोषण किया है, और बहुत-सी बातो मे हमारी हालत माली निगाह से भी पहले से भी बदतर हो गई है—सास्कृतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से तो वह और भी ज्यादा बुरी हो गई है। इस मामले मे कुसूर उद्योगवाद का नही, बल्कि विदेशी आधिपत्य का है। हिन्दुस्तान मे जो चीज़ पाश्चात्यकरण के नाम से पुकारी जाती है, उसने कम-से-कम इस वक्त के लिए तो, असल मे, माण्डलिकशाही को और भी मज़बूत कर दिया है। उसने हमारे एक भी मसले को हल करने के बदले उसे और भी पेचीदा कर दिया है।

लेकिन यह तो हमारी बदकिस्मती की बात हुई। मगर इस भावना से हमे आज की दुनिया को नही देखना चाहिए। क्योकि मौजूदा हालत मे तमाम समाज के लिए या उत्पादन-व्यवस्था के लिए धनवान लोग अब न तो ज़रूरी ही रहे है, न वाञ्छनीय ही। अब वे फजूल हो गये है और हर वक्त हमारे रास्ते मे रोड़े की तरह अटकते है। और धर्माचार्यो के उस पुरातन उपदेश के कोई मानी नही रहे, कि धनवान लोग दान-पुण्य करे और ग़रीब जिस हालत में है उसीमे संतुष्ट रहे और उसके लिए ईश्वर का धन्यवाद करे, मितव्ययी बने, और भले आदमियो की तरह रहे। अब तो मानव-समाज के साधन प्रचुरता से बढ गये हैं, और वह सासारिक समस्याओ का सामना कर उनका उपाय कर सकता है। ज्यादातर अमीर लोग निश्चित रूप से दूसरो के श्रम के बल पर जीवन व्यतीत करते है, और समाज में ऐसे पराश्रयी समुदाय का होना न केवल इन उत्पादक शक्तियो के मार्ग मे बाधा है वरन् उनका अपव्यय करने-

वाला भी है। यह समाज और जो प्रणाली इस जमात को पैदा करती है वह वास्तव मे उद्यम और पैदावार को रोकती है और समाज के दोनो भागो के बेकारो को शह देती है, यानी उन लोगो को भी जो दूसरो की मेहनत पर चैन करते है और उनको भी जिनको कोई काम ही नही मिलता और जो इसीलिए भूखो मरते है। खुद गाधीजी ने कुछ वक्त पहले लिखा था—"बेकार और भूखो मरनेवाले लोगो के लिए तो मजदूरी और वेतन-रूपी भोजन का आश्वासन वही ईश्वर हो सकता है। ईश्वर ने अपने वन्दो को इसलिए पैदा किया था कि वे कमाकर खावे और उसने कह दिया था कि जो बिना कमाये खाते है वे चोर है।"

उनकी मिल्कियत के अधिकारो को सीमित कर दिया गया है। युद्ध के समय मे तो निजी सम्पत्ति के अधिकारो पर लगातार कुठाराघात होता रहता है। निजी सम्पत्ति दिन-पर-दिन स्थूल रूप छोड़कर नये-नये रूप धारण कर रही है—जैसे शेयर, बैक में जमा की हुई और कर्ज के रूप मे दी गई पूँजी। ज्यो-ज्यो सम्पत्ति-सम्बन्धी धारणा बदलती जाती है राज्य अधिकाधिक दस्तन्दाजी करता जाता है और जनता की माँगो के फलस्वरूप सम्पत्तिवालो के अन्धाधुन्ध अधिकारो को सीमित कर देता है। सभी प्रकार के भारी-भारी टैक्स, जो एक प्रकार की जब्ती है, सार्वजनिक हित के लिए व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकारो का अपहरण-मात्र है। सार्वजनिक हित सार्वजनिक नीति की बुनियाद है और किसी व्यक्ति को यह हक नही है कि वह अपने साम्पत्तिक अधिकारो की रक्षा के लिए भी इस सार्वजनिक हित के विरुद्ध काम करे। अगर देखा जाय तो पिछले जमाने मे भी ज्यादातर लोगो के कोई साम्पत्तिक अधिकार नही थे, वे खुद भी दूसरो की मिल्कियत बने हुए थे। आज भी बहुत कम लोगो को ये हक हासिल है। स्थापित स्वार्थों की बात बहुत सुनाई देती है, लेकिन आजकल तो एक नया स्थापित स्वार्थ और माना जाने लगा है, और वह स्वार्थ यह है कि हर औरत और मर्द को यह हक है कि वह जिन्दा रहे, मेहनत करे और अपनी मेहनत के फलो का उपभोग करे। सिर्फ इन बदलती रहनेवाली धारणाओ के कारण मिल्कियत और सम्पत्ति लोप नही हो जाती, बल्कि उनका क्षेत्र और अधिक व्यापक हो गया है, और मिल्कियत और सम्पत्ति के कुछ थोडे ही लोगो के पास केन्द्रित हो जाने से इन लोगो को दूसरो पर जो अधिकार प्राप्त हो गया था वह फिर सारे समाज के हाथो मे वापस ले लिया जाता है।

गाधीजी लोगो का आन्तरिक, नैतिक और आध्यात्मिक सुधार चाहते है और इस प्रकार सारी बाह्य परिस्थिति को ही बदल देना चाहते है। वह चाहते है कि लोग बुरी आदते छोड दे, इन्द्रियो के भोगो को तिलाञ्जलि दे दे और पवित्र बन जायँ।

वह इस बात पर जोर देते है कि लोग ब्रह्मचर्य से रहे, नशा न करे, न सिगरेट वगैरा पीवें। इस मामले मे लोगो मे मतभेद हो सकता है कि इन भोगो मे से कौन-सा ज्यादा बुरा है और कौन-सा कम। लेकिन क्या इस बात मे किसीको शक हो सकता है कि ये व्यक्तिगत त्रुटियाँ व्यक्तिगत दृष्टि से भी और सामाजिक दृष्टि से तो और भी कम अधिक हानिकारक है—बनिस्वत लालच, खुदगर्जी, परिग्रह, जाती फायदे के लिए व्यक्तियो के भयानक लडाई-झगडे, जमातो और फिरकों के क्रूर सघर्ष, एक जमात द्वारा दूसरी जमात के अमानुषिक शोषण और दमन व राष्ट्रो की आपस की भयानक लडाइयो के ? यह सच है कि गाँधीजी इस तमाम हिंसा और पतनकारी सघर्ष से नफरत करते है। लेकिन क्या ये सब बाते आजकल के स्वार्थी पूँजीपति समाज मे स्वाभाविक रूप मे मौजूद नही है, जिसका कानून यह है कि बलवान लोगो को कमज़ोरो का शिकार करना चाहिए, और पुराने जमाने की तरह जिसका मूलमन्त्र यह है कि "जिनके बाजुओ मे ताकत है वे जो चाहे सो लेले और जो रख सकते है वे जो चाहे अपने पास रखे ?" इस युग की मुनाफे की भावना का लाजिमी परिणाम सघर्ष होता है। यह सारी प्रणाली मनुष्य की लूट-खसोट की सहज वृत्तियो का पोषण करती है और उसको फलने-फूलने की पूरी सुविधा देती है। इसमे सन्देह नही कि इससे मनुष्य की उच्च भावनाओ को भी शह मिलती है, लेकिन इनकी अपेक्षा उसकी हीन वृत्तियो को कही अधिक पोषण मिलता है। इस प्रणाली मे कामयाबी के मानी है दूसरो को नीचे गिरा देना और गिरे हुओ पर चढ बैठना। अगर समाज इन उद्देश्यो और महत्त्वाकाक्षाओ को प्रोत्साहित करता है और इन्हीकी तरफ़ समाज के सर्वोत्तम व्यक्ति आकृष्ट होते है, तो क्या गाधीजी यह समझते है कि ऐसे वातावरण मे वह अपने मानव-समाज को सदाचारी बनाने के आदर्श को पूरा कर सकेगे ? वह जनता को सेवाभावमय बनाना चाहते है। सम्भव है. कुछ व्यक्तियो को बनाने मे उन्हे कामयाबी भी मिल जाय, लेकिन जबतक समाज स्वार्थी शोषक समाज के शूरमाओ को लोगो के सामने आदर्श के रूप मे अपने सामने रक्खेगा और जबतक व्यक्तिगत लाभ की भावना उसकी प्रेरक शक्ति बनी रहेगी तबतक बहुजन-समाज तो इसी मार्ग पर चलता रहेगा।

लेकिन यह मसला तो अब महज सदाचार या नीति के वादविवाद का नही है। यह तो आजकल का एक बहुत जरूरी मसला है, क्योकि दुनिया ऐसे दलदल मे फँस गई है जिससे निकलने की कोई उम्मीद नही। उसे उससे निकालने के लिए कोई-न-कोई रास्ता ढूँढना ही होगा। मिकावर[1] की तरह हम इस बात का इन्तजार नही कर

१. मिकावर, विल्किन्स, श्री चार्ल्स डिकिन्स के 'डेविड कॉपरफ़ील्ड' नामक

सकते कि कुछ-न-कुछ अपने-आप हो जायगा । न तो पूजीवाद, समाजवाद, कम्यूनिज्म आदि के बुरे पहलुओ की निरी आलोचना करने से और न यह निराधार आशा लगाये बैठे रहने से, कि कोई ऐसा बीच का रास्ता निकल आयगा जो अभीतक की सब पुरानी और नई प्रणालियो मे की चुनी हुई सर्वोत्कृष्ट बातो को एक जगह मिला देगा, कुछ काम नही चलेगा । बीमारी का निदान करना होगा, उसका इलाज मालूम करना होगा, और उसे काम मे लाना पडेगा । यह बिलकुल निश्चित है कि हम जहाँ है वहाँ-के-वही खडे नही रह सकते—न तो राष्ट्रीय दृष्टि से, न अन्तर्राष्ट्रीय से ही । हमारे लिए दो ही रास्ते हो-सकते है, या तो पीछे हटे या आगे बढे । लेकिन शायद इस बात मे हम स्वतन्त्र भी नही है, क्योकि पीछे हटने की तो कल्पना ही नही की जा सकती ।

फिर भी गाधीजी की बहुत-सी कार्रवाइयो से कोई भी यह सोच सकता है कि उनका ध्येय तो स्वाश्रयी व्यवस्था को फिर से ले आना है । न केवल राष्ट्र बल्कि गाँव तक को स्वाश्रयी बना देना है । प्राचीन काल के प्रारम्भिक समाजो मे गाँव कम या बढ स्वावलम्बी थे । वे अपने खाने को नाज, पहनने को कपडे और अपनी जरूरतो के दूसरे सामान गाँव मे पैदा कर लेते थे । निश्चय ही इसके मानी ये है कि लोग बहुत ही गरीबी के ढग से रहते होगे । मै यह नही समझता कि गाधीजी हमेशा के लिए यही लक्ष्य बनाये रखना चाहते है, क्योकि यह तो असम्भव लक्ष्य है । ऐसी हालत में जिन मुल्को की आबादिया बहुत बढी हुई है, वे तो जिन्दा ही नही रह सकते । इसलिए वे इस बात को बरदाश्त नही करेगे कि इस कष्टमय और भूखो मरने की स्थिति की ओर लौटा जाय । मेरा खयाल है कि हिन्दुस्तान जैसे कृषि-प्रधान देश मे, जहाँ कि रहन-सहन का पैमाना बहुत नीचा है, ग्रामीण उद्योगो को तरक्की देकर वहाँ की जनता के पैमाने को कुछ ऊँचा कर सकते है । लेकिन हम लोग बाकी दुनियाँ से उसी तरह बधे हुए है जैसे दूसरे मुल्क बधे हुए है, और मुझे यह बात बिलकुल गैरमुमकिन मालूम देती है कि हम उनसे अलग होकर रह सके । इसलिए हमें सब बातो को तमाम दुनिया की निगाह से देखना होगा और इस दृष्टि से देखने पर सकुचित स्वाश्रयी व्यवस्था की कल्पना ही नही हो सकती । जाती तौर पर मै तो उसे सब दृष्टियो से अवाञ्छनीय समझता हूँ ।

लाजिमी तौर पर हमारे पास सिर्फ एक ही हल मुमकिन रह जाता है और वह

नाटक का एक मशहूर पात्र है, जिसकी उदासीनता और प्रसन्नता क्षण-क्षण में एक-दूसरी का स्थान लेती रहती थी, जो बड़ा अदूरदर्शी और इसलिए हमेशा मुसीबतों का शिकार रहता था, और जो सदैव इस बात की प्रतीक्षा में रहता था कि अपने-आप कुछ-न-कुछ होने ही वाला है ।

है एक समाजवादी व्यवस्था की स्थापना। यह व्यवस्था पहले राष्ट्रीय सभाओ के अन्दर कायम होगी, फिर कालान्तर मे तमाम दुनिया मे। इस व्यवस्था मे उत्पादन और सम्पत्ति का बटवारा सार्वजनिक हित की दृष्टि से और जनता के हाथो से होगा। यह कैसे हो, यह एक दूसरा सवाल है। लेकिन इतनी बात साफ है कि महज़ इस खयाल से कि जिन थोडे-से लोगो को मौजूदा व्यवस्था से फायदा पहुँचता है वे उसे बदलने मे ऐतराज करते है, हमे अपने राष्ट्र या मनुष्य-जाति की भलाई के काम को नही रोकना चाहिए। अगर राजनैतिक या सामाजिक सस्थाये ऐसी तबदीली के रास्ते मे अडचन डालती है, तो उन सस्थाओ को मिटाना होगा। उस वाञ्छनीय और व्यावहारिक आदर्श को तिलाजली देकर इन सस्थाओ से समझौता करना बहुत बुरा विश्वासघात होगा। दुनिया की हालते इस तबदीली के लिए कुछ हद तक मजबूर और इसकी रफ्तार को तेज कर सकती है। लेकिन पूरे तौर पर तो वह तबतक मुश्किल से ही हो सकती है जबतक जिन लोगो का उससे फायदा है उनमे से बहुत बडी तादाद उसे अपनी खुशी से न चाहे और न मजूर करे। इसीलिए इस बात की जरूरत है कि उनको समझा-बुझाकर इस तबदीली के पक्ष मे कर लिया जाय। मुट्ठीभर लोगो का षड्यन्त्र करके हिंसात्मक काम करने से काम नही चलेगा। कुदरतन कोशिश तो इस बात की की जानी चाहिए कि जिन लोगो को मौजूदा व्यवस्था से फायदा पहुँचता है वे भी हमारे साथ हो जायँ, लेकिन यह बात मुमकिन नही मालूम होती कि उनमे का अधिकाश कभी हमारी तरफ हो सकेगा।

गाधीजी के खास तौर पर प्रिय खादी-आन्दोलन से उत्पत्ति के काम मे व्यक्तिवाद और भी गहरा होता है और इस तरह वह हमे औद्योगिक ज़माने से पीछे फेक देता है। आजकल के किसी भी बडे मसले को हल करने के लिहाज से तो आप उसपर बहुत भरोसा कर ही नही सकते। इसके अलावा उससे एक ऐसी मनोवृत्ति पैदा होती है जो हमे सही दिशा की तरफ बढने देने मे अडचन साबित हो सकती है। फिर भी, मै मानता हूँ कि, कुछ समय के लिए उसने बहुत फायदा पहुँचाया और भविष्य मे भी कुछ समय के लिए और लाभदायक हो सकता है, उस वक्त तक के लिए जबतक कि सरकार व्यापक रूप से देशभर के लिए कृषि और उद्योग-धन्धो से सम्बन्ध रखनेवाले प्रश्नों को ठीक तरह से हल करने के काम को खुद अपने हाथ मे नही लेलेती। हिन्दुस्तान मे इतनी ज्यादा बेकारी है जिसका कही कोई हिसाब ही नही है, और देहाती क्षेत्रों मे तो आशिक बेकारी इससे भी कही ज्यादा है। सरकार की तरफ से इस बेकारी का मुकाबिला करने के लिए कोई कोशिश नही की गई है, न उसने बेकारो को किसी किस्म की मदद देने की ही कोशिश की है।

आर्थिक दृष्टि से खादी ने उन लोगो को कुछ थोडी-सी मदद जरूर दी है, जो बिलकुल या कुछ हद तक बेकार थे, और क्योकि उनको जो कुछ मदद मिली वह उनकी अपनी कोशिश से मिली, इसलिए उसने उनके आत्मविश्वास का भाव बढाया है और उनमे स्वाभिमान का भाव जागृत कर दिया है। सच बात यह है कि खादी का सबसे ज्यादा अच्छा परिणाम मानसिक हुआ है। खादी ने शहरवालो और गाँववालो के बीच की खाई को पाटने की कोशिश मे कुछ कामयाबी हासिल की है। उसने मध्यमवर्ग के पढे-लिखे लोगो और किसानो को एक-दूसरे के नजदीक पहुँचाया है। कपड़ो के पहननेवालो और देखनेवालो दोनो के ही मन पर बहुत असर पडता है। इसलिए जब मध्यमवर्ग के लोगो ने सफेद खादी की सादी पोशाक पहनना शुरू किया तो उसका नतीजा यह हुआ कि सादगी बढी, पोशाक की दिखावट और उसका गंवारूपन कम हो गया, और आम लोगो के साथ एकता का भाव बढा। इसके बाद जो लोग मध्यमवर्ग मे भी नीची श्रेणी के थे, उन्होने कपड़ो के मामलो में अमीर लोगो की नकल करना छोड़ दिया और खुद सादी पोशाक पहनने मे किसी किस्म की बेइज्जती समझना भी छोड दिया। सच बात तो यह है कि जो लोग अब भी रेशम और मलमल दिखाते फिरते थे, खादी पहननेवाले उनसे अपनेको ज्यादा प्रतिष्ठित और कुछ ऊँचा समझने लगे। गरीब-से-गरीब आदमी भी खादी पहनकर आत्मसम्मान और प्रतिष्ठा अनुभव करने लगा। जहाँ बहुत-से खादी-धारी लोग जमा हो जाते थे, वहाँ यह पहचानना मुश्किल हो जाता था कि इनमे कौन अमीर है और कौन गरीब और इन लोगो मे साथीपन का भाव पैदा हो जाता था। इसमें कोई शक नही कि खादी ने कांग्रेस को जनता के पास पहुँचने म मदद दी। वह कौमी आजादी की वर्दी हो गई।

इसके अलावा, हिन्दुस्तान के कपडे की मिलो के मालिको मे अपनी मिलो के कपडो की कीमते बढाते जाने की जो प्रवृत्ति हमेशा पाई जाती थी उसको भी खादी ने रोका। पुराने जमाने में तो हिन्दुस्तान की इन मिलो के मालिको को सिर्फ एक ही डर कीमतें बढाने से रोकता था, और वह था, विलायती खासतौर पर लकाशायर, के कपड़ो की कीमतो का मुकाबिला। जब कभी यह मुकाबिला बन्द हो गया, जैसाकि विश्वव्यापी महायुद्ध के जमाने मे हुआ था, तभी हिन्दुस्तान मे कपडो की कीमत बेहद चढ गई और हिन्दुस्तान की मिलो ने मुनाफे में भारी रकमे कमाई। इसके बाद स्वदेशी की हलचल और विलायती कपडो के बहिष्कार के पक्ष मे जो आन्दोलन हुआ उसने भी इन मिलो को बहुत बड़ी मदद पहुँचाई, लेकिन जबसे खादी मुकाबिले पर आ डटी तबसे बिलकुल दूसरी बात हो गई और मिलो के कपडो की कीमते उतनी

न बढ सकी जितनी वे खादी के न होने पर बढती। बल्कि सच बात तो यह है कि इन मिलो ने (साथ ही जापान ने भी) लोगो की खादी की भावना से नाजायज फायदा उठाया—उन्होने ऐसा मोटा कपडा तैयार किया, जिसका हाथ के कते और हाथ के बुने कपडे से भेद करना मुश्किल हो गया। युद्ध की-सी कोई दूसरी ऐसी गैर-मामूली हालत पैदा हो जाने पर, जिसमे विलायती कपडे का हिन्दुस्तान मे आना बन्द हो जाय, हिन्दुस्तानी मिलो के मालिको के लिए कपडो की खरीदार पब्लिक से अब उतना फायदा उठा सकना मुमकिन नही है जितना कि १९१४ से बाद तक उठाया गया। खादी का आन्दोलन उन्हे ऐसा करने से रोकेगा और खादी के सगठन मे इतनी ताकत है कि वह थोडे ही दिनो मे अपना काम बढा सकता है।

लेकिन हिन्दुस्तान मे खादी के धन्धे के इन सब फायदो के होते हुए भी ऐसा मालूम होता है कि वह सक्रमण-काल की ही वस्तु हो सकती है। मुमकिन है कि इस काल के गुजर जाने के बाद भी वह एक सहायक धन्धे की तरह चलती रहे, जिससे कि आर्थिक उच्च व्यवस्था—समाजवादी व्यवस्था कायम होने में मदद मिले। लेकिन अब आगे तो हमारी मुख्य शक्ति कृषि-सम्बन्धी वर्त्तमान व्यवस्था मे आमूल परिवर्त्तन करके औद्योगिक धन्धो के प्रसार मे लगेगी। कृषि अथवा भूमि-सम्बन्धी समस्याओ के साथ खिलवाड करने से और उन अगणित सरकारी कमीशनो से, जो लाखो रुपये खर्च करने के बाद सिर्फ ऊपरी ढाचो मे चुट-पुट परिवर्तन करने की तुच्छ तजवीजे करते है, जरा भी लाभ नही होगा। हमारे यहाँ जो भूमि-प्रणाली जारी है, वह हमारी आँखो के सामने ढहती जा रही है और वह पैदावार के लिए, बटवारे के लिए, और माकूल व बडे पैमाने पर किये जानेवाले कृषि-प्रयोगो के लिए एक अडचन साबित हो रही है। इस प्रथा मे आमूल परिवर्तन करके छोटे-छोटे खित्तो की जगह सगठित, सामूहिक और सहयोगी कृषि-प्रणाली जारी करके ही थोडे परिश्रम से ज्यादा पैदावार करके हम मौजूदा हालत का मुकाबिला कर सकते है। यह ठीक है कि, जैसा गाधीजी को डर है, बडे पैमाने पर काम कराने से खेती का काम करनेवालो की तादाद कम हो जायगी, लेकिन खेती का काम ऐसा नही है कि उसमे हिन्दुस्तान के तमाम लोग लग जायँगे या लग ही सकेगे। बाकी के दूसरे लोगो को सम्भव है कि कुछ हद तक तो छोटे पैमाने पर किये जानेवाले धन्धो मे जुटना पडे, लेकिन ज्यादातर लोगो को तो खास तौर पर बडे पैमाने पर किये जानेवाले समाज-कृत काम-धन्धो और समाजहित के कामो मे लगना होगा।

यह सच है कि कुछ हलको मे खादी से कुछ राहत मिली है, लेकिन उसकी इस कामयाबी में ही एक खतरा भी छिपा हुआ है। वह यहाँ की जीर्ण-शीर्ण भूमि-

प्रथा को पोषण दे रही है और उस हद तक उसकी जगह एक उन्नत प्रथा के आने मे देर लगा रही है। यह जरूर है कि खादी का यह असर इतना काफी ज्यादा नही है कि उससे कोई खास फर्क पडे, लेकिन वह प्रवृत्ति जरूर मौजूद है। किसान या छोटे किसान-जमीदार को उसके खेतो की पैदावार का जो हिस्सा मिलता है वह अब इतना काफी भी नही रहा कि जिससे वह उसके जरिये अपनी बहुत नीचे गिरी हुई हालत मे से भी अपना गुजारा करले, जिसपर कि वह पहुँच गया है। अपनी तुच्छ आय बढाने के लिए उसे बाहरी साधनो का सहारा लेना पड़ता है, या जैसा कि वह आम तौर पर करता है, उसे अपना लगान या अपनी मालगुजारी अदा करने के लिए और भी ज्यादा कर्ज मे फँसना पड़ता है। इस तरह किसान को खादी वगैरा से जो जायद आमदनी होती है उससे सरकार या जमीदार को अपना हिस्सा वसूल करने मे मदद मिलती है, जो उसके अभाव मे नही मिलती। और अगर यह जायद आमदनी बहुत काफी होती, तो यह भी मुमकिन हो सकता था कि कुछ दिनो बाद लगान इतना बढ जाय कि वह इसे भी हड़प जाता। मौजूदा प्रथा मे काश्तकार जितनी ज्यादा मेहनत करेगा और जितनी ज्यादा किफायतशारी करने की कोशिश करेगा, आखिर मे जमीदार को उतना ही ज्यादा फायदा पहुँचेगा। जहाँतक मुझे याद है, हेनरी जार्ज ने 'तरक्की और गरीबी' (Progress and Poverty) नाम की किताब मे इस मामले को, खास तौर पर आयर्लैण्ड की मिसाले दे-देकर, अच्छी तरह समझाया है।

गाँवो के धन्धो का पुनरुद्धार करने की गाधीजी जो कोशिश कर रहे है वह उनके खादीवाले कार्यक्रम का विस्तार ही है। उससे तात्कालिक लाभ होगा—कुछ अश मे तो स्थायी, और शेष अधिकाश थोडे दिनो के लिए। वह गाँववालो की उनकी मौजूदा मुसीबत मे मदद करेगा और कुछ ऐसे सास्कृतिक और कला-कौशल-सम्बन्धी गुणो को, जिनके नष्ट हो जाने की आशका थी, फिर से जिन्दा कर देगा। लेकिन जिस हद तक यह कोशिश मशीनो के और उद्योगवाद के खिलाफ एक बगावत है, वहाँतक उसे कामयाबी नही मिलेगी। हाल ही मे 'हरिजन' मे गाँव के धन्धो के बारे मे गाधीजी ने लिखा है—"मशीनो से उस वक्त काम लेना अच्छा है जब जिस काम को हम पूरा करना चाहते है उसे पूरा करने के लिए काम करनेवाले बहुत कम हो। लेकिन जैसा कि हिन्दुस्तान मे है, अगर काम के लिए जितने आदमियो की जरूरत है उससे ज्यादा आदमी मौजूद हो तो, मशीनो से काम लेना बुरा है। हम लोगो के सामने यह सवाल नही है कि हम अपने गाँव के रहनेवाले करोडो लोगो को काम से छुट्टी या फुर्सत किस तरह दिलावे। हमारे सामने जो मसला है, वह तो यह है, कि हम उनके उन बेकारी के

घण्टो का किस तरह इस्तैमाल करे जिनकी तादाद साल मे काम के छः महीनो के बराबर है।" लेकिन यह ऐतराज तो थोडी-बहुत मात्रा मे उन सब मुल्को के लिए लागू होता है जो बेकारी की मुसीबत मे पडे हुए है। लेकिन सचमुच खराबी यह नही है कि लोगो के करने के लिए काम नही है, वह तो यह है कि मौजूदा पूजीपति-प्रणाली मे अब अधिक लोगो को काम मे लगाना लाभकर नही होता। काम की तो इतनी बहुतायत है कि वह पुकार-पुकारकर कह रहा है कि आओ, आओ और मुझे पूरा करो—जैसे सडको का बनाना, सिचाई का इन्तज़ाम करना, सफाई और दवादारू की सहूलियतो को फैलाना, धन्धो का, बिजली का, सामाजिक और सास्कृतिक सेवाओ का और तालीम का प्रसार करना और लोगो के पास जिन बीसियो जरूरी चीज़ो की कमी है उनका इन्तजाम करना। हमारे करोडो भाई अगले पचास साल तक इन कामो मे बडी मेहनत करके भी उन्हे ख़त्म न कर पायेंगे और लोगो को काम मिलते रहेगे। लेकिन यह सब तभी हो सकता है जबकि प्रेरक शक्ति समाज की तरक्की करना हो, न कि मुनाफे की वृत्ति, और जबकि समाज इन बातो का सगठन आम लोगो की भलाई के लिए करे। रूस की सोवियट यूनियन मे और चाहे जितनी खामियाँ हो, लेकिन वहाँ एक भी आदमी बेकार नही है। हमारे भाई इसलिए बेकार नही है कि उनके लिए कोई काम नही है, बल्कि इसलिए बेकार है, क्योकि उनके लिए काम के और सास्कृतिक तरक्की के वास्ते किसी किस्म की सहूलियते नही है। अगर बच्चो से मजदूरी कराना कानूनन रोक दिया जाय, एक माकूल उम्र तक हरेक के लिए पढना लाजिमी कर दिया जाय, तो मजदूरो और बेकारो की तादाद मे से इन लडके और लड़कियो की कमी हो जायगी और मज़दूरो के बाजार मे से करोडो भावी मजदूरो का बोझ हलका हो जायगा।

गाधीजी ने चर्खे और तकली मे और उनके चलाने की ताकत को बढाने की कोशिश मे कुछ कामयाबी हासिल की है, लेकिन यह कोशिश तो औजार और मशीन मे तरक्की करने की कोशिश है; और अगर तरक्की जारी रही (और तरक्की की बात तो यह है कि यह बात भी कयास से बाहर नही है कि घरेलू धन्धे भी बिजली से चलाये जाने लगे), तो मुनाफे की भावना फिर आ घुसेगी और उससे वे अलामात, जो बहुत पैदावार और बेकारी के नाम से पुकारे जाते है, पैदा हो जायँगे। जबतक हम गाँव के धन्धो को किसी आजकल की औद्योगिक यन्त्रकला के साथ नही मिलायँगे तबतक तो हम आज जिन भौतिक और सास्कृतिक चीजो की लाजिमी तौर पर हमे जरूरत है उन्हे भी पैदा नही कर सकेगे। फिर ये धन्धे मशीन का मुकाबिला नही कर सकते। क्या हमारे लिए ऐसा करना ठीक होगा, या हम उसे कर भी सकेगे, कि

हम अपने मुल्क मे बडे पैमाने पर काम करनेवाली मशीनो को अपना काम करने से रोक दे? गाधीजी ने बारबार यह कहा है कि वह मशीन के रूप मे मशीन के खिलाफ नही है। ऐसा मालूम होता है कि वह यह समझते है कि आज हिन्दुस्तान मे उनके लिए कोई जगह नही है। लेकिन क्या हम बुनियादी धन्धो को —जैसे लोहे और इसपात को या इनसे हलके उन धन्धो को भी जो पहले से मौजूद हैं—समेटकर बन्द कर सकते है?

साफ जाहिर है कि हम ऐसा नही कर सकते। अगर हमारे यहाँ रेल, पुल, आवागमन की सहूलियते वगैरा रहे, तो या तो हमे खुद ये चीजे बनानी पड़ेगी या दूसरो पर निर्भर रहना होगा। अगर हमे अपने मुल्क की हिफाजत के जरिये अपने पास रखने है, तब तो हमे न सिर्फ बुनियादी धन्धे ही जारी रखने पडेगे बल्कि बहुत ज्यादा बढी हुई औद्योगिक प्रणाली भी कायम रखनी पडेगी। इन दिनो तो कोई भी मुल्क उस वक्त तक असल मे आजाद नही है, और न वह दूसरे मुल्क के हमले का मुकाबिला ही कर सकता है, जबतक कि औद्योगिक दृष्टि से वह उन्नत न हो चुका हो। एक बुनियादी धन्धे को इस बात की जरूरत रहती है कि उसकी मदद के लिए दूसरा बुनियादी धन्धा जारी किया जाय, जो उसके काम को पूरा करदे, और अन्त मे हमे खुद मशीने बनाने का धन्धा भी जारी करना पडेगा। जब ये तमाम बुनियादी धन्धे चलेगे, तब यह लाजिमी हो जायगा कि छोटे धन्धे भी फैले। इस प्रक्रिया को कोई रोक नही सकता, क्योकि उससे न सिर्फ हमारी भौतिक और सास्कृतिक तरक्की ही बधी हुई है बल्कि हमारी आजादी भी उसीपर मुनहसिर है और बडे धन्धे जितने ज्यादा फैलेगे, छोटे पैमानो पर किये जानेवाले गाँवो के धन्धे उनका मुकाबिला उतना ही कम कर सकेगे। समाजवादी प्रणाली मे उनके बचने की थोडी-बहुत गुजाइश भी हो सकती है, लेकिन पूँजीवादी प्रणाली मे तो उन्हे कोई मौका नही मिल सकता, और समाजवाद मे भी वे घरेलू धन्धो के रूप मे उसी हालत मे रह सकते है, जब वे खास तौर पर ऐसा माल तैयार करे, जो बहुत बडे पैमाने पर तैयार नही किया जाता।

काँग्रेस के कुछ नेता उद्योगीकरण से डरते है। उनका खयाल है कि उद्योग-प्रधान मुल्को की मौजूदा मुश्किले बहुत बडे पैमाने पर माल पैदा करने की वजह से ही पैदा हुई है। लेकिन यह तो स्थिति की बाबत बहुत ही गलत खयाल है।[१] अगर आम

१. ३ जनवरी १९३५ को अहमदाबाद में बोलते हुए सरदार वल्लभभाई पटेल ने कहा था—"सच्चा समाजवाद गाँव के धन्धे को तरक्की देने में है। हम यह नही चाहते कि बहुत बडे पैमाने पर माल तैयार करने की वजह से पश्चिमी मुल्कों में जो खराबियाँ पैदा हो गई हैं उन्हे हम अपने यहाँ भी बुलावें।"

लोगो के पास किसी चीज की कमी है, तो उस चीज को उनके लिए काफी तादाद मे तैयार करना क्या कोई बुरी बात है ? क्या उनके लिए यही बेहतर है कि बहुत बडे पैमाने पर माल तैयार करने के बजाय उस चीज के बिना ही वे अपना काम चलाये ? साफ जाहिर है कि क़ुसूर इस तरह माल तैयार करने का नही है, बल्कि तैयार हुए माल का बटवारा करनेवाली प्रणाली की बेहूदगी और अयोग्यता का है ।

गाँवो के धन्धो की तरक्की करनेवालो को जिस दूसरी मुश्किल का सामना करना है, वह यह है कि हमारी खेती दुनिया के बाजार पर मुनहसिर है । इसकी वजह से मजबूरन किसानो को ऐसी फसल बोनी पडती है जिसके दाम अच्छे मिले और दामो के लिए उन्हे दुनिया के प्रचलित भावो पर निर्भर रहना पडता है । लेकिन जबकि ये भाव बदलते रहते है तब भी बेचारे किसान को अपना लगान या माल-गुजारी नगदनाराण के रूप मे देनी पडती है । किसी-न-किसी तरह उसे यह रुपया लाना पडता है, या हर हालत मे वह रुपया भरने की कोशिश करता है, और इसीलिए वह वही फसल बोता है जिसकी वह समझता है कि मुझे ज्यादा-से-ज्यादा कीमत मिलेगी। वह तो इतना भी नही कर सकता कि कम-से-कम अपने और अपने बाल-बच्चो को खिलाने के लिए जितने अनाज की उसे जरूरत है उतना तो खुद अपने खेत मे पैदा करले ।

इन सालो मे खाद्यपदार्थों मे से ज्यादातर अनाजो और दूसरी चीजो की कीमत एकदम गिर गई, तो नतीजा यह हुआ कि लाखो किसान, खास तौर पर युक्तप्रान्त और बिहार के, ईख की खेती करने लगे । सरकार ने विलायती शक्कर पर जो चुँगी लगादी है उसकी बदौलत बरसाती मेंढको की तरह शक्कर के कारखाने खुल गये और गन्ने की माँग बहुत बढ गई । लेकिन इस माँग को पूरा करने के लिए लोगो ने जितना गन्ना पैदा किया वह फौरन ही माँग से बहुत ज्यादा बढ़ गया । नतीजा यह हुआ कि कारखानो के मालिको ने बेरहमी के साथ किसानो से नाजायज फायदा उठाया और गन्ने की कीमत गिर गई ।

इन चन्द वजूहात और इनके अलावा और भी बहुत-सी बातो से मुझे ऐसा मालूम होता है कि हम अपनी कृषि और औद्योगिक समस्याओ को किसी तग स्वाश्रयी प्रणाली के तरीके पर न तो हल कर सकते है और न करना ठीक ही होगा । निस्सन्देह, हमारी जिन्दगी के हर पहलू से इनका ताल्लुक है । हम लोग अस्पष्ट और भावुकतामय वाक्यो के पीछे छिपकर अपनी जान नही बचा सकते । हमे तो इन तथ्यो का सामना करना होगा और अपनेको उनके माफ़िक बनाना पडेगा, जिससे हम लोग इतिहास के लिए दयनीय वस्तु न रहकर उल्लेखनीय विषय बन जायँ ।

फिर मुझे उसी महान् समस्या—गाधीजी—का खयाल आता है।[1] समझ मे नही आता कि इतनी तीव्र बुद्धि और पददलित और पीडितो की हालत सुधारने के लिए इतनी तीव्र भावना रखते हुए भी वह उस प्रणाली का क्यो समर्थन करते है, जो इस तमाम पीडा और बरबादी को पैदा कर रही है और स्पष्टत जो अपने-आप गिर रही है! यह सच है कि वह लोगो को मुसीबत से बचाने का रास्ता ढूँढ रहे है। लेकिन क्या पुराने जमाने का वह रास्ता अब बन्द नही हो गया है? वह पुरानी व्यवस्था के स्मारक-स्वरूप "उन सब चीजो को आशीर्वाद देते जाते है जो तरक्की के रास्ते मे रोडे बनकर अटकी हुई है—जैसे माण्डलिक रियासते, बडी-बडी जमीदारियाँ व ताल्लुकेदारियाँ और मौजूदा पूँजीवादी प्रणाली। क्या ट्रस्टीशिप के उसूल मे इत्मीनान करना माकूल बात है? क्या इस बात की उम्मीद करना ठीक है कि एक आदमी को अबाध अधिकार और धन सम्पत्ति दे देने पर वह उसका उपयोग सोलहो आने पब्लिक की भलाई के लिए करेगा? क्या हममे से अच्छे लोग भी इतने सम्पूर्ण है कि उनके ऊपर इस हद तक भरोसा किया जा सके? इस बोझ को तो प्लेटो की कल्पना के दार्शनिक बादशाह भी योग्यतापूर्वक नही उठा सकते। क्या दूसरो के लिए यह अच्छा है कि वे अपने ऊपर इन उदार दैवी पुरुषो का प्रभुत्व स्वीकार करले? फिर ऐसे दैवी पुरुष या दार्शनिक बादशाह है कहाँ? यहाँ तो सिर्फ मामूली इन्सान भर है, जो हमेशा यह सोचा करते है कि हमारी अपनी भलाई ही, हमारे अपने विचारो का प्रसार ही, सार्वजनिक हित के समान है। वशानुगत कुलीनता और प्रतिष्ठा की भावना और धन-दौलत की शेखी स्थायी हो जाती है और उसका परिणाम कई तरह से घातक ही होता है।

मै इस बात को दुहरा देना चाहता हूँ कि इस वक्त मै यह नही सोच रहा कि

१. सन् १९३१ में, लन्दन की दूसरी गोलमेज़ कान्फ्रेन्स में, अपने एक व्याख्यान में गांधीजी ने कहा था—"सबसे ऊपर तो असल में कॉंग्रेस उन करोडों मूक अर्द्धनग्न और अधभूखे प्राणियों की प्रतिनिधि है जो हिन्दुस्तान के सात लाख गाँवों में एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक सब जगह फैले हुए हैं—फिर चाहे ये लोग ब्रिटिश भारत मे रहते हों या देशी रियासतों में, जिन्हे 'भारतीय-भारत' के नाम से पुकारा जाता है। इसलिए कॉंग्रेस की राय में प्रत्येक हित, जो रक्षा के योग्य है, इन करोड़ों मूक प्राणियों के हित का साधक होना चाहिए। आप समय-समय पर विभिन्न हितों मे प्रत्यक्ष विरोध देखते हैं, पर अगर सचमुच कोई वास्तविक विरोध हो, तो मैं कॉंग्रेस की तरफ़ से यह कहने में ज़रा भी नहीं हिचकिचाता कि कॉंग्रेस इन करोडों मूक प्राणियों के हितों के लिए दूसरे प्रत्येक हित का बलिदान कर देगी।"

यह परिवर्त्तन किस तरह किया जाय; हमारे रास्ते में जो रोडे हैं उन्हे किस तरह हटाया जाय? समझा-बुझाकर हृदय-परिवर्त्तन के प्रेम-भाव से या जबर्दस्ती से, अहिंसा से या हिंसा से? इस पहलू पर तो बाद को विचार करूँगा। लेकिन यह बात तो मान ही लेनी और साफ कर दी जानी चाहिए कि परिवर्त्तन आवश्यक है। क्योंकि यदि नेता और विचारक खुद ही इस बात को साफ तौर पर अनुभव न करे और न कहे, तो वे यह उम्मीद कैसे कर सकते हैं कि वे किसीको अपने खयाल का बना लेगे या लोगो मे वाञ्छित विचार-धारा फैला सकेंगे? इसमें कोई शक नही कि सबसे ज्यादा शिक्षा तो हमे घटनाओ से मिलती है, लेकिन घटनाओं का महत्त्व समझने और उनसे अच्छा नतीजा निकालने के लिए यह जरूरी है कि हम उनको अच्छी तरह समझे और उनकी ठीक-ठीक व्याख्या करे।

मेरे जो दोस्त और साथी प्राय मेरे भाषणो से चिढे है, उन्होंने अक्सर मुझसे यह बात पूछी है, कि क्या आपको कोई अच्छा और परोपकारी राजा, जमींदार और शुभ-चिन्तक, भलामानुष पूजीपति कभी नही मिला? निस्सन्देह मुझे ऐसे आदमी मिले है। मैं खुद उस श्रेणी के लोगो मे से हूँ, जो इन जमीदारो और पूँजीपतियो मे मिलते-जुलते रहते है। मैं तो खुद ही एक ठेठ बुर्जुआ हूँ, जिसका लालन-पालन भी बुर्जुओ-सा ही हुआ है और इस प्रारम्भिक शिक्षा ने मेरे दिलो-दिमाग में जो भले-बुरे सस्कार भर दिये वे सब मुझमे मौजूद है। कम्यूनिस्ट मुझे अर्द्ध-बुर्जुआ कहते हैं और उनका यह कहना सोलहो आने सही है। शायद अब वे मुझे अनुतप्त बुर्जुआ कहेगे। लेकिन मैं क्या हूँ और क्या नही, यह सवाल ही नही है। जातीय, अन्तर्राष्ट्रीय, आर्थिक और सामाजिक मसलो को कुछ इने-गिने व्यक्तियो की निगाह से देखना बेहूदगी है। वे ही दोस्त जो मुझसे ऐसे सवालात करते है, यह कहते कभी नही थकते कि हमारी लड़ाई पाप से है, पापी से नही। मैं तो इस हद तक भी नही जाता। मैं तो यह कहता हूँ कि व्यक्तियो से मेरा कोई झगडा नही, मेरा झगड़ा तो प्रणालियो से है। यह ठीक है कि प्रणाली बहुत हदतक व्यक्तियो और समूहो मे ही मूर्त्तिमान होती है, और इन व्यक्तियो और समूहो को हमे या तो अपने खयाल का कर लेना पड़ेगा या उनसे लड़ना पड़ेगा। लेकिन अगर कोई प्रणाली किसी काम की न रही हो और भार-स्वरूप हो गई हो तो उसे मिट जाना पडेगा, और जो समूह या वर्ग उससे चिपके हुए हैं उन्हे भी बदलना पड़ेगा। परिवर्त्तन की इस क्रिया में यथासम्भव कम-से-कम तकलीफ होनी चाहिए, लेकिन बदकिस्मती से कुछ कष्ट और कुछ गडबडी का होना तो लाजिमी भी है। किसी दूसरी कम बुराई के डर की वजह से ही बहुत बडी बुराई को बरदाश्त नही किया जा सकता, खास

उस वक्त, जब कि कुछ थोडी-सी बुराई से भी बच जाना हमारी ताकत से बाहर है। हर तरह के मानव-संगठन—राजनैतिक, आर्थिक या सामाजिक—की अपनी-अपनी कोई विचार-सरणि होती है। जब इन सगठनो मे कोई हेरफेर हो तो उस विचार-सरणि को उसके अनुकूल बनने और उसका पूरा फायदा उठा लेने के लिए उसके अनुसार हेरफेर कर देना चाहिए। आम तौर पर घटनाये इतनी तेज़ी से बढती है कि विचारादर्श पीछे पिछड़ जाता है और यह अन्तर ही इन सब मुसीबतो की जड़ है। लोकतन्त्र और पूँजीवाद दोनो ही १९वी सदी मे पैदा हुए, लेकिन वे एक-दूसरे के अनुकूल नही थे। उन दोनो मे बुनियादी भेद था। क्योकि लोकतन्त्र तो ज्यादा लोगो की ताकत पर ज़ोर देता था, जबकि पूजीवाद से असली ताकत थोड़े-से लोगो के हाथ मे रहती थी। यह बेमेल जोडा किसी तरह कुछ अर्से तक तो इसलिए साथ-साथ चलता रहा, क्योकि राजनैतिक पार्लमेण्टरी लोकतन्त्र खुद एक अत्यन्त सकुचित लोकतन्त्र था, और आर्थिक एकाधिपत्य और शक्ति के केन्द्रीकरण की वृद्धि रोकने में उसने कोई खास हस्तक्षेप नही किया।

फिर भी ज्यो-ज्यो लोकतन्त्र की भावना बढती गई, इन दोनो का सम्बन्ध-विच्छेद अनिवार्य हो गया और अब उसका वक्त आ गया है। आज पार्लमेण्टरी पद्धति बदनाम हो गई है और उसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप सब किस्म के नये-नये नारे सुनाई पड़ रहे है। उसीकी वजह से हिन्दुस्तान मे ब्रिटिश-सरकार और भी ज्यादा प्रतिगामी हो गई है, और इससे राजनैतिक स्वतन्त्रता की ऊपरी बाते तक रोक लेने का उसे बहाना मिल गया है। अजीब बात तो यह है कि हिन्दुस्तानी राजा-महाराजा भी इसी आधार पर अपनी अबाध निरकुशता को उचित ठहराते है और उसी मध्यकालिक स्थिति को जारी रखने के इरादे का ज़ोरो से ऐलान करते है जो कि दुनिया मे अब और कही नही पाई जाती।[1] लेकिन पार्लमेण्टरी लोकतन्त्र मे जो त्रुटि या खामी है वह यह नही है कि वह बहुत आगे बढ गया है, बल्कि यह

[1] २२ जनवरी १९३५ को दिल्ली में, नरेन्द्रमण्डल के चान्सलर महाराजा पटियाला ने, मण्डल में बोलते हुए उन हिन्दुस्तानी राजनीतिज्ञों की राय का ज़िक्र किया था। जो इस आशा से सघ-शासन के समर्थक हैं कि परिस्थितियाँ देशी नरेशों को अपने यहाँ लोकतन्त्रात्मक शासन-पद्धति जारी करने के लिए विवश करेंगी। उन्होंने कहा—"जबकि हिन्दुस्तान के राजा लोग हमेशा उन कामों को करने के लिए राजी रहे हैं जो अपनी प्रजा के लिए सर्वोत्तम हैं, और आगे भी वे समय की रफ्तार के मुताबिक अपने-को और अपने विधानों को बनाने के लिए तैयार रहेंगे, तब हमें यह भी साफ़-साफ़ कह देना चाहिए कि अगर ब्रिटिश भारत यह उम्मीद करता है कि वह हमें इस बात के

है कि उसे जितना आगे बढ़ना चाहिए था उस हदतक आगे नही बढ़ा है। वह राष्ट्र लोकतन्त्रीय नही है, क्योंकि उसमे आर्थिक स्वतन्त्रता की कोई व्यवस्था नहीं है और उसके तरीके ऐसे धीमे और उलझन-भरे हैं कि वे तेज रफ्तार से जानेवाले ज़माने के अनुकूल नही पड़ते।

इस समय सारे ससार मे जो स्वेच्छाचारिता मौजूद है शायद हिन्दुस्तानी रियासते उसके उग्र-से-उग्र रूप की प्रतीक है। निस्सन्देह वे ब्रिटिश सत्ता के अधीन हैं लेकिन ब्रिटिश सरकार महज़ ब्रिटिश स्वार्थों की हिफ़ाज़त के लिए या उनकी तरक्क़ी के लिए ही दस्तन्दाज़ी करती है। सचमुच यह आश्चर्य की बात है कि पुराने ज़माने के ये निर्जीव माण्डलिक गढ़ किस प्रकार इस बीसवीं सदी के ठीक मध्य मे इतनी थोड़ी तबदीली के साथ टिके हुए हैं। वहाँ का वातावरण गलाघोंटू और स्तब्ध है। वहाँ की गति बहुत धीमी है और परिवर्तन और संघर्ष का आदी और कुछ हदतक इनसे थका हुआ नवागंतुक वहाँ पहुँचने पर बेहोशी-सी अनुभव करता है और एक प्रकार का धीमा-सा सम्मोहन उसपर ग़ालिब हो जाता है। यह सब एक ऐसे चित्र-सा अस्वाभाविक मालूम होता है, जहाँ समय स्तब्ध खड़ा रहता है और अपरिवर्तनीय दृश्य आँखो के सामने दिखाई देते हैं। सर्वथा अनात-भाव से वह भूतकाल और अपने बचपन के स्वप्नो की ओर बह जाता है, और कदाचित् मस्त-

लिए मजबूर कर देगा कि हम अपने तन्दुरुस्त राजनैतिक जिस्म पर एक बदनाम राजनैतिक उसूल की जहरीले रंग से रगी हुई कमीज़ पहन लें तो वह ख्वाबों की दुनिया में रह रहा है।" (इस सिलसिले में पृष्ठ ६०७ पर मैसूर—दीवान के भाषण का अंश भी देखिए) उसी दिन नरेन्द्र-मण्डल में बोलते हुए बीकानेर के महाराज ने कहा था—"हिन्दुस्तानी राज्यों के शासक हम लोग केवल भाग्य के ही बल पर शासन नही कर रहे हैं। और मैं यह कहने की धृष्टता करता हूँ कि हम जो सैकड़ों साल की वंश परम्परा के आधार पर यह दावा कर सकते है कि हमने राज करने का सहज ज्ञान और, मुझे विश्वास है कि, कुछ अंशों में राजदक्षता भी विरासत में पाई है, उन्हें इस बात का पूरा-पूरा ख़याल रखना चाहिए कि हम इस बात की हिफ़ाज़त करलें कि हम जल्दबाज़ी में अविचारपूर्ण निर्णय करने के लिए आगे न ढकेल दिये जायँ। और क्या मैं अत्यन्त नम्रता के साथ यह कह दूँ, कि राजा लोग अपनेको किसीके हाथों बरबाद हो जाने देने के लिए तैयार नहीं हैं, और अगर दुर्भाग्य से कोई ऐसा समय आ ही जाय, जबकि सम्राट देशी राज्यों की रक्षा के लिए अपने सन्धिगत उत्तरदायित्व को पूरा करने में असमर्थ हो जायँ, तो नरेश और देशी राज्य अपने अधिकारों की रक्षा के लिए आख़िरी दमतक लड़ते-लड़ते मर जायँगे।"

सज्जित शूरमा और सुन्दर तथा वीर कुमारियो के और बुर्जदार किले और बहादुर सैनिको के सम्मान और गौरव के तथा अनुपम साहस और मृत्यु के प्रति तिरस्कार के अद्भुत-अद्भुत दृश्य उसकी आँखो के सामने घूमने लगते है। खासकर तब, जब वह सयोग से अद्भुत शौर्य और भावुक पराक्रम की भूमि राजपूताना में पहुँच जाता है।

लेकिन ये स्वप्न जल्दी ही विलीन हो जाते है और विषाद की भावना आ घेरती है। वहाँ का वातावरण अवरोधक है और उसमे साँस लेना मुश्किल हो जाता है। स्थिर और मन्दगति-प्रवाह के नीचे जडता और गन्दगी भरी पडी है। वहाँपर आदमी ऐसा महसूस करने लगता है, मानो वह चारो ओर काँटो और बाड से घिरा हुआ है और उसका शरीर और मन जकड दिया गया है। उसे वहाँके राजमहल की चमक-दमक और शान-शौकत के सर्वथा विपरीत जनता की अवस्था अत्यन्त अवनत और विपद्पूर्ण दिखाई देती है। राज्य का कितना सारा धन उस महल मे राजा की अपनी व्यक्तिगत जरूरतो और ऐयाशी मे पानी की तरह बहाया जाता है, और किसी सेवा के रूप में जनता के पास उसका कितना कम हिस्सा पहुँचता है। अपने राजाओ को वढाना और उन्हे कायम रखना भयानक रूप से खर्चीला काम है। उनपर किये गये इस अन्धाधुन्ध खर्च के बदले मे वे हमे वापस क्या देते है ?

इन रियासतो पर रहस्य का एक परदा पडा रहता है। अखबारो को वहाँ पनपने नही दिया जाता और ज्यादा-से-ज्यादा कोई साहित्यिक या अर्द्धसरकारी साप्ताहिक ही चल सकता है। वाहर के अखबारो को अक्सर राज्य में आने से रोक दिया जाता है। त्रावणकोर, कोचीन आदि दक्षिण की कुछ रियासतो को छोड़कर—जहा साक्षरता ब्रिटिश भारत से भी कही ज्यादा है—अन्यत्र साक्षरता बहुत ही कम है। रियासतो से जो खास खबरे आती है वे या तो वाइसराय के दौरे की बाबत होती है, जिसमे धूम-धडाके, रस्म-रिवाज की पूर्ति और एक-दूसरे की तारीफ मे दिये गये व्याख्यानो का जिक्र होता है, या राजा के विवाह अथवा जन्मगाठ की, जिसमे बेहद रुपया खर्च किया जाता है, या किसानो के विद्रोह-सम्बन्धी। ब्रिटिश भारत तक मे खास कानून आलोचना से राजाओ की रक्षा करते है। रियासतो के भीतर तो नरम-से-नरम टीका-टिप्पणी भी सख्ती से दबा दी जाती है। सार्वजनिक सभाओं को तो वहाँ कोई जानता तक नही, और अक्सर सामाजिक बातो के लिए की जानेवाली सभायें तक रोक दी जाती है।[१] वाहर के प्रमुख सार्वजनिक नेताओ को अक्सर

१. हैदराबाद दक्खिन का २ अक्तूबर १९३४ का प्रेस-समाचार कहता है—"स्थानीय विवेक-वर्धिनी थियेटर में कल गांधीजी का जन्म-दिवस मनाने के लिए जिस

रियासत में घुसने से रोक दिया जाता है। १९२५ के करीब स्व० देशबन्धु दास बहुत बीमार थे, इसलिए अपना स्वास्थ्य सुधारने के लिए उन्होंने कश्मीर जाने का निश्चय किया। वह वहा किसी राजनैतिक काम के लिए नही जा रहे थे। वह कश्मीर की सरहद तक पहुँच चुके थे, लेकिन वही रोक दिये गये। श्री जिन्ना तक को हैदराबाद रियासत मे जाने से रोक दिया गया, और श्रीमती सरोजनी नायडू को भी, जिनका घर ही हैदराबाद मे है, जाने की इजाजत नही दी गई।

जब कि रियासतो में यह हाल हो रहा है, तो कांग्रेस के लिए यह स्वाभाविक था कि वह रियासतो मे रहनेवाले लोगो के प्रारम्भिक अधिकारो के लिए खडी हो जाती और उनपर होनेवाले व्यापक दमन का विरोध करती। लेकिन गाधीजी ने कांग्रेस मे रियासतो के सम्बन्ध मे एक नई नीति को जन्म दिया। वह नीति थी "रियासतो के भीतरी इन्तजाम मे दखल न देने की।" रियासतो मे असाधारण और दु.खदायी घटनाओ के होते रहने और कांग्रेस पर अकारण ही हमले किये जाते रहने पर भी वह अभीतक अपनी उसी चुप्पी साधे रहने की नीति पर डटे हुए हैं। जाहिर है कि डर इस बात का है कि कांग्रेस अगर राजाओं की आलोचना करेगी तो वे लोग नाराज हो जायँगे। उनका 'हृदय-परिवर्त्तन' ज्यादा मुश्किल हो जायगा। जुलाई १९३४ मे गाधीजी ने श्री एन० सी० केलकर के नाम, जो देशीराज्य-प्रजा-परिषद् के सभापति थे, एक पत्र लिखा था। उसमें उन्होंने इस विश्वास को दुहराया था कि दखल न देने की नीति न सिर्फ बुद्धिमत्तापूर्ण है बल्कि ठोस भी है। और रियासतो की कानूनी और वैधानिक स्थिति के सम्बन्ध में जो राय उन्होंने जाहिर की वह तो बडी अजीब थी। उन्होंने लिखा था—"ब्रिटिश कानून के अनुसार रियासते स्वतन्त्र हस्ती रखती है। हिन्दुस्तान के उस हिस्से को, जो ब्रिटिश भारत के नाम से पुकारा जाता है, रियासतो की पॉलिसी को शकल देने का उतना भी अख्त्यार नही है जितना उसे,

---

सार्वजनिक सभा का ऐलान किया गया था वह रोक देनी पड़ी है। इस सभा का संगठन हैदराबाद के हरिजन-सेवक-सघ ने किया था। सघ के मन्त्री ने अख़बारों को जो पत्र भेजा है, उसमें कहा है कि मीटिंग के वक्त से २४ घंटे पहले सरकारी अधिकारियों ने यह हुक्म दिया कि मीटिंग करने की इजाज़त तभी मिल सकती है जबकि दो हज़ार की नक़द ज़मानत जमा की जाय और इस बात का वचन दिया जाय कि उसमें कोई राजनैतिक व्याख्यान नहीं दिया जायगा और सरकारी अफ़सरों के किसी सरकारी काम की आलोचना नहीं की जायगी। क्योंकि सभा के सयोजक के पास इन सब बातों के लिए अधिकारियों से चर्चा करने के लिए बहुत ही नाकाफ़ी वक्त रह गया था, इसलिए सभा बन्द कर देनी पड़ी।"

मसलन, अफगानिस्तान या सीलोन की नीति को शकल देने का है।" अगर मुलायम और नरम देशीराज्य-प्रजा-परिषद् ने और लिबरलो ने भी उनकी इस राय और इस सलाह पर ऐतराज़ किया तो आश्चर्य ही क्या है ?

लेकिन रियासतो के राजाओ ने इन विचारो का काफी स्वागत किया और उन्होने उनसे फायदा भी उठाया। एक महीने के भीतर ही त्रावणकोर रियासत ने अपने राज्य मे कॉंग्रेस को गैरकानूनी करार दे दिया और उसकी सारी सभाओ को और उसके मेम्बर बनाने के काम को रोक दिया। ऐसा करते हुए रियासत ने कहा, कि "जिम्मेदार नेताओ ने खुद यह सलाह दी है।" जाहिर है कि यह इशारा गाधीजी के बयान की तरफ था। यह बात नोट करने लायक है कि यह रोक ब्रिटिश भारत मे सत्याग्रह की लडाई वापस लिये जाने के बाद हुई (यद्यपि रियासतो में यह लडाई कभी नही हुई थी)। जिस वक्त रियासत मे यह सब हुआ, ब्रिटिश सरकार ने काग्रेस को फिर से कानूनी जमात करार दे दिया था। इस बात को नोट करना भी दिलचस्प होगा कि उस वक्त त्रावणकोर-सरकार के खास राजनैतिक सलाहकार सर सी० पी० रामास्वामी ऐय्यर थे (और अब भी हैं), जो एक वक्त कॉंग्रेस के और होमरूल लीग के जनरल सेक्रेटरी थे, उसके बाद लिबरल बने और उसके भी बाद भारत-सरकार और मदरास-सरकार के ऊँचे-ऊँचे ओहदो पर रहे।

गाधीजी की सलाह मानकर कांग्रेस जिस नीति से काम ले रही थी उसके मुताबिक, मामूली वक्त मे भी, त्रावणकोर राज्य ने बिला वजह कॉंग्रेस के ऊपर जो यह हमला किया उसकी बाबत कॉंग्रेसवालो की तरफ से पब्लिक में एक शब्द तक नही कहा गया,[१] जबकि दूसरी ओर लिबरलो तक ने इसके खिलाफ जोरो से आवाज़ उठाई। सचमुच रियासतो के मामले मे गाधीजी का रवैया लिबरलो के रवैये से भी कही ज्यादा नरम और सयत है। प्रमुख सार्वजनिक पुरुषो में शायद मालवीयजी ही—बहुतसे राजाओ के साथ अपने निकट-सम्पर्क के कारण—उतने ही सयत और इस बात मे सावधान है कि उन्हे किसी तरह चिढाया न जाय।

भारतीय नरेशो के बारे मे गाधीजी हमेशा इतना फूक-फूककर कदम नही रखते थे। फरवरी १९१६ को एक प्रसिद्ध अवसर पर—बनारस हिन्दू-विश्व-विद्यालय

१ ६ जनवरी १९३५ को बडौदा में सरदार वल्लभभाई पटेल ने एक भाषण देते हुए इस दखल न देने की नीति पर जोर दिया था। कहा जाता है कि उन्होंने यह कहा, कि "देशी राज्यों के कार्यकर्त्ताओं को उन सीमाओं में रहते हुए काम करना चाहिए, जो रियासतें बाँध लें और शासन की आलोचना करने के बजाय इस बात की कोशिश करनी चाहिए कि शासक और शासितों में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बना रहे।"

के उद्घाटन के समय—एक सभा मे, जिसके सभापति एक महाराजा थे और जिसमे और भी बहुत-से राजा मौजूद थे, उन्होने एक भाषण दिया था। गाधीजी उस समय दक्षिण-अफ्रीका से आये ही थे और अखिल भारतीय राजनीति का वोझ उनके कन्धो पर नही था। बड़ी सचाई और एक पैगम्बर के-से जोश के साथ उन्होने राजाओ से अपनेको सुधारने और अपनी थोथी शान-शौकत और विलासिता छोड़ देने के लिए कहा। उन्होने कहा, "नरेशो! जाओ, और अपने आभूषणो को बेच दो।" उन्होने अपने आभूषण बेचे हो या न बेचे हो, लेकिन वे वहाँ से चले जरूर गये। बहुत ही डरकर, एक-एक करके या छोटी-छोटी टोलियो मे, वे सभा भवन से चले गये। यहाँतक कि सभापति महोदय भी चले गये। सभा भवन मे अकेले व्याख्याता महोदय रह गये। मीटिंग मे श्रीमती बेसेंट भी मौजूद थी। उन्हे भी गाधीजी की बाते बुरी लगी और इसलिए, वह भी मीटिंग से उठकर चली गई।

श्री एन० सी० केलकर को गाधीजी ने जो पत्र लिखा था उसमे आगे उन्होने यह भी कहा, कि "मैं तो यह पसन्द करूँगा कि रियासते अपनी प्रजा को स्वतन्त्रता दे दे और वे अपनेको वास्तव मे उन लोगो का ट्रस्टी समझे, जिनपर कि वे हुकूमत करती है।" अगर ट्रस्टीशिप के इस खयाल मे ऐसी कोई अच्छी बात है, तो हम ब्रिटिश सरकार के इस दावे मे क्यो ऐतराज करते है कि वे भारत के लिए ट्रस्टी है? मै इसमें कोई फर्क नही देखता, सिवाय इसके कि अंग्रेज हिन्दुस्तान के लिए विदेशी है। लेकिन जहाँतक चमड़े के रंग से, जातीय उत्पत्ति और संस्कृति से, सम्बन्ध है वहाँतक तो हिन्दुस्तान के रहनेवाले तरह-तरह के लोगो में आपस मे भी करीब-करीब उतने ही भेद है, जितने कि उनमे और अंग्रेजो मे।

पिछले थोडे-से सालो मे हिन्दुस्तानी रियासतो मे ब्रिटिश अफसर बडी तेजी से घुस रहे है। अक्सर वे बेबस राजाओ की मर्जी के खिलाफ उनके मत्थे मढ़ दिये गये है। वैसे तो सदा से भारत-सरकार का देशी राज्यो पर काफी नियन्त्रण रहा है, लेकिन अब तो इसके अलावा कुछ खास बडी-बडी रियासतो को भीतर से भी जकड दिया गया है। इसलिए जब कभी ये रियासते कुछ कहती है, तो असल मे उनके द्वारा भारत-सरकार ही बोलती है। हाँ, ऐसा करते समय वह माण्डलिक परिस्थिति का पूरा-पूरा फायदा जरूर उठाती है।

मै यह समझ सकता हूँ कि हमारे लिए हमेशा यह मुमकिन नही है कि हम दूसरी जगह जो काम कर सकते है वह सब रियासतो में भी कर सकें। सच बात तो यह है कि ब्रिटिश भारत के अलग-अलग सूबो में भी किसानो-सम्बन्धी, उद्योग-धन्धो-सम्बन्धी, सम्प्रदायो-सम्बन्धी और शासन-सम्बन्धी काफी फर्क है, और हम हमेशा सब

सूबो मे एक नीति से काम नही ले सकते। लेकिन हालाकि हम कहाँ क्या काम करे यह तो वहाँ के हालात के ऊपर मुनहसिर रहेगा, फिर भी अलग-अलग जगहो मे हमारी आम पॉलिसी अलग-अलग नही होनी चाहिए, और जो बात एक जगह बुरी है वह दूसरी जगह भी बुरी होनी चाहिए; नही तो हमारे ऊपर यह इलजाम लगाया जायगा और लगाया गया है कि हमारी कोई एक नीति या कोई एक उसूल नही है और हमारा मकसद सिर्फ यही है कि किसी तरह से ताकत हमारे हाथ मे आ जाय।

धार्मिक और अन्य अल्पसख्यक जातियो के लिए पृथक् चुनाव की जो व्यवस्था की गई है उसके खिलाफ काफी नुक्ताचीनी हुई है, और वह ठीक ही हुई है। यह बताया गया है कि यह चुनाव लोकतन्त्र के बिलकुल खिलाफ पडता है। इसमे कोई शक नही कि अगर हम चुननेवालो को अलग-अलग बन्द कमरो मे बाँट दे तो लोकतन्त्र कायम करना या जिसे जिम्मेदार सरकार के नाम से पुकारा जाता है उसका कायम किया जाना मुमकिन नही है। लेकिन प० मदनमोहन मालवीय और हिन्दू-महासभा के अन्य नेता, जो पृथक् चुनाव के सबसे बडे और अथक आलोचक है, रियासतो मे जो कुछ अन्धेर मच रहा है उसके बारे मे अजीब तौर से चुप है और ज़ाहिरा तौर पर इस बात के लिए तैयार है कि रियासतो की स्वेच्छा-चारिता और बाकी के हिन्दुस्तान में लोकतन्त्र के नाम से पुकारी जानेवाली चीज़ आपस मे मिलकर सघ-राज्य कायम हो जाय। इससे ज्यादा बेमौज़ूँ और बेहूदा एकता की कल्पना करना भी मुश्किल है, लेकिन हिन्दू-महासभा के जो लोग लोकतन्त्र और राष्ट्रीयता के हिमायती बनते है वे ही इस एकता को बिना डकार लिये हुए ही निगल जाते है। हम लोग तर्क और बुद्धि की बात करते है, लेकिन हमारी बुनियादी प्रेर-णायें अभीतक भावुकतामय ही बनी हुई है।

इस तरह मै लौटकर फिर कांग्रेस और रियासतो की विकट समस्या पर आता हूँ। मेरा दिमाग थॉमस पेन के उस वाक्य की ओर आकर्षित होता है, जो उसने कोई डेढसौ बरस पहले बर्क के सम्बन्ध मे कहा था—"वह (बर्क) तो परोपकार से तरस खाते है, लेकिन मरनेवाली चिडिया को भूल जाते है।" यह ठीक है कि गाधीजी मरनेवाली चिडिया को नही भूलते। लेकिन वह उसके परो पर इतना ज्यादा ज़ोर क्यो देते है ?

कम-बढ ये ही बाते ताल्लुकेदारी और ज़मीदारी-प्रथा पर भी लागू होती है। इस बात को समझाने के लिए अब किसी तर्क की जरूरत नही मालूम पडती है कि यह अर्ध-जागीरदारी प्रथा अब समय के बिलकुल प्रतिकूल है और उत्पादन-शैली और तरक्की के रास्ते मे बडी भारी अडचन है। वह तो बढनेवाले पूँजीवाद के भी खिलाफ

जाती है और करीब-करीब दुनिया-भर में बड़ी-बड़ी जमीदारियाँ धीरे-धीरे गायब हो गई है और उनकी जगह जमीदार किसानो ने लेली है। मेरी तो हमेशा यही कल्पना रही है कि हिन्दुस्तान में जो एक सवाल सम्भवत. उठ सकता है वह मुआवजे का है। लेकिन पिछले साल तो मुझे यह देखकर बहुत ही अचरज हुआ कि गाधीजी ताल्लुकेदारी प्रथा को भी उस प्रथा की हैसियत से पसन्द करते है और चाहते है कि वह जारी रहे। कानपुर मे जुलाई १९३४ मे उन्होने कहा था—"किसानों और ज़मीदारों, दोनों मे हृदय-परिवर्तन द्वारा बेहतर ताल्लुकात पैदा किये ज़ा सकते हैं। अगर यह हो जाय तो दोनो आपस मे मेल के साथ अमन-चैन से रह सकते हैं। मै तो कभी भी ताल्लुकेदारी या जमीदारी प्रथा को दूर करने के पक्ष मे नही रहा, और जो लोग यह समझते है कि वह रद होनी चाहिए वे खुद अपनी बात को नही समझते।" गाँधीजी का यह आखिरी आरोप तो कुछ हद तक कटुतापूर्ण है।

बतलाते है कि उन्होने आगे यह कहा—"बिना उचित कारणो के जायदादवाली श्रेणियो से उनकी निजी जायदाद छीने जाने के काम मे मै कभी साथ नही दे सकता। मेरा ध्येय तो यह है कि आपके दिलो पर घर करके मै आपको अपनी राय का बना लूँ, जिससे आप अपनी निजी जायदाद को किसानो के लिए ट्रस्ट के रूप मे रक्खें और उसका इस्तैमाल खास तौर पर उनकी भलाई के लिए करे।""""लेकिन मान लीजिए कि आपको आपकी जायदाद से वंचित करने के लिए अन्यायपूर्वक कोशिश की जाती है तो आप मुझे अपनी तरफ लड़ता हुआ पायँगे'''' 'पश्चिम का समाजवाद और वहाँ का कम्यूनिज्म जिन खास विचारो पर टिका हुआ है, वे हमारे विचारो से बुनियादी तौर पर भिन्न हैं। जिन धारणाओ पर सामाजवाद वगैरा टिके हुए है, उनमे से एक तो यह है कि उनका विश्वास है कि मानव-स्वभाव मूलत स्वार्थी है''''''इसलिए हमारे समाजवाद और हमारे कम्यूनिज्म की बुनियाद तो अहिंसा पर और मजदूर और मालिको, किसानो और ज़मीदारो के आपसी मेल पर होनी चाहिए।" ये बाते उन्होने ज़मीदारो के एक डेपूटेशन से कही थी।

मै नही मानता कि पूरब और पश्चिम के बुनियादी खयालात मे ऐसे कोई फर्क है। शायद कुछ हो। लेकिन हाल ही के पिछले दिनो मे तो एक जाहिरा फर्क यह रहा है कि हिन्दुस्तान के मालिको और जमीदारो ने अपने मजदूरो और किसानो के हितो की जितनी ज्यादा उपेक्षा की है उतनी उनके विलायत के बिरादरीवालो ने नही की। हिन्दुस्तान के जमीदारो की तरफ से किसानो की भलाई के लिए किसी तरह के सामाजिक सेवा के काम मे दिलचस्पी लेने की अमलन कोई कोशिश नही हुई। पश्चिमी समालोचक मि० एच० एन० ब्रेलसफोर्ड ने कहा है कि "हिन्दुस्तान के सूदखोर और जमीदार

ऐसे परोपजीवी, नृशंस और रक्तशोषक प्राणी है, कि अर्वाचीन मानव-समाज मे उनका सानी नही मिलता।"[1] शायद इसमे हिन्दुस्तान के जमीदारो का कोई कुसूर नही है। परिस्थितियाँ उनके इतनी खिलाफ थी कि वे उनका मुकाविला न कर सके। वे लगातार नीचे को गिरते ही गये और अव एक ऐसी कठिन स्थिति मे फँस गये है, जिसमे से अपनेको मुश्किल से निकाल सकते है। बहुत-से जमीदारो से तो उनकी ज़मीदारियाँ बोहरो ने लेली है, और छोटे-छोटे जमीदार जिस ज़मीन के कभी मालिक थे उसीमे अव काश्तकार की हालत मे पहुँच गये। शहरो मे रहनेवाले इन बोहरो ने पहले तो ज़मीन-जायदाद गिरवी करके रुपया दिया, और फिर उसी रुपये के बदले उसे हड़प-कर अब वे खुद ज़मीदार बन बैठे है और गाधीजी की राय मे अब वे उन अभागो के ट्रस्टी है जिनको उन्होने खुद उनकी जमीन से वञ्चित किया है। गांधीजी ऐसे लोगो से यह उम्मीद भी रखते है कि वे अपनी आमदनी खास तौर पर किसानो की भलाई के कामो में लगायँगे।

अगर ताल्लुकेदारी की प्रथा अच्छी है, तो वह हिन्दुस्तान भर मे क्यो नही जारी की जाती। हिन्दुस्तान के कुछ बड़े हिस्सो मे रैयतवारी प्रथा चलती है। क्या गाधीजी गुजरात में बड़ी-बड़ी जमीदारियाँ और ताल्लुकेदारियाँ कायम हो जाना पसन्द करेंगे? तो फिर क्या बात है कि जमीन सम्बन्धी एक प्रणाली तो यू० पी०, बिहार या बगाल के लिए अच्छी है और दूसरी गुजरात और पजाब के लिए? जहाँ-तक मेरा खयाल है, हिन्दुस्तान के उत्तर व पूरब और पश्चिम व दक्षिण के रहने-वाले लोगो मे ऐसा कोई खास फर्क तो नही है, और उनके बुनियादी खयालात भी एकसे है। इसके मानी तो यह हुए कि जो कुछ है वह जारी रहना चाहिए। इस बात की आर्थिक जाँच नही की जानी चाहिए कि लोगो के लिए कौन-सी बात सबसे ज्यादा वाञ्छनीय या फायदेमन्द है, और न मौजूदा हालत को बदलने की ही कोई कोशिश होनी चाहिए। बस, सिर्फ एक ही बात की ज़रूरत है, और वह यह कि लोगो का हृदय-परिवर्तन कर दिया जाय। जिन्दगी और उसके मसलो की तरफ यह तो विशुद्ध धार्मिक रुख है। राजनीति, अर्थ-शास्त्र या समाज-शास्त्र से उसका कोई सरोकार नही। फिर भी गाधीजी इससे आगे बढ जाते है और राजनैतिक और राष्ट्रीय क्षेत्र मे अपने धार्मिक रुख को ले आते है।

ये है कुछ विकट समस्याये जो आज हिंदुस्तान के सामने है। हमने अपनेको कुछ गुत्थियो में उलझा लिया है और जबतक हम उन गुत्थियो को सुलझा न लेंगे, तबतक आगे बढना दुश्वार है। यह छुटकारा भावुकता से नही होगा। बहुत दिन

१. एच० एन० ब्रेल्सफ़ोर्ड की 'Property or Peace' नामक पुस्तक से।

हुए, स्पिनोजा ने एक सवाल पूछा था—"ज्ञान और बुद्धि द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्त करने, और भावुकता की गुलामी मे रहने, इन दो मे मे आप कौन-सी चीज को पसन्द करेंगे ?" उन्होंने खुद पहली बात पसन्द की थी ।

६३

हृदय-परिवर्तन या बल-प्रयोग

सोलह बरस पहले गाधीजी ने हिन्दुस्तान पर अपने अहिसा के उसूल की छाप लगाई थी। तबसे अबतक हिन्दुस्तान के क्षितिज मे इसी उसूल का बोलबाला रहा है। लोगो की बहुत बडी तादाद ने बिना किसी सोच-विचार के उसे दुहराया है, लेकिन दुहराया है खुशी के साथ। कुछ लोगो ने अपनेमे काफी सघर्ष किया और फिर दबे मन से उसे अपना लिया, और कुछ लोगो ने खुल्लमखुल्ला इस उसूल का मजाक भी उडाया है। हमारे राजनैतिक और सामाजिक जीवन मे उसने बहुत बडा हिस्सा लिया है और हिन्दुस्तान से बाहर विशाल दुनिया मे भी लोगो का काफी ध्यान उसने अपनी तरफ खीचा है। निस्सन्देह उसूल बहुत पुराना है—उतना ही पुराना है जितनी कि मनुष्य की विचार-शक्ति है। लेकिन शायद गाधीजी ही पहले व्यक्ति है जिन्होने राजनैतिक और सामाजिक आन्दोलन मे सामूहिकरूप मे उसका प्रयोग किया है। इसके पहले अहिसा वैयक्तिक और इस तरह मूलत धर्म से सम्बन्धित चीज थी। वह आत्म-निग्रह और पूर्ण अनासक्ति प्राप्त करने और इस प्रकार अपने-आपको सासारिक प्रपचो से ऊँचा उठाकर एक तरह की वैयक्तिक स्वतन्त्रता और मुक्ति लाभ करने का साधन थी। उसके जरिये बडे-बडे सामाजिक मसलो को हल करने और सामाजिक परिस्थितियो मे परिवर्तन करने का कोई खयाल न था, अगर कुछ था भी तो सर्वथा परोक्ष-रूप मे। उस वक्त लोगो की करीब-करीब यही भावना थी कि मौजूदा सामाजिक ताना-बाना तो, अपनी सब असमानताओ और अन्यायो सहित, ऐसा ही रहेगा। गाधीजी ने कोशिश की कि यह वैयक्तिक आदर्श समाज का भी आदर्श हो जाय। वह राजनैतिक और सामाजिक दोनो ही परिस्थितियो को बदलने पर तुले हुए थे और इसी गरज से उन्होने जान-बूझकर इस विस्तृत और सर्वथा भिन्न क्षेत्र मे अहिसा के शस्त्र का प्रयोग किया। उन्होने लिखा है —"जो लोग मानव-स्थिति और अवस्थाओ मे आमूल परिवर्तन करना चाहते है वे समाज में खलबली पैदा किये बिना ऐसा नही कर सकते। लेकिन ऐसा करने के दो ही तरीके है, एक हिसात्मक और दूसरा अहिसात्मक। हिसात्मक दबाव आदमी के जिस्म पर पडता है। जो इस दबाव से काम लेता है वह खुद नीचे गिर जाता है और जिसपर यह दबाव डाला जाता है उसे हतोत्साह कर देता है। लेकिन स्वय कष्ट सहकर—जैसे उपवास आदि करके—जो अहिसात्मक दबाव डाला जाता है, वह बिलकुल दूसरे तरीके से अपना असर पैदा करता है। जिन लोगो के

खिलाफ उसका प्रयोग किया जाता है, उनके शरीर को न छूकर वह उनकी आत्मा पर असर डालता है और उसे मजबूत बनाता है।"[1]

यह कुछ हद तक भारतीय दृष्टिकोण से मेल खाता था और इसीलिए देश ने, कम-से-कम सरसरी तौर पर तो जरूर ही, उसे उत्साहपूर्वक स्वीकार कर लिया। बहुत ही कम लोग उससे निकलनेवाले व्यापक परिणामो को समझ पाये थे। लेकिन जिन थोडे-से आदमियो ने उसे अस्पष्ट-रूप मे समझा भी, वे श्रद्धापूर्वक काम मे जुट पडे। लेकिन जब काम की रफ्तार धीमी पड गई, तब कुछ लोगो के मन मे बहुत-से प्रश्न उठ खडे हुए, जिनका उत्तर दिया जा सकना बहुत कठिन था। इन प्रश्नो का हमारी प्रचलित राजनैतिक गति-विधि पर कोई असर नही पडता था। इन-का सम्बन्ध तो अहिसात्मक प्रतिरोध के मूल सिद्धान्त से था। राजनैतिक अर्थो मे तो अभीतक अहिसात्मक आन्दोलन को कामयाबी मिली नही, क्योकि हिन्दुस्तान अतभीक साम्राज्यवाद के अनीतिपाश मे जकड़ा हुआ है, और सामाजिक अर्थ मे तो उसने क्रान्ति की कल्पना तक नही की। लेकिन फिर भी जो आदमी जरा भी गहराई से देख सकता है, वह यह देख सकता है कि हिन्दुस्तान के करोड़ो लोगो मे उसने एक जबरदस्त तबदीली कर दी। इस अहिंसात्मक आन्दोलन ने करोडो हिन्दुस्तानियों को चरित्रबल, शक्ति और आत्मविश्वास का पाठ पढ़ाया है, और ये ऐसे अमूल्य गुण है जिनके बिना राजनैतिक या सामाजिक किसी भी किस्म की तरक्की करना या उसे कायम रखना कठिन है। यह कहना मुश्किल है कि ये निश्चित लाभ अहिसा की बदौलत हुए है या महज़ सघर्ष की बदौलत। बहुत-से मौको पर कई राष्ट्रो ने ऐसे फायदे हिंसात्मक लडाई के जरिये भी हासिल किये है, फिर भी, मेरा खयाल है, कि यह बात तो इत्मीनान के साथ कही जा सकती है कि इस मामले मे अहिसा का तरीका हमारे लिए बेशकीमत साबित हुआ है। गांधीजी ने समाज मे जिस खलबली का जिक्र किया था वह खलबली पैदा करने मे उसने निश्चित रूप से मदद की, हालाकि निस्सन्देह यह खलबली बुनियादी वजूहात और हालतो की बदौलत हुई। उसने आम लोगो मे वह तेजी की प्रक्रिया पैदा करदी है जो इनकिलाबी हेर-फेर से पहले पैदा होती है।

स्पष्ट रूप से यह बात उसके हक मे है, लेकिन वह हमे ज्यादा दूर नही लेजाती। असली सवाल तो ज्यो-का-त्यो बना हुआ है। बदकिस्मती यह है कि इस मसले को हल करने मे गाधीजी हमे ज्यादा मदद नही देते। इस विषय पर उन्होने बहुत बार लिखा है

१. ४ दिसम्बर १९३२ को अपने एक अनशन के अवसर पर गांधीजी ने जो बयान दिया था उससे।

और व्याख्यान भी दिये हैं। लेकिन जहाँतक मुझे मालूम है, उन्होने सार्वजनिक रूप से उससे निकलनेवाले अर्थो पर दार्शनिक या वैज्ञानिक दृष्टि से कभी विचार नही किया। वह इस बात पर जोर देते हैं कि साधन साध्य से ज्यादा महत्वपूर्ण है।[१] जोर-जबरदस्ती की बनिस्बत समझा-बुझाकर हृदय-परिवर्तन करना अच्छा है, और वह अहिंसा को सत्य और दूसरी तमाम अच्छाइयो से भिन्न नही समझते। सच तो यह है कि इन शब्दो का वह अक्सर इस तरह प्रयोग करते है मानो वे एक-दूसरे के समानार्थक हैं। साथ ही, जो इस बात से सहमत न हो उन को उच्चात्माओ की कोटि का मानने की भी एक प्रवृत्ति प्रचलित है बल्कि कुछ ऐसा समझा जाता है मानो वे किसी अनैतिक आचरण के गुनहगार है। और गाधीजी के कुछ अनुयायी तो, इसके कारण, लाजिमी तौर पर अपने-आपको बड़ा पहुँचा हुआ और धर्मात्मा समझने लगे हैं।

लेकिन हममें से जो इतने खुशकिस्मत नही कि इस चीज मे इतनी श्रद्धा रखते हो, उन्हे बहुत-से सन्देहो से परेशान होना पड़ता है। तात्कालिक आवश्यकताओ से उन-का कोई सम्बन्ध नही है, लेकिन वे चाहते है कि कोई ऐसा सुसगत कार्य-सिद्धान्त हो जो वैयक्तिक दृष्टि से नैतिक हो और साथ ही सामाजिक दृष्टि से कारगर भी हो। मै मानता हूँ कि मुझमें भी यह सन्देह मौजूद है और मुझे इस मसले का कोई सन्तोष-जनक हल नही दिखाई देता। मै हिंसा को कतई नापसन्द करता हू, लेकिन फिर भी मै खुद हिंसा से भरा हुआ हूँ और जान मे या अनजान मे अक्सर दूसरो को दबाने की कोशिश करता रहता हूँ। और मानसिक दवाव से अधिक दबाव भला और क्या हो सकता है, जिसके कारण गाधीजी के अनन्य भक्तो और साथियो के दिमाग कुण्ठित हो जाते हैं और वे स्वतत्र रूप से सोचने के योग्य नही रहते ?

लेकिन असली सवाल तो यह था, कि क्या राष्ट्रीय और सामाजिक समुदाय अहिंसा के इस वैयक्तिक सिद्धान्त को काफी तौर पर अपना सकते है ? क्योकि उसका अर्थ यह है कि मानव-समाज सामूहिक रूप से प्रेम और सौजन्य मे बहुत ऊँचा चढा हुआ है। यह सच है कि दरअसल वाञ्छनीय और अन्तिम लक्ष्य तो यही है कि मानव-समाज इतना ऊँचा उठ जाय और उसमें से घृणा, कुत्सा और स्वार्थपरता निकल जाय। अन्त मे जाकर ऐसा हो भी सकेगा या नही, यह एक विवादास्पद विषय हो सकता है; लेकिन उसके बिना जीवन उस निरे बुद्धू की कही हुई कहानी का-सा नीरस हो जायगा, जिसमे कम्पन और तड़प है लेकिन जिसका मतलब कुछ नही है। इस मकसद पर पहुँचने के

१. The Power of Non-violence (अहिंसा की ताक़त) नामक किताब में रिचार्ड बी० ग्रेग ने इस विषय पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया है। उनकी यह किताब बहुत ही दिलचस्प और विचारोत्तेजक है।

लिए क्या यह आवश्यक है कि हम इन गुणों को अपनाने के लिए लोगो मे प्रचार करें और उन अडचनो की कुछ भी परवाह न करें, जो इस मकसद पर पहुँचना नामुमकिन कर रही है और जो इस मकसद के खिलाफ पडनेवाली हरेक प्रवृति को शह दे रही है? अथवा, क्या हम पहले इन अडचनो को दूर करके प्रेम, सौन्दर्य और सौजन्य की वृद्धि के लिए अधिक उपयुक्त और अनुकूल वातावरण न पैदा करले? अथवा, क्या हम इन दोनो उपायो को साथ-साथ काम मे लाये?

और फिर क्या हिसा और अहिसा अथवा समझा-बुझाकर किये गये हृदय-परिवर्तन और बलात्कार के बीच का अन्तर इतना स्पष्ट और सरल है? अक्सर शारीरिक हिसा की अपेक्षा नैतिक बल कही अधिक दवाने या मजबूर करने-वाला भयकर अस्त्र सिद्ध हुआ है। और क्या अहिसा और सत्य एक-दूसरे के पर्याय-वाची शब्द है? सत्य क्या है? यह सवाल बहुत ही पुराना है, जिसके हजारो जवाब दिये जा चुके है, मगर यह सवाल आजतक जैसा था वैसा ही बना हुआ है। लेकिन कुछ भी हो, यह बात तय है कि उसको अहिसा से सर्वथा मिलाया नही जा सकता। हिसा स्वतः बुरी है, लेकिन आप उसको महज उसके हिसा होने की वजह से ही पापमय नही कह सकते। उसके कई आकार और प्रकार है, और अक्सर यह हो सकता है कि उससे भी ज्यादा बुरी बात के मुकाबिले मे हमे हिसा पसन्द करनी पड़े। गाधीजी ने यह खुद कहा है कि बुजदिली, डर और गुलामी से हिसा बेहतर है और इसी तरह इस फेहरिस्त मे और भी बहुत-सी बुराइयाँ जोड़ी जा सकती है, जो हिंसा से भी ज्यादा बुरी है। यह सच है कि आम तौर पर हिसा के साथ घृणा रहती है, लेकिन सैद्धान्तिक रूप से हमेशा ऐसा ही हो, यह जरूरी नही है। यह बात हो सकती है कि हिसा का आधार सद्भावना पर हो (जैसे कि सर्जन द्वारा की गई हिंसा) और कोई भी चीज, जिसका आधार यह हो, कभी भी सिद्धान्त पापमय नही हो सकती। आखिर नीति और सदाचार की अन्तिम कसौटी तो सद्भाव और वैर-भाव ही है। इस तरह यद्यपि हिसा सदाचार की दृष्टि से अक्सर ठीक नही ठहराई जा सकती और उस दृष्टि से उसे खतरनाक भी समझा जा सकता है, लेकिन यह जरूरी नही है कि वह हमेशा ऐसी ही हो।

हमारा सारा जीवन ही सघर्षमय और हिंसायुक्त है और यह बात सही मालूम होती है कि हिसा से हिसा ही पैदा होती है और इस तरह हिंसा को रोकने का उपाय हिंसा नही है। लेकिन फिर भी हिसा का कभी प्रयोग न करने की कसम खा लेने का अर्थ होता है सर्वथा नकारात्मक रुख अख्त्यार कर लेना, जिसका स्वय जीवन से कतई कोई सम्पर्क नही होता। हिंसा तो आजकल के राष्ट्रो और सामाजिक प्रणालियो का जीवन-

तत्त्व है। राष्ट्र के पास अगर यह अस्त्र न हो तो न तो कर वसूल किये जा सकते है, न जमीदारो को उनका लगान ही मिल सकता है, और न निजी सम्पत्ति ही कायम रह सकती है। अपने शस्त्र-बल से कानून दूसरो को दूसरो की निजी सम्पत्ति के उपयोग से रोकता है। इस प्रकार आक्रमणात्मक और रक्षणात्मक हिसा के बल पर वर्त्तमान राज्य कायम है।

यह सच है कि गाधीजी की अहिसा बिलकुल ही नकारात्मक और अप्रतिरोधक नही है। वह तो अहिसात्मक प्रतिरोध है, जो एक बिलकुल ही दूसरी चीज, एक विधेयात्मक और सजीव कार्य-प्रणाली है। यह उन लोगो के लिए नही है, जो परिस्थितियो के सामने चुपचाप सिर झुका देते है। उसका तो उद्देश ही समाज मे खलबली पैदा कर देना और इस तरह मौजूदा हालत को बदल देना है। हृदय-परिवर्त्तन के भाव के पीछे उद्देश कुछ भी रहा हो, व्यवहार मे तो वह लोगो को विवश करने या दबाने का भी एक जबरदस्त साधन रहा है। यह बात दूसरी है कि वह दबाव सबसे ज्यादा शिष्ट और सबसे कम आपत्तिजनक ढग से काम मे लाया गया। सचमुच यह बात ध्यान देने योग्य है कि अपने शुरू के लेखो मे गाधीजी ने खुद "मजबूर करना" शब्द का इस्तेमाल किया है। पजाब के फौजी कानून के जमाने के अत्याचारो के सम्बन्ध मे दिये गये वाइसराये लार्ड चैम्सफोर्ड के व्याख्यान की आलोचना करते हुए सन् १९२० मे उन्होने लिखा था—

"कौसिल-उद्घाटन के समय वाइसराय ने जो व्याख्यान दिया उससे मुझे उनका ऐसा रुख मालूम हुआ कि जिसकी वजह से प्रत्येक आत्मसम्मान रखनेवाले के लिए उनके या उनकी सरकार के साथ सम्बन्ध बनाये रखना असम्भव हो जाता है।

"पजाब के बारे मे उन्होने जो कुछ कहा है उसका स्पष्ट अर्थ यह है कि वह किसी तरह भी लोगो की शिकायत दूर करने को तैयार नही है। वह चाहते है कि हम लोग निकट-भविष्य की समस्याओ पर ही अपना सारा ध्यान केन्द्रित करदे, लेकिन निकट-भविष्य तो यही है कि पजाब के मामले मे हम सरकार को पश्चात्ताप करने के लिए मजबूर करदे, जिसका कोई लक्षण नही दिखाई देता। इसके विरुद्ध, वाइसराय ने अपने आलोचको की टीकाओ का जवाब देने के अपने प्रलोभन को रोका है, जिसका अर्थ यह है कि हिन्दुस्तान की इज्जत से ताल्लुक रखनेवाले बहुत-से जरूरी मामलो पर उनकी राय अभीतक नही बदली है, वह इतने ही से सतुष्ट है कि इन विषयो को भावी इतिहास के निर्णय पर छोड़ दिया जाय। मेरे विचार मे इस तरह की बाते हिन्दुस्तानियो को और भी अधिक उत्तेजित करने का कारण बनेगी। जिन लोगो पर अत्याचार किये गये है और जो अभीतक उन अफसरो के जूतो के नीचे दबे

हुए हैं, जो अपने-आपको किसी विश्वास और जिम्मेदारी के ओहदे पर रहने के सर्वथा अयोग्य सिद्ध कर चुके है, यदि इतिहास-निर्णय अनुकूल भी हुआ तो वह उनके किस काम आयगा ? पजाब के प्रति न्याय न करने की सरकार की हठ के मौजूद रहते हुए सहयोग का उपदेश करना, यदि अधिक तीव्र भाषा का प्रयोग न किया जाय तो, कम-से-कम, निरा पाखण्ड तो है ही ।''

यह बात जग-जाहिर है कि सरकार बुरी तरह हिसा पर आश्रित है—न केवल शस्त्र-बल की हिसा पर वरन् अत्यन्त सूक्ष्म रूप से प्रयुक्त जासूस, मुखबिर, लोगो को भड़कानेवाले एजेण्टो, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से शिक्षा और समाचारपत्रो आदि द्वारा झूठा प्रचार, धार्मिक और अर्थाभाव तथा भुखमरी वगैरा के दूसरे प्रकार के भयो की कही अधिक भयकर हिसा पर । उनके पीछे अपनी अगणित शाखा-प्रशाखाओ और षड्यत्र और धोखेबाजी के ताने-बाने और भेदियो-उपभेदियो, अपराधियो के गुप्त अड्डो के साथ सम्बन्ध, रिश्वत और मानव-स्वभाव को पतित करनेवाले दूसरे उपाय व गुप्त हत्याओ के अपने सब साधनो सहित खुफिया पुलिस का बहुत बडा जाल काम करता है । शान्तिकाल तक मे सरकारो के बीच सब प्रकार का झूठा और दगा-फरेब जायज है, बशर्ते कि वह खुल न जाय, और युद्ध के समय तो वह और भी ज्यादा जायज हो जाता है । खुद ब्रिटिश राजदूत सर हेनरी वॉटन ने तीन सौ बरस पहले राजदूत की यह परिभाषा की थी कि "राजदूत वे ईमानदार प्राणी है जो अपने मुल्क की भलाई के लिए झूठ बोलने को दूसरे मुल्को मे भेजे जाते है ।" आजकल तो राजदूतो के साथ उनका फौजी, जहाजी और व्यापारिक कबीला भी जाता है, जिस-का खास काम होता है, उस मुल्क का भद लेना जिस मुल्क मे वे भेजे जाते हैं । उनके पीछे खुफिया पुलिस का बहुत बड़ा जाल, जो षड्यन्त्रो और धोखेबाजी के ताने-बानो से भरा-पूरा रहता है, काम करता है । भेदियो और उपभेदियो से उनका ताल्लुक, उनकी रिश्वत-खोरी और मानव-प्रकृति का पतन तथा उसकी गुप्त हत्याये सब बाते उस जाल मे शामिल होती है । शान्ति-काल के लिए तो ये सब चीजे खराब है ही युद्धकाल में इनको और भी अधिक महत्त्व मिल जाने से इनका नाशकारी प्रभाव हरेक दिशा मे फैल जाता है । गत विश्व-व्यापी महायुद्ध के समय जो प्रचार किया गया था उसके कुछ उदाहरण पढकर अब हैरत होती है कि किस प्रकार शत्रु-देशों के विरुद्ध आश्चर्यजनक झूठी बाते फैलाई गई थी; और इन बातो के फैलाने और खुफिया पुलिस का जाल बिछाने मे अन्धाधुन्ध रुपया बहाया गया था। लेकिन वर्तमान शान्ति स्वयं दो युद्धो के बीच का विरामकाल मात्र है, अर्थात् लडाई के लिए तैयारी करने की एक अवधि मात्र है और कुछ हदतक आर्थिक तथा दूसरे क्षेत्रो मे संघर्ष जारी

रखना ही है। विजयी और पराजितो मे, सत्ताओ और उनके मातहत उपनिवेशो मे, रक्षित वर्ग और शोषित वर्ग की यह रस्साकशी हर वक्त जारी रहती है। इसलिए जिसे आज शान्ति-काल के नाम से पुकारा जाता है, उसमे भी कुछ हदतक लडाई का वातावरण अपने हिंसा और झूठ के सब अस्त्रो-सहित जारी रहता है और दोनो इस स्थिति का मुकाबिला करने के लिए तैयार रहने को अभ्यस्त किये जाते है। लार्ड वोलसली ने 'सोल्जर्स पाकेटबुक फॉर फील्ड-सर्विस' नामकी एक पुस्तक मे लिखा है—"हम इस सिद्धान्त पर बार-बार जोर देते रहेगे, कि ईमानदारी ही सबसे अच्छी पालिसी है और आखिर मे जाकर हमेशा सचाई की ही जीत होती है, लेकिन ये साधारण वाक्य बच्चो की नोटबुको के लिए ही ठीक है, और अगर लोग युद्ध के दिनो मे इनपर अमल करने लगे तो यही बेहतर है कि वे हमेशा के लिए अपनी तलवारे मियानो के अन्दर बन्द करले।"

वर्तमान स्थिति मे, जब कि एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के और एक वर्ग दूसरे वर्ग के खिलाफ है, हिंसा और असत्य का यह पाया करीब-करीब लाजिमी मालूम होता है। अपनी शक्ति और विशेषाधिकारो को बनाये रखने के लिए उत्सुक और अपने पीड़ितो को उन्नति का अवसर न देनेवाले अधिकार-प्राप्त राष्ट्रों और समूहो को तो लाजिमी तौर पर हिंसा, दबाव और झूठ का आश्रय लेना ही पडता है। सभव है कि ज्यो-ज्यो लोकमत जागृत होता जायगा और इन सघर्षो तथा दमन की वास्तविकता स्पष्ट होती जायगी, त्यो-त्यो इस हिंसा की तीव्रता भी कम होती जायगी। लेकिन असल बात तो यह है कि हाल के तमाम तजुर्बे इसके खिलाफ इशारा कर रहे है और जैसे-जैसे मौजूदा सस्थाओ के उलटने का आन्दोलन तीव्र होता जाता है, इन लोगो की हिंसा भी बढ़ती जाती है। कभी हिंसा की प्रत्यक्ष उग्रता मे कुछ कमी भी आ गई है तो उसने उससे और कही अधिक सूक्ष्म और अधिक भयंकर रूप अख्त्यार कर लिया है। हिंसा की इस प्रवृत्ति को न तो धार्मिक सहिष्णुता और न नैतिक भावना की वृद्धि ही ज़रा भी रोक सकी है। मानवता के परिमाण की दृष्टि से कुछ व्यक्ति उन्नति करके ऊँचे चढ़ गये है और अगर सबसे ऊँचे नमूनो को छोड दिया जाय, तो गालिबन दुनिया मे आजकल इस किस्म के ऊँचे दर्जे के जितने ज्यादा व्यक्ति है, उतने इतिहास के और किसी जमाने मे नही थे; कुल मिलाकर तो समाज ने तरक्की ही की है, और वह कुछ हद-तक पुरातन और सहज क्रूर वृत्तियो पर अकुश रखने के लिए भी प्रयत्नशील है। लेकिन कुल मिलाकर समूहो या समुदायो ने कोई खास तरक्की नही की है। व्यक्ति अधिक सभ्य बनने के प्रयत्न में अपने पूर्वकालिक मनोविकार और बुराइयाँ समाज को देता जा रहा है, और क्योकि हिंसा हमेशा पहली

नही किन्तु दूसरी श्रेणी के लोगों को अपनी ओर आकर्षित करती है, इसलिए इन समुदायों के नेता लोग शायद ही पहले दरजे के पुरुष या स्त्री होते हो।

लेकिन अगर हम यह भी मानले कि राज्य से धीरे-धीरे हिंसा के सबसे बुरे रूप मिट जायँगे, तब भी इस बात की उपेक्षा कर सकना असम्भव है कि सरकार और सामाजिक जीवन दोनो ही के लिए किसी प्रकार के दबाव की आवश्यकता है। सामाजिक जीवन के लिए किसी-न-किसी तरह की सरकार का होना जरूरी है, और इस कारण जिन लोगो को कुछ अधिकार मिल जाता है उनके लिए यह लाजिमी है कि वे व्यक्तियो और समूहो की उन सब प्रवृत्तियो पर, जो स्वभावत स्वार्थ-परायण है और जिनसे समाज को नुकसान पहुँचने का अदेशा है, अकुश रक्खे और उन्हे रोके। आमतौर पर ये अधिकारी लोग जरूरत से ज्यादा आगे बढ जाते है, क्योकि ताकत जिसके हाथ मे पहुँचती है उसीको भ्रष्ट करके गिरा देती है। इस तरह उन शासको को स्वतन्त्रता से कितना ही प्रेम और दमन से कितनी ही घृणा क्यो न हो, फिर भी उन्हे उस वक्त तक अपने यहाँ के झगड़ालू व्यक्तियो का दमन करना ही पडेगा, जबतक कि राज्य मे प्रत्येक व्यक्ति पूर्णता प्राप्त न करले और सर्वथा नि स्वार्थ और परोपकार-परायण न बन जाय। ऐसे राज्य के शासको को भी उन बाहरी समूहों का मुकाबिला करना पडेगा, जो लूट-मार के लिए उनके राज्य पर हमला करे। अर्थात्, उन्हे ताकत का मुकाबिला ताकत से करके अपनी रक्षा करनी पड़ेगी। इस बात की जरूरत तो तभी दूर होगी जबकि पृथ्वी-भर के लिए केवल एक ही विश्वव्यापी राज्य रह जाय।

इस तरह अगर आन्तरिक अविच्छिन्नता और बाहरी आक्रमणो से अपनी रक्षा इन दोनो के लिए शक्ति और दमन आवश्यक है, तो यह भेद किस तरह किया जाय कि वे सर्वथा अहिसात्मक है या हिसात्मक? रिन्होल्ड नीयूर[१] का कहना है कि जब आप एक बार नैतिकता के मुकाबिले मे इतनी भयावह छूट देते है और सामाजिक अविच्छिन्नता को कायम रखने के लिए बल-प्रयोग एक आवश्यक अस्त्र मान लेते है, तब अहिसात्मक और हिसात्मक बल-प्रयोग मे अथवा सरकार और क्रान्तिकारियो द्वारा किये जानेवाले बल-प्रयोग मे आप कोई विशुद्ध भेद नही कर सकते।

मै ठीक-ठीक नही जानता, लेकिन मेरी धारणा है कि गाधीजी यह बात मान लेगे कि इस अपूर्ण ससार मे किसी भी राष्ट्रीय सरकार को अपने ऊपर अकारण ही बाहर से होनेवाले आक्रमणो से अपनी रक्षा करने के लिए शक्ति का प्रयोग करना पड़ेगा। अवश्य ही राज्य को चाहिए कि अपने पडोसी और अन्य दूसरे राज्यो के साथ

१. 'Moral Man and Immoral Society'

सर्वथा शान्तिमय और मैत्रीपूर्ण नीति ग्रहण करे, लेकिन फिर भी आक्रमण की सभावना से इन्कार करना बेहूदगी होगी। राज्य को कुछ ऐसे कानून भी बनाने पडेगे, जो इस अर्थ मे दबाव डालनेवाले होगे कि इनके द्वारा विभिन्न समुदायो या समूहो के कुछ अधिकार और विशेष रिआयते छिन जाती है और उनकी कार्य-स्वतत्रता सीमित हो जाती है। कुछ हदतक तो सभी कानून दबाव डालनेवाले होते है। कराची-कांग्रेस का प्रोग्राम यह निर्धारित करता है कि—"जन-समूह का शोषण बन्द करने के लिए राज-नैतिक स्वतंत्रता मे, करोडो भूखो मरनेवालो की वास्तविक आर्थिक स्वतत्रता का भी अवश्य समावेश होना चाहिए। आवश्यक मनोभाव को कार्य मे परिणत करने के लिए जिन लोगो के अत्यधिक विशेषाधिकार है उन्हे अपने बहुत-से अधिकार उन लोगो के लिए छोड देने पडेंगे जिनके पास बहुत थोडे अधिकार है।" आगे उसमे यह भी बताया गया है कि मजदूरो को निर्वाह के लिए आवश्यक मजदूरी और जीवन की दूसरी सुविधाये भी जरूर मिलनी चाहिएँ, मिल्कियतो पर खास टैक्स लगाये जाने चाहिएँ, और "खास उद्योग-विभागो, खनिज-साधनो, रेलवे, जल-मार्ग, जहाजरानी और सार्वजनिक आवागमन के दूसरे साधनो पर राज्य अपना अधिकार और नियत्रण रक्खेगा।" साथ ही यह भी कि "नशीले पेय और पदार्थ सर्वथा बन्द किये जायँगे।" गालिबन बहुत-से लोग इन सब बातो का विरोध करेगे। यह हो सकता है कि वे बहुमत के निर्णय के सामने सिर झुकाले, लेकिन यह होगा इसी भय के कारण कि आज्ञा-भग का नतीजा बुरा होगा। सचमुच लोकतंत्र का अर्थ ही बहुसख्यक लोगो का अल्पसख्यक लोगो पर दबाव है।

अगर मिल्कियत सम्बन्धी अधिकारो को कम करने या बहुत हदतक उन्हे रद करने के लिए कोई कानून बहुमत से पास हो जाय, तो क्या इसलिए उसका विरोध किया जायगा कि यह तो दबाव है? स्पष्ट है कि यह नही है, क्योकि सभी लोक-तत्रात्मक कानूनो को बनाने मे यही तरीका काम मे लाया जाता है। इसलिए दबाव की बिना पर ऐतराज नही किया जा सकता। यह कहा जा सकता है कि बहुमत गलत या अनैतिक मार्ग पर चल रहा है। ऐसी हालत मे सवाल यह पैदा होता है कि कसरत राय से जो कानून पास हुआ, क्या वह किसी नैतिक सिद्धान्त की अवहेलना करता है? लेकिन इस सवाल का फैसला कौन करेगा? अगर अलग-अलग व्यक्तियो और समूहो को यह छूट देदी जाय कि वे अपने-अपने निजी स्वार्थ के अनुसार कर्तव्य-शास्त्र की व्याख्या करले, तो लोकतन्त्रात्मक प्रणाली का तो खात्मा ही हो जाता है। व्यक्तिगत रूप से मैं तो यह महसूस करता हूँ कि (बहुत ही सकुचित अर्थो मे छोड़कर) व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा कुछ व्यक्तियो को सारे समाज पर भयकर अधिकार दे

देती है, और इसलिए वह समाज के लिए अत्यन्त हानिकारक है। मैं व्यक्तिगत सम्पत्ति को शराबखोरी से भी ज्यादा अनैतिक समझता हूँ, क्योंकि शराब समाज को उतना नुकसान नहीं पहुँचाती जितना कि व्यक्ति को।

फिर भी जो लोग अहिंसा के सिद्धान्त मे विश्वास रखने का दावा करते है उनमे से कुछ लोगो ने मुझसे कहा है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति का उसके मालिक की स्वीकृति के बिना राष्ट्रीयकरण करना दबाव होगा और इसीलिए अहिंसा के विरुद्ध अवश्य ही मेरे सामने इस दृष्टिकोण पर उन बडे-बडे जमीदारो ने, जो जबरदस्ती लगान वसूल करने मे सरकार की मदद लेने में नही हिचकिचाते, और कई फैक्टरियो के मालिक उन पूजीपतियो ने, जो अपने हलको मे स्वतन्त्र मजदूर-सघ भी कायम नही होने देना चाहते, जोर दिया है। यह बात काफी नही मानी जाती कि जिन लोगो का उस बात से ताल्लुक है उनका अधिकाश परिवर्तन चाहता है, बल्कि परिवर्तन से जिन लोगो को नुक्सान है उन्हीका हृदय-परिवर्तन करने के लिए कहा जाता है। थोडे-से स्वार्थी दल स्पष्टत· आवश्यक परिवर्तन को रोक सकते है।

अगर इतिहास से कोई एक बात सिद्ध होती है, तो वह यह है कि आर्थिक हित ही समूहो और वर्गो के दृष्टिकोण के निर्माता होते है। इन हितो के सामने न तो तर्क और न नैतिक विचारो की ही चलती है। हो सकता है कि कुछ व्यक्ति राजी हो जायँ और अपने विशेषाधिकार छोड दे, यद्यपि ऐसा बहुत विरले ही लोग करते है, लेकिन समूह और वर्ग ऐसा कभी नही करते। इसीलिए शासक और विशेषाधिकार-प्राप्त वर्ग को अपनी सत्ता और अनुचित विशेषाधिकारो को छोड देने के लिए रजामन्द करने को जितनी कोशिशे अबतक की गई वे हमेशा नाकामयाब ही हुई और इस बात को मानने के लिए कोई वजह नही दिखाई देती कि वे भविष्य मे कामयाब हो जायँगी। रीन्होल्ड नीबूर ने अपनी किताब[1] मे उन सदाचारवादियो को आडे हाथो लिया है, जो यह कल्पना कर बैठे है कि "व्यक्तियो की स्वार्थपरायणता, विवेक और धार्मिक स्फूर्ति-प्राप्त सद्भावना की वृद्धि से, दिन-ब-दिन कम हो रही है और यह भी कि समस्त मानव-समाजो और समूहो मे सामाजिक ऐक्य स्थापित कराने के लिए सिर्फ इतना ही जरूरी है कि यह क्रिया जारी रहे।" ये सदाचारवादी "मनुष्य के सामूहिक व्यवहार मे उन मूल बातो को, जो प्रकृति का अग है और जो कभी भी सर्वथा विवेक या अन्तरात्मा के अकुश मे नही लाई जा सकती, पहचानकर मानव-समाज में न्याय-प्राप्ति के लिए जो सघर्ष चल रहा है उसमें राजनैतिक आवश्यकताओ की अवहेलना कर देते हैं। ये लोग इस सच बात को नही मानते कि जब

१. Moral Man and Immoral Society

सामूहिक शक्ति, चाहे वह साम्राज्यवाद की शक्ल मे हो या वर्ग-प्रभुता के रूप मे, कमजोरो का शोषण करती है तब वह उस वक्ततक अपनी जगह से नही हटाई जा सकती जबतक कि उसके खिलाफ ताकत खडी न कर दी जाय।" और फिर, "क्योकि किसी भी सामाजिक स्थिति मे विवेक सदा ही कुछ हद तक स्वार्थ का दास होता है, केवल नैतिक या बौद्धिक समझाव-बुझाव से समाज मे न्याय स्थापित नही हो सकता। सघर्ष अनिवार्य है और इस सघर्ष मे शक्ति का मुकाबिला शक्ति से ही किया जाना चाहिए।"

इसलिए यह सोचना, कि किसी वर्ग का किसी राष्ट्र के हृदय-परिवर्तन मात्र से काम चल जायगा या न्याय के नाम पर अपील करने और विवेकयुक्त दलीले देने से सघर्ष मिट जायगा, अपने-आपको धोखा देना है। यह कल्पना करना कि किसी ऐसे कारगर दबाव के बिना ही, जो मजबूर करने की हदतक पहुँचता हो, कोई साम्राज्यवादी शासक-सत्ता देश पर से अपनी हुकूमत उठा लेगी या कोई वर्ग अपने उच्च पद और विशेषाधिकारो को छोड देगा, सर्वथा भ्रम है।

यह स्पष्ट है कि गाधीजी इस दबाव से काम लेना चाहते है, हालाँकि वह उसे बल-प्रयोग के नाम से नही पुकारते। उनके कथनानुसार, उनका तरीका तो स्वय कष्ट-सहन का तरीका है। इसका समझ सकना कुछ कठिन है, क्योकि इसमे कुछ आध्यात्मिक भावना छिपी है और हम उसे न तो नाप ही सकते है और न किसी भौतिक तरीके से उसकी जाँच ही कर सकते है। इसमे कोई शक नही कि विरोधी पर भी इस तरीके का काफी असर पडता है। यह तरीका विरोधियो की नैतिक दलीलो का परदा फाश कर देता है, उन्हे घबरा देता है, उनकी सर्वोच्च भावना को जागृत कर देता है और समझौते का दरवाजा खोल देता है। इस बात मे तो कोई शक नही हो सकता कि प्रेम की पुकार और स्वय कष्ट-सहन के अस्त्र का विपक्षी और साथ ही दर्शको पर बहुत ही जबरदस्त मनोवैज्ञानिक असर पडता है। बहुत-से शिकारी यह जानते है कि हम जगली जानवरो के पास जिस दृष्टि से जाते है वैसा ही उनपर असर हो जाता है। वह जानवर दूर से ही भाँप लेता है, कि आप उसपर हमला करना चाहते है और उसीके मुताबिक वह अपना रवैया अख्त्यार करता है। इतना ही नही, आदमी अगर खुद किसी जानवर से डरे, फिर चाहे वह उसे महसूस न भी हो, तब भी उसका वह डर किसी तरह जानवर के पास पहुँच जाता है और उसे भयभीत कर देता है और इसी भय की वजह से वह हमला कर बैठता है। अगर शेरो को पालनेवाला जरा भी डर जाय तो उसपर हमला किये-जाने का खतरा फौरन पैदा हो जाता है। एक बिलकुल निर्भय आदमी किसी अज्ञात दुर्घटना के सिवा शायद ही कभी किसी हिसक पशु के

खतरे का शिकार होता हो। इसलिए यह बात स्वाभाविक मालूम होती है कि मानव-प्राणी इन मानसिक प्रभावों से प्रभावित हो। फिर भी यद्यपि व्यक्ति प्रभावित हो सकते हैं, लेकिन इस बात मे शक है कि वर्ग या समूह पर इस तरह का प्रभाव पड सकता है। वर्ग के रूप मे वह वर्ग किसी अन्य दल के व्यक्तिगत और निकट-सम्पर्क में नही आता। इतना ही नही, उसके सबध मे वह जो रिपोर्ट सुनता है वह भी एकागी और तोडी-मरोडी हुई होती है। और हर हालत मे जब कोई समूह उसके अधिकार को चुनौती देता है तब उसके रोष की स्वाभाविक प्रतिक्रिया इतनी बलवान होती है कि अन्य सब छोटे-छोटे भाव उसमे विलीन हो जाते है। वह वर्ग तो बहुत दिनो से इस खयाल का आदी हो गया है कि उसे जो विशिष्ट पद और अधिकार मिले हुए हैं, वे समाज-हित के लिए जरूरी है। इसलिए उसके खिलाफ जो राय जाहिर की जाती है वह उसे कुफ्र जैसी मालूम होती है। कानून और व्यवस्था तथा वर्तमान अवस्था को कायम रखना खास गुण हो जाते है और उनमे विघ्न डालने की कोशिश सब से महान् पाप।

इसलिए जहाँतक विरोधी पक्ष से ताल्लुक है, हृदय-परिवर्तन का यह तरीका हमें कुछ बहुत दूर तक नही ले जाता। निस्सदेह कभी-कभी तो अपने विरोधी की नर्मी और उसकी साधुता ही प्रतिपक्षी को और भी अधिक क्रोधित बना देती है। क्योकि वह समझता है कि उसने इससे उसे गलत स्थिति मे डाल दिया है और जब किसी व्यक्ति को यह शका होने लगती है कि शायद वह गलती पर न हो, तब उसका सात्विक रोष और भी बढ जाता है। फिर भी अहिंसा की इस विधि से विपक्ष के कुछ व्यक्तियो पर जरूर प्रभाव पड़ता है और इस प्रकार विरोध की दृढता में कमी आ जाती है। इससे भी अधिक बात यह है कि वह तटस्थ लोगो की सहानुभूति प्राप्त कर लेता है और ससार के लोकमत को प्रभावित करने का बडा जबर्दस्त जरिया है। लेकिन इस दशा मे यह सभव हो सकता है कि शासक-वर्ग खबर को बाहर जाने से रोक दे या उसे तोड-मरोडकर जाने दे। क्योकि प्रकाशन की एजेन्सियो पर उसका नियन्त्रण रहता है और इस तरह वह असली वाकयात का पता लगाना रोक सकता है। ताहम अहिंसात्मक अस्त्र का सबसे ज्यादा जोरदार और व्यापक असर तो जिस देश मे यह अस्त्र काम में लाया जाता है उसके न्यूनाधिक उदासीन लोगो पर होता है। निस्सदेह उनका हृदय-परिवर्तन हो जाता है और वे अक्सर उनके जोरदार समर्थक बन जाते है। लेकिन ऐसे लोगो का हृदय-परिवर्तन कोई बड़ी बात नही; क्योकि ये लोग आम तौर पर उस उद्देश्य को तो मानते ही थे। जो लोग क्रान्ति से घबराते है उनपर कोई असर दिखाई नही देता। भारत मे असहयोग और सत्याग्रह जिस

तेजी से फैला, उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि किस तरह एक अहिसात्मक हलचल बहुसख्यक लोगो पर जबरदस्त असर डालती है, और बहुत-से अस्थिर-मति लोगो को किस तरह अपनी ओर खीच लेती है। लेकिन उससे वे लोग कोई ज्यादा हद तक नही बदले। मगर जो लोग शुरू से ही उसके विरोधी थे, उनकी किसी उल्लेखनीय सख्या को वह अपने पक्ष का न बना सकी। सच बात तो यह है कि आन्दोलन की सफलता ने उनके भय को और भी बढा दिया और इस प्रकार वह और भी ज्यादा विरोधी बन गये।

अगर एक बार यह मान लिया जाता है कि राज्य के लिए अपनी आजादी की रक्षा करने के खातिर हिंसा का प्रयोग जायज है, तब यह समझना मुश्किल है कि उस आजादी को हासिल करने के लिए उन्ही हिंसात्मक और बल-प्रयोग के तरीको को अख्त्यार करना उतना ही जायज क्यो नही है? कोई अहिंसात्मक तरीका अवाञ्छनीय और अनुपयुक्त हो सकता है, लेकिन वह सर्वथा नाजायज और वर्जित नही हो सकता। सिर्फ इसी कारण से कि सरकार सबसे प्रबल है और उसके हाथ मे सशस्त्र सेना है, उसे हिंसा के प्रयोग करने का ज्यादा हक नही मिल जाता। उस हालत मे जबकि अहिंसात्मक क्रान्ति सफल हो जाय और उसका राज्य पर काबू हो जाय, क्या उसको हिंसा को इस्तैमाल करने का वह हक फौरन ही हासिल हो जायगा, जो उसके पास पहले नही था? अगर इस नये राज्य की हुकूमत के खिलाफ बगावत हो, तो वह उसका मुकाबिला कैसे करे? स्वभावत वह यह नही चाहेगा कि हिंसात्मक तरीके से काम ले और स्थिति का मुकाबिला करने के लिए हर शान्तिमय तरीके से कोशिश करेगा। लेकिन वह हिसा से काम लेने के अपने अधिकार को नही छोड़ सकता। यह निश्चय है कि जनता मे ऐसे बहुत-से असन्तुष्ट लोग होगे, जो इस परिवर्तन के खिलाफ होगे और वे इस बात की कोशिश करेगे कि पहली हालत फिर से लौट आये। अगर वे यह सोचेगे कि सरकार उनकी हिंसा का मुकाविला अपने दमनकारी शस्त्रो से नही करेगी, तब तो वे गालिबन और भी ज्यादा हिंसा को काम मे लायँगे। इसलिए ऐसा मालूम होता है कि हिसा और अहिंसा हृदय-परिवर्तन और बल-प्रयोग के बीच कोई निश्चित और पूर्ण विभाक-रेखा खीच सकना एकदम नामुमकिन है। राजनैतिक परिवर्तन के सम्बन्ध मे तो यह कठिनाई सचमुच ठीक है, लेकिन तब खास विशेषाधिकार-प्राप्त और शोषितवर्गो के सम्बन्ध मे यह कठिनाई और भी अधिक बढ़ जाती है।

किसी आदर्श के लिए कष्ट-सहन की सदा ही प्रशसा हुई है, और बिना झुके और बदले मे हाथ चलाये बिना किसी उद्देश के लिए तकलीफ सहने मे एक ऐसी उच्चता और ऐसी भव्यता है जिसे मानना ही पडता है। फिर भी इसके और कष्ट-सहन

के लिए कष्ट उठाने के बीच मे भेद करनेवाली बहुत पतली लकीर है, और इस प्रकार का कष्ट-सहन अक्सर दूषित और कुछ हद तक पतनकारी हो जाता है। अगर हिंसा अक्सर क्रूरतापूर्ण होती है तो कम-से-कम अपने नकारात्मक पहलुओ मे अहिंसा सम्भवतः दूसरी तरफ अति पर पहुँच सकती है। इस बात की सम्भावना हमेशा रहती है कि अहिंसा को अपनी कायरता और अकर्मण्यता को छिपाने और स्थितिपालकता को कायम रखने का साधन बना लिया जाय।

हिन्दुस्तान मे पिछले कुछ बरसो मे, जबसे कि क्रान्तिकारी सामाजिक परिवर्तन की भावना ने जोर पकड़ा है, अक्सर यह कहा जाने लगा है कि इस प्रकार के परिवर्त्तन मे हिंसा आवश्यक रूप से काम मे लानी पडती है, इसलिए इन परिवर्तनो के लिए ज़ोर नही दिया जा सका। श्रेणी-युद्ध का जिक्र तक नही किया जाना चाहिए (फिर चाहे वह कितना ही ज्यादा क्यो न मौजूद हो), क्योकि वह हमारे उस पूर्ण सहयोग और उस अहिंसात्मक प्रगति की भावना मे, जो हमे अपने भावी लक्ष्य की ओर ले जानेवाली है, विघ्न डालता है। यह बहुत मुमकिन है कि सामाजिक मसले का हल किसी-न-किसी मौके पर हिंसा के बिना न हो सके, क्योकि यह तो निश्चय ही मालूम पडता है कि जिन वर्गों को विशेष अधिकार प्राप्त है वे अपने प्राप्त अधिकारो को कायम रखने के लिए हिंसा से काम लेने मे नही हिचकेगे। लेकिन सिद्धान्ततः अगर अहिंसात्मक तरीके से कोई बड़ा भारी राजनैतिक परिवर्तन कर सकना सम्भव है, तो इसी तरीके से क्रान्तिकारी सामाजिक परिवर्तन कर सकना उतना ही सम्भव क्यो नही होना चाहिए? अगर हम लोग अहिंसा के जरिये हिन्दुस्तान की राजनैतिक स्वतन्त्रता हासिल कर सकते है और ब्रिटिश साम्राज्यवाद को निकाल सकते है, तो हम उसी तरीके से माण्डलिक राजाओ, जमीदारो और दूसरे सामाजिक मसलो को हल करके समाजवादी सरकार क्यो नही कायम कर सकते? प्रश्न इतना अधिक यह नही है कि यह सब कुछ अहिंसा के ज़रिये हो सकता है या नही। सवाल तो यह है कि या तो ये दोनो ही उद्देश अहिंसा के जरिये हासिल हो सकते है या फिर एक भी नही। सचमुच यह तो कहा ही नही जा सकता कि अहिंसात्मक अस्त्र का प्रयोग सिर्फ विदेशी शासको के ही खिलाफ किया जा सकता है। जाहिरा तौर पर तो किसी देश मे उसके अपने देशी स्वार्थी समुदायो और अडगानीति ग्रहण करनेवालो के खिलाफ उसका प्रयोग करना ज्यादा आसान होना चाहिए, क्योकि उनपर उसका मनोवैज्ञानिक असर बाहरवालों की बनिस्बत ज्यादा पडेगा।

हिन्दुस्तान मे इन दिनो जो यह प्रवृत्ति चल गई है कि उद्देशो और नीतियो को महज इसलिए बुरा बता दिया जाय क्योकि वे अहिंसा से टकराती है, मुझे ऐसी

मालूम होती है मानो इन समस्याओ को समझने का जो सही तरीका है उसे छोडकर दूसरी तरह देखा जाता है। पन्द्रह बरस पहले हमने अहिंसात्मक उपाय को इसलिए अख्त्यार किया था कि हमे यह विश्वास हो चला था कि उसके द्वारा हम सब-से अधिक वाञ्छित और कारगर तरीके से अपने लक्ष्य पर पहुँच जायँगे। उस वक्त हमारा लक्ष्य अहिसा से अलग था। वह न तो केवल अहिसा का पुछल्ला ही था, न उसका परिणाम। उस वक्त कोई यह नही कह सकता था कि हमे आजादी या स्वतन्त्रता को अपना ध्येय तभी बनाना चाहिए जब वह अहिंसात्मक तरीको से ही मिल सके। लेकिन अब हमारे ध्येय का फैसला अहिसा की शर्तो से होता है, और अगर वह उनके मुताबिक ठीक नही बैठता तो नामजूर कर दिया जाता है। इसलिए अहिसा का खयाल एक ऐसा जडवाद बनता जा रहा है जिसके खिलाफ आप कुछ नही कह सकते। इस कारण आध्यात्मिक रूप मे अब वह हमारी बुद्धि को अपील नही करता और श्रद्धा और धर्म के घोसले मे अपनी जगह ले रहा है। इतना ही नही, वह तो स्वार्थी समुदायो के लिए पक्का लगर बन रहा है और ये लोग मौजूदा स्थिति को ज्यो-का त्यो वनाये रखने के लिए उससे नाजायज फायदा उठा रहे है।

यह दुर्भाग्य की बात है, क्योकि मेरा विश्वास है कि अहिसात्मक प्रतिरोध के विचार और लडाई की अहिसात्मक विधि, हिन्दुस्तान और बाकी की दुनिया के लिए, अत्यन्त लाभप्रद है और गाधीजी ने वर्त्तमान विचार-जगत् को इनपर गौर करने के लिए विवश करके बडी जबरदस्त सेवा की है। मेरा विश्वास है कि उनका भविष्य महान् है। यह हो सकता है कि मानव समुदाय अभी इतना आगे नही बढ पाया है कि वह उन्हे पूरी तरह अपना सके। ए० ई० की 'इटरप्रेटर्स' नामक पुस्तक के एक पात्र का कहना है कि—"आप अन्धो को प्रकाश के लिए अपनी मशाल देते है, लेकिन उससे उन्हे क्या विशेष लाभ पहुँच सकता है?" सम्भव है कि आज वह आदर्श अधिक फली-भूत न हो सके, लेकिन सब महान् विचारो की तरह उसका प्रभाव बढता रहेगा, और हमारे कार्य उससे अधिकाधिक प्रभावित होते रहेगे। असहयोग, जिसका अर्थ है उस राज्य या समाज से जिसे हम बुरा समझते है अपना सहयोग हटा लेना, एक बहुत ही जबरदस्त और क्रान्तिकारी धारणा है। यदि उच्चकोटि के मुट्ठीभर लोग भी उस-पर अमल करे तो उसका प्रभाव फैल जाता है और बढता चला जाता है। सख्या की वृद्धि से उसका बाहरी प्रभाव और अधिक दिखाई देने लगता है। लेकिन उस हालत मे प्रवृत्ति यह होती है कि दूसरी बाते नैतिक सवाल को दबा लेती है। ऐसा मालूम पडता है कि उसके विस्तार से उसकी गहराई पर उसका असर पडता है। सामूहिक शक्ति धीरे-धीरे वैयक्तिक शक्ति को पीछे धकेल देती है।

फिर भी विशुद्ध अहिंसा पर जो जोर दिया जाता है, उससे वह एक दूर की-सी तथा जीवन से एक भिन्न-सी वस्तु बन गई है और यह प्रवृत्ति हो चली है कि लोग या तो उसे अन्धे होकर धर्म की तरह मजूर करले या उसे बिलकुल नामजूर कर दे। उसका बौद्धिक अश पीछे जा छिपा है। १९२० मे हिन्दुस्तान के आतकवादियो पर उसका बहुत असर पडा था और जिससे बहुत-से उस दल से अलग हो गये और जो बने रहे, वे भी असमञ्जस मे पड गये और अपने हिंसात्मक कार्यो को बन्द कर दिया, लेकिन अब उनपर इस अहिंसा का कोई ऐसा असर नही रहा है। कॉंग्रेसवादियो मे भी बहुत-से ऐसे लोग, जिन्होने असहयोग और सविनय-भग के आन्दोलनो मे महत्व-पूर्ण भाग लिया था और जिन्होने अहिंसा का उसके सब व्यापक अर्थों मे ईमानदारी से पालन करने का प्रयत्न किया था, अब वे काफिर समझे जाते है और कहा जाता है कि उन्हे कॉंग्रेस मे रहने का कोई अधिकार नही है, क्योकि वे अहिसा को न तो ध्येय के तौर पर और न धर्मरूप मे मानने को तैयार है और न उस एकमात्र लक्ष्य को ही छोडने को तैयार है, जिसे प्राप्त करना वे अपना कर्त्तव्य समझते है, अर्थात् समाजवादी राज्य, जिसमे सबके लिए समान रूप से न्याय और सुविधाये होगी। व्यवस्थित समाज जो तभी कायम हो सकता है, जब कि आजकल जो विशेष सुविधाये और सपत्ति सम्बन्धी अधिकार प्राप्त है वे अधिकार समाप्त कर दिये जायँ। निस्सन्देह गाधीजी आज भी वही जिन्दा हस्ती बने हुए है, जिनकी अहिंसा सजीव और उग्ररूप की है और कोई नही कह सकता कि वह कब देश को एक बार फिर आगे बढने के लिए प्रोत्साहित कर देगे। अपनी तमाम महत्ता और परस्पर विरोधी बातो और जनता को विलक्षण रूप से प्रभावित करने की शक्ति के कारण वह साधारण स्टैण्डर्ड से ऊँचे है। जैसे हम दूसरो को नापते-तौलते है, वैसे उनका नाप-तौल नही हो सकता। लेकिन बहुत-से, जो उनके अनुयायी होने का दावा करते है, निकम्मे शान्तिवादी या टालस्टाय टाइप के अप्रतिरोधी या किसी सकुचित सम्प्रदाय के सदस्य बन जाते है, जिनका कि जीवन और वास्तविकता से कोई सम्पर्क नही होता। और ये लोग अपने आस-पास ऐसे बहुत से लोगों को इकट्ठा कर लेते है जिनका स्वार्थ इसीमे है कि वर्त्तमान व्यवस्था कायम रहे और जो इसी मतलब से अहिंसा की शरण लेते है। इस तरह अहिंसा मे समय-साधकता घुस पडती है और हम प्रयत्न तो करते है विरोधी के हृदय परिवर्त्तन का, लेकिन अहिसा को सुरक्षित रखने की धुन मे हम स्वय परिवर्त्तित हो जाते है, और विरोधी की लाइन में आ जाते है। जब जोश ठडा हो जाता है और हम कमजोर पड जाते है, तब हमेशा थोडी सी पीछे की तरफ हट जाने और समझौता करने की प्रवृत्ति हो जाती है और इसे बड़े फख्र के साथ अपने विरोधी को जीतने की कला के नाम से पुकारा जाता

है। कभी-कभी तो इसकी प्राप्ति के लिए हम अपने पुराने साथियो तक को खो देते है। हम उनकी आदतो की, उनके भाषणो की, जो हमारे नये दोस्तो को चिढाते है, निन्दा करते है और उनपर हमारी एकता भग करने का इलजाम लगाते है। सामाजिक व्यवस्था मे वास्तविक परिवर्तन किये जाने पर जोर देने के बजाय हम मौजूदा समाज मे दया और उदारता पर जोर देते है और स्वार्थी समुदाय वैसे-के-वैसे ही बने रहते है।

मेरा विश्वास है कि साधनो की महत्ता पर जोर देकर गाधीजी ने हमारी बडी सेवा की है। फिर भी मै इस बात को विश्वास के साथ महसूस करता हूँ कि अन्तिम जोर तो लाज़िमी और जरूरी तौर पर हमारे सामने जो ध्येय या मकसद हो उसीपर देना चाहिए। जबतक हम ऐसा नही करते, तबतक हम इधर-उधर घूमने और इधर-उधर के मामूली सवालो पर अपनी ताकत बरबाद करते रहने के सिवा और कुछ नही कर सकते। लेकिन साधनो की भी उपेक्षा नही की जा सकती, क्योकि उनके नैतिक पक्ष के अलावा उससे बिलकुल अलग उनका एक व्यावहारिक पक्ष भी है। हीन और अनैतिक साधन अक्सर हमारे लक्ष्य को ही विफल कर देते है या जबर्दस्त नई-नई समस्याये खड़ी कर देते है। और, आखिरकार, किसी आदमी के बारे मे कोई सही निर्णय हम, उसके उद्घोषित लक्ष्य से नही कर सकते; बल्कि उन साधनो से ही करते है जिन्हे कि वह व्यवहार मे लाता है। ऐसे साधनो के अवलम्बन से, जिनसे कि व्यर्थ की लडाई पैदा हो और घृणा की वृद्धि हो, लक्ष्य की प्राप्ति और भी अधिक दूर हो जाती है। सच बात तो यह है कि साधन और साध्य का एक दूसरे से इतना नजदीकी सम्बन्ध है कि उनको अलग-अलग करना बहुत मुश्किल है। अत निश्चय रूप से साधन ऐसे होने चाहिएँ, जिनमे घृणा या झगडे यथासम्भव कम हो जाय या सीमित हो जाय, (क्योकि उनका होना तो अनिवार्य-सा है) और सद्भावनाओ को प्रोत्साहन मिले। वस्तुत. प्रश्न किसी विशिष्ट साधन का उतना नही होता, जितना कि वह हेतु, उद्देश्य और स्वभाव का बन जाता है। गाधीजी ने इसी बुनियादी भावना पर जोर दिया है और अगर वह मानव-स्वभाव को किसी उल्लेखयोग्य सीमा तक बदलने मे कामयाब नही हुए है तो उनको एक बहुत बडी राष्ट्रीय हलचल पर, जिसमे लाखो ने हिस्सा लिया, इसकी छाप बिठाने मे आश्चर्यजनक कामयाबी हुई है। कडे नैतिक अनुशासन पर उन्होने जो जोर दिया वह भी बहुत जरूरी था, हालाकि उन्होने उस वैयक्तिक अनुशासन के जो स्टैण्डर्ड कायम किये है वे शायद बहस-तलब है। वह वैयक्तिक पापो और कमजोरियो को तो बहुत ज्यादा महत्त्व देते है और सामाजिक पापो को बहुत कम। इस अनुशासन की आवश्यकता तो स्पष्ट है, क्योकि मुसीबतो का रास्ता छोडकर

शक्ति और अधिकार के स्थान पर पहुँचे हुए विशेष अधिकारप्राप्त समूह मे मिलने के प्रलोभन ने बहुत-से काँग्रेसवादियो को काँग्रेस से बाहर खीच लिया है। क्योंकि किसी भी नामी काँग्रेसवादी के लिए उस सुविधापूर्ण स्थान के द्वार तो सदा खुले ही रहते है।

आजकल सारी दुनिया कई तरह के सकटो से ग्रस्त है। लेकिन इनमे सबसे बडा सकट आध्यात्मिक सकट है। यह बात पूर्व के देशो मे खासतौर पर दिखाई देती है, क्योकि हाल में दूसरी जगहो की अपेक्षा एशिया मे बहुत जल्दी-जल्दी परिवर्त्तन हुए है और सामञ्जस्य स्थापित करने की क्रिया बडी कष्ट-प्रद है। राजनैतिक समस्या, जो कि आज इतना महत्त्व पागई है, शायद सबसे कम महत्त्व की चीज़ है। हालाकि हमारे लिए तो यह प्रधान समस्या है और इसके पहले कि हम असली मसलो मे लगे, उसका सतोषप्रद हल हो जाना जरूरी है। पिछले बहुत-से युगो से हम लोग एक अपरिवर्त्तनीय मूल सामाजिक व्यवस्था के आदी हो गये है। हममे से बहुतो का अब भी यह विश्वास है कि सिर्फ यही आधार समाज के लिए सम्भव और ठीक आधार है, और नैतिक दृष्टि से हम उसे ठीक मान लेते है। लेकिन भूत-काल से वर्त्तमान को मिलाने की हम जितनी कोशिशे करते है वे सब बेकार हो जाती है, जोकि अवश्यम्भावी ही है। अमेरिकन अर्थशास्त्री वेब्लेन ने लिखा है कि—"अन्त मे आर्थिक सदाचार आर्थिक आवश्यकताओ का अनुकरण करता है।" आजकल की जरूरते हमे इस बात के लिए मजबूर करेगी कि हम उनके मुताबिक सदाचार की एक नई व्याख्या बनावे। अगर हम लोग इस आध्यात्मिक सकट मे से निकल भागने का कोई रास्ता ढूंढना चाहते है और चाहते है कि हम आजकल की सच्ची आध्यात्मिक उपयोगिताओ को महसूस करले तो हमे निर्भीकता से और साहस के साथ समस्याओ का सामना करना पडेगा और किसी भी धार्मिक आदेश की शरण लेने से काम नही चलेगा। धर्म जो कुछ कहता है वह भला भी हो सकता है और बुरा भी। लेकिन जिस तरीके से वह उसे कहता है और यह चाहता है कि हम उसपर विश्वास करले, उससे किसी बात को बुद्धिपूर्वक समझ लेने मे हमे कतई कुछ मदद नही मिलती। जैसा कि फ्रूड ने कहा है कि धर्म के आदेश—"विश्वास किये जाने योग्य है: इसलिए कि हमारे पूर्व पुरुष उनपर विश्वास करते थे; दूसरे इसलिए कि हमारे पास उनके लिए प्रमाण मौजूद है, जो हमें उसी पुराने ज़माने से विरासत मे मिलते आये है; और तीसरे इसलिए, कि उनकी सचाई के बारे मे सवाल उठाना मना है।"[१]

अगर हम अहिसा पर उसके सब व्यापक भावो सहित निर्भ्रान्त धार्मिक-दृष्टि से विचार करे तो बहस के लिए कोई गुँजाइश नही रहती है। उस हालत मे तो वह

१. The Future of an Illusion.

एक सम्प्रदाय का सकुचित ध्येय हो जाता है, जिसे लोग माने या न माने । उसकी सजीवता जाती रहती है और उसमे मौजूदा मसलो को हल करने की क्षमता नही रहती । लेकिन अगर हम लोग मौजूदा हालतो के सिलसिले मे उसपर बहस करने को तैयार रहे तो वह हमे इस दुनिया के नवनिर्माण के हमारे प्रयत्नो मे बहुत मदद दे सकता है । ऐसा करते समय हमे साधारण व्यक्ति की कमजोरियो और उसके स्वभाव का ध्यान रखना चाहिए । विस्तृत प्रमाण मे सामूहिक रूप से और खासकर कायापलट और क्रान्तिकारी परिवर्तनो के लिए किये जानेवाले किसी भी प्रयत्न पर केवल इसी बात का असर नही पडता कि नेता लोग उसके सम्बन्ध मे क्या सोचते है, बल्कि मौजूदा अवस्थाओं का और इससे भी अधिक मानव प्राणी उसके साथ काम करते है वे उसके सम्बन्ध मे क्या सोचते है, इसका भी प्रभाव पडता है ।

दुनिया की तवारीख मे हिसा का बहुत बडा हिस्सा रहा है । आज भी वह बहुत महत्त्वपूर्ण हिस्सा ले रही है और गालिबन आगे भी बहुत वक़्त तक वह अपना काम करती रहेगी । पिछले जमाने मे जो परिवर्त्तन हुए, उनमे से ज्यादातर हिंसा और बलप्रयोग से ही हुए । एक मर्तबा डब्ल्यू० ई० ग्लैडस्टन ने कहा था, कि—"मुझे यह कहते हुए दु ख होता है कि अगर राजनैतिक सकट के समय इस मुल्क के लोगो को हिंसा से नफरत, व्यवस्था से प्रेम और धीरज से काम लेने की हिदायतो के अलावा और हिदायते न जारी की गई होती, तो इस मुल्क मे लोगो को जो आजादियाँ है वे उन्हे कभी प्राप्त न हो पाती ।"

पिछले जमाने की, और आजकल भी, हिसा की अहमियत की उपेक्षा करना नामुमकिन है । उसकी उपेक्षा करना जिन्दगी की उपेक्षा करना है । फिर भी बिला शक हिसा एक बुरी चीज है और वह अपने पीछे दुष्ट परिणामो की एक लम्बी लीक छोड जाती है । और हिसा से भी ज्यादा बुरी घृणा, क्रूरता, बदला और सज़ा की वे प्रवृत्तियाँ है जो अक्सर हिसा के साथ चलती है । सच बात तो यह है कि हिंसा स्वत बुरी नही बल्कि वह इन्ही प्रवृत्तियो की वजह से बुरी है जो उसके साथ-साथ चलती है । इन प्रवृत्तियो के बिना भी हिंसा हो सकती है । वह तो बुरे उद्देश्य के लिए भी हो सकती है और अच्छे के लिए भी । लेकिन हिंसा को इन प्रवृत्तियो से अलग करना बहुत मुश्किल है, और इसलिए यह वाछनीय है कि जहाँतक मुमकिन हो हिंसा से बचा जाय । फिर भी उससे बचने मे हम यह नकारात्मक रुख अख्तियार नही कर सकते कि उससे बचने की धुन में दूसरी व उससे कही ज्यादा बड़ी बुराइयो के सामने सर झुकादे । हिंसा के सामने दब जाना या हिंसा की नीव पर टिके हुए किसी अन्यायपूर्ण शासन को मजूर कर लेना अहिंसा की स्पिरिट के बिलकुल खिलाफ है ।

अहिंसा का तरीका तो तभी ठीक कहा जा सकता है जब वह सजीव हो और इतना सामर्थ्य रखता हो कि ऐसे शासन या ऐसी सामाजिक व्यवस्था को बदल डाले।

अहिंसा यह कर सकती है या नही, यह मै नही जानता। मेरा खयाल है कि वह हमे बहुत दूर तक ले जा सकती है, लेकिन इस बात मे मुझे शक है कि वह हमें अन्तिम ध्येय तक ले जा सकती है। हर हालत मे किसी-न-किसी किस्मका बल-प्रयोग तो लाजिमी मालूम पडता है, क्योकि जिन लोगो के हाथ में ताकत और खास अधिकार होते है वे उन्हे उस वक्त नही छोड़ते जबतक ऐसा करने के लिए मजबूर नही कर दिया जाता, या जबतक ऐसी सूरते न पैदा करदी जायँ जिनमे उनके लिए इन खास हको का रखना उन्हे छोडने से ज्यादा नुकसानदेह न हो जाय। समाज के मौजूदा राष्ट्रीय और वर्गीय सघर्ष बगैर बल-प्रयोग के कभी नही मिट सकते। निस्सन्देह हमे बहुत बडे पैमाने पर लोगो के हृदय बदलने पड़ेगे, क्योकि जबतक बहुत बडी तादाद हमारे हमखयाल न होगी, तबतक सामाजिक परिवर्त्तन के आन्दोलन का कोई वास्तविक आधार कायम नही हो सकेगा। लेकिन कुछ पर बल-प्रयोग करना ही पडेगा। हमारे लिए यह ठीक नही है कि हम इन बुनियादी लडाइयो पर परदा डाले और यह दिखलाने की कोशिश करे कि वे है ही नही। ऐसा करने से न सिर्फ सच्चाई का ही दमन होता है, बल्कि इसका सीधा परिणाम यह होता है कि यह लोगो को वास्तविक स्थिति से गुमराह करके मौजूदा व्यवस्था को मजबूत बनाता है और शासक-वर्ग को वह नैतिक आधार मिल जाता है, जिसकी, अपने विशेष अधिकारो को उचित ठहराने के लिए वे हमेशा, तलाश मे रहते है। किसी भी अन्याययुक्त पद्धति का मुकाबिला करने के लिए यह लाजिमी है कि जिन गलत उपपत्तियो पर वह टिकी हुई है उनका रहस्योद्घाटन करके नग्न सत्य सामने रख दिया जाय। असहयोग की एक खूबी यह भी है कि वह इन गलत उपपत्तियो और झूठी बातो को मानने और आगे बढाने मे सहयोग देने से इन्कार करके उनका रहस्योद्घाटन कर देता है।

हमारा अन्तिम ध्येय तो यही हो सकता है कि समान न्याय और समान सुविधा युक्त एक वर्ग-रहित समाज हो, ऐसा समाज जिसका निर्माण मानव-समाज को भौतिक और सास्कृतिक दृष्टि से ऊँचा उठाने और उसमे सहयोग, निस्वार्थपरायण सेवा-भाव, सत्यनिष्ठा, सद्भाव और प्रेम के आध्यात्मिक गुणो की वृद्धि करने के सुनिश्चित आधार पर हुआ हो और अन्त मे एक ऐसी संसारव्यापी व्यवस्था हो जाय। जो कोई इस लक्ष्य के रास्ते मे रोडा बनकर आवेगा उसे हटाना होगा। हो सके तो नम्रता से अन्यथा बलपूर्वक; और इस बात मे बहुत कम शक है कि अक्सर बलप्रयोग की जरूरत पड़ेगी। लेकिन अगर उसका प्रयोग करना ही पड़े तो वह घृणा और क्रूरता

की भावना से नही, वल्कि एक रुकावट को दूर करने की निर्विकार इच्छा से। ऐसा करना मुश्किल होगा, लेकिन यह काम भी तो आसान नही है, कोई सीधा रास्ता भी नही है और गड्ढो की कोई गिनती नही। हमारे सिर्फ उपेक्षा कर देने से ही ये दिक्कते और गड्ढे दूर नही हो जायँगे, बल्कि उनका असली रूप जानकर और साहस के साथ उनका मुकाबिला करके उन्हे हटाना होगा। यह सब बातें काल्पनिक और सुख स्वप्न सी मालूम होती है और अधिकतर यह सम्भव नही है कि बहुत-से लोग इन उच्च भावनाओ से प्रेरित होगे। लेकिन हम उन्हे अपनी नजर के सामने रख सकते है और उनपर जोर दे सकते है और यह हो सकता है कि इसके फल-स्वरूप हममे से बहुतो मे जो घृणा और दूसरे विकार भरे हुए है वे कम हो जायँ।

साधन हमे इस लक्ष्यतक पहुँचानेवाले और इन भावनाओ पर अवलम्बित होने चाहिएँ। लेकिन हमे यह बात जरूर महसूस कर लेनी चाहिए कि मानव स्वभाव जैसा है उसे देखते हुए आम लोग हमारी अपीलो पर और दलीलो पर हमेशा ध्यान नही देगे और न ऊँचे नैतिक उसूलो के मुताबिक काम ही करेगे। हृदय-परिवर्तन के अलावा बल-प्रयोग की अक्सर उनपर जरूरत पडती रहेगी और सबसे अधिक हम जो कुछ कह सकते है वह यही है कि उसको सीमित कर दें, और उसको इस प्रकार से काम मे लावें कि उसकी बुराई कम हो जाय।

६४

फिर देहरादून जेल

अलीपुर-जेल मे मेरी तन्दुरुस्ती ठीक नही रहती थी। मेरा वजन बहुत घट चुका था, और कलकत्ते की हवा और दिन-दिन बढती हुई गर्मी मुझे परेशान कर रही थी। अफवाहे थी, कि मुझे किसी अच्छी आबोहवावाली जगह में भेजा जायगा। ७ मई को मुझसे अपना सामान समेटने और जेल से बाहर चलने को कहा गया। मै देहरादून-जेल मे भेजा जा रहा था। कुछ महीनो की तनहाई के बाद शाम की ठण्डी-ठण्डी हवा मे कलकत्ता के बीच होकर गुजरना बडा खुशगवार मालूम होता था और हावडा के आलीशान स्टेशन पर लोगो की भीड़ भी भली मालूम होती थी।

मुझे अपने इस तबादले पर खुशी थी और मै उम्मीद-भरी नजरो से देहरादून और उसके आस-पास के पहाडो की तरफ देखता था। लेकिन वहाँ पहुँचने पर देखा कि, नौ महीने पहले, नैनी जाते समय जैसा मैने उसे छोड़ा था, वह सब हालत अब नही रही है। मै अब एक नये स्थान पर रखा गया, जो मवेशियो के रहने की जगह को साफ और ठीक करके नियत किया गया था।

कोठरी की शकल मे वह कुछ बुरी नही थी। उसके साथ एक छोटा-सा बरामदा भी था। उसीसे लगा हुआ करीब पचास फीट लम्बा सहन था। देहरादून मे पहली बार मुझे जो पुरानी कोठरी मिली थी, उससे यह अच्छी थी। लेकिन शीघ्र ही मुझे मालूम हुआ कि दूसरी तब्दीलियाँ कुछ बेहतरी के लिए न थी। घेरे की दीवार, जो दस फीट ऊँची थी, खासकर मेरी गरज से उसी वक्त चार या पाँच फीट और बढा दी गई थी। इससे पहाडियो के जिस नजारे की मै इतनी उम्मीद कर रहा था, वह बिलकुल छिप गया था, और मै सिर्फ कुछ दरख्तो के सिरे ही देख पाता था। मै इस जेल मे करीबन तीन महीने से ज्यादा रहा; लेकिन मुझे कभी पहाडो की झलक तक दिखाई नही दी। पहली बार की तरह, इस बार मुझे बाहर जेल के दरवाजे के सामने घूमने की इजाजत न थी। मेरा छोटा-सा सहन ही वर्जिश या कसरत के लिए काफ़ी बड़ा समझा गया था।

ये तथा दूसरी नई बन्दिशे नाउम्मीदी पैदा करनेवाली थी, जिससे कि मै खिझ गया। मै अनमना हो गया और अपने सहन मे जो थोड़ी-बहुत वर्जिश कर सकता था, उस तक के करने को तबीयत न रही। शायद ही मैने कभी अपने को इतना अकेला और दुनिया से जुदा महसूस किया हो। तनहाई कैद का मेरी तबियत पर खराब

असर होने लगा, और मेरी जिस्मानी और दिमागी हालत गिर गई। मैं जानता था कि दीवार के दूसरी तरफ कुछ फीट की दूरी पर वायुमण्डल मे ताजगी और खुशबू भरी है, घास और मिट्टी मे मिलकर ठण्डी-ठण्डी सुगन्ध फैल रही है और हरे-हरे वृक्षो के बीच मे दूर-दूर तक रास्ते बने हुए है। लेकिन ये सब मेरी पहुँच के बाहर थे और बारबार उन्ही दीवारो को देखते-देखते मेरी आँखे पथरा जाती थी। वहाँ पर जेल की मामूली चहल-पहल तक न थी, क्योकि मै सबसे अलग और अकेला रक्खा गया था।

छ. हफ्ते बाद मूसलाधार बारिश हुई, पहले हफ्ते मे बारह इन्च पानी बरसा। हवा बदली और नवजीवन का सञ्चार हुआ, गर्मी कम हुई और शरीर हल्का हुआ और आराम-सा मालूम होने लगा। लेकिन आँखो या दिमाग को कुछ आराम न मिला। जेल के वार्डर के आने-जाने के लिए जब कभी मेरे सहन का लोहे का दर्वाजा खुलता था, तो एक क्षण के लिए बाहरी दुनिया की झलक चमचमाते हुए हरे-भरे खेत और रग-बिरगे वृक्ष, जिन पर मेह की बूंदे मोती की तरह चमकती थी, बिजली के कौंध की भाति अकस्मात् दिखाई देकर तत्काल लुप्त हो जाती थी। दर्वाजा शायद ही कभी पूरा खुलता हो। सिपाहियो को साफ तौर पर हिदायत थी कि अगर मै कही नजदीक होऊ तो वह न खोला जाय, और वे जब-कभी खोलते भी थे, तो बस जरा-ही हरियाली और ताजगी की ये थोडी-थोडी झाँकियाँ अब मुझे अच्छी नही लगती थी, इन्हे देखकर मुझे घर की याद हो आती थी और दिल मे एक दर्द-सा उठता था; इसीलिए जब कभी दर्वाजा खुलता तो मै बाहर की तरफ नही देखता था।

लेकिन यह सब परेशानी असल मे जेल की ही वजह से नही थी। यह तो बाहरी घटनाओ का असर था। मुझे सताने के लिए एक तरफ तो कमला की बीमारी थी और दूसरी तरफ मेरी राजनैतिक चिन्तायें। मुझे ऐसा दिखाई दे रहा था कि कमला को उसकी पुरानी बीमारी ने फिर आ दबाया है और ऐसी दशा मे मै उसकी कोई भी सेवा न कर सकने मे मजबूरी और लाचारी महसूस कर रहा था। मै जानता था कि मै कमला के पास होता तो अवस्था बहुत कुछ बदल जाती।

अलीपुर में तो यह बात न थी, पर देहरादून जेल मे मुझे रोजाना अखबार मिलने लगा और मुझे बाहर के राजनैतिक और दूसरे हालात मालूम होने लगे। पटना में आल इण्डिया कांग्रेस कमिटी की करीब तीन बरस बाद बैठक हुई (इस दर्मियान मे तो वह करीब-करीब गैरकानूनी ही रही।) इसकी कार्रवाई पढकर तबीयत मुर्झा-सी गई। मुझे आश्चर्य हुआ कि देश और दुनिया मे इतना कुछ हो जाने के बाद जब यह पहली बैठक हुई तो परिस्थिति की छानबीन करने, पूरी चर्चा करने और पुराने दर्रे मे से निकलने की कुछ कोशिश नही की गई। दूर से ऐसा जान पडा,

मानो गाधीजी, अपने पुराने एकतन्त्री रूप में खडे कह रहे हैं "अगर मेरे बताये रास्ते पर चलना चाहते हो, तो मेरी शर्तें कबूल करो।" उनकी मांग बिलकुल स्वाभाविक थी। क्योंकि यह तो हो नही सकता था कि उन्हे रक्खा भी जाय और काम भी उनसे उनके गहरे विश्वासो के विरुद्ध लिया जाय। मगर ऐसा जरूर लगा कि ऊपर से लादने की वृत्ति ज्यादा थी और आपस मे चर्चा करके किसी नीति को निश्चित करने की कम। यह विचित्र बात है कि एक तरफ तो गाधीजी लोगो के दिल और दिमाग पर कब्जा कर लेते हैं और फिर उन्हीकी लाचारी की शिकायत करते है। मैं समझता हूँ, जनता ने जितनी वफादारी और भक्ति के सामूहिक रूप मे उनका साथ दिया है, उतना बहुत कम लोगो का दिया है। ऐसी हालत मे जनता को यह दोष देना न्यायोचित नही मालूम होता कि उससे जो बडी-बड़ी आशाये बांधली गई थी वे पूरी नही हुई। पटना की बैठक मे गाधीजी अन्त तक ठहरे तक नही क्योंकि उन्हे हरिजन-प्रवास जारी रखना था। उन्होने आल इण्डिया कांग्रेस कमिटी से फालतू बातो में न पडकर काम-से-काम रखने और वर्किंग कमिटी के रक्खे हुए प्रस्तावो को जल्दी-से निपटाने के लिए कहा और फिर चले गये।

शायद यह सच है कि लम्बे वाद-विवाद से भी कोई और अच्छा नतीजा न निकलता। सदस्यो के विचारो मे इतनी गड़बडी और स्पष्टता की कमी थी कि नुक्ताचीनी करने को तो बहुत लोग तैयार थे, लेकिन रचनात्मक परामर्श शायद ही किसी ने दिया हो। उस वक्त की परिस्थिति मे यह था तो स्वाभाविक, क्योंकि लड़ाई का भार अलग-अलग प्रान्तो से आये हुए इन्ही नेताओ पर आ पड़ा था, और वे ज़रा थके हुए और परेशान से थे। उन्हे कुछ ऐसा तो लगा कि अब लड़ाई बन्द करनी पडेगी, मगर यह न सूझा कि आगे क्या किया जाय। उस समय दो स्पष्ट दल बन गये। जिनमे से एक तो कौसिलो द्वारा केवल वैधानिक आन्दोलन के पक्ष मे था और दूसरा कुछ अनिश्चित समाजवादी विचारों के प्रवाह में बहने लगा। लेकिन ज्यादातर मेम्बर दोनो मे से किसी एक पक्ष के भी समर्थक नही थे। उन्हे यह भी पसन्द न था कि पीछे हटकर फिर कौसिलो की शरण ली जाय और साथ ही समाज-वाद से कुछ डर भी लगता था कि कही इस नई चीज़ से आपस मे फूट पैदा हो जाय। उनके कोई रचनात्मक विचार न थे और उनकी एकमात्र आशा और सहारा गाधीजी थे। पहले की तरह इस बार भी उन्होने गाधीजी की तरफ़ देखा और जैसा उन्होंने कहा किया। यह बात दूसरी है कि बहुतो को गाधीजी की बात पूरी तरह पसन्द न थी। गाधीजी के सहारे से नरम वैधानिक विचार के लोगों का कमिटी और कांग्रेस दोनो में बोलबाला हो गया।

यह सब तो होना ही था। मगर जितना मैंने सोचा था, उससे कहीं ज्यादा कांग्रेस पीछे हट गई। पिछले पन्द्रह साल में, जब से असहयोग का जग हुआ, कांग्रेस के नेताओ ने कभी इतनी परले सिरे की वैध ढग की बाते नही की थी। पिछली स्वराज-पार्टी, हालांकि वह खुद भी प्रतिक्रिया का ही एक रूप थी, इस नये दल की विचार धारा को देखते हुए कही आगे बढी हुई थी। और स्वराज्य पार्टी में जैसे बडे और प्रभावशाली व्यक्ति थे वैसे इसमे है भी नही, इसमें बहुत से लोग तो ऐसे थे, जो जबतक जोखम रहा, आन्दोलन से जान-बूझकर अलग रहे और अब कांग्रेस में धडाधड शामिल होकर बडे आदमी बन गये।

सरकार ने कांग्रेस पर से बन्दिशें उठाली और वह कानूनी संस्था बन गई। लेकिन इसकी बहुत-सी सहायक सस्थायें फिर भी ग़ैर कानूनी बनी रही—जैसे, कांग्रेस का स्वयमेवक विभाग—सेवादल और कई स्वतन्त्र किसान सभायें, शिक्षण-सस्थायें, और नौजवान-सभायें। जिनमें एक बच्चो की सस्था भी थी। खास तौर पर खुदाई खिदमतगार या सरहद्दी लाल कुर्तीवाले फिर भी गैरकानूनी बने रहे। यह सस्था १९३१ में कांग्रेस की बाकायदा शाखा बनकर सरहद्दी सूबे मे उसकी तरफ से काम करती थी। इस तरह हालाकि कांग्रेस ने अपनी हलचल का सीधीलडाई वाला हिस्सा पूरी तरह मुल्तवी कर दिया था और वैध ढग इख्तियार कर लिया था, फिर भी सरकार ने सत्याग्रह के लिए जो खास कानून बनाये थे, वह सब-के-सब कायम रक्खे और कांग्रेस सस्था के जरूरी हिस्सो पर पाबन्दियाँ जारी रक्खी। किसानो और मजदूरो की सस्थाओ को दबाने की तरफ भी खास ध्यान दिया गया। और मजेदार बात तो यह है कि साथ-ही-साथ बडे-बड़े सरकारी अफसर घूम-घूमकर ज़मीदारो और ताल्लुकेदारो को सगठित करने लगे। ज़मीदारो की इन सस्थाओ को हर तरह की सहूलियते दी गईं। युक्तप्रान्त की इन सस्थाओ मे से बड़ी-बड़ी दो का चन्दा लगान के साथ सरकारी आदमियो ने इकट्ठा किया।

मेरा खयाल है कि मैने हिन्दू या मुस्लिम साम्प्रदायिक सस्थाओ के साथ कभी रिआयत नही की है। लेकिन एक घटना ने हिन्दू-सभा के लिए मेरे मन में खास तौर पर कटुता पैदा कर दी। इसके एक मन्त्री ने खामखाह लाल कुर्तीवालो पर लगाई गई बन्दिशो की हिमायत करके सरकार की पीठ ठोक दी। एक तो मामूली नागरिक अधिकारो का छीना जाना, और फिर भी वह ऐसे वक्त मे जब कोई लडाई नही थी, ऐसी कार्रवाई के समर्थन से मै दग रह गया। सिद्धान्त का सवाल छोड भी दें, तो भी यह सबको मालूम था कि लड़ाई के दिनो में, इन सरहद्दी लोगो का बर्ताव विलक्षण रहा, और उनके नेता खान अब्दुलगफ्फारखाँ, जो देश में ऊचे दरजे के बहादुर

और ईमानदार आदमी हैं, और जो वगैर मुकदमा चलाये नजरवन्द कर दिये गये थे, अभीतक जेल मे थे। मुझे ऐसा लगा कि इससे ज्यादा साम्प्रदायिक द्वेष और क्या हो सकता है। मुझे उम्मीद थी कि हिन्दू महासभा के बडे नेता इस मामले मे अपने साथी की फौरन तरदीद करदेंगे। लेकिन जहाँतक मुझे मालूम है, उनमे से किसीने एक शब्द भी न कहा। हिन्दू महासभा के मन्त्री के इस वक्तव्य से मुझे वडी अशान्ति हुई।

वह वक्तव्य वैसे ही बुरा था, लेकिन मुझे ऐसा दिखाई दिया कि देश मे एक नई स्थिति पैदा हो जाने का पेशखीमा हो। गर्मी के दिन थे और तीसरे पहर का वक्त। मेरी आँखे झपक गई। याद पडता है कि एक अजीव-सा सपना देखा। अब्दुलगफ्फारखा पर चारो तरफ से हमले हो रहे है और मैं उन्हें बचाने के लिए लड रहा हूँ। थकान से चूर और भारी वेदना से व्यथित होकर जागा तो क्या देखता हूँ कि तकिया आँसुओ से तर है। मुझे वड़ा ताज्जुब हुआ, क्योकि जागृत अवस्था मे तो कभी मुझ पर ऐसी भावुकता सवार नहीं हुआ करती।

उन दिनो मेरा चित्त सचमुच ही ठिकाने न था। नीद ठीक नही आती थी। यह मेरे लिए नई बात थी। मुझे तरह-तरह के बुरे सपने भी आने लगे थे। कभी-कभी नीद में चिल्ला उठता था। एक बार तो मेरा यह चिल्लाना मामूली से ज्यादा जोर का हो गया। जब मैं चौककर उठा, तो विस्तर के पास जेल के दो सिपाहियो को खडा पाया। उन्हे मेरे शोर से चिन्ता हो गई थी। सपना मुझे यह आया था कि कोई मेरा गला घोट रहा है।

इसी अर्से मे कॉंग्रेस वर्किंग कमेटी के एक प्रस्ताव का भी मेरे दिल पर तकलीफ-देह असर हुआ। यह कहा गया था कि "निजी सम्पत्ति की जब्ती और वर्गयुद्ध के सवध मे होनेवाली गैरजिम्मेदाराना चर्चा को मद्दे नजर रखकर" यह प्रस्ताव पास हुआ है, और आगे चलकर इसके जरिये कॉंग्रेसवालो को यह बताया गया था कि कराची कॉंग्रेस के प्रस्ताव मे "न तो किसी माकूल वजह या मुआविजे के विना निजी सम्पत्ति की जब्ती का खयाल रक्खा गया है, न वह वर्गयुद्ध की हिमायत ही करता है।" वर्किंग-कमिटी की यह भी राय है कि सम्पत्ति की जब्ती और वर्गयुद्ध कॉंग्रेस के अहिंसा के सिद्धान्त के खिलाफ है।" इस प्रस्ताव की भाषा अनुचित थी, जिससे एक हदतक यह जाहिर होता था कि इसके वनानेवाले यह जानते ही नही कि वर्गयुद्ध क्या चीज है। इस प्रस्ताव द्वारा प्रत्यक्ष रूप से नये कॉंग्रेस समाजवादी दल पर हमला किया गया था। असल मे, इस दल के किसी भी जिम्मेदार शख्स की तरफ से जब्ती की कभी कोई बात नही कही गई थी, हाँ, मौजूदा परिस्थितियो मे जो वर्गयुद्ध मौजूद है, कभी-कभी उसका जिक्र कर दिया जाता था। वर्किंग कमिटी के इस प्रस्ताव मे यह

इशारा पाया जाता है कि कोई भी ऐसा शख्स जो इस तरह वर्गयुद्ध की इस वजूदगी मे यकीन रखता हो कांग्रेस का मामूली मेम्बर तक नही बन सकता। किसी ने कांग्रेस के समाजवादी हो जाने या निजी सम्पत्ति के विरुद्ध होने की कभी कोई शिकायत नही की थी। कुछ मेम्बर यह राय रखते थे, लेकिन अब यह जाहिर हो गया कि इस राष्ट्रीय सस्था मे जहां सबके लिए जगह है, समाजवादियो के लिए कोई जगह नहीं।

अक्सर यह कहा गया है कि कांग्रेस राष्ट्र की प्रतिनिधि है—यानी, राजा से लेकर रक तक सभी किस्म के लोग इसमें शामिल है। राष्ट्रीय आन्दोलनो का बहुधा यह दावा हुआ ही करता है। इसका मतलब शायद यह है कि ये आन्दोलन राष्ट्र के बहुत बड़े बहुमत के प्रतिनिधि होते है और उनकी नीति सभी किस्म के लोगो की भलाई की होती है। लेकिन जाहिर है कि यह दावा तो किया ही नही जा सकता। कोई राजनैतिक सस्था विरोधी-हितो की प्रतिनिधि नहीं हो सकती। क्योकि ऐसा करने से न केवल वह कमजोर और बे-मानी सस्था हो जायगी, बल्कि उसका अपना कोई विशेष चिन्ह और स्वरूप भी कायम न रह सकेगा। कांग्रेस या तो एक ऐसा राजनैतिक दल है, जिसका कोई एक निश्चित (या अनिश्चित) उद्देश है और राजनैतिक सत्ता हासिल करने और राष्ट्र की भलाई के लिए उसका उपयोग करने के लिए उसकी अपनी एक खास विचारधारा है, या वह एक ऐसी परोपकारिणी और दया-धर्म-प्रचारिणी सस्था है, जिसके अपने कोई विचार नही है, बल्कि वह सबका भला चाहती है। यह तो उन्ही लोगो की नुमाइन्दा बन सकती है जो उस उद्देश और सिद्धान्त के साथ आम तौर पर सहमत हो और जो उसके विरोधी है उन्हे राष्ट्र-विरोधी या समाज-विरोधी और प्रतिगामी समझकर उनके असर को रोके या मिटाये ताकि कांग्रेस अपने सिद्धान्तो पर अमल कर सके। यह सही है कि साम्राज्य-विरोधी राष्ट्रीय आन्दोलन मे अधिक लोगो के सहमत होने की गुजाइश रहती है, क्योकि उसका सामाजिक सघर्ष से कोई सबध नही होता। इस तरह कांग्रेस किसी-न-किसी मात्रा मे भारतवासियो के भारी बहुमत की प्रतिनिधि थोड़े-बहुत रूप में जरूर रही है और सब तरह के विरोधी दल के लोग भी इसमें शामिल रहे है। ये लोग एकमत सिर्फ इस बात पर रहे कि साम्राज्यवाद का विरोध करना चाहिए। लेकिन इस मामले पर जोर देने का जुदा-जुदा लोगो का जुदा-जुदा ढग था। साम्राज्यवाद के विरोध के इस मूल प्रश्न पर जिन लोगो की राय बिलकुल खिलाफ रही, वे लोग कांग्रेस से निकल गये और किसी-न-किसी शकल मे ब्रिटिश सरकार के साथ मिल गये। इस तरह कांग्रेस एक तरह की स्थायी सर्वदल कांग्रेस बन गई, जिसमे एक-दूसरे से मिलते-जुलते कई दल रहे जो एक विश्वास और गाधीजी की जबरदस्त हस्ती से बधे रहे।

आगे चलकर वर्किंग कमिटी ने वर्गयुद्ध-सम्बन्धी अपने प्रस्ताव का अर्थ समझाने की कोशिश की। इस प्रस्ताव का महत्व उसकी भाषा या मजमून में उतना न था, जितना कि इससे कि उससे कांग्रेस की बदली हुई विचार-धारा का एक बार फिर परिचय मिलता था। साफ है कि यह प्रस्ताव कांग्रेस के नये पार्लमेण्टरी दल की प्रेरणा से पास हुआ था। यह दल आनेवाले असेम्बली के चुनाव में जायदादवाले लोगों की सहायता प्राप्त करना चाहता था। इस दल के (या, इन लोगों के प्रभाव से) कांग्रेस का दृष्टिकोण अधिकाधिक नरम होता जारहा था और वह मुल्क के नरम और पुराने खयाल के लोगों को मिलाने की कोशिश कर रही थी। जिन लोगों ने पहले कांग्रेस की हलचलों का विरोध किया था और सत्याग्रह के जमाने में भी सरकार का साथ दिया था, उन लोगों के प्रति भी चापलूसीभरे शब्द कहे जाने लगे। यह भी महसूस किया गया कि शोर मचाने और नुक्ताचीनी करनेवाला विरोधी पक्ष (कांग्रेस के गरम विचारवाले लोग) इस मेल-मिलाप और मत-परिवर्त्तन के काम में बाधक बन रहा था। वर्किंग कमिटी के प्रस्ताव और दूसरे व्यक्तिगत भाषणों से यह प्रकट था कि कांग्रेस की कार्यकारिणी गरमदलवालों के काटने-खसूटने पर भी अपना नया रास्ता छोड़ने को तैयार नहीं थी। यह भी जाहिर होता था कि अगर गरम दल का रुख न बदला तो उसे दबोचकर कांग्रेस से ही निकाल बाहर कर दिया जायगा। कांग्रेस के पार्लमेण्टरी बोर्ड ने जो ऐलान निकाला उसमें ऐसा नरम और फूंक-फूंककर कदम रखने का कार्यक्रम बताया गया, जैसा पिछले पन्द्रह साल में कांग्रेस ने कभी अख्तियार नहीं किया था।

गांधीजी के अलावा भी कांग्रेस के नेताओं में कई ऐसे मशहूर लोग थे, जिनकी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के आन्दोलन में बड़ी बेशकीमती सेवायें रही हैं और जिनकी सचाई और निर्भयता के कारण देशभर में बड़ी इज्जत की जाती है। लेकिन इस नई नीति की वजह से कांग्रेस के दूसरी श्रेणी के ही नहीं, चोटी के नेताओं में भी बहुत-से ऐसे थे, जिन्हें आदर्शवादी नहीं कहा जा सकता था। कांग्रेस के दूसरे कार्यकर्ताओं में अलबत्ता बहुत-से आदर्शवादी थे, लेकिन इस समय सम्मान लोलुपों और समय-साधकों के लिए दर्वाजा जितना ज्यादा खुल गया था, उतना शायद ही पहले कभी खुला हो। गांधीजी के रहस्यमय और भ्रमात्मक व्यक्तित्व के सिवा जिसने कि सारी नुमाइश पर अपना प्रभाव जमा रक्खा था, कांग्रेस के यह दो रूप थे—एक तो वह जो सर्वथा राजनैतिक था और संगठित दल का रूप अख्त्यार कर रहा था, और दूसरा था धर्मनिष्ठा और भावुकता से पूर्ण प्रार्थना-सभाओं का।

सरकार की तरफ विजय का वातावरण स्पष्ट रूप से प्रकट था। उसका विचार

था कि वह जीत उस नीति की सफलता के कारण है जिसका प्रयोग करके उसने सत्याग्रह और उस के आन्दोलन की शाखाओं को दबा दिया था। ऑपरेशन तो सफलतापूर्वक हो ही गया था। फिर उस समय यह क्यों चिन्ता होने लगे कि मरीज़ जियेगा या मरेगा। हालांकि उस वक़्त कांग्रेस किसी हद तक दबादी गई थी, फिर भी सरकार अपनी दमन नीति को, कुछ मामूली सी तबदीलियों के साथ, वैसा ही जारी रखना चाहती थी। वह जानती थी कि जबतक असन्तोष का आधारभूत कारण मौजूद है, तबतक राष्ट्रीय नीति में इस प्रकार के परिवर्त्तन क्षणिक या आरज़ी ही हो सकते हैं, और इसलिए अपनी नीति में ज़रा भी ढिलाई करने से आन्दोलन की गति कहीं उल्टी अधिक तेज रफ्तार न पकड़ले। वह शायद यह भी समझती थी कि कांग्रेस अथवा मज़दूर या किसानवर्ग में से अधिक गरम विचारवालों को दबाने की अपनी नीति जारी रखने में कांग्रेस के विशेष नेताओं की बहुत अधिक नाराज़ी की कोई आशंका नहीं है।

देहरादून-जेल में मेरे विचारों का प्रवाह किसी हद्तक इसी प्रकार का था। परिस्थिति के सम्पर्क में न होने के कारण वास्तव में मैं घटनाक्रम के सम्बन्ध में अपना निश्चित मत बनाने की स्थिति में न था। अलीपुर में तो मैं परिस्थिति से बिलकुल ही अपरिचित था, देहरादून में मुझे सरकार की पसन्द के अखबार के जरिये अधूरी और कभी-कभी बिलकुल एकतरफा खबरें मिलने लगी थीं। अपने बाहर के साथियों के सम्पर्क में आने और परिस्थिति के निकट अध्ययन से मेरे विचारों में किसी हदतक परिवर्त्तन होना बहुत मुमकिन था।

वर्त्तमान परिस्थिति से परेशान होकर मैं भूतकाल की बातों का, जब से मैंने सार्वजनिक कार्यों में कुछ भाग लेना शुरू किया तब से हिन्दुस्तान में गुज़री हुई राजनैतिक घटनाओं का ख़याल करने लगा। हमने जो कुछ किया, उसमें हम किस हदतक सही रास्ते पर थे? किस हदतक गलती पर थे? उसी समय मुझे यह सूझा कि मैं अपने विचारों को अगर कागज़ पर लिखता जाऊँ तो वह अधिक व्यवस्थित और उपयोगी होंगे। इससे मुझे अपने दिमाग को एक निश्चित काम में लगाये रखने से उसे और इस तरह चिन्ता और परेशानी से दूर रखने में भी सहायता मिलेगी। इस तरह जून सन् १९३४ में देहरादून-जेल में मैंने अपनी यह 'कहानी' लिखना शुरू की और आठ महीने तक, जबतक इसकी धुन सवार रही, लिखता रहा। अक्सर ऐसे मौके आये जब मुझे लिखने की इच्छा न हुई, तीन बार ऐसा हुआ कि महीने-महीने भर तक मैं न लिख सका। लेकिन मैंने इसे जारी रखने की कोशिश की, और अब मैं इस व्यक्तिगत यात्रा की समाप्ति के निकट पहुँच चुका हूँ। इसका अधिकांश

एक अजीव परेशानी की हालत मे लिखा गया है, जब कि मैं उदासी और मानसिक चिन्ताओ से दवा हुआ था। शायद इसकी थोडी-सी झलक, जो कुछ मैंने लिखा, उसमे आ गई है, लेकिन इस लिखने ने ही मुझे वर्तमान चिन्ताओ को भुलाने अपना गम कम करने मे वडी सहायता दी। जव मैं इसे लिख रहा था, मुझे वाहर के श्रोताओ का विलकुल खयाल न था, मैं अपने-आपको सम्बोधन करता था, और प्रश्न वनाकर उसके उत्तर देता था। कभी-कभी तो उससे मेरा कुछ मनोरञ्जन भी हो जाता था। यथा-सम्भव मे विना किसी लाग-लपेट के सीधा सोचना चाहता था, और मुझे खयाल था कि शायद भूतकाल का यह सिंहावलोकन मुझे इस काम मे सहायक होगा।

आखिरी जुलाई के करीव कमला की हालत वडी तेजी से विगड़ने लगी और कुछ ही दिनो मे वह नाजुक हो गई। ११ अगस्त को मुझसे यकायक देहरादून-जेल छोडने को कहा गया और उस रात को मैं पुलिस की निगरानी मे इलाहावाद भेज दिया गया। दूसरे दिन शाम को हम इलाहावाद के प्रयाग स्टेशन पर पहुँचे और वहाँ मुझ से ज़िला मजिस्ट्रेट ने कहा कि मैं आरजी तौर पर रिहा किया जा रहा हूँ कि जिससे मैं अपनी वीमार पत्नी को देख सकूँ। यह मेरी गिरफ्तारी से एक दिन कम छठा महीना था।

६५

ग्यारह दिन

"स्वय काटकर जीर्ण म्यान को फेंक-फाक देती तलवार,
इसी तरह चोला अपना यह रख देता है जीव उतार।"[१]

मेरी रिहाई आरजी थी। मुझे बता दिया गया था कि मेरी रिहाई एक या दो दिन के लिए, या जब तक डॉक्टर बिलकुल जरूरी समझे तबतक के लिए है। अनिश्चितता से भरी हुई यह एक अजीब स्थिति थी, और मेरे लिए कुछ निश्चित कर सकना सम्भव न था। एक निश्चित अवधि होती तो मै जान सकता था, कि मेरी क्या स्थिति है और मै अपने आपको उसके अनुकूल बनाने की कोशिश करता। मौजूदा हालत जैसी थी, उसमे तो मै किसी दिन, किसी भी जेल को वापिस भेज दिया जा सकता था।

परिवर्त्तन आकस्मिक था और मै उसके लिए जरा भी तैयार न था। कैद की तनहाई से मै एकदम डॉक्टरो, नर्सो और रिश्तेदारो से भरे हुए घर पर पहुंचाया गया। मेरी लडकी इन्दिरा भी शान्तिनिकेतन से आ गई थी। मुझसे मिलने और कमला की हालत दर्याफ्त करने के लिए बहुत-से मित्र बराबर आते जा रहे थे। रहन-सहन का ढँग भी बिलकुल जुदा था, घर के सब आराम थे, और अच्छा खाना था। वह सब कुछ होते हुए भी कमला की खतरनाक हालत की चिन्ता परेशान कर रही थी। मैंने उसे बहुत दुबली और निहायत कमजोर हालत मे पड़े देखा। उसका ढाचा भर रहा था, जो बडी कमजोरी से अपनी बीमारी से लोहा ले रहा था। और यह खयाल कि शायद वह मुझे छोड जायगी असह्य वेदना देने लगा। इस समय हमारी शादी को साढे अठारह साल हुए थे। मेरा दिमाग उस दिन और उसके बाद के इन सब पिछले बरसो मे जो कुछ गुजरा उसकी तरफ घूमने लगा। शादी के वक्त मै छब्बीस साल का था और वह करीब सत्रह बरस की, दुनियवी तौर-तरीको से सर्वथा अलिप्त निरी अबोध बालिका थी। हमारी उम्र मे काफी अन्तर था, और उससे भी अधिक अन्तर हमारे मानसिक दृष्टि-बिन्दु मे था, क्योकि उसकी बनिस्बत मेरी उम्र कही ज्यादा थी। सजीदगी के इन सब अलामात के बावजूद भी मुझमे बडा लडकपन था, और मैने शायद ही कभी यह महसूस किया हो कि इस सुकुमार और भावुक लडकी

१. बायरन का मूल अग्रेजी पद्य इस प्रकार है—

"For the Sword outwears its sheath,
And the soul wears out the breast"

का मस्तिष्क फूल की तरह धीरे-धीरे विकसित हो रहा है और उसे सहृदयता और होशियारी के साथ सहारा देने की आवश्यकता है । हम दोनो एक दूसरे की तरफ आकर्षित हो रहे थे और काफी अच्छी तरह हिल-मिल गये, लेकिन हमारा दृष्टि-पथ जुदा-जुदा था और एक दूसरे मे अनुकूलता का अभाव था । इस विपरीतता के कारण कभी-कभी आपस में सघर्ष तक की नौबत आ जाती थी; और कई बार छोटी-मोटी बातो पर बच्चो के से छोटे-मोटे झगडे भी हो जाया करते थे, जो ज्यादा देरतक न टिकते थे, और तुरन्त ही मेल मिलाप-होकर समाप्त हो जाते थे । दोनो का स्वभाव तेज था, दोनो ही तुनकमिजाज थे, और दोनो मे ही अपनी शान रखने की बच्चो की-सी जिद थी । इतने पर भी हमारा प्रेम बढ़ता गया, हालांकि परस्पर अनुकूलता का अभाव धीरे-धीरे कम हुआ, हमारी शादी के इक्कीस महीने बाद हमारी लड़की और एकमात्र सन्तान इन्दिरा पैदा हुई ।

हमारी शादी के बिलकुल साथ-ही-साथ देश की राजनीति में अनेक नई घटनाएँ हुई और उनमें मेरी सलग्नता बढती गई । वे होमरूल के दिन थे । उनके पीछे फौरन ही पजाब के मार्शल लॉ और असहयोग का जमाना आया और मैं सार्वजनिक कामो के आंधी-तूफान में अधिकाधिक फँसता ही गया । इन आन्दोलनो में मेरी तल्लीनता इतनी बढ गई थी कि ठीक उस समय, जब कि उसे मेरे पूरे सहयोग की आवश्यकता थी, मैंने अनजान में उसे बिलकुल नजर अन्दाज कर, उसे अपने खुदके भरोसे पर छोड़ दिया । उसके प्रति मेरा स्नेह बराबर बना रहा, बल्कि बढा भी और यह जानकर बडी तसल्ली हुई कि वह अपने शान्तिप्रद प्रभाव के साथ इसमें मेरी सहायक है । उसने मुझे बल दिया । लेकिन साथ ही उसकी तन्दुरुस्ती पर भी असर पडा होगा और उसने अपने प्रति कुछ लापरवाही को भी महसूस किया होगा । इस तरह उसे भूला-सा रहने और कभी-कदास ही उसकी सुध लेने के बजाय उसपर मेरी अकृपा रही होती, तो भी किसी कदर अच्छा ही था ।

उसके बाद उसको बीमारी का दौरा शुरू हुआ और जेल-निवास के कारण मेरी लम्बी गैरहाजिरी रहने लगी जिससे हम केवल जेल की मुलाकात के समय ही मिल सकते थे । सत्याग्रह-आन्दोलन ने उसे हमारे प्रथम श्रेणी के योद्धाओ के बीच ला खडा किया, और जब वह खुद जेल गई तो इसकी उसे बड़ी खुशी हुई । हम सदा एक दूसरे के और भी निकट आते गये । कभी-कभी होनेवाली ये मुलाकातें बेशकीमती होती गईं; हम उनकी बाट जोहते रहते थे और बीच के दिन गिनते रहते थे । हम आपस में एक दूसरे से उकताते न थे और हमारी बातें नीरस नही हुआ करती थी क्योंकि हमारी मुलाकातो और अल्पकालिक सम्मिलनो में हमेशा कुछ-न-कुछ ताजगी

और नवीनता बनी रहती थी। हम दोनो मे से हरेक बराबर एक दूसरे मे नई-नई बाते पाते रहते थे, हालाँकि कभी-कभी ये बाते शायद हमारी पसन्द की न होती थी। हमारी बढ़ती हुई उम्र के इन मतभेदो मे भी लडकपन की मात्रा रहती।

हमारे वैवाहिक जीवन के अठारह बरस बाद भी उसकी सूरत पर कौमार्य अभी तक वैसा ही बना हुआ था, स्त्रियोचित सजीदगी का कोई चिन्ह न था। इतने अर्से पहले वह जैसी दुल्हन बनकर हमारे घर मे आई थी, अब भी बिलकुल वैसी ही मालूम होती थी। लेकिन मैं बहुत बदल गया था, और हालाँकि अपनी उम्र के मुताबिक मैं काफी योग्य, क्रियाशील और चुस्त था—और कुछ लोगो का कहना था कि अब भी मुझमे लडकपन की कई सिफते मौजूद है, फिर भी मेरा चेहरा मेरे साथ धोखा करता है। मेरे सिर के आधे बाल उड़ गये थे और जो बाकी थे वे पक गये थे, पेशानी पर सिलवटे, चेहरे पर झुर्रियाँ और आँखो के चारो तरफ काली झाई पड़ गई थी। पिछले चार वर्षों की मुसीबतें और परेशानियाँ मुझपर अपने बहुत-से निशान छोड गई थी। इन पिछले बरसो मे मैं और कमला जब कभी किसी नई जगह जाते,तो मैं यह देखकर हैरान हो जाता था, कि अक्सर कमला को मेरी लड़की समझ लिया जाता। वह और इन्दिरा सगी बहने सी दिखाई देती थी।

वैवाहिक जीवन के अठारह बरस! लेकिन इनमे से कितने साल मैंने जेल की कोठरियो मे, और कमला ने अस्पतालो और सेनिटोरियम मे बिताये? और फिर इस समय भी मै जेल की सजा भुगत रहा था और वह बीमार पड़ी हुई जीवन के लिए सघर्ष कर रही थी। अपनी तन्दुरुस्ती के बारे मे उसकी लापरवाही पर कुछ झुंझुलाहट सी आई। लेकिन फिर भी मैं उसे दोष किस तरह दे सकता था, क्योकि उसकी तेज तबियत अपनी अक्रियशीलता और राष्ट्रीय युद्ध मे पूरा हिस्सा लेने मे अपनी लाचारी के कारण उसे छटपटाती रहती थी। शरीर ऐसा करने मे समर्थ न होने के कारण न तो वह ठीक तरह से काम ही कर सकती थी, न ठीक तौर पर अपना इलाज ही करा सकती थी। नतीजा यह हुआ कि अन्दर-ही अन्दर सुलगती रहनेवाली आग ने उसके शरीर को बरबाद कर दिया।

सचमुच ही, इस समय, जब कि मुझे उसकी सब से अधिक आवश्यकता है, वह मुझे छोड़ तो न जायगी? क्यो, इसलिए कि हम दोनो ने एक दूसरे को ठीक तरह से पहचानना और समझना अभी-अभी शुरू ही किया है। हम दोनो ने एक दूसरे पर बहुत भरोसा किया था, हम दोनो को एकसाथ रहकर बहुत काम करना था।

प्रतिदिन और प्रतिघण्टे उसकी हालत देख-देखकर मेरे दिल मे इस तरह के खयाल उठते रहते थे।

साथी और मित्र मुझसे मिलने आये। अभीतक जो कुछ हो चुका था, और जिससे कि मैं वाकिफ नही था, उसके मुतल्लिक उन्होने बहुत कुछ कहा। उन्होने वर्त्तमान राजनैतिक समस्याओ के बारे मे मुझसे चर्चा की और प्रश्न पूछे। मुझे उन्हे जवाब देना मुश्किल मालूम हुआ। कमला की बीमारी का खयाल दिमाग से दूर होना आसान न था, और तनहाई और जेल की जुदाई के कारण मैं इस स्थिति मे नही था कि इन सब प्रश्नो का जवाब यकायक दे सकता। अपने लम्बे तजुर्बे ने मुझे यह सिखाया है कि जेल मे मिली हुई मुख्तसिर-सी जानकारी से स्थिति का ठीक-ठीक अन्दाजा नही लगाया जा सकता। अच्छी तरह सोचने-समझने के लिए व्यक्तिगत सम्पर्क जरूरी था, उसके बगैर राय जाहिर करना सर्वथा शाब्दिक-सा और असलीयत से दूर होता। इसके साथ ही मुझे गाधीजी और कांग्रेस वर्किंग कमिटी के अपने पुराने साथियो के साथ सब बातो पर चर्चा करने से पहले कांग्रेस की नीति के सम्बन्ध मे कुछ निश्चित राय जाहिर करना, उनके प्रति अन्याय करना मालूम हुआ। जो कुछ हो चुका था, उसपर मेरे दिमाग मे काफी आलोचना भरी हुई थी, लेकिन मैं कोई निश्चित सूचना देने के लिए तैयार न था। उस समय जेल से बाहर आने का कोई खयाल न होने के कारण उस दशा मे मैंने सोचा ही न था।

इसके साथ ही एक खयाल यह भी था कि, सरकार ने मुझे अपनी पत्नी के पास आने देने की जो शिष्टता दिखाई है, उसको ध्यान मे रखते हुए मेरे लिए यह मुनासिब न होगा कि इस मौके का मैं राजनैतिक बातो के लिए उपयोग करूँ। हालाकि ऐसे कामो से दूर रहने की मैंने कोई शर्त या वादा नही किया था, फिर भी इस खयाल का मुझ पर बराबर असर होता रहा।

सिवा झूठी अफवाहो के खण्डन के मैंने किसी भी सार्वजनिक वक्तव्य का देना टलाया। प्राइवेट बातचीत मे मैंने किसी निश्चित नीति का समर्थन नही किया, लेकिन पुरानी घटनाओ की आलोचना काफी खुलकर की। कांग्रेस-समाजवादी दल उन्ही दिनो अस्तित्व मे आया था, और मेरे बहुत-से गहरे साथी उसमे शरीक थे। जहाँतक मैंने उसे समझा, उसकी साधारण नीति मुझे पसन्द थी, लेकिन वह एक अजीब और खिचडी-सी जमात मालूम हुई, और अगर मै बिलकुल आजाद होता, तो भी यकायक उसमे शरीक न होता। स्थानीय राजनैतिक झगड़ो ने भी मेरा कुछ समय लिया, क्योकि कुछ दूसरी जगहो की तरह इलाहाबाद में भी स्थानीय कांग्रेस कमिटियो के चुनाव के समय असाधारण रूप से जहरीला प्रचार हुआ था। इनमे सिद्धान्त की कोई बात न थी, ये बिलकुल कुछ व्यक्तियो के अपने खानगी प्रश्न थे। मुझसे कहा गया कि इस तरह पैदा हुए कुछ व्यक्तिगत झगडो को निबटाने मे मैं मदद करूँ।

इन झगडो मे पड़ने की मेरी जरा भी इच्छा न थी, न मेरे पास समय ही था। इसके बावजूद कुछ वाकयात मेरे सामने आये और उनसे मुझे बडा दुख हुआ। यह एक ताज्जुब की बात थी कि स्थानीय कांग्रेस के चुनाव पर लोगबाग इतने अधिक उत्तेजित हो उठे। इनमे सबसे अधिक प्रमुख व्यक्ति वही थे, जो अनेक निजी कारणो से सत्याग्रह के समय काग्रेस से अलग हो गये थे। सत्याग्रह के बन्द हो जाने के साथ ही वे कारण प्रभावहीन हो गये, और ये लोग यकायक मैदान मे निकल आये और एक-दूसरे के खिलाफ भयकर और अक्सर कमीना तक प्रचार करने लगे। यह एक असाधारण बात थी कि किस तरह दूसरे दल को गिराने के जोश मे शिष्टता के साधारण नियमो तक को भुला दिया गया था। खासकर मुझे इस बात का बहुत ही रज हुआ कि कमला के नाम और उसकी बीमारी तक का इन स्थानीय चुनावो के खातिर दुरुपयोग किया गया।

जिन व्यापक प्रश्नो पर चर्चा हुई, उनमे कॉंग्रेस का असेम्बली के आने-वाले चुनाव मे अपनी ओर से उम्मेदवार खडेकर चुनाव लडने का निर्णय भी था। नौजवान दल मे से बहुतो ने इस निर्णय का विरोध किया था, क्योकि उनके खयाल मे यह उसी पुराने वैधानिक और समझौते के रास्ते पर वापस लौटना था, लेकिन उन्होने इसके बदले और कोई कारगर रास्ता नही सुझाया। यह एक अजीब-सी बात थी कि इनमे के कुछ विरोधी ऊँचे-ऊँचे सिद्धान्तो के आधार पर कॉंग्रेस के अलावा दूसरी सस्थाओ द्वारा चुनाव लडने के खिलाफ न थे। उनका मकसद यही मालूम होता था कि साम्प्रदायिक सस्थाओ के लिए मैदान साफ छोड दिया जाय।

इन स्थानीय झगडो और तेजी से बढते हुए ऐसे राजनैतिक दाव-पेचो से मुझे नफरत हो गई। मैने देखा कि मेरा उनसे मेल नही बैठता है और अपने ही शहर इलाहाबाद मे मै अपनेको अजनबी-सा महसूस करने लगा। ऐसे मे अपनेको उस वातावरण के अनुकूल न पाकर मै हैरान था। ऐसे वातावरण मे जब इन जैसे मामलो पर ध्यान देने का समय आता तो मै क्या कर सकता था।

मैने कमला की हालत के बारे मे गाधीजी को लिखा। क्योकि मेरा खयाल था कि मै जल्दी ही वापस जेल मे चला जाऊँगा, और सम्भव है कि अपने दिल की बात जाहिर करने का फिर दूसरा मौका न मिले, इसलिए मेरे दिमाग मे जो बाते घूम रही थी उनकी भी कुछ झलक उन्हे देदी। हाल की घटनाओ ने मुझे बहुत अधिक सन्तप्त और परेशान कर दिया था, और मेरे पत्र मे उसकी एक हलकी-सी छाप थी। मैने यह सूचित करने की कोशिश नही की थी कि क्या करना चाहिए और क्या नही। मैने जो कुछ भी किया वह तो इधर की घटनाओ से मेरे दिल पर जो कुछ भी

प्रतिक्रिया हुई थी उसका खुलासा भर था। वह पत्र क्या था, सर्वथा दबे हुए जोश का उबाल था, और बाद में मुझे मालूम हुआ कि गांधीजी को उससे बहुत दुख पहुँचा।

दिन-पर-दिन निकलते जाते थे, और मैं जेल की तलबी या सरकार से किसी दूसरी इत्तिला मिलने का इन्तज़ार करता रहता था। समय-समय पर मुझे यह कहा जाता रहा कि आगे के लिए कल या परसों हिदायत जारी होनेवाली है। इस बीच डॉक्टरों को यह हिदायत हो गई थी कि वे सरकार को कमला की हालत की रोज़ाना इत्तिला देते रहें। मेरे आने के बाद से कमला की हालत कुछ सुधर गई थी।

यह आम विश्वास था, यहांतक कि जो लोग साधारणतया सरकार के विश्वासपात्र होने के कारण उसकी बातों की जानकारी रखते हैं उनका भी यह खयाल था, कि मैं पूरी तरह रिहा कर दिया गया होता, अगर आगे होनेवाली दो बातों—अक्तूबर में बम्बई में होनेवाले कांग्रेस के अधिवेशन और नवम्बर में होनेवाले असेम्बली के चुनाव—का सरकार को ध्यान न होता। जेल से बाहर रहने पर सम्भव है कि मैं इन कामों में बाधा डालनेवाला होऊँ, इसलिए यह मुमकिन मालूम होता था कि मैं अगले तीन महीने के लिए वापस जेल भेज दिया जाऊँगा और उसके बाद छोड़ दिया जाऊँगा। मेरे जेल वापस न भेजे जाने की भी सम्भावना थी और जैसे-जैसे दिन निकलते जाते थे, यह सम्भावना बढ़ती जाती थी। मैंने करीब-करीब जम जाने का निश्चय किया।

२३ अगस्त का दिन मेरे छुटकारे का ग्यारहवाँ दिन था। पुलिस की मोटर आई, पुलिस अफसर मेरे पास पहुँचा और मुझसे कहा कि मेरी अवधि समाप्त हो गई और मुझे उसके साथ नैनी जेल के लिए रवाना होना होगा। मैंने अपने मित्रों से बिदाई ली। जैसे ही मैं पुलिस की मोटर में बैठ रहा था, मेरी बीमार मा बांहें फैलाये हुए फिर दौड़ी हुई आई। उसकी वह सूरत एक अर्सेतक रह-रहकर मेरी नज़रों में घूमती रही।

६६

फिर जेल में

छाया का मार्ग स्वत. निर्बाध है, पर धूप का स्वभाव ही ऐसा है कि उसकी विविध रग बिरगी झाँकियाँ हो जाती हैं। इसी प्रकार दुःख सुख से भिन्न वस्तु है, सुख का क्षेत्र असख्य दुःखों की वेदनाओं और क्षतिओं से घिरा रहता है।

राजतरगिणी

मैं फिर नैनी जेल के अन्दर दाखिल हो गया। मुझे ऐसा जान पडने लगा, जैसे मैं एक नई सजा की मियाद शुरू कर रहा हूँ। कभी जेल के भीतर, कभी जेल के बाहर, मैं एक खिलौना-सा बना हुआ था। जीवन मे इस प्रकार के अस्थिर परिवर्त्तन भावना-तन्त्रो को हिला डालते हैं, और अपने आपको नये परिवर्त्तनो के अनुकूल कर लेना इतना सहज काम नही होता। मैं आशा कर रहा था कि इस बार भी मुझे नैनी की उसी पुरानी कोठरी मे रक्खा जायगा, जिसमे मैं अपनी पिछली लम्बी सजा काट चुका था। वहाँ थोडे से फूल के पेड थे, जिन्हे मेरे बहनोई रणजीत पण्डित ने शुरू मे लगाया था, और एक बरामदा भी था। लेकिन नम्बर ६ की उस पुरानी बैरक मे एक नजरबन्द, सरकारी कैदी को, जिस पर न तो कोई मुकदमा चलाया गया था, न कोई सजा दी गई थी, रख दिया गया था। यह उचित नही समझा गया कि मैं उसके सम्पर्क मे आऊँ, इसलिए मुझे जेल के दूसरे हिस्से मे रक्खा गया, जो और भी अधिक अन्दर की तरफ था, और जिसमे फूल या हरियाली कुछ भी नही थे।

लेकिन मुझे अपने इस स्थान की इतनी चिन्ता नही थी; मेरा मन तो दूसरे स्थान पर था। मुझे डर था कि कमला की हालत मे जो थोडा-सा सुधार हुआ है, वह मेरे दुबारा गिरफ्तार होने के समाचार से रुक जायगा। और हुआ भी ऐसा ही। कुछ दिनो तक ऐसी व्यवस्था रही कि कमला की हालत के बारे मे मुझे हररोज डाक्टर का एक मुख्तसिर-सा बुलेटिन मिल जाया करता था। यह भी घूम-फिरकर मेरे पास पहुँचता था। डाक्टर टेलीफोन से पुलिस के सदर दफ्तर को सूचना देता, और पुलिस उसे जेलतक पहुँचा देती। डाक्टरो और जेल के कर्मचारियो मे सीधा सम्बन्ध वाछनीय नही समझा गया। दो सप्ताह तक तो मुझे यह सूचना नियमित, और कभी-कभी अनियमित, रूप से मिलती रही, और उसके बाद रोक दी गई, हालाकि कमला की हालत दिन-ब-दिन गिरती ही जारही थी।

बुरे समाचारो और समाचारो की प्रतीक्षा ने दिनो को असहनीय लम्बा और

रातो को उनसे भी भीषण वना दिया। समय की गति मानो विलकुल रुक गई हो या अत्यन्त सुस्ती से सरक रही हो; हरेक घण्टा भार और आतक-सा जान पडता था। इतनी तीव्रता से इस तरह की भावना को मैंने कभी महसूस नही किया था। उस समय मेरी ऐसी धारणा थी कि दो-तीन महीने के अन्दर बम्बई-कॉंग्रेस के अधिवेशन के बाद ही, मेरे छूट जाने की सम्भावना थी; लेकिन वे दो महीने भी कभी न समाप्त होनेवाले दिखाई दे रहे थे।

मेरी दुवारा गिरफ्तारी के ठीक एक महीने वाद एक पुलिस अफसर मुझे मेरी पत्नी से थोडी-सी देर के लिए मुलाकात कराने ले गया। मुझसे कहा गया था कि मुझे इस तरह हफ्ते मे दो वार उससे मिलने दिया जाया करेगा और उसके लिए समय भी निश्चित हो गया था। मैंने चौथे दिन प्रतीक्षा की—कोई मुझे लेने नही आया; इसी तरह पाचवा, छठा और सातवा दिन वीता, मै इन्तजार करते-करते थक गया। मेरे पास समाचार पहुचा कि उसकी हालत फिर चिन्ताजनक होती जा रही है। मैंने सोचा कि मुझसे सप्ताह मे दो वार कमला से मिल सकने की वात कहना कैसा अजीव मजाक था।

सितम्बर का महीना भी किसी तरह खत्म हुआ। मेरी जिन्दगी मे वे तीस दिन सवसे लम्वे और सवसे खराव थे।

कई व्यक्तियो के द्वारा मेरे पास तक यह सलाह पहुँचाई गई कि अगर मै अपनी मियाद के वाकी दिनो के लिए राजनीति मे भाग न लेने का आश्वासन—चाहे वह लिखित भले ही न हो—देदू तो मुझे कमला की तीमारदारी के लिए छोडा जा सकेगा। राजनीति उस समय मेरे विचारो से दूर की चीज थी, और वाहर जाकर ग्यारह दिनो मे मैंने राजनीति की जो दशा देखी थी, उससे तो मुझे घृणा ही हो गई थी, पर आश्वासन की तो कल्पना भी नही की जा सकती थी। उसका अर्थ होता, अपनी प्रतिज्ञाओ, कार्य, साथियो और खुद अपने साथ विश्वासघात करना। परिणाम कुछ भी होता, यह तो एक असम्भव शर्त्त थी। ऐसा करने का अर्थ होता अपने अस्तित्व की जडो पर मर्माघात, और उन सव चीजो को, जो मेरी दृष्टि मे पवित्र थी, अपने हाथो कुचल डालना। मुझसे कहा गया कि कमला की हालत दिन-पर-दिन विगडती जा रही है, और उसके निकट मेरी उपस्थिति से जीवन और मरण का अन्तर पड सकता है।-तो मेरा व्यक्तिगत दम्भ या अहकार क्या कमला के जीवन से बडी चीज थी ? मेरे लिए यह एक भयकर समस्या वन जाती, पर भाग्यवश, कम-से-कम इस रूप मे, वह मेरे सामने उपस्थित नही हुई। मै जानता था कि इस प्रकार के किसी भीआश्वासन को खुद कमला नापसन्द करती, और अगर मै कोई ऐसा काम कर बैठता, तो उसे धक्का लगता और नुकसान भी हो जाता।

अक्टूबर के शुरू मे मुझे फिर उससे भेंट करने के लिए ले गये। वह करीब-करीब गाफिल-सी पड़ी हुई थी, बुखार बहुत तेज़ था। मुझे अपने निकट रखने की उसकी इच्छा बड़ी तीव्र थी, पर जब मैं जेल लौट जाने के लिए उससे बिदा होकर चला, तो उसने साहसपूर्ण मुस्कराहट से मेरी ओर देखा और मुझे नीचे झुकने का इशारा किया। मैं जब उसके नज़दीक जाकर झुका, उसने मेरे कान में कहा, "सरकार को आश्वासन देने की भला यह क्या बात है ! ऐसा हर्गिज न करना।"

कुल ग्यारह दिन मैं जेल के बाहर था। हम लोगो ने इन दिनो निश्चय कर लिया था, कि कमला के स्वास्थ्य मे थोडा-सा सुधार होने पर, उसे इलाज के लिए किसी अधिक उपयुक्त जगह पर भेज देंगे। तभीसे हम उसके कुछ अच्छा होने की इन्तजारी कर रहे थे, पर, उसके बजाय कमला की हालत दिन-दिन गिरती ही जा रही थी, और अब छ हफ्ते बाद तो, यह गिरावट बहुत साफ दिखने लगी थी। इन्तज़ार करते रहना इसलिए अब बेकार समझा गया, और यह निश्चय किया कि उसे ऐसी ही हालत मे भुवाली की पहाड़ी पर भेज दिया जाय।

जिस दिन कमला भुवाली जानेवाली थी उसके एक दिन पहले मुझे उससे मिलने के लिए ले जाया गया। मैं सोच रहा था, अब फिर दुबारा कब इससे भेंट होगी, और भेंट होगी भी या नही ? पर, वह उस दिन प्रसन्न और कुछ स्वस्थ दिखाई दे रही थी, और इससे मुझे इतनी खुशी हुई कि कुछ पूछिए नही।

करीब तीन हफ्ते बाद, मुझे नैनी-जेल से अलमोडा डिस्ट्रिक्ट जेल मे भेज दिया गया, जिससे मैं कमला के ज्यादा नजदीक रह सकू। भुवाली रास्ते मे ही पड़ता था—पुलिस के 'गारद' के साथ मैंने कुछ घण्टे वही बिताये। मुझे कमला की हालत में थोडा सुधार देखकर बड़ा अच्छा लगा और उससे विदा लेकर मैं खुशी-खुशी, अपनी अलमोडा तक की यात्रा पूरी कर सका। सच तो यह है कि कमला तक पहुँचने के पहले ही पहाडो ने मुझे प्रफुल्लित कर दिया था।

मुझे वापस इन पहाडो मे पहुँच जाने की खुशी थी। ज्यो-ज्यो हमारी मोटर चक्करदार सडक पर तेजी से आगे बढती जा रही थी, सबेरे की ठण्डी हवा और धीरे-धीरे खुलता जानेवाला प्रकृति का सौंदर्य मुझे एक विचित्र हर्ष से भर रहा था। हम ऊपर-ऊपर चढते जा रहे थे, घाटियाँ गहरी होती जा रही थी—पर्वत की चोटियाँ बादलो में छिपती जा रही थी। हरियाली भी रग बदलती गई, और चारो ओर की पहाडियाँ देवदार की घटा से घिरी हुई दिखाई देने लगी। कभी सडक की किसी मोड को पार करते ही, अचानक हमारे सामने पर्वत-श्रेणियो का एक नया विस्तार और कही घाटियो की गहराई मे एक छोटी नदी कलकल करती हुई दिखाई देती।

उस दृश्य को देखते-देखते मेरा जी नही अघाता था, उसे पूरा ही पी जाने की प्रबल इच्छा हो रही थी। मैं अपने स्मृति-पात्र को उससे भर लेना चाहता था, जिससे, उस समय, जबकि सच्चा दृश्य देखना मुझे नसीब नही होता, उसीको मैं अपने मन में जगाकर आनन्द उठा लेता।

पहाडियो के कक्ष मे छोटी-छोटी झोपडियो के झुण्ड दिखाई देते थे, और उनके चारो ओर छोटे-छोटे खेत। जहाँ कही थोडा भी ढाल मिल गया, वही कडी मेहनत-मशक्कत करके खेत बना लिये। दूर से वे झरोखो या छज्जो के समान दिखाई देते थे, या ऐसा जान पड़ता था, मानो बडी-बडी सीढियाँ हो जो घाटी के नीचे से पहाडी की चोटी तक सीधी कतारबन्द चली गई हो। इस बिखरी हुई जनसख्या के लिए प्रकृति से थोड़े-से खाद्य-पदार्थ निकलवाने के लिए मनुष्य को कितनी कड़ी मेहनत करनी पडती है! इस लगातार परिश्रम के बाद भी कितनी कठिनाई से उनकी जरूरते पूरी हो पाती है। इन छज्जेनुमा खेतो के कारण पहाड़ियो में एक तरह की बस्ती का-सा बोध होता था और उनके सामने वनस्पति-शून्य या जंगलो से लदी ढालू जमीन बडी विचित्र लगती थी।

दिन मे यह सारा दृश्य बड़ा मनोहर दिखाई देता है, और ज्यो-ज्यो सूर्य आकाश मे ऊँचा चढता जाता है, उसकी बढती हुई गरमी से पहाडो मे एक नया जीवन दिखाई देने लगता है, और वे अपना अजनबीपन भूलकर हमारे मित्र और साथी-से मालूम होने लगते है। लेकिन दिन डूब जाने पर उनका सारा रूप कैसा बदल जाता है! जब रात अपने लम्बे-चौडे डग भरती हुई विश्व को अँकवार मे भर लेती है, और उच्छृखल प्रकृति को पूरी आजादी देकर जीवन अपने बचाव के लिए छिपने का मार्ग ढूढता है, तब ये जीवन-शून्य पर्वत कैसे ठडे और गम्भीर बन जाते है। चादनी या तारों की रोशनी मे पर्वतो की श्रेणियाँ रहस्यमयी, भयंकर, विराट, और फिर भी अपार्थिव-सी आकृति ग्रहण कर लेती है, और घाटियों के बीच से वायु का चीत्कार सुनाई पडता है। गरीब मुसाफिर अपने अकेले मार्ग पर चलता हुआ काँप उठता है, और अपने चारों ओर विरोधी शक्तियो की उपस्थिति का अनुभव करता है। पवन की सनसनाहट भी मखौल-सा उडाती और उपेक्षा-सी करती दिखाई देती है। कभी हवा बन्द भी हो जाती है, दूसरी किसी प्रकार की आवाज भी नही होती, और चारो ओर एक पूर्ण शान्ति होती है, जिसकी सघनता ही डरावनी लगने लगती है। केवल टेलीग्राफ के तार धीमे-धीमे गुन-गुनाते रहते है और तारे अधिक चमकदार और अधिक समीप दिखाई देने लगते है। पर्वत-श्रेणियाँ संजीदगी से एक ओर देखती रहती है और ऐसा जान पड़ता है जैसे कोई भयावना रहस्य उस ओर को घूर रहा है।

पास्कल के समान ही मनुष्य सोचता है, "मुझे अनन्त आकाश की इस अनन्त शान्ति से भय लगता है।" मैदानो मे रात कभी इतनी नीरव नही होती; प्राणो का कम्पन वहाँ तब भी सुनाई देता रहता है, और कई किस्म के जानवरो और कीडो की आवाजे रात के सन्नाटे को चीरती रहती है।

लेकिन जब हम मोटर मे बैठे अलमोडा जा रहे थे, रात अपनी सर्दी और वीरान सन्देश लिये हमसे—अब भी दूर थी। हमारी यात्रा का अन्त अब समीप ही आगया था। सडक के मोड को पार करने और बादलो के एकसाथ हट जाने से मुझे एक नया दृश्य दिखाई दिया, कितना अचरज और खुशी हुई मुझे वह देखकर। बीच में आ जानेवाले जगलो से लदे पहाडो के बहुत ऊपर बडी दूर पर, हिमालय की बर्फीली चोटियाँ चमक रही थी। अतीत के सारे बुद्धि-वैभव को लिये भारतवर्ष के विस्तृत मैदान के ये सतरी बडे शान्त और रहस्यमय लगते थे। उनके देखने से ही मन मे एक शान्ति-सी छा जाती थी, और हमारे छोटे-छोटे द्वेष और सघर्ष, मैदान और शहरो की वासनाये और छल-छिद्र तुच्छ-से लगने लगते और उनके हमेशा के मार्गो से बहुत दूर की चीज़ लगते।

अलमोडा की छोटी-सी जेल एक ढालू जमीन पर बनी हुई है। मुझे उसीमे एक 'शानदार' बैरक रहने के लिए दी गई। इसमे ५१×१७ फुट का एक बड़ा-सा कमरा था, जिसका फर्श कच्चा और बडा ऊँचा-नीचा था, छत कीडो की खाई हुई थी, जिसमे से टुकडे टूट-टूटकर बराबर नीचे गिरा करते थे। उसमे पन्द्रह खिड़कियाँ और एक दरवाज़ा था, या यो कहना चाहिए कि इतने सीखचो से जडे हुए खुले स्थान थे, क्योंकि असल मे तो दरवाजा या खिडकी एक भी नही थी। ताज़ी हवा की तो कमी हो ही नही सकती थी, क्योकि सरदी बढ गई थी। कुछ खिडकियो को नारियल की चटाइयो से बन्द कर दिया गया था। इस बडे कमरे में (जो देहरादून की जेल के किसी भी कमरे से बडा था) मै अपने एकाकी वैभव मे रहता था। लेकिन मै बिलकुल अकेला भी नही था, क्योकि कम-से-कम दो दर्जन चिडियो ने उस टूटी छत में अपना घर बना रक्खा था। कभी-कभी कोई भटकता हुआ बादल, अपनी अनेक बाहो द्वारा, कई खिडकियो मे से प्रवेश करता हुआ मेरे पास आ जाता, और सारी जगह को कुहरे से भरकर सीलन फैला देता।

यहाँ रोज शाम के साढे चार बजे मेरे आखिरी भोजन, या यो कहना चाहिए कि भारी चाय ले लेने के बाद पाँच बजे मुझे बन्द कर दिया जाता था, और फिर सवेरे ७ बजे मेरा सीखचोवाला दरवाज़ा खुलता था। दिन के समय या तो बैरक मे या उसके बाहर एक पास के दालान में, धूप लिया करता था। मेरी चहार-

दिवारी से एक-डेढ मील दूर के एक पहाड की चोटी दिखाई देती थी, और मेरे सिर पर नीले आकाश का अनन्त वितान तना रहता था, जिसपर बादल छिटके रहते थे। इन बादलो की बड़ी आश्चर्यजनक शकलें बन जाती, जिन्हे देखते-देखते मैं कभी थकता न था। खयाल करता था कि मैं उन्हे सब तरह के जानवरो का रूप धारण करते हुए देख रहा हूँ, और कभी-कभी वे मिलकर इतने बडे बन जाते कि एक भारी महासागर के समान दिखाई देने लगते। कभी वे समुद्र के किनारे से लगते, और देवदार के पेडो के बीच से आनेवाली वायु की मर्मराहट समुद्र के ज्वार-भाटे की सी आवाज लगती। कभी-कभी कोई बादल बड़े साहस के साथ हमारी ओर बढता नजर आता। दिखने मे तो बडा ठोस और घना लगता, पर हमारे नजदीक आते-आते वह बिलकुल कोहरा बन जाता और हमे ढक लेता।

मुझे अपनी विशाल बैरक छोटी कोठरी से ज्यादा पसन्द थी, हालाँकि छोटी कोठरी मे इतना अकेलापन महसूस नही होता था। बाहर पानी बरसता तो मैं उसमे ही घूम-फिर सकता था। लेकिन जैसे-जैसे सर्दी बढती गई, उसका सूनापन बढता गया और जब सर्दी बहुत ही बढ गई, तब मेरा ताजी हवा और खुले मे रहने का प्रेम भी कम पड गया। मुझे उस समय बडी खुशी हुई, जब नये साल के शुरू होते ही खूब बर्फ पडा और जेल का नीरस वातावरण भी सुन्दर हो उठा। बर्फ से लिपटे हुए जेल की दीवारो के बाहर के देवदार वृक्ष तो बहुत ही सुहावने और लुभावने दिखने लगे।

कमला की हालत मे उतार-चढाव होते रहने से मुझे चिन्ता रहती थी और कभी कोई खराब खबर मिल जाती, तो उससे मैं कुछ देर के लिए उदास हो जाता, लेकिन पहाड की हवा का सान्त्वना देनेवाला प्रभाव मुझ पर पडता और मैं फिर गहरी नीद मे सोने की अपनी आदत पर लौट आता था। निद्रा-लोक के किनारे पर खडे होकर मैं कभी-कभी सोचता था कि यह नीद भी कैसी आश्चर्य की और रहस्य की चीज है। मनुष्य उससे जगे ही क्यो ? मैं बिलकुल ही न जागू तो ?

तो भी जेल से छुटकारा पाने की मेरी इच्छा प्रबल थी, और इस वक्त तो बहुत ही तीव्र हो रही थी। बम्बई-कॉंग्रेस खत्म हो चुकी थी। नवम्बर भी आकर चला गया और असेम्बली के चुनावो की चहलपहल भी खत्म हो गई थी। मुझे आशा हो चली थी कि मै जल्दी ही छोड दिया जाऊँगा।

लेकिन उसके बाद ही खान अब्दुलगफ्फार खा की गिरफ्तारी और सजा और श्री सुभाष बोस के हिन्दुस्तान में अल्पकालिक आगमन पर उनको दी गई विचित्र आज्ञा की आश्चर्यजनक खबर मिली। यह आज्ञा स्वतः मनुष्यता से खाली और अविचार-

पूर्ण थी; और एक ऐसे मनुष्य पर लगाई गई थी जिसकी, अपने असख्य देशवासियो के दिल मे प्रेम और आदर की जगह है और जो, अपनी बीमारी की परवाह न करके, मृत्युशैया पर पडे हुए अपने पिता के दर्शनो के लिए दौडकर आया था और फिर भी उनसे मिल न सका था। यदि सरकार का दृष्टिकोण इस तरह का बना हुआ है, तब तो मेरे जल्दी छूटने की कोई उम्मीद नही थी। बाद के सरकारी वक्तव्यो से यह बात साफतौर पर जाहिर भी हो गई थी।

अलमोडा जेल मे एक महीना रहने के बाद कमला को देखने के लिए मुझे ले जाया गया। उसके बाद मैं तकरीबन हर तीसरे हफ्ते उससे मिलता रहा। भारत मन्त्री सर सेम्युअल होर ने बार-बार यह बात कही थी कि मुझे हफ्ते मे एक या दो बार अपनी पत्नी से मिलने की इजाज़त दी जाती है। लेकिन वह सचाई के ज्यादह नजदीक होते, अगर यह कहते कि महीने मे एक या दोबार मुझे यह इजाजत मिलती है। पिछले साढे तीन महीनो मे जब से कि मै अलमोडा आया, मै पाँच बार उससे मिला। मै यह शिकायत के तौर पर नही लिख रहा हूँ, क्योकि मेरा खयाल है कि इस मामले में सरकार मेरे प्रति बहुत विचारशील रही है और मुझे कमला से मिलने की जो सुविधाये दे रक्खी है वे असाधारण है। मै उसके लिए उसका आभारी हूँ। उसके साथ की ये मुख्तसिर-सी मुलाकाते मेरे लिए और मै समझता हूँ उसके लिए भी, बहुत कीमती साबित हुई है। मेरी मुलाकात के दिन डॉक्टरो ने किसी हद तक अपने दूसरे साधारण कार्यक्रम को भी स्थगित कर दिया था, और मुझे उसके साथ लम्बी-लम्बी बाते करने की इजाज़त दी है। इन मुलाकातो के फल-स्वरूप हम सदा ही एक दूसरे के नज़दीक आते गये, और उसे छोडकर लौटने मे सदा ही एक असहनीय पीडा होती। हम केवल बिदा होने के लिए ही मिलते थे। और कभी-कभी तो मै बडे वेदनाभरे हृदय से सोचता था कि एक ऐसा भी दिन आ सकता है, जब कि यह विदा आखिरी बिदा हो।

मेरी माँ बीमारी से उठ न पाई थी, इसलिए इलाज के लिए बम्बई गई थी। वहाँ उनकी हालत मे सुधार होता दिखाई दे रहा था। जनवरी का आधा महीना बीतने के करीब, एक दिन सबेरे ही तार के जरिये दिल को चोट पहुँचानेवाली ऐसी इत्तिला मिली जिसकी कल्पना भी नही थी। उन्हे लकवा मार गया था। इसलिए मेरे बम्बई-जेल मे भेजे जाने की सम्भावना थी, ताकि ज़रूरत पडने पर मै उन्हे देख सकूँ। लेकिन उनकी हालत मे थोड़ा सुधार हो जाने के कारण मुझे वहाँ भेजा नही गया।

जनवरी ने अपना स्थान अब फरवरी को दे दिया है, और वायुमण्डल मे वसन्त

के आगमन की आहट सुनाई दे रही है। बुलबुल और दूसरी चिड़ियाँ फिर दिखाई और सुनाई देने लगी है और जमीन मे जगह-जगह छोटे-छोटे कुल्ले फूटकर इस विचित्र दुनिया पर अपनी अचरजभरी नजर डाल रहे है। सदा बहार के फूल पहाड़ियो में स्थान-स्थान पर रक्त के से लाल चप्पे बनाते जा रहे है, और शान्तिपूर्ण वातावरण मे बेर के फूल बाहर झाक रहे है। दिन बीतते जा रहे है और ज्यो-ज्यो वे समाप्त होते जाते है, मै उन्हे गिनता रहता हूँ और अपनी अगली भवाली-यात्रा की बात सोचता रहता हूँ। मुझे आश्चर्य होता है कि इस कहावत मे कहाँ तक सचाई है कि जीवन के बड़े-बड़े पुरस्कार नाउम्मीदी, निर्दयता और वियोग के बाद ही मिलते है। अगर ऐसा न हो तो शायद उन पुरस्कारो का मूल्य ठीक-ठीक न आका जा सके। शायद विचारो की स्पष्टता के लिए कष्ट-सहन जरूरी है; परन्तु उसकी अधिकता दिमाग पर पर्दा डाल सकती है। जेल से आत्म-चिन्तन को प्रोत्साहन मिलता है और अनेक वर्षो के जेल-निवास ने मुझे अधिक-से-अधिक अपने अन्तर्निरीक्षण के लिए विवश किया है। स्वभाव से मै अन्तर्मुखी नही था, पर जेल का जीवन तेज़ कॉफी या कुचले के सत की तरह आत्म चिन्तन की ओर ले जाता है। कभी-कभी मनोरञ्जन के लिए, मै प्रोफेसर मैकडूगल के निर्धारित किये हुए मापदण्ड पर अपनी अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी वृत्तियो के सम्बन्ध की परीक्षा करता हूँ, तो मुझे आश्चर्य होता है कि एक प्रवृत्ति से दूसरी की ओर परिवर्तन कितनी अधिक बार होता रहता है, और कितनी तेजी के साथ !

६७

कुछ ताज़ी घटनायें

"होता है यह अरुण उषा का नूतन उदय निशा के बाद;
पर न हमारे जीवन के दिन पुन लौटते है कर याद।
आँखो के भीतर वसता है क्षितिज दूर का सुषमावत,
किन्तु घाव अन्तर मे गहरा कर जाता है निठुर वसन्त।" [१]

मुझे जो अखवार दिये जाते थे, उनसे मुझे वम्वई-कांग्रेस के अधिवेशन की कार्रवाई का हाल मालूम हुआ। उसकी राजनीति और व्यक्तियो में स्वभाव से ही मेरी दिलचस्पी थी। वीस साल के गहरे सम्पर्क ने मुझे कांग्रेस के साथ इतना कसके वांध दिया था कि मेरा व्यक्तित्व करीव-करीव उसमे लीन हो गया था और पदाधिकार और जवावदेही के वन्धनो से भी कही ज्यादा मजबूत कुछ ऐसे अदृश्य वन्धन थे, जिन्होने मुझे इस महान् सस्था व अपने हजारो पुराने साथी कार्यकर्त्ताओ के साथ वाँध दिया था। लेकिन इतने पर भी इस अधिवेशन की कार्रवाई से मुझे कुछ स्फूर्ति मिलना कठिन दिखाई दिया। कुछ महत्वपूर्ण निर्णयो के वावजूद मुझे तो सारा अधिवेशन लचर-सा मालूम हुआ। जिन विषयो मे मेरी दिलचस्पी थी, उन पर शायद ही विचार हुआ हो। मै इसी चक्कर मे था कि अगर मैं वहाँ मौजूद होता, तो मैने क्या किया होता। निश्चित तौर पर मै कुछ नही जानता था। मै कह नही सकता था कि नई परिस्थितियो और अपने आस-पास के वातावरण के सम्बन्ध मे मेरा क्या रुख रहा होता। आखिर मैंने सोचा कि इस कठिन निर्णय पर पहुँचने के लिए मै जेल मे अपने दिमाग पर क्यो जोर दूँ, जवकि उस वक्त ऐसा निर्णय करना बिलकुल बेकार था। समय आयगा, जब मुझे तात्कालिक समस्याओ का मुकाबिला करना पडेगा और अपना कार्य-पथ निश्चित करना होगा। ऐसी हालत में इन गहरे विचारो में पडकर इस तरह के निर्णय की पहले से कल्पना करना बिलकुल वाहियात बात है क्योकि ऐसा करने का भार मुझ पर पडने से पहले ही परिस्थितिया बदल जायँगी।

१. ली तई-पो का मूल अंग्रेज़ी पद्य इस प्रकार है:—

"Dawn reddens in the wake of night,
But the days of our life return not.
The eye contains a far horizon,
But the wound of spring lies deep in the heart."

अपने सुदूर और पहाड़ पर के एकान्त निवास स्थान पर से अधिक-से-अधिक जो दो मोटी विशेपतायें मैं जान सका, वे थी—गाधीजी का जवरदस्त व्यक्तित्व और पण्डित मदनमोहन मालवीय और श्री अणे द्वारा प्रदर्शित साम्प्रदायिक विरोध का बिलकुल नगण्य प्रदर्शन। जो लोग भारत के सर्वसाधारण और मध्यमवर्ग की मनोवृत्ति को अच्छी तरह जानते है, उन सबको तो यह जानकर कुछ अचरज नही हुआ कि किस तरह गाधीजी एक छोर से दूसरे छोरतक भारत के एकमात्र सर्वेसर्वा बने हुए है। सरकारी अफसर और कुछ दकियानूसी राजनीतिज्ञ अपनी भीतरी इच्छा को ही कल्पना का आधार बनाकर अक्सर यह सोचने लगते है कि अब राजनैतिक-क्षेत्र मे गाधी-युग बीत गया है, या कम-से-कम उनका प्रभाव बहुत-कुछ क्षीण हो गया है। और जब गाधीजी अपनी उस सारी पुरानी शक्ति और प्रभाव के साथ मैदान मे आते है, तो ये लोग चकित रह जाते है और इस प्रत्यक्ष परिवर्त्तन के लिए नये-नये कारण खोजने लगते है। कॉंग्रेस और देश पर गाधीजी की अगर प्रभुता है तो वह उनके उन विचारो के कारण, जोकि आमतौर पर स्वीकार किये जा चुके है, उतनी नही है, जितनी कि उनके अद्वितीय व्यक्तित्त्व के कारण। व्यक्तित्त्व तो सभी जगह अपना काफी प्रभाव रखता है; लेकिन हिन्दुस्तान मे तो वह प्रमुखरूप से और भी अधिक काम करता है।

कॉंग्रेस से उनकी अलहदगी इस अधिवेशन का एक अजीब वाकाया था और ऊपरी तौर से तो यही मालूम होता था कि कॉंग्रेस और हिन्दुस्तान के इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय समाप्त हो गया। लेकिन असल मे इसका महत्त्व कुछ अधिक नही था क्योंकि वह चाहे तो भी अपने व्यापक नेतृत्त्व-पद से पीछा नही छुड़ा सकते। उनकी यह प्रतिष्ठित स्थिति किसी पदाधिकार या अन्य किसी प्रत्यक्ष सम्बन्ध के कारण नही थी। कॉंग्रेस में आज भी गाधीजी का दृष्टिकोण करीब-करीब पहले जैसाही झलकता है, और यदि वह उनके मार्ग से भटक भी जाय तो भी, गाधीजी अनजाने मे भी, उसे और देश को बहुत अधिक हद तक प्रभावित करते रहेगे। इस भार और जवाबदेही से वह अपनेको जुदा कर नही सकते। देश की प्रत्यक्ष स्थिति का खयाल करते हुए उनका व्यक्तित्त्व खुद ही दूसरो का ध्यान बरबस अपनी ओर खीचता है, और इस तरह उसकी उपेक्षा की नही जा सकती।

वह इस वक्त, कॉंग्रेस से शायद इसलिए अलग हो गये है, कि उनके कारण कॉंग्रेस किसी कठिनाई मे न पडे। शायद वह किसी तरह के व्यक्तिगत सत्याग्रह की बात सोच रहे है, जिसका अवश्यम्भावी परिणाम सरकार से झगडा छिड़ जाना होगा। वह इसे कॉंग्रेस का प्रश्न नही बनाना चाहते।

मुझे खुशी हुई कि कॉंग्रेस ने देश का विधान निश्चित करने के लिए कास्टीट्यू-एण्ट असेम्बली का विचार मजूर कर लिया। मेरे खयाल मे इस समस्या के हल करने का इसके सिवा कोई दूसरा रास्ता है ही नही, और निश्चय ही हमे कभी-न-कभी ऐसी असेम्वली बनानी पडेगी। दीखता तो यही है कि ब्रिटिश सरकार की अनुमति के बगैर ऐसा हो नही सकेगा, हाँ, कोई सफल क्रान्ति हो जाय तो बात दूसरी है। यह भी साफ है कि वर्तमान परिस्थितियो मे सरकार से ऐसी अनुमति मिलने की कोई उम्मीद नही है। देश मे जबतक इतनी ताकत पैदा नही हो जाती कि वह इस तरह का कोई कदम उठाने को बलपूर्वक आगे बढ़ सके, तबतक ऐसी असेम्बली बन नही सकती। इसका लाजिमी नतीजा यही है कि तबतक राजनैतिक समस्या भी नहीं सुलझ सकेगी। कॉंग्रेस के कुछ नेताओ ने विधानकारिणी असेम्बली के विचार को मजूर करते हुए, इसकी उग्रता को कम करके करीब करीब पुराने ढग के एक बडे सर्वदल सम्मेलन का रूप दे दिया है। यह कार्रवाई बिलकुल बेकार होगी। वही पुराने लोग, ज्यादा अपने आपही चुने जाकर सम्मिलित हो जायँगे, और उसका परिणाम होगा मतभेद। कास्टीट्यूएण्ट असेम्बली की असली मन्शा तो यह है कि इस असेम्बली का चुनाव विस्तृतरूप से जनता के द्वारा हो और जनता से ही इसे ताकत और स्फूर्ति मिले। इस प्रकार का सम्मेलन ही असली प्रश्नो पर विचार करने मे सफल हो सकेगा, और साम्प्रदायिक या अन्य झगडो से, जिनमे हम लोग इतनी बार उलझ जाते है, बरी रहेगा।

इस विचार की शिमला और लन्दन में जो प्रतिक्रिया हुई वह भी बडी मजेदार रही। अर्द्ध-सरकारी तौर पर यह तो जाहिर कर दिया गया कि सरकार को इसमे कोई एतराज न होगा, उसने अपनी सरपरस्ती की सहमति भी दे ही सी दी, क्योंकि प्रत्यक्ष में उसे यह भी पुराने ढग के सर्वदल-सम्मेलन की सी ही दिखाई दी, और चूँकि ऐसे सर्वदल-सम्मेलन के भाग्य मे पहले से ही असफलता लिखी रहती है, उसने सोचा कि इससे भी उल्टे अपने हाथ ही मजबूत होगे। लेकिन मालूम होता है बाद में उसने इस विचार के अदर समाये हुए खतरो और इस तरह की असेम्बली से जिन-जिन बातो की सम्भावनायें हो सकती थी, उनको महसूस किया, और तब से वह इसका जोरो से विरोध करने लगी।

बम्बई-कॉंग्रेस के बाद फौरन ही असेम्बली का चुनाव आया। कॉंग्रेस के चुनावसम्बन्धी कार्यक्रम मे मेरा कोई उत्साह न होते हुए भी मेरी इस बात मे बडी दिलचस्पी थी और मै मनाता था कि कॉंग्रेस के उम्मीदवार जीतें, या अधिक सही शब्दो में कहा जाय तो यो कहना चाहिए कि मै उनके विरोधियो की हार

मनाता था। इन विरोधियो में पदलोलुप सम्प्रदायवादी, पथभ्रष्ट और ऐसे लोगो का अजीब-सा सम्मिश्रण था, जिन्होने सरकार की दमन-नीति का जोरो से समर्थन किया था। इस बात में कोई शक नही था कि इनमे से अधिकाँश लोग हरा दिये जायँगे, लेकिन बदकिस्मती से साम्प्रदायिक निर्णय ने मुख्य प्रश्न को ढक दिया और इनमे से बहुतों ने साम्प्रदायिक सगठनो की व्यापक रूप में फैली हुई भुजाओ की शरण ली। लेकिन इतने पर भी काँग्रेस को बडी मार्के की सफलता मिली, और मुझे खुशी हुई कि अवाञ्छनीय लोगो मे से बहुत से खदेड दिये गये।

मुझे खासकर, नामधारी काँग्रेस नेशनलिस्ट पार्टी का रुख, बहुत ही खेदजनक लगा। उसके साम्प्रदायिक निर्णय के प्रति तीव्र विरोध को समझा जा सकता है, लेकिन अपनी स्थिति को मजबूत बनाने के लिए उसने ऐसे कट्टर साम्प्रदायिक सगठनों के साथ सहयोग किया, यहाँ तक कि सनातनियो तक का, जिनसे बढ़कर कि आज भारत मे, राजनैतिक और सामाजिक, दोनो ही दृष्टि से प्रतिगामी दल दूसरा नही है। साथ ही, अनेक मशहूर राजनैतिक प्रतिगामियो तक का सहारा लिया। बगाल को छोडकर, जहाँ कारण विशेप से एक जबर्दस्त काँग्रेस दल ने उनका समर्थन किया, उनमे से अधिकतर सब तरह से काँग्रेस के विरुद्ध थे। इसमें शक नही कि काँग्रेस के सबसे जबर्दस्त विरोधी यही लोग थे। इतनी सारी तरह की विरोधी शक्तियो के मुकाबिले मे, जिनमे कि जमीदार, नरम दलवाले, और निस्सन्देह सरकारी अफसर तक शामिल थे, काँग्रेस उम्मीदवारो ने काफी शानदार विजय प्राप्त की।

साम्प्रदायिक निर्णय के प्रति काँग्रेस का रुख विचित्र था; लेकिन इस परि-स्थिति मे इससे भिन्न शायद ही हो सकता था। यह उसकी पिछली तटस्थता की नीति का या यो कहो कि कमजोर नीति का लाजिमी परिणाम था। शुरू से ही दृढ नीति अख्तियार की जाती, और बिना किसी तात्कालिक परिणाम की चिन्ता किये उसका पालन करते रहना अधिक शानदार और सही तरीका होता। लेकिन क्योकि काँग्रेस ऐसा करने में अनिच्छुक रही, इसलिए उसने जो रास्ता अख्तयार किया उसके सिवा उसके पास और कोई उपाय था ही नही। साम्प्रदायिक निर्णय एक खास बेहूदगी की चीज थी और उसका स्वीकार किया जाना असम्भव था, क्योकि, उसके बने रहने तक किसी तरह की आजादी हासिल करना अशक्य था। यह इसलिए नही कि सने मुसल-मानो को बहुत अधिक दे दिया था। किसी दूसरी तरह शायद यह मुमकिन था कि वे जो कुछ भी मागते सब कुछ दे दिया जाता। बात यह थी कि इस निर्णय द्वारा ब्रिटिश सरकार ने भारत को अनेक ऐसे आपस मे एक दूसरे से अलग अनगिनती हिस्सो में बाँट दिया था, जो एक दूसरे को आगे बढ़ने से रोकता, और उसके प्रभाव को बिलकुल बेकार

कर देता था, जिससे कि विदेशी अग्रेजी सत्ता सर्वोपरि बनी रह सके। इसने ब्रिटिश सरकार पर की निर्भरता को अनिवार्य बना दिया।

खासकर बगाल मे, जहाँ कि छोटे से यूरोपियन समुदाय को भारी प्राधान्य दे दिया गया है, हिन्दुओ के साथ बहुत ही अन्याय किया गया है। ऐसे निर्णय या फैसले, या और जो कुछ भी उसे कहा जाय, (उसे निर्णय के नाम से पुकारे जाने पर आपत्ति की गई है) का तीव्र विरोध होना जरूरी था। और चाहे वह हम पर लाद भले ही दिया जाय या राजनैतिक कारणो से, अस्थायी रूप से वह बर्दाश्त कर लिया जाय, फिर भी वह रहेगा हमेशा झगड़े की जड ही। मेरा अपना खयाल है कि इसके पक्ष मे एक ही बात कही जासकती है कि खुद इसकी बुराई ही इसका गुण है और ऐसी हालत मे वह किसी बात का स्थायी आधार बन नही सकता।

नेशनलिस्ट पार्टी, और उससे भी अधिक हिन्दू महासभा और दूसरे साम्प्रदायिक सगठनो ने स्वभावत ही इस जबरदस्ती से लादे गये निर्णय का विरोध किया। लेकिन असल में उनकी आलोचना उसके समर्थको की तरह ब्रिटिश सरकार की विचारसरणि के आधार पर टिकी हुई थी। यह उनको ऐसी विचित्र नीति की ओर ले गई और अब भी आगे लिये जा रही है जिससे सरकर अवश्य ही प्रसन्न हुई होगी। साम्प्रदायिक निर्णय के भूत से परेशान होकर ये लोग इस आशा मे कि सरकार को लालच देने या खुश करने से वह उक्त निर्णय को हमारे पक्ष मे बदल देगी, दूसरे मुख्य विषयो के प्रति अपना विरोध नरम करते जा रहे है। हिन्दू महासभा इस दिशा मे सबसे आगे बढ गई है। उसको यह सूझता मालूम नही पड़ता कि इस नीति का अख्तियार करना सिर्फ अपमानजनक ही नही है बल्कि उससे निर्णय का बदला जाना बहुत ज्यादा कठिन हो जाता है. क्योकि यह मुसलमानो को खिझाता ही है और उन्हे और भी अधिक दूर खीच ले जाता है। सरकार के लिए राष्ट्रीय शक्तियो को अपनी ओर कर सकना मुश्किल है। अन्तर बहुत बडा है और स्वार्थो का सघर्ष बहुत ही साफ है। उसके लिए यह भी मुश्किल है कि साम्प्रदायिक स्वार्थो के सकुचित मसले पर हिन्दू और मुस्लिम दोनो साम्प्रदायिको को खुश कर सके। उसे तो किसी एक को चुनना था, और उसने अपने दृष्टिकोण के अनुसार मुस्लिम सम्प्रदायवादियो का पक्ष चुनना पसन्द किया और ठीक पसन्द किया। क्या वह महज मुठ्ठीभर हिन्दू सम्प्रदायवादियो को खुश करने के लिए अपनी सुनिश्चित और लाभदायक नीति पलट देगी और मुसलमानो को नाखुश करेगी ?

खुद यह बात कि सामूहिक रूप से हिन्दू राजनैतिक दष्टि से बहुत आगे बढ़े हुए

है और राष्ट्रीय आजादी के लिए बहुत जोर देते है, उनके विरुद्ध अवश्य जायगी । नगण्य साम्प्रदायिक रिआयतो के कारण (और नगण्य के सिवाय वे किसी महत्त्व की हो ही नही सकती) उनके राजनैतिक विरोध मे कुछ अन्तर नही पड जायगा; लेकिन ऐसी रिआयते मुसलमानो के रुख मे एक अस्थायी अन्तर पैदा कर देंगी ।

असेम्बली के चुनावो ने दोनो अत्यन्त प्रतिक्रियावादी साम्प्रदायिक सस्थाओ, हिन्दू महासभा और मुस्लिम कान्फ्रेन्स, के हिमायतियो की अत्यन्त स्पष्ट रूप से कलई खोल दी । इसके उम्मीदवार बडे-बडे जमीदारो या साहूकारो से लिये गये थे । महासभा ने हाल ही मे कर्ज-बिल का जोरो मे विरोध करके भी साहूकार वर्ग के प्रति अपनी शुभचिन्तकता बतलाई थी । हिन्दू-समाज के सिरमौर इन छोटे समुदायो से हिन्दू महासभा बनी है और इन्हीके एक भाग या कुछ वकील, डॉक्टर आदि पेशेवाले लोगो से लिबरल-दल बना है । हिन्दुओ पर उनका कोई खास प्रभाव नही है, क्योकि निम्न मध्यम वर्ग में राजनैतिक चेतना जागृत हो गई है । औद्योगिक नेता भी इन लोगो से अलग ही रहते है, क्योंकि नये नये धन्धो और अर्द्ध-माण्डलिक वर्ग की आवश्यकताओ में परस्पर कुछ विरोध रहता है । उद्योग-धन्धे-वाले लोग, सीधे हमले या दूसरे किसी खतरे मे पड़ने का साहस न होने के कारण, राष्ट्रवादियो और सरकार दोनो ही से अपना सम्बन्ध अच्छा रखना चाहते है । वे लिबरल या साम्प्रदायिक दलो पर कोई खास ध्यान नही देते । औद्योगिक प्रगति और लाभ ही उनका मुख्य लक्ष्य रहता है ।

मुसलमानो के निम्न मध्यम वर्ग में यह जागृति अभी होनी है, और औद्योगिक दृष्टि से भी वे लोग पिछडे हुए है । इस तरह हम देखते है कि अत्यन्त प्रतिक्रियावादी, जागीरदार, और सरकारी नौकरियो मे रहे हुए अधिकारी लोग न सिर्फ उनकी साम्प्रदायिक सस्थाओ पर ही कब्जा किये हुए है, बल्कि सारी जाति पर अपना भारी प्रभाव काम में ला रहे है । सरकारी उपाधिधारियो, भूतपूर्व मिनिस्टरो और बडे-बडे जमीदारो के मजमुए का नाम ही मुस्लिम कान्फ्रेन्स है । और फिर भी मेरा खयाल है कि सर्वसाधारण मुस्लिम जनता, शायद सामाजिक विषयो में कुछ स्वतन्त्रता होने के कारण, हिन्दू जनता की अपेक्षा ज्यादा हिम्मत और ताकतवर है । और इसलिए मुमकिन है कि एक बार चेतना मिलते ही वह बडी तेजी से समाजवाद की ओर बढ जायँगे । इस समय तो मुस्लिम शिक्षितवर्ग बौद्धिक और शारीरिक दोनो ही तरह से चेतना-हीन सा होगया है और उसमें कोई स्फूर्त्ति नही रह गई है । अपने पुराने रहनुमाओ के खिलाफ आवाज उठाने का वह साहस कर नही सकता ।

राजनैतिक दृष्टि से सबसे आगे बढी हुई महान् सस्था कांग्रेस के नेता जो पथ-प्रदर्शन

कर रहे है, वह वर्त्तमान अवस्था मे जनता को जैसा नेतृत्व मिलना चाहिए उसकी अपेक्षा कही अधिक फूक-फूककर कदम रखने का है। वे जनता से सहयोग की तो माग करते है, लेकिन उसकी राय जानने या दु ख-दर्द मालूम करने की कोशिश शायद ही करते हो। असेम्बली के चुनाव से पहले उन्होने विभिन्न नरम गैर काँग्रेसियो को अपनी ओर खीचने की गरज से अपने कार्य-क्रम को नरम बनाने की हर तरह से कोशिश की। मन्दिर-प्रवेश बिल जैसे कामो तक के सम्बन्ध मे उन्होने अपना रुख बदल दिया था, और मदरास के महान् कट्टर-पन्थियो तक को शान्त करने के लिए उसके सम्बन्ध मे आश्वासन दिये गये थे। लाग-लपट-रहित और उग्र चुनाव-कार्यक्रम ने कही अधिक उत्साह पैदा किया होता, और जनता को शिक्षित करने मे उससे कही अधिक मदद मिली होती। अब क्योकि कांग्रेस ने पार्लमेण्टरी कार्यक्रम को अपना लिया है, इसलिए असेम्बली मे किसी विषय पर वोट गिने जाने के समय कुछ नगण्य वोट पाजाने की आशा से, उसमे राजनैतिक और सामाजिक दकियानूसो के लिए और भी ज्यादा गुजायश होजायगी, और काँग्रेस के नेताओ और जनता के बीच खाई और भी चौड़ी हो जायगी। असेम्बली मे ज़ोरदार भाषणो की झड़ी लग जायगी, और सर्वोत्तम पार्लमेण्टरी शिष्टता का अनुसरण किया जायगा, समय-समय पर सरकार को हराया जायगा—जिसकी कि सरकार अविचल भाव से उपेक्षा कर देगी, जैसा कि वह पहले से करती आई है।

पिछले कुछ बरसो मे, जबकि काँग्रेस कौसिलो का बहिष्कार कर रही थी, सरकारी मुखिया लोग अक्सर हमसे कहा करते थे कि असेम्बली और प्रान्तीय कौसिले जनता की असली प्रतिनिधि है और लोकमत को प्रदर्शित करती है। लेकिन यह दिल्लगी की बात है कि, अब जब कि असेम्बली मे अधिक प्रगतिशील दल का प्रभुत्व है, सरकारी दृष्टिकोण बदल गया है। जब कभी काँग्रेस को चुनाव मे मिली सफलता का हवाला दिया जाता है, तो हमसे कहा जाता है कि मतदाताओ की सख्या बहुत ही थोडी, तीस करोड या उसके लगभग जनता मे से, केवल तीस लाख ही है। जिन करोड़ो लोगो को वोट देने का हक नही मिला है, सरकार के मतानुसार वे साफ तौर पर अग्रेज़ी सरकार के हामी है। इसका जवाब साफ है। हरेक बालिग व्यक्ति को मत देने का अधिकार दे दिया जाय, और तब पता लग जायगा कि इन लोगो का खयाल क्या है।

असेम्बली के चुनाव के बाद ही भारतीय शासन-सुधारो पर ज्वॉइण्ट पार्लमेण्टरी कमिटी की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इसकी चारो ओर से और भिन्न-भिन्न जो आलोचनाये हुई, उनमे अक्सर इस बात पर जोर दिया गया था कि उससे भारतवासियो के प्रति

'अविश्वास' और 'सन्देह' प्रकट होता है। हमारी राष्ट्रीय और सामाजिक समस्याओ पर विचार करने का मुझे यह तरीका बडा ही विचित्र मालूम हुआ। क्या ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीति और हमारे राष्ट्रीय हितो मे कोई महत्त्वपूर्ण विरोध नही है? सवाल यह है कि इनमे से किसकी बात रहे। स्वतन्त्रता क्या हम महज साम्राज्यवादी नीति को कायम रखने के लिए ही चाहते है? मालूम तो यही होता है कि ब्रिटिश सरकार यही समझे हुए थी, क्योकि हमें सूचित कर दिया गया है कि जबतक हम ब्रिटिश नीति के अनुसार अपना आचरण रक्खेगे और जैसा वह चाहती है, ठीक उसके अनुसार काम करके स्व-शासन के लिए अपनी योग्यता प्रदर्शित करते है, तबतक 'सरक्षणो' का उपयोग नही किया जायगा। अगर भारत में ब्रिटिश नीति को ही जारी रखना है, तब अपने खुद के हाथो मे शासन की बागडोर लेने का यह सब शोरगुल क्यो मचाया जा रहा है?

यह साफ जाहिर है कि ओटावा-पैक्ट, आर्थिक दृष्टि से इंग्लैण्ड के सिवा हिन्दुस्तान के लिए, बहुत लाभकारी नही हुआ है।[१] हिन्दुस्तान के साथ के ब्रिटिश व्यापार को निस्सन्देह लाभ पहुँचा है, और वह पहुँचा है भारत के राजनीतिज्ञो और व्यवसायियो की राय के अनुसार भारत के विस्तृत हितो के बलिदान पर। उपनिवेशो, खासकर कनाडा और आस्ट्रेलिया के सम्बन्ध मे स्थिति इससे उलटी है।[२] उन्होने ब्रिटेन के साथ बडा कडा व्यापारिक सौदा किया और उसे हानि पहुँचाकर अधिकाश लाभ खुद उठाया। इतने पर भी, अपने उद्योग-धन्धो की वृद्धि और साथ ही अन्य

१. सर विलियम करी ने दिसम्बर सन् १६३४ में पी० एण्ड० ओ० जहाज़ी कम्पनी की लन्दन की एक मीटिंग में सभापति की हैसियत से भाषण देते हुए भारतीय व्यापार का उल्लेख करते हुए कहा था कि "ओटावा-पैक्ट ब्रिटेन के लिए निश्चित रूप से लाभप्रद रहा है।"

२. जून सन् १६३४ के लन्दन के 'इकनोमिस्ट' अखबार ने लिखा था कि ओटावा-परिषद् का "समर्थन केवल उसी दशा में किया जा सकता था, जब कि वह बाक़ी दुनिया से साम्राज्य के व्यवसाय का योग घटाये बिना अन्तर्साम्राज्य के व्यवसाय का योग बढ़ाती। वास्तव में वह साम्राज्य के क्षीणोन्मुख व्यापार के सामने बहुत ही थोड़े से अनुपात में अन्तर्साम्राज्यिक व्यापार को उत्तेजना दे सकी है। यह विभाजन भी ग्रेट ब्रिटेन की अपेक्षा कहीं अधिक उपनिवेशों के हित में रहा है। हमारे साम्राज्य का आयात सन् १६३१ के २४,७०,००,००० पौण्ड से बढ़कर सन् १६३३ में २४,६०,००,००० पौण्ड हुआ था। किन्तु निर्यात १७,६०,००,००० पौण्ड से घटकर १६,३५००,००० पौण्ड हो गया था। यह बात भी देखना है कि १६२६ से १६३३ के बीच

देशो के साथ अपना व्यापार बढ़ाने के लिए वे ओटावा और उनके दूसरे फन्दो से छुटकारा पाने का हमेशा प्रयत्न करते रहते हैं।[1] कनाडा में एक प्रमुख राजनैतिक दल, याने लिबरल दल जिसके हाथो मे जल्दी ही शासन सूत्र आ जाने की सम्भावना है, निश्चित रूप से ओटावा-पैक्ट को रद्द करने को वचनबद्ध है।[2] आस्ट्रेलिया मे ओटावा-पैक्ट के अर्थो की खीचातानी के परिणामस्वरूप कुछ तरह के कपडो और सूत पर चुंगी बढा दी गई, जिस पर लकाशायर के वस्त्र-व्यवसायियो की ओर से सख्त नाराजी ज़ाहिर की गई और इसे ओटावा-पैक्ट का भग कहकर उसकी निन्दा की गई। इसीके विरोध और बदले के रूप में लकाशायर मे आस्ट्रेलियन माल के बहिष्कार का आन्दोलन भी शुरू किया गया। आस्ट्रेलिया पर इस धमकी का कुछ भी खास असर नही हुआ, बल्कि इसके खिलाफ वहाँ भी कडा रुख इख्तियार किया गया।[3]

साम्राज्य को हमारा निर्यात ५०·६ फ़ी सदी घटा था, जब कि साम्राज्य से हमारा आयात सिर्फ ३२·६ फ़ी सदी ही घटा था। विदेशों को हमारे निर्यात की कमी कही अधिक कभी नही हुई, किन्तु इन देशों से हमारे आयात की कमी कहीं अधिक थी।"

१. मेलबोर्न का 'एज' नामक पत्र भी ओटावा-पैक्ट को पसन्द नहीं करता। उसकी राय में यह पैक्ट "एक निरन्तर बाधा बन रहा है, और अब दिन-दिन लोग इसे बहुत बड़ी गलती मानते जा रहे हैं।" (१६ अक्तूबर सन् १६३४ के 'मेन्चेस्टर गार्जियन' नामक साप्ताहिक पत्र से उद्धृत।)

२. कनाडा के वर्त्तमान अनुदार प्रधान मन्त्री श्री बेनेट तक व्यापारिक मामलों में ब्रिटिश सरकार के लिए कण्टकरूप हो रहे हैं। वह 'नई योजना' (Now Doals) की चर्चा कर रहे हैं और उनके विचारों में आश्चर्यजनक तब्दीली हो रही है। श्री लिटवीनोव, सर स्ट्रैफर्ड क्रिप्स और श्री जान स्ट्रेची के भयंकर प्रभाव से वे समष्टिवादी बन गये हैं। इसे तमाम अनुदार, उदार और इम्पीरियल सिविल सर्विसवालों को इस बात का सकेत और चेतावनी समझनी चाहिए कि वे इस किस्म के विचार रखना या ऐसे विचार रखनेवालों का साथ देना छोड़ दे, नहीं तो वे खुद ही उन भयकर सिद्धान्तों के समर्थक बन जायेंगे। (उपर्युक्त नोट लिख चुकने के बाद सुना कि कनाडा में श्री किङ्ग के नेतृत्व में लिबरल पार्टी ने चुनाव में गहरी विजय प्राप्त करली है, और शासन-सूत्र अब उसीके हाथ में आगये हैं।)

३. मेलबोर्न के 'एज' नामक पत्र ने लिखा था कि लङ्काशायरवाले अगर अपने प्रस्तावित बहिष्कार को बन्द न करें तो आस्ट्रेलिया को लङ्काशायर के रहे-सहे व्यापार का भी प्रबल बहिष्कार करना ही चाहिए। अविचल दृढ़ता के साथ हमें लङ्काशायर को जवाब देना होगा। (९ नवम्बर १९३४ के साप्ताहिक 'मैन्चैस्टर गर्जियन' से उद्धृत।)

यह स्पष्ट है कि आर्थिक सघर्ष का कारण कनाड़ा और आस्ट्रेलिया के लोगो मे ब्रिटेन के प्रति किसी दुर्भावना का होना नही है; हाँ, आयर्लेण्डवालो मे यह दुर्भावना प्रत्यक्ष है। सघर्ष स्वार्थो के परस्पर विरोध के कारण होता है, और जहाँ कही इस किस्म के हित-विरोध हो, हिन्दुस्तान मे 'सरक्षण' का उद्देश्य, यह देखना रहता है कि ब्रिटिश हित प्रधान रहे। 'सरक्षण' के क्या नतीजे होगे, इसका एक हलका-सा इशारा हाल मे की गई भारतीय-ब्रिटिश व्यापारिक सन्धि से लग जायगा, जिसमे ब्रिटिश-धन्धेवालो की तो खबर थी, लेकिन जो भारतीय व्यवसायियो और उद्योग-धन्धेवालो से छिपाकर की गई थी, और उनके विरोध करते रहने और असेम्बली के रद्द कर देने पर भी सरकार ने अपनी जिद्द से उसे कायम रक्खा। ऐसे सरक्षणो की तो बड़ी ज़बर्दस्त जरूरत कनाड़ा, आस्ट्रेलिया और दक्षिण अफ्रीका मे है, जिससे कि इन उपनिवेशो के लोग न केवल व्यापारिक मामले मे ही, वरन साम्राज्य-रक्षा और उसकी अविच्छिन्नता के महत्त्वपूर्ण विषयो मे भी मनमाना रास्ता अख्तियार न करले।[1]

कहा गया है कि साम्राज्य का अर्थ है 'कर्ज', और सरक्षणो का निर्माण इसीलिए किया गया है कि शाही लेनदार अपने सब विशिष्ट स्वार्थों और शक्तियो को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए अपने अभागे कर्जदार पर अपना ज़बर्दस्त काबू रख सके। एक विचित्र दलील, जो अक्सर सरकार की तरफ से दुहरायी जाती है, यह है कि गाधीजी और काँग्रेस ने ऐसे सरक्षणो के विचार को स्वीकार कर लिया है, क्योकि सन् १९३१ के दिल्ली के गाधी-अर्विन समझौते मे भारत के हित मे 'सरक्षण' की बात स्वीकार की जा चुकी है।

ओटावा-पैक्ट और वाणिज्य-व्यवसाय-सम्बन्धी सरक्षण फिर भी छोटी बाते है।[2] जो कही अधिक महत्त्व की बात है, वह तो है वे बीसियो सुविधायें, जिनका

१. दक्षिण अफ्रीका सघ के रक्षा-सचिव श्री ओ० पीरो ने कहा था कि सघ साम्राज्य-रक्षा की किसी भी आम योजना में भाग नहीं लेगा, न किसी बाहरी युद्ध में ही सहयोग करेगा, फिर भले ही ब्रिटेन उस युद्ध में शामिल क्यों न हो। "अगर सरकार अविचारपूर्वक दक्षिण अफ्रीका को दूसरे बाहरी युद्धों में भाग लेने के लिए मजबूर करे, तो बहुत बड़े पैमाने में अशान्ति फैल जायगी, मुमकिन है गृह-युद्ध छिड़ जाय। इसलिए वह साम्राज्य-रक्षा की किसी आम योजना में भाग नहीं लेगी।" (केपटाउन से ५ फ़रवरी १९३५ को भेजा हुआ रूटर का संवाद) प्रधान सचिव जनरल हर्ट ज़ोग ने इस वक्तव्य की पुष्टि की है, और बताया है कि वह यूनियन सरकार की नीति को ज़ाहिर करता है।

२. लन्दन का 'एकनोमिस्ट' (अक्तूबर १९३४) बतलाता है—"भविष्य के

उद्देश हिन्दुस्तानियो पर अपने हरेक महत्त्वपूर्ण राजनैतिक और आर्थिक प्रभुत्व को, जिसने कि भूतकाल और वर्तमान में उन्हे इस देश के शोषण मे सहायता दी है, स्थायी बना देना है। जबतक ये सुविधाये और 'सरक्षण' बने हुए है, तबतक किसी भी दिशा में वास्तविक उन्नति हो सकना गैरमुमकिन है, और तबदीली के लिए, किसी किस्म के वैध प्रयत्न के लिए कोई जगह ही नही छोडी गई है। ऐसा हरेक प्रयत्न 'सरक्षणो की नगी दीवारो के साथ टकरायगा' और यह दिन-दिन साफ होता जायगा कि केवल वैध मार्ग से ही काम नहीं चलेगा। राजनैतिक सुधार की दृष्टि से यह प्रस्तावित शासन-योजना और इसका भीमकाय सघ एक वाहियात चीज है, और सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से तो यह और भी बदतर है। समाजवाद का रास्ता तो जान-बूझकर रोक दिया गया है। ऊपरी तौर से बहुत कुछ जवाबदेही भी (लेकिन वह भी अधिकतर 'सुरक्षित' श्रेणियो को ही) सौप दी गई है, लेकिन वास्तविक महत्त्व की कोई शक्तियाँ—कुछ कर-धर सकने के साधन नही दिये गये है। विना किसी उत्तरदायित्व के सारी शक्ति इग्लैण्ड अपने हाथो मे रक्खे हुए है। निरकुशता के नगेपन को ढकने के लिए कोई झीनी चादर तक नही है। हरेक आदमी जानता है कि इस समय की सबसे बडी आवश्यकता यह है कि विधान पूरी तरह से लचीला और ग्राह्य-शक्तियुक्त हो जिससे कि वह तेजी से बदलती रहनेवाली अवस्था के अनुकूल हो सके। निर्णय जल्दी होना चाहिए, और हाथ मे उन निर्णयो को अमल मे लाने की शक्ति, होनी भी चाहिए। इतने पर भी इसमे शक है कि पार्लमेण्टरी प्रजातन्त्र भी, जैसा कि आजकल पश्चिम के कुछ देशो मे चल रहा है, आधुनिक विश्व के सुचारु-सचालन के लिए आवश्यक परिवर्तन कर सकने मे सफल हो सकेगा या नही, लेकिन वह प्रश्न हमारे यहाँ नही उठता, क्योकि हमारी गति हथकडी और बेड़ियो से जान-बूझकर रोक दी गई है, और हमारे दरवाजे वन्द करके ताले लगा दिये गये है। हमे ऐसी मोटर देदी गई है, जिसमे सब जगह रोकने के लिए ब्रेक तो काफी लगे हुए है, लेकिन उसे चलानेवाला एंजिन नदारद है। मार्शल-लॉ—फौजी कानून ही जिनका सदा आधार है, ऐसे लोगो का बनाया हुआ यह शासन-विधान है। शस्त्रबल मे विश्वास रखने वाले के लिए मार्शल-लॉ—फौजी कानून—ही उसका असली सहारा है, उसके लिए उसके छोडने का अर्थ है अपना सर्व नाश।

लिए ब्रिटिश राज का एक लाभ यह मालूम होता है कि पृथिवी के अनेक हिस्सों में बसनेवाले मूल निवासियों को हम महगी दर पर लङ्काशायर का माल ख़रीदने के लिए मजबूर कर सकेंगे।" सीलोन इसका सबसे अधिक ज्वलन्त और नया उदाहरण है।

इग्लैण्ड के इस तोहफे से हिन्दुस्तान को किस हदतक आजादी मिली है, इसका पता इसी बात से चल सकता है कि नरम-से-नरम और राजनैतिक दृष्टि से अत्यन्त पिछड़े हुए दलोतक ने इसे प्रगति-विरोधी बताकर इसकी तीव्र निन्दा की है। सरकार के पुराने और कट्टर हिमायतियो को भी इसकी आलोचना करनी पडी है, लेकिन उन्होने की है अपने उसी सदा के खुशामदी ढग के साथ। दूसरे लोगो ने उग्र रूप से विरोध किया है।

नरम दलवालो का जो यह अटल विश्वास था कि भगवान ने हिन्दुस्तान को अग्रेजो के मातहत करने मे अपार बुद्धिमानी से काम लिया है, शासन-विधान की इन धाराओ ने उनके लिए उसपर उतना ही डटा रहना मुश्किल कर दिया है। उन्होने तीव्र आलोचना की, लेकिन असलीयत की अवहेलना करके और सुन्दर शब्दों और लुभावने हाव-भावो मे अनुरक्त होकर, उसमे इसी बात पर सबसे अधिक जोर दिया कि रिपोर्ट और बिल, दोनो मे, 'डोमीनियन स्टेटस' (औपनिवेशिक स्वराज) शब्द गायब हैं। इस सम्बन्ध मे, उनकी तरफ से, बड़ा वावैला मचा था और अब क्योकि सर सैमुअल होर ने इस विषय मे एक वक्तव्य प्रकाशित कर दिया है, बहुत हदतक उससे उनके आत्म-सम्मान की रक्षा हो जायगी। सम्भव है, औपनिवेशिक स्वराज अज्ञात भविष्य के गर्भ मे वास करनेवाली एक झूठी छायामात्र होगी—एक असम्भव से भी असम्भव जगह, जहाँ हम कभी पहुँच नही सकेगे। हाँ, उसके सपने देख सकते है और उसकी अनेक सुन्दरताओं का ओजमय वर्णन कर सकते है। शायद ब्रिटिश पार्लमेण्ट के प्रति मन मे पैदा हुए सन्देहो से परेशान होकर सर तेजबहादुर सप्रू ने अब सम्राट की शरण ली है। क्योकि वह एक अत्यन्त सुयोग्य और कुशल कानूनदां हैं, उन्होने एक नया ही वैधानिक सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। वह कहते हैं—"ब्रिटिश पार्लमेण्ट और ब्रिटिश जनता भारत के लिए कुछ करे या न करें, इन दोनो के ऊपर सम्राट हैं, जो कि भारतीय प्रजा का सदा हितचिन्तन और शान्ति और समृद्धि की आकाक्षा किया करते है।"[१] यह ऐसा सुखद सिद्धान्त है, जो हमे शासन-विधान, कानून और राजनैतिक और सामाजिक क्रान्तियों की झंझटो मे पड़ने से बचाता है।

लेकिन यह कहना भी ठीक नहीं होगा कि नरम दलवालो ने शासन-विधान का विरोध कम कर दिया है। उनमे से अधिकांश ने यह बिलकुल स्पष्ट कर दिया है कि वे मौजूदा हालतों को, बुरी होने पर भी, पसन्द करते है, बनिस्बत उस बिनमांगे तोहफे

१. लखनऊ की, २९ जनवरी १९३५ की एक सार्वजनिक सभा में दिये हुए एक भाषण से।

के जो कि हिन्दुस्तान के सर पर जबरदस्ती लादा जा रहा है। लेकिन इस बात को कहते रहने के सिवा, खुद उनके सिद्धान्त उन्हे आगे बढकर कुछ करने से रोकते है, और यह कहा जा सकता है कि वे उक्त बातो पर जोर देते रहेगे। एक पुरानी कहावत, वर्त्तमान समय के अनुकूल तबदील कर दी जाने पर, उनके मोटो का अच्छा काम दे सकती है और वह है—"अगर एक बार कामयाबी न मिले, तो फिर-फिर चिल्लाओ।"

लिबरल नेताओ और कितने ही दूसरे लोगो ने, जिनमे कि कुछ कांग्रेसवाले भी शामिल है, इग्लैण्ड में मजदूर दल की विजय और मजदूर सरकार की स्थापना पर कुछ आशा बाँध रक्खी है। निस्सन्देह कोई वजह नही है कि हिन्दुस्तान ब्रिटेन के प्रगतिशील दलो के सहयोग से आगे बढने का प्रयत्न क्यो न करे, अथवा मजदूर सरकार के आगमन से लाभ क्यो न उठावे। लेकिन इग्लैण्ड के भाग्यचक्र के परिवर्त्तन पर ही बिल्कुल निर्भर रहना न तो सम्मान की बात है, न राष्ट्रीय गौरव के ही किसी तरह अनुकूल है। और यह कोई अच्छी बुद्धिमानी की बात भी नही है। ब्रिटिश मजदूर दल से हम इतनी ज्यादा आशा क्यो रक्खे ? हम अभी दो बार मजदूर दल की सरकार देख चुके है, और उसके समय हिन्दुस्तान को जो तोहफे मिले है, उन्हे हम भूल नही सकते। श्री रेमजे मेकडानल्ड भले ही मजदूर दल से अलग हो गये हो, लेकिन उनके पुराने साथियो मे भी कोई ज्यादा परिवर्त्तन हुआ दिखाई नही देता। सन् १९३० के अक्तूबर मे साउथपोर्ट में होनेवाली मजदूर दल-कान्फ्रेन्स मे श्री वी० के० कृष्ण मेनन ने यह प्रस्ताव रखा था—"इस कान्फ्रेन्स का यह विश्वास है कि यह बहुत ही जरूरी है कि हिन्दुस्तान मे पूर्ण स्वराज की स्थापना के लिए स्वभाग्य-निर्णय का सिद्धान्त तुरन्त कार्य मे परिणत किया जाय।" श्री आर्थर हेण्डर्सन ने इस प्रस्ताव को वापस ले लेने के लिए बडा जोर दिया और कार्यकारिणी की ओर से अपनी स्वभाग्य-निर्णय की नीति को भारत के लिए उपयोग मे लाने का आश्वासन देने से साफ इन्कार कर दिया। उन्होने कहा—"हम यह बात बहुत ही साफ तौर से बता चुके है कि सम्भव हुआ तो हम हिन्दुस्तान के सब समुदायो से सलाह करेगे। इस बात से सबका समाधान हो जाना चाहिए।" लेकिन लोगो का यह सन्तोष इस तथ्य को सामने रखने से शायद कम हो जायगा कि पिछली मजदूर सरकार और राष्ट्रीय सरकार की भी यही उद्घोषित नीति थी, जिसका परिणाम था राउण्ड टेबल कान्फ्रेन्स, व्हाइट-पेपर, जॉइन्ट पार्लमेण्टरी कमिटी की रिपोर्ट और नया इण्डिया-एक्ट।

यह बिल्कुल स्पष्ट है कि साम्राज्य की नीति के मामलो मे इंग्लैण्ड के अनुदार

और मजदूर-दल में बहुत कम फर्क है। यह सच है कि सर्व-साधारण मजदूर-वर्ग कही अधिक आगे बढा हुआ है, लेकिन अपने अनुदार नेताओ पर उसका असर बहुत ही कम है। यह हो सकता है कि मजदूर दल के उग्र विचारवाले शक्तिसम्पन्न हो जायँ, क्योकि आजकल परिस्थितियाँ बडी तेजी से बदल रही है, लेकिन क्या विलायत के नीति-परिवर्तन के इन्तजार मे, हमारी राष्ट्रीय और सामाजिक प्रगतियाँ अपना प्रवाह बदल दे और सो जायँ ?

हमारे देश के लिबरल दलवाले ब्रिटिश मजदूर दल पर जिस तरह भरोसा किये बैठे है, उसका एक अजीब पहलू है। अगर, इसी फरक से, यह मजदूर दल उग्र विचार का बन जाय और इग्लैण्ड मे अपने समाजवादी कार्यक्रम को कार्य में परिणत कर डाले, तो हिन्दुस्तान में और यहाँ के लिबरल और दूसरे नरम दलो पर उसकी क्या प्रतिक्रिया होगी ? इनमे के अधिकाश लोग सामाजिक दृष्टि से कट्टर पुराण-पन्थी है। वे मजदूर दल के सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनो को पसन्द न करेगे और भारत मे उनके प्रचलित किये जाने से डरेगे। यहाँतक सम्भव हो सकता है कि अगर सामाजिक क्रान्ति ब्रिटिश-सम्बन्ध का लक्षण हो जाय तो शायद इन लोगो की ब्रिटिश-भक्ति समाप्त ही हो जाय। उस दशा मे यह मुमकिन हो सकता है कि मुझ जैसे व्यक्ति जो राष्ट्रीय-स्वतन्त्रता और ब्रिटेन से सम्बन्ध-विच्छेद के हामी है, अपने विचार बदल दे और समाजवादी ब्रिटेन के साथ निकट सम्बन्ध रखना पसन्द करने लगें। निस्सन्देह हममे से किसीको भी ब्रिटिश जनता के साथ सहयोग करने में कोई आपत्ति नही है, यह उनका साम्राज्यवाद है, जिसके कि हम विरोधी है, साम्राज्यवाद को एकबारगी उन्होने धता बताई नही कि सहयोग का मार्ग खुल जायगा। उस समय नरम दलवालो का क्या होगा ? शायद वे नई व्यवस्था को, ईश्वर की अगाध बुद्धि का दूसरा सकेत समझकर, स्वीकार कर लेगे।

गोलमेज कान्फ्रेन्स की कार्रवाई और सघ शासन के विधान का एक खास नतीजा है देशी नरेशो को मैदान मे बहुत आगे ला देना। उनके और उनकी 'स्वतन्त्रता' के प्रति प्रदर्शित कट्टर अनुदारपन्थियो की शुभचिन्तकता ने उनमे एक नया जोश भर दिया है। इससे पहले कभी उनको इतना महत्त्व नही दिया गया था। पहले उनकी मजाल नही थी कि वे ब्रिटिश रेजीडेण्ट के सकेत मात्र तक को अस्वीकार करदे, और अनेक देशी नरेशो के प्रति भारत सरकार का व्यवहार भी साफ़ ही अवहेलनापूर्ण था। उनके भीतरी मामलो में बराबर दस्तंदाजी होती रहती थी, जो अक्सर न्याय-सगत ही ठहराई जाती थी। आज भी अधिकाश रियासतें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूप से 'उधार' दिये हुए अग्रेज-अफ़सरो द्वारा शासित हो रही है। लेकिन ऐसा मालूम होता है कि श्री

चर्चिल और लार्ड रॉदरमियर के आन्दोलन ने सरकार को कुछ घबरा सा दिया है, और इसलिए वह उनके निर्णयो मे हस्तक्षेप करने मे फूंक फूंककर कदम रखने लगी है। देशी नरेश भी अब जरा कही अधिक अकड के साथ बात-चीत करने लगे है।

मैने भारतीय राजनैतिक क्षेत्रो की बाहरी घटनाओ को समझने की कोशिश की है, लेकिन मै अच्छी तरह जानता हूँ कि ये सब बाते कोई असली महत्त्व की नही है। और इन सबकी तह मे रहनेवाली भारत की स्थिति का खयाल मुझे परेशान कर रहा है। असलीयत यह है कि हर तरह की स्वतन्त्रता का दमन हो रहा है, सर्वत्र घोर कष्ट और निराशा फैली हुई है, सद्भावना दूषित की जा रही है, और अनेक प्रकार की हीन वृत्तियो को प्रोत्साहन मिल रहा है। बहुत बडी सख्या मे लोग जेलो मे पडे या अमूल्य यौवन नष्ट कर रहे है और बरसो मे अपने जिगर का खून पी रहे है।[1] उनके परिवार, मित्र और सम्बन्धी और हजारो दूसरे लोगो मे कटुता बढती जा रही है और नग्न पाशविकता के सामने अपनी जलालत और बेबसी की कुत्सित-भावना ने उन्हे घेर लिया है। साधारण समय मे भी अनेक सस्थाये गैरकानूनी करार दे दी गई है और 'सकटकाल के अधिकार' (इमर्जेन्सी पावर्स) और 'शान्ति रक्षा-विधान' (ट्रेंक्विलिटी एक्टस्) सरकारी शस्त्रागार में करीब-करीब स्थायीरूप से शामिल कर लिये गये है। स्वाधीनता पर प्रतिबन्ध लगाने के अपवाद दिन-दिन साधारण नियम से बनते जा रहे है। बहुसख्यक पुस्तकें और पत्रिकाये या तो जब्त

१. होम मेम्बर सर हेरी हेग ने २३ जुलाई १९३४ को बड़ी धारा सभा में जेलों और स्पेशल केम्पों में बन्द नजरबन्दों की सख्या इस प्रकार बतलाई थी—बगाल में १५०० और १६०० के बीच, देवली में ५००, कुल २००० और २१०० के बीच। यह संख्या तो नजरबन्दों की है, जिन पर न तो मुकदमा चलाया गया न सज़ा दी गई। इसमें दूसरे राजनैतिक कैदी शामिल नहीं है। जिन लोगों को सज़ा दी गई है, आमतौर पर उनकी सजा बहुत अधिक है। एसोशिएटेड प्रेस के १७ दिसम्बर १९३४) कथनानुसार कलकत्ता के हाल के एक मामले में हाईकोर्ट ने बिना लाइसेंस हथियार और कारतूस रखने के अपराध में ६ वर्ष की कडी कैद की सजा दी थी। अभियुक्त के पास एक रिवाल्वर और छः कारतूस निकले थे।

इन्ही दिनों (१९३५ के पिछले पक्ष में) नागरिक स्वतन्त्रता का अपहरण करने वाले कई क़ानूनों की मियाद और बढा दी गई। इनमें से मुख्य क्रिमिनल लॉ अमेण्डमेंट एक्ट—सारे हिन्दुस्तान में लागू कर दिया गया है। असेम्बली ने इस क़ानून को ठुकरा दिया था, लेकिन बाद में वाइसराय ने अपने विशेषाधिकार से इसे जायज कर दिया। दूसरे प्रान्तों में भी ऐसे ही क़ानून बनाये गये हैं।

की जा रही है या 'सी कस्टम्स एक्ट' के मातहत उनकी प्रवेश वदी की जा रही है और 'भयकर' साहित्य रखने के अपराध मे लम्बी-लम्बी सजाये दी जाती है। किसी राजनैतिक या आर्थिक प्रश्न पर निर्भीक सम्मति देना अथवा रूस की वर्त्तमान सामाजिक या सास्कृतिक स्थिति की प्रशसात्मक रिपोर्टे सेसर की प्रवल नापसन्दी का शिकार होती है। 'माडर्न रिव्यू' को वगाल सरकार की ओर से महज इसी वात पर चेतावनी दे दी गई है कि उसने श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर का रूस-सम्वन्धी लेख छापा था, वह लेख जो उन्होने स्वय रूस जाकर आने के वाद लिखा था। भारत के उपमन्त्री इस पर पार्लमेण्ट मे फरमाते है कि—"उस लेख मे, भारत मे ब्रिटिश राज्य की नियामतो का विकृतरूप दिखाया गया था" इसलिए उसके खिलाफ कार्रवाई की गई थी।[1] इन नियामतो के निर्णायक सेन्सर महोदय होते है, और हम उनके विरुद्ध मत नही रख सकते या जाहिर नही कर सकते। डब्लिन की सोसाइटी ऑफ फ्रेन्डस् के नाम भेजे गये श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के सक्षिप्त वक्तव्य के प्रकाशन तक पर आपत्ति की गई थी। केवल सास्कृतिक विषयो मे रुचि रखने, और जान-बूझकर अपने को राजनीति से अलग रखनेवाले और न केवल हिन्दुस्तान वल्कि समस्त ससार मे सम्मानित और विख्यात श्री रवीन्द्र जैसे सन्त कवि तक को जव इस तरह दवाया जाता है, तब बिचारे असहाय जन-साधारण का तो कहना ही क्या? सरकार ने आतक का जो वातावरण वना रक्खा है वह तो दमन के इन वास्तविक नमूनो से भी कही ज्यादा बदतर है। निष्पक्ष पत्र-सञ्चालन ऐसी परिस्थिति मे असम्भव है;[2] न इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति या मौजूदा समस्याओ का ही ठीक-ठीक अध्ययन हो सकता है। सुधार, उत्तरदायी शासन और ऐसी ही बातो की शुरूआत करने के लिए यह एक वडा विचित्र वातावरण बनाया गया है।

हरेक समझदार आदमी जानता है कि ससार इस समय एक विचार क्रान्ति के मध्य मे है, और हमेशा मौजूदा परिस्थितियो के प्रति, अस्पष्ट या स्पष्ट रूप से अनुभूत घोर असन्तोष फैल रहा है। हमारे देखते-ही-देखते बडे महत्त्व के परिवर्त्तन

१. १२ नवम्बर १९३४

२. ४ सितम्बर १९३५ को असेम्बली में हिन्दुस्तान में प्रेस एक्ट के प्रयोग के सम्बन्ध में एक सरकारी वक्तव्य दिया गया था। उसमें बताया गया था कि सन् १९३० के बाद ५१४ समाचार पत्रों पर ज़मानत और ज़ब्ती आदि का प्रयोग हुआ था। इनमें से २४८ पत्र बन्द कर देने पड़े, क्योंकि वे और अधिक जमानत की रक़म की व्यवस्था न कर सके; बाक़ी के १६६ पत्रों ने ज़मानत देदीं, जो २,५२,८५३ रुपये की रक़म थी!

हो रहे है, और भविष्य, चाहे उसका रूप कुछ ही हो, बहुत दूर नही है—वह कोई ऐसी दूर की चीज नही है, जो मस्तिष्क मे निरी शास्त्रीय दिलचस्पी पैदा करता हो। यह एक ऐसी वस्तु है, जिसका प्रत्येक व्यक्ति के हित अथवा अहित से सम्बन्ध होगा, इसलिए निश्चय ही प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि आज जो विभिन्न शक्तियाँ काम कर रही है उन्हे वह समझे और अपना कर्त्तव्य-पथ निश्चित करे, पुरानी दुनिया खत्म होने जा रही है और एक नये ससार का निर्माण हो रहा है। किसी समस्या का जवाब ढूढने के लिए यह जरूरी है कि पहले यह जान लिया जाय कि वह है क्या। निस्सन्देह समस्या का समझना उतना ही महत्त्व रखता है, जितना कि उसका हल निकालना।

अफसोस है कि हमारे राजनीतिज्ञ दुनिया की समस्याओ से आश्चर्यजनक रूप से नावाकिफ है, या उनके प्रति उदासीन है। सम्भवत. यह अज्ञान अधिकाश सरकारी अफसरो तक बढा हुआ है, क्योकि सिविल सर्विसवाले बडे मजे से और सन्तोष के साथ अपने ही छोटे-से संकुचित दायरे मे रहना पसन्द करते है। केवल सर्वोच्च अधिकारियो को ही इन समस्याओ पर विचार करना पडता है। ब्रिटिश सरकार को तो अवश्य ही लिखी हुई घटनाओ का ध्यान रखना पडता है और उन्हीके अनुसार अपनी नीति निर्धारित करनी पडती है। यह दुनिया जानती है कि ब्रिटिश वैदेशिक नीति पर हिन्दुस्तान के आधिपत्य और उसकी रक्षा का बहुत बडा प्रभाव रहता है। भला कितने भारतीय राजनीतिज्ञ यह विचारने की तकलीफ गवारा करते है कि जापान के साम्राज्यवाद, या रूस के सोवियट-सघ की बढती हुई ताकत, या स्यागकियाग में होनेवाले ब्रिटिश-रूस-जापानी षड्यन्त्र अथवा मध्य एशिया या अफगानिस्तान या फारस की घटनाओ का हिन्दुस्तान की राजनैतिक समस्या के साथ अत्यन्त गहरा सम्बन्ध है? मध्य एशिया की स्थिति का प्रत्यक्ष परिणाम कश्मीर पर पडता है, इसलिए वह ब्रिटिश सरकार की साधारण और रक्षण नीति का आधार-स्तम्भ बन गई है।

किन्तु इससे भी अधिक महत्त्व के है वे आर्थिक परिवर्त्तन, जो आज सारे ससार में हो रहे हैं। हमें जान लेना चाहिए कि उन्नीसवी सदी का तौर-तरीका गुजर चुका है और वर्त्तमान अवश्यकतायें इसके जरिये पूरी नही की जा सकती। वकीलो का नजीरे दे-देकर शुरू करने का तरीका, हिन्दुस्तान मे इतना अधिक प्रचलित है, जो अब, जब कि यहाँ नजीरे नही रही है, कुछ काम का नही रहा। बैलगाडी को रेल की पटरी पर रखकर उसे रेलगाडी नही कहा जा सकता। इसको नाअसली समझकर छोड देना होगा, और इसका स्थान दूसरे को देना होगा। रूस के सिवा भी 'नवीन-योजनाओ' और महान् परिवर्त्तनो की चर्चा हो रही

है। सब प्रकार से पूजीवादी प्रणाली को कायम रखने और मजबूत करने की दिली इच्छा से प्रेसीडेण्ड रूजवेल्ट ने अत्यन्त साहसपूर्वक ऐसी योजनाये प्रचलित की है, जिससे अमेरिका का सारा जीवन ही बदल सकता है। उसने "अत्यधिक विशिष्ट अधिकार-प्राप्त वर्ग को उखाड फेकने और पददलित निम्न वर्ग को सक्रिय रूप से उन्नत बनाने की" घोषणा की है। वह सफल हो या न हो, यह बात दूसरी है, लेकिन उस व्यक्ति का साहस और अपने देश को पुरानी लीक से बाहर खीच निकालने की उसकी महत्त्वकाक्षा अवर्णनीय है। अपनी नीति बदलने या अपनी भूलो को स्वीकार करने मे भी वह नही हिचकिचाता। इग्लैण्ड मे श्री लायड जार्ज अपना 'न्यू डील' (नई योजना) लेकर सामने आये है। हम भारत में भी अनेक नई योजनाये चाहते है। यह पुरानी धारणा कि "जो कुछ जानने योग्य है, वह सब जान लिया गया है, और जो कुछ करने योग्य है, वह सब कुछ किया जा चुका है" एक भयकर बेवकूफी है।

हमे बहुत-सी समस्याओ का सामना करना है और वह हमे बहादुरी के साथ करना चाहिए। क्या आज की सामाजिक और आर्थिक प्रणाली को जिन्दा रहने का कोई अधिकार है जब कि वह जन-साधारण की अवस्था को अधिकतर उन्नत करने में असमर्थ है? क्या कोई दूसरी प्रणाली इस प्रकार व्यापक प्रगति का आश्वासन देती है? केवल राजनैतिक परिवर्तन से किस हद तक क्रान्तिकारी प्रगति हो सकती है? अगर किसी प्रमुख आवश्यक परिवर्तन के रास्ते मे स्थापित स्वार्थवाले बाधक हो तो क्या यह बुद्धिमानी और नैतिकता होगी कि जन-समूह की दु ख-दरिद्रता की कीमत पर उनको कायम रखने का प्रयत्न किया जाय? अवश्य ही उद्देश्य स्थापित स्वार्थो को आघात पहुँचाना नही है, वरन उनको दूसरे लोगो पर आघात करने से रोकना है। यदि इन स्थापित स्वार्थो से समझौता हो सकना मुमकिन हो सकता हो, तो वह कर लेना अत्यन्त वाञ्छनीय होगा। लोग भले ही इसके भलाई-बुराई के सम्बन्ध मे मतभेद रक्खे, लेकिन समझौते की समाजिक उपयोगिता मे बहुत कम को सन्देह होगा। साफ है कि समझौता यह इसप्रकर नही हो सकता कि एक नया स्थापित स्वार्थ कायम करके दूसरे स्थापित हित को हटाया जाय। जब कभी भी मुमकिन और जरूरी हो, समझौते के लिए उपयुक्त मुआवजा दिया जा सकता है, क्योकि झगड़े से अधिक हानि होने की सम्भावना है। मगर, अफसोस है, कि सारा इतिहास यह बताता है कि स्थापित हितवाले ऐसे समझौते स्वीकार नही करते। वे वर्ग, जो कि समाज के प्रमुख अग नही रह गये है, काफी विवेकशून्य होते है। वे सब कुछ या न कुछ के लिए अपने प्राणो की बाजी लगा देते है और इस तरह अपना अन्त कर लेते है।

जब्ती आदि के सम्बन्ध मे बहुत-सी 'असम्बद्ध चर्चा' (जैसाकि कांग्रेस कार्य-

समिति ने अपने एक प्रस्ताव मे कहा था) हो रही है। लेकिन जब्ती—मुस्तकिल और मुतवातिर जब्ती, तो मौजूदा प्रणाली का आधार है, और इसका अन्त करने के लिए ही सामाजिक क्रान्ति की वात कही जा रही है। हर रोज मजदूरो के गाढे पसीने की कमाई जब्त की जा रही है, और इस हदतक लगान और मालगुजारी बढाकर कि किसान उसके अदा करने मे असमर्थ हो जायँ, उसकी जोत जब्त करली जाती है। पहले कुछ व्यक्तियो ने सार्वजनिक भूमि पर कब्जा कर लिया और उससे वडी-वडी जमीदारियाँ वनाली, इस तरह भू-स्वामी किसान भी उखाड फेंके गये। साराश यह कि जब्ती ही मौजूदा प्रणाली का आधार है, वही उसका प्राण है।

इसको कुछ हदतक सुधारने के लिए समाज कुछ सामयिक उपाय काम मे लाता है, जो स्वय ही जब्ती के रूपक है, जैसे भारी टैक्स, विरासत-कर, कर्ज से छुटकारा दिलाने का कानून, मुद्रा-वृद्धि आदि। हाल ही मे हमने राष्ट्रो को इन्कार करते, अपरिमित कर्ज की अदायगी से इन्कार करते देखा है, केवल रूस का सोवियट सघ ही नही, वरन अग्रणी पूजीपति राष्ट्र तक इन्कार कर गये है। सबसे अधिक उज्ज्वल उदाहरण ब्रिटिश सरकार का है, जिसने सयुक्त राष्ट्र अमेरिका का कर्ज अदा करने से इन्कार कर दिया है—खुद अग्रेजो द्वारा हिन्दुस्तान के सामने रक्खा गया एक भयकर उदाहरण। लेकिन इन सब जब्तियो से और कर्जो को इस तरह रद्द कर देने से, सिर्फ कुछ हद तक ही मदद मिलती है, आधारभूत कारणो से छुटकारा नही मिलता। नये-निर्माण के लिए तो जड पर ही कुठाराघात करना होगा।

मौजूदा हालत वदलने का उपाय निश्चित करते समय हमे भौतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से उसकी उपयोगिता का अन्दाजा करना होगा। बहुत सकुचित दृष्टि बनाये रखने से हमारा काम चल नही सकता—हमे दूरदर्शी बनना होगा। हमे देखना होगा कि इस परिवर्तन से, भौतिक और आध्यात्मिक दृष्टियो से मनुष्य को सुख-समृद्धि की वृद्धि मे कहाँतक सहायता मिलेगी। लेकिन हमे इस बात का भी सदा ध्यान रखना होगा कि मौजूदा व्यवस्था को न बदलकर, हमारे निराशामय और कुत्सित जीवन, भुखमरी और गरीबी और आध्यात्मिक तथा नैतिक पतन के गहन भार सहित उसे ज्यो-का-त्यो चलते रहने देने के लिए, हमे कितनी जबर्दस्त कीमत चुकानी पडती है। हमेशा प्रवाहित होनेवाली प्रलय की बाढ की तरह वर्तमान आर्थिक व्यवस्था अगणित मानव प्राणियो को लगातार कुचलती हुई तबाही की ओर लिये जा रही है। हम इस जल-प्रलयकारी बाढ को रोक नही सकते या हममे से कुछ लोग बालटी से पानी ऊलीच-ऊलीचकर इन प्राणियो को बचा नही सकते। बाँध

बनवाने होंगे, नहरे निकालनी होंगी, जल की नाशक शक्ति को बदलना और मनुष्य की भलाई के लिए उसका प्रयोग करना होगा।

यह स्पष्ट है कि समाजवाद जो महान् परिवर्त्तन लाना चाहता है, वह कुछ कानूनो के सहसा पास कर लेने मात्र से नही हो सकता। लेकिन और आगे बढने और इमारत की नीव रखने के लिए कानून बनाने की मूल सत्ता का हाथ मे होना जरूरी है। अगर समाजवादी समाज का महान् निर्माण करना है, तब तो वह न तो भाग्य के भरोसे पर छोडा जा सकता है, न रुक-रुककर, जितना कुछ बनाया गया है उसे तोड़ने का अवसर देते हुए, काम करने से वह पूरा हो सकता है। इस तरह प्रमुख रुकावटो को हटाना होगा। हमारा उद्देश्य किसीको वञ्चित करना नही, वरन सम्पन्न करना है, वर्त्तमान दरिद्रता को सम्पन्नता मे बदल देना है। लेकिन ऐसा करने के लिए रास्ते मे से सब रुकावटो और स्वार्थो को, जो कि समाज को पीछे रखना चाहते है, जरूर ही हटाना होगा। और जो रास्ता हम अख्तियार कर रहे है, वह सिर्फ इस प्रश्न पर निर्भर नही है कि हम क्या पसन्द करते है या क्या पसन्द नही करते, अथवा न केवल सैद्धान्तिक न्याय पर ही, वरन इस बात पर निर्भर होगा कि वह आर्थिक दृष्टि से ठीक हो, उन्नति की तरफ ले जा सकने योग्य हो और जिससे ज्यादा-से-ज्यादा जन-समाज का कल्याण हो सके।

हितों अथवा स्वार्थो का सघर्ष अनिवार्य है। कोई बीच का रास्ता नही है। हममे से हरेक को अपना रास्ता चुनना होगा। लेकिन चुनने से पहले हमे उसे जानना होगा, समझना होगा। समाजवाद की भावुकतामय अपील से काम नही चलेगा। उसके साथ-साथ प्रमाणो और अको से पुष्ट आलोचना सविवेक और युक्तियुक्त तफसीली विवेचन भी होना चाहिए। पश्चिम मे तो इस तरह का साहित्य बहुतायत से मौजूद है, लेकिन भारत मे उसका भयकर अभाव है, और बहुत-सी अच्छी-अच्छी किताबो का यहाँ आना रोक दिया गया है। लेकिन विदेशो की पुस्तको का पढना ही काफी नही है। अगर भारत मे समाजवाद का निर्माण होना है, तो वह भारतीय अवस्थाओ के आधार पर ही होगा और इसके लिए उनका बारीकी से अध्ययन होना आवश्यक है। हमे इसके लिए ऐसे विशेषज्ञो की जरूरत है, जो गहरे अध्ययन के बाद एक सर्वांगीण योजना तैयार कर सके। बदकिस्मती से हमारे विशेषज्ञ अधिकाश मे सरकारी नौकरियो मे या अर्द्ध सरकारी यूनीवर्सिटियो मे फँसे हुए है, और वे इस दिशा मे आगे बढ़ने का साहस नही कर सकते।

समाजवाद की स्थापना करने के लिए केवल बौद्धिक वातावरण ही काफी नही है। दूसरी शक्तियाँ भी आवश्यक है। लेकिन मैं यह जरूर महसूस करता हूँ कि

बिना उस आधार के किसी हालत मे भी हम विषय का मर्म नही समझ सकते, और न कोई जोरदार हलचल ही पैदा कर सकते है। इस क्षण तो खेती की समस्या हिन्दुस्तान की सबसे अधिक महत्त्व की समस्या है, और शायद भविष्य मे भी ऐसी ही रहे। किन्तु औद्योगिक समस्या भी कम महत्त्व की नही है और वह बढती ही जा रही है। हमारा लक्ष्य क्या है—कृषि-प्रधान राष्ट्र या उद्योग-प्रधान राष्ट्र ? अवश्य ही, मुख्यत तो हमे कृषि-प्रधान ही रहना होगा, लेकिन उद्योग की ओर भी आगे बढा जा सकता है, और मैं समझता हूँ, अवश्य बढना चाहिए।

हमारे उद्योग-धन्धो के मालिक लोग अपने विचारो में आश्चर्यजनक रूप से पिछड़े हुए है, वे आधुनिक दुनिया के 'अप-टू-डेट' पूँजीपति भी नही है। साधारण लोग इतने निर्धन है कि वे उनको पक्का ग्राहक नही मानते, और मजदूरी की वृद्धि और काम के घण्टो की कमी करने की किसी भी माग का वे जबर्दस्त विरोध करते है। इन्ही दिनो कपडे की मिलो मे काम का समय दस घण्टे से घटाकर नौ घण्टे कर दिया गया है। इस पर अहमदाबाद के मिल मालिको ने मजदूरो की,—फुटकरिये मजदूरो तक की मजदूरी घटा दी है। इस तरह काम के घण्टो की कमी का अर्थ हुआ बेचारे मजदूर की आमदनी की कमी और उसके जीवन के रहन-सहन का और भी नीचा स्टेण्डर्ड। लेकिन रेशनलाइजेशन (अर्थात् औद्योगिक एकीकरण), मजदूर की उचित मजदूरी बढाये बिना ही, उसपर काम का भार और उसकी थकान बढाता हुआ, तेजी से बढता जारहा है। सब उद्योगवादियो का दृष्टिकोण उन्नीसवी सदी के शुरू जमाने का-सा है। जब मौका आता है, वे अनाप-शाप लाभ उठाते है, और मजदूर वैसे-का-वैसा बना रहता है, लेकिन अगर कोई आफत आजाती है, तो मालिक लोग यह शिकायत करने लगते है कि मजदूरी घटाये बिना काम नही चल सकता। उनको सरकार की तो मदद ही है, हमारे मध्यम श्रेणी के राजनीतिज्ञो की सहानुभूति भी आमतौर पर उन्हीकी ओर है। इतने पर भी अहमदाबाद मे सूती मिलो के मजदूरो की अवस्था कही अधिक अच्छी है बनिस्वत बम्बई या दूसरी जगह के। आमतौर पर सभी सूती मिल मजदूरो की हालत बगाल के जूट मिलो के और कोयले की खानो के मजदूरो से अच्छी है। छोटे-छोटे, असगठित उद्योग-धन्धो के मजदूर औद्योगिक परिमाण मे सबसे नीचे दर्जे के है। कपड़े और जूट के करोडपति मालिको के गगनचुम्बी प्रासादो और विलासी जीवन और शान-शौकत की अगर अध-नंगे मजदूरो के रहने की काल-कोठरियो से तुलना की जाय तो उससे गहरी शिक्षा मिल सकती है। लेकिन हम इस अन्तर को स्वाभाविक मान लेते है और उससे किसी प्रकार विचलित या प्रभावित हुए बिना उसकी उपेक्षा कर देते है।

हिन्दुस्तान के मजदूर-वर्ग की हालत इतनी खराब है, लेकिन आर्थिक दृष्टि से वह किसान-समुदाय की हालत से कही अच्छी है। किसान-समुदाय को एक लाभ जरूर है, वह यह कि वह खुली हवा मे रहता है और गन्दी वस्तियो के पतित जीवन से वच जाता है। लेकिन उसकी हालत इतनी गिर गई है कि, वह अक्सर अपने स्वच्छ वायुमण्डलवाले गाँव को भी, गाधीजी के शब्दो मे, गोवर का ढेर वना डालता है। उसमे सहयोग या मिलकर सामाजिक हित का काम करने की भावना ही नही होती। इसके लिए उसकी निन्दा करना आसान है, लेकिन वह वेचारा करे भी तो क्या, जवकि जीवन खुद ही इसके लिए एक अत्यन्त कटु और लगातार व्यक्तिगत सघर्ष का विषय वन गया है और हरेक आदमी उसपर प्रहार करने के लिए हाथ उठाये खडा है? किस तरह वह अपनी जिन्दगी विता रहा है, यही अत्यन्त आश्चर्य की वात है। देखा गया है कि सन् १९२८–२९ में पजाव के ठेठ किसान की औसत आमदनी नौ आना थी। लेकिन १९३०–३१ मे वह गिर कर तीन पैसे प्रति व्यक्ति हो गई! पजाव के किसान युक्तप्रान्त, विहार और वगाल के किसानो की अपेक्षा कही अधिक खुशहाल माने जाते है। युक्तप्रान्त के कुछ पूर्वी जिलो (गोरखपुर वगैरा) मे, मन्दी आने से पहले समृद्धि के दिनो मे मजदूरी दो आना रोज थी। मानव-प्रेम या ग्रामोन्नति के स्थानीय प्रयत्नो द्वारा इस दर्दनाक हालत को उन्नत करने की वाते करना वेचारे किसान और उसकी बेवसी का मजाक उडाना है।

हम इस दलदल से किस तरह निकल सकते है? ऐसी गिरी हुई हालत से जन-समूह को उठाना कठिन तो अवश्य है, लेकिन उसका कुछ उपाय तो सोचना ही होगा। लेकिन असली दिक्कत तो उस स्वार्थी समुदाय की तरफ से आती है, जो तब-दीली का विरोधी है, और साम्राज्यवादी सत्ता की अधीनता में रहते हुए तवदीली का हो सकना गैर-मुमकिन-सा मालूम होता है। आगामी वर्षों मे भारत क्या रुख अख्तियार करेगा? समाजवाद और फासिज्म इस युग की प्रधान वृत्तिया मालूम होती है, और मध्यममार्ग तथा ढिलमिल-यकीन समुदाय लुप्त होते जा रहे है। सर मालकम हेली ने भविष्यवाणी की थी कि हिन्दुस्तान राष्ट्रीय-समाजवाद को ग्रहण करेगा जो एक प्रकार का फासिज्म ही है। निकट भविष्य के लिहाज से तो शायद उनका कहना ठीक ही है। देश के नवयुवक और युवतियो मे फासिस्ट भावना साफ प्रकट है—खासकर वगाल मे और किसी हद तक दूसरे प्रान्तो मे भी, और कॉग्रेस मे भी उसकी झलक आने लगी है। फासिज्म का सम्वन्ध उग्र रूप की हिंसा से होने के कारण कॉंग्रेस के वड़े-बूढे, जिन्होने अहिंसा का व्रत ले रक्खा है, स्वभावतः ही उससे डरते है। लेकिन फासिज्म का, कार्पोरेट स्टेट का, यह कथित तात्त्विक आधार कि व्यक्तिगत

सम्पत्ति कायम रहे और स्थापित स्वार्थो का लोप न होकर राज्य का उनपर नियन्त्रण रहे, शायद उन्हे पसन्द आजायगा। शुरू मे ही देखने पर यह तो बड़ा सुन्दर ढग मालूम होता है, जिससे कि पुराना तरीका बना भी रहे और नया भी मालूम हो। रोटी खा भी लो और उसे बनाये भी रक्खो, ये दोनो बाते एकसाथ मुमकिन भी है या नही, यह बात दूसरी है।

फासिज्म को अगर सचमुच प्रोत्साहन मिला तो वह मिलेगा मध्यम श्रेणी के नवयुवको से। वस्तुत इस समय हिन्दुस्तान मे जो क्रान्तिकारी है वह मध्यम श्रेणी का ही भाग है, मजदूर या किसान वर्ग का उतना नही, हालाँकि कल-कारखानो के मजदूर-वर्ग मे इसकी शक्यता अधिक है। यह राष्ट्रवादी मध्यम श्रेणी फासिस्ट विचारो के प्रचार के लिए उपयुक्त क्षेत्र है। किन्तु जबतक विदेशी सरकार बनी हुई है, योरप के ढँग का फासिज्म यहाँ नही चल सकेगा। भारतीय फासिज्म भारतीय स्वतन्त्रता का अवश्य ही हामी होगा, और इसलिए ब्रिटिश साम्राज्यवादिता से वह अपनेको मिला न सकेगा। इसे जन-साधारण से सहायता लेनी पडेगी। यदि ब्रिटिश सत्ता सर्वथा उठ जाय तो फैसिज्म बडी तेजी से बढेगा, क्योकि मध्यमश्रेणी के उच्चवर्ग तथा स्थापित स्वार्थो से इसे सहायता अवश्य मिलेगी।

लेकिन ब्रिटिश सत्ता के शीघ्र उठ जाने की सम्भावना नही है, और इस बीच सरकार के उग्र दमन के बाद भी समाजवादी और कम्यूनिस्ट विचारो का भी जोरो से प्रचार हो रहा है। भारत मे कम्यूनिस्ट पार्टी (साम्यवादी सस्था) गैर कानूनी करार दे दी गई है, और साम्यवादी शब्द का इतना लचीला अर्थ लगाया जाता है कि उससे सहानुभूति रखनेवाले और उन्नत-प्रोग्रामवाले मजदूर सघो तक को शामिल कर लिया जाता है।

फासिज्म और साम्यवाद, इन दोनो मे से मेरी सहानुभूति बिलकुल साम्यवाद की ओर है। इस पुस्तक के इन्ही पृष्ठो से मालूम हो जायगा कि मै साम्यवादी होने से बहुत दूर हूँ। मेरे सस्कार शायद एक हद तक अब भी उन्नीसवी सदी के है और मानववाद [१] की उदार-परम्परा का मुझपर इतना ज्यादा प्रभाव पडा है कि मै उससे बिलकुल बचकर निकल नही सकता। यह मध्यमवर्गीय सस्कार मेरे साथ लगे

१. मानववाद (Humanism) वह विचारधारा अथवा कार्य-पद्धति है जिसमें आधिकदैविक अथवा धार्मिक दृष्टिकोण से देखने की अपेक्षा मानवहित को अपना अपना मुख्य दृष्टिकोण माना जाता है। अर्थात् इस मत के अनुसार मनुष्य प्राणी के हिताहित पर ही सब वस्तुओं की उपयोगिता-अनुपयोगिता नापी जानी चाहिए।

रहते हैं और इसलिए स्वभाव से ही बहुत-से साम्यवादी मित्रों की खिझलाहट के कारण बने हुए हैं। कट्टरता को मैं नापसन्द करता हूँ, और कार्ल मार्क्स के लेख या और किसी दूसरी पुस्तक को ईश्वरीय वाक्य समझना, जिसको कि चेलेञ्ज न किया जा सके, और सैनिक अन्धानुकरण और स्वमत-विरोधियों के खिलाफ जिहाद, जो कि आज के साम्यवाद के प्रधान लक्षण से बन गये हैं, मुझे पसन्द नहीं हैं।

मूल्यों के सिद्धान्त (Theory of Value) या दूसरे किन्हीं बातों में मार्क्स का विवेचन गलत हो सकता है, मैं उसका निर्णय करने के लिए उपयुक्त नहीं हूँ, फिर भी मैं समझता हूँ कि समाज-विज्ञान मे उसकी एक असाधारण और अत्यन्त गहन गति थी और प्रत्यक्ष में इसका कारण थी वह वैज्ञानिक शैली जो उसने अख्तियार की थी। अगर इस शैली के अनुसार पूर्व इतिहास या वर्त्तमान घटनाओं का अध्ययन किया जाय तो अन्य किसी भी प्राप्त शैली की अपेक्षा वह जल्दी हो सकेगा, और यही कारण है कि आधुनिक जगत् मे होनेवाले परिवर्त्तनों का जो आलोचनात्मक और शिक्षाप्रद विवेचन हो रहा है, वह मार्क्स-मतानुयायी लेखकों की ओर से ही हो रहा है। यह कहना आसान है कि मार्क्स ने, मध्यमवर्ग मे होनेवाली क्रान्तकारी भावनाओं की जागृति, जो आज इतनी प्रत्यक्ष है, और ऐसी ही कुछ दूसरे प्रवृत्तियों की उपेक्षा की अथवा उनका महत्व कम आँका है। लेकिन मार्क्सवाद की सबसे बडी विशेषता जो मुझे मालूम होती है, वह है उसमे कट्टरता का अभाव होना, निश्चित दृष्टिकोण पर आग्रह रखना और उसकी क्रियाशीलता। यह दृष्टिकोण हमे अपने समय के समाज-सगठन को समझने में सहायता कर सकता है और काम करने का तरीका और बाधाओं से बचने का उपाय बता सकता है।

लेकिन कार्य का वह तरीका भी स्थायी अथवा अपरिवर्त्तनीय नहीं है, बल्कि उसे स्थिति के अनुकूल बनाया जा सकता है। कम-से-कम लेनिन की यही राय थी और उसने परिवर्त्तित परिस्थितियों के अनुसार काम करके बुद्धिमत्तापूर्वक इसे साबित भी कर दिया। वह हमसे कहता है कि "किसी खास अवसर की वास्तविक परिस्थिति का, विकास की एक विशेष सीमा तक पहुँच जाने पर, विस्तृत रूप से विचार किये बिना, किसी सघर्ष के निश्चित साधनों के प्रश्न पर 'हाँ,' या 'ना' कह देना मार्क्स-पद्धति का बिलकुल उल्लघन करना है।" उसने फिर कहा है—"दुनिया मे कोई भी पूर्ण नहीं है, परिस्थितियों से हमे शिक्षा लेनी होगी।"

इस विस्तृत और व्यापक दृष्टिकोण के कारण ही एक सच्चा समझदार साम्यवादी व्यक्ति, एक हद तक सामाजिक जीवन की सजीव भावना जगाता है। राजनीति उसके लिए तात्कालिक हानि-लाभ का लेखा या अंधेरे मे टटोलने

की चीज नही रह जाती। जिन आदर्शो और लक्ष्यो को पूरा करने के लिए वह प्रयत्न करता है, वे उसके लिए परिश्रम और उसके प्रसन्नतापूर्वक किये हुए बलिदान को सार्थक और सफल बनाते है। वह समझता है कि वह उस महान् सेना का एक अग है जो मनुष्यजाति का भाग्य और उसका भविष्य रचने के लिए आगे बढ रही है, और 'इतिहास के साथ कदम-ब-कदम चलने' की उसमे बुद्धि है।

शायद अधिकाँश कम्यूनिस्ट इन सब बातो को नही समझते। शायद लेनिन ही ऐसा शख्स था जो जीवन की इस सजीव भावना को पूरी तरह समझता था, जिसने कि उसके प्रयत्नो को इतना कारगर बनाया। फिर भी, कुछ हद तक, हरेक कम्यूनिस्ट, जो उसके आन्दोलन के तत्त्व को समझ सका है, इन बातो को जानता है।

बहुत-से कम्यूनिस्टो के साथ सब्र के साथ पेश आसकना बहुत मुश्किल है, उन्होने दूसरो को चिढाने देने का अजीब ढग अख्तियार कर लिया है। लेकिन वे भी बुरी तरह सताये हुए आदमी है, और रूस के सोवियट-सघ के बाहर, उन्हे अनगिनती कठिनाइयो का मुकाबिला करना पडता है। मैंने इनके महान् साहस और बलिदान की शक्ति को हमेशा सराहा है। करोडो भाग्य हीनो की तरह वे भी अनेक प्रकार से बहुत मुसीबते उठाते है, लेकिन किसी क्रूर और सर्व शक्तिसम्पन्न दैव मे अन्ध-श्रद्धा रखकर नही। मर्दो की तरह वे मुसीबतो का सामना करते है, और उनके इस मुसीबत बरदाश्त करने में एक करुण गौरव रहता है।

रूस के समाजवादी प्रयोगो की सफलता-असफलता का मार्क्स के सिद्धान्तो पर कोई जाहिरा असर नही पडता। यह हो सकता है, हालाँकि इसकी अधिक सम्भावना नही है, कि प्रतिकूल परिस्थितियो या राष्ट्र-शक्तियो का इकट्ठा हो जाना उन प्रयोगो को तहस-नहस कर डाले। लेकिन उस महान् सामाजिक उथल-पुथल का महत्त्व फिर भी बना ही रहेगा। वहाँ अधिकतर जो कुछ भी हुआ, उसके प्रति मेरी स्वाभाविक अरुचि होते हुए भी मै यह समझता हूँ कि वह ससार के लिए ज्यादा से ज्यादा आशा का सदेश देता है। मुझे रूस का पूरा ज्ञान नही है, और न मै अपने आपको उसके कार्यो का उपयुक्त निर्णायक ही समझता हूँ। मेरा अन्देशा तो यह है कि अत्यधिक हिंसा और दमन का वातावरण उनके पीछे कही ऐसी भयकर लीक न छोड जाय, जिससे उनका पीछा छुडाना मुश्किल हो जाय। लेकिन सबसे बडी बात जो रूस के वर्तमान भाग्य-विधाताओ के पक्ष मे कही जा सकती है, वह यह है कि वे लोग अपनी भूलो से शिक्षा ग्रहण करने मे नही हिचकते। वे अपना क़दम पीछे ले सकते है, और फिर नये सिरे से शुरू कर सकते है। अपने आदर्श को वे हमेशा अपने सामने रखते है। कम्यूनिस्ट इण्टरनेशनल—अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादीसघ—द्वारा दूसरे देशो

मे उठायी गई उनकी प्रगतिया नितान्त असफल रही है, और अब तो वैसी प्रगतिया घटते-घटते कम-से-कम रह गई है।

और फिर हिन्दुस्तान मे तो कम्यूनिज्म और समाजवाद अभी दूर की बात है, बशर्ते कि बाहर की घटनाये उसे कदम आगे बढाने को विवश न करदे। हमे अपने यहाँ कम्यूनिज्म का सामना नही करना है, वरन उससे बढकर सम्प्रदायवाद का करना है। साम्प्रदायिकता की दृष्टि से हिन्दुस्तान एक गहरे अन्धकार मे है। प्रभावशाली लोग निकम्मी बातो, साजिशो और हथकण्डे फैलाने मे यहाँ अपनी शक्ति बरबाद कर रहे है और इनमे एक-दूसरे को मात देने की कोशिश कर रहे है। उनमे से विरले ही ऐसे होगे जो दुनिया को ऊँचा उठाने और अधिक उज्ज्वल बनाने के प्रयत्न मे दिलचस्पी रखते हो। लेकिन शायद यह तो एक अस्थायी हालत है, जो कि शीघ्र ही मिट जायगी।

कम-से-कम कॉंग्रेस इस साम्प्रदायिक अन्धकार से ज्यादातर दूर ही है, लेकिन उसका दृष्टिकोण निम्न बुर्जुआ जैसा है, और इसके, तथा दूसरी समस्याओ के लिए जो उपाय वह सोचती है, वे भी निम्न बुर्जुआई ढग के-से ही है। मगर इस ढग से उसका सफल हो सकना मुमकिन नही मालूम होता। वह आज इस निम्न मध्यम श्रेणी की प्रतिनिधि है, क्योकि इस समय इसीकी आवाज बुलद है और यही सबसे अधिक क्रान्तिकारी है। लेकिन फिर भी वह इतनी ताकतवर नही है, जितनी कि वह दिखाई देती है। वह दोनो ओर—एक सबल और सुरक्षित और दूसरी अब भी कमजोर लेकिन बढती हुई—दो शक्तियो से दबाई जा रही है। इस समय वह अपने अस्तित्व के खतरे मे से गुजर रही है; भविष्य मे उसका क्या होगा, यह कह सकना कठिन है। जबतक वह अपने महान् उद्देश, राष्ट्र की आजादी, की प्राप्ति को पूरा नही कर लेती, तबतक वह उन सुरक्षित शक्तियो की ओर जा नही सकती। लेकिन इसके पहले कि वह इसमे सफलता हासिल करे यह मुमकिन है कि दूसरी शक्तियाँ जोर पकड़ ले और उसे अपनी ओर खिचने के लिए प्रभावित करले। या धीरे-धीरे उसकी जगह लेले। लेकिन, यह सभव मालूम होता है कि जबतक राष्ट्रीय स्वतन्त्रता बहुत कुछ अशो मे प्राप्त नही हो जाती, तबतक कॉंग्रेस एक मुख्य शक्ति बनी रहेगी।

कोई भी हिंसाजनक प्रवृत्ति अनावश्यक, हानिकर और शक्ति की बरबादी मालूम होती है। मेरा खयाल है कि असफल और इक्की-दुक्की हिंसा के कुछ उदाहरणो के होते हुए भी हिन्दुस्तान ने आम तौर पर इस प्रवृत्ति की निरर्थकता को समझ लिया है। वह रास्ता हमे हिंसा और प्रतिहिंसा की निराश भूल-भुलैयाँ मे डालने के सिवा, जिससे कि निकल सकना मुश्किल होगा, और कही नही ले जा सकता।

हमसे अक्सर यह कहा जाता है कि हमको आपस मे एक सूत्र मे बध जाना चाहिए और सबको 'मिलकर मुकाविला' करना चाहिए। श्रीमती सरोजिनी नायडू अपनी सारी कवि-सुलभ भावुकता के साथ इसका जोरो से प्रचार करती है। वह कवि है, इसलिए प्रेम और एकता के महत्त्व पर ज़ोर देने का उन्हे अधिकार है। इसमे शक नही कि 'सयुक्त मुकाविला' हमेशा ही वाछनीय वस्तु है, वशर्ते कि वह मुकाविला हो। इस वाक्य का विश्लेषण किया जाय तो उससे इसी नतीजे पर पहुँचते है कि जो कुछ चाहा जाता है वह है भिन्न-भिन्न वर्गो के चोटी के व्यक्तियो का पारस्परिक शर्तनामा या समझौता। ऐसे मजमूए का लाज़िमी नतीजा यह होगा कि अत्यन्त शकाशील और नरम लोग लक्ष्य का निर्णय और पथप्रदर्शन करेगे। जैसाकि सबको पता है, उनमे से कुछ लोग हर तरह के आन्दोलन को नापसन्द करते है, इसलिए नतीजा होगा 'सयुक्त अवरोध' अर्थात् सब हलचलो का रुक जाना—'सयुक्त सामने' के बजाय 'सयुक्त पीठ दिखाने' का एक व्यापक प्रदर्शन होगा।

अवश्य ही यह कहना बेवकूफी होगी कि हम लोग दूसरो के साथ सहयोग या समझौता न करेगे। जीवन और राजनीति दोनो ही इतने गूढ है कि उनका सरलता से समझा जा सकना हमेशा मुश्किल है। लेनिन जैसे कट्टर आदमी तक ने कहा था कि "विना समझौता किये या मार्ग वदले आगे कुछ करना मानसिक छिछोर-पन है, और क्रान्तिकारी वर्ग की गम्भीर कार्य-कुशलता के विरुद्ध है।" समझौते लाज़िमी है, पर हमे उनके सम्वन्ध मे वहुत अधिक परेशान होने की जरूरत नही है। हम समझौता करे या उससे इनकार कर दें, यह एक गौण वात है। असली वात तो यह है कि मुख्य वस्तुओ को हमेशा पहला स्थान मिलना चाहिए, और गौण वस्तुये उनका स्थान कभी न लेने पावे। अगर हम अपने सिद्धान्त और ध्येय पर दृढ है तो अस्थायी समझौते कुछ नुकसान नही पहुँचा सकते। लेकिन खतरा यही है कि कही हम अपने कमजोर भाइयो की अप्रसन्नता के डर से अपने सिद्धान्तो और ध्येयो से पीछे न हट जायँ। किसीको गुमराह करना कही ज्यादा बुरा है, बनिस्बत किसी को नाखुश करने के।

मैं प्रचलित घटनाओ के सम्बन्ध में सरसरी तौर पर और कुछ हद तक तात्त्विक दृष्टि से लिख रहा हूँ और एक दूर बैठे हुए दर्शक की तरह तटस्थ रहने की कोशिश करता हूँ। आम तौर पर यह खयाल है कि जब कार्य मुझे अपनी ओर बुलाता है, तब मैं तमाशबीन नही बना रहता, वल्कि अक्सर मुझसे कहा गया है, कि मेरा दोष यह है कि काफी उत्तेजना के बिना ही मै बेवकूफी से उसमे कूद पडता हूँ। मैं अब क्या करूँगा, और अपने देशबन्धुओ को क्या करने की सलाह दूँगा, यह सब

निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। शायद सार्वजनिक कामो मे लगे हुए व्यक्ति की स्वाभाविक सतर्क वृत्ति मुझे समय से पहले ही किसी बात से वचन-बद्ध हो जाने मे रोक देती है। लेकिन अगर मैं सचाई के साथ कहूँ तो कहना होगा कि सचमुच मैं कुछ नही जानता, न जानने की कोशिश ही करता हूँ। जब मैं काम कर नही सकता, तब परेशान क्यो होऊँ? जरूर ही मैं एक बहुत हद तक तो परेशान होता हूँ, लेकिन यह अनिवार्य है। कम-से-कम जबतक मैं जेल मे हूँ, तबतक तो, मैं तत्काल-निर्णय की समस्याओ के चक्कर मे फँसने से बचने की कोशिश करता हूँ।

जेल मे रहते हुए सब हलचलो से दूर रहना पड़ता है। यहाँ मनुष्य को घटनाओ का शिकार होकर रहना पडता है, कार्य का विषय बनकर नही, भविष्य मे कुछ होने की आशा मे रह-रहकर इन्तजार करना पडता है। मैं हिन्दुस्तान और सारी दुनिया की राजनैतिक और सामाजिक समस्याओ पर लिख रहा हूँ, लेकिन जेल की अपनी इस छोटी-सी दुनिया को, जो कि एक अर्से से मेरा घर बन गई है, इस सबसे क्या वास्ता? कैदियो की एक ही बात मे खास बडी दिलचस्पी रहती है, और वह है उनकी अपनी रिहाई की तारीख का खयाल।

नैनी जेल मे और यहाँ अलमोडा मे भी बहुत-से कैदी मेरे पास 'जुगली' के बारे मे पूछने को आया करते थे। पहले तो मैं समझ ही नही सका कि यह 'जुगली' क्या चीज है; लेकिन बाद को मुझे खयाल आया कि वह जुबिली है। वे बादशाह जार्ज की सिलवर जुबिली मनाई जाने की अफवाहो की ओर निर्देश करते थे, लेकिन उसे समझते न थे। पिछले उदाहरणो के कारण उनके लिए उसका एक ही अर्थ था—कुछ लोगो की जेल से मुक्ति या सजा मे काफी कमी। इसलिए हरेक कैदी, और खासकर लम्बी अवधिवाले कैदी, आगे आनेवाली 'जुबली' के बारेमे बडे उत्सुक थे। उनके लिए शासन-सुधार-विधान, पार्लमेण्ट के कानून और समाजवाद और कम्यूनिज्म की बनिस्बत यह 'जुगली' कही ज्यादा महत्त्व की चीज थी।

उपसंहार

हमें कर्म करने का आदेश है, किन्तु यह क्षमता हमें नहीं दी गई है कि हम अपने कार्यों को पूरा कर सकें।

तालमद

मैं अपनी कहानी की समाप्ति पर पहुँच गया हूँ। अपनी जीवन यात्रा का, अधिकतर अपने से ताल्लुक रखनेवाला, यह विवरण, जैसा कुछ भी यह है, अलमोडा जिला जेल के अपने निवास के आज दिन—१४ फरवरी १९३५—तक का है। तीन महीने पहले, आज के ही दिन मैंने इस जेल मे अपनी पैंतालीसवी वर्षगाठ मनाई थी, और मैं खयाल करता हूँ कि अभी मुझे और भी कई बरस जीना है। कभी-कभी उम्र और थकान का खयाल मुझपर गालिब आ जाता है, लेकिन फिर मैं अपनेको उत्साह और चैतन्य से भरपूर महसूस करने लगता हूँ। मेरा शरीर काफी गठीला है और मेरे दिमाग़ मे सदमो को पार कर जाने की क्षमता है, इसलिए मैं समझता हूँ कि मैं अभी काफी अर्से तक जिन्दा रहूँगा, बशर्ते कि कोई अघटित घटना न घट जाय। लेकिन इसके पहले कि भविष्य के सम्बन्ध मे कुछ लिखा जाय उसका उपभोग कर लिया जाना जरूरी है।

मेरे ये साहसिक काम शायद बहुत उत्तेजना पैदा करनेवाले नही रहे है, कई बरसो के जेल-निवास को साहसिक कार्य का नाम नही दिया जा सकता और न वे किसी तरह अद्वितीय ही हुए है, क्योकि इन बरसो को मैंने, उनके सब उतार-चढाव सहित, अपने हजारो देश-भाइयो और बहनो के साथ बिताया है, और इसलिए जुदी-जुदी भावनाओ, और हर्ष-विषाद, प्रचण्ड हलचलो और बरबस एकान्तवास का यह वर्णन, हम सबका सयुक्त वर्णन है। मैं जन-समूह मे का ही एक व्यक्ति रहा हूँ, उसके साथ काम करता रहा हूँ, कभी उसका नेतृत्व कर उसे आगे बढाता रहा हूँ, कभी उससे प्रभावित होता रहा हूँ, और फिर भी, दूसरी इकाइयो की तरह दूसरो से अलग जन-कोलाहल के बीच मे अपना पृथक् जीवन व्यतीत करता हूँ। हम अक्सर भिन्न-भिन्न रूप में प्रकट हुए है, और उनके अनुसार अपने अनेक रग बताये है, लेकिन हमने जो कुछ किया उसमे बहुत कुछ असलीयत थी, बहुत सचाई थी, और उसने हम नाचीज़ प्राणियो को ऊँचा उठा दिया, हमे अधिक सजीव बना दिया और इतना महत्त्व दे दिया जो कि अन्यथा हमे मिल नही सकता था। कभी-कभी हमें जीवन की उस पूर्णता को अनुभव करने का सौभाग्य मिला जो आदर्शो को कार्यरूप में परिणत करने से होती है और हमने समझ लिया कि इससे भिन्न कोई भी दूसरा ऐसा जीवन

बिताना, जिसमे इन आदर्शों का परित्याग करके किसी महान् शक्ति के सामने दीनता-अधीनता ग्रहण करनी होती, अपने अस्तित्व को नष्ट करना होता, असन्तोष और अन्त क्लेश से भरा होता।

इन वर्षों मे मुझे बहुत-से तोहफो के साथ-साथ एक अनमोल तोहफा यह भी मिला है कि मैं जीवन को अधिकाधिक महत्त्व का प्रयोग समझने लगा हूँ, जहाँ इतना सीखने को मिलता है। क्रमोन्नति की भावना मुझमें हमेशा रही है, वह अब भी मुझमे है और मेरी हलचलो, उसी तरह पुस्तको के पठन-पाठन मे रुचि पैदा करती है और आम तौर पर जीवन को जीने योग्य बनाती है।

'मेरी कहानी' के लिखने में मैंने हरेक घटना पर जो मनोभाव और विचार उठते थे, उन्हे देने का—जहाँतक सम्भव हो सकता था उस समय के अपने भाव स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। किसी बीते हुए मनोभाव को फिर से याददाश्त पर लाना कठिन है, और बाद मे आनेवाली घटनाओ को भुलाना सरल नही है। इस तरह मेरे आरम्भिक दिनो के वर्णन पर पिछले विचारो का प्रभाव जरूर पडा होगा, लेकिन मेरा उद्देश्य, खासकर अपने ही लाभ के लिए, अपने मानसिक विकास को अकित करना था। मैंने जो कुछ लिखा है, शायद वह इस बात का इतना वर्णन नही है, कि मैं क्या रह चुका हूँ, जितना इस बात का कि कभी कभी मैं कैसा होना चाहता था, या कैसा होने की कल्पना करता था।

कुछ महीनो पहले सर सी० पी० रामस्वामी ऐयर ने अपने एक सार्वजनिक भाषण मे कहा था कि मै जनता के भावो को प्रदर्शित नही करता, बल्कि और भी अधिक खतरनाक व्यक्ति, अपने आत्म-बलिदानो, आदर्शवाद और आत्मविश्वास की दृढता के कारण, जिसे कि उन्होने 'आत्मसम्मोहन' कहा था, हो गया हूँ। 'आत्म-सम्मोहन' से ग्रस्त व्यक्ति शायद ही अपने सम्बन्ध मे निर्णय कर सकता है और किसी भी हालत मे मैं इस व्यक्तिगत मामले मे सर रामस्वामी के साथ बहस-मुबाहिसे मे न पडना चाहूँगा। बहुत बरसो से हम एक-दूसरे से मिले नहीं है, लेकिन बहुत अर्से पहले एक समय था जबकि हम दोनो होमरूल लीग के सयुक्त मन्त्री थे। उसके बाद को बहुत घटनाये घट चुकी है और रामस्वामी चक्करदार जीनो को पार करते हुए गगनचुम्बी मीनार पर चढते-चढते चोटी तक जा पहुँचे, जबकि मैं पृथिवी पर ही, पृथिवी का साधारण प्राणी बना हुआ हूँ। सिवा इसके कि हम दोनो एक राष्ट्रवासी है अब उनमें और मुझमे कोई समानता नही रही है। वह अब, पिछले कुछ बरसो से भारत मे ब्रिटिश-राज्य के जबरदस्त हामी है, भारत और उससे बाहर दूसरी जगह डिक्टेटरशिप के समर्थक है और खुद भी एक देशी रियासत मे स्वेच्छा-

चारिता के चमकदार आभूपण बने हुए है। मै समझता हूँ, हम अधिकाश बातो मे मतभेद रखते है, लेकिन एक साधारण से मामले मे हम सहमत हो सकते है। उनका यह कहना बिल्कुल सच है कि मै जनता का प्रतिनिधि नही हूँ। इस विपय मे मुझे कोई भ्रम नही है।

निस्सन्देह, कभी-कभी मै यह सोचने लगता हूँ कि दरअसल क्या मै किसीके भी भाव को प्रदर्शित करता हूँ, और मै इसी नतीजे पर पहुँचता हूँ कि, नही, मै वैसा नही करता। यह बात दूसरी है कि बहुत-से लोग मेरे प्रति कृपा और मैत्रीपूर्ण भाव रखते है। मै पूर्व और पश्चिम का एक अजीब-सा सम्मिश्रण—मिक्सचर—बन गया हूँ, हर जगह बेमौजू—अपने घर में कही का भी नही-सा। शायद मेरे विचार और जीवन का मेरा रास्ता पूर्वी की अपेक्षा पश्चिमी अधिक है, लेकिन हिन्दुस्तन जैसा कि वह अपने सब बच्चो के हृदय मे रहता है, अनेक रूप से मेरे हृदय में भी है और अन्तर के किसी अनजान कोने मे, कोई सौ, (या सख्या कुछ भी हो) पीढियो के ब्राह्मणत्व की जातीय स्मृतिया छिपी हुई है। मै अपने पिछले सस्कार और नूतन अभिज्ञान से मुक्त हो नही सकता। ये दोनो मेरे अग हो गये है, और जहाँ वे मुझे पूर्व और पश्चिम दोनो से मिलने मे सहायता करते है, वहाँ साथ ही, न केवल सार्वजनिक कार्यो मे बल्कि खुद जीवन मे भी एक आध्यात्मिक निरानन्दता का भाव पैदा करते है! पश्चिम मे मै विदेशी हूँ—अजनवी हूँ। मै उसका हो नही सकता। लेकिन अपने देश मे भी मुझे कभी-कभी ऐसा लगता है मानो मै कहीका निर्वासित हूँ।

सुदूर पर्वत सुगम्य और उनपर चढना सरल मालूम होता है, उसका शिखर आवाहन करता दिखाई देता है, लेकिन, ज्यो-ज्यो हम उसके नजदीक पहुँचते है, कठिनाइया दिखाई देने लगती है, और जैसे-जैसे ऊँचे चढते जाते है, चढाई ज्यादा-से-ज्यादा मालूम होने लगती है और शिखर बादलो मे छिपता नजर आने लगता है। फिर भी चढाई प्रयत्न किये जानेयोग्य है और उसका अपना एक विचित्र आनन्द और एक विचित्र सन्तोष है। शायद जीवन को महत्त्व देनेवाली चीज सघर्ष ही है, अन्तिम परिणाम इतना नही। अक्सर यह जानना मुश्किल होता है कि सही रास्ता कौन-सा है, कभी-कभी यह जानना ज्यादा आसान होता है कि कौन-सा रास्ता सही नही है, और दरअसल जिसमे कुछ सचाई है, उसे नजर अन्दाज कर दिया जाता है। अत्यत नम्रता के साथ मै महान् सुकरात के अन्तिम शब्दो का उल्लेख करना पसन्द करूँगा। उसने कहा था—"मै नही जानता कि मृत्यु क्या चीज है—वह कोई अच्छी चीज हो सकती है, और मुझे इसका कोई भय नही है। लेकिन मै यह जानता हूँ कि किसीके उज्ज्वल भूतकाल को नष्ट कर देना बुरा है, इसलिए जिसके बारे मे मै जानता हूँ कि

बुरी है उसकी अपेक्षा जो अच्छी हो सकती है उसे मैं अपनाना पसन्द करता हूँ।"

बरसो मैंने जेल मे बिताये है। अकेले बैठे हुए, अपने विचारो मे डूबे हुए, कितनी ऋतुओ को मैंने एक दूसरे के पीछे आते-जाते और अन्त मे विस्मृति के गर्भ मे लीन होते देखा है! कितने चन्द्रमाओ को मैंने पूर्ण विकसित और क्षीण होते देखा है और कितने झिल-मिल करते तारामण्डल को अबाध और अनवरत गति और शान के साथ घूमते देखा है! मेरे यौवन के कितने अतीत दिवसो की यहाँ चिता-भस्म बनी हुई है, और कभी-कभी मै इन अतीत दिवसो की प्रेत आत्माओ को उठते हुए, अपनी दु खद स्मृतियो को साथ लाते हुए, कान के पास आकर यह कहते हुए सुनता हूँ "क्या यह करनेयोग्य था"! और इसका जवाब देने में मुझे कोई झिझक नही है।

अगर अपने मौजूदा ज्ञान और अनुभव के साथ मुझे अपने जीवन को फिर से दुहराने का मौका मिले, तो इसमे शक नही कि मैं अपने व्यक्तिगत जीवन मे अनेक तबदीलियाँ करने की कोशिश करूँगा, जो कुछ मैं पहले कर चुका हूँ, उसको कई तरह से उन्नत करने का प्रयत्न करूँगा, लेकिन सार्वजनिक विषयो में मेरे प्रमुख निर्णय ज्यो-के-त्यो बने रहेगे। निस्सन्देह, मैं उन्हे बदल नही सकता, क्योकि वे मेरी अपेक्षा कही अधिक जबर्दस्त है, और मेरे काबू से बाहर की सत्ता ने मुझे उस ओर खीचकर उन-तक पहुँचाया है।

मेरी सजा को आज पूरा एक बरस हो गया, सजा के दो बरसो मे से एक बरस बीत गया है। दूसरा पूरा एक बरस अभी बाकी है, क्योकि इस बार रिआयती दिन न कटेगे, सादी सजा मे इस तरह दिन नही काटते। इतना ही नही, पिछली अगस्त मे जो ग्यारह दिन मैं बाहर रहा था, वे भी मेरी सजा की अवधि मे बढा दिये गये है। लेकिन यह साल भी बीत जायगा और मैं जेल से बाहर हो जाऊँगा—मगर उसके बाद? मैं नही जानता, लेकिन एक ऐसा भाव उठता है कि मेरे जीवन का एक अध्याय समाप्त हो गया है, और दूसरा आरम्भ होगा। वह क्या होगा, यह मैं स्पष्ट अनुमान नही कर सकता। मेरी जीवन-कथा के—'मेरी कहानी' के ये पन्ने अब समाप्त होते है।

कुछ और

वेडनवीलर, स्वार्टस्वाल्ट

२५ अक्तूबर, १९३५

पिछले मई महीने मे मेरी पत्नी भुवाली से योरप इलाज कराने के लिए गई। उसके योरप चले जाने से मेरा भुवाली जाना वन्द हो गया, पहाड़ी सडको पर मेरा हर पखवारे आवागमन बन्द हो गया। वह मुझे अव दिखाई न देती थी, और अलमोडा-जेल मेरे लिए अब पहले से भी ज्यादा सुनसान हो गया।

क्वेटा के भूकम्प की खबर मिली, जिसने कुछ समय के लिए दूसरी सब बाते भुला दी। लेकिन अधिक समय के लिए नही, क्योकि भारत सरकार हमे उसको या उसके विचित्र तरीको को, भूलने नही देती। फौरन ही मालूम हुआ कि काँग्रेस के सभापति बाबू राजेन्द्रप्रसाद को, जो कि भूकम्प सहायता का काम हिन्दुस्तान के प्राय. किसी भी अन्य मनुष्य से अधिक जानते है, क्वेटा जाने और पीडितो की सहायता करने की इजाजत नही दी गई। न गाधीजी या अन्य किसी प्रसिद्ध सार्वजनिक कार्य-कर्त्ता को ही वहाँ जाने दिया गया। क्वेटा-भूकम्प के बारे मे लेख लिखने के कारण कई भारतीय अखबारो की जमानते जब्त करली गईं।

जिधर देखिए उधर सब ओर फौजी मनोवृत्ति, पुलिस-दृष्टिकोण दिखाई देता था—असेम्बली, मे सिविल शासन मे, सीमान्त पर बम वरसाये जाने मे, सबमे, इसीका बोलबाला था। ज्यादातर ऐसा मालूम होता था, मानो हिन्दुस्तान मे अग्रेजी सरकार हिन्दुस्तानी जनता के एक बडे समुदाय से मुतवातिर लडाई लड रही है।

पुलिस एक काम की और आवश्यक शक्ति है, लेकिन वह दुनिया, जो पुलिस के सिपाहियो और उनके डडो से भरी हो, शायद रहने के लिए उपयुक्त स्थान न होगी। अक्सर यह कहा गया है कि शक्ति का अनियन्त्रित प्रयोग प्रयोग-कर्त्ता को गिरा देता है, क्योकि इससे वह जिसके विरुद्ध इसका प्रयोग करता है उसे ज़लील और हीन बना देता है। इस समय हिन्दुस्तान मे ऊँची नौकरिया, खासकर भारतीय सिविल-सर्विस वालो के दिन-पर-दिन बढते जानेवाले नैतिक और बौद्धिक पतन के सिवा शायद ही कोई बात मार्के की दिखाई देती हो। खासतौर पर ऊँचे अफसरो मे यह सबसे अधिक पाई जाती है, लेकिन आमतौर पर सभी नौकरियो मे यह एक जाल की तरह फैली हुई है। जब कभी किसी ऊँचे पद पर नये आदमी की नियुक्ति का समय आता है, तब निश्चितरूप से वही आदमी पसन्द किया जाता है, जो इस नई मनोवृत्ति का सबसे अच्छा परिचायक होता है।

गत ४ सितम्बर को यकायक मैं अलमोडा-जेल से छोड दिया गया, क्योंकि यह समाचार मिला था कि मेरी पत्नी की हालत नाजुक हो गई है। स्वार्टस्वाल्ट (जर्मनी) के बेडनवीलर स्थान पर उसका इलाज हो रहा था। मुझसे कहा गया कि मेरी सजा मुल्तवी करदी गई है, और मैं अपनी रिहाई के साढे पाच महीने पहले छोड दिया गया। मैं फौरन हवाई जहाज से योरप को रवाना हुआ।

योरप इस समय हर तरह से अशान्त है, युद्ध और उपद्रवो की आशंकाये और आर्थिक सकट के बादल क्षितिज पर हमेशा ही मडराते रहते है; अबीसीनिया पर धावे हो रहे हैं और वहाँ की जनता पर बम-वर्षा की जा रही है। अनेक साम्राज्यवादी सत्ताये आपस मे टकरा रही है और एक-दूसरे के लिए खतरनाक बनी हुई है, और अपनी अधीन जनता पर निर्दय अत्याचार करनेवाला, उसपर बम बरसानेवाला इग्लैंड, साम्राज्यवादी सत्ताओ का सिरमौर इग्लैंड, शान्ति और राष्ट्रसघ की दुहाइयाँ दे रहा है। लेकिन यहाँ इस 'ब्लैक फारेस्ट' मे शान्ति और निस्तब्धता का राज्य है, यहाँतक कि जर्मनी का प्रसिद्ध चिन्ह स्वस्तिक भी नजर नही आता। मै देख रहा हूँ कि उपत्यका से कोहरा उठकर फ्रास के सुदूर सीमान्त को छिपाता हुआ दिखनेवाले भू-प्रदेश को ढक रहा है और मै हैरत में हूँ कि उस पार क्या है ?

परिशिष्ट—क

[२६ जनवरी १९३०, पूर्ण स्वाधीनता-दिवस, का प्रतिज्ञा-पत्र] २९-१९

"हम भारतीय प्रजाजन भी अन्य राष्ट्रो की भाति अपना यह जन्म-सिद्ध अधिकार मानते है कि हम स्वतत्र होकर रहे, अपनी मेहनत का फल हम खुद भोगे और हमे जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक सुविधाये मिले जिससे हमे भी विकास का पूरा-पूरा मौका मिले। हम यह भी मानते हैं कि अगर कोई सरकार ये अधिकार छीन लेती है और प्रजा को सताती है तो प्रजा को उस सरकार के बदल देने या मिटा देने का भी हक है। हिन्दुस्तान की अग्रेजी सरकार ने हिन्दुस्तानियो की स्वतन्त्रता का ही अपहरण नही किया है, वल्कि उसका आधार भी गरीबो के रक्तशोषण पर है और उसने आर्थिक, राजनैतिक, सास्कृतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से हिन्दुस्तान का नाश कर दिया है। इसलिए हमारा विश्वास है कि हिन्दुस्तान को अग्रेजो से सम्बन्ध-विच्छेद करके पूर्ण स्वराज्य या मुकम्मिल आजादी प्राप्त कर लेनी चाहिए।

"भारत की आर्थिक बरबादी हो चुकी है। जनता की आमदनी को देखते हुए उससे बेहिसाब कर वसूल किया जाता है। हमारी औसत दैनिक आय सात पैसे है और हमसे जो भारी कर लिये जाते है उनका २० फी सदी किसानो से लगान के रूप मे और ३ फी सदी गरीबो से नमक-कर के रूप मे वसूल किया जाता है।

"हाथ-कताई आदि ग्राम-उद्योग नष्ट कर दिये गये है। इससे साल मे कम-से-कम चार महीने किसान लोग बेकार रहते है। हाथ की कारीगरी नष्ट हो जाने से उनकी बुद्धि भी मद हो गई और जो उद्योग इस प्रकार नष्ट कर दिये गये है उनकी जगह दूसरे देशो की भाति कोई नये उद्योग जारी भी नही किये गये है।

"चुँगी और सिक्के की व्यवस्था इस प्रकार की गई है कि उससे किसानो का भार और भी वढ गया। हमारे देश मे बाहर का माल अधिकतर अग्रेजी कारखानो से आता है। चुगी के महसूल में अग्रेजी माल के साथ साफ तौर पर पक्षपात होता है। इसकी आय का उपयोग गरीबो का बोझा हलका करने मे नही, वल्कि एक अत्यत अपव्ययी शासन को कायम रखने में किया जाता है। विनिमय की दर भी ऐसे मनमाने तरीके से निश्चित की गई है कि जिससे देश का करोडो रुपया बाहर चला जाता है।

"राजनैतिक दृष्टि से हिन्दुस्तान का दर्जा जितना अग्रेजो के ज़माने मे घटा है उतना पहले कभी नही घटा था। किसी भी सुधार-योजना से जनता के हाथ में असली राजनैतिक सत्ता नही आई। हमारे वडे-से-वडे आदमी को विदेशी सत्ता के

सामने सिर झुकाना पडता है। अपनी राय आजादी से जाहिर करने और आजादी से मिलने-जुलने के हमारे हक छीन लिये गये है और हमारे बहुत-से देशवासी निर्वासित कर दिये गये है। हमारी सारी शासन की प्रतिभा मारी गई है और सर्व-साधारण को गावो के छोटे-छोटे ओहदो और मुशीगिरी से सन्तोष करना पड़ता है।

"सस्कृति के लिहाज से शिक्षा-प्रणाली ने हमारी जड ही काट दी और हमें जो तालीम दी जाती है उससे हम अपनी गुलामी की जजीरो को ही प्यार करने लगे है।

"आध्यात्मिक दृष्टि से, हमारे हथियार जबरदस्ती छीनकर हमे नामर्द बना दिया गया। विदेशी सेना हमारी छाती पर सदा मौजूद रहती है। उसने हमारी मुकाबिले की भावना को वडी बुरी तरह से कुचल दिया है। उसने हमारे दिलो मे यह बात विठा दी है कि हम न अपना घर सम्हाल सकते है और न विदेशी हमलो से देश की रक्षा कर सकते है। इतना ही नही, चोर, डाकू और बदमाशो के हमलो से भी हम अपने बाल-बच्चो और जान-माल को नही बचा सकते। जिस शासन ने हमारे देश का इस तरह सर्वनाश किया है, उसके अधीन रहना हमारी राय मे मनुष्य और ईश्वर दोनो के प्रति जुर्म है। किन्तु हम यह भी मानते है कि हमे हिंसा के द्वारा स्वतत्रता नही मिलेगी। इसलिए हम ब्रिटिश सरकार से यथा-सभव स्वेच्छा-पूर्वक किसी भी प्रकार का सहयोग न करने की तैयारी करेगे और सविनय अवज्ञा और करबन्दी तक के साज सजायगे। हमारा पक्का विश्वास है कि अगर हम राजी-राजी सहायता देना और उत्तेजना मिलने पर भी हिंसा किये बगैर कर देना बन्द कर सके तो इस अमानुषी राज्य का नाश निश्चित है। इसलिए हम शपथपूर्वक सकल्प करते है कि पूर्ण स्वराज्य की स्थापना के लिए कांग्रेस समय-समय पर जो आज्ञाये देगी, उनका हम पालन करते रहेगे।"

परिशिष्ट—ख

[यरवड़ा सेन्ट्रल जेल, पूना मे सर तेजबहादुर सप्रू और श्री मुकन्दराव जयकर को ता० १५ अगस्त को कांग्रेस-नेताओं द्वारा लिखा गया पत्र, जिसमें सुलह की शर्तें थीं ।]

प्रिय मित्रगण,

आप लोगो ने ब्रिटिश-सरकार और काग्रेस मे शान्तिपूर्ण समझौता करने का जो भार अपने ऊपर लिया है, उसके लिए हम लोग आपके बहुत-बहुत आभारी है । आपका वाइसराय के साथ जो खत-किताबत हुआ है, और आपके साथ हम लोगो की जो बहुत अधिक बाते हुई है और हम लोगो मे आपस मे जो कुछ परामर्श हुआ है, उस सबका ध्यान रखते हुए हम इस नतीजे पर पहुँचे है कि अभी ऐसे समझौते का समय नही आया है, जो हमारे देश के लिए सम्मानपूर्ण हो । पिछले पाच महीनो मे देश मे जो गजब की जागृति हुई है और भिन्न-भिन्न सिद्धान्त व मत रखनेवाले लोगो मे से छोटे-बडे सभी प्रकार और वर्ग के लोगो ने जो बहुत अधिक कष्ट सहन किया है, उसे देखते हुए हम लोग यह अनुभव करते है कि न तो वह कष्ट-सहन काफी ही हुआ है, और न वह इतना बडा ही हुआ है कि उससे तुरन्त ही हमारा उद्देश पूरा हो जाय । शायद यहाँ यह बतलाने की कोई आवश्यकता न होगी कि हम आपके या वाइसराय के इस मत से सहमत नही है कि सत्याग्रह-आन्दोलन से देश को हानि पहुँची है या वह आन्दोलन कुसमय मे खडा किया गया है या वह अवैध है । अग्रेजो का इतिहास ऐसे-ऐसे रक्तपूर्ण क्रान्तिकारियो के उदाहरणो से भरा पडा है, जिनकी प्रशसा के राग गाते हुए अग्रेज लोग कभी नही थकते; और उन्होने हम लोगो को भी ऐसा ही करने की शिक्षा दी है । इसलिए जो क्रान्ति विचार की दृष्टि से बिलकुल शान्तिपूर्ण है और जो कार्य-रूप मे भी बहुत बड़े पैमाने मे और अद्भुत रूप से शान्तिपूर्ण ही है, उसकी निन्दा करना वाइसराय या किसी और समझदार अग्रेज को शोभा नही देता । पर जो सरकारी या गैर सरकारी आदमी वर्तमान सत्याग्रह-आन्दोलन की निन्दा करते है, उनके साथ झगडा करने की हमारी कोई इच्छा नही है । हम मानते है कि सर्व-साधारण जिस आश्चर्य-जनक रूप से इस आन्दोलन मे शामिल हुए, वही इस बात का यथेष्ट प्रमाण है कि यह उचित और न्यायपूर्ण है । यहाँ कहने की बात यही है कि हम लोग भी प्रसन्नतापूर्वक आपके साथ मिलकर इस बात की कामना करते है कि अगर किसी तरह सम्भव हो, तो यह सत्याग्रह-आन्दोलन बन्द कर दिया जाय या स्थगित कर दिया । अपने देश के पुरुषो, स्त्रियो और

वच्चो तक को अनावश्यक रूप से ऐसी परिस्थिति मे रखना कि उन्हे जेल जाना पडे, लाठियाँ खानी पडे और इनसे भी वढ-वढकर दुर्दशाये भोगनी पडे, हम लोगो के लिए कभी आनन्ददायक नही हो सकता। इसलिए जब हम आपको और आपके द्वारा वाइसराय को यह विश्वास दिलाते है कि सम्मानपूर्ण शान्ति और समझौते के लिए जितने मार्ग हो सकते है, उन सबको ढूँढकर उनका अवलम्वन करने के लिए हम अपनी ओर से कोई वात न उठा रखेगे, तो आशा है कि आप हम लोगो की इस वात पर विश्वास करेगे। लेकिन फिर भी हम मानते है कि अभीतक हमे क्षितिज पर ऐसी शान्ति का कोई चिह्न नही दिखाई देता। हमे अभीतक इस बात का कोई लक्षण नही दिखाई पडता कि ब्रिटिश सरकारी दुनिया का अव यह विचार हो गया है कि खुद हिन्दुस्तान के स्त्री-पुरुप ही इस वात का निर्णय कर सकते है कि हिन्दुस्तान के लिए सवसे अच्छा कौन-सा रास्ता है। सरकारी कर्मचारियो ने अपने शुभ विचारो की जो निप्ठापूर्ण घोषणाये की है और जिनमे से वहुत-सी प्राय अच्छे उद्देश से की गई है, उनपर हम विश्वास नही करते। इधर मुद्दतो से अग्रेज इस प्राचीन देश के निवासियो की धन-सम्पत्ति का जो वरावर अपहरण करते आये है, उनके कारण उन अग्रेजो मे अब इतनी शक्ति और योग्यता नही रह गई है कि वे यह वात देख सके कि उनके इस अपहरण के कारण हमारे देश का कितना अधिक नैतिक, आर्थिक और राजनैतिक ह्रास हुआ है। वे अपने-आपको यह देखने के लिए तैयार ही नही कर सकते कि उनके करने का सबसे वड़ा एक काम यही है कि वे जो हमारी पीठ पर चढे बैठे है, उसपर से उतर जायँ, और लगभग सौ वरसो तक भारत पर उनका राज्य रहने के कारण सव प्रकार से हम लोगो का नाश और ह्रास करनेवाली जो प्रणाली चल रही है, उससे वे बाहर निकलकर विकसित होने मे हमारी सहायता करे; और अवतक उन्होने हमारे साथ जो अन्याय किये है, उनका इस रूप मे प्रायश्चित्त कर डाले।

पर हम यह बात जानते है कि आपके और हमारे देश के कुछ और विज्ञ लोगो के विचार हमारे इन विचारो से भिन्न है। आप यह विश्वास करते है कि शासको के भावो मे परिवर्तन हो गया है, और अधिक नही तो कम-से-कम इतना परिवर्तन जरूर हो गया है कि जिससे हम लोगो को प्रस्तावित परिषद् मे जाकर शरीक होना चाहिए। इसलिए हालाँकि हम इस समय एक विशेष प्रकार के बन्धन में पड़े हुए है, तो भी जहाँतक हमारे अन्दर शक्ति है वहाँतक हम इस काम मे खुशी से आप लोगो का साथ देगे। हम जिस परिस्थिति मे पडे हुए है, उसे देखते हुए, आपके मित्रतापूर्ण प्रयत्न मे हम अधिक-से-अधिक जिस रूप मे और जिस सीमा तक सहायता दे सकते है, वह इस प्रकार है—

(१) हम यह समझते है कि वाइसराय ने आपके पत्र का जो जवाब दिया है, उसमे प्रस्तावित परिषद् के सम्बन्ध में जिस भाषा का प्रयोग किया गया है, वह भाषा ऐसी अनिश्चित है कि पारसाल लाहौर मे जो राष्ट्रीय माँग पेश की गई थी, उसका ध्यान रखते हुए हम वाइसराय के उस कथन का कोई मूल्य या महत्व ही निर्धारित नही कर सकते, और न हमारी स्थिति ही ऐसी है कि कॉंग्रेस की कार्य-समिति, और जरूरत हो तो महासमिति के नियमित रूप से अधिवेशन मे बिना विचार किये हम लोग अधिकारपूर्ण रूप से कोई बात कह सके। पर हम इतना अवश्य कह सकते है कि व्यक्तिगत तौर पर हम लोगो के लिए इस समस्या का कोई ऐसा निराकरण तबतक सन्तोषजनक न होगा जबतक कि (क) पूरे और स्पष्ट शब्दो मे यह बात न मान ली जाय कि भारत को इस बात का अधिकार प्राप्त होगा कि वह जब चाहे तब ब्रिटिश साम्राज्य से अलग हो जाय। (ख) भारत मे ऐसी पूर्ण राष्ट्रीय सरकार स्थापित हो जो उसके निवासियो के प्रति जवाबदेह हो। उसे देश की रक्षक शक्तियो (सेना आदि) पर और तमाम आर्थिक विषयो पर पूरा अधिकार और नियन्त्रण प्राप्त हो और जिसमे उन ११ बातो का भी समावेश हो जाय जो गाधीजी ने वाइसराय को अपने पत्र मे लिखकर भेजी थी। (ग) हिन्दुस्तान को इस बात का अधिकार प्राप्त न हो जाय कि जरूरत हो तो वह एक ऐसी स्वतत्र पचायत बैठाकर इस बात का निर्णय करा सके कि, अग्रेजो को जो विशेष पावने और रिआयते वगैरा प्राप्त है, जिसमे भारत का सार्वजनिक ऋण भी शामिल होगा, और जिनके सम्बन्ध मे राष्ट्रीय सरकार का यह मत होगा कि ये न्याय-पूर्ण नही है या भारत की जनता के लिए हितकर नही है, वे सब अधिकार, रिआयते और ऋण आदि उचित, न्यायपूर्ण और मान्य है या नही।

नोट—अधिकार हस्तान्तरित होते वक्त भारत के हित के विचार से इस किस्म के जिस लेन-देन आदि की जरूरत होगी, उसका निर्णय भारत के चुने हुए प्रतिनिधि करेगे

(२) ऊपर बतलाई हुई बाते ब्रिटिश-सरकार को अगर ठीक जँचे और वह इस सम्बन्ध में सन्तोष-जनक घोषणा कर दे तो हम कॉंग्रेस की कार्य-समिति से इस बात की सिफारिश करेगे कि सत्याग्रह-आन्दोलन या सविनय-अवज्ञा का आन्दोलन बन्द कर दिया जाय, अर्थात्, केवल आज्ञा-भग करने के लिए ही कुछ विशिष्ट कानूनो का भग न किया जाय। पर विलायती कपडे और शराब, ताडी वगैरा की दूकानो पर तब तक शान्तिपूर्ण पिकेटिंग जारी रहेगी, जबतक कि सरकार खुद कानून बनाकर शराब, ताड़ी आदि और विलायती कपडे की बिक्री बन्द न कर देगी। सब लोग अपने घरो

मे बराबर नमक बनाते रहेगे और नमक-कानून की दण्ड-सम्बन्धी धाराये काम मे नही लाई जायँगी। नमक के सरकारी या लोगो के निजी गोदामो पर धावा नही किया जायगा।

(३) (क) ज्योही सत्याग्रह-आन्दोलन रोक दिया जायगा, ज्योही उसके साथ वे सब सत्याग्रही कैदी और राजनैतिक कैदी, जो सजा पा चुके है पर जो हिंसा के अपराधी नही है या जिन्होने लोगो को हिंसा करने के लिए उत्तेजित नही किया है, सरकार-द्वारा छोड दिये जायँगे। (ख) नमक-कानून, प्रेस-कानून, लगान-कानून और इसी प्रकार के और कानूनो के अनुसार जो तमाम सम्पत्तिया जब्त की गई है, वे सब लोगो को वापस कर दी जायँगी। (ग) सजायाफ्ता सत्याग्रहियो से जो जुर्माने वसूल किये गये है या जो जमानते ली गई है, उन सबकी रकमे लौटा दी जायँगी। (घ) वे सब राज-कर्मचारी, जिनमे गाँवो के कर्मचारी भी शामिल है, जिन्होने अपने पद से इस्तीफा दे दिया है या जो आन्दोलन के समय नौकरी से छुडा दिये गये है, अगर फिर से सरकारी नौकरी करना चाहे तो अपने पद पर नियुक्त कर दिये जायँगे।

नोट—ऊपर जो उपधाराये दी गई है, उनका व्यवहार असहयोग-काल के सजायाफ्ता लोगो के लिए भी होगा।

(ङ) वाइसराय ने अबतक जितने आर्डिनेन्स जारी किये है, वे सब रद कर दिये जायँगे।

(च) प्रस्तावित परिषद् मे कौन-कौन लोग सम्मिलित किये जायँगे और उसमें कॉंग्रेस का प्रतिनिधित्व किस प्रकार का होगा, इसका निर्णय उसी समय होगा जब पहले ऊपर बताई हुई आरम्भिक बातो का सन्तोषजनक निपटारा हो जायगा।

आपके—

मोतीलाल नेहरू
मोहनदास करमचन्द गांधी
सरोजिनी नायडू
वल्लभभाई पटेल
जयरामदास दौलतराम
सैयद महमूद
जवाहरलाल नेहरू

परिशिष्ट—ग

[२६ जनवरी १९३१ को पढ़ा गया स्मारक-प्रस्ताव]

भारत-माता की उन सन्तानो का, जिन्होने आजादी की महान् लडाई मे भाग लिया और देश की स्वतत्रता के लिए अनेक कष्ट सहे और कुर्बानी की, अपने उन महान् और प्रिय नेता महात्मा गाधी का, जो कि हमारे लिए सतत स्फूर्ति के स्रोत रहे है, और जो हमे सदैव उसी ऊँचे आदर्श और पवित्र साधनो का मार्ग दिखाते रहे है, उन सैकडो हजारो बहादुर नवयुवको का, जिन्होने स्वतत्रता की वेदी पर अपने प्राणो की बलि चढाई, पेशावर और सारे सीमाप्रान्त और शोलापुर, मिदनापुर और बम्बई के शहीदो का, उन सैकडो हजारो भाइयो का, जिन्होने दुश्मन के नृशस लाठी-प्रहारो का मुकाबिला किया और उन्हे सहा, गढवाली रेजीमेन्ट के सैनिको और फौज और पुलिस के उन सब भारतीय सिपाहियो का, जिन्होने कि अपनी जाने खतरे मे डालकर भी अपने देशभाइयो पर गोली आदि चलाने से इनकार कर दिया, गुजरात के उन दबग किसानो का, जिन्होने कि बिना झुके और पीठ दिखाये सभी नृशस अत्याचारो का मुकाबिला किया, भारत के अन्य प्रदेशो के उन बहादुर और पीडित किसानो का, जिन्होने कि सब प्रकार के दमन को सहकर भी लडाई मे पूरा भाग लिया; उन व्यापारियो और व्यवसाय-क्षेत्र के अन्य समुदायो का, जिन्होने कि ज़बरदस्त नुकसान उठाकर भी राष्ट्रीय सग्राम में, विशेषकर विदेशी वस्त्र और ब्रिटिश माल के बहिष्कार मे, सहायता की; उन एक लाख स्त्री-पुरुषो का, जो जेल गये और सब प्रकार के कष्ट सहे, यहाँतक कि कभी-कभी जेल के अन्दर भी लाठी-प्रहार और चोटे सही, और खासकर उन साधारण स्वयसेवको का, जिन्होने कि भारत माता के सच्चे सिपाहियो की तरह बिना किसी प्रकार की ख्याति या पुरस्कार की इच्छा के एक-मात्र अपने महान् ध्येय का ही ध्यान रखकर कष्टो और कठिनाइयो के बीच भी अनवरत और शान्तिपूर्वक कार्य किया, हम······ ·· के निवासी गौरव और कृतज्ञता-पूर्ण हृदय से अभिवादन करते है, और हम अभिनन्दन और हार्दिक सराहना करते है, भारत की नारी-जाति का, जो कि भारत-माता के सकट के समय अपने घरो की शरण छोडकर अदम्य साहस और सहिष्णुतापूर्वक, राष्ट्रीय सेना मे अपने भाइयो के साथ कधे-से-कधा भिडाकर अगली कतार मे खडी रही और बलिदान और सफलता के उल्लास में पूरा-पूरा भाग लिया, और भारत की उस युवकशक्ति और बानरसेना पर जिसे कि उसकी सुकुमार आयु भी लडाई मे भाग लेने और अपने ध्येय पर कुर्बान होने से न रोक सकी, अपना गर्व प्रकट करते है।

और साथ ही, हम कृतज्ञतापूर्वक इस बात की सराहना करते हैं कि भारत की सब बड़ी और छोटी जातियों और वर्णों ने इस महान् संग्राम में हाथ बटाया और ध्येय की प्राप्ति के लिए शक्तिभर प्रयत्न किया। खासकर अल्पसंख्यक जातियों—मुस्लिम, सिख, पारसी, ईसाई आदि के प्रति और भी कृतज्ञता प्रकट करते हैं, जिन्होंने अपने साहस और अपनी समान-मातृभूमि के प्रति अपनी एकनिष्ठ भक्ति के साथ, एक ऐसे संयुक्त और अविभाज्य राष्ट्र के निर्माण में, जिसकी कि जय निश्चित हो, सहायता दी, और हिन्दुस्तान की स्वतंत्रता प्राप्त करने और उसे कायम रखने तथा उस नवीन स्वतंत्रता का भारत के सब समुदाय के लोगों की बेड़ियाँ तोड़कर सबमें से असमानता दूर करने के रूप में मानवता के उच्चतर उद्देश्य की पूर्ति के लिए उपयोग करने का निश्चय किया। भारत के हित के लिए बलिदान और कष्ट-सहन के ऐसे महान् और स्फूर्तिदायक उदाहरणों को अपने सामने रखते हुए हम स्वतंत्रता की अपनी प्रतिज्ञा को दुहराते हैं और जबतक हिन्दुस्तान आजाद नहीं हो जाता तबतक अपनी लड़ाई जारी रखने का निश्चय करते हैं।

निर्देशिका

अ

आ

इ

उ

ए

ऐ

ओ

क

घ

च

छ

ज

झ

ट

भ

म

य

र

श

ह

त्र

सस्ता साहित्य मण्डल के प्रकाशन

१—**दिव्य जीवन**। प्रसिद्ध लेखक श्री स्वेट मार्डेन के The Miracle of Right Thought का अनुवाद। जीवन की कठिन समस्याओ से निराश युवक के लिए सजीवनी विद्या। मूल्य ।=)

२—**जीवन-साहित्य**। गुजराती के महान विचारक काका कालेलकर के शिक्षा, सस्कृति, सभ्यता, राजनीति आदि महत्त्वपूर्ण विषयो पर लिखे निवन्धो का सग्रह। मूल्य १।)

३—**तामिलवेद**। दक्षिण के अछूत ऋषि तिरुवल्लुवर का उत्तम और उत्कृष्ट नैतिक, धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक, शिक्षाओं से भरा हुआ ग्रन्थ। मूल्य ।।।)

४—**भारत में व्यसन और व्यभिचार**। [शैतान की लकडी] भारत में व्यसन और व्यभिचार सम्वन्धी हिन्दी की सर्वोत्तम पुस्तक। इन दुर्व्यसनो मे फसे देश का नग्न दर्शन तथा उन व्यसनो को दूर करने का उपाय। मूल्य ।।।=)

५—**सामाजिक कुरीतियाँ**। [जब्त अप्राप्य] मूल्य ।।।)

६—**भारत के स्त्री-रत्न**। प्राचीन भारतीय देवियो के आदर्श जीवन चरित्र, तीन भागो मे। मूल्य ३-)

७—**अनोखा**। फ्रास के प्रसिद्ध उपन्यासकार विक्टर ह्यूगो के 'लार्फिग मैन' नामक उपन्यास का अनुवाद। राजाओ तथा दरवारियो की कुटिल क्रीडाओ का नग्न दर्शन। मनोरजक, करुण और गंभीर। मूल्य १।=)

८—**ब्रह्मचर्य-विज्ञान**। ब्रह्मचर्य पर अत्युत्तम पुस्तक। उपनिषदो, पुराणो तथा वहुत से अन्य धार्मिक ग्रन्थो के प्रमाणो से युक्त। मूल्य ।।।=)

९—**यूरोप का इतिहास**। अर्थात् वलिदान, राजनीति, देशप्रेम तथा स्वाधीनता का इतिहास। मू० २)

१०—**समाज-विज्ञान**। समाज की रचना उसके विकास तथा निर्माण पर लेखक ने वहुत अच्छा प्रकाश डाला है। 'समाज-शास्त्र' पढनेवाले विद्यार्थियो के लिए यह अत्युत्तम ग्रन्थ है। मूल्य १।।)

११—**खद्दर का संपत्तिशास्त्र**। खादी के अर्थशास्त्र पर श्री० रिचर्ड वी० ग्रेग लिखित The Economics of Khaddar का हिन्दी अनुवाद। खादी की उपयोगिता आपने वैज्ञानिक तथा आर्थिक ढग से सिद्ध की है। मू० ।।।=)

१२—**गोरों का प्रभुत्व**। इसमे वतलाया गया है कि ससार की सवर्ण जातियां स्वतत्र होने के लिए किस प्रकार गोरी जातियो से लड रही है और अपनेको स्वतत्र कर रही है। मू० ।।।=)

महत्वपूर्ण उपदेशो का संग्रह। मूल्य ।)

३०—यथार्थ आदर्श जीवन। [अप्राप्य] मूल्य ।।-)

३१—जब अंग्रेज़ नहीं आये थे—तब भारत हरा-भरा था। भारत की दुर्दशा तो अंग्रेजो के यहा आने के बाद से शुरू हुई है। पार्लमेंट द्वारा नियुक्त रिपोर्ट के आधार पर लिखित। मूल्य ।)

३२—गंगा गोविन्दसिंह। [अप्राप्य] मूल्य ।।=)

३३—श्रीरामचरित्र। श्री० चिन्तामणि विनायक वैद्य लिखित रामायण की कहानी। करुण और मधुर। मर्यादा-पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्रजी का उत्तम जीवन-चरित्र। मूल्य १।)

३४—आश्रम-हरिणी। पौराणिक उपन्यास। विधवा-विवाह-समस्या पर पौराणिको के विचार। मूल्य ।)

३५—हिन्दी-मराठी-कोष। मराठी भाषा-भाषियो को हिन्दी सीखने में बड़े काम की चीज है। मूल्य २)

३६—स्वाधीनता के सिद्धान्त। आयर्लैण्ड के अमर शहीद टिरेन्स मेक्स्विनी के Principles of Freedom का अनुवाद। आज़ादी की इच्छावालो की नसो में नया खून, नया जोश और स्फूर्ति भरनेवाली पुस्तक। मूल्य ।।)

३७—महान् मातृत्व की ओर। स्त्री-जीवन की प्रारम्भिक कठिनाइयो का दिग्दर्शन कराती हुई मातृत्व की जिम्मेदारी का दिग्दर्शन करानेवाली स्त्री-उपयोगी उत्तम पुस्तक। मूल्य ।।।=)

३८—शिवाजी की योग्यता। छत्रपति शिवाजी का चरित्र-विश्लेषण। मुल्य ।=)

३९—तरंगित हृदय। गुरुकुल कागडी के आचार्य श्री देवशर्माजी के अनुपम विचार। मूल्य ।।)

४०—हालैण्ड की राज्यक्रान्ति [नरमेध] डच-प्रजा के आत्मयज्ञ का पुनीत और रोमाचकारी इतिहास। हृदय में उथल-पुथल मचा देनेवाली क्रान्तिकारी पुस्तक। मूल्य १।।)

४१—दुखी दुनिया या प्रलय-प्रतीक्षा। गरीब और पीडित मानवी दुनिया के करुण चित्र। चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य की सच्ची घटनाओ पर लिखी कहानिया। मधुर, करुण और सुन्दर। मूल्य ।।)

४२—जिन्दा लाश। टाल्सटाय के The Living Corpse नामक नाटक का अनुवाद। मूल्य ।।)

४३—आत्म-कथा। महात्मा गांधी लिखित। ससार के साहित्य का एक रत्न।

उपनिषदो की भाति पवित्र और उपन्यासो की भाति रोचक। चरित्र को ऊँचा उठानेवाली। हरिभाऊ उपाध्याय द्वारा किया गया प्रामाणिक अनुवाद। दो खण्डो मे। बढिया जिल्द, सुन्दर छपाई। मूल्य १॥)

४४—**जब अंग्रेज आये।** [ज़ब्त : अप्राप्य] मूल्य १।=)

४५—**जीवन-विकास।** विकासवाद को विषद रूप से समझानेवाली हिन्दी की एक ही पुस्तक। मूल्य १) १॥)

४६—**किसानों का बिगुल।** [ज़ब्त : अप्राप्य] मूल्य =)

४७—**फांसी।** विक्टर ह्यूगो लिखित फासी की सजा पाये हुए एक युवक के मनोभावो का चित्रण। करुण और रुलानेवाला। मूल्य ॥)

४८—**अनासक्तियोग और गीता-बोध।** गीता पर गाधीजी की व्याख्या। मूल श्लोक तथा महात्माजी के गीता के तात्पर्य—गीताबोध-सहित ३५० पृष्ठो मे मूल्य केवल ।=) केवल **अनासक्तियोग** =), सजिल्द ।) **गीताबोध** -)॥

४९—**स्वर्ण विहान** [ज़ब्त : अप्राप्य] मूल्य ।=)

५०—**मराठों का उत्थान और पतन।** मराठा साम्राज्य का विस्तृत और सच्चा इतिहास। मराठी इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान् श्री गो० दा० तामसकर लिखित। मराठी भाषा मे भी मराठो का ऐसा इतिहास नही है। मूल्य २॥)

५१—**भाई के पत्र।** स्त्री-जीवन पर प्रकाश डालनेवाली, उनकी घरेलू एव रोजमर्रा की कठिनाई मे पथप्रदर्शक बहनो के हाथो मे दिये जाने योग्य एक ही पुस्तक। अपनी बहनो, बहुओं और बेटियो को इसकी एक प्रति अवश्य दे। मूल्य १॥) २)

५२—**स्वगत।** चरित्र को गढनेवाले उच्च तथा युवको को सच्चा रास्ता दिखानेवाले उत्तम विचार। मूल्य ।=)

५३—**युगधर्म।** [ज़ब्त : अप्राप्य] मूल्य १=)

५४—**स्त्री-समस्या।** नारी-जीवन की जटिल समस्याओ का गम्भीर अध्ययन। मूल्य १॥।) सजिल्द २)

५५—**विदेशी कपड़े का मुकाबला।** प्रसिद्ध अर्थशास्त्री श्री मनमोहन गाधी लिखित। इसमे बतलाया गया है कि किस प्रकार भारत अपनी आवश्यकतानुसार पूरा कपडा तैयार कर सकता है। मू० ॥=)

५६—**चित्रपट।** श्री शान्तिप्रसाद वर्मा के गद्य-गीतो का सग्रह। भावनामय, करुण और मधुर। मूल्य ।=)

५७—**राष्ट्रवाणी।** [अप्राप्य] मूल्य ॥=)

५८—**इंग्लैण्ड में महात्माजी** । महात्माजी के प्राइवेट सेक्रेटरी का लिखा हुआ महात्माजी की इग्लैण्ड की यात्रा का सुन्दर, सरस और सुबोध वर्णन । हिन्दी में अपने ढग का सर्वोत्तम यात्रा-वृत्तान्त । मूल्य १)

५९—**रोटी का सवाल** । मशहूर रूसी क्रातिकारी लेखक प्रिस क्रोपाटकिन की अमर कृति Conquest of Bread का सरल अनुवाद । समाजवाद का सुन्दर, सरल और सुबोध विवेचन । मूल्य १)

६०—**दैवी-सम्पद्** । सर्वोत्तम नैतिक एव धार्मिक पुस्तक । 'दैवी-सम्पद् से मनुष्य को मोक्ष होती है ।' गीता की इसी बात का सुन्दर विवेचन है । मनुष्य को मोक्ष का रास्ता बतानेवाली पुस्तक । मूल्य ।=)

६१—**जीवन-सूत्र** । अग्रेजी मे थॉमस केपिस लिखित सर्व प्रसिद्ध पुस्तक 'इमिटेशन आफ क्राइस्ट' का अनुवाद । जीवन को उन्नत और विचारो को सात्विक बनानेवाली । मूल्य ।।।)

६२—**हमारा कलंक** । अस्पृश्यता-निवारण पर महात्माजी के विचारो एव लेखो का सग्रह, उनके महान् उपवास की कहानी । महात्माजी के आशीर्वाद सहित । मूल्य ।।=)

६३—**बुद्बुद्** । (हरिभाऊ उपाध्याय) अपने आदर्शो से जीवन का मेल मिलानेवाले युवको के लिए विचारणीय पुस्तक है । मूल्य ।।)

६४—**संघर्ष या सहयोग ?** प्रिस क्रोपाटकिन की Mutual Aid नामक पुस्तक का अनुवाद । इसमे दिखलाया है कि पशु और पक्षियो से लेकर मनुष्य तक सबके जीवन का आधार सहयोग है; सघर्ष नही, एकता है लड़ाई नही । मूल्य १।।)

६५—**गांधी-विचार दोहन** । श्री किशोरलाल घ० मशरूवाला, इसमे महात्माजी के समस्त राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक एव नैतिक विचारो का बडा सुन्दर दोहन किया है । मूल्य ।।।)

६६—**एशिया की क्राति** । [ज़ब्त : अप्राप्य] मूल्य १।।।)

६७—**हमारे राष्ट्र-निर्माता** । लो० तिलक, स्व० मोतीलालजी, मालवीयजी, महात्मा जी, दास बाबू, जवाहरलालजी, मौ० मुहम्मदअली, सरदार और प्रेसिडेन्ट पटेल की जीवनिया—उनके सस्मरण, जीवन की झाकिया एव व्यक्तित्व के विश्लेषण के साथ—लिखी गई है । हिन्दी मे अपने किस्म की एक पुस्तक, मूल्य २।।) ३)

६८—**स्वतंत्रता की ओर**— । (हरिभाऊ उपाध्याय) इसमे बताया गया है कि हमारे जीवन का लक्ष्य क्या है ? हम उस लक्ष्य—स्वतत्रता—को किस प्रकार और

किन साधनो से प्राप्त कर सकते हैं। हमारा समाज कैसा हो; हमारा साहित्य कैसा हो हमारा जीवन कैसा बने जिससे हम स्वतन्त्रता की ओर बढ़ते चले जावें। हिन्दी मे इस पुस्तक का बड़ा आदर हुआ है। मूल्य १॥)

६९—आगे बढ़ो। स्वेट् मार्डेन के Pushing to the Front का सक्षिप्त अनुवाद। कठिनाई मे पडे युवको को सच्चे साथी के समान रास्ता बतानेवाली। मूल्य ॥)

७०—बुद्ध-वाणी। भगवान् बुद्ध के चुने हुए वचनो का सग्रह। बुद्धधर्म का सार तत्त्व। बौद्ध-धर्म के हिन्दी मे मिले सब ग्रन्थो का सार। मूल्य ॥=)

७१—कांग्रेस का इतिहास। डॉ० पट्टाभिसीतारामैया की लिखी तथा कांग्रेस की स्वर्ण-जयन्ती पर प्रकाशित अंग्रेजी पुस्तक The History of the Congress का यह प्रामाणिक अनुवाद है। इसकी भूमिका राष्ट्रपति श्री राजेन्द्र बाबू ने लिखी है। हिन्दी अनुवाद तथा संपादन श्री हरिभाऊ उपाध्याय ने किया है। यह दूसरा सस्करण है, बडे आकार के ६५० पृष्ठो की सजिल्द पुस्तक मूल्य २॥)

७२—हमारे राष्ट्रपति। कांग्रेस के पहले अधिवेशन से अबतक के तमाम सभापतियो के जीवन-चरित्र सक्षेप मे इस पुस्तक मे दे दिये गये हैं। हिन्दी मे अपने विषय की यह उत्तम तथा एक-मात्र पुस्तक है। इसकी भूमिका राजेन्द्र बाबू ने लिखी है। सब सभापतियो के चित्रो के साथ, पृष्ठ सख्या ४०० मूल्य १)

७३—मेरी कहानी। प० जवाहरलाल नेहरू की आत्म-कथा, पृष्ठ स० ७७५ सजिल्द मूल्य ४)

[सस्ता साहित्य मण्डल के ये उच्चकोटि के सस्ते और जीवन निर्माणकारी प्रकाशन १) प्रवेश फीस देकर स्थायी ग्राहक बन जाने पर सबको पौने मूल्य में मिल सकते हैं। ग्राहकों को प्रत्येक पुस्तक की एक-एक ही प्रति मिल सकती है। —व्यवस्थापक]